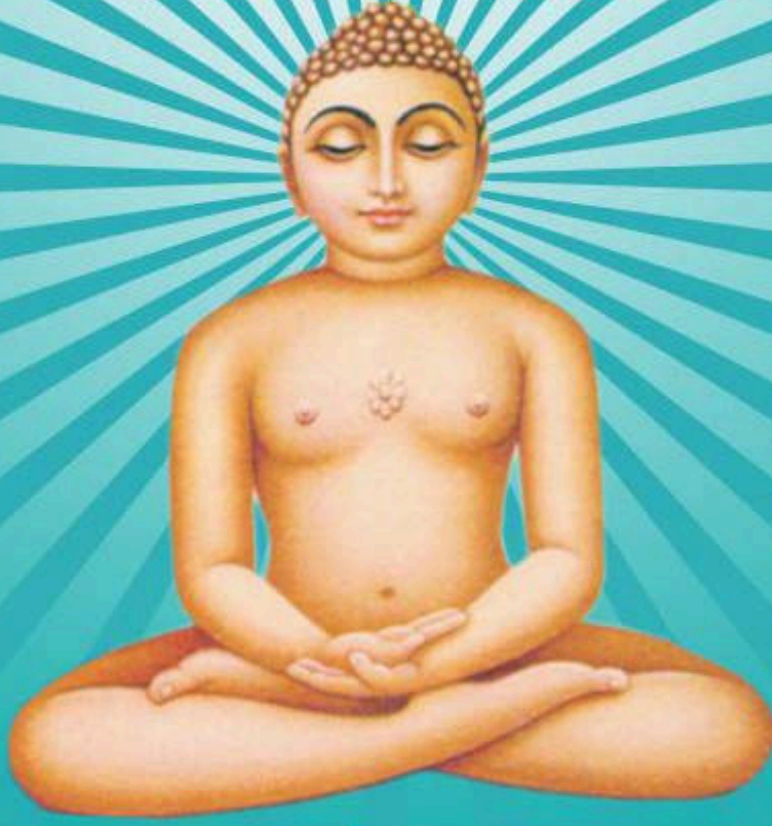


आचार्य भद्रबाहु एवं संघदास विरचित

निशीथ निर्युक्ति एवं भाष्य

(खण्ड-2)



निर्देशक

आचार्य तुलसी

आचार्य महाप्रज्ञ

आचार्य महाश्रमण

संपादक

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुवादक

डॉ. साध्वी श्रुतयशा

आचार्य भद्रबाहु एवं संघदासगणि विरचित

निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य

(खण्ड-२)

निर्देशक
आचार्य तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ
आचार्य महाश्रमण

संपादक
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुवादक
डॉ. साध्वी श्रुतयशा

जैन विश्व भारती,
लाडनू - ३४१३०६ (राज.)

प्रकाशक : जैन विश्व भारती,
पोस्ट : लाडनूं ३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : Jainvishvabharati a yahoo. com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

I S B N. No. 978-81-7195-284-7

संस्करण : २०१५

पृष्ठ : २१०००

मूल्य : प्रति सेट/३०००

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर फोन : ०२९४-२४१८४८२

Niśîtha Niryukti and Bhâṣya
of
Âcârya Bhadrabâhu and Saṁghadâsagaṇi
(Volume-2)

Preceptors

Âcârya Tulsî
Âcârya Mahâprajña
Âcârya Mahâśramaṇa

Editor

Dr. Samaṇî Kusum Prajñâ

Translator

Dr. Sâdhvî Śrutayaśâ

Jain Vishva Bharati,
Ladnun - 341306 (Raj.)

Publisher : Jain Vishva Bharati
Ladnun- 341306 (Raj.)
Ph : (01461) 222060/228691
E. Mal. : Jainvishvabharati a yahoo. com

© Jain Vishva Bharati, Ladnuun

I S B N No. 978-81-7195-284-7

Edition : 2015

Page : 2100

Price/Perset : 3000

Printer : Payorite Print Media, Private limited Udaipur Ph : 0294-241442

१७१८. विगयवर्जन के लाभ—१. रुक्ष आहार करने वाला मुनि यदि सूत्र-अर्थ आदि के लिए रात्रि में जागरण करता है तो उसे अजीर्ण आदि रोग नहीं होते। २. मैं योगी हूँ अतः विगय उपलब्ध होने पर भी सुखपूर्वक (आसानी से) विगय का परिहार (वर्जन) करता है।

१७१९. अपवाद में अनागाढ़योगी या आगाढ़योगी भी यतनापूर्वक विगय खा सकता है यथा—१. अनागाढ़ ग्लान्य २. ब्रजिका (गोकुल) ३. महामह ४. अद्वाण ५. अवम और ६. राजद्वेष।^१

१७२०. योग और ग्लान्य—दोनों (योग और रोग) के आगाढ़ और अनागाढ़ के विकल्प से चार भंग बन जाते हैं—पहले भंग में आगाढ़योगी एवं आगाढ़रोगी तथा दूसरे और तीसरे भंग में एक-एक अर्थात् दूसरे में आगाढ़योगी और तीसरे में आगाढ़रोगी का ग्रहण होता है। चौथा भंग है—अनागाढ़योगी और अनागाढ़रोगी।

१७२१, १७२२. प्रथम भंग वाला मुनि जो आगाढ़योगी है और कदाचित् आगाढ़रोग से आक्रान्त हो गया हो उसकी तीन दिन तक प्रतिदिन जले हुए—पक्वान्नोद्धरित तैल या घी से मालिश (म्रक्षण) की जाती है। यदि इससे ग्लानत्व दूर नहीं होता है तो जहां पक्वान्न पकाया जाता है, वहां पर्यन्त भाग में ग्लान को तीन दिन तक बिठाया जाता है। वहां पुद्गलों की गंध से स्वस्थता हो सकती है। इस प्रकार जितने दिन तक विगय का सेवन करता है, उतने दिन तक सूत्र का उद्देश नहीं किया जाता। यदि फिर भी रोग उपशान्त न हो तो आगाढ़ योग का सर्वथा निक्षेपण कर दिया जाता है।

१७२३. जितने दिन तक योग का निक्षेप किया जाए, उतने दिन भूमि (स्वाध्यायभूमि) में बढ़ा दिए जाएं। यदि उद्देशक अपरिमित^२ हों तो स्वाध्याय में उसका अतिवाहन करें। उसके बाद उनको सूत्रपाठ के क्रम से उद्दिष्ट करें।

१७२४. यदि आगाढ़योगी अनागाढ़ ग्लान्य से आक्रान्त हो तो रसवती (रसोईघर) में बचे हुए घी आदि से उसका म्रक्षण किया जाता है। फिर भी यदि उपशान्त न हो तो शतपाक आदि पक्व घृत या तैल आदि से म्रक्षण किया जाता है। तीन-तीन दिन ये दोनों प्रयोग करने पर भी रोग उपशान्त न हो तो योग का निक्षेपण कर दे ताकि रोग अधिक न बढ़ जाए।

१७२५. यदि अनागाढ़योगी आगाढ़ग्लान्य से आक्रान्त हो तो पूर्वोक्त विधि के पश्चात् तीन दिनों के तीन त्रिकों को एकान्तरित करे और यदि फिर भी रोग उपशांत न हो तो योग का निक्षेपण कर दे। चतुर्थ भंग—अनागाढ़ योग और अनागाढ़ रोग में पूर्वोक्त क्रम से तीन त्रिक करने के बाद एकान्तरिक त्रिक करे फिर भी रोग शान्त न हो तो सर्वथा योग निक्षेप कर दे।^३

१७२६. यदि ग्लान अहृद (कमजोर) है, ब्रजिका—गोकुल जाने में असमर्थ है तो उसे अयोगवाही साथ में दिया जाता है। यदि अयोगवाही न हो तो अनागाढ़योगवाही साथ में दिया जाता है। वे योगवाही वहां ब्रजिका में विगय रहित आहार करते हैं। यदि निर्विगय आहार न मिले या पर्याप्त न मिले, अन्तरित विगय ग्रहण हेतु कायोत्सर्ग करते हैं। यदि निर्विगय आहार सर्वथा न मिले तो योग का निक्षेप कर दे।

१. उपर्युक्त द्वारों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. १७२०-१७२९।

२. व्य. भा. २१३३ की टीका—अथ यस्मिन् दिने योगः प्रथममुक्षिप्तस्तस्य विस्मृतेर्दिवसपरिमाणं प्रतिनियतं कर्तुं न शक्यते।

३. तीसरे भंग में प्रथम तीन दिन विकृतिग्रहण, चौथे दिन निर्विगय, पुनः तीन दिन विकृतिग्रहण और आठवें दिन निर्विगय, फिर नौवें दिन विकृति। इसके बाद रोग उपशांत न होने पर दसवें दिन योग का निक्षेपण कर दिया जाता है। चौथे भंग में पूर्वोक्त क्रम से तीन-तीन दिन तक म्रक्षण आदि के प्रयोग के पश्चात् एकान्तरित निर्विगय का प्रयोग करवाया जाता है। इसके बाद रोगोपशान्ति न होने पर योग का सर्वथा निक्षेपण कर दिया जाता है।

१७२७. आर्यबिलस्सऽलंभे^१, 'चउत्थ एगंगिए'^२ व तक्कादी ।
असतेतरमागाढे, णिक्खिवणुद्देस तध चेव^३ ॥१६०७ ॥
१७२८. सक्कमहादीएसुं^४, 'पमत्तदेवा छलेज्ज तेण ठवे'^५ ।
पीणिज्जंति व^६ अदढा, इतरे^७ उ वहंति ण पढंति ॥ १६०८ ॥
१७२९. 'अद्धाण-ओमदुट्टे, एसिं^८ जोगीण सेस पणगादी'^९ ।
असतीय अणागाढे, णिक्खिव सव्वासती^{१०} इतरे ॥ १६०९ ॥
१७३०. जे भिक्खु अजोगी तू, णिक्कारणकारणा वऽणापुच्छा ।
आपुच्छिता व पुणो, अविदिण्णं आइए विगतिं ॥१६१० ॥ नि ४१२ ॥
१७३१. सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, कप्पति आपुच्छितं पुव्विं ॥१६११ ॥ नि ४१३ ॥
१७३२. विगतिं विगतीभीतो^{११}, विगतिगतं जो तु भुंजते भिक्खू ।
विगती विगयसभावं^{१२}, विगती विगतिं बला नेति^{१३} ॥१६१२ ॥ नि ४१४ ॥
१७३३. इच्छामि कारणेणं, इमेण विगतिं इमं तु भोतुं जे ।
एवतियं वावि पुणो, एवतिकालं विदिण्णम्मि ॥ १६१३ ॥
१७३४. बितियपदे आहारो, हवेज्ज सो चेव कम्हिइ^{१४} देसे ।
असिवादी वेगागी, विगतीओ थूर 'लंभे वा'^{१५} ॥ १६१४ ॥
१७३५. पच्चक्खाते संते, पारमगंतूण अंतरा^{१६} जो तु^{१७} ।
आहारेज्जा विगतिं^{१८}, सो पावति आणमादीणि ॥१६१५ ॥ नि ४१५ ॥

१. °स्स अलंभे (भ) ।

२. °थमेगंगियं (व्यभा २१३७) ।

३. व्यभा (२१३८) में इस गाथा के बाद एक गाथा और है ।

४. °एसू (मु, भ), °एसु व (व्यभा) ।

५. °त्त मा तं सुरा छले ठवणा (व्यभा २१३९) ।

६. य (दे) ।

७. इतरे णाम आगाढजोगवाही ते जोगं वहंति (चू) ।

८. एसि (क) ।

९. अद्धाणम्मि जोगीणं एसियं सेसगाण पणगादी
(व्यभा २१४०) ।१०. सव्वासति णाम सव्वहा एसणिज्जे अलब्भमाणे इयराण
वि आगाढजोगो णिक्खिप्पइ (चू) ।

११. विगतिभीओ (मु, भ) ।

१२. विगतिसहावो (मु), °हावं (भ) ।

१३. दश्रुनि ८२ ।

१४. कम्हियी (दे, भ) ।

१५. लंभेज्जा (भ) ।

१६. मंतरा (क) ।

१७. व (दे) ।

१८. विगती (दे) ।

१७२७. ब्रजिका में जिस दिन आर्यबिल का क्रम हो, उस दिन यदि वहां आर्यबिलयोग्य आहार न मिले तो मुनि उपवास करे। यदि उपवास न कर सके तो तक्र आदि एकांगिक (लवण रहित एक द्रव्य वाला) आहार करे। यदि ग्लान के साथ कोई अनागाढ़ योगी न हो तो आगाढ़योगी साथ में दिया जाए। उनके प्रायोग्य आहार न मिले तो वे योग का निक्षेप कर दे। निक्षेप करने के बाद श्रुत का उद्देश पूर्ववत् हो सकता है।

१७२८. शक्रमह (इन्द्रमहोत्सव) आदि में अनागाढ़ योगी योग का निक्षेप कर दें ताकि प्रमत्त हुए मुनि को देवता न छल ले। दूसरी बात यह है कि उन दिनों में विगय प्राप्त होती है जिससे दुर्बल मुनि विगय का भोग कर पुष्ट बन सकते हैं। जो आगाढ़ योगी होते हैं, वे योग का वहन करते हैं, पर वे न उद्देश देते हैं और न पढ़ते हैं।

१७२९. अद्धान—मार्ग निर्गत हों अथवा अटवी में हों, जो एषणीय आहार उपलब्ध होता है, वह योगवाही मुनियों को दिया जाता है तथा शेष—अयोगवाही मुनि पनक परिहाण के क्रम से आहार की गवेषणा करते हैं। प्रासुक एषणीय आहार की पर्याप्त उपलब्धि न होने से यदि सारे योगवाही मुनियों के निर्वाह की स्थिति न हो तो अनागाढ़योगी का योग निक्षेप करवा दिया जाता है। सर्वथा अनिर्वाह की स्थिति हो तो आगाढ़योगी का भी योगनिक्षेप करवा दिया जाता है। अवम और राजद्वेष में भी अद्धानविधि प्रयोक्तव्य है।

१७३०, १७३१. जो भिक्षु अयोगवाही हैं, वे यदि निष्कारण विगय खाते हैं, कारण में गुरु से बिना पूछे विगय खाते हैं अथवा कारण में गुरु से पूछकर, गुरु द्वारा अदत्त विगय को खाते हैं तो वे आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन चार दोषों को प्राप्त होते हैं अतः भिक्षु गुरु से पूछकर, उनके द्वारा प्रदत्त विगय का भोग करे—यह विधिसम्मत है।

१७३२. विगति (दुर्गति) से डरने वाला भिक्षु यदि विकृति (विगय) अथवा विकृतिगत (दूध, दही आदि से बने) पदार्थ का आहार करता है तो वह विकृति खाने से विकृत स्वभाव वाला हो जाता है तथा वह विकृति (विगय) उसे बलात् विगति—नरक आदि दुर्गति में ले जाती है।

१७३३. भिक्षु विनयपूर्वक गुरु से निवेदन करता है 'भंते! इस कारण से, इतने काल तक, इतने परिमाण में अमुक विगय खाना चाहता हूँ'—इस प्रकार गुरु द्वारा अनुज्ञा प्राप्त होने पर विगय का ग्रहण करना विधिसम्मत है।

१७३४. अपवाद में अकारण विगय खाना कल्पता है यदि किसी देश में वही आहार हो। अथवा अशिव आदि कारणों से मुनि अकेला हो और उसे थोड़ी^१ विगय उपलब्ध हो तो वह बिना गुरु अनुज्ञा के भी विगय खा सकता है।

१७३५. जो भिक्षु प्रत्याख्यान करने के बाद, प्रत्याख्यान की सीमा को पूरा किए बिना मध्य में ही विगय खा लेता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. थूर—थोड़ा।

१७३६. ब्रितिय गिलाणागारे, वंजण खलिते व काल सम्मूढे ।
एतेहि कारणेहिं, पच्चक्खाते वि आहारे ॥ १६१६ ॥
१७३७. ठवणाकुला^१ तु दुविधा, लोइय-लोउत्तरा समासेणं ।
इत्तरिय^२ आवकहिया, दुविधा पुण लोइया होंति ॥ १६१७ ॥ नि ४१६ ॥
१७३८. सूयगमतगकुलाइं, इत्तरिया^३ जे य होंति निज्जूढा ।
जे जत्थ जुंगिता खलु, ते होंती^४ आवकहिया तु ॥ १६१८ ॥ नि ४१७ ॥
१७३९. दुविधा लोगुत्तरिया, वसही संबद्ध एतरा चेव ।
सत्तघरंतर जाव तु, वसधीओ वसहिसंबद्धा ॥ १६१९ ॥ नि ४१८ ॥
१७४०. दाणे अभिगमसद्धे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छते ।
मामाए अचियत्ते, 'य एतरा होंति णातव्वा'^५ ॥ १६२० ॥ नि ४१९ ॥
१७४१. एतेसामण्णतरं, ठवणकुलं जो तु पविसते^६ भिक्खू ।
पुव्वं अपुच्छिरुणं, सो पावति आणमादीणि ॥ १६२१ ॥ नि ४२० ॥
१७४२. लोगुत्तरम्मि ठविता, ण लोगणिव्वाहिरत्तमिच्छंति ।
लोगजढे परिहरता, तित्थविवड्डी य वण्णो य ॥ १६२२ ॥
१७४३. अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव 'य दुगुंछा'^७ ।
लोइगठवणकुलेसुं, गहणे आहारमादीणं ॥ १६२३ ॥
१७४४. आयरिय-बालवुड्ढा, खमग-गिलाणा महोदरा^८ सेहा ।
सव्वे वि परिच्चत्ता, जो ठवणकुलाइ निव्विसती^९ ॥ १६२४ ॥
१७४५. आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा^{१०} य खमग पाहुणगे ।
गुरुगो य बाल-वुड्ढे, सेहे य महोदरे लहुगो ॥ १६२५ ॥

१ ठवणकुं (दे), सूत्र २२ (नव ४/२१) ।

२. इत्तरिय (क) ।

३. इत्ति^० (भ) ।

४. होंति (भ) ।

५. कुलाइ जयणाइ दायंति (ओनि ४३५) ।

६. °सती (भ) ।

७. दुकुंछा य (दे) ।

८. महोदरोऽयं बह्वासी (चू) ।

९. °सति (क) ।

१०. × (दे) ।

१७३६. अपवाद में इन कारणों से प्रत्याख्यान के मध्य भी आहार संभव है—१. ग्लान का अपवाद—प्रत्याख्यान काल में कोई रोग हो जाए। २. व्यंजनस्खलना—अक्षर के प्रमाद से काल आदि का भिन्न उच्चारण हो जाए—साढ़े सात की जगह साढ़े आठ उच्चारण कर दे आदि। ३. कालसंमूढ—प्रत्याख्यान का काल भूल जाए और मध्य में ही पूर्ण कर दे।

१७३७. संक्षेप में स्थापनाकुल^१ के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक स्थापनाकुल के पुनः दो प्रकार हो जाते हैं—१. इत्वरिक और २. यावत्कथिक।

१७३८. जो कुल कुछ काल के लिए निर्युद्ध—निष्कासित (भोजन आदि के लिए निषिद्ध) होते हैं, वे इत्वरिक स्थापनाकुल कहलाते हैं, जैसे—सूतक और मृतक कुल।^२ जो कुल जुंगित—कर्म, शिल्प या जाति से हीन^३ होते हैं, वे यावत्कथिक स्थापनाकुल कहलाते हैं।

१७३९. लोकोत्तर स्थापनाकुल के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. वसति-संबद्ध तथा २. वसति-असंबद्ध। वसति (उपाश्रय) से सात घरों तक के घर वसति-संबद्ध स्थापनाकुल हैं।

१७४०. वसति से असंबद्ध स्थापनाकुल हैं—१. दानश्राद्ध (यथाभद्र दानरुचि), २. अभिगमश्राद्ध (अणुव्रती सम्यग्दृष्टि) ३. सम्यक्त्वी (अविरत सम्यग्दृष्टि) ४. आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि ५. मामाक (मेरे घर में श्रमण न आए—इस भावना से भावित कुल) और ६. अप्रीतिकर (जहां जाने से अप्रीति उत्पन्न हो, वे कुल)।

१७४१. जो भिक्षु इन (उपर्युक्त) स्थापनाकुलों में से किसी में बिना पूछे प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१७४२. जो लोकोत्तरभाव में स्थित हैं, वे लौकिक व्यवहार के निर्बाह्यत्व (सर्वथा बाह्य व्यवहार) की इच्छा नहीं करते। इससे वे लौकिक दृष्टि से त्यक्त कुलों का परिहार करते हुए तीर्थ की विवृद्धि और यश को भी प्रभावित करते हैं, बढ़ाते हैं।

१७४३. लौकिक स्थापनाकुलों में आहार आदि ग्रहण करने से संघ का अपयश होता है, प्रवचन की हानि होती है (कोई प्रव्रजित नहीं होता)। जो संघ के सम्मुख हैं, वे विमुख हो जाते हैं तथा उस भिक्षु को लोग कापालिक आदि की भांति जुगुप्सित मानने लगते हैं।

१७४४. जो लोकोत्तर स्थापनाकुलों में प्रवेश करता है, उस मुनि के द्वारा आचार्य, बाल, वृद्ध, तपस्वी, ग्लान, महोदर (बहुभोजी) और शैक्ष—ये सब परित्यक्त (उपेक्षित) होते हैं।

१७४५. आचार्य और ग्लान की उपेक्षा से चतुर्गुरु, तपस्वी और अतिथि की उपेक्षा से चतुर्लघु, और वृद्ध की उपेक्षा से गुरुमास तथा शैक्ष एवं महोदर की उपेक्षा से लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. स्थापनाकुल—स्थाप्य (अभोज्य) कुल या गीतार्थ द्वारा स्थापित विशिष्ट कुल।

२. क्रमशः जन्म और मरण की अशुद्धि वाले कुल।

३. मयूरपोषक आदि कुल कर्म से, चर्मकार आदि कुल शिल्प से तथा डोंब आदि कुल जाति से जुंगित हैं।

१७४६. गच्छो महाणुभागो, सबाल-वुड्डोऽणुकंपितो तेणं ।
उग्गमदोसा य जढा, जो ठवणकुलाइ परिहरति ॥ १६२६ ॥
१७४७. गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।
गाम-णगराऽऽगरेसुं^१, अतिसेसी ठावते सड्डी ॥ १६२७ ॥
१७४८. 'मज्जायाणं ठवगा'^२, पवत्तगा सव्वखेत्त^३ आयरिया ।
जो तु अमज्जाइल्लो, आवज्जति^४, मासिगं लहुगं ॥ १६२८ ॥
१७४९. दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइ साहिंति^५ गीतत्था ॥ १६२९ ॥
१७५०. दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइ दाएंति गीतत्था^६ ॥ १६३० ॥
१७५१. दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइ अठविंति^७ चतुगुरुगा ॥ १६३१ ॥
१७५२. किं कारणं चमढणा, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्जे ।
गच्छम्मि नियगकज्जं^८, आयरिय-गिलाण-पाहुणगे^९ ॥ १६३२ ॥ नि ४२१ ॥
१७५३. पुव्वं पि धीरसुणिया^{१०}, 'छिक्का छिक्का पधावती'^{११} तुरियं ।
सा चमढणाएँ सिग्गा^{१२}, 'संतं पि न इच्छती घेतुं'^{१३} ॥ १६३३ ॥
१७५४. एवं ठवणकुलाइ^{१४}, 'चमढिज्जंताइ अण्णमण्णेहिं'^{१५} ।
नेच्छंति किंचि दातुं, संतं पि तहिं^{१६} गिलाणस्स ॥ १६३४ ॥

१. नगर-निगमेसुं (बृभा १५८३), 'रेसू (दे) ।

२. मज्जाया ठवणाणं (बृभा, भ, पा), 'ठवणं (दे) ।

३. तत्थ हींति (बृभा १५७३) ।

४. 'ज्जिय (दे) ।

५. × (दे) ।

६. बृभा १५७९, ओभा १२१, गाथा १७५०, १७५१—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल गाथा संकेत और अंतिम चरण मिलता है ।

७. अट्टवेत्ते (भ), अठावतिं (दे), बृभा १५८१ ।

८. णियकं (मु, भ), नियं कज्जं (दे),

°कज्जे (ओनि २३७) ।

९. बृभा १५८४ की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा समासार्थः' का उल्लेख है ।

१०. वीरं (दे, बृभा), सुणह बितिज्जो असहाओ लुद्धगो धीरो भण्णति (चू) ।

११. भणिया भणिया पहावए (बृभा), छिक्का छिक्का पहावए (ओभा १२४) ।

१२. सिन्ना (ओभा) ।

१३. निच्छइ दट्टुं पि गंतुं जे (बृभा १५८५) ।

१४. सड्ढकुं (ओभा, मु, बृभा १५८६) ।

१५. °ताइ अण्णेहिं (ओभा १२५) ।

१६. तयं (ओभा) ।

१७४६. गच्छ महानुभाग है—बाल, वृद्ध, ग्लान आदि सबका उपकारक है। जो स्थापना कुलों में प्रवेश नहीं करता (उनका वर्जन करता है) वह गच्छ पर अनुकंपा करता है और उद्गम दोषों से बच जाता है।

१७४७. वर्षावास एवं ऋतुबद्ध काल में, ग्राम, नगर और निगम में स्थित साधुओं के गच्छ में अतिशायी दानश्राद्ध कुलों की स्थापना की जाती है—यह संघीय विधि (आचार व्यवस्था) है।

१७४८. आचार्य सब क्षेत्रों (सर्वविषयों) में मर्यादाओं की स्थापना एवं प्रवर्तन करने वाले होते हैं। जो आचार्य मर्यादा की स्थापना एवं प्रवर्तन नहीं करता, उसे असमाचारी निष्पन्न मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७४९. गीतार्थ (क्षेत्रप्रत्युपेक्षक या वास्तव्य भिक्षु) दानश्राद्ध, अभिगमश्राद्ध, सम्यक्त्वी, आभिग्रहिक मिथ्यात्वी, मामाक और अप्रीतिकर कुलों के नाम, गोत्र आदि का कथन करते हैं।

१७५०. गीतार्थ भिक्षु दानश्राद्ध, अभिगमश्राद्ध, सम्यक्त्वी, आभिग्रहिक मिथ्यात्वी, मामाक और अप्रीतिकर कुलों को दिखाते हैं—पूर्व आदि दिशा में उनकी अवस्थिति का निर्देश करते हैं।

१७५१. गीतार्थ भिक्षुओं द्वारा कथित एवं प्रदर्शित दानश्राद्ध, अभिगमश्राद्ध, सम्यक्त्वी, आभिग्रहिक मिथ्यात्वी, मामाक एवं अप्रीतिकर कुलों की आचार्य स्थापना करते हैं—ये घर गीतार्थ संघाटक द्वारा प्रवेश योग्य हैं तथा ये सर्वथा अप्रवेश्य हैं—इस रूप में व्यवस्था करते हैं। जो ऐसा नहीं करते, उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७५२. शिष्य—स्थापनाकुलों में केवल एक गीतार्थ संघाटक ही जाए, ऐसा क्यों? आचार्य—स्थापनाकुलों में अनेक संघाटकों के जाने से अनेक दोष आते हैं यथा—१. उद्विग्नता २. द्रव्यक्षय ३. उद्गम आदि दोषों की शुद्धि न रहना^१ ४. संघ में नियत प्रयोजन और ५-६. आचार्य, ग्लान और प्राघुर्णक की उपेक्षा।^२

१७५३. शिकारी की कुतिया^३ पहले छीं छीं की आवाज से बुलाई^४ जाने पर शीघ्र दौड़ती हुई आती है, फिर वह केवल दौड़ने ही दौड़ने से उद्विग्न^५ एवं श्रान्त^६ हो जाती है तथा श्वापद आने पर, बुलाए जाने पर भी उसे पकड़ना नहीं चाहती।

१७५४. इसी प्रकार जब अन्य-अन्य भिक्षु छोटे-छोटे प्रयोजनों से श्राद्ध कुलों में बार-बार जाते हैं, तो वे उद्विग्न हो जाते हैं और ग्लान के लिए प्रायोग्य द्रव्य होने पर भी कुछ देना नहीं चाहते।

१. उपर्युक्त द्वारों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. १७५३-१७५६।

२. चूर्णिकार के अनुसार गा. १७५२ के उत्तरार्द्ध को पूरा एक द्वार भी माना जा सकता है द्रष्टव्य गा. १७५६ की चूर्णि—‘गच्छे णिययकज्जं, आयरियगिलाण-पाहुणगट्ठा।’

३. धीर का अर्थ है—वह शिकारी, जो अकेला कुत्ते के साथ शिकार हेतु जाता है।

४. छिक्क-छीं-छीं की आवाज से आहूत।

५. चमदण्णा—उद्विग्नता।

६. सिग्ग (दे) श्रान्त।

१७५५. अण्णो चमढणदोसो, 'दुल्लभदव्वस्स होति वोच्छेदो'^१।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं ॥१६३५ ॥
१७५६. दव्वखएणं^२ पंतो, इत्थि घातेज्ज कीसं^३ ते दिण्णं।
भदो हट्ट-पहट्टो^४, किणेज्ज^५ अण्णं पि साधूणं^६ ॥१६३६ ॥
१७५७. जड्डे महिसे चारी, आसे गोणे य तेसिं^७ जावसिया।
एतेसिं पडिवक्खे, चत्तारि यं संजता होंति ॥१६३७ ॥ नि ४२२ ॥
१७५८. जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं^८ महिसओ^९ मधुरमासो।
गोणो सुगंधदव्वं^{१०}, इच्छति एमेव साधू वि ॥१६३८ ॥
१७५९. एवं च पुणो ठविते, अप्पविसंते 'इमे भवे'^{११} दोसा।
वीसरणं^{१२} संजताणं, विसुक्खगोणीयं^{१३} आरामे ॥१६३९ ॥
१७६०. अलसं घसिरं सुविरं^{१४}, खमगं^{१५}-कोध-माण-मायं^{१६}-लोभिल्लं।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारेज्जा ॥१६४० ॥ नि ४२३ ॥
१७६१. तिसु लहुगो तिसु लहुगा, गुरुगो गुरुगा य 'दोसु लहुगा य'^{१७}।
अलसादीहिं कमसो, कारिंतिं^{१८} गुरुस्स पच्छित्तं^{१९} ॥१६४१ ॥ नि ४२४ ॥
१७६२. एतदोसविमुक्कं, कडजोगिं णातसीलमायारं।
गुरुभत्तिमं विणीतं, वेयावच्चं तु कारेज्जा^{२०} ॥१६४२ ॥ नि ४२५ ॥

१. दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्जे (बृभा १५८७)।

२. दव्वखएण (बृभा १५८८)।

३. किस्स (क)।

४. पउट्टो (दे)।

५. करेज्ज (बृभा)।

६. समणट्ठा (ओभा १२६)।

७. जे य (बृभा १५८९)।

८. उ (भ, ओनि २३८)।

९. सूमालं (मु, भ)।

१०. महिसिओ (ओभा १३१)।

११. सुगंधं (बृभा १५९०)।

१२. भवे इमे (ओभा १३२)।

१३. विस्सरणा (चू)।

१४. विसुक्खगोणीइ (बृभा १५९१)।

१५. सुचिरं (मु, दे)।

१६. खमगं (बृभा १५९२, ओभा १३३)।

१७. माइ (दे)।

१८. लहुग लहुगो य (बृभा १५९३)।

१९. करंतो (दे, भ)।

२०. बृभा में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—पेसग करिंतगाणं, आणाइ विराहणा चेव।

२१. बृभा १६०१, ओभा १३४।

१७५५. चमढणा से होने वाला अन्य दोष यह है कि इससे श्राद्धकुलों में दुर्लभ द्रव्यों—घी आदि का व्यवच्छेद हो जाता है। दुर्लभ द्रव्य क्षीण हो जाने पर ग्लान प्रायोग्य द्रव्य भी नहीं मिल पाता।

१७५६. साधु अल्प या अधिक प्रयोजन से बार-बार दुर्लभ द्रव्य मांगते हैं और श्राविका दे देती है। फलतः द्रव्य क्षय होने पर प्रान्त गृहस्थ अपनी पत्नी से मांगता है और वह 'नहीं है' ऐसा कहती है तो वह उस पर प्रहार कर सकता है, पूछ सकता है कि तुमने घी आदि किसको दिया? दूसरी ओर जो भद्रगृहस्थ होता है, वह अपनी पत्नी पर प्रसन्न होता है और साधुओं के लिए अन्य घृतादि द्रव्य खरीद कर मंगवा देता है और भी उद्गम दोषों में प्रवृत्त हो जाता है। (दुर्लभ द्रव्यों की परिसमाप्ति का अग्रिम दोष यह है कि संघीय किसी अपेक्षा से जब वह द्रव्य चाहिए, तब समय पर उपलब्ध नहीं होता, आचार्य, ग्लान आदि के प्रायोग्य द्रव्य न मिलने पर उन्हें परितापना होती है, दुःख होता है।)

१७५७. जडु (हाथी)^१, भैंसा, अश्व तथा बैल—चारा (भक्ष्य पदार्थ) की दृष्टि से इन चारों की रुचि भिन्न होती है और इनके परिचारक (घास—भक्ष्य विषयक उत्तरदायित्व का वहन करने वाले)^२ भी इनको भिन्न भिन्न चारा डालते हैं। इन्हीं के समान^३ संयत (भिक्षु) भी चार प्रकार के होते हैं।

१७५८. हाथी मोदक आदि इष्ट वस्तु न मिलने पर जो कुछ मिलता है, उसी से पेट भर लेता है। भैंसा बांस के पत्ते आदि सुकुमाल आहार को ही खाता है, अन्य वस्तु को नहीं। घोड़ा चना, मूंग आदि मधुर आहार की रुचि वाला होता है और बैल अर्जुन आदि सुगन्धद्रव्यों—चारा आदि को खाता है। इसी प्रकार साधु भी चार प्रकार की रुचि वाले होते हैं।^४

१७५९. स्थापनाकुलों की स्थापना कर दी जाए और बाद में गीतार्थ संघाटक आदि कोई भी वहां भिक्षार्थ प्रवेश न करे तो ये दोष आते हैं—गृहस्थ साधुओं की भिक्षाविधि के विषय में भूल ही जाएंगे—इसे शुष्क गौ और बगीचे के दृष्टान्त^५ से जाना जा सकता है।

१७६०. इन व्यक्तियों से वैयावृत्य नहीं करवाए—१. आलसी २. बहुभोजी ३. निद्रालु ४. क्षपक (तपस्वी) ५. क्रोधी ६. मानी ७. मायावी ८. लोभी ९. कुतूहली और १०. प्रतिबद्ध।

१७६१. आलसी आदि अनर्ह व्यक्तियों को वैयावृत्य में स्थापित करने का प्रायश्चित्त क्रमशः इस प्रकार है—आलसी आदि तीन के लिए लघुमास, क्षपक आदि तीन के लिए चतुर्लघु, मायावी के लिए गुरुमास, लोभी के लिए चतुर्गुरु तथा शेष दो के लिए चतुर्लघु।

१७६२. आचार्य उस भिक्षु को वैयावृत्य में नियुक्त करे, जो—१. उपर्युक्त अलस आदि दोषों से विप्रमुक्त। २. कृतयोगी (गीतार्थ)। ३. ज्ञातशील (जिसका क्षमा आदि शील ज्ञात हो)। ४. ज्ञाताचार। (ज्ञान, दर्शन आदि पंचविध आचारकुशल हो)। ५. गुरु के प्रति भक्तिमान् और ६. विनीत हो।

१. जडु—हाथी।

२. निभा २ चू. पृ. २४७—जवसं वहति जे ते जावसिया। ते य परियट्टया।

३. पडिवक्खो—पडि अव्यय सादृश्य अर्थ में—समान पक्ष वाले।

४. जो मुनि जो कुछ भी भरपेट खा सकते हैं, उन्हें हाथी के समान बताया गया है। शालि आदि कोमल आहार करने वाले मुनियों को महिष, खांड, खीर आदि मधुरभोजी मुनियों को अश्व तथा हींग आदि सुगन्धित द्रव्यों की रुचि वाले मुनियों को बैल के समान बताया गया है। विभिन्न रुचि वाले अतिथियों के आतिथेय हेतु स्थापनाकुलों से भिन्न-भिन्न द्रव्य लाने की अपेक्षा रहती है।

५. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ३७।

१७६३. साहिति^१ य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे।
एवं तु विधिग्गहणे^२, दव्वं वड्डंति खेयण्णा^३ ॥ १६४३ ॥
१७६४. एसणदोसे व^४ कते, अकते वा जतिगुणे विकत्थेंता।
कहयंति^५ असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव^६ ॥ १६४४ ॥
१७६५. ठाणं गमणागमणं, वावारं पिंडसोधिमुल्लोयं^७।
जाणंता ण वि तुब्भं^८, बहुवक्खेवाण कहयामो ॥ १६४५ ॥
१७६६. बालादिपरिच्चत्ता^९, अकहिंतेऽणेसणादिगहणं^{१०} वा।
न य कहपबंधदोसा, अह य गुणा साधिता^{११} होंति ॥ १६४६ ॥
१७६७. केसिंचि अभिग्गहिता, अणभिग्गहितेसणा य^{१२} केसिंचि।
मा हु अवण्णं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥ १६४७ ॥
- १७६७/१. बालादिपरिच्चत्ता, अकहिंतेऽणेसणादिगहणं वा।
न य कहपबंधदोसा, अह य गुणा साधिता होंति^{१३} ॥ १६४८ ॥
१७६८. संविग्गभावितानं, लुद्धग^{१४}-दिट्टंतभावितानं च।
मोत्तूण खेत-काले, भावं च कहेंति सुद्धुंछं^{१५} ॥ १६४९ ॥
१७६९. संथरणम्मि^{१६} असुद्धं, 'दोणह वि'^{१७} गेण्हंत देंतयाणऽहितं।
आउरदिट्टंतेणं, तं चेव हितं असंथरणे ॥ १६५० ॥

१. साहिति (बृभा १६०२)।

२. विहीगं (दे)।

३. गीयत्था (बृभा, ओभा १३५), खेतण्णा (मु), खेयन्ना
ज्ञानिन इत्यर्थः (चू)।

४. उ (दे)।

५. कथयंति (मु, भ)।

६. बृभा १६०३।

७. पिंडसुत्तमुं (क)।

८. तुब्भं (बृभा १६०५)।

९. बालाई परिचत्ता (बृभा १६०४)।

१०. गहियं (क)।

११. सोधिता (मु, भ)।

१२. उ (बृभा १६०६)।

१३. मुद्रित भाष्य में यह गाथा भाष्य गाथा (१६४८) के क्रम
में प्रकाशित है, लेकिन यह गाथा भूल से पुनरुक्त हो गई
है। गा. १७६६ (मु १६४६) में यह गाथा आई हुई है।
सभी प्रतियों में यह गाथा प्राप्त नहीं है अतः हमने इसे
भाष्यगाथा के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है।

१४. लोद्धग (भ)।

१५. सुद्धुत्थं (मु), बृभा १६०७।

१६. संस्तरणं नाम प्राशुकमेषणीयं चाशनादि पर्याप्तं प्राप्यते
न च किमपि ग्लानत्वं विद्यते (बृभा १६०८ टी)।

१७. दोण्हं (दे)।

१७६३. क्षेत्रज्ञ विशेष की परिस्थिति को जानने वाले और गीतार्थ प्रियधर्मा भिक्षु गृहस्थ को प्रक्षित, निक्षिप्त आदि एषणा के दोषों का बोध देते हैं, जिनकल्पिक आदि के विशेष अभिग्रहों का अवबोध देते हैं—इस प्रकार विधिपूर्वक आहार ग्रहण करने से गृहस्थ की श्रद्धा बढ़ती है तथा द्रव्य की भी वृद्धि होती है।

१७६४. गीतार्थ भिक्षु गृहस्थ द्वारा एषणा दोष किए जाने और न किए जाने के प्रसंग में उन्हें क्षमा आदि यतिगुणों को बताते हैं, उन गुणों की प्रशंसा करते हुए वे अशठभाव (दंभ और कपट रहित भाव) से गृहस्थों को एषणा के दोष और गुण बताते हैं।

१७६५. गीतार्थ भिक्षु गृहस्थ को बताते हैं कि भिक्षा के समय भिक्षु और दाता कैसे खड़े होते हैं, कैसे स्थापना दोष लगता है। गृहस्थ के कर्तन, पचन आदि व्यापारों में किस प्रकार से भिक्षा ग्राह्य या अग्राह्य होती है—इस प्रकार वह संक्षेप में पिंडविशोधि का नियम बताते हुए कहते हैं कि यद्यपि तुम इन सारी बातों को जानते हो, पर गृहस्थों के बहुत से व्याक्षेप आते हैं, कहीं तुम भूल न जाओ इसलिए बता रहे हैं।

१७६६. यदि गीतार्थ भिक्षु स्थापनाकुलों में एषणा विधि तथा भिक्षा ग्रहण आदि के विषय में नहीं बताते तो संघ में रहने वाले बाल, वृद्ध आदि भिक्षुओं के प्रायोग्य द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, फलतः वे उपेक्षित होते हैं। अतः गोचरी के समय भी वे यदि उन्हें इस विषय में संक्षिप्त अवबोध देते हैं तो कथाप्रबन्ध के दोष नहीं होते, अपितु गुणों की विशोधि होती है।

१७६७. जिनकल्पिक मुनियों की एषणा अभिग्रहयुक्त होती है और स्थविरकल्पी मुनियों की एषणा अभिग्रहयुक्त नहीं होती। अतः एक दूसरे का विपरीत आचरण देखकर अवर्णवाद नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सभी मुनि जिनेश्वर देव की आज्ञा में हैं।

१७६७/१. गीतार्थ मुनि सभी को एषणा दोषों की अवगति इस विधि से देते हैं। यदि वे इसकी अवगति नहीं देते हैं तो बाल, वृद्ध, आदि मुनियों को प्रायोग्य द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, फलतः वे उपेक्षित होते हैं अतः गोचरी के समय भी वे यदि उन्हें इस विषय में संक्षिप्त अवबोध देते हैं तो कथाप्रबन्ध के दोष नहीं होते, अपितु गुणों की विशोधि होती है।

१७६८. गीतार्थ भिक्षु क्षेत्र, काल और भाव विषयक अपवाद को छोड़कर संविग्नभावितक्षेत्रों में तथा लुब्धक दृष्टान्त^१ से भावित पार्श्वस्थ क्षेत्रों में सम्यक् अर्थ का प्रतिपादन करने वाले भावों का प्रज्ञापन करते हैं।

१७६९. संस्तरण—निर्वाह योग्य परिस्थिति में अशुद्ध आहार दाता और ग्राहक दोनों के लिए अहितकर होता है वही अशुद्ध आहार असंस्तरण की परिस्थिति में दोनों के लिए हितकर होता है—यह आतुर दृष्टान्त^२ से ज्ञातव्य है।

१. उल्लोग—थोड़ा, अल्प।

२. जैसे कोई शिकारी हरिण के पीछे दौड़ता है, उस समय हरिण का दौड़ना श्रेयस्कर है और शिकारी उसे येनकेनप्रकारेण व्यापादित करे, वह उसके लिए श्रेयस्कर है। वैसे ही हम अकल्प्य आहार आदि से दूर भागते हैं ये हमारे लिए श्रेय है पर तुम जैसे तैसे कहकर कल्प्य अकल्प्य बहरा दो, वही तुम्हारे लिए श्रेय है—यह पार्श्वस्थ का उपदेश है।

३. प्रश्नकर्ता—अप्रासुक आहार कल्पनीय भी है और अकल्पनीय भी, ऐसा कैसे ?

आचार्य—जैसे रोग की अवस्था में विष आदि की औषध हितकर है, पर रोग मिट जाने पर वही औषध उसी व्यक्ति के लिए अहितकर हो जाती है, वैसे ही अप्रासुक अनेषणीय आहार दुर्भिक्ष, अटवी एवं ग्लान्य आदि स्थितियों में संयम का उपकारक होने से अपवाद में ग्राह्य है, वही उत्सर्ग मार्ग में अग्राह्य है।

१७७०. संचइयमसंचइए^१, णारुणमसंचयं^२ तु गेण्हंति ।
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चैव संतरितं ॥१६५१ ॥
१७७१. अहवण^३ सद्धा^४ विभवे, कालं भावं च बाल-वुड्ढादी ।
णातु निरंतरगहणं, अछिण्णभावे य ठायंति^५ ॥ १६५२ ॥
१७७२. दव्वप्पमाणगणणा, खारिय फोडित^६ तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पण्णरसं^७ ॥ १६५३ ॥ नि ४२६ ॥
१७७३. असणादिदव्वमाणे, दसपरिमित एगभत्तमुव्वारे^८ ।
सो एगदिणं कप्पति, 'णेक्कंतिय ओदरो'^९ इहरा ॥ १६५४ ॥
१७७४. अपरिमिते आरेण वि, दसण्ह उव्वरइ^{१०} एगभत्तट्ठो ।
वंजणसमितिमपिट्ठो^{११}, वेसणमादीसु वि तहेव ॥ १६५५ ॥
१७७५. सति कालद्धं णातुं, कुले कुले 'ताहें तत्थ'^{१२} पविसंति ।
ओसक्कणादि दोसा, अलंभ बालादिहाणी य^{१३} ॥ १६५६ ॥
१७७६. एगो व होज्ज गच्छो, दोण्णि व तिण्णि व ठवण^{१४} असंविग्गो ।
सोधी गिलाणमादी, असतीय दवादि एमेव^{१५} ॥ १६५७ ॥

१. घय-गुल-मोयगाइणा जे अविणासी ते संचइगा, खीरदहि-
मादिया विणासी जे ते असंचइया (चू) ।
२. 'ण असं' (बृभा १६०९) ।
३. 'वणु (दे), अहवण त्ति अखण्डमव्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम्
(बृभाटी) ।
४. सद्धी^० (क) ।
५. बृभा १६१० ।
६. खारो लोणं छुब्भइ कडच्छुते घयं ताविज्जति, तत्थ जीरगादि
छुब्भति, तेण जं धूवियं तं फोडियं भवति (चू) ।
७. ओभा १३६, बृभा १६११ की टीका में इस गाथा के लिए

'संग्रहगाथासमासार्थः' का उल्लेख है ।
८. भत्तएगमुव्वारो (भ), 'मुव्वरइ (बृभा १६१२) ।
९. निच्चं तु अज्झोयरो (बृभा) ।
१०. मुव्व^० (बृभा १६१३), मुव्वरए (पा) ।
११. 'समतिम^० (भ), समिता कणिकका तथा निष्पन्नाः
समितिमाः मण्डकाः पूपलिका वा (बृभाटी) ।
१२. तत्थ ताहे (भ, मु) ।
१३. वा (बृभा १६१४) ।
१४. ठवणा (भ, दे) ।
१५. बृभा १६१५ ।

१७७०. आहार प्रायोग्य द्रव्य के दो प्रकार होते हैं—संचयिक—घृतगुड़ आदि तथा असंचयिक—दूध, दही आदि। गीतार्थ मुनि स्थापना कुलों में असंचयिक द्रव्य पर्याप्त जानकर ग्रहण करते हैं किन्तु संचयिक द्रव्य ग्लान आदि के प्रयोजन से ग्रहण करते हैं या गृहस्थ अत्यन्त आग्रह करे तो अग्लान के लिए भी सांतरित—अंतराल सहित ग्रहण करते हैं, प्रतिदिन ग्रहण नहीं करते।

१७७१. अथवा गीतार्थ भिक्षु श्रावक के श्रद्धा भाव और वैभव की प्रचुरता को जानकर, दुर्भिक्ष आदि काल या ग्लान्य आदि भाव में, बाल, वृद्ध आदि के लिए तृप्तिकर आहार को स्थापना कुलों से निरन्तर भी ले लेते हैं, जब तक दाता का श्रद्धा भाव व्यवच्छिन्न नहीं होता।

१७७२. स्थापनाकुलों में भिक्षा ग्रहण की सामाचारी यह है—सर्वप्रथम वहां संविग्न गीतार्थ भिक्षु उन कुलों में पकाए जाने वाले अशन, पान आदि द्रव्यों के १. परिमाण और २. गणना के विषय में जाने, उन कुलों में ३. खारित—लवण संस्कृत व्यंजन तथा ४. स्फोटित—जीरे, हींग आदि से युक्त (छौंक लगाए हुए—धूपित) द्रव्य कितने प्रमाण में पकाए जाते हैं, उनका ५. आहार का समय कौन सा है—इन पांच विषयों में जानकारी प्राप्त कर वह उनमें भिक्षार्थ प्रवेश करे। स्थापना कुलों में अनेक साधुओं के भिक्षार्थ जाने से पन्द्रह उद्गम दोषों की संभावना रहती है।

१७७३. संविग्न भिक्षु के लिए ज्ञातव्य है कि अमुक कुल में अशन, पान आदि कितने परिमाण में पकाए जाते हैं। जहां दस मनुष्यों के लिए अशन आदि परिमित परिमाण में पकाया जाता है, वहां एक व्यक्ति का पूरा आहार हो, इतना भोजन प्रायः अवश्य बच जाता है, अतः उस कुल से उतना आहार एक दिन में लेना विधिसम्मत है। अन्यथा—यदि दूसरे, तीसरे दिन भी उतना उतना आहार लिया जाए तो गृहस्थ उसे नित्य भक्तार्थी मानकर उसके लिए अध्यवपूरक आदि एषणा दोषों का समाचरण कर सकते हैं।

१७७४. जिन कुलों में अपरिमित आहार पकाया जाता है, वहां दस से कम अर्थात् आठ, नौ आदि मनुष्यों के लिए पकाए गए आहार में भी एक व्यक्ति का पूरा आहार हो, उतना भोजन बचना संभव है अतः वहां भी प्रतिदिन उतना आहार लिया जा सकता है। श्राद्धकुलों में पकाए जाने वाले व्यंजन—कढ़ी, बड़ी, भुजिया आदि, समितिम—पूड़ी आदि, पिष्ट—बड़े आदि खाद्य वस्तुओं^१ तथा वेसण—मसाले आदि के परिमाण के विषय में भी यही विधि ज्ञातव्य है।

१७७५. जिस कुल में जो भिक्षा का काल हो, उस उस कुल में क्रम अथवा उत्क्रम से देश, काल के अनुसार भिक्षार्थ प्रवेश करे अन्यथा अवष्वक्कन आदि दोषों की संभावना हो सकती है तथा जो श्रावक शुद्ध दान की विधि से परिचित हैं, उनके घरों में प्रायोग्य द्रव्य न मिलने से बाल, वृद्ध आदि भिक्षुओं की हानि की संभावना रहती है।

१७७६. विवक्षित क्षेत्र में एक, दो या तीन गच्छ भी हो सकते हैं। जहां एक गच्छ हो, वहां उपर्युक्त सामाचारी है। जहां अनेक गच्छ हों, वहां श्राद्धकुलों में यदि असंविग्न जाते हैं तो उन कुलों की स्थापना कर मुनि उनमें प्रवेश न करे। यदि ग्लान, प्राघूर्णक आदि के लिए प्रायोग्य द्रव्य अन्यत्र न मिले तो जहां असंविग्न भिक्षु रहते हों, उनके शय्यातर आदि स्थापना कुलों से शुद्ध भक्तपान लिया जा सकता है।^२

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य बृभा १६१३ की वृत्ति।

२. यह निशीथ चूर्णिकार की व्याख्या है (चू २ पृ. २५३)। जहां असंविग्न भिक्षु भिक्षार्थ जाते हैं, उन स्थापनाकुलों में जाने पर उद्गम आदि दोषों का प्रसंग आता है, अतः तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (द्रष्टव्य बृहत्कल्पभाष्य गा. १६१५ की वृत्ति।)

१७७७. संविग्गमणुण्णाते, अतिंति अहवा कुले विरिंचंति^१।
अण्णाउंछं व सहू, एमेव य संजतीवगे^२ ॥ १६५८ ॥
१७७८. एवं तु 'अन्नसंभोइएसु संभोइयाण^३ ते चेव।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेणं स तु पमाणं ॥ १६५९ ॥
१७७९. असति वसधीय^४ वीसुं, रायणिए^५ वसहि भोयणाऽऽगम्म।
असहू अपरिणता वा, ताहे वीसुंऽसहू वितरे^६ ॥ १६६० ॥
१७८०. तिण्हं एक्केण^७ समं, भत्तट्टं अप्पणो^८ अवट्टं तु।
पच्छा इतरेण समं, आगमण विरेगु सो चेव^९ ॥ १६६१ ॥
१७८१. अतरंतस्स तु जोग्गासतीय इतरेहि भाविते विसिउं।
अन्नमहाणसुवक्खड, 'जं वा सण्णी सयं भुंजे'^{१०} ॥ १६६२ ॥
१७८२. असतीए व दवस्स तु^{११}, परिसित्ति^{१२} कंजि-गुलदवादीणि^{१३}।
अत्तट्टिताणि गेण्हति, सव्वाऽलंभे 'व मीसाइं'^{१४} ॥ १६६३ ॥
१७८३. पाणट्टा व पविट्टो, विसुद्धमाहार^{१५} छंदितो गेण्हे।
अद्धाणादिमसंथर, जइउं एमेव जदसुद्धं^{१६} ॥ १६६४ ॥

१. विरिंचंति (भ)।

२. बृभा १६१६।

३. °इआण संभोइआण (बृभा १६१७)।

४. अवधीए (भ)।

५. रातीणिय (भ, मु)।

६. बृभा १६१८।

७. एगेण (भ)।

८. अप्पणा (दे)।

९. बृभा १६१९।

१०. भुंजति जं वा सयं सण्णी (भ, मु), बृभा १६२०।

११. व (बृभा १६२१)।

१२. परिसित्तिं नाम उण्होदगेण दहिमट्टगा निच्चं गालिज्जंति,
तं परिसित्तगपाणगं भण्णति (चू)।१३. गुलो जीए कवल्लीए कड्डिज्जति, तत्थ जं पाणियं कयं
तत्तमतत्तं वा तं गुलपाणियं भण्णति (चू)।

१४. विमिस्साइं (बृभा)।

१५. असुद्धं (मु, भ)।

१६. बृभा १६२२।

१७७७. उस क्षेत्र में पूर्वस्थित साधु असांभोजिक संविग्न हों तो आगन्तुक संविग्न साधु उनकी अनुज्ञा प्राप्त होने पर स्थापनाकुलों में प्रवेश करें। वास्तव्य मुनि अज्ञात उंछ की गवेषणा करें। यदि वे असमर्थ हों तो उन कुलों का विभाग करें। आगन्तुक मुनि समर्थ हों तो वे अज्ञात उंछ की गवेषणा करें। साध्वी वर्ग के लिए भी यही विधि है।

१७७८. उपर्युक्त विधि असांभोजिक भिक्षुओं के विषय में प्रज्ञप्त है। यदि वास्तव्य साधु साम्भोजिक हों तो वे स्वयं ही आगंतुक भिक्षुओं के लिए स्थापनाकुलों से आहार पानी लाकर दें। गृहस्थ यदि प्राघुर्णक साधु के लिए आग्रह करे तो वास्तव्य भिक्षु उसे साथ लेकर जाए। यदि स्थापना कुलों में प्रचुर भक्तपान उपलब्ध हो तो आगन्तुक साधु कितना ग्राह्य है आदि प्रश्न न करे। वास्तव्य भिक्षु उसके परिमाण को जानता है अतः वही इसमें प्रमाण है।

१७७९. विस्तीर्ण वसति न हो और वास्तव्य आगन्तुक भिक्षु पृथक्-पृथक् वसति में रहें तो जो आचार्य रत्नाधिक हो, उनकी वसति में आकर आहार करें। दोनों गच्छों में जो असमर्थ भिक्षु या अपरिणत शैक्ष हों उन्हें पृथक् आहार करवा दे। असमर्थ को प्रातराश करवा कर बाद में सब एक साथ आहार करें। रत्नाधिक आचार्य समर्थ हो तो वह अवमरत्नाधिक आचार्य की वसति में जाकर आहार कर ले। यदि विस्तीर्ण मण्डली भूमि या वसति न हो या ग्लान आदि के प्रयोजन से साथ में आहार न कर पाए तो अलग-अलग आहार करें।

१७८०. यदि एक आचार्य वास्तव्य हो और दो आगन्तुक हों तो वास्तव्य आचार्य का एक भिक्षु आगन्तुक रत्नाधिक आचार्य के भिक्षु के साथ जाए और अपने गच्छ के लिए अपार्धभाग प्रमाण भिक्षा ले आए फिर दूसरे आगंतुक आचार्य के भिक्षु के साथ भी जाए और उसी प्रकार अपार्ध भाग प्रमाण भिक्षा स्वयं के गच्छ के लिए ले आए। यदि आगन्तुक आचार्य तीन, चार आदि हों, तब भी इसी प्रकार विरेक—विभाजन कर ले अर्थात् उन सबके साथ क्रमशः गोचरी करता हुआ अपने गच्छ के लिए पूरा आहार ले आए।

१७८१. ग्लान आदि के प्रायोग्य द्रव्य अन्यत्र न मिले तो भिक्षु असंविग्न भावित कुलों में प्रवेश करे तथा जिस रसोई घर में वे दूषित भिक्षा लेते हों, उससे भिन्न रसोई घर में, जहां गृहस्थ केवल अपने लिए बनाता हो, वहां से भिक्षा ले अथवा किसी अन्य घर से गृहस्थ के घर कोई प्रहेणक—खाद्य वस्तु का उपहार आया हुआ हो, वह आहार ग्रहण करे।

१७८२. संविग्न भावित कुलों में योग्य पानक न मिले तो भिक्षु असंविग्न भावित कुलों में जाए, वहां जो परिषिक्त पानक^१ कांजी, गुड़द्रव^२ आदि गृहस्थों ने स्वयं के लिए बनाए हैं, उन्हें ग्रहण करे। यदि ऐसा प्रासुक पानी सर्वथा न मिले तो मिश्र^३ पानी ग्रहण करे।

१७८३. पानक के लिए गृहपतिकुल में प्रविष्ट मुनि को गृहस्थ एषणीय आहार हेतु निमंत्रित करे तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। अटवी आदि में, अवमौदर्य, अशिव आदि में निर्वाह की स्थिति हो, तब तक शुद्ध आहार की गवेषणा करे, निर्वाह न हो तो पानक परिहाणी पूर्वक अशुद्ध आहार की गवेषणा की जा सकती है।

१. दही आदि के बर्तन से धोया हुआ पानी।

२. गुड़ की कढ़ाई का पानी।

३. असंविग्न भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए बना हुआ। निशीर्थचूर्ण में मिश्र का अर्थ है—सचित्तमिश्र। यहां इसका अर्थ असंविग्न भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए निर्मित पानक होना चाहिए। द्रष्टव्य बृभा १६२१ वृत्ति—विमिश्राणि—असंविग्नानां श्रावकाणां चार्थायाचित्तीकृतानि, तान्यपि द्वितीयपदे गृह्यन्ते।

१७८४. बित्तिपदमणाभोगे, गेलण्णऽद्धान-संभम-भए वा ।
सत्थवसए व अवसे, परव्वसे वावि णापुच्छा ॥ १६६५ ॥
१७८५. निक्कारणमविधीए^१ निक्कारणतो तहेव य विधीए ।
कारणतो अविधीए, कारणतो चेव य विधीए^२ ॥ १६६६ ॥ नि ४२७ ॥
१७८६. आदिभयणाण तिण्हं, अण्णतरीए तु संजतीसेज्जं ।
जो भिक्खू पविसेज्जा, सो पावति आणमादीणि^३ ॥ १६६७ ॥ नि ४२८ ॥
१७८७. निक्कारणम्मि गुरुगा, तीसु वि ठाणेसु मासिगं गुरुगं ।
लहुगा य बारमूले^४, अतिगतमेत्ते गुरु पच्छा ॥ १६६८ ॥
१७८८. पाणातिपातमादी, असेवतो केण होंति गुरुगा तु ।
कीस च बाहिं लहुगा, अंतो गुरु चोदग! सुणेहि^५ ॥ १६६९ ॥
१७८९. 'वीसत्था य^६ गिलाणा, खमिग^७-वियारे य भिक्ख-सज्जाए ।
पालीय होति भेदो, अत्ताण परे तदुभए य ॥ १६७० ॥ नि ४२९ ॥
१७९०. कायी सुहवीसत्था, दरजिमित अवाउडा य पयलाति ।
'अतिगतमेत्तेहि तहिं'^८, संकितपयलाइया थद्धा^९ ॥ १६७१ ॥
१७९१. वीरल्लसउणि वित्तासियं जहा सउणिवंदयं वुण्णं^{१०} ।
वच्चति निरावयक्खं, दिसि-विदिसाओ विभज्जंतं^{११} ॥ १६७२ ॥
१७९२. तम्मि य अतिगयमेत्ते, 'वित्तत्थाओ उ तहेव जह सउणी'^{१२} ।
गेण्हंति य संघाडिं, रयहरणे यावि मग्गंति ॥ १६७३ ॥
१७९३. छक्कायाण विराधण, 'आवडणं विसमखाणुए'^{१३} विलिता ।
थद्धा य पेच्छिउं भावभेदो दोसा तु^{१४} वीसत्थे ॥ १६७४ ॥

१. सूत्र २३ (नव ४/२२), इस गाथा के लिए चूर्णि में 'इदाणिं णिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।
२. बृभा ३६९० ।
३. बृभा ३६९१ ।
४. दारमूले (बृभा ३६९२) ।
५. सुणाहि (क), सुणेहिं (बृभा ३६९३) ।
६. °त्थाहि (पा) ।
७. खमग (दे), खमिय (बृभा ३६९४) ।
८. °तमेत्ते तहियं (मु, भ), °मेत्ते य त° (बृभा ३६९५) ।

९. घट्टा (पा) ।
१०. पुण्णं (दे, भ) ।
११. १७८५-९१—इन सात गाथाओं की तुलना हेतु देखें बृभा ३६९०-९६ ।
१२. दित्तत्थ उ जहेव ता सउणी (क), वित्तत्थाओ जहेव ता सउणी (बृभा ३६९७) ।
१३. पक्खुलणं खाणु कंटए (बृभा ३६९८) ।
१४. य (दे) ।

१७८४. अपवाद में इन कारणों से स्थापनाकुलों की पृच्छा न करने पर भी मुनि शुद्ध—निर्दोष है—१. अनाभोग (विस्मृति) २. ग्लान्य ३. अटवी ४. संभ्रम (हड़बड़ी) ५. भय (राजद्वेष आदि) ६. सार्थ वशीभूत होने पर ७. अवश (क्षिप्तचित्त आदि की स्थिति में) और ८. परवश (राजपुरुषों आदि की पराधीनता के कारण)।

१७८५, १७८६. जो भिक्षु प्रथम तीन विकल्पों में से किसी भी विकल्प से संयती के उपाश्रय में प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है, वे विकल्प (भंग) हैं—

- | | |
|------------------------|------------------------|
| १. निष्कारण अविधि से | २. निष्कारण विधिपूर्वक |
| ३. कारण से अविधिपूर्वक | ४. कारण से विधिपूर्वक। |

१७८७. जो भिक्षु बिना कारण साध्वी के उपाश्रय जाता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त नहीं प्राप्त होता है। यदि वह संयती के उपाश्रय में—अग्रद्वार, मध्य एवं आसन्न—इन तीन स्थानों में नैषेधिकी नहीं करता तो प्रत्येक में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, यदि मूल द्वार के समीप बाहर खड़ा रहता है तो चतुर्लघु और अन्दर प्रवेश करने मात्र से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस विषय में प्रश्न है—

१७८८. भिक्षु ने साध्वी के उपाश्रय में प्रवेश किया, उसमें कोई प्राणतिपात आदि पाप का आसेवन तो नहीं हुआ फिर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त क्यों? मूल द्वार के समीप बाहर खड़ा रहे तो चतुर्लघु और अन्दर प्रवेश करने मात्र से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त, ऐसा क्यों? आचार्य—हे प्रश्नकर्ता—इसका कारण सुनो।

१७८९. साध्वियों के उपाश्रय में प्रविष्ट होने वाले भिक्षु के दोष इन द्वारों से ज्ञातव्य हैं—१. विश्वस्त २. ग्लान ३. तपस्वी ४. विचार भूमि ५. भिक्षा ६. स्वाध्याय और ७. आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ या उभयसमुत्थ दोषों से संयम सेतु का भेद।^१

१७९०. कोई साध्वी अपने उपाश्रय में सहजभाव से अप्रावृत बैठी है, कोई अर्धभुक्त अवस्था में बैठी है, कोई ईषद् अप्रावृत बैठी ऊँघ रही है, ऐसी स्थिति में वह किसी मुनि को अपने उपाश्रय में प्रविष्ट हुआ देख शंकाकुल हो जाती है, अचानक कपड़े आदि ठीक करने के लिए दौड़ जाती है या उस संक्षोभ के कारण उसका शरीर स्तब्ध हो जाता है।

१७९१. जैसे किसी बाज को देखकर कबूतर आदि पक्षी जाति विषाद को प्राप्त हो जाती है, अपने बच्चों आदि से निरपेक्ष होती हुई दिशा-विदिशा में अलग-अलग चली जाती है—उड़ जाती है।

१७९२. उसी प्रकार मुनि को अपने उपाश्रय में प्रविष्ट हुआ देखकर कोई वित्रस्त हो जाती है, कोई शाटिका लेने दौड़ती है तो कोई जो बिना रजोहरण दौड़ गई थी, वह अपना रजोहरण खोजती है।

१७९३. कुम्भकार शाला आदि स्थानों में प्रवासित साध्वियां जब साधु को देखकर दौड़ती हैं तो असावधानीवश वे पृथ्वीकाय, जलघट, उल्मुक आदि के संघट्टन से छह काय की विराधना कर देती है। विषम स्थान या स्थाणु आदि से अटककर गिर पड़ती हैं, पैर आदि के चोट लग जाती है, मुनि ने मुझे अप्रावृत देख लिया अतः लज्जित होकर अकार्य कर बैठती है। उसे स्तब्ध एवं अप्रावृत देख बहुत से लोगों के मध्य उसका भावभेद हो जाता है—ये विश्वस्त आर्या विषयक दोष हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा १७९१-१८०९।

१७९४. कालातिक्कमदाणे, गाढतरं होज्ज णेव पउणेज्जा^१ ।
संखोभेण निरोधे, मुच्छा मरणं च^२ असमाधी ॥१६७५ ॥
१७९५. पारणगपट्टिता आणितं च अविगडितऽदंसित ण भुंजे ।
अचियत्तमंतराए, परितावमसम्भवयणे^३ य ॥१६७६ ॥
१७९६. णोल्लेऊण ण सक्का, 'वियारभूमी य नत्थि से अंतो'^४ ।
संते वा ण पवत्तति, निच्छुभण विणास गरहा^५ य ॥१६७७ ॥
१७९७. सति कालफेडणे 'एसणादी^६ पेल्लमपेल्लणे'^७ हाणी ।
संकादऽभावितेसु^८ य, कुलेसु दोसा चरंतीणं ॥१६७८ ॥
१७९८. सज्झाए वाघातो, विहारभूमिं व पट्टिय^९ नियत्ता ।
अकरण नासारोवण, सुत्तत्थ विणा य जे दोसा ॥१६७९ ॥
१७९९. संजम-महातलागस्सा, णाण-वेरग्ग सुपरिपुण्णस्स^{१०} ।
सुद्धपरिणामजुत्तो, तस्स तु अणतिक्कमो पाली ॥१६८० ॥
१८००. संजमअभिमुहस्स व^{११}, विसुद्ध-परिणामभावजुत्तस्स ।
विकहादिसमुप्पण्णो, तस्स तु भेदो मुणेत्तव्वो ॥१६८१ ॥
१८०१. अहवा पालयतीति उ, उवस्सयं तेण होति सा पाली ।
तीसे जायति भेदो, अप्पाण-परोभय-समुत्थो^{१२} ॥१६८२ ॥
१८०२. मोहतिगिच्छा खमणं, करेमि अहमवि य बोधि-पुच्छा य ।
मरणं वा अचियत्ता, अहमवि एमेव संबंधो^{१३} ॥१६८३ ॥

१. °ज्ज (मु) ।

२. व (बृभा ३६९९) ।

३. °ताव अस° (बृभा ३७००) ।

४. °नत्थि अ सियंते (भ), अंतो वा होज्ज णत्थि वीयारो
(बृभा ३७०१) ।

५. गरिहा (बृभा) ।

६. °णादि (भ, मु) ।

७. °णादिपेल्लंतऽपे° (बृभा ३७०२) ।

८. संकादि° (दे), संकाय° (बृभा) ।

९. पत्थिय (बृभा ३७०३) ।

१०. जलपु° (दे), सुपडिपु° (बृभा ३७०४) ।

११. वि (मु, बृभा ३७०५) ।

१२. बृभा ३७०६ ।

१३. बृभा ३७०७ ।

१७९४. कोई ग्लान साध्वी के आगमन से संक्षुब्ध (भय से व्यग्रचित्त) हो जाती है, आहार नहीं कर पाती, अथवा उसकी प्रतिचारिका उसके लिए भिक्षार्थ नहीं जा पाती, फलतः आहार देने में कालातिक्रमण हो जाता है, उसका रोग बढ़ जाता है या वह स्वस्थ नहीं हो पाती। अथवा उस संक्षोभ के कारण उसके कायिकी आदि शारीरिक आवेगों का निरोध हो जाता है और उसके कारण मूर्च्छित हो जाती है, मर जाती है या असमाधिस्थ हो जाती है।

१७९५. कोई तपस्विनी साध्वी पारणे के लिये भिक्षार्थ जाती हुई मुनि को देखकर लौट आती है, कोई लाए हुए पारणे को प्रवर्तिनी के पास आलोचना किए बिना, दिखाए बिना नहीं खाती, अतः प्रतीक्षा करती रहती है फलतः मुनि का वहाँ रुकना उसके लिए अप्रीतिकर हो जाता है, मुनि उसके अंतराय का भागी बनता है, आगाढ़ या अनागाढ़ परितापना से पराभूत होकर वह उसके लिए असभ्य वचनों का प्रयोग कर बैठती है।

१७९६. भिक्षु द्वार के पास बैठा है, साध्वियां उसे लांघकर विचारभूमि नहीं जा पाती, उपाश्रय के भीतर कोई दूसरी विचारभूमि नहीं है अथवा शंका आदि के कारण उसकी संज्ञा प्रवृत्त नहीं हो पाती या उपाश्रय के अन्दर संज्ञाविसर्जन की शय्यातर की अनुज्ञा नहीं है अतः अननुज्ञात भूमि का प्रयोग करने से वह उन्हें निष्कासित कर देता है, निष्कासित होने पर श्वापद आदि से विनाश तथा लोकगर्हा आदि दोषों का प्रसंग हो सकता है।

१७९७. साध्वियां भिक्षा के लिए प्रस्थित होती हैं, उसी समय मुनि को अपने उपाश्रय में प्रविष्ट होते देख दाक्षिण्यवशात् रुक जाती है, फलतः भिक्षाकाल बीत जाता है। अकाल में भिक्षा करने से एषणा आदि दोषों की संभावना रहती है। यदि एषणा दोषों का ध्यान रखे तो स्वयं की हानि होती है—आहार आदि नहीं मिलते। अभावित कुलों में अकाल में भिक्षाटन करने से शंका आदि दोषों का प्रसंग आता है।

१७९८. ज्येष्ठार्य को आया देख साध्वियां स्वाध्याय नहीं करती, उनके स्वाध्याय में व्याघात पैदा हो जाता है अथवा उपाश्रय से बाहर जाती हुई मुनि को देखकर लौट आती है अतः स्वाध्याय में बाधा पड़ती है। स्वाध्याय—सूत्र पौरुषी एवं अर्थ पौरुषी नहीं करती, सूत्र व अर्थ के नाश से तन्निष्पन्न आरोपणा—प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा सूत्रार्थ के नाश से चरित्र विशुद्धि नहीं रहती तो चरणकरण की हानि आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

१७९९. संयम रूपी महातालाब जो ज्ञान, वैराग्य आदि के जल से परिपूर्ण है, उसके अनतिक्रमण का शुद्ध परिणाम युक्त भाव ही उसकी पालि है।

१८००. जो भिक्षु संयम के अभिमुख है और विशुद्ध परिणाम रूप भावना से युक्त है उसके विकथा आदि के कारण उत्पन्न होने वाला परिणाम उस संयमपालि का भेद है, ऐसा ज्ञातव्य है।

१८०१. अथवा जो उपाश्रय की रक्षा करती है, वह साध्वी पाली—वसतिपालिका कहलाती है। मुनि उपाश्रय में आता है, फलतः उससे वार्तालाप आदि होने पर आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ या उभयसमुत्थ राग भाव से भेद (संयमभेद) की संभावना रहती है।

१८०२. मुनि पूछता है—आप गोचरी नहीं गई? साध्वी कहती है—मेरे उपवास है। मुनि—आज क्यों? साध्वी—मोहचिकित्सा कर रही हूँ। मुनि—मैं भी मोहचिकित्सा कर रहा हूँ। पुनः परस्पर बोधि के विषय में प्रश्न होता है। साध्वी कहती है—पति की मृत्यु से वैराग्य हुआ अथवा पति मुझसे प्रेम नहीं करता था इसलिए वैराग्य हो गया। मुनि कहता है—मुझे भी इसी प्रकार से बोधि लाभ हुआ। इस प्रकार दोनों की समानतापूर्ण स्थितियां उनमें भावात्मक सम्बन्ध की हेतु बनती हैं।

१८०३. ओमाणस्स व दोसा, तस्स व 'मरणेण सग्गुणो आसि'^१।
महतरियपभावेण य, लद्धा मे संजमे बोधी ॥ १६८४ ॥
१८०४. पंडुइया^२ मि घरासे^३, तेण हतासेण 'तो ठिता धम्मे'^४।
सिट्ठं दाणि रहस्सं, ण कहिज्जति जं अणत्तस्स ॥ १६८५ ॥
१८०५. रिक्खस्स^५ वावि दोसो, अलक्खणो सो अभागधेज्जो वा।
न य निग्गुणा मि अज्जो!, 'अवस्स तुब्भे^६ वि णाहित्था'^७ ॥ १६८६ ॥
१८०६. इट्ठकलत्तवियोगे, अण्णम्मि य तारिसे अविज्जंते।
'महतरियपभावेण य'^८, अहमवि एमेव संबंधो^९ ॥ १६८७ ॥
१८०७. किं पेच्छह सारिच्छं^{१०}, मोहं मे णेति मज्झ वि तहेव।
उच्छंगगता व मता^{११}, इहरा न वि पत्तियंतो मि ॥ १६८८ ॥
१८०८. इति संदंसण-संभासणेहि भिन्नकह विरहजोगेहिं।
सेज्जातरादिपासण, वोच्छेद 'दुदिट्ठधम्मो त्ति'^{१२} ॥ १६८९ ॥
१८०९. लिंगेण लिंगिणीए, संपत्ती जो नियच्छती मूढो।
निरयाउयं निबंधति, आसायण दीहसंसारी^{१३} ॥ १६९० ॥
१८१०. पयला-निद्-तुयट्टे, अच्छिद्धिट्ठम्मि चमढणे मूलं।
पासवणे सच्चित्ते, संका वुच्छम्मि उड्डाहो^{१४} ॥ १६९१ ॥
१८११. पयला-निद्-तुयट्टे, अच्छिअदिट्ठम्मि चउलहू होंति।
सेसेसु वि चतुगुरुगा, पासवणे मासिगं गुरुगं^{१५} ॥ १६९२ ॥
१८१२. सज्झाएण णु खिण्णो, आओ^{१६} अण्णेण जेण पयलाति।
संकाएँ होंति गुरुगा, मूलं पुण होति निस्संके ॥ १६९३ ॥

१. गमणेण सग्गुणो आसि (बृभा ३७०८)।

२. पदूमिता (बृभा ३७०९)।

३. घरवासे वाकारलोपाओ घरासे, घरे वा आसा घरासा (चू)।

४. तेण निक्खंता (क, पा)।

५. रिक्खं णाम नक्खत्तं (चू)।

६. तुज्जे (भ)।

७. तुब्भे वि य नाहिह विसेसं (बृभा ३७१०)।

८. 'वेणं (दे)।

९. संबुद्धो (क), बृभा ३७११।

१०. सारिक्खं (बृभा ३७१२)।

११. मुया (भ)।

१२. 'धम्म त्ति (बृभा ३७१३)।

१३. यह गाथा 'पा' प्रति में नहीं है। बृभा में यह उद्धृत गाथा के रूप में है।

१४. बृभा ३७१४, इस गाथा के लिए बृभाटी में 'एषा पुरातना' गाथा का उल्लेख है।

१५. बृभा में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है —
पयला निद् तुयट्टे, अच्छीणं चमढणम्मि चउगुरुगा।
दिट्ठे वि य संकाए, गुरुगा सेसेसु वि पदेसु॥

१६. आहु (भ), आउं (बृभा ३७१६), आउ त्ति आहोशिवत् (चू)।

१८०३. साध्वी कहती है—मेरा पति मेरी सपत्नी की अपेक्षा मुझे अपमान से देखता, अतः उस दोष से मैं विरक्त हो गई। अथवा मेरा पति बहुत सद्गुण सम्पन्न एवं मेरे प्रति अनुरक्त था अतः उसके मरने पर जब महत्तरिका ने मुझे धर्म का उपदेश दिया तो उसके प्रभाव से मुझे संयम में बोधि प्राप्त हुई।

१८०४. घर के प्रति मेरी आशा समाप्त हो चुकी थी अथवा गृहवास में मैं हताश हो गई। अतः धर्म में स्थित हो गई। यह सारा रहस्य है जो मैंने आज तक किसी को नहीं बताया, आज आपको बता दिया।

१८०५. अथवा यह कोई नक्षत्र का ही दोष था कि विवाह के दिन से ही मेरा पति मेरे प्रति निस्नेह रहा। वह लक्षणहीन एवं अभागा था, अन्यथा हे आर्य! आप तो जानते ही हैं, मैं इतनी निर्गुण (गुणहीन) नहीं हूँ।

१८०६. मुनि कहता है—मेरी प्रिय पत्नी का वियोग हो गया, वैसी अन्य कोई मुझे मिली नहीं। महत्तर ने मुझे बहुत वात्सल्य दिया, फलतः मैं दीक्षित हो गया। इस प्रकार साध्वी और मुनि में परस्पर भावात्मक सम्बन्ध हो जाता है।

१८०७. मुनि को अपनी तरफ स्निग्ध दृष्टि से देखते हुए साध्वी पूछती है—आप ऐसे क्या देख रहे हैं। मुनि—समानता (मेरी पत्नी के साथ तुम्हारी समानता है।) अतः तुम्हारा दर्शन मुझे मुग्ध बना रहा है। साध्वी—मुझे भी ऐसा ही लगता है। (मुझे भी मोह पैदा हो रहा है।) मुनि—मेरी पत्नी मेरी गोद में ही मरी थी, अन्यथा देवता भी कहते तो मुझे विश्वास नहीं होता कि वह मर गई है।

१८०८. इस प्रकार परस्पर सन्दर्शन, संभाषण, रहस्यालाप (भिन्नकथा) और एकान्त आदि के योग से उनका चरित्र भेद हो जाता है। शय्यातर, उनके परिजन आदि उनकी इस प्रकार की चेष्टा देखते हैं। उनके वसति अथवा अन्यद्रव्य का व्यवच्छेद कर देते हैं तथा ये साधु दुदृष्टधर्मा हैं—ऐसा सोच विपरिणाम को प्राप्त हो जाते हैं।

१८०९. यदि मुनिवेश में वह मूढ़ उस साध्वी के साथ काम—संसिद्धि (सम्पूति) को प्राप्त होता है तो नरकायुष्य का बन्धन करता है, तीर्थकर एवं संघ की आशातना करता हुआ दीर्घसंसारी बनता है।

१८१०-१२. मुनि साध्वी के उपाश्रय में प्रचलायित (बैठा हुआ अर्धजागृत) रहता है, बैठा-बैठा नींद लेता है, संस्तारक बिछा कर सो जाता है अथवा अक्षिचमदन करता है—आंखें मूंदे बैठा रहता है।^१ ये चारों क्रियाएँ करता हुआ किसी गृहस्थ के द्वारा न भी देखा जाए तो प्रत्येक का चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि गृहस्थ आदि कोई देखे और शंकापूर्वक कहे—यह मुनि रात को स्वाध्याय करता रहा, इसलिए खिन्न होकर ऊँघ रहा है या किसी अन्य स्त्रीप्रसंग से? इस प्रकार शंकास्पद कथन से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि गृहस्थ को यह विश्वास हो जाए कि जरूर यह किसी स्त्रीप्रसंग से खिन्न है और गृहस्थ उसका उड्डाह करे तो मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि मुनि साध्वी की कायिकी भूमि को छोड़कर अन्यत्र मूत्रोत्सर्ग करे तो मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और यदि संयती की कायिकी भूमि में मूत्रोत्सर्ग करे और उस योग से कोई शुक्र बीज साध्वी की योनि में प्रविष्ट हो जाए तो मूल प्रायश्चित्त होता है।^२

१. बृभा. ३७१४ की वृत्ति—अक्षिचमदनं—चक्षुषोर्मौलनम्।

२. निभा २ चू. पृ. २६०—तं बीयं जति धाराहतं संजतीते जोणिं पविसति तो संजयस्स मूलं।

१८१३. पयला निद तुयट्टे, अच्छिमदिट्टुम्मि चउगुरू होंति ।
दिट्टे वि य संकाए, गुरूगा सेसेसु वि पदेसु ॥ १६९४ ॥
१८१४. अण्णत्थ मोय^१ गुरूगो^२, संजतिवोसिरणभूमीएँ गुरूगा ।
जोणोगाहणबीए, केई धाराएँ मूलं तु^३ ॥ १६९५ ॥
१८१५. निक्कारणे विधीय वि, दोसा ते चेव जे भणितपुव्विं ।
वीसत्थपदं^४ मोत्तुं, गेलण्णादी उवरिमेसु^५ ॥ १६९६ ॥
१८१६. निक्कारणे विधीय वि, तिट्ठाणे गुरूग जेण पडिकुट्टं ।
कारणगमणे सुद्धो, नवरं अविधीय मासतिगं ॥ १६९७ ॥
१८१७. कारणतो अविधीए^६, दोसा ते चेव जे भणितपुव्विं ।
कारण विधीय सुद्धो, 'इच्छं तं'^७ कारणं 'किं तु'^८ ॥ १६९८ ॥
१८१८. गम्मति कारणजाते, पाहुणगे गणधरे महिड्डीए ।
पच्छादणा य सेहे, असहुस्स चउक्कभयणा तु^९ ॥ १६९९ ॥ नि ४३० ॥
१८१९. उवस्सए य संथारे, उवधी संघपाहुणे ।
'सेहे ठवणुदेसे'^{१०}, अणुण्णा भंडणे गणे ॥ १७०० ॥ नि ४३१ ॥
१८२०. अणप्पज्झाऽगणि आऊ, वियारे पुत्तसंगमे ।
संलेहण वोसिरणे, वोसट्टे निट्ठिते तिहं^{११} ॥ १७०१ ॥ नि ४३२ ॥
१८२१. अज्जाणं पडिकुट्टं, वसधी संथारगाण गहणं तु ।
'ओभासितु'^{१२} दातव्वा^{१३}, वच्चेज्जा गणधरो तेणं ॥ १७०२ ॥

१. मोयमिति काइयं (चू) ।
२. गुरू जं (क) ।
३. बृभा ३७१७ ।
४. °त्थाई (बृभा ३७१८) ।
५. °रिमा उ (बृभा) ।
६. अविहिए (भ) ।
७. पुच्छंतं (दे, मु) ।

८. तु सद्दो पादपूरणे (चू), किन्नु (बृभा ३७२०) ।
९. बृभा ३७२१ ।
१०. सेहट्टुव° (बृभा ३७२२) ।
११. तीहिं (भ), त्र्यहं त्रीन्—दिवसान् (बृभा ३७२३, टी.) ।
१२. °सित (मु) ।
१३. °सिउ दाउं वा (बृभा ३७२४) ।

१८१३. प्रचला, निद्रा, त्वग्वर्तन (सोना) एवं चक्षुनिमीलन—इन चारों ही क्रियाओं का चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है, यदि गृहस्थ मुनि को इन क्रियाओं को करते देख शंका करे। यदि वह (गृहस्थ) निःशंक हो जाए तो प्रत्येक पद में मूल प्रायश्चित्त आता है। शेष पदों में भी यही विधि है—ऐसा क्षमाश्रमण सिद्धसेन का मत है।

१८१४. जो भूमि साध्वियों के कायिकी-विसर्जन हेतु निर्धारित है, उसे छोड़कर मुनि अन्यत्र यदि प्रस्रवण करता है तो उसे मासगुरु तथा उसी भूमि पर विसर्जन करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कदाचित् यदि किसी क्लीब का वहां बीजनिर्गम हो गया हो और वह उस मूत्रधारा से आहत हो, साध्वी की योनि में प्रविष्ट हो जाए तो साधु को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार बीज यदि धारा से स्पृष्ट भी हो तो मुनि को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१८१५. जो दोष प्रथम भंग (निष्कारण अविधि से) में कहे गए हैं उनमें से विश्वस्त पद में कथित दोषों को छोड़कर आगे के ग्लान आदि पदों (द्वारों) में कहे गए दोष द्वितीय भंग (निष्कारण, विधिपूर्वक) में भी संभावित हैं अतः तीन बार निस्सही-निस्सही कहकर विधि पूर्वक भी मुनि बिना कारण साध्वियों के उपाश्रय में प्रवेश न करे।

१८१६. बिना कारण विधिपूर्वक साध्वी के उपाश्रय में प्रवेश करे तो तीनों ही स्थानों पर नैषेधिकी का प्रयोग करने वाले मुनि को मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि अकारण साध्वी के उपाश्रय में प्रवेश निषिद्ध है। सकारण साध्वी के उपाश्रय में जाना निर्दोष है, केवल अविधि गमन के लिए तीन मासगुरु प्रायश्चित्त होते हैं। जो दो स्थानों में नैषेधिकी नहीं करता, उसे दो मासगुरु तथा एक स्थान पर नैषेधिकी नहीं करने वाले को एक मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१८१७. जो मुनि कारण से (सप्रयोजन) भी साध्वी के उपाश्रय में अविधि से प्रविष्ट होता है, उसके भी उन्हीं दोषों की संभावना है जो प्रथम भंग में कहे गए हैं। जो मुनि कारण से विधिपूर्वक (तीन बार नैषेधिकी का प्रयोग करते हुए) साध्वी के उपाश्रय में प्रवेश करता है वह शुद्ध (अप्रायश्चित्ती) है। शिष्य पूछता है—इसका क्या कारण है ?

१८१८. इन प्रयोजनों से साध्वियों के उपाश्रय में जाना विधिसम्मत है—१. कारण जात (विभिन्न कार्य), २. प्राघुर्णक, ३. गणधर, ४. महर्द्धिक, ५. शैक्ष का प्रच्छादन और ६. असमर्थ (ग्लान साध्वी) की चिकित्सा।^१ असहू (असमर्थ) साधु साध्वी के विषय में चार भंग बनते हैं।^२

१८१९, १८२०. कारणजात नामक प्रथम द्वार इन बीस उपद्वारों से ज्ञातव्य है—१. उपाश्रय २. संस्तारक ३. उपधि ४. संघप्राघुण ५. शैक्ष ६. स्थापना ७. उद्देश्य ८. अनुज्ञा ९. भंडण (कलह) १०. गण ११. अनात्मवश १२. अग्नि १३. जल १४. विचारभूमि १५. पुत्र १६. संगम (मिलन) १७. संलेखना १८. व्युत्सर्जन (अनशन) १९. व्युत्सृष्ट और २०. निष्ठित—किसी साध्वी के कालगत होने पर तीन दिन तक साध्वियों के उपाश्रय में जाए।

१८२१. साध्वियों को स्वयं उपाश्रय तथा संस्तारक का ग्रहण करना निषिद्ध है। अतः उनके लिए उपाश्रय का अवभाषण करने तथा उनके प्रायोग्य संस्तारक देने के लिए गणधर जा सकता है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १८२०-१९०३।

२. १. साध्वी सहिष्णु, साधु असहिष्णु, २. साधु सहिष्णु, साध्वी असहिष्णु ३. दोनों असहिष्णु ४. दोनों सहिष्णु।

१८२२. पडितं पम्हुट्टं वा, पलावितं 'वा हितं'^१ व उग्गमितं।
उवधिं भाएउं जे, दाउं जे वावि वच्चेज्जा^२ ॥१७०३॥
१८२३. ओधाणाभिमुहीणं, थिरकरणं काउमज्जियाणं^३ तु।
गच्छेज्जा पाहुणगो, संघ-कुले थेर गणथेरो ॥१७०४॥
१८२४. अण्णत्थ अप्पसत्था, होज्ज पसत्था व अज्जिगोवसए।
एतेण कारणेणं, 'गच्छेज्ज उवट्टवेउं'^४ जे^५ ॥१७०५॥
१८२५. ठवणकुलाइ ठवेउं, तासिं ठविताणि वा निवेएउं।
परिहरिउं ठविताणि व, 'ठवणाऽऽदियणं व वोत्तुं जे'^६ ॥१७०६॥
१८२६. वसहीय 'असज्झाए, गारव'^७-भय सङ्कु मंगले चेव।
उद्देसादी काउं, वाएउं वावि गच्छेज्जा ॥१७०७॥
१८२७. उप्पन्ने अधिकरणे, विओसवेउं तहिं पसत्थं तु।
अच्छंति खउरिताओ, संजमसारं ठवेउं जे^८ ॥१७०८॥
१८२८. जदि कालगता गणिणी, नत्थि उ^९ अण्णा तु गणधरसमत्था।
एतेण कारणेणं, गणचिंताए वि गच्छेज्जा^{१०} ॥१७०९॥
१८२९. अज्जं जक्खाइट्टं, खित्तच्चित्तं व दित्तचित्तं वा।
उम्मायं पत्तं वा, काउं गच्छेज्ज अप्पज्झं^{११} ॥१७१०॥
१८३०. जदि अगणिणा 'तु दट्टा, वसती डज्झति'^{१२} व डज्झिहिति व त्ति।
णाऊण व सोऊण व, 'संठविउं जे वि'^{१३} वच्चेज्जा ॥१७११॥
१८३१. नदिपूरएण वसही^{१४}, वुज्झति वूढा व वुज्झिहिति व त्ति।
उदगभरितं व सोच्चा, उवघेतुं 'वावि गच्छेज्जा'^{१५} ॥१७१२॥

१. अवहियं (बृभा ३७२५)।

२. बीच का एक पत्र लुप्त होने से दे प्रति में १८२३ से १८४४ तक की गाथाएं नहीं हैं।

३. काउ अज्जि° (क, बृभा ३७२६)।

४. °ज्जा उट्टवे° (भ, पा)।

५. बृभा ३७२७।

६. ठवियाइं अणुण्णा व भुंजे (भ), बृभा ३७२८।

७. अणज्झाए गोरव (भ)।

८. सद्ध (बृभा ३७२९)।

९. बृभा ३७३०।

१०. य (मु)।

११. बृभा ३७३१।

१२. बृभा ३७३२।

१३. °दज्झति (भ, क), उ वसही दट्टा डज्झइ (बृभा ३७३३)।

१४. उज्झेउं जे वावि (भ), उवघेतुं जे व (बृभा)।

१५. वसती (भ)।

१६. तं तु वच्चेज्जा (बृभा ३७३४)।

१८२२. साध्वी भिक्षा के लिए जाए, उस समय कोई उपधि गिर जाए अथवा कहीं स्वाध्याय भूमि आदि में भूल जाए या जल (बाढ़) द्वारा प्लावित, स्तेन आदि के द्वारा अपहृत उपधि हो और वह किसी साधु को मिल जाए, उसे उस साध्वी को लौटाने^१ के लिए गणधर (मुनि) साध्वियों के उपाश्रय में जा सकता है अथवा कोई नवीन उपधि मुनि लेकर आए, जो साध्वियों के प्रायोग्य हो तो उन्हें प्रदान करने^२ के लिए भी गणधर साध्वियों के उपाश्रय में जा सकता है।

१८२३. संघप्राघुणक का अर्थ है—संघस्थविर, कुलस्थविर और गणस्थविर। कोई साध्वी अवधावन (उन्निष्क्रमण) के अभिमुख हो तो उसे संयम में स्थिर करने के लिए संघप्राघुणक साध्वियों के उपाश्रय में जा सकता है।

१८२४. अन्यत्र द्रव्य, क्षेत्र आदि अप्रशस्त हों और साध्वियों के उपाश्रय में प्रशस्त हों तो गणधर शैक्ष की उपस्थापना के लिए उनके उपाश्रय में जा सकता है।

१८२५. स्थापना कुलों को स्थापित करने अथवा स्थापित कुलों का निवेदन-प्रज्ञापन करने, मामाक आदि स्थापनाकुलों का परिहार (निषेध) करने तथा पूर्वस्थापित कुलों की विवक्षित अवधि पूरी हो जाने से (जन्मसूतक, मृतसूतक आदि से युक्त कुल इत्वरिक स्थापना कुल होते हैं।) उनमें पुनः भिक्षा आदि के ग्रहण की अनुज्ञा देने के लिए साध्वियों के उपाश्रय में जाना विधिसम्मत है।

१८२६. गणधर साध्वियों को अंग, श्रुतस्कन्ध आदि का उद्देश, समुद्देश आदि देने तथा सूत्र की वाचना देने साध्वियों के उपाश्रय में जा सकते हैं। गणधर की वसति में अस्वाध्यायिक हो या आचार्य के गौरव, भय एवं श्रद्धा के कारण वे शीघ्र श्रुत का अध्ययन कर सकेंगी, ऐसा सोचकर अथवा प्रशस्त क्षेत्र आदि में वाचना देने से मंगल होता है—इत्यादि कारणों से श्रुतोद्देश के लिए साध्वियों के उपाश्रय में जाना अनुज्ञात है। प्रवर्तिनी कालगत हो जाए और पीछे कोई वाचना देने वाला न हो तो वाचना हेतु जाना भी विहित है।

१८२७. कदाचित् साध्वियों में परस्पर कलह हो जाए, वे संयमसार (उपशमभाव) को स्थापित (छोड़) कर कलुषितचित्त^३ होकर रहती हैं तो उनके व्युपशमन हेतु गणधर अथवा उपशम लब्धि सम्पन्न किसी अन्य साधु का साध्वियों के उपाश्रय में जाना प्रशस्त है।

१८२८. यदि गणिनी—प्रवर्तिनी कालगत हो गई और साध्वीगण का भार वहन करने में अन्य साध्वी समर्थ नहीं हो तो गणचिन्ता करने के लिए गणधर साध्वियों के उपाश्रय में जा सकते हैं।

१८२९. कोई साध्वी यक्षाविष्ट, क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त या उन्मत्त होने से अनात्मवश हो जाए तो मन्त्र-तन्त्र आदि से उसे पुनः आत्मवश—स्वस्थचित्त^४ बनाने हेतु गणधर साध्वियों के उपाश्रय में जाए।

१८३०. साध्वियों का उपाश्रय जल गया, जल रहा है अथवा जलने वाला है—यदि ऐसा जाने या अन्य से सुने तो उसे बचाने और बुझाने के लिए उनके उपाश्रय में जाए।

१८३१. साध्वियों का उपाश्रय नदी के प्रवाह से बह गया, बह रहा है या बहने वाला है, उसमें पानी भर गया है, यदि ऐसा सुने तो उसका उत्सिंचन करने, उपग्रह करने (व्यवस्थित करने) हेतु गणधर उनके उपाश्रय में जाए।

१. भाजन—जिसकी जो उपधि हो, उसे वह लौटाना अथवा प्रवर्तिनी के अभाव में साध्वियों को उपधि बांटना।

२. दान—अपूर्व उपधि देना या प्रवर्तिनी के हाथ से उपधि दिलवाना।

३. निभा २ चू. पृ. २६२—यहां खरंटित का अर्थ है दोष से कलुषित।

४. वही—अप्यज्ज्ञं स्वस्थचित्तां।

१८३२. घोडेहि व धुत्तेहि व, 'आणहे जई वियारभूमीए'^१।
जतणाए वारेउं, संठवणाए वि गच्छेज्जा ॥ १७१३ ॥
१८३३. पुत्तो 'पिया व भाया'^२, भगिणी वा ताण होज्ज कालगता।
अज्जाय दुक्खियाए, 'अणुसट्ठिं दाउ'^३ गच्छेज्जा ॥ १७१४ ॥
१८३४. तेलोक्कदेवमहिता, तित्थकरा नीरया गता सिद्धिं।
थेरा वि गता केई, चरणगुणपभावगा धीरा^४ ॥ १७१५ ॥
१८३५. बम्ही^५ य सुंदरी या, अण्णा वि य जाओं लोगजेट्ठाओ।
ताओ वि य कालगता, किं पुण सेसाउ अज्जाओ ॥ १७१६ ॥
१८३६. न हु होति सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होति सोइयव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे ॥ १७१७ ॥
१८३७. लद्धूण माणुसत्तं, संजम-चरणं च दुल्लभं जीवा।
आणाएँ पमाएत्ता, दोग्गतिभयवड्डुगा होंति ॥ १७१८ ॥
१८३८. पुत्तो पिया व भाया, अज्जाणं आगतो तहिं कोई^६।
घेत्तूण गणधरो तं, वच्चति तो संजतीवसधिं ॥ १७१९ ॥
१८३९. संलिहितं^७ पि य तिविधं, वोसिरितव्वं च तिविध वोसट्ठं।
कालगतं ति य सोच्चा, सरीरमहिमाएँ गच्छेज्जा ॥ १७२० ॥
१८४०. जाधे वि य कालगता, ताधे वि य दोण्णि-तिण्णि वा दिवसे।
गच्छेज्ज संजतीणं, अणुसट्ठिं गणधरो दातुं ॥ १७२१ ॥
१८४१. अप्प-बिति अप्प-ततिया, पाहुणगा आगता सउवयारा।
सेज्जातर मामाए, पडिकुट्टुद्देसिए पुच्छा^८ ॥ १७२२ ॥
१८४२. आसंदग कट्टमओ, भिसिगा वा पीढगं व छगणमयं^९।
तक्खणलंभे असती, पडिहारिय^{१०} पेहऽभोगऽण्णे ॥ १७२३ ॥

१. अहवा वि जती^० (बृभा ३७३५)।

२. वा भाया वा (बृभा ३७३६)।

३. °सट्ठीए वि (बृभा)।

४. बृभा ३७३७।

५. बंभी (बृभा ३७३८)।

६. कोयि (भ)।

७. संलेहितं (भ)।

८. निभा १८३६-४१ की तुलना हेतु देखें बृभा ३७३९-४४।

९. कट्टमयं (बृभा ३७४५)।

१०. परिहा^० (मु)।

१८३२. यदि कोई आवारा^१ और धूर्त व्यक्ति विचारभूमि जाती हुई साध्वियों के उपसर्ग करे तो उनका निवारण करने के लिए, साध्वियों हेतु कायिकी भूमि आदि की व्यवस्था करने अथवा पूर्वकृत भूमि की संस्थापना हेतु मुनि साध्वियों के उपाश्रय में जा सकते हैं।

१८३३. किसी साध्वी का पुत्र, भाई या बहिन कालप्राप्त हो जाए तो उस दुःखी साध्वी को अनुशिष्टि प्रदान करने (सान्त्वना देने) के लिए आचार्य साध्वियों के उपाश्रय में जाए।^२

१८३४, १८३५. जो तीनों लोकों के देवों द्वारा पूजित एवं सब कर्म रजों से मुक्त हैं, वे तीर्थंकर भी सिद्धि को प्राप्त हो गए। जो चरणगुणों (चारित्र के मूल और उत्तर गुणों) की प्रभावना करने वाले, धैर्य आदि गुणों से युक्त गौतम आदि कई स्थविर थे, वे भी मृत्यु को प्राप्त हो गए। ब्राह्मी, सुन्दरी और अन्य जो लोकज्येष्ठा साध्वियां हुई हैं, वे भी काल को प्राप्त हो गईं तो शेष आर्याओं की तो बात ही क्या?

१८३६. जो चारित्र में दृढ़ रहता हुआ कालधर्म को प्राप्त हुआ है, उसका शोक नहीं करना चाहिए। बल्कि जो संयम में कमजोर होता हुआ विहरण करे (जीवन यापन करे), वह व्यक्ति शोक करने योग्य है।

१८३७. जो जीव मनुष्य जन्म को तथा दुर्लभ संयम रूपी चारित्र को प्राप्त कर आज्ञा में प्रमाद करते हैं वे अपनी दुर्गति के भय को बढ़ाने वाले होते हैं।

१८३८. साध्वियों का कोई पुत्र, पिता या भाई (जो चिरकालीन प्रवास से लौटा हो) आया हो तो गणधर (आचार्य) उसे लेकर साध्वियों के उपाश्रय में आते हैं।

१८३९. तीन वस्तुओं—आहार, शरीर और उपधि अथवा उपधि, शरीर और कषाय की संलेखना (अल्पीकरण) की जाती है, ये ही तीनों व्युत्सर्जनीय और व्युत्सृष्ट हैं। किसी साध्वी ने संलेखना शुरू की है, कोई व्युत्सर्जन कर रही है—अनशन स्वीकार कर रही है या कोई व्युत्सर्जन कर चुकी है तो उनके स्थिरीकरण के लिए आचार्य साध्वियों के उपाश्रय में जाता है। कोई साध्वी कालधर्म को प्राप्त हो गई—ऐसा सुनकर उसकी शरीर महिमा के लिए उनके उपाश्रय में जाए।

१८४०. जब प्रवर्तिनी आदि कोई महायशस्वी साध्वी कालगत हो जाए तो गणधर दो, तीन दिन तक साध्वियों को अनुशिष्टि प्रदान करने हेतु जाए।

१८४१. कोई दो या तीन प्राघुर्णक मुनि आए हों तो उपचार सहित साध्वियों के उपाश्रय में प्रविष्ट होते हैं तथा उन्हें शय्यातरकुल, मामाक कुल, प्रतिक्रुष्ट (धोबी आदि निम्न समझे जाने वाले) कुल तथा औद्देशिक कुलों के विषय में पूछते हैं।

१८४२. जब प्राघुर्णक मुनि साध्वियों के उपाश्रय में आते हैं तो उन्हें काष्ठ का आसंदक (कुर्सी), वृषिका अथवा काष्ठमय पीढ़ा बैठने हेतु दिया जाता है। यदि उपाश्रय में तत्काल ऐसा कोई आसन (कुर्सी आदि) उपलब्ध न हो तो उनके लिए प्रातिहारिक कुर्सी आदि लाई जाती है। साध्वियां उसकी प्रतिलेखना करती हैं तथा कोई भी अन्य (साध्वी) उस का भोग नहीं करती। उस कुर्सी आदि पर बैठकर वे उनसे शय्यातर के कुल आदि के विषय में पूछते हैं।

१. (क) निभा २ चू. पृ. २६३—घोडा चट्टा।

(ख) चट्ट—अवारा।

२. गा. १८३४-३६—वियोग से दुःखी साध्वी को किन शब्दों में सांत्वना दे, इसका निदर्शन है।

१८४३. बाहाएँ अंगुलीएँ व, लट्टीय व उज्जुसंठितो^१ संतो ।
न पुच्छेज्ज न दाएज्ज, पच्चावाता भवे तत्थ ॥ १७२४ ॥
१८४४. तेणेहि व अगणिणा व, जीवितववरोवणं च पडिणीते ।
खरए खरिया सुण्हा, नट्टे वट्टक्खुरे संका^२ ॥ १७२५ ॥
१८४५. सेज्जातराण धम्मं, कहिंति अज्जाण देति अणुसट्ठिं ।
धम्मम्मि य कहितम्मी^३, सव्वे संवेगमावण्णा^४ ॥ १७२६ ॥
१८४६. अण्णो वि य आदेसो, पाहुणग 'अभासि दुल्लभा वसही'^५ ।
तेणादि चिलिमिणिअंतर^६ चातुस्साले वसेज्जा हिं^७ ॥ १७२७ ॥
१८४७. कुडुंतरियस्सऽसती^८, कडओ पोत्ती^९ व अंतरे थेरा ।
तेसंतरिता खुड्डा, समणीण वि मग्गणा एवं ॥ १७२८ ॥
१८४८. 'अण्णाते तुसिणीया, णाते सद्दं'^{१०} करेति सज्झायं^{११} ।
अच्चुव्वाता^{१२} व सुते^{१३}, अच्छंति व अण्णहिं दिवसं ॥ १७२९ ॥
१८४९. समणी जणे^{१४} पविट्टे, णिसंतु उल्लावऽकारणे गुरुगा ।
पयला-निद्द-तुयट्टे, अच्छिचमढणे^{१५} गिही मूलं ॥ १७३० ॥
१८५०. उच्चारं पासवणं, 'अण्णत्थ व'^{१६} मत्तगोसु व जतंति ।
अद्धिट्ठ^{१७} पविट्टे वा, दिट्टे णिंतेहरा भइयं ॥ १७३१ ॥
१८५१. तत्थऽण्णत्थ व दिवसं, अच्छंता परिहरंति निद्दादी ।
जतणाए व सुवंती^{१८}, उभयं पि व मग्गते वसहिं^{१९} ॥ १७३१ ॥

१. उज्जुअं ठिओ (बृभा ३७४६) ।

२. बृभा ३७४७

३. °म्मिं (क) ।

४. बृभा ३७४८ ।

५. °सिया उ तेणभाए (बृभा ३७४९) ।

६. °मिणीअं (भ) ।

७. हिं पायपूरणे (चू), णं (बृभा) ।

८. °रिया असती (मु), °तरस्स असती (बृभा ३७५०) ।

९. पोत्ति त्ति चिलिमिणि त्ति वुत्तं भवति (चू) ।

१०. अन्नाए आभोगं नाएँ ससद्दं (बृभा ३७५१) ।

११. मज्झायं (दे) ।

१२. अतीव उव्वाया अच्चुव्वाता श्रान्ता इत्यर्थः (चू) ।

१३. संते (क), सुवे (बृभा) ।

१४. समण (बृभा) ।

१५. अच्छीचं (दे), अच्छीमलणे (बृभा ३७५२) ।

१६. व अन्नहिं (भ, बृभा ३७५३) ।

१७. अदिट्टे (भ) ।

१८. सुयंती (दे), सुविंती (बृभा ३७५४) ।

१९. मुद्रित भाष्य में १८५० और १८५१— (मु. १७३१, १७३२) इन दोनों गाथाओं में क्रमव्यत्यय है। विषय की दृष्टि से हमने हस्तप्रतियों के क्रम को स्वीकार किया है।

१८४३. मुनि घर के सामने खड़ा होकर बाहु, अंगुली अथवा लाठी से शय्यातर आदि के घर के विषय में न पूछे और न साध्वियां बाहु आदि के संकेत से उन्हें इस विषय में बताए क्योंकि इसमें बहुत से प्रत्यपाय हो सकते हैं।

१८४४. बाहु आदि के संकेत से पूछे या बताए गए, उस घर में कोई चोर कुछ अपहरण कर ले, अग्नि से वह घर जल जाए, कोई प्रत्यनीक किसी के जीवन को समाप्त कर दे, किसी दास, दासी का अपहरण हो जाए, कोई स्तुषा आदि किसी धूर्त के साथ पलायन कर जाए, कोई घोड़ा आदि चोरी चला जाए तो गृहस्थ साधु-साध्वियों के विषय में शंका कर सकते हैं।

१८४५. वे प्राघुर्णक मुनि वहाँ बैठकर शय्यातर को धर्मोपदेश देते हैं और साध्वियों को संयम की अनुशिष्टि प्रदान करते हैं। धर्म का प्रज्ञापन करने पर सभी को संवेग की प्राप्ति होती है।

१८४६. प्राघुर्णक द्वार में एक दूसरा आदेश भी है—यदि प्राघुर्णक मुनि विवक्षित क्षेत्र की भाषा नहीं जानते हों और उन्हें उपाश्रय न मिले, तब साध्वियां उनके प्रायोग्य उपाश्रय की गवेषणा करती हैं। यदि उपाश्रय न मिले तथा बाहर वृक्षमूल में प्रवास करने पर स्तेन आदि का भय हो तो साध्वियों के साथ ही चतुःशाला आदि में रहे और साध्वियां चिलिमिली से अन्तरित होकर (पर्दा डालकर) रहे।

१८४७. अन्य उपाश्रय न मिले तो साधु-साध्वियां एक ही गृह में भित्ति से अन्तरित रह सकते हैं। यदि दीवार न हो तो कटकमयी यवनिका डाल कर रहें। कटकमयी यवनिका न हो तो वस्त्र का पर्दा डाला जाए। यदि वस्त्र का भी पर्दा न हो तो जहाँ दृढ़ कुड्य (दीवार) हो, उधर तरुण साध्वियों को रखा जाए फिर मध्यमवय वाली, स्थविर और छोटी साध्वियों को क्रमशः रखा जाए। जिधर साध्वियाँ हो, उसके दूसरी तरफ कुछ व्यवधान से क्रमशः स्थविर, बाल, मध्यमवय वाले तथा तरुण मुनियों को रखा जाए। साध्वियों के विषय में भी यही मार्गणा है—केवल समानवय वाले साधु-साध्वियों को पास पास न रखा जाए।

१८४८. यदि लोगों से अज्ञात अवस्था में रह रहे हों तो रात्रि में मौन रहें। यदि वे ज्ञात अवस्था में रह रहे हों तो सशब्द स्वाध्याय करें। यदि अत्यधिक थक गए हों तो सो जाएँ। यदि किसी कारण से उन्हें दो या तीन दिन वहाँ रहना हो तो दिन में अन्यत्र (उद्यान) आदि में रहे।

१८४९. गृहस्थजनों के अपने शयनीय घरों में प्रविष्ट होने पर निशान्त वेला में यदि कोई साध्वी किसी मुनि के साथ उल्लाप करती है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उद्यान आदि में श्वापद आदि का भय हो और साधु साध्वी एक उपाश्रय में ही दिन में साथ-साथ रहते हों तो दिन में प्रचला, निद्रा, त्वगवर्तन (लेटना) तथा आंखें मूंदना—प्रत्येक पद में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साधु साध्वियों को दिन में ऊँघते या नींद लेते देख कर कोई गृहस्थ सोचे कि जरूर ये सागारिक जागरण से खिन्न होकर अभी ऊँघ रहे हैं—ऐसा निःशंक मानने पर साधु साध्वी को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१८५०. मुनिजन साध्वियों की कायिकी भूमि को छोड़कर अन्यत्र उच्चार-प्रस्रवण करते हैं अथवा मात्रक में विसर्जन कर अन्यत्र (बाहर) परिष्ठापन करते हैं। वहाँ प्रविष्ट होते समय यदि वे गृहस्थों के द्वारा नहीं देखे जाते तो निकलते समय भी अदृष्ट रहते हैं। यदि प्रवेश के समय देख लिए जाते हैं तो निर्गमन में भजना है—दृष्ट भी हो सकते हैं और अदृष्ट भी।

१८५१. वहाँ रात्रि में रहकर, वहाँ या अन्यत्र उद्यान आदि में दिन में रहने वाले मुनि यतनापूर्वक निद्रा आदि का परिहार करते हैं अथवा यतनापूर्वक यवनिका आदि की ओट में सोते हैं। यदि वहाँ उन्हें किंचित काल तक रहना हो तो साधु और साध्वी दोनों ही अन्य वसति की मार्गणा करे। जब अन्य वसति मिल जाए तो साधु वहाँ रहे।

१८५२. मुच्छा^१ विसूइगा वा, सहसा डाहो 'जरादि मरण'^२ वा ।
जइ आगाढं अज्जाण होति गमणं गणधरस्स ॥ १७३३ ॥
१८५३. पडिणीय मेच्छ सावय, गय-महिसा तेण-साणमादीसु ।
आसण्णे उवसग्गे, कप्पति गमणं गणधरस्स^३ ॥ १७३४ ॥
१८५४. रायाऽमच्चे सेट्ठी^४, पुरोहिते^५ सत्थवाह^६ पुत्ते य ।
गामउडे रट्टउडे, जे य गणधरे महिड्डीए^७ ॥ १७३५ ॥
१८५५. अज्जाण तेयजणणं, दुज्जण सचक्कारता^८ य गोरवता ।
तम्हा समणुण्णातं, गणधरगमणं महिड्डीए ॥ १७३६ ॥
१८५६. संतविभवा जइ तवं, करेति विप्पजहिऊण इड्डीओ ।
सीयंतथिरीकरणं, तित्थ-विवड्डी य वण्णो य^९ ॥ १७३७ ॥
१८५७. वीसुंभूतो राया, लक्खणजुत्तो न 'विज्जति कुमारो'^{१०} ।
पडिणीएहि य कहिते, आधावंती दवदवस्स ॥ १७३८ ॥
१८५८. 'अति सिं'^{११} जणम्मि वण्णो, य^{१२} संतती^{१३} इड्ढिमंतपूया य ।
रायसुतदिक्खतेणं, तित्थविवड्डी य लद्धी य ॥ १७३९ ॥
१८५९. दट्टूण व रायड्ढिं, परीसहपराजितो तहिं कोइ ।
आपुच्छति आयरिए, सम्मत्ते अप्पमत्तो हु^{१४} ॥ १७४० ॥
१८६०. किं काहिंति ममेते, पडलग्गतणं^{१५} व मे जढा इड्डी ।
को 'वाऽणिट्टफलेहिं, चलेहि विभवेहि'^{१६} रज्जेज्जा ॥ १७४१ ॥
१८६१. ततिओ संजमअट्ठी, आयरिए पणमिऊण तिविधेणं ।
गेलणं नियडीए, अज्जाणमुवस्सयमतीति^{१७} ॥ १७४२ ॥

१. अहिणा (बृभा ३७५५) ।

२. व होज्ज सासो (बृभा) ।

३. तु. बृभा ३७५६ ।

४. अट्टारसण्ह पगतीणं जो महत्तरो सेट्ठी (चू) ।

५. सपुरजणवयस्स रण्णो जो होमजावादिएहिं असिवादि पसमेति सो पुरोहितो (चू) ।

६. जो वाणिओ रातीहिं अब्भणुण्णातो सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो (चू) ।

७. बृभा ३७५७ ।

८. सचमक्का^८ (बृभा ३७५८), यहां छंद की दृष्टि से

'चक्कारता' पाठ होना चाहिए ।

९. बृभा ३७५९ ।

१०. विज्जती कुमारो (बृभा ३७६०) ।

११. इति सं (दे, क) ।

१२. × (दे) ।

१३. संगती (मु), आयति (बृभा ३७६१) ।

१४. स (क), य (पा), बृभा ३७६२, इस गाथा के बाद बृभा (३७६२) में एक गाथा और है ।

१५. °लग्गत^८ (क) ।

१६. °लेसुं विभवेसु चलेसु (बृभा ३७६४) ।

१७. °यमुवेति (भ), बृभा ३७६५ ।

१८५२. यदि अकस्मात् कोई साध्वी मूर्च्छित हो जाए, किसी को विशूचिका, दाहज्वर, अग्निदाह आदि हो जाए, किसी की मृत्यु हो जाए, इस प्रकार का कोई आगाढ़ कारण उत्पन्न होने पर गणधर का आर्या-वसति में जाना अनुज्ञात है।

१८५३. यदि कोई प्रत्यनीक, म्लेच्छ, श्वापद, हाथी, महिष, स्तेन तथा श्वान आदि साध्वियों के उपाश्रय के निकट उपसर्ग कर रहे हों अथवा उनका उपसर्ग आसन्न (निकट भविष्य में होने वाला हो) तो गणधर का आर्यावसति में गमन अनुज्ञात है।

१८५४. राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सार्थवाह, सार्थवाह पुत्र, ग्रामकूट (गांव का प्रधान), राष्ट्रकूट और राजा आदि के प्रिय विद्यातिशय सम्पन्न व्यक्ति महर्द्धिक कहलाते हैं।

१८५५. महर्द्धिक मुनि के आर्यावसति में जाने से साध्वियों में गण के प्रति माहात्म्य की उत्पत्ति होती है, दुर्जन लोग चमत्कृत एवं प्रत्यनीकता करने में संकोचशील बनते हैं तथा साध्वियों का गौरव बढ़ता है अतः महर्द्धिक के साथ गणधर का आर्यावसति में गमन अनुज्ञात है।

१८५६. तेजस्वी ऋद्धिसम्पन्न मुनियों को देखकर साध्वियां सोचती हैं—ये प्राप्त वैभव और ऋद्धि को छोड़कर जब तप कर रहे हैं तो हमारे पास तो था ही क्या? हम अविद्यमान वैभव के लिए तरस रही है ऐसा सोचने पर उनमें पैदा होने वाला विषाद विलीन होता है, संयम में स्थिरीकरण होता है, तीर्थ-वृद्धि होती है एवं प्रवचन का वर्ण (यश) बढ़ता है।

१८५७. कोई राजा कालगत हो गया और उसके पीछे कोई लक्षणोपेत राजकुमार ऐसा नहीं है जिसे राज्य दिया जा सके। ऐसी स्थिति में कोई प्रत्यनीक अमात्य आदि को कह दे—इस राजा के पुत्र अमुक आचार्य के पास दीक्षित हैं, वे राजा बनने योग्य हैं—ऐसा सुनकर अमात्य आदि शीघ्र ही उस कुमार मुनि को उत्प्रव्रजित करने हेतु दौड़ पड़ते हैं।

१८५८. वे प्रत्यनीक सोचते हैं—लोगों में इनका यश फैल रहा है। भविष्य में भी इनकी परम्परा अव्यवच्छिन्न रहेगी। इस प्रकार के ऋद्धिसम्पन्न लोगों की दीक्षा होने से अन्य समृद्ध लोग भी इनकी पूजा करते हैं। इस राजपुत्र की दीक्षा से इनके तीर्थ की अच्छी वृद्धि हुई है। इनको प्रचुर वस्त्र, आहार आदि का लाभ होता है। यदि ये राजपुत्र आदि उत्प्रव्रजित हो जाएं तो इनके यश आदि की हानि होगी—ऐसा सोचकर वे अमात्य आदि को राजकुमार को उत्प्रव्रजित करने के लिए उकसाते हैं।

१८५९. उस राजसमृद्धि को आती देखकर कोई परीषह पराजित राजपुत्र आचार्य से पूछता है—भगवन्! मैं प्रव्रज्या पालने में असमर्थ हूँ। तब आचार्य कहते हैं—सम्यक्त्व में अप्रमत्त रहना।

१८६०. दूसरा राजपुत्र कहता है—ये अमात्य आदि मेरा क्या करेंगे? मैंने राज्य-ऋद्धि को कपड़े पर लगी हुई धूल के समान छोड़ दिया है। जो राज्यवैभव अनिष्ट फल उत्पन्न करने वाले और चंचल है, उनमें कौन अनुरक्त होगा?

१८६१. तीसरा राजपुत्र संयम पालने का इच्छुक है। वह तीनों योगों—मन, वचन और काया से आचार्य को नमस्कार कर कैतवपूर्ण ग्लान्य के साथ साध्वियों के उपाश्रय में प्रविष्ट होता है।

१८६२. अंतद्भाणा असती^१, जइ मंसू लोय अंबिलीबीए।
पीसित्ता देंति मुहे, अपगासें ठवेति य विरेगो^२ ॥१७४३॥
१८६३. संथार कुसंघाडी, अमणुण्णे पाणए य^३ परिसेओ।
घंसण-पीसण-ओसध, अद्धिति खरकम्मि मा बोलं^४ ॥१७४४॥
१८६४. दोण्णि वि सहू भवंती, सो व्वऽसहू ता^५ व होज्ज तू असहू।
दोण्हं पि हु असहूणं, तिगिच्छजतणा य कातव्वा ॥१७४५॥
१८६५. सोऊणं च गिलाणिं, पंथे गामे य^६ भिक्खचरियाए।
जइ तुरियं नागच्छति, लग्गति गुरुगे चतुम्मासे ॥१७४६॥
१८६६. लोलंती छग मुत्ते, सोउं घेतुं दवं^७ तु आगच्छे।
तूरंतो तं वसधिं, निवेदणं छादणऽज्जाए^८ ॥१७४७॥
१८६७. आसासो वीसासो, मा भाहि ती^९ थिरीकरण तीसे।
धुविउं चीरऽत्थुरणं, तीसेऽप्पण बाहि कप्पो य^{१०} ॥१७४८॥
१८६८. एतेहि कारणेहिं, पविसंते खलु^{११} निसीहिगा^{१२} तिण्णि।
ठिच्चाणं कातव्वा, 'अंतर दूरे'^{१३} पवेसे य ॥१७४९॥
१८६९. पडिहारिते पवेसो, तक्कज्जसमाणणा य जतणाए।
'गेलण्णादी तु पदे'^{१४}, परिहरमाणो जतो खिप्पं ॥१७५०॥
१८७०. पियधम्मो दढधम्मो, मियवादी^{१५} अप्पकोतुहल्लो य^{१६}।
अज्जं गिलाणियं खलु, पडिजग्गति^{१७} एरिसो साधू^{१८} ॥१७५१॥ नि ४३३ ॥

१. दसती (क)।

२. बृभा ३७६६।

३. व (दे)।

४. बृभा ३७६७।

५. सा (दे, बृभा ३७६८)।

६. व (भ), बृभा ३७६९।

७. दव्वं (भ, मु)।

८. बृभा ३७७०।

९. त्ति (दे), इति (बृभा ३७७१)।

१०. पि (क, पा)।

११. × (भ), ऊ (बृभा ३७७२)।

१२. °हियं करे (मु)।

१३. दूरे मज्जे (भ)।

१४. गेलण्णे चिट्ठणादी (बृभा ३७७३)।

१५. पियं बोल्लेति मियभासी (चू)।

१६. उ (मु)।

१७. परिजं (भ)।

१८. बृभा ३७७४।

१८६२. यदि अंतर्द्वान करने का कोई मंत्र या अंजन हो तो उस राजपुत्र को अंतर्हित कर दिया जाता है, अन्यथा उसे साध्वियों के उपाश्रय में ले जाकर श्मश्रु का लोच कर दिया जाता है तथा उसके मुंह पर इमली के बीज पीस कर उसका लेप कर दिया जाता है। साध्वियों के उपाश्रय में उसे अल्पप्रकाश वाले स्थान में रखा जाता है तथा विरेचन दे दिया जाता है।

१८६३. उसे पुराने, मैले फटे हुए कपड़े पहनाकर संस्तारक पर बिठा अथवा लिटा दिया जाता है। अमनोज्ञ गन्ध वाले पानी का परिसिंचन कर दिया जाता है। अन्य साध्वियां कोई औषध पीसती है, कोई औषध घिसती है तथा कुछ साध्वियां चिन्ताकुल मुद्रा में अधीरता से बैठी रहती है। कोई राजपुरुष^१ यदि उस राजपुत्र की खोज में आते हैं तो उन्हें कहा जाता है—यहाँ शोर न करें, प्रवर्तिनी बीमार है, उन्हें आवाज सहन नहीं होती।

१८६४. ग्लान साध्वी की चिकित्सा के विषय में साधु साध्वी के चार भंग बन जाते हैं—१. साधु और साध्वी दोनों समर्थ हों। २. साधु असमर्थ और साध्वी समर्थ हो। ३. साधु समर्थ और साध्वी असमर्थ हो। ४. दोनों असमर्थ हों। चारों ही भंगों में चिकित्सा यतना पूर्वक करनी चाहिए।

१८६५. जो भिक्षु मार्ग में, गांव में अथवा भिक्षाचर्या हेतु गया हुआ है और यहाँ साध्वी बीमार है—ऐसा सुनकर भी यदि शीघ्र उसके पास नहीं जाता है तो उसे चार मास का गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१८६६. यहाँ एक साध्वी बीमार है और अपने ही मूत्र, पुरीष आदि से लिपटी हुई है। गृहस्थों से ऐसा सुनकर मुनि वहीं से जल आदि लेकर शीघ्रता से वहाँ आता है तथा उपाश्रय से बाहर खड़ा होकर साध्वी को निवेदन करवाता है। बाहर मुनि सेवा के लिए खड़ा है—यह जानकर शय्यातर की पुत्री आदि कोई स्त्री जब तक साध्वी के शरीर को ठीक प्रकार से ढक देती है, तब वह साधु साध्वी के उपाश्रय में प्रविष्ट होता है।

१८६७. मुनि साध्वी से कहता है—आप आश्वस्त रहें। विश्वस्त रहें—मेरी मां, बहिन या पुत्री (अवस्था के अनुरूप) हैं, डरें नहीं, मैं आपकी सारी सेवा करूंगा—इस प्रकार उसे स्थिर करके वह उसके शरीर को धोता है, उसको औपग्रहिक वस्त्रों को पहनाता एवं वहाँ बिछाता है। उसके पास अन्य वस्त्र न हो तो स्वयं के नेश्राय के वस्त्र उसे देता है। उसके मूत्र, मल आदि से खरपिटत वस्त्रों को उपाश्रय से बाहर साफ करता है, सुखाता है।

१८६८. इन ग्लानत्व आदि कारणों से संयती उपाश्रय में प्रविष्ट होने वाला मुनि रुक-रुक कर तीन निषद्या करता है—पहली अग्रद्वार पर, उसके कुछ काल बाद दूसरी मध्य में तथा तीसरी प्रवेश (मूलद्वार) में।

१८६९. शय्यातरी जब साध्वी को निवेदन कर देती है, तब वह साध्वियों के उपाश्रय में प्रविष्ट होता है और यतनापूर्वक समस्त ग्लानकार्य को सम्पन्न करता है। इस प्रकार ग्लान आदि कार्यो से प्रविष्ट भिक्षु साध्वी के उपाश्रय में बैठना आदि कार्य आत्म, पर तथा उभय समुत्थ दोषों का परिहार करता हुआ करता है क्योंकि आत्मसमुत्थ आदि दोषों का परिहार न करने पर शीघ्र ही संयम-विराधना होती है।

१८७०. ऐसा साधु ग्लान आर्या की परिचर्या करता है जो—१. प्रियधर्मा २. दृढधर्मा ३. मितवादी (अल्पभाषी) और ४. कुतूहलरहित^२ होता है।

१. निभा २ चू. पृ. २६९—खरकम्मियत्ति रायपुरिसा।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, गा. १८७२।

१८७१. सो परिणामविहिण्णू इंदियदारेहि संवरितदारो ।
जं किंचि दुब्धिगंधं, सयमेव विगिंचणं कुणति^१ ॥ १७५२ ॥ नि ४३४ ॥
१८७२. गुज्झंग-वयण-कक्खोरुअंतरे तह थणंतरे दट्टुं ।
साहरति^२ ततो दिट्ठिं, न य बंधति दिट्ठिए दिट्ठिं^३ ॥ १७५३ ॥
१८७३. उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए विगिंचणता ।
उव्वत्तण^४ परियत्तण^५, णंतग निल्लेवण सरिरे^६ ॥ १७५४ ॥
१८७४. दव्वं तु जाणितव्वं, समाधिकारं तु जस्स जं होति ।
णातम्मि य दव्वम्मी^७, गवेसणा तस्स कातव्वा^८ ॥ १७५५ ॥
१८७५. किरियातीतं णाउं, जं इच्छति एसणादि जतणाए^९ ।
सद्धावणं^{१०} परिण्णा, पडियरण कहा नमोक्कारो ॥ १७५६ ॥
१८७६. सयमेव दिट्ठपाढी^{११}, करंति 'पुच्छंतऽजाणतो'^{१२} विज्जं ।
दीवण दव्वादिम्मि य, उवदेसे ठाति जा लंभो ॥ १७५७ ॥
१८७७. अब्भासे व वसेज्जा, संबद्धउवस्सगस्स वा दारे ।
आगाढे गेलण्णे, उवस्सए चिलिमिलि-विभत्ते^{१३} ॥ १७५८ ॥
१८७८. उव्वत्तण परियत्तण, उभयविगिंचट्ट पाणगट्टा वा ।
तक्करभयभीरू 'य व'^{१४}, णमोक्कारट्टु^{१५} वसे तत्थ ॥ १७५९ ॥
१८७९. धित्तिबलजुत्तो वि मुणी, सेज्जातर 'सण्णि सेज्जगादिजुतो'^{१६} ।
वसति परपच्चयट्टा, सिलाहणट्टा^{१७} य अवराणं ॥ १७६० ॥
१८८०. सो निज्जराएँ वट्टति, कुणति व^{१८} वयणं^{१९} अणंतनाणीणं ।
स बितिज्जओ कहेती, परियट्टेगागि वसमाणो ॥ १७६१ ॥

१. बृभा ३७७५ ।

२. संहं (मु) ।

३. बृभा ३७७६ ।

४. °त्तणं (दे), उत्ताणयस्स पासल्लियकरणं उव्वत्तणं (चू) ।

५. इयरदिसीकरणं परियत्तणं (चू) ।

६. बृभा ३७७७ ।

७. °म्मिं (दे, पा) ।

८. बृभा ३७७९, बृभा में १८७४ और १९७५ वीं गाथा में क्रमव्यत्यय है ।

९. जं तत्थ (बृभा ३७७८) ।

१०. °वणा (भ, बृभा) ।

११. वेज्जगस्स दिट्ठो पाढो जेण सो दिट्ठपाढी, अधीतवेज्जक इति (चू) ।

१२. °त अजा° (भ), पुच्छति अजा° (बृभा ३७८०) ।

१३. बृभा ३७८१ ।

१४. अध (बृभा ३७८२) ।

१५. °रट्टा (मु, पा) ।

१६. सेज्ज सण्णिगादि° (दे), सण्णि सिज्जगा° (बृभा ३७८३) ।

१७. सिलाग° (क) ।

१८. य (मु, भ) ।

१९. आणं (बृभा ३७८४) ।

१८७१. वह वैयावृत्य करने वाला मुनि पुद्गल परिणमन एवं विधियों का ज्ञाता होता है तथा इन्द्रिय द्वारों की दृष्टि से संवृत द्वार होता है—इन्द्रिय विषयों में रागद्वेष से रहित होता है तथा साध्वी के मलमूत्र आदि जो कुछ दुर्गन्धयुक्त पदार्थ होता है, उसका वह स्वयं ही परिष्ठापन कर देता है।

१८७२. वह साध्वी के गुप्त अंगों, मुंह, कांख, कक्षान्तर, उरुमध्य प्रदेश तथा स्तनान्तर आदि पर दृष्टि जाते ही अपनी दृष्टि को हटा लेता है, साध्वी की दृष्टि से दृष्टि नहीं मिलाता।

१८७३. वह स्वयं ही उस साध्वी के उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म तथा नाक के मैल का परिष्ठापन करता है, उसे उठाता और करवट बदलवाता है, तथा उसके मल आदि से लिप्त वस्त्रों तथा शरीर को निर्लेप करता है—साफ करता है।

१८७४. उसे ग्लान साध्वी के लिए जो पथ्यकारक एवं समाधि पैदा करने वाले द्रव्य हैं, उन द्रव्यों को जानना चाहिए और उन द्रव्यों को जानने पर उनकी गवेषणा करनी चाहिए।

१८७५. यदि वह उस साध्वी की बीमारी को क्रियातीत—चिकित्सा से ठीक न होने योग्य जाने तो उस साध्वी से पूछा जाए और जो उसकी इच्छित वस्तु हो उसे शुद्ध गवेषणा पूर्वक लाए। यदि उसकी इच्छित वस्तु एषणा शुद्ध न मिले तो पंचक परिहानि से यतनापूर्वक लाकर दे। अनशन के प्रति उसकी श्रद्धा पैदा करे, अनशन स्वीकार करने के बाद भलीभांति उसकी सेवा करे, धर्मकथा करे तथा अन्तिम समय में नमस्कार मंत्र की शरण प्रदान करे।

१८७६. यदि वैयावृत्य करने वाला मुनि दृष्टपाठी—वैद्यशास्त्र का ज्ञाता हो तो स्वयं चिकित्सा करे। यदि चिकित्सा शास्त्र को न जानता हो तो वैद्य से पूछे। वैद्य को पहले ही यह बता दे कि मैं कारण-विशेष में अकेला आया हूँ, आप इसे अपशकुन न मानें। जब वैद्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का निर्देश दे दे, तब पुनः पूछे कि यदि अमुक द्रव्य न मिले तो क्या करे। इस प्रकार तब तक पूछता रहे, जब तक उस द्रव्य की प्राप्ति के विषय में निश्चितता न हो। जिस द्रव्य की प्राप्ति निश्चित हो, उसका कथन कर देने पर पृच्छा न करे।

१८७७. रात्रि में मुनि संयती उपाश्रय से असंबद्ध निकटवर्ती घर में रहे। ऐसा घर न मिले तो संबद्ध निकटवर्ती घर में रहे। उसके अभाव में उपाश्रय के द्वार पर रहे। यदि आगाढ़ ग्लान्य का प्रसंग हो तो चिलिमिली से विभक्त कर (पर्दा लगाकर) उसी उपाश्रय में रहे।

१८७८. यदि रात्रि में साध्वी को उठाना या करवट बदलाना हो, उसकी कायिकी (मूत्र) अथवा संज्ञा (मल) का परिष्ठापन करना हो या उच्चारदि के परित्याग हेतु उठने में असमर्थ हो अतः उठाना हो, तृष्णा आदि से आर्त होने पर पानी देना हो, तो मुनि उपाश्रय के अन्दर रहे। यदि चोर का भय हो और साध्वी भीरु हो अथवा मरणवेला की प्रत्यासत्ति (निकटता) के कारण उसे नमस्कार मंत्र की शरण देनी हो तो मुनि साध्वी के उपाश्रय में रहे।

१८७९. यद्यपि मुनि सहिष्णु है, धृतिबल से युक्त है, फिर भी वह साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातर, श्रावक अथवा सहवासी (पड़ोसी) के साथ रहे। दूसरों को प्रतीति पैदा हो तथा अन्य साधुओं की प्रशंसा (श्लाघा) हो, अतः वह उन्हें बता दे कि मुझे यहाँ अकेला नहीं रहना अतः आप यहाँ मेरे साथ रहें।

१८८०. उपर्युक्त विधि से साध्वी की वैयावृत्य करने वाला मुनि विपुल निर्जरा करता है तथा अनन्तज्ञानी (तीर्थकरों) की आज्ञा का पालन करता है। वहाँ रात्रि में अपने साथ रहने वाले व्यक्ति को धर्मकथा कहे। यदि कदाचित् अकेला रहे तो सारी रात परिवर्तना (स्वाध्याय का तीसरा भेद—चितारना) करे।

१८८१. पडिजग्गिता य खिप्पं, दोण्ह सहूणं^१ तिगिच्छ जतणाए ।
तत्थेव गणधरो अण्णहिं व जतणाएँ तो णेति^२ ॥१७६२ ॥
१८८२. निक्कारणिगिं चमढण, कारणिगिं णेति अहव अप्पाहे^३ ।
गमणित्थि मीस संबंधि, वज्जिते असति एगागी^४ ॥ १७६३ ॥
१८८३. इत्थीहि णालबद्धाहि, नेति उस्सग्गओ तगं सो उ ।
मासि त्ति इत्थिपुरिसेहि, नालबद्धेहि तदभावे^५ ॥ १७६४ ॥
१८८४. तह इत्थि णालबद्धाहि पुरिसणालेहि नवएँ भद्देहिं ।
तह पुरिस णालइत्थी, अणालबद्धाहि तदभावे ॥ १७६५ ॥
१८८५. संबंधवज्जित ती, इत्थीहि अणालबद्धमीसीहि ।
तदभावे पुरिसेहिं, भद्देहिं अणालबद्धेहिं ॥ १७६६ ॥
१८८६. तो पच्छा संथुतेहि, असती एतेसि तो सयं णेति ।
दूराहि पिट्ठओ^६ ऊ, जतणाए निज्जरट्ठिओ ॥१७६७ ॥
१८८७. न वि य समत्थो सव्वो, हवेज्ज एतारिसम्मि कज्जम्मि ।
कायव्व पुरिसकारो, समाधिसंधाणणट्ठाए^७ ॥ १७६८ ॥
१८८८. सोऊण व^८ पासित्ता, संलावेणं तहेव फासेणं ।
एतेहि असहमाणे, तिगिच्छ जतणाय कातव्वा ॥ १७६९ ॥
१८८९. अविकोविता तु पुट्ठा, भणाति किं मं न पाससी^९ नियगे^{१०} ।
'लोलंती छग मुत्ते?'^{११}, तो पुच्छसि किं सहू-असहू ॥ १७७० ॥
१८९०. जाणामि णाम^{१२} एतं, देहावत्थं तु भगिणि! जा तुब्भं^{१३} ।
पुच्छामि धितिबलं ते, मा बंभविराधणा होज्जा ॥ १७७१ ॥

१ सहाणं (भ, दे, पा) ।

२. बृभा ३७८५ ।

३. अप्पाधे (दे) ।

४. बृभा ३७८६ ।

५. गाथा १८८३-८५—ये तीन गाथाएं बृभा में नहीं हैं ।

६. संठिओ (दे) ।

७. बृभा ३७८७ ।

८. य (बृभा ३७८८) ।

९. पाससे (दे, पा) ।

१०. नियते (क) ।

११. छग-मुत्ते लोलंतिं (बृभा ३७८९) ।

१२. णामसद्धो पादपूरणे अवधारणे वा (चू), नाम इति कोमलामन्त्रणे (बृभाटी) ।

१३. तुज्झं (बृभा ३७९०) ।

१८८१. इस प्रकार सेवा शुश्रूषा से यदि वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाए और वहीं उसके गणधर (आचार्य) हों तो वह वहां चली जाती है। यदि गणधर अन्यत्र कहीं हो तो मुनि उसे सार्थ के साथ भेज देता है अथवा यतना पूर्वक स्वयं ले जाता है। यह चिकित्सा-यतना प्रथम भंग के विषय में प्रज्ञप्त है, जहाँ साधु और साध्वी दोनों सहिष्णु—धृतिबल से युक्त और इन्द्रिय निग्रह में समर्थ हों।

१८८२. यदि वह ग्लान साध्वी गण से निष्कारण एकाकी हुई है तो मुनि उसकी निर्भर्त्सना करे। यदि वह सकारण गण से निष्क्रान्त है तो स्वयं उसे उसके आचार्य के पास पहुँचाए अथवा आचार्य के पास सन्देश भेज दे—आपकी साध्वी यहाँ है, उसे ले जाने हेतु संघाटक भेज दें।

यदि वह स्वयं उसे पहुँचाए तो गमनविषयक यतना के स्त्री, स्त्रीमिश्र, सम्बन्धी और संबंधि-वर्जित (असंबन्धी) के विकल्प से आठ भंग बन जाते हैं।^१

१८८३-१८८६. १. उत्सर्गतः मुनि उस साध्वी को लेकर जाए तो उसके नालबद्ध स्त्रियों (निकटतम सम्बन्धी स्त्रियों) के सार्थ के साथ ले जाए। २. यदि केवल नालबद्ध स्त्रियों का सार्थ उपलब्ध न हो तो नालबद्ध स्त्री पुरुषों के सार्थ के साथ ले जाए। ३. यदि उपर्युक्त सार्थ भी न मिले तो ऐसे सार्थ के साथ ले जाए, जिसमें नालबद्ध स्त्रियाँ और नवीन या भद्र अनालबद्ध पुरुष हों। ४. उपर्युक्त सार्थ न मिले तो ऐसे सार्थ के साथ ले जाए, जिसमें स्त्रियाँ नालबद्ध न हों, भद्र हों पर पुरुष नालबद्ध हों। ५. उपर्युक्त सार्थ न मिले तो उस सार्थ के साथ ले जाए, जिसके स्त्री पुरुष साध्वी के संबंधी नहीं हों, तब भी भद्र प्रकृति वाले हों। ६. उपर्युक्त सार्थ न मिले तो उस सार्थ के साथ ले जाए जिसके पुरुष साध्वी के साथ नालबद्ध संबंध वाले हों। ७. उपर्युक्त सार्थ के अभाव में ऐसे सार्थ की गवेषणा करे, जिसके पुरुष नालबद्ध न हों, तब भी भद्र हों। या वे पुरुष साध्वी के साथ पश्चात् संस्तुत—श्वसुरकुल आदि से संबंधी हों। ८. उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के सार्थ भी न मिलें तो मुनि अकेला ही उस साध्वी को लेकर उसके आचार्य के पास जाए—वह निर्जरार्थी मुनि आगे-आगे यतनापूर्वक चले और साध्वी उसके पीछे-पीछे (सापेक्ष दूरी पर) चले।

१८८७. सब साधु इस प्रकार के चिकित्सा और सेवा के कार्य में समर्थ नहीं होते, फिर भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप समाधि के संधान हेतु पुरुषार्थ करना चाहिए।

१८८८. जो मुनि स्त्री के शब्दों (भाषा, हास्य, कूजित आदि शब्दों) को सुनकर, स्त्रीरूप (नेपथ्य, गुह्य अवयवों) को देखकर स्त्री से संलाप कर अथवा स्त्रीस्पर्श के प्रति असहिष्णु—इन्द्रियनिग्रह में असमर्थ हो, उसे चिकित्सा यतनापूर्वक करनी चाहिए।

१८८९. यदि वह ग्लान साध्वी अविकोविद—अगीतार्थ है तो मुनि के यह पूछने पर कि—तुम सहिष्णु (समर्थ) हो या असहिष्णु? कहती है—क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मैं अपने ही मलमूत्र में लिस हो रही हूँ जो मुझे यह पूछते हैं कि मैं सहिष्णु हूँ या असहिष्णु?

१८९०. मुनि—बहिन! तुम्हारे शरीर की यह अवस्था है, इसे तो मैं जानता हूँ। मैं तुम्हारे धृतिबल के विषय में पूछ रहा हूँ ताकि हमारे ब्रह्मव्रत की विराधना न हो।

१. विभिन्न विकल्पों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १८८३-८६।

१८९१. इहरहं^१ वि ताव सद्दे, रूवाणि य बहुविधाणि पुरिसाणं।
सोऊण व दट्टूण व, न मणक्खोभो महं कोई^२ ॥ १७७२ ॥
१८९२. संलवमाणी वि अहं, न यामि विगतिं न संफुसित्ताणं।
हट्टा वि 'किमु य'^३ एण्हं, तं पुण नियगिं धितिं जाण ॥ १७७३ ॥
१८९३. सो मग्गति साधम्मिं, सण्णि महाभद्दिगं^३ च सूइं च^४।
देति य से वेतणगं, भत्तं पाणं च पायोगं ॥ १७७४ ॥
१८९४. एतासिं असतीए, न कहेति जहा अहं खु मी^५ असहू।
सद्दादी जतणं पुण, करेमि एसा खलु जिणाणा ॥ १७७५ ॥
१८९५. सद्दम्मि हत्थवत्थादिगेहि दिट्ठीएँ चिलिमिलंतरितो^६।
संलावम्मि परम्मुह, गोवालगकंचुगो फासे ॥ १७७६ ॥
१८९६. एसेव गमो नियमा, निग्गंथीए वि होति असहूए।
दोणहं पि तु असहाणं^७, तिगिच्छ जतणाएँ कातव्वा ॥ १७७७ ॥
१८९७. आतंकविप्पमुक्का, हट्टा बलिया य निव्वुया संती।
अज्जा^८ भणेज्ज कायी, जेट्टुज्जा! वीसमामो तां ॥ १७७८ ॥
१८९८. दिट्ठं च परामट्ठं, च रहस्सं गुज्झमेक्कमेक्कस्स^९।
तं विसमामो^{१०} अम्हे, पच्छा वि तवं करेहामो^{११} ॥ १७७९ ॥
१८९९. इय विभणितो उ भगवं, पियधम्मोऽवज्जभीरु संविग्गो^{१२}।
अपरिमितसत्तजुत्तो, निक्कंपो मंदरो चेव ॥ १७८० ॥
१९००. उद्धंसिया य तेणं, सुट्टु वि^{१३} जाणाविता य अप्पाणं।
चरसु तवं निस्संका^{१४}, तु आसियं^{१५} सो तु चेतैति^{१६} ॥ १७८१ ॥

१. इहरा (बृभा ३७९१)।

२. किंतु (बृभा ३७९२)।

३. °भद्दां (दे), अहा° (मु, बृभा ३७९३)।

४. वा (क, बृभा)।

५. मी आत्मावधारणे (चू), मिं (बृभा ३७९४)।

६. °मिलितं° (भ), °मिणंत° (बृभा ३७९५)।

७. असहूणं (बृभा ३७९६)।

८. × (दे)।

९. बृभा ३७९७।

१०. गुज्झ एक्क° (भ)।

११. विस्स° (भ)।

१२. चरिस्सामो (बृभा ३७९८)।

१३. बृभा (३७९९) में गाथा का पूर्वाद्धं इस प्रकार है—
तं सोच्चा सो भगवं, संविग्गोऽवज्जभीरु दढधम्मो।

१४. य (भ)।

१५. णीसंका (दे)।

१६. आसिउं (दे), आसिअं ति णिग्गच्छति (चू), सासियं
(बृभा ३८००)।

१७. चिंतति (क)।

१८९१. साध्वी—जब मैं स्वस्थ थी, उस समय भी पुरुषों के विविध प्रकार के शब्दों को सुनकर और उनके विविध रूप, नेपथ्य को देखकर मेरे मन में किसी प्रकार का क्षोभ पैदा नहीं हुआ।

१८९२. जब नीरोग अवस्था में भी पुरुषों से वार्तालाप करने पर और उनके स्पर्श करने पर भी किसी विकार को प्राप्त नहीं हुई तो अब इस ग्लान अवस्था में विकृति की बात ही क्या? इसलिए आप अपनी धृति के विषय में जानें (विचार करें)।

१८९३. साध्वी के सामर्थ्य को जानकर वह असहिष्णु मुनि किसी साधर्मिक साध्वी की खोज करता है। वह न मिले तो किसी श्राविका, यथाभद्रिका स्त्री अथवा सूतिका (प्रसूति कर्म कराने वाली) स्त्री की खोज करता है। यदि वह सूतिका ऐसे ही सेवा करने के लिए तैयार न हो तो वेतन और भक्तपान देता है तथा ग्लान साध्वी को भी प्रायोग्य भक्तपान लाकर देता है।

१८९४. साधर्मिक साध्वी, श्राविका आदि कोई भी सेवा करने वाली स्त्री उपलब्ध न हो तो यह न कहें कि मैं ही असहिष्णु हूँ। मैं शब्दादि के विषय में यतना करूंगा, ऐसी जिनाज्ञा है—ऐसा कहे।

१८९५. जो मुनि शब्द के विषय में असहिष्णु (शब्दक्लीब) है, वह उस ग्लान साध्वी को कहता है—मुझे शब्दों से कुछ भी आज्ञा नहीं देना, हाथ, वस्त्र या अंगुली के संकेत से बता देना। जो दृष्टिक्लीब होता है, वह वैयावृत्य के सारे कार्य चिलिमिली से अंतरित होकर करता है। जो संलापक्लीब होता है, वह पराङ्मुख होकर संलाप करता है। जो स्पर्शक्लीब होता है वह उद्वर्तन आदि कार्य करते समय गोपालक कञ्चुक पहन लेता है।

१८९६. यही (द्वितीय भंग में प्रज्ञप्त) यतना असहिष्णु निर्ग्रन्थी (तृतीय भंग) के प्रसंग में करणीय है।^१ जहाँ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी दोनों असहिष्णु हों, वहाँ चिकित्सा में दोनों भंगों में प्रज्ञप्त यतना करणीय है।

१८९७. जब वह संयती आतंकमुक्त—निरोग, हृष्ट, बलवान एवं निर्वृत्त (स्वस्थ) इन्द्रियों वाली हो जाती है तब वह (असहिष्णु) साध्वी कदाचित् कहे—ज्येष्ठार्य! संयमभार का परित्याग कर कुछ काल विश्राम करें।

१८९८. हमने सेवा लेने और करने के प्रसंग में परस्पर रहस्य (एकान्तयोग्य) एवं गुह्य अंगों को अनेकशः देखा एवं स्पर्श किया है अतः कुछ काल विश्राम करें, फिर पुनः तपश्चरण करेंगे।

१८९९. इस प्रकार कहने पर भी वह प्रियधर्मा, पापभीरू, संविग्न और अपरिमित बलसम्पन्न भगवान् भिक्षु मेरु के समान निष्प्रकंप रहता है।

१९००. वह उस साध्वी की भलीभांति खरंटना (निर्भर्त्सना) करता है और अपनी निरभिलाषा को भी अच्छी प्रकार जता देता है। निःशंक होकर तपश्चरण करो—इस प्रकार उसे उपदेश देकर वह आवश्यक कार्य हेतु वहाँ से निर्गमन कर देता है।

१. द्वितीय भंग में जो यतना साधु के लिए करणीय है, तृतीय भंग में वे ही शब्दादि यतनाएँ साध्वी द्वारा करवाई जाती हैं।

१९०१. एसेव गमो नियमा, पणवण परूवणासु अज्जाणं ।
पडिजगती गिलाणं, साधुं 'अज्जा तु जतणाए'^१ ॥१७८२॥
१९०२. सा मग्गति साधम्मिं^२, सण्णि-अहाभद्द^३ संवरादी वा ।
देति य से वेतणयं, भत्तं पाणं च पाउगं^४ ॥१७८३॥
१९०३. बितियपदमणप्पज्जे, पविसे अविकोविते व अप्पज्जे ।
तेणऽगणि आउ-संभम, बोहिगमादीसु^५ जाणमवि^६ ॥१७८४॥
१९०४. निसिदंतो^७ व ठवेज्जा, पडिलेहंतो व भत्तपाणं तु ।
संधार-लोय-कितिकम्म, कइतवा वा अणाभोगा ॥१७८५॥ नि ४३५ ॥
१९०५. निग्गंथी गमणपहे, जे भिक्खू निक्खिखवे कइतवेणं ।
अण्णतरं उवकरणं, गुरुगा लहुगो इतरि आणा ॥१७८६॥ नि ४३६ ॥
१९०६. पडिपुच्छ दाणगहणे, संलावऽणुराग-हास-खेडुं य ।
भिन्नकहादि^८ विराधण, दट्टूण व भावसंबंधो ॥१७८७॥ नि ४३७ ॥
१९०७. कस्सेतं ति य पुच्छा, ममं ति कारुण किं चुतं? बितिया ।
चित्तं न मे सधीणं, पक्खित्ते दट्टु एज्जंतिं^९ ॥१७८८॥
१९०८. किं च मए अट्टो भे? आमं नणु दाणिहं तुह सहीणा^{१०} ।
संपत्ति होउ कत्ता, चउत्थ पुच्छा तु एक्कतरो ॥१७८९॥
१९०९. भणितो य हंदि^{११} गेण्हसु^{१२}, हत्थं दाऊण साहरति भुज्जो ।
तुह चेव होतु घेतुं, व मुंचती^{१३} जा पुणो देति ॥१७९०॥

१. जतणाएँ अज्जा वि (बृभा ३८०३) ।

२. साधम्मिं (भ, मु) ।

३. जहा° (क), महा° (भ) ।

४. बृभा ३८०४ ।

५. बोहिकतेणेसु (बृभा ३८०१) ।

६. जाणतणा (भ) ।

७. सूत्र २४ (नव ४/२३) ।

८. °कहाहि (दे) ।

९. एंती व (दे) ।

१०. नायव्वं (दे) ।

११. हंद (भ) ।

१२. गेण्हह (भ, मु) ।

१३. मुंचते (मु, भ) ।

१९०१. साध्वियों के विषय में भी प्रज्ञापन, प्ररूपण^१ का नियमतः यही प्रकार है। आर्या भी ग्लान साधु की इसी प्रकार यतनापूर्वक परिचर्या करती है।

१९०२. यदि साध्वी असहिष्णु हो तो वह ग्लान मुनि की परिचर्या के लिए किसी साधर्मिक मुनि की खोज करती है। वह न मिले तो किसी श्रावक, यथाभद्रक पुरुष अथवा शोधक—शरीर का परिकर्म करने वाले व्यक्ति की खोज करती है। यदि वह शोधक ऐसे ही सेवा हेतु तैयार नहीं होता तो उसे वेतन और भक्तपान देती है तथा ग्लान मुनि को भी प्रायोग्य भक्तपान लाकर देती है।

१९०३. द्वितीय पद—अपवाद की स्थिति में यदि कोई अनात्मवश हो या आत्मवश होने पर भी अगीतार्थ—शैक्ष हो तो साध्वी के उपाश्रय में अविधि से (तीन बार नैषेधिकी का उच्चारण किए बिना) प्रविष्ट हो सकता है। स्तेन, अग्नि, अप्काय आदि के संभ्रम अथवा म्लेच्छ आदि के भय की स्थिति में गीतार्थ मुनि भी अविधि से साध्वियों के उपाश्रय में प्रविष्ट हो सकता है।

१९०४. कोई निर्ग्रन्थ कैतव (माया) पूर्वक अथवा अनाभोग (विस्मृति) के कारण साध्वियों के आगमन के मार्ग में बैठते समय, भक्तपान आदि को प्रतिलेखना करते हुए, संस्तारक खोलते या बांधते समय, लोच या कृतिकर्म करते समय रजोहरण, दंड, लाठी आदि छोड़ देता है।

१९०५. जो भिक्षु कैतवपूर्वक (मैथुनार्थी होकर) साध्वियों के आगमन पथ में कोई उपकरण रखता है उसे चतुर्गुरु तथा अन्य कारण से—विस्मृति के कारण उपकरण छोड़ने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोष लगते हैं।

१९०६. साधु साध्वियों के परस्पर दर्शन से भाव-संबंध होता है फिर १. प्रतिपृच्छा, २. दान-ग्रहण ३. संलाप ४. अनुराग तथा ५. हास्यक्रीड़ा से परस्पर रहस्यालाप होता है तथा चारित्र की विराधना हो जाती है।

१९०७. प्रतिपृच्छा—अपने मार्ग में पड़े रजोहरण आदि को देख कर साध्वी पूछती है—यह रजोहरण किसका है ?

साधु—मेरा है

साध्वी—कैसे छूट गया ? (यह द्वितीय पृच्छा—प्रतिपृच्छा है)

साधु—मेरा चित्त वश में नहीं रहा।

साध्वी—क्यों ?

साधु—तुम्हें पीछे आते देखकर।

१९०८. साध्वी—आपको मुझ से क्या प्रयोजन ?

साधु—हाँ, अब तुम मेरे आयत्त—अधीन हो।

कब संप्राप्ति होगी ?—यह चतुर्थ पृच्छा है। यह साधु अथवा साध्वी में से कोई एक करता है।

१९०९. दानग्रहण—साध्वी के द्वारा 'यह ले लो' कहने पर साधु हाथ पसार कर यह कहते हुए पुनः खींच लेता है—तुम्हारा ही होवे। अथवा लेकर पुनः छोड़ देता है ताकि पुनः साध्वी उसे दे तो उसके हाथ का स्पर्श हो जाए।

१. निभा २ चू. पृ. २७६ - चउभंगेण पण्णवणा, एकैकभंगस्वरूपेण अक्खणं परूवणा।

१९१०. धारेतव्वं जातं, जं ते पउमदलकोमलतलेहिं ।
हत्थेहिं परिगहितं, इति हासऽणुरागसंबंधो ॥ १७९१ ॥
१९११. संलावादणुरागो, अणुरत्ता बेति भे^१ मए दिण्णं ।
इतरो चिय पडिभणती, तुज्झ^२ व जीएण जीवामो^३ ॥ १७९२ ॥
१९१२. एवं परोप्परस्सा, भावऽणुबंधेण होंतिमे दोसा ।
पडिसेवण-गमणादी, गेण्हण दिट्ठेसु संकादी ॥ १७९३ ॥
१९१३. बंभव्वते विराधण, पुच्छादीएहि होति^४ जम्हा तु ।
निग्गंथी^५-गमणपहे, तम्हा उ न निक्खिवे उवधी^६ ॥ १७९४ ॥
१९१४. बितियपदमणाभोगे, पडिते पम्हुट्ठ^७ संभमेगतरे ।
आसण्णे दूरे वा, निवेद जतणाय अप्पिण्णं ॥ १७९५ ॥
१९१५. आसण्णे साहेंती, दूरे पडितं तु थेरिगा गेति ।
सण्णिक्खिवंति पुरतो, गुरूण भूमिं पमज्जित्ता ॥ १७९६ ॥
१९१६. णामं^८ ठवणा दविए, भावम्मिं^९ चउव्विधं तु अधिगरणं ।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ १७९७ ॥ नि ४३८ ॥
१९१७. निव्वत्तणं^{१०} निक्खिवणं^{११}, संजोगण निसिरणे^{१२} य बोधव्वे ।
अट्ट चतुव्विधं^{१३} दुविधं, तिविधं च कमेण णातव्वं^{१४} ॥ १७९८ ॥ नि ४३९ ॥

१. भो (भ) ।

२. कस्स (दे, भ) ।

३. जीयामो (क) ।

४. होंति (दे) ।

५. °थीण (भ) ।

६. उवधिं (भ, मु) ।

७. पम्हुट्ठं णाम विस्सरियं (चू) ।

८. सूत्र २५ (नव ४/२४), इस गाथा के लिए चूर्णि में
'इमा सुत्तफासियणिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।

९. भावे य (बृभा) गाथा का उत्तरार्ध बृभा (२६८०) में

इस प्रकार है—

दव्वम्मि जंतमादी, भावे उदओ कसायाणं ।

१०. निव्वत्तण (भ) ।

११. °वणे (भ) ।

१२. निसिरिणे (दे) ।

१३. चतुव्विधं (मु) ।

१४. णेयं (भ), बृभा (२६८१) में यह गाथा कुछ अंतर
के साथ मिलती है—

दव्वम्मि उ अहिगरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।

निव्वत्तण निक्खिवणे, संजोगण निसिरिणे य तहा ॥

१९१०. साधु-अब यह रजोहरण धारण करने योग्य हो गया क्योंकि तुम्हारे पद्मपत्र के समान कोमल तल वाले हाथों से परिगृहीत हो चुका है। इस प्रकार हास्य से उनमें अनुरागात्मक सम्बन्ध हो जाता है।

१९११. इस प्रकार रागात्मक वार्तालाप से अनुराग हो जाता है। अनुरक्त होकर साध्वी कहती है—मैंने आपका रजोहरण दे दिया है। साधु प्रत्युत्तर देता है—यह जीवन भी तुम्हारा है। हम तुम्हारे से ही जी रहे हैं।

१९१२. इस प्रकार परस्पर के भावानुबन्ध से ये दोष होते हैं। वे मोहोदय के कारण प्रतिसेवना कर सकते हैं, उन्निष्क्रान्त हो जाते हैं अथवा एक दूसरे को बलात ग्रहण कर लेते हैं अथवा उन्हें हास्य, क्रीड़ा आदि करते देख राजपुरुष पकड़ लेते हैं अथवा अन्य लोगों में शंका आदि दोष पैदा होते हैं।

१९१३. यतः पृच्छा आदि से ब्रह्मव्रत की विराधना हो सकती है अतः भिक्षु साध्वियों के आने-जाने के मार्ग में उपधि न रखें।

१९१४. द्वितीय पद—अपवाद में अनाभोग—अज्ञानवश, अचानक किसी उपकरण के गिर जाने, विस्मृत हो जाने अथवा अग्नि, श्वापद आदि के संभ्रम के कारण साध्वियों के उपाश्रय के पास कोई उपकरण गिर जाए तो साध्वियां यतना पूर्वक उसका निवेदन कर दें तथा कहीं दूर गिर जाए (छूट जाए) तो यतनापूर्वक लौटा दें।

१९१५. यतना—यदि साधुओं के उपाश्रय के निकट कोई उपकरण गिरा हुआ हो तो उन्हें बता दे। यदि दूर कहीं गिरा हो तो स्थविरा साध्वी उसे उठाए अथवा तरुण साध्वी उठाकर स्थविरा साध्वी को दे दे। वह भूमि का प्रमार्जन कर उसे गुरु के समक्ष रख दे।

१९१६. अधिकरण^१ के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य और ४. भाव। इनका नानात्व में क्रमशः बताउंगा।

१९१७. नोआगमतः तद्व्यतिरिक्त द्रव्य अधिकरण के चार प्रकार हैं—१. निर्वर्तना २. निक्षेपणा ३. संयोजना और ४. निसर्जना। इनके क्रमशः आठ, चार, दो और तीन प्रकार होते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।

१. अधिकरण—हिंसात्मक साधनों का निर्माण, प्रयोग आदि अथवा कलह तथा कषाय के उदय से होने वाली प्रवृत्ति।

१९१८. पढमे पंचसरीरा, संघातण^१ साडणे य उभए वा^२ ।
पडिलेहणा पमज्जण, अकरण अविधीय निक्खवणा ॥१७९९ ॥
१९१९. भत्तोवधिसंजोगे, निसिरण सहसा पमादऽणाभोगे ।
मूलादि जाव चरिमं, अहवा वी जं जहिं कमति^३ ॥१८०० ॥
१९२०. निव्वत्तणा उ^४ दुविधा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूले पंचसरीरा, दोसु तु संघातणा नत्थि ॥१८०१ ॥
१९२१. संघातणा य परिसाडणा^५ य उभयं व जाव आहारं ।
उभयस्स अणियतठिती, आदी^६ अंतेगसमयं तु ॥१८०२ ॥
१९२२. हविपूयो^७ कम्मकरे, दिट्ठंता होंति तिसु सरीरेसु^८ ।
कण्णे य खंध वण्णे, उत्तरकरणं व तीसुं तु ॥१८०३ ॥
१९२३. संघातणा^९ य परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहे ।
पड-संख-सगड-थूणा, उड्ढ-तिरिच्छाण^{१०} करणं तु ॥१८०४ ॥
१९२४. गलकूड-पासमादी, उ लोइगा उत्तरा चउविगप्पा ।
पडिलेहणा पमज्जण, अधिकरणं अविधिनिक्खवणा^{११} ॥१८०५ ॥
१९२५. विसगरमादी^{१२} लोगे, उत्तरसंजोग भत्त-उवधिम्मि ।
अंतो बहि आहारे, विधि-अविधी सिव्वणा उवधी ॥१८०६ ॥

१. संघाडण (भ) ।

२. य (दे, पा) ।

३. कमसि (भ) ।

४. य (मु) ।

५. पडिसा^० (भ) ।

६. याती (क), आदि (मु, भ) ।

७. हवि घितं, तत्थ जो पूतो पच्चति सो हविपूयो सो य घयपुण्णो
भण्णति (चू) ।

८. एवं तिसु ओरालियादिसरीरेसु पढमसमए गहणमेव करेति,
बितियादिसमएसु संघातपरिसाडा, तेयगकम्माणं
सव्वकालं संघाडपरिसाडो अनादित्वात् (चू) ।

९. संघाडणा (मु, भ) ।

१०. °छाति (मु) ।

११. °क्खविणा (भ) ।

१२. जेण गरितो अच्छति ण मरति सहसा सो गरो (चू) ।

१९१८. निर्वर्तनाधिकरण के आठ प्रकार हैं—१-५ पांच शरीरों का निष्कारण निर्माण ६. संघातन ७. परिशाटन और ८. संघात-परिशाटन। निक्षेपणाधिकरण के चार प्रकार हैं—१, २. प्रतिलेखन और प्रमार्जन न करना और ३, ४. प्रतिलेखन प्रमार्जन विधिपूर्वक न करना।^१

१९१९. संयोजनाधिकरण के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. भक्त संयोजना और २. उपधि संयोजना। निसर्जनाधिकरण के तीन प्रकार हैं—१. सहसा २. प्रमाद और ३. अनाभोग। निर्वर्तनाधिकरण आदि में एकेन्द्रिय आदि जीवों की निर्वर्तना करने पर मूल यावत् चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा संघट्टन आदि से तथा आत्मविराधना आदि से प्राप्त होने वाला जो प्रायश्चित्त जहाँ संगत हो, वह वहाँ प्राप्त हो जाता है।

१९२०. निर्वर्तनाधिकरण के दो प्रकार हैं—१. मूलगुण^२ और २. उत्तरगुण।^३ औदारिक, वैक्रिय आदि पांच शरीरों का निर्माण करना मूलगुण निर्वर्तना है। तैजस् और कार्मण शरीर में सर्वसंघात नहीं होता क्योंकि वे अनादि हैं।

१९२१. औदारिक आदि तीन शरीरों में संघातन, परिशाटन एवं उभय (संघातपरिशाटन)—तीनों संभव हैं। जब तक आहार—पुद्गलों का आहरण (ग्रहण) अथवा आधार—शरीर रूप आश्रय है, तब तक संघात परिशाटन चलता रहता है अतः उभय की स्थिति अनियत है। सर्वसंघात केवल प्रथम समय में तथा सर्वपरिशाटन केवल अंतिम समय में होने के कारण एक सामायिक हैं।

१९२२. तीन शरीरों के सर्वसंघात के विषय में मालपुआ तथा लोहकार के दृष्टान्त ज्ञातव्य हैं।^४ कर्णवेध, छेदन आदि से स्कन्धकरण तथा त्रिफला, घृत आदि से वर्णकरण—प्रशस्त वर्णयुक्त बनाना आदि उत्तरकरण है, जो प्रथम तीन शरीरों में संभव है।

१९२३. द्रव्यकरण के चार प्रकार हैं—१. संघातन २. परिशाटन ३. मिश्र (संघात परिशाटन) और ४. प्रतिषेध (नोसंघात नो परिशाटन)। इन चारों को क्रमशः पट, शंख, शकट और स्थूणा (खम्भा) के दृष्टान्त से जानना चाहिए। भावाधिकरण का अर्थ है—कषाय का उदय। भावाधिकरण को ऊर्ध्वकरण एवं तिर्यक्करण के दृष्टान्त से जानना चाहिए।^५

१९२४. मत्स्य को पकड़ने हेतु लोहकंटक, मृग आदि को फंसाने हेतु कूट तथा लावक, बाज आदि को पकड़ने हेतु जाल आदि का निक्षेपण करना लौकिक और पात्र, उपकरण आदि रखते समय प्रत्युपेक्षा, प्रमार्जन सम्बन्धी दोष लगाना या उनका अविधि निक्षेप लोकोत्तर निक्षेपणा अधिकरण है।^६

१९२५. विष, गर^७ आदि को निष्पन्न करने हेतु द्रव्यों की संयोजना करना, रोगोत्पादक द्रव्यों को संयुक्त करना लौकिक आहार, उपधि आदि की संयोजना लोकोत्तर संयोजना अधिकरण है। उपाश्रय के बाहर या भीतर, पात्र आदि में खाद्य द्रव्यों को मिलाना तथा निष्कारण या अविधि से वस्त्र आदि को सीना लोकोत्तर संयोजना है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १९२०-१९२५।

२. औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक शरीर के मूल आठ अंगों—सिर, उर, उदर, पृष्ठ आदि का निर्माण करना मूलकरण है।

३. कर्णवेध, वर्ण आदि को प्रशस्त बनाना उत्तरकरण है।

४. जब कोई हलवाई घृतपूप (पूए) को घी के कड़ाह में डालता है तो प्रथम समय में वह पिण्ड घी का केवल ग्रहण करता है तथा दूसरे, तीसरे आदि अग्रिम समयों में ग्रहण और मोचन (लेना छोड़ना) दोनों क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार जब कोई कर्मकार-लूहार तप्त लोहपिण्ड को जल में डालता है, तब पहले समय में वह लोहा पानी को केवल ग्रहण करता है, बाद में जल ग्रहण भी करता है

और छोड़ता भी है। इसी प्रकार औदारिक आदि प्रथम तीनों शरीरों में प्रथम समय में संघात तथा अगले क्षणों में संघात-परिशाट होता है।

५. कषाय का तीव्र उदय अधोगति तथा मध्यम उदय तिर्यक् गति—मनुष्य एवं तिर्यक्गति का हेतु बनता है। कषाय के उपशम एवं क्षय से ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है।

६. चार विकल्प हैं—१. प्रतिलेखन और प्रमार्जन, २. प्रतिलेखना न करना, ३. प्रमार्जन न करना, ४. प्रतिलेखना प्रमार्जन अविधि से करना।

७. जिसे खाने से सहसा मृत्यु नहीं होती।

१९२६. कंडादि लोग निसिरण^१, उत्तर सहसा पमादऽणाभोगे ।
मूलादि जाव चरिमं, अहवा वी जं जहिं कमति ॥१८०७॥
१९२७. एगिंदियमादीसु तु, मूलं अहवावि होति सट्टाणं ।
झुसिरेतरनिप्फणं, उत्तरकरणम्मि^२ पुव्वुत्तं ॥१८०८॥
१९२८. तिग मासिग तिग पणगे, निक्खव संजोग गुरुग-लहुगा वा ।
झुसिरेतर संतर निरंतरें, य वुत्तं निसिरणम्मि^३ ॥१८०९॥
१९२९. जोगे करणे संरंभमादि^४ चतुरो तहा कसायाणं ।
एतेसिं संजोगे, सतं तु अट्टुत्तरं होति ॥१८१०॥ नि ४४० ॥
१९३०. संरंभ^५ मणेणं तू^६, करेति कोहेण^७ संपउत्तो उ ।
इय माण-माय-लोभे, चउरो होती य^८ संजोगा ॥१८११॥
१९३१. चतुरेते करणेणं, कारवणेणं च अणुमतीए य ।
तिण्णि चउक्का बारस, एते लद्धा मणेणं तु ॥१८१२॥
१९३२. संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ, सव्वणयाणं तु सुद्धाणं ॥१८१३॥
१९३३. एतेसामण्णतरं, अधिकरणं जो नवं तु उप्पाए ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१८१४॥ नि ४४१ ॥
१९३४. तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्तं^९-णाणाणं ।
साधुपदोसो संसारवड्डुणो साधिगरणस्स ॥१८१५॥

१. ँरणा (दे) ।
२. ँरणं तु (भ) ।
३. निसं (भ) ।
४. सारंभं (क) ।
५. आरंभ (भ) ।

६. तु (दे) ।
७. कोवेण (मु, भ) ।
८. तु (भ) ।
९. चरित्तं (भ) ।

१९२६. निसर्जनाधिकरण के दो प्रकार हैं—१. लौकिक और २. लोकोत्तर। लौकिक निसर्जना—बाण, गोफण, पाषाण आदि फेंकना। लोकोत्तर निसर्जना—सहसा, प्रमाद अथवा विस्मृति के कारण निसर्जन करना, भोजन आदि में गिरे हुए कंकर को निकालकर फेंकना। निर्वतनाधिकरण आदि में एकेन्द्रिय आदि जीवों की निर्वतना करने पर मूल से लेकर चरम प्रायश्चित्त तक प्राप्त हो सकता है। अथवा संघट्टन आदि से तथा आत्मविराधना आदि से प्राप्त होने वाला जो प्रायश्चित्त जहाँ संगत हो, वह वहाँ प्राप्त हो जाता है।

१९२७. मूल निर्वतनाधिकरण में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की निर्वतना करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा मूलनिर्वतना करने वाले को स्वस्थान प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१ उत्तरकरण निर्वतना में शुषिर और अशुषिर के विषय में जो प्रायश्चित्त पहले बताया जा चुका है, वही ज्ञातव्य है।^२

१९२८. निक्षेपणाधिकरण के प्रथम तीन भंगों में मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। चतुर्थ भंग के पुनः चार भंग हो जाते हैं^३ जिनमें प्रथम तीन में पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा चौथा शुद्ध (अप्रायश्चित्ती) है। राग के कारण आहार या उपकरण की संयोजना करने वाले को चतुर्गुरु तथा द्वेष के कारण संयोजना करने वाले को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^४ निसर्जनाधिकरण में शुषिर, अशुषिर, सान्तर एवं निरन्तर निसर्जना का प्रायश्चित्त पूर्वकथित है, वही ज्ञातव्य है।^५

१९२९. संरंभ, समारंभ तथा आरम्भ का योग (मन, वचन, काया), करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) तथा कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के संयोग से भावाधिकरण के एक सौ आठ सांयोगिक भंग बन जाते हैं।^६

१९३०, १९३१. कोई व्यक्ति क्रोध से संप्रयुक्त होकर मन से संरंभ करता है। इसी प्रकार मान, माया या लोभ से संप्रयुक्त होकर संरंभ करता है तो प्रथम करण की दृष्टि से चार भंग बनते हैं। इसी प्रकार क्रोध से संप्रयुक्त मन से संरंभ करवाने एवं अनुमोदन करने से भी चार-चार भंग बनते हैं। इस प्रकार मनोयोग से तीन चतुष्क के बारह भंग प्राप्त होते हैं। इस क्रम से तीनों योगों से संरंभ के ३६ भेद होते हैं।

१९३२, १९३३. सारे शुद्धनयों की अपेक्षा से हिंसा का संकल्प संरंभ कहलाता है। परिताप उत्पन्न करना समारंभ कहलाता है। आरंभ का अर्थ है हिंसा। जो भिक्षु संरंभ आदि किसी भी प्रकार से नवीन अधिकरण को उत्पन्न करता है, वह आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१९३४. साधिकरण (कलहकारी मुनि) के अथवा कलह के ये दोष हैं—१. ताप २. भेद^७ ३. अपयश^८ ४. दर्शनहानि ५. ज्ञानहानि^९ ६. चारित्रहानि ७. साधुओं के प्रति द्वेष और ८. संसार की वृद्धि।^{१०}

१. द्रष्टव्य, गा. ११७।

२. द्रष्टव्य, गा. ५०३।

३. चार भंग हैं—१. दुष्प्रतिलेखन, दुष्प्रमार्जन, २. दुष्प्रतिलेखन, सुप्रमार्जन ३. सुप्रतिलेखन दुष्प्रमार्जन और ४. सुप्रतिलेखन सुप्रमार्जन।

४. अथवा आहार की संयोजना से चतुर्गुरु और उपकरण-संयोजना से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५. द्रष्टव्य गा. ५०३ व उसकी टीका।

६. संरंभ, समारंभ और आरंभ के क्रमशः ३६-३६ भंगों को

मिलाने से १०८ भंग बनते हैं।

७. साधुओं में पक्ष-प्रतिपक्ष होने से गणभेद भी हो सकता है।

८. साधुओं को कलह करते देख लोगों में अपयश होता है।

९. कलह से साधर्मिक वात्सल्य की हानि से दर्शनहानि होती है तथा कषायकलुषित चित्त के कारण ज्ञान में बाधा पैदा होती है अतः ज्ञानहानि होती है।

१०. विस्तार हेतु द्रष्टव्य बृहत्कल्पभा. गा. २७१०-२७१५।

१९३५. अतिभणित अभणिते वा, तावो भेदो तु जीवचरणेषु।
रायकुलम्मी^१ दोसा, खुभेज्ज वा णीयमित्तादी ॥१८१६ ॥
१९३६. बितियपदमणप्पज्जे, उप्पादविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, विगिंचणट्ठाएँ उप्पाए ॥१८१७ ॥
१९३७. खामित^२-विउसविताइं, अधिकरणाइं तु जे पुणुप्पाए।
ते पावा णातव्वा, तेसिं तु परूवणा इणमो ॥१८१८ ॥ नि ४४२ ॥
१९३८. उप्पादगमुप्पण्णे, संबद्धे^३ कक्खडे^४ य बाहू^५ य।
आविट्टणा य मुच्छण, समुघात^६ ऽतिवायणे चेव ॥१८१९ ॥ नि ४४३ ॥
१९३९. लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्टप्पो य पारंची ॥१८२० ॥ नि ४४४ ॥
१९४०. तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्त-णाणाणं।
साधुपदोसो संसारवड्डणो होउदीरंते ॥१८२१ ॥
१९४१. बितियपदमणप्पज्जे, उदीरें अविकोविदे व अप्पज्जे।
जाणंते वावि^७ पुणो, विगिंचणट्ठा उदीरैज्जा ॥१८२२ ॥
१९४२. पासित्ता^८ भासित्ता, सोउं सरिऊण वावि जे भिक्खू।
विप्फालेत्ताणं^९ मुहं, सविगार कहक्कहं^{१०} हसती^{११} ॥१८२३ ॥ नि ४४५ ॥
१९४३. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, सविगार कहक्कहं न हसे ॥१८२४ ॥ नि ४४६ ॥

१. °म्मि य (भ) ।

२. सूत्र २६ (नव ४/२५) ।

३. संबद्धं णाम वायाए परोप्परं सेविउमारद्धा (चू) ।

४. कक्खडं णाम पासट्ठितेहिं विओसविज्जमाणा वि
णोवसमंति (चू) ।

५. बाहूयं ति रोसवसेण बलोबलिं जुज्झं लग्गा (चू) ।

६. समुघाय (भ) ।

७. यावि (क) ।

८. सूत्र २७ (नव ४/२६) ।

९. °त्ताणं (दे) ।

१०. मोहमुदीरक अणणस्स वा हासुप्पायगं सविकारं महंतेण
वा उक्कलियासदेणं कहक्कहं भण्णति (चू) ।

११. हसति (दे) ।

१९३५. कलह के पश्चात् मुनि सोचता है—मैंने उसको बहुत अधिक कह दिया, असद् अभ्याख्यानों से अभ्याख्यात कर दिया—यह प्रशस्त ताप है। कदाचित् उसने कुछ नहीं कहा, फिर वह सोचे कि मुझे धिक्कार है, मैं भूल गया जो मैंने उसे अमुक प्रकार से नहीं कहा—यह अप्रशस्त ताप है। कषाय से उत्तम चित्त वाला मुनि वैहायसमरण आदि कर लेता है अथवा उत्प्रव्रजित हो जाता है—इस प्रकार कषाय से जीवनभेद और चारित्रभेद होना संभव है। कलहकारी मुनियों के ज्ञातिजन आदि क्षुब्ध होकर एक दूसरे का पक्ष लेते हैं या राजकुल में सूचित कर देते हैं ग्रहण, आकर्षण आदि दोष पैदा होते हैं।

१९३६. अपवाद में अनात्मवश मुनि (क्षिप्तचित्त, यक्षाविष्ट आदि) परवशता के कारण या अपरिपक्व बुद्धि वाला शैक्ष अज्ञानवश कलह कर लेता है। यदि किसी अयोग्य को कारणवश दीक्षा दे दी गई हो तो उसे बहिष्कृत करने हेतु गीतार्थ मुनि जानते हुए कलह करता है।

१९३७. जो भिक्षु क्षामित (वाणी से उपशान्त) एवं व्युत्सृष्ट (मन से परित्यक्त) कलह को पुनः उत्पन्न करता है वह पापी है, (साधु धर्म में व्यवस्थित नहीं है)—ऐसा ज्ञातव्य है। उसकी प्ररूपणा इस प्रकार है।

१९३८. एक साधु कहता है—तुमने मुझे उस समय यह कहा, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं। अन्य साधु कहता है—क्या तुमने मुझे अमुक-अमुक नहीं कहा? इस प्रकार उपशान्त कलह की उदीरणा के अतिपात पर्यन्त नौ चरण हैं—१. उत्पादक २. उत्पन्न ३. संबद्ध ४. कर्कश ५. बाहुक ६. आपिट्टणा ७. मुच्छण ८. समुग्घात और ९. अतिपात।^१

१९३९. उपर्युक्त नौ स्थानों के क्रमशः मासलघु, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षडलघु, षड्गुरु, छेद, मूल अनवस्थाप्य और पारांचित—ये नौ प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

१९४०. उपशान्त कलह की उदीरणा के दोष हैं—१. ताप, २. भेद, ३. अपयश, ४. दर्शनहानि, ५. ज्ञानहानि, ६. चारित्रहानि, ७. साधुओं के प्रति द्वेष और ८. संसार की वृद्धि।

१९४१. अपवाद में अनात्मवश मुनि परवशता से या अपरिपक्व बुद्धि वाला शैक्ष अज्ञानवश कलह की उदीरणा कर लेता है। यदि किसी अयोग्य व्यक्ति को कारणवश दीक्षा दे दी गई हो तो उसे बहिष्कृत करने हेतु गीतार्थ मुनि जानते हुए भी कलह की उदीरणा करता है।

१९४२, १९४३. हास्य की उत्पत्ति के चार कारण हैं—१. किसी हास्यजनक दृश्य को देखना २. वाणी से स्खलना पूर्वक बोलना ३. किसी हास्योत्पादक कथा आदि को सुनना तथा ४. पूर्वक्रीड़ा का स्मरण। जो भिक्षु उपर्युक्त किसी कारण से मुंह खोलकर, विकारपूर्वक कहकहा लगाता हुआ हंसता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—आत्मविराधना एवं संयमविराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः मुनि सविकार कहकहा लगाता हुआ न हंसे।

१. उत्पादक—जो साधु उपशान्त कलह की उदीरणा करता है वह उत्पादक कहलाता है।

२. उत्पन्न—दूसरा उसके कषाय से प्रभावित होकर कलह बढ़ाता है, वह उत्पन्न है। इसका अगला चरण है।

३. संबद्ध—दोनों परस्पर वचन कलह (आक्षेप-प्रत्याक्षेप) करते हैं।

४. कर्कश—अगला चरण है, अन्य पार्श्ववर्ती लोगों के द्वारा शान्त किए जाने पर भी शान्त नहीं होते।

५. बाहुक—परस्पर बाहूयुद्ध करने लगते हैं।

६. आपिट्टणा—परस्पर पिटाई कर देते हैं।

७. मुच्छण—दूसरे को पिटाई के द्वारा मूर्च्छित कर देता है।

८. समुग्घात—मूर्च्छित होने वाले के मारणांतिक समुद्घात की स्थिति पैदा हो जाती है।

९. अतिपात—उसका प्राणान्त हो जाता है।

१९४४. पुव्वामयप्पकोवा, अभिणवसूलं च मत्तगहणं^१ वा।
‘असंवुडणं व भवेज्ज’^२, तावसमरणेण दिट्ठंतो ॥१८२५ ॥
१९४५. आसंक वेरजणणं, परपरिभवकारणं च^३ हासं तु^४।
संपातिमाण य^५ वहो, हसओ मतएण^६ दिट्ठंतो ॥१८२६ ॥
१९४६. बितियपदमणप्पज्जे, हसेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते यावि^७ पुणो, सागारियमादिकज्जेसु ॥१८२७ ॥
१९४७. पासत्थोसण्णाणं^८, कुसील-संसत्त नितियवासीणं।
जे भिक्खू संघाडं, देज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥१८२८ ॥ नि ४४७ ॥
१९४८. सो^९ आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा^{१०} तेणं, णो देज्जा णो पडिच्छेज्जा ॥१८२९ ॥ नि ४४८ ॥
१९४९. अविसुद्धस्स तु गहणे, आवज्जण अगहणे^{११} य अधिगरणं।
अप्पच्चओ गिहीणं, किं णु हु^{१२} धम्मो दुहाऽऽदिट्ठो ॥१८३० ॥
१९५०. जइ अच्छति तुसिणीओ, भणति य एवं पि देसितो धम्मो।
आसातणा सुमहती, सो च्चिय कलहो तु पडिघाते ॥१८३१ ॥
१९५१. पासत्थोसण्णाणं, कुसील-संसत्त-नितियवासीणं।
उग्गम-उप्पादण एसणाएँ बायालमवराधा ॥१८३२ ॥
१९५२. उग्गम-उप्पादण एसणाए तिण्हं पि तिकरणविसोधी।
पासत्थोसण्णाणं^{१३}, कुसील-णितिए वि एमेव ॥१८३३ ॥

१. मन्नगं (दे), कण्णस्स अहो महंता गलसरणी मत्ता
भण्णंति ता घेप्पेज्ज (चू)।
२. असंसंवुडणं व भवे (भ, पा)।
३. तु (दे, पा)।
४. च (दे)।
५. व (दे)।
६. मतिं (भ)।
७. वावि (मु)।

८. णाण-दंसण-चरित्ताण पासे ठितो पासत्थो,... ओयो वा
संजमो तम्मि सुण्णो उस्सण्णो (चू)।
९. सूत्र २८-३७ (नव ४/२७-३६)।
१०. तम्हा (दे)।
११. अगहिते (मु)।
१२. × (दे)।
१३. पासत्थे सच्छंदे (दे)।

१९४४. मुंह खोलकर जोर से हंसने पर पूर्व रोग जो उपशान्त था, पुनः प्रकुपित हो सकता है, कान आदि में कोई नवीन शूल पैदा हो सकता है। मत्त (गलरन्ध्र)^१ का ग्रहण (अवरोध) हो सकता है। कभी-कभी हंसते हुए जो मुंह खुलता है वह खुला का खुला रह जाता है।^२ पांच सौ तापसों के मरण की घटना के दृष्टान्त से अत्यधिक हंसने के दोष ज्ञातव्य हैं।^३

१९४५. हास्य आशंका और वैर को पैदा करने वाला तथा दूसरों के परिभव का कारण होता है। हंसते समय खुले हुए मुंह में संपातिम जीव गिर जाते हैं तो उनके वध की संभावना रहती है। हास्य करने वाले भिक्षु को मृतक का दृष्टान्त^४ जानना चाहिए।

१९४६. द्वितीय पद अपवाद में अनात्मवश भिक्षु हंस सकता है। अथवा अगीतार्थ अपने अज्ञान के कारण हंस सकता है। गीतार्थ मुनि सागारिक आदि कार्यों में हंस सकता है जैसे कोई प्रतिबद्ध वसति में मैथुन सेवन कर रहा हो, तो मुनि को हंसता हुआ देखकर लज्जित हो जाए और उससे विरत हो जाए अथवा शैक्ष भिक्षुओं को उनके शब्द न सुनाई पड़े, इस दृष्टि से हास्य करना गीतार्थ के लिए कल्पता है।

१९४७, १९४८. जो भिक्षु पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त अथवा नित्यवासी मुनि को संघाटक (साथ) देता है अथवा उनका साथ ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः उन्हें संघाटक न दे और न इनसे ले।

१९४९, १९५०. भिक्षु पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं के साथ गोचरी के लिए जाता है, उन पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं के साथ एषणा आदि से अशुद्ध आहार ग्रहण करता है तो भिक्षु को उस अशुद्ध आहार आदि का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि भिक्षु अशुद्ध आहार आदि का ग्रहण नहीं करता तो उन पार्श्वस्थ आदि के लिए अप्रीतिकर होता है, वे उससे कलह करते हैं। दोनों की आहार आदि की भिन्न-भिन्न ग्रहणविधि को देखकर गृहस्थों में अप्रत्यय होता है। वे कहते हैं—क्या भगवान ने दो प्रकार का धर्म बताया है। यदि उसके उत्तर में मुनि चुप रहता है अथवा कहता है कि हाँ उन्होंने ऐसा भी धर्म प्ररूपित किया है तो अनुमोदन का दोष लगता है, तीर्थंकरों की महती आशातना होती है। तथा वह दीर्घसंसारी बनता है। यदि वह पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं के वचनों का प्रतिघात करता है तो पुनः उसी कलह की संभावना होती है।

१९५१. पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त एवं नित्यवासी मुनियों के बयालीस अपराध (भिक्षा के दोष) होते हैं—सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष तथा दस एषणा दोष।

१९५२. संविग्र भिक्षु उद्गम, उत्पादन एवं एषणा के दोषों का त्रिकरण विशोधि पूर्वक परिहार करता है अतः वह पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील एवं नैतिक भिक्षु को संघाटक नहीं देता और न उनसे संघाटक ग्रहण करता।

१. निभा २ चू. पृ. २८५—कण्णस्स अहो महंता गलसरणी मत्ता भण्णंति, ता घेपज्ज।

२. चूर्णिकार ने इस प्रसंग में एक श्रेष्ठी का उल्लेख किया है। हंसते-हंसते उस श्रेष्ठी का मुंह वैसे ही स्तब्ध रह गया। वैद्य ने तप्त लोह पिण्ड उसके मुंह में प्रविष्ट करवाया, तब वह संपुट हुआ (बन्द हो गया)।

३. द्रष्टव्य—परिशिष्ट २, कथा ३८।

४. द्रष्टव्य—वही, कथा ३९।

१९५३. मणउग्गम आहारादीया^१ तिया तिण्ण तिकरणविसुद्धा ।
एक्कासीती भंगा, सीलंगगमेण णातव्वा^२ ॥१८३४ ॥
१९५४. आहारउग्गमेणं, अविस्सुद्ध ण गेण्हें ण वि य गेण्हावे ।
न वि गेण्हंतऽणुजाणे, एवं वायाएँ काएणं ॥१८३५ ॥
१९५५. एमेव नवविगप्पा, उप्पादण-एसणाय नव चेव ।
एते तिण्ण उ नवगा, सतवीसाहारें भंगा तु ॥१८३६ ॥
१९५६. एमेवोवधिसेज्जा, एक्केक्कं सत्तवीस भंगा तु ।
एते तिण्ण वि मिलिता, एक्कासीती भवे भंगा ॥१८३७ ॥
१९५७. एताइं सोधित्तो^३, चरणं सोधेंति संसओ नत्थि ।
एतेहि असुद्धेहिं, चरित्तभेदं वियाणाहि ॥१८३८ ॥
१९५८. पडिसेधे पडिसेधो, ऽसंविग्गेदाणमादि तिक्खुत्तो ।
अविस्सुद्धे चतुगुरुगा, दूरे^४ साधारणं काउं ॥१८३९ ॥ नि ४४९ ॥
१९५९. पासत्थादि कुसीले, 'पडिसिद्धे जा तु तेहि संसग्गी'^५ ।
पडिसिञ्जति^६ एसो खलु, पडिसेहे होति पडिसेहो ॥१८४० ॥
१९६०. दाणादी संसग्गी, सइँ कतपडिसिद्ध लहुग आउट्टे ।
सम्भावति आउट्टे, अस्सुद्धगुरुगो तु तेण परं ॥१८४१ ॥
१९६१. तिक्खुत्त^७ तिण्ण मासा^८, आउट्टंते गुरुगो तेण परं ।
अविस्सुद्धं तं वीसुं, करेंति जो भुंजते गुरुगा ॥१८४२ ॥

१. °रादिया (भ) ।
२. णेत° (भ) ।
३. सोधयंतो (भ) ।
४. दूर (दे) ।

५. × (दे) ।
६. परिसि° (भ) ।
७. तिण्ण वारा तिक्खुत्तो (चू) ।
८. मासे (पा) ।

१९५३. मन आदि (मन, वचन और काया), उद्गम आदि (उद्गम, उत्पादन और एषणा) तथा आहार आदि (आहार, उपधि एवं शय्या) इन तीन त्रिक को त्रिकरण विशुद्धि से गुणन करने पर इनके इक्यासी भंग बनते हैं, जिन्हें शीलांग की भंग विधि से जान लेना चाहिए।^१

१९५४. उद्गम दोष से अशुद्ध आहार को मन से ग्रहण न करे, २. ग्रहण न करवाए और ३. ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करे।

१९५५. इसी प्रकार वचन और काया के भी तीन-तीन भंग बन जाते हैं। इसी प्रकार उत्पादन एवं एषणा से भी ये नौ-नौ भंग बन जाते हैं। ये तीन नवक मिलकर आहारविषयक सत्तावीस भंग बनते हैं।

१९५६. इसी प्रकार उपधि और शय्या के भी प्रत्येक के सत्तावीस-सत्तावीस भंग बनते हैं और तीनों के सारे भंग मिलाने पर कुल इक्यासी भंग बनते हैं।

१९५७. जो भिक्षु आहार आदि के विषय में उपर्युक्त इक्यासी प्रकार से विशोधि का परिपालन करता है, वह चारित्र की विशुद्धि करता है। जो इनकी विशोधि में जागरूक नहीं होता है, वह चारित्रभेद करता है— इसमें संशय नहीं है।

१९५८. अर्थतः पार्श्वस्थ आदि का प्रतिषेध होने पर जो उनका संसर्ग^२ है उसका प्रतिषेध स्वतः हो जाता है। अतः पार्श्वस्थ आदि का दान देने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो तीन बार से अधिक पार्श्वस्थ आदि असंविग्र भिक्षुओं को दान देता है, वह मायावी होता है अतः उसे मायाप्रत्ययिक मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो पार्श्वस्थ-दान की आलोचना नहीं करता, वह अविशुद्ध होता है उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^३ यदि कोई सांभोगिक मुनि दूर विदेश में गए हों तो उनके विषय में आचार्य साधारण कथन करे।^४

१९५९. पार्श्वस्थ आदि कुशीलों (कुत्सित आचरणों) का प्रतिषेध करने पर जो उनका संसर्ग^२ है, उनका प्रतिषेध स्वतः हो जाता है। यही प्रतिषेध होने पर प्रतिषेध है।

१९६०. जो असंविग्र भिक्षुओं को दान आदि देता है, वह संसर्ग^२ कहलाता है। जो एक बार संसर्ग करता है, प्रतिषेध करने पर निवृत्त हो जाता है उसे लघुमास प्रायश्चित्त आता है। पुनः संसर्ग करता है और निवृत्त भी हो जाता है, उसे भी लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तीन बार से अधिक संसर्ग करने वाला भिक्षु नियमतः मायावी होता है—अशुद्ध होता है अतः उसे गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१९६१. तीन बार संसर्ग कर निवर्तन करने वाले को हर बार मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके बाद-चौथी बार कोई भिक्षु असंविग्र भिक्षु का संसर्ग करता है वह नियमतः मायी (मायावी) है। अतः उसे मायानिष्पन्न मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु संसर्ग कर आलोचना नहीं लेता (करता), वह अविशुद्ध है। अतः यदि वह निवृत्त नहीं होता तो उसका संभोज पृथक् कर दिया जाता है। जो उसके साथ संभोग करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. आहार आदि त्रिक × उद्गम आदि त्रिक × मन आदि त्रिक × करण आदि त्रिक—३ × ३ × ३ × ३ = ८१।

२. जो पार्श्वस्थ आदि को संघाटक अथवा वस्त्र आदि का दान करता है वह संसर्ग^२ कहलाता है।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १९५९-१९६२।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १९६३-१९६५।

१९६२. सइ दो तिसिय अमाई^१, ततिया^२ सेवितु नियमसो मायी ।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदा ॥१८४३ ॥
१९६३. समणुण्णेषु विदेसं, गतेसु अण्णाऽऽगता तहिं पच्छा ।
ते वि^३ तहिं गंतुमणा, पुच्छंति तहिं मणुण्णे तु ॥१८४४ ॥
१९६४. अत्थि त्ति^४ होति लहुगो, कयाइ ओसण्ण भुंजणे दोसा ।
णत्थि वि^५ लहुगो भंडण, न खेत्तकहणं न पाहुण्णं ॥१८४५ ॥
१९६५. आसि तदा समणुण्णा, भुंजह दव्वादिगेहि पेहिता ।
एवं भंडणदोसा, न होंति अमणुण्णदोसा य ॥१८४६ ॥
१९६६. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^६ भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए, वा, देज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥१८४७ ॥
१९६७. उदउल्ल मट्टिया^७ वा^८, ऊसगते चेव होति बोधव्वे ।
हरिताले हिंगुलए^९, मणोसिला अंजणे लोणे ॥१८४८ ॥ नि ४५० ॥
१९६८. गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्टिय पिट्ट कुक्कुसकते य^{१०} ।
उक्कुट्टमसंसट्टे, णेयव्वे आणुपुव्वीए ॥१८४९ ॥ नि ४५१ ॥
१९६९. एत्तो एगतरेणं, हत्थेणं दव्विभायणेणं वा ।
जे भिक्खू असणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥१८५० ॥ नि ४५२ ॥
१९७०. उदउल्लादीगेसू^{११}, हत्थे मत्ते य होति चतुभंगो ।
पुढवी-आउ-वणस्सति, मीसे संजोग पच्छित्तं ॥१८५१ ॥

१. अमादी (भ, दे) ।
२. ततीया (भ) ।
३. व (भ) ।
४. ति (भ) ।
५. ति (मु) ।
६. रायदुट्टे (भ) ।

७. सूत्र-३८, ३९ (नव ४/३७, ३८) ।
८. या (भ) ।
९. हिंगुलए (भ) ।
१०. या (भ) ।
११. °दीएसुं (दे) ।

१९६२. प्रश्नकर्ता—पहली, दूसरी और तीसरी बार मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो चौथी बार मासगुरु प्रायश्चित्त क्यों? आचार्य—पहली, दूसरी और तीसरी बार संसर्ग करने वाला कदाचित् अमायी हो सकता है। यदि वह अमायी है तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तीन बार से अधिक संसर्ग करने वाला नियमतः मायी होता है अतः उसे मायाप्रत्ययिक गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि चारित्र उसी के होता है, जो शुद्ध (ऋजु) होता है। जो मायावी होता है, उसका चारित्र भिन्न (भग्न) हो जाता है।

१९६३-१९६५. कदाचित् कुछ सांभोजिक साधु विदेश चले गए और अन्य कुछ सांभोजिक साधु अन्य विदेश से उसी गच्छ में बाद में आए। इस प्रकार जो आगंतुक साधु हैं, वे उन विदेश गए हुए साधुओं को न जानते हैं। वे पुनः उसी विदेश में जाना चाहते हैं तो वे आचार्य से पूछते हैं—क्या अमुक क्षेत्र में कोई हमारे सांभोजिक साधु हैं? उनके ऐसा पूछने पर यदि आचार्य 'हाँ हैं'—ऐसा कहें तो उन्हें लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि कदाचित् वे वहाँ जाकर अवसन्न हो गए हों तो गुरुवचनों के आधार पर उनके साथ संभोज करने वाले मुनि अवसन्न के साथ संभोज से होने वाले दोषों के भागी बनते हैं। यदि आचार्य 'नहीं है'—ऐसा कहते हैं तो उन्हें मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि वे गुरुवचनों के आधार पर उनके साथ संभोज नहीं करते जिससे उनमें परस्पर वाक्कलह हो सकता है, पारस्परिक अप्रतीति के कारण वे उन्हें मासकल्पयोग्य क्षेत्र नहीं बताते और उनका आतिथ्य भी नहीं करते। अस्ति और नास्ति इन दोनों प्रतिवचनों में दोष एवं प्रायश्चित्त की संभावना को देख आचार्य ऐसा कहे—वहाँ हमारे गच्छ के कुछ सांभोजिक साधु गए हुए हैं अब तुम वहाँ जा रहे हो, वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की प्रतिलेखना करके उनके साथ संभोज करना—इस प्रकार साधारण वचन कहने से न पूर्वोक्त कलह, अप्रतीति आदि दोष होते और न असांभोजिक के साथ संभोज के दोष होते।

१९६६. द्वितीय पद मे पार्श्वस्थ आदि को संघाटक देने या लेने के निम्न हेतु हैं—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध। इन परिस्थितियों में कोई संविग्न भिक्षु अकेला रह जाए, अनिर्वाह, अनिर्गमन आदि की स्थिति पैदा हो जाए तो यतना पूर्वक उनको संघाटक दे दे या उनसे संघाटक ले ले।

१९६७-६९. सचित्त जल से गीले अथवा मिट्टी (चिकनी मिट्टी), हरताल, हिंगुल चूर्ण, मैनशिल, अंजन (सुरमा), नमक, गेरू, वर्णिका (पीली मिट्टी), खड़िया, सौराष्ट्रिका (गोपीचन्दन), पिष्ट (तत्काल पीसे हुए आटे), कुक्कुस (अनाज के भूसे या छिलके) उक्कट्ट (फल के सूक्ष्म खण्ड) से लिप्त तथा अलिप्त हाथ आदि को क्रमशः जानना चाहिए। जो भिक्षु इनमें से किसी से भी लिप्त हाथ, दर्वी अथवा भाजन (कांस्य आदि का पात्र) से अशन आदि ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१९७०. उदकार्द्र तथा मिट्टी आदि से लिप्त हाथ और पात्र के विषय में चार भंग हो जाते हैं^१ ये चार-चार भंग पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय—इन तीन के विषय में संभव है, शेष कार्यों के विषय में नहीं। इनमें जहाँ मिश्र भंग हैं—हाथ और पात्र दोनों सचित्त मिट्टी अथवा सचित्त वनस्पति से लिप्त हैं, वहाँ संयोग प्रायश्चित्त (दोनों के दो लघुमास) प्राप्त होता है। द्वितीय और तृतीय भंग में एक-एक मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, चौथा भंग शुद्ध है।

१. चतुर्भंगी—१. हाथ उदकार्द्र, पात्र उदकार्द्र।

३. हाथ उदकार्द्र नहीं, पात्र उदकार्द्र।

२. हाथ उदकार्द्र, पात्र नहीं।

४. हाथ और पात्र दोनों उदकार्द्र नहीं।

१९७१. मा किर पच्छाकम्मं, होज्ज असंसदुगं तओ वज्जं।
कर-मत्तेहि तु तम्हा, संसद्वेहिं भवे गहणं ॥१८५२॥
१९७२. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^१ भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोधए वा, जतणा गहणं तु गीतत्थे ॥१८५३॥
१९७३. अत्तीकरणादीसुं^२, रायादीणं तु जो गमो भणितो।
सो चेव निरवसेसो, गामादारक्खिगादीणं^३ ॥१८५४॥
१९७४. पादादी^४ तु पमज्जण, सीसदुवारादि जो गमो ततिए।
अण्णोऽण्णस्स तु करणे, सो चेव गमो चउत्थम्मि ॥१८५५॥
१९७५. पासवणुच्चारणं^५, जो भूमिमणुप्पदे^६ ण पडिलेहे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१८५६॥ नि ४५३॥
१९७६. छक्कायाण विराधण, अहि-विच्छुग सण्ण मुत्तमादीसु।
वोसिरण निरोधेसुं^७, दोसा खलु^८ संजमायाए ॥१८५७॥
१९७७. चउभागऽवसेसाए, 'चरिमाए पोरिसीय'^९ तम्हा तु।
पयतो पडिलेहेज्जा, पासवणुच्चारमादीणं ॥१८५८॥
१९७८. गेलण्ण रायदुट्टे, अद्धाणे संभमे भएगतरे।
गामऽणुगामवियाले^{१०} अणुपत्ते^{११} वा न पडिलेहे ॥१८५९॥
१९७९. पासवणुच्चारणं^{१२}, भूमीओ जो तओ उ^{१३} पडिलेहे।
अंतो वा बाहिं वा, अहियासिं वा अणहियासिं^{१४} ॥१८६०॥ नि ४५४॥
१९८०. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, चउवीसं भूमि पडिलेहे ॥१८६१॥ नि ४५५॥

१. °दुट्टे (मु)।

२. सूत्र-४०-४८ (नव ४/३९-५३)।

३. °क्खिमादीसुं (मु, भ)।

४. सूत्र-४९-१०१ (नव ४/५४-१०७)।

५. सूत्र-१०२ (नव ४/१०८)।

६. भूमी अणुपदे (मु)।

७. °धेसू (भ)।

८. × (भ)।

९. × (दे)।

१०. गामाणुगामवियाले (मु)।

११. अणुपत्ते (दे, भ)।

१२. °रादीण (दे), सूत्र १०३ (नव ४/१०९)।

१३. × (दे)।

१४. पुनरावृत्त होने के कारण १९८०-८२—इन तीन गाथाओं का प्रतियों में केवल गाथा संकेत है।

१९७१. असंसृष्ट (देय वस्तु से अलिप्त—शुद्ध) पात्र, दर्वी आदि से अशन आदि ग्रहण करने का वर्जन किया गया है ताकि पश्चात्कर्म दोष न हो। इसलिए दाता जो वस्तु दे, हाथ और पात्र उस वस्तु से संसृष्ट हो तो भिक्षु उससे अशन आदि को ग्रहण करे।

१९७२. गीतार्थ भिक्षु इन आपवादिक परिस्थितियों में यतनापूर्वक (पनक परिहाणि से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त हो, तब तक) संसृष्ट अथवा असंसृष्ट हाथ या पात्र में भिक्षा ग्रहण कर सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अध्वान (अटवी) और ७. नगरोध।

१९७३. राजा, राजा के आरक्षक आदि के आत्मीकरण, अर्थीकरण आदि के विषय में जो गम (विधि) प्रज्ञप्त है, ग्राम, सीमा आदि के आरक्षक के विषय में वही निरवशेष रूप से ज्ञातव्य है।

१९७४. पाद-प्रमार्जन से लेकर शीर्षद्वारिका (मस्तक ढांकना) पर्यन्त जो विधि तीसरे उद्देशक में प्रज्ञप्त है, चतुर्थ उद्देशक के सूत्र ४९-१०१ में परस्पर पाद प्रमार्जन करने आदि के विषय में वही विधि ज्ञातव्य है।

१९७५. जो भिक्षु अनुपद—चौथी प्रहर के चौथे भाग में उच्चार और प्रस्रवण के व्युत्सर्जन की भूमि की प्रतिलेखना नहीं करता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१९७६. अप्रतिलेखित भूमि पर उच्चार आदि का व्युत्सर्ग करने पर संयम और आत्मा में ये दोष आते हैं—संयम विराधना और आत्मविराधना हो सकती है—संयम विराधना—अप्रतिलेखित भूमि पर व्युत्सर्ग करने वाला भिक्षु द्रव्यतः और भावतः छह काय की विराधना कर सकता है। आत्मविराधना—उस भूमि पर सांप, बिच्छु आदि के बिल हों तो व्युत्सर्ग के समय सांप, बिच्छु आदि उसे डस सकते हैं। उसके पैर संज्ञा (पुरीष), मूत्र आदि से लिप्त हो सकते हैं जिससे उपधि विनाश—कपड़े आदि गन्दे हो सकते हैं, शैक्ष विपरिणाम को प्राप्त हो सकता है। भूमि की प्रतिलेखना की नहीं और अप्रतिलेखित भूमि पर विसर्जन करना सदोष है—ऐसा सोचकर यदि कोई भिक्षु उच्चार आदि का निरोध करता है तो मूत्रनिरोध से चक्षु तथा मल-निरोध से जीवन के उपघात की संभावना हो सकती है।

१९७७. अतः जब अन्तिम पौरुषी का चौथा भाग अवशेष रहे, तब भिक्षु प्रयत्नपूर्वक प्रस्रवण एवं उच्चार आदि के लिए भूमि की प्रतिलेखना करे।

१९७८. अपवाद में इन कारणों से व्युत्सर्ग भूमि की प्रतिलेखना न करने वाला भिक्षु भी शुद्ध है—१. ग्लान्य^२ २. राजद्वेष^३ ३. अटवी^३ ४. संभ्रम ५. भय^४ ६. विकाल वेला में ग्रामानुग्राम^५।

१९७९, १९८०. जो भिक्षु निवेशन (गृह) के भीतर और बाहर—अध्यासिका और अनध्यासिका (असहिष्णु और सहिष्णु सापेक्ष)^६ तीन-तीन उच्चार भूमि एवं प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना नहीं करता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना (आत्म एवं संयम विराधना)—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः भिक्षु को उच्चार एवं प्रस्रवण के लिए चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना करनी चाहिए।^७

१. कोई भिक्षु अचानक रोगग्रस्त हो जाए या रोगी की सेवा में लगा हो।

२. राजद्वेष के कारण बाहर निकलना संभव न हो।

३. अटवी में सार्थ के साथ कहीं विकालवेला में पहुँचा हो।

४. अग्नि, जलप्लावन आदि की हड़बड़ी या भय के कारण व्युत्सर्ग-भूमि की प्रतिलेखना न कर पाए।

५. मासकल्प आदि के बाद पूर्व क्षेत्र से विहार किया और अन्य अनुकूल ग्राम में विकाल वेला में पहुँचा हो।

६. जो कुक्षि (गुदाशय) की कमजोरी के कारण प्रमाणयुक्त भूमि तक नहीं जा पाता, वह प्रस्तुत प्रसंग में असहिष्णु कहलाता है। इसी आधार पर कायिकी भूमि के भी दो प्रकार हो जाते हैं—अध्यासिका और अनध्यासिका।

७. असहिष्णु सापेक्ष छह निवेशन के अन्दर तीन (आसन्न, मध्य और दूर) तथा निवेशन के बाहर तीन (आसन्न, मध्य और दूर), इसी प्रकार छह सहिष्णु सापेक्ष, कुल बारह कायिकी भूमि और बारह प्रस्रवणभूमि।

१९८१. छक्कायाण विराधण, अहि-विच्छुग सण्ण मुत्तमादीसु।
वोसिरण निरोहेसुं, दोसा खलु संजमायाए ॥१८६२॥
१९८२. गेलण्ण रायदुट्ठे, अद्धाणे संभमे भएगतेर।
गामऽणुगामवियाले^१, 'अणुपत्ते वा'^२ न पडिलेहे ॥१८६३॥
१९८३. वित्थारायामेण^३, थंडिल्लं जं भवे रयणिमेत्तं।
चउरंगुलमोगाढं^४, जहण्णगं तं तु वित्थिण्णं ॥१८६४॥ नि ४५६ ॥
१९८४. एत्तो हीणतरागं, खुड्डुगं तं तु होति णातव्वं।
अतिरेगतं एत्तो, वित्थिण्णं तं तु णातव्वं ॥१८६५॥ नि ४५७ ॥
१९८५. पासवणुच्चारं वा, खुड्डुए थंडिलम्मि जो भिक्खू।
जइ वोसिरती पावति^५, आणा-अणवत्थमादीणि ॥१८६६॥ नि ४५८ ॥
१९८६. छक्कायाण विराधण, उभएणुपिलावणा^६ तसाणं च।
जीवित चक्खु विणासो, उभयनिरोधेण खुड्डुए ॥१८६७॥
१९८७. थंडिल्ल असति अद्धाण-रोधए संभमे भयाऽऽसण्णे।
दुब्बलगहणि^७ गिलाणे, वोसिरणं होति जतणाए ॥१८६८॥
१९८८. पासवणुच्चारं^८ वा, जो भिक्खू वोसिरेज्ज अविधीए।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१८६९॥ नि ४५९ ॥
१९८९. पडिलेहणा दिसाणं, पायाण पमज्जणा य कायदुवे।
भयणा छाया^९ दिसऽभिग्गहे^{१०} य जतणा इमा तत्थ ॥१८७०॥

१. गामाणुगामवियले (मु)।

२. असति व्व तत्तो (दे)।

३. सूत्र-१०४ (नव ४/११०)।

४. गुलोवगाढं (मु, भ)।

५. भिक्खू (भ)।

६. एणं पावणा (मु, भ)।

७. दुब्बलिं (क)।

८. सूत्र १०५ (नव ४/१११)।

९. छाया (दे)।

१०. दिसाभिं (दे)।

१९८१. जो भिक्षु तीन-तीन उच्चार प्रस्रवणभूमियों का प्रतिलेखन नहीं करता, उसके संयमविराधना एवं आत्मविराधना से सम्बन्धित ये दोष संभव हैं—षड्जीवनिकाय की विराधना सांप, बिच्छु आदि से डसा जाना, संज्ञा मूत्र आदि से उपधि विनाश और वेगनिरोध से होने वाले चक्षु-उपघात आदि।^१

१९८२. अपवाद पद में इन कारणों से तीन-तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियों की प्रतिलेखना न करने वाला भिक्षु शुद्ध है—१. ग्लान्य २. राजद्वेष ३. अटवी ४. संभ्रम ५. भय और ६. विकाल वेला में ग्रामानुग्राम—ग्राम आदि में प्रवेश।^२

१९८३. जो स्थंडिल एक रतनी (हाथ) प्रमाण लम्बाई चौड़ाई वाला तथा चार अंगुल अवगाढ^३ होता है, वह जघन्य विस्तीर्ण स्थंडिल कहलाता है।

१९८४. उपर्युक्त प्रमाण से हीन (कम) प्रमाण वाला स्थंडिल क्षुद्र स्थंडिल तथा उससे अधिक प्रमाण वाला स्थंडिल विस्तीर्ण स्थंडिल है—ऐसा जानना चाहिए।

१९८५, १९८६. जो भिक्षु क्षुद्रस्थंडिल में उच्चार एवं प्रस्रवण का विसर्जन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है। क्षुद्र स्थंडिल में उभय—कायिकी एवं संज्ञा के विसर्जन से छह कार्यों की विराधना हो सकती है। कायिकी (प्रस्रवण) से त्रस जीव—चींटी आदि प्लावित (प्रवाहित) हो सकते हैं। क्षुद्र स्थंडिल के दोषों से बचने हेतु यदि भिक्षु उच्चार एवं प्रस्रवण का निरोध करता है तो क्रमशः जीवन एवं चक्षु के विनाश का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

१९८७. अटवी अथवा नगररोध के कारण प्रमाणोपेत स्थंडिल न मिले, अग्नि आदि के संभ्रम अथवा चोर, श्वापद आदि के भय से प्रमाणोपेत स्थंडिल तक जाना संभव न हो, असहिष्णुता, रोग अथवा कुक्षि (गुदा) की कमजोरी के कारण प्रमाणोपेत स्थंडिल तक न जा सके तो भिक्षु यतनापूर्वक^४ क्षुद्रस्थंडिल में भी विसर्जन कर सकता है।

१९८८. जो भिक्षु अविधि से उच्चार या प्रस्रवण का विसर्जन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१९८९. उच्चारप्रस्रवण का परिष्ठापन करने में यह यतना है—१. परिष्ठापन स्थान में दिशाओं—ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक दिशा की प्रतिलेखना करे ताकि कोई गृहस्थ उसकी विधि आदि की निन्दा न करे। २. जहाँ विसर्जन करना हो, उस स्थान की तथा पैरों की प्रमार्जना करे ताकि सचित्त पृथ्वीकाय आदि पैरों पर लगे हों तो उनका विनाश न हो। ३. दोनों काय (त्रस एवं स्थावर) की रक्षा करे, इसमें दो प्रकार से चतुर्भंगी बनती है—(१. त्रस की रक्षा करता है, स्थावर की नहीं, २. स्थावर की रक्षा करता है त्रस की नहीं, ३. दोनों की रक्षा करता है और ४. दोनों की रक्षा नहीं करता।^५ दूसरी चतुर्भंगी—१. स्थंडिल, त्रस प्राणियों युक्त २. स्थंडिल, त्रस प्राणियों से रहित ३. अस्थंडिल, त्रस प्राणियों युक्त और ४. अस्थंडिल, त्रस प्राणियों से रहित।) विसर्जन करने के स्थान की छाया का ध्यान रखें। छाया एवं दिशा का सम्यग् अभिग्रहण करे।^६

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य निभा १९७६।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १९७८ के पादटिप्पण।

३. जिस स्थंडिल के चार अंगुल नीचे तक भूमि अचित्त हो, वह चार अंगुल अवगाढ होता है।

४. यतना—मल और मूत्र का भिन्न-भिन्न स्थान में विसर्जन करे या मूत्र मात्रक में विसर्जन करे।

५. यह चतुर्भंगी प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन के आधार पर है। जो प्रतिलेखन करता है, वह स्थावर की तथा जो प्रमार्जन करता है, वह त्रसकाय की रक्षा करता है।

६. दिन में उत्तर की ओर परिष्ठापन करे और रात्रि में दक्षिण की ओर परिष्ठापन करे। दिशा—पूर्व एवं उत्तर दिशा पूज्य मानी जाती है अतः इनमें पीठ कर न बैठे। निशाचरों के आवागमन के कारण रात में दक्षिण में पीठ न करें। पवन—वायुवेग की ओर पीठ करने से अशुभ गन्धद्रव्य नासिका में प्रविष्ट हो सकते हैं। सूर्य और ग्राम—इनकी ओर पीठ करने से लोक में अवज्ञा होती है। छाया—जिसकी कुक्षि में कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीव हों, वह धूप में मलोत्सर्ग न करे।

१९९०. दिसि^१ पवण गाम सूरिय, छायाएँ पमज्जिऊण तिकखुत्तो ।
जस्सुग्गहो त्ति कुज्जा, डगलादि पमज्जणा जतणा ॥ १८७१ ॥
१९९१. संका सागारद्दे, गरहमसंसत्त असति दोसे य ।
पंचसु वि पदेसेते, अवरपदा होंति णातव्वा ॥ १८७२ ॥
१९९२. उच्चारमायरित्ता^२, जे भिक्खु ण पुंछती अहिट्ठाणं ।
पुंछेज्ज व अविधीए, सो पावति आणमादीणि ॥ १८७३ ॥ नि ४६० ॥
१९९३. लित्थारणा^३ दवेणं, 'जुत्तमजुत्तेण पावणा'^४ दोसा ।
संजम-आय-विराधण, अविधीए पुंछणे दोसा ॥ १८७४ ॥
१९९४. कट्ठेण कलिंचेण^५ व, पत्त-सलागाएँ अंगुलीए वा ।
एसा अविधी भणिता, डगलगमादी विधी तिविधा ॥ १८७५ ॥
१९९५. तम्हा पुव्वादाणं, कारुणं डगलगण छड्डेज्जा ।
उत्थाणोसधपाणे, असती व न कुज्ज आदाणं ॥ १८७६ ॥
१९९६. उच्चार^६ वोसिरित्ता, जे भिक्खू णेव आयमेज्जाहि ।
दूरे आसण्णे^७ वा, सो पावति आणमादीणि ॥ १८७७ ॥ नि ४६१ ॥
१९९७. अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा ।
दोसा अणायमंते, दूराऽऽसण्णायमंता य ॥ १८७८ ॥
१९९८. उत्थाणोसधपाणे, दव असतीए व णायमेज्जाहि ।
थंडिल्लस्स व असती, आसण्णे वावि दूरे वा ॥ १८७९ ॥

१. दिस (भ) ।

२. सूत्र-१०६, १०७ (नव ४/११२, ११३) ।

३. °रणं (भ) ।

४. °त्तेणुब्भावणा (भ) ।

५. किलिं (मु) ।

६. सूत्र १०८-१० (नव ४/११४-११६) ।

७. वाऽऽसण्णे (मु) ।

१९९०. भिक्षु छाया में तीन बार स्थान आदि का प्रमार्जन कर दिशा, पवन, गांव एवं सूर्य से अविपरीत स्थान में, अणुजाणह जस्स उग्गहं—इत्यादि अनुज्ञा पूर्वक उच्चार प्रस्रवण का विसर्जन करे तथा विसर्जन के पश्चात् ढेले, वस्त्र आदि से यतनापूर्वक प्रमार्जन करे।

१९९१. उपर्युक्त पांचों पदों में क्रमशः ये अपरपद (अपवादपद) ज्ञातव्य हैं—१. शंका—जिस गांव में चोर, जासूस आदि का भय हो और ऊर्ध्व आदि दिशाओं का अवलोकन करने से लोग शंका करें, वहां दिशावलोकन न करे। २. जहाँ गृहस्थ देख रहे हों, वहाँ पैरों का प्रमार्जन न करे। स्थंडिल गीला हो अथवा गर्हणीय हो, वहाँ स्थंडिल का प्रमार्जन न करे। ३. जिसकी कुक्षि संसक्त न हो—पेट में कीड़े, कच्छु आदि न हों, वह छाया में विसर्जन न करे, आतप में करे। ४. जहाँ उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं में किसी दोष की संभावना न हो, वहाँ दिशाभिग्रह अपेक्षित नहीं। जहाँ लोग दोष न मानते हों, वहाँ दिशाभिग्रह अपेक्षित नहीं और ग्राम, सूर्य आदि की अविपरीतता का ध्यान रखना भी आवश्यक नहीं। ५. (पक्षी आदि की भांति) वृत्तसंज्ञा वाला मुनि ढेले आदि से प्रमार्जन न करे, तब भी शुद्ध है।

१९९२. जो भिक्षु उच्चार का विसर्जन कर अधिष्ठान (मलद्वार) को नहीं पोंछता है अथवा काष्ठ, किलिंच आदि से अविधिपूर्वक पोंछता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१९९३. मल से लिप्त गुदाशय युक्त (अल्प) द्रव से शुद्ध नहीं हो पाता और अयुक्त (बहुत) जल से धोया जाए तो प्लावन आदि दोष हो जाएंगे। यदि अविधि से उस स्थान का प्रमार्जन किया जाए तो चिह्न युक्त काष्ठ, खपाची आदि से आत्मविराधना हो सकती है तथा यदि उनमें काई, धुण आदि हों तो संयमविराधना होगी अतः मलाशय का विधिपूर्वक प्रमार्जन करना चाहिए।

१९९४. काष्ठ, खपाची (वंशकर्परी), पत्र (पलाश का पत्ता), शलाका (काष्ठ-शलाका) और अंगुली से मलद्वार का शोधन करना—यह अविधि कही गई है। ढेले, वस्त्रखंड आदि से शोधन करना विधि है। उन (भूमि से असंबद्ध ढेले आदि) के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—ये तीन प्रकार हैं।^१

१९९५. अतः पहले ढेले आदि को ग्रहण करके मल का विसर्जन करे। यदि भिक्षु अतिसार^२ पीड़ित हो, औषध-पान करके आया हो अथवा उस स्थंडिल में ढेले आदि का अभाव हो तो पूर्वोक्त प्रमार्जन विधि का आचरण न करने पर भी शुद्ध है।

१९९६. जो भिक्षु मल का विसर्जन कर मलद्वार का प्रक्षालन नहीं करता, अत्यधिक दूर (सौ हाथ की दूरी पर) अथवा अत्यधिक निकट आचमन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१९९७. १. अपयश २. प्रवचनहानि ३. विपरिणमन और ४. जुगुप्सा^३—जो भिक्षु आचमन नहीं करता, अत्यधिक दूर या अत्यधिक निकट आचमन करता है, वह इन दोषों को प्राप्त होता है।^४

१९९८. यदि भिक्षु अतिसार से पीड़ित हो, कोई औषध पीकर आया हुआ हो अथवा पानी का या उपयुक्त स्थंडिल का अभाव हो तो मलोत्सर्ग के बाद आचमन न करने या अत्यधिक दूर या निकट करने पर भी शुद्ध है।

१. ढेले दो प्रकार के होते हैं—भूमि से संबद्ध और असंबद्ध। असंबद्ध ढेले के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट—उपल, मध्यम—चिकने लेष्टु और जघन्य—ईंट के टुकड़े।

२. निभा २ चू. पृ. ३०१, उत्थाणं—अतिसारो।

३. भिक्षु मलोत्सर्ग करके जल से शुचि नहीं करता तो लोगों में उसका 'ये अशुचि हैं'—इस प्रकार अपयश होता है। फलतः कोई उनके संघ में दीक्षित नहीं होता, जिससे प्रवचन की हानि होती है। जो लोग उनसे दर्शन (सम्यक्त्व) या चारित्र ग्रहण

करना चाहते हैं उनका भाव बदल जाता है। शैक्ष आदि को अन्य लोग उनके संस्पर्श से रोकते हैं, उनसे घृणा करते हैं।

४. जो अत्यधिक दूरी पर जाकर आचमन करता है, उसे देखकर गृहस्थ यही सोचता है कि यह मलोत्सर्ग करके चला गया, पानी का प्रयोग नहीं किया, इसका अर्थ है ये लोग आचमन नहीं करते। इसी प्रकार जहाँ मलोत्सर्ग किया, वहाँ आचमन करे तो गृहस्थ उसे मूत्र समझकर वे ही दोष देगा, जो आचमन न करने वाले को देता है।

१९९९. उच्चारमायरित्ता^१, परेण तिण्हं तु णावपूरेणं।
जे भिक्खू आयमती, सो पावति आणमादीणि ॥१८८०॥ नि ४६२ ॥
२०००. उच्छोलऽणुप्पिलावण, पडणं तस-पाण तरुणादीणं।
कुरुकुयदोसा य पुणो, परेण तिण्हायमंतस्स ॥१८८१॥
२००१. बितियपद सेह रोधग, अरिसा सागार सोयवादीसु।
उत्थाणोसधपाणे, परेण तिण्हायमेज्जासि ॥१८८२॥
२००२. कंटगमादीसु^२ जहा, आदिकडिल्ले तहा जयंतस्स।
अवसं छलणाऽऽल्लोयण, ठवणा^३ जुत्ते य वोसग्गे^४ ॥१८८३॥
२००३. नाणादि तिगकडिल्लं, उग्गम-उप्पादणेसणा वावि।
आहारोवधि-सेज्जा, पिंडादी चतुव्विधं वावि ॥१८८४॥
२००४. ठवणाए^५ पच्छित्तं, णात समत्थो य होति गीतो य।
आवण्णो वा जुत्तो, संघतण-धितीए^६ जुत्तो वा ॥१८८५॥
२००५. एस तवं पडिवज्जति, न किंचि आलवति मा ण आलवहा।
अत्तट्टुचिंतगस्सा, वाघातो भे न कातव्वो^७ ॥१८८६॥
२००६. आलवणं पडिपुच्छणं^८, परियट्टुट्टाण वंदणग मत्ते।
पडिलेहण-संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव^९ ॥१८८७॥ नि ४६३ ॥
२००७. संघाडगो उ 'जाव तु'^{१०}, लहुगो मासो^{११} दसण्ह उ पदानं^{१२}।
लहुगा य भत्तदाणे, संभुंजण होंतऽणुग्घाता^{१३} ॥१८८८॥ नि ४६४ ॥

१. सूत्र-१११ (नव ४/११७)।

२. सूत्र-११२ (नव ४/११८)।

३. मुद्रित भाष्य तथा प्रतियों में ठवणाणाते पाठ मिलता है, लेकिन छंद की दृष्टि से णाते पाठ अतिरिक्त है। बृहत्कल्पभाष्य (५५९६) में भी णाते पाठ नहीं मिलता है।

४. बृभा की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है।

५. णा तू (भ, मु), ठवणे त्ति सव्वसाधूहिं समाणं पच्छित्तठवणा ठविज्जति (चू)।

६. बृभा ५५९७, जीभा २४४०।

७. × (क)।

८. बृभा ५५९८, जीभा २४४२, गाथा के उत्तरार्ध में छंदभंग है। छंद की दृष्टि से 'संभुंजणा' के स्थान पर 'भुंजणा' पाठ होना चाहिए।

९. जावं (मु, दे)।

१०. जो तु (दे), जा उ (मु)।

११. जीभा (२४४३) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है— जा संघाडो ताव तु, लहुगो मासो तु होति गच्छस्स।

१२. बृभा ५५९९।

१९९९. जो भिक्षु मल का विसर्जन कर तीन चुल्लू प्रमाण^१ से अधिक जल से आचमन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०००. तीन चुल्लू से अधिक जल से आचमन करने वाला भिक्षु उच्छोलणा दोषों—प्रभूत जल से प्रक्षालन करने के दोष—दुर्गति आदि को प्राप्त होता है।^२ उस जल से चींटी आदि जीवों का उत्प्लावन हो सकता है, बिल आदि में जल इकट्ठा हो जाए तो त्रस प्राणियों तथा वृक्ष आदि के पत्तों, फूलों आदि के पड़ने की संभावना रहती है। पांव का प्रक्षालन करने से बाकुशिकत्व आदि दोष होते हैं।

२००१. द्वितीयपद (अपवाद) में तीन चुल्लू से अधिक जल से भी आचमन किया जा सकता है अथवा जितने पानी से निर्ग्रन्थ निर्लेप हो सकता है, उतने पानी का प्रयोग किया जा सकता है। शैक्ष, नगररोध आदि के समय, अर्श आदि से पीड़ित मुनि, शौचवादी गृहस्थों के सामने रहने पर, कोई रोग (अतिसार आदि) से पीड़ित मुनि या कोई रेचक औषधि पीकर आने वाला मुनि यदि पानी पर्याप्त हो तो तीन चुल्लू से अधिक से भी निर्लेप कर सकता है।

२००२. जिस प्रकार उपयोग पूर्वक चलने हुए भी कंटकाकीर्ण मार्ग, विषम स्थान आदि में व्यक्ति स्वखलित हो सकता है, वैसे ही एषणा तथा रत्नत्रयी^३ में यतना रखते हुए भी मुनि के स्वखलना अवश्यंभावी है। स्वखलना होने पर आलोचना देनी चाहिए। उसके लिए सब साधुओं के समक्ष स्थापना की जाती है, संहनन एवं धृति से युक्त तथा गीतार्थ मुनि को परिहारतप का प्रायश्चित्त दिया जाता है तथा मंगल के लिए कायोत्सर्ग पूर्वक उसे प्रायश्चित्त में स्थापित किया जाता है।^४

२००३. साधना के क्षेत्र में ये त्रिपदियां कंटकाकीर्ण मानी गई हैं—१. ज्ञानादि त्रिक—ज्ञान, दर्शन और चरित्र अथवा एषणात्रिक—उद्गम, उत्पादन और एषणा। अथवा अन्य त्रिपदी इस प्रकार है—आहार, उपधि और शय्या। अथवा आहार चार प्रकार का होता है—अशन, पान, खादिम और स्वादिम। (इन ज्ञानादि त्रिक आदि के विषय में उद्युक्त मुनि के भी स्वखलना संभव है अतः इन्हें आदि कडिल्ल—आद्यगहन माना गया है।)

२००४. स्थापना का अर्थ है—प्रायश्चित्त हेतु सब साधुओं के समक्ष पारिहारिक भिक्षु को स्थापित करना। ज्ञात का अर्थ है समर्थ या गीतार्थ। युक्त का अर्थ है—आपन्न—प्रायश्चित्त प्राप्त अथवा संहनन एवं धृति से युक्त मुनि।

२००५. कायोत्सर्ग के समय आचार्य सब साधुओं को सूचित करते हैं—यह (भिक्षु)परिहारतप स्वीकार कर रहा है। यह आप लोगों के साथ कोई बात नहीं करेगा। आप लोग भी इसके साथ बात न करें। आत्मार्थ के लिए चिन्तन करने वाले इस मुनि के लिए आप लोगों को कोई व्याघात नहीं करना चाहिए।

२००६. व्याघात के कारण हैं—१. आलपन (बातचीत) २. प्रतिपृच्छा ३. परिवर्तना ४. उत्थान (आने पर उठना) ५. वंदन ६. मात्रक देना ७. प्रतिलेखना ८. संघाटक (भिक्षा आदि में साथ देना या लेना) ९. भक्तदान (आहारादि देना) और १०. एकमंडली में आहार करना।

२००७. पारिहारिक भिक्षु के साथ पूर्वोक्त दस पदों में से संघाटक पर्यन्त आठ पदों का समाचरण करने वाले मुनि को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, भक्तदान करने वाले को चतुर्लघु तथा एक मंडली में आहार करने वाले मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. णावापूरय चुल्लूक, चुल्लू।

२. दसवे ४।२६—उच्छोलणापहोइस्स, दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।

३. (क) निभा २ चू. पृ. ३०३—एवं कंटगस्थानीयं आइकडिल्लं।

(ख) बुभा. ५५९६—एवं कंटकादिस्थानीयमादिकडिल्लं—आद्यगहनम्।

४. कडिल्लं के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—निभा २००३।

२००८. सुत्तणिवातो एत्थं, णातव्वो आदिमट्टसु पदेसु।
एतेसामण्णतरं, सेवंताऽऽणादिणो दोसा ॥१८८९॥ नि ४६५ ॥
२००९. विपुलं च अण्णपाणं^१, दट्टुणं साधुवज्जणं चैव।
णारुण तस्स भावं, संघाडं देति आयरिया ॥१८९०॥
२०१०. देहस्स तु दोब्बल्लं, भावो ईसिं च तप्पडीबंधो^२।
अगिलाइ सोधिकरणेण वावि पावं पहीणं से^३ ॥१८९१॥
२०११. आगंतु एतरो वा, भावं अतिसेसिओ 'व से जाणे'^४।
हेतूहि वा स भावं, जाणित्ता अणतिसेसी वि ॥१८९२॥
२०१२. भत्तं वा पाणं वा, ण देति 'परिहारियस्स न'^५ करेति।
कारण उट्टवणादी^६, चोदग गोणीय दिट्ठंतो^७ ॥१८९३॥
२०१३. एवं तु असढभावो^८, विरियायारो य होति^९ अणुचिण्णो।
भयजणणं सेसाणं^{१०}, तवो य सप्पुरिसचरितं च ॥१८९४॥

चउत्थो उहेसो सम्मत्तो

२०१४. परिहारतवकिलंतो, रुक्खमधिट्टाणमादि चिंतंतो।
अभिघातिमरक्खट्टा, पलोयए एस संबंधो^{११} ॥१८९५॥ नि ४६६ ॥
२०१५. सच्चित्तरुक्खमूलं^{१२}, खंधातो जाव रयणिमेत्तं तु।
तेण परं अच्चित्तं, सुत्तणिवातो उ सच्चित्ते ॥१८९६॥ नि ४६७ ॥
२०१६. सपरिग्गहं व^{१३} अपरिग्गहं च एक्केक्कगं भवे दुविधं।
सपरिग्गहं चतुद्धा, दिव्व-मणुय-तिरिक्ख-मीसं च^{१४} ॥१८९७॥

१. भत्तपा° (बृभा ५६०२)।

२. °डीबद्धो (दे)।

३. बृभा ५६०४।

४. से जाणिज्जा (मु, भ, बृभा ५६०५)।

५. परिहारियस्सिमं (मु)।

६. उवट्टाणादी (क)।

७. बृभा ५६०७।

८. °ढसभावो (भ)।

९. होंति (दे)।

१०. °साण य (दे, बृभा ५६१०)।

११. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'इदानीं उद्देशकस्स उद्देशकेन सह संबंधं वक्तुकामो आचार्यः भद्रबाहुस्वामी निर्युक्तिगाथामाह' का उल्लेख किया है।

१२. सूत्र १ (नव ५/१), रुक् पृथिवी तं खातीति रुक्खो (चू)।

१३. × (मु, भ)।

१४. व (क), वा (पा)।

२००८. यहां सूत्र का संबंध प्रथम आठ पदों में है—ऐसा ज्ञातव्य है। इनमें से किसी पद का समाचरण (सेवन) करने वाला मुनि आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२००९. जब संखड़ी (जीमनवार) या पर्व आदि में भिक्षुओं को पर्याप्त अन्नपान उपलब्ध होता है, पारिहारिक भिक्षु का भी उस विशिष्ट आहार के प्रति अभिलाषात्मक भाव होता है और अन्य साधु उसे अपने साथ ले जाने का वर्जन कर देते हैं, ऐसा देखकर आचार्य उसे संघाटक प्रदान करते हैं।

२०१०. जब पारिहारिक तप करते-करते भिक्षु का देह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और आचार्य अपने ज्ञान के अतिशय अथवा उसके आकार आदि से उस विपुल अशन, पान आदि के प्रति तपस्वी भिक्षु का ईषत् प्रतिबन्ध (रागात्मक भाव, अभिलाषा) देखते हैं, साथ ही वे देखते हैं कि एक बार पर्याप्त अशन, विगय आदि खाने के बाद यह उत्साह पूर्वक प्रायश्चित्त-तप का वहन कर सकेगा या अब उसका अतिचार हेतुक पाप क्षीणप्रायः हो चुका है—इत्यादि परिस्थितियों में भी आचार्य उसे संघाटक प्रदान करते हैं।

२०११. आचार्य चाहे आगन्तुक है या वास्तव्य, वह ज्ञानातिशय सम्पन्न हो तो अपने ज्ञान से और ज्ञान से अनतिशायी हो तो हेतुओं से, तपस्वी मुनि के भाव को जानकर परिहार तप करने वाले मुनि को संघाटक देता है।

२०१२. यदि विशेष कारण न हो तो अनुपारिहारिक मुनि पारिहारिक मुनि को भक्तपान लाकर नहीं देता, पर उसकी शक्ति क्षीण हो जाए, वह उठ न पाए, प्रतिलेखना न कर पाए तो उसे उठाता है, हाथ पकड़कर प्रतिलेखना करवाता है। इस प्रकार जो-जो वह कर पाता है कर लेता है, नहीं कर पाता उसमें उसका सहयोग कर देता है।

प्रश्नकर्ता—ऐसा क्या प्रायश्चित्त कि ऐसी अवस्था में भी उसे आहार लाकर नहीं दिया जाता ?

आचार्य—इसे गाय के दृष्टान्त से समझो—नवीन प्रावृत् मे जो गाय उठ नहीं पाती, ग्वाला उसे उठाता है, जो अटवी नहीं जा पाती, उसे घर लाकर चारा खिलाता है। इसी प्रकार जो पारिहारिक मुनि जितना कर पाता है, उतना कार्य उससे करवाया जाता है और जो कार्य नहीं कर पाता, उसमें उसे सहयोग दिया जाता है।

२०१३. इस प्रकार (पारिहारिक मुनि के यथासम्भव स्वावलम्बी जीवनचर्या से) अशठभाव का आचरण होता है, वीर्याचार का अनुपालन होता है। शेष साधुओं के मन में दुष्कृत के प्रति भय का भाव पैदा होता है कि हमें भी दुष्कृत का आचरण करने पर इसी प्रकार परिहारतप का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। परिहारतप वाले भिक्षु के द्वारा तप एवं सत्पुरुषों के चरित्र का अनुपालन होता है।

चौथा उद्देशक समाप्त

२०१४. परिहार तप से क्लान्त मुनि कदाचित् वृक्ष के नीचे स्थान, निषीदन (खड़ा होना, बैठना) आदि क्रियाएँ कर लेता है और लकड़ी आदि के अभिघात से बचने के लिए ऊपर देखता है—यह पूर्व सूत्र (सूत्र ४।११२) से प्रस्तुत सूत्र (५।१) की संबंध समायोजना है।

२०१५. वह सचित्त वृक्ष, जिसका स्कन्ध हाथी के पद प्रमाण (पैर जितना) मोटा हो, उसके चारों ओर रतनीप्रमाण (एक हाथ प्रमित) भूमि सचित्त होती है। उसके परे भूमि अचित्त होती है। प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध सचित्त भूमि से है।

२०१६. सचित्त और अचित्त दोनों ही भूभाग के दो-दो प्रकार होते हैं—सपरिगृहीत और अपरिगृहीत। सपरिगृहीत भू-भाग चार प्रकार का होता है—१. देवपरिगृहीत २. मनुष्यपरिगृहीत ३. तिर्यचपरिगृहीत और ४. मिश्रपरिगृहीत।^१

१. मिश्रपरिगृहीत के चार विकल्प हैं—तीन द्विकसंयोगी-देव मनुष्य, देव तिर्यच और मनुष्य तिर्यच तथा एक त्रिक संयोगी-देव मनुष्य और तिर्यच परिगृहीत।

२०१७. एक्केक्कं तं दुविधं, पंतग-भदेहि होति नातव्वं।
गुरुगा गुरुगो लहुगा, लहुगो पढमम्मि दोहि गुरू ॥१८९८ ॥
२०१८. एतं तु परिग्गहितं, तव्विवरीतमपरिग्गहं होति।
सच्चित्तरुक्खमूलं, हत्थिपदपमाणतो हत्थं ॥ १८९९ ॥
२०१९. ति-परिग्गह मीसं वा, पंते अंतो गुरुगा बहिं गुरुगो।
भदेसु यं ते लहुगा^१, अपरिग्गह मास भिण्णो य ॥ १९०० ॥
२०२०. पंत-सुर-परिग्गहिते, चतुगुरु अंतो बहिं तु मासगुरू।
भदे वा ते लहुगा, नर-तिरिय परिग्गहे चेव^२ ॥ १९०१ ॥
२०२१. एवं^३ चिय पच्छित्तं, 'दुगादिसंजोग जा'^४ लता चउरो।
अपरिग्गह तरुहेट्टा^५, मासो भिण्णो य अंतं^६ बहिं ॥ १९०२ ॥
२०२२. एक्केक्कपदा आणा, पंता खेत्तादि चउण्हमण्णतरं^७।
नर-तिरिय^८ गेण्हणाहण, अपरिग्गह^९ संजमायाए ॥ १९०३ ॥
२०२३. हत्थादिपादघट्टण, सहसाऽवत्थंभ अहवऽणाभोगा।
गाउम्हा उस्सासो, खेलादिविगिंचणे जं च ॥ १९०४ ॥
२०२४. अट्ठिं च^{१०} दारुगादी, सउणग-परिहार-पुप्फ-फलमादी^{११}।
जीवोवघात देवत, तिरिक्ख मणुया भवे दुट्टा ॥ १९०५ ॥
२०२५. बितियपदं गेलण्णे, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि।
रायदुट्ट^{१२} भए वा, जतणाय पलोयणादीणि ॥ १९०६ ॥

१. तु (दे)।

२. × (दे)।

३. चेवं (मु, भ)।

४. एतं (मु)।

५. 'गतो (भ)।

६. तसहेट्टा (क)।

७. अंतो (भ), अंतु (क)।

८. 'ण्हवण्ण' (भ)।

९. तिरि (मु), तिरितो (दे)।

१०. परिग्गहे (दे, पा)।

११. व (मु)।

१२. 'मादि (भ)।

१३. रायादुं (भ, पा)।

२०१७. उनके पुनः दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. प्रान्त (क्रूर) परिगृहीत और २. भद्र परिगृहीत। इनमें क्रमशः प्रान्त परिगृहीत भूमि चाहे वह प्रान्त देवता से परिगृहीत हो या प्रान्त मनुष्य आदि से, प्रत्येक अवस्था में उस रतनीप्रमाण भूमि के अन्दर आलोकन, प्रलोकन आदि क्रियाएँ करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वही यदि भद्रदेवता, मनुष्य आदि से परिगृहीत भू-भाग हो तो रतनीप्रमाण भूमि के अन्दर आलोकन, प्रलोकन आदि करने वाले मुनि को मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इन्हीं दोनों प्रान्त और भद्र परिगृहीत विकल्पों में रतनीप्रमाण भूमि के बाहर आलोकन, प्रलोकन आदि करने वाले मुनि को क्रमशः चतुर्लघु और मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इनमें प्रथम अर्थात् देवपरिगृहीत के विषय में प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु, मनुष्य में तपगुरु और तिर्यच में कालगुरु होता है।

२०१८. उपर्युक्त सारा विवेचन सपरिगृहीत विषयक है, इससे विपरीत को अपरिगृहीत कहा जाता है। हस्तपद प्रमाण भूमि से एक हाथ तक की भूमि सचित्त वृक्षमूल है अर्थात् हस्तपद प्रमित स्कन्ध वाले वृक्ष के सब ओर एक हाथ तक की भूमि को सचित्त वृक्षमूल मानना चाहिए।

२०१९. अथवा देव, मनुष्य और तिर्यच—इनमें से दो या तीनों से परिगृहीत मिश्रपरिगृहीत है। इसमें यदि कोई वृक्षमूल देव और मनुष्य से परिगृहीत हों और वे प्रान्त प्रकृति वाले हों तो रतनीप्रमाण भूमि के अन्दर आलोकन आदि क्रिया करने पर चतुर्गुरु तथा उसके बहिर्भाग में स्थानादि करने पर मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वे देव या मनुष्य भद्र प्रकृति वाले हों तो उपर्युक्त विकल्पों में क्रमशः चतुर्लघु और मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०२०. प्रान्तसुर परिगृहीत वृक्षमूल में स्थान आदि करने पर चतुर्गुरु तथा हाथ प्रमाण भूमि से बाहर स्थान आदि करने पर मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भद्रसुर विषयक इन्हीं दो विकल्पों में क्रमशः चतुर्लघु और मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मनुष्य परिगृहीत और तिर्यच परिगृहीत के विषय में भी यही प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।

२०२१. द्विक संयोग—देव मनुष्य, देव तिर्यच आदि में भी यही प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है। अपरिगृहीत वृक्षमूल के अन्दर स्थान आदि करने पर मासलघु और बाहर स्थान आदि करने पर भिन्नमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०२२. सपरिगृहीत और अपरिगृहीत विषयक उपर्युक्त प्रत्येक विकल्प में आज्ञा, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। यदि वह वृक्षमूल प्रान्तदेवता से परिगृहीत हो तो वहाँ स्थान, निषीदन आदि से क्रुद्ध होकर वह मुनि को क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट और उन्माद प्राप्त—इन चारों में से कुछ भी कर सकता है। यदि वह वृक्षमूल किसी प्रान्तमनुष्य अथवा प्रान्त तिर्यच से परिगृहीत है तो वे उसे क्रमशः ग्रहण (बन्दी बनाना), आहनन आदि से कष्ट प्रदान कर सकते हैं। यदि वृक्षमूल अपरिगृहीत हो तो आत्म विराधना, संयमविराधना आदि दोष प्राप्त हो सकते हैं।

२०२३. संयम विराधना—वृक्षमूल में आलोकन, प्रलोकन आदि क्रिया करने वाले मुनि के हाथ, पैर आदि के संचालन, अचानक या अनाभोग से सहारा लेने से वनस्पतिकाय आदि की विराधना हो सकती है। मुनि के शरीर की ऊष्मा, उच्छ्वास की गर्मी तथा क्ष्वेड, मैल आदि के परिष्ठापन से स्कन्ध (वृक्षस्कन्ध) आदि के जीवों को पीड़ा पहुँच सकती है।

२०२४. आत्मविराधना—वृक्षमूल में आलोकन आदि करने वाले मुनि के ऊपर फल की गुट्टी, लकड़ी आदि गिर सकती है, वह कौए आदि की बीट से लिस हो सकता है, पुष्प, फल आदि के जीवों का उपघात (पुष्प, फल आदि के द्वारा स्वयं का जीवोपघात) हो सकता है, वहाँ कोई दुष्ट देवता, मनुष्य अथवा तिर्यच मुनि को चोट आदि पहुँचा सकता है।

२०२५. अपवाद में मुनि यतनापूर्वक वृक्षमूल में खड़ा रहकर, जिन कारणों में प्रलोकन आदि कर सकता है वे हैं—१. ग्लान्य (रोग) २. अटवी ३. अवम ४. राजद्वेष और ५. भय।

२०२६. 'रायदुट्ट-भएसुं'^१, दुरूहणा होज्ज छादणट्टाए।
अहवा वि पलंबट्टा, सेसे छायां पलंबट्टा ॥ १९०७ ॥
२०२७. अपरिग्गहिते बाहिं, भद्ग पंते वऽणुणवित बाहिं।
'अपरिग्गहं तु'^२ भद्दे^३, अंतो पंते ततो अंतो ॥ १९०८ ॥
२०२८. सच्चित्तरुक्खमूले^४, ठाण-निसीदण-तुयट्टणं वावि।
जे भिक्खू चेतैई^५, सो पावति आणमादीणि ॥ १९०९ ॥ नि ४६८ ॥
२०२९. हत्थादि-पादघट्टण, सहसाऽवत्थंभ अहवऽणाभोगा।
गाउम्हा उस्सासे, खेलादिविगिंचणा जं च ॥ १९१० ॥
२०३०. अट्ठिं च दारुगादी, सउणगपरिहार पुप्फ-फलमादी।
जीवोवघात देवत, तिरिक्ख-मणुया भवे दुट्टा ॥ १९११ ॥
२०३१. असिवोम-दुट्ट-रोधग, गेलण्णऽद्धाण संभम-भए वा।
वसही 'वाघातेण य'^६, असती जतणा य जा जत्थ^७ ॥ १९१२ ॥
२०३२. रायदुट्ट^८ भए वा, दुरूहणा होज्ज छादणट्टाए।
अहवावि पलंबट्टा, सेसे ठाही^९ पलंबट्टा ॥ १९१३ ॥
२०३३. इत्थी नपुंसगो वा, खंधारो आगतो त्ति निग्गमणं।
सावय मक्कोडग तेण वालमसगाऽयगरें साणे ॥ १९१४ ॥
२०३४. अपरिग्गहम्मि^{१०} बाहिं, भद्ग-पंते वऽणुणवित बाहिं।
'अपरिग्गहं तु'^{११} भद्दे, अंतो पंते ततो अंतो ॥ १९१५ ॥

१. रायदु^० (दे)।

२. °ग्गहितो (भ)।

३. भद्दे वि (पा)।

४. सूत्र २ (नव ५/२)।

५. चेतीते (पा)।

६. °तेणं (दे)।

७. भ प्रति में यह गाथा २०३३ गाथा के बाद है।

८. रायदु^० (भ)।

९. छाया (दे)।

१०. अपडिग्ग^० (दे)।

११. °ग्गहंतो (भ, मु)।

२०२६. राजद्वेष तथा म्लेच्छ आदि के भय से मुनि अपने आप को छिपाने हेतु, वृक्ष पर आरोहण करने हेतु अथवा इन्हीं परिस्थितियों में आहार की प्राप्ति न होने पर फल आदि लेने के लिए वृक्ष का आलोकन, प्रलोकन कर सकता है। शेष ग्लान आदि द्वारों में भी प्रलम्ब आदि के लिए प्रलोकन का प्रसंग आ सकता है। ग्लान को अन्यत्र ले जाते समय छाया में विश्राम करने हेतु वृक्ष का प्रलोकन कर सकता है।

२०२७. यदि उपर्युक्त अपवादों में वृक्ष का आलोकन आदि करना हो या स्थान आदि करना हो तो सर्वप्रथम अपरिगृहीत वृक्षमूल में रतनीप्रमाण भूमि से बाहर रहे। यदि वह न हो तो भद्रपरिगृहीत में अनुज्ञा लेकर उक्त प्रमाण भूमि से बाहर रहे। वह न मिले तो क्रमशः अपरिगृहीत के अन्दर, भद्रपरिगृहीत के अन्दर और अन्ततः प्रान्त परिगृहीत के अन्दर अनुज्ञा प्राप्त कर रहे।

२०२८. जो भिक्षु सचित्त वृक्षमूल में खड़ा रहता है, बैठता है या सोता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०२९. संयमविराधना—वृक्षमूल में खड़ा रहने, बैठने आदि से मुनि के हाथ पैर आदि के संचालन, अचानक या अनाभोग से सहारा लेने से वनस्पतिकाय आदि की विराधना हो सकती है। मुनि के शरीर की ऊष्मा, उच्छ्वास की गर्मी तथा क्ष्वेड, मैल आदि के परिष्ठापन से वृक्षस्कन्ध आदि के जीवों को पीड़ा पहुँच सकती है।

२०३०. आत्मविराधना—वृक्षमूल में खड़ा रहने, बैठने आदि से मुनि के ऊपर फल की गुट्टी, लकड़ी आदि गिर सकती है, वह कौए आदि की बीट से लिप्त हो सकता है, पुष्प, फल आदि के जीवों का उपघात (पुष्प, फल आदि से स्वयं का जीवोपघात) हो सकता है। वहाँ कोई दुष्ट देवता, मनुष्य अथवा तिर्यच मुनि को चोट आदि पहुँचा सकता है।

२०३१. १. अशिव २. अवम ३. राजद्वेष ४. नगरोध ५. ग्लान्य ६. अटवी ७. संभ्रम (हड़बड़ी) ८. भय और ९. वसति-व्याघात के कारण यदि कोई अन्य स्थान न मिले तो भिक्षु जहाँ जो यतना करणीय है, वहाँ उस यतना के साथ वृक्षमूल में बैठ सकता है, खड़ा रह सकता है और सो सकता है।

२०३२. राजद्वेष और म्लेच्छ आदि के भय से मुनि अपने आप को छिपाने के लिए अथवा इन्हीं परिस्थितियों में आहार की प्राप्ति न होने पर फल आदि लेने के लिए सचित्त वृक्षमूल में खड़ा रह सकता है, बैठ सकता है अथवा सो सकता है। शेष ग्लान आदि द्वारों में भी प्रलम्ब आदि के लिए सचित्त वृक्षमूल में ठहर सकता है, ग्लान को अन्यत्र ले जाते समय विश्राम करने हेतु भी सचित्त वृक्ष के निकट में बैठ या सो सकता है।

२०३३. वसति व्याघात—गांव के बाहर जहाँ शून्यगृह आदि में भिक्षु ठहरे हुए हों, वहाँ कोई स्त्री या नपुसंक उपसर्ग करने लगे, कोई सेना पड़ाव डाल दे इसलिए निर्गमन करना पड़े अथवा कोई चीता आदि श्वापद आ जाए, मकोड़े या चोरों का उपद्रव हो, कोई व्याल—सर्प आ जाए, मच्छरों या अजगर का उपद्रव हो जाए, कोई कुत्ता आदि पात्र का अपहरण कर रहा हो, इत्यादि कारणों से पूर्व वसति से निर्गमन करना पड़े तथा अन्य वसति न मिले तो सचित्त वृक्षमूल में बैठ सकता है, सो सकता है।

२०३४. यदि उपर्युक्त अपवादों में सचित्त वृक्षमूल में स्थान, निषीदन आदि क्रियाएँ करनी हो तो सर्वप्रथम अपरिगृहीत वृक्षमूल में रतनीप्रमाण भूमि से बाहर रहें। यदि वैसा वृक्ष न हो तो भद्रपरिगृहीत में अनुज्ञा लेकर उक्त प्रमाण भूमि से बाहर रहे। उसके अभाव में प्रान्तपरिगृहीत वृक्षमूल में उक्तप्रमाण भूमि से बाहर उसकी अनुज्ञा लेकर रहे। वह भी न मिले तो क्रमशः अपरिगृहीत के अन्दर, भद्रपरिगृहीत के अन्दर और अन्ततः प्रान्त परिगृहीत वृक्ष के उक्त प्रमाण भूमि के अन्दर अनुज्ञा प्राप्त करके रहे।

२०३५. सच्चित्तरुक्खमूले^१, असणादी 'जो तु भुंजते'^२ भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे^३ ॥ १९१६ ॥ नि ४६९ ॥
२०३६. अट्ठिं च दारुगादी, सउणगपरिहार पुप्फ-फलमादी।
जीवोवघात देवत, तिरिक्ख-मणुया भवे दुट्ठा ॥
२०३७. असिवोम-दुट्ठ-रोधग, गेलण्णऽद्धान संभम-भए वा।
वसहीवाघातेण य, असती जतणा य जा जत्थ ॥
२०३८. रायदुट्ठ भए वा, दुरूहणा होज्ज छादणट्ठाए।
अहवा वि पलंबट्ठा, सेसे ठाही पलंबट्ठा ॥
२०३९. इत्थी नपुंसगो वा, खंधारो आगतो त्ति निग्गमणं।
सावय-मक्कोडग-तेण-वालमसगाऽयगरे साणे ॥
२०४०. अपरिग्गहम्मि बाहिं, भद्दग-पंते वऽणुण्णवित बाहिं।
अपरिग्गहं तु भद्दे, अंतो पंते ततो अंतो ॥
२०४१. सच्चित्तरुक्खमूले^४, 'उच्चारादी आयरेति'^५ जो भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, विराधणं^६ अट्ठिमादीहिं ॥ १९१७ ॥ नि ४७० ॥
२०४२. थंडिल्ल असति अद्धान, रोधए संभमे भयासण्णे।
दुब्बलगहणि गिलाणे, वोसिरणं होति जतणाए ॥ १९१८ ॥
२०४३. सच्चित्तरुक्खमूले^७, उद्देसादीणि आयरे जो तु।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १९१९ ॥ नि ४७१ ॥
२०४४. बीयं^८ जोगागाढे, सागार मते व असति वोच्छेदो^९।
एतेहिं कारणेहिं, उद्देसादीणि कप्पंति ॥ १९२० ॥

१. सूत्र-३ (नव ५/३)।

२. भुंजते तु जे (भ)।

३. इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में २०३६-४० तक की गाथाओं का केवल गाथा संकेत मिलता है। ये गाथाएं पुनरावृत्त हुई हैं।

४. सूत्र ४ (नव ५/४)।

५. छंद की दृष्टि से यहां 'उच्चारादायरति' पाठ होना चाहिए।

६. पावति (भ)।

७. सूत्र ५-११ (नव ५/५-११), मुद्रित पुस्तक में १० क्रमांक का सूत्र नहीं है।

८. बितियं (भ)।

९. वुच्छेए (पा)।

२०३५. जो भिक्षु सचित्त वृक्षमूल में अशन, पान आदि का भोग करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२०३६. आत्मविराधना—वृक्षमूल में अशन, पान आदि का भोग करने वाले मुनि के ऊपर फल की गुट्टी, लकड़ी आदि गिर सकती है, वह कौए आदि की बीट से लिप्त हो सकता है, पुष्प, फल आदि के जीवों का उपघात (पुष्प, फल आदि से स्वयं का जीवोपघात) हो सकता है। वहाँ कोई दुष्ट देवता, मनुष्य अथवा तिर्यच मुनि को चोट आदि पहुँचा सकता है।

२०३७. १. अशिव २. अवम ३. राजद्वेष ४. नगररोध ५. ग्लान्य ६. अटवी ७. संभ्रम (हड़बड़ी) ८. भय और ९. वसति—व्याघात के कारण यदि कोई अन्य स्थान न मिले तो भिक्षु जहाँ जो यतना करणीय है, वहाँ उस यतना के साथ वृक्षमूल में अशन, पान आदि का भोग कर सकता है।

२०३८. राजद्वेष और म्लेच्छ आदि के भय से मुनि अपने आप को छिपाने के लिए अथवा इन्हीं परिस्थितियों में आहार की प्राप्ति न होने पर, फल आदि लेने के लिए सचित्त वृक्षमूल में स्थित मुनि अशन आदि का भोग कर सकता है। शेष ग्लान आदि द्वारों में भी प्रलम्ब आदि के लिए सचित्त वृक्षमूल में ठहर सकता है, ग्लान को अन्यत्र ले जाते समय विश्राम करने हेतु भी सचित्त वृक्षमूल में मुनि अशन आदि का भोग कर सकता है।

२०३९. गांव के बाहर जहाँ शून्यगृह आदि में भिक्षु ठहरे हुए हों, वहाँ कोई स्त्री या नपुंसक उपसर्ग करने लगे, कोई स्कन्धावार आ जाए अथवा कोई चीता आदि श्वापद आ जाए, मकोड़े या चोरों का उपद्रव हो कोई व्याल आ जाए, मच्छरों या अजगर का उपद्रव हो जाए, कोई कुत्ता आदि पात्र का अपहरण कर रहा हो—इत्यादि कारणों से पूर्व वसति से निर्गत मुनि सचित्त वृक्षमूल में अशन आदि का भोग कर सकता है।

२०४०. यदि उपर्युक्त अपवादों में सचित्त वृक्षमूल में अशन आदि का भोग करना हो तो सर्वप्रथम अपरिगृहीत वृक्षमूल में रतनीप्रमाण भूमि से बाहर रहें। यदि वैसा वृक्ष न हो तो भद्रपरिगृहीत में अनुज्ञा लेकर उक्त प्रमाण भूमि से बाहर रहे। उसके अभाव में प्रान्तपरिगृहीत वृक्षमूल में उक्तप्रमाण भूमि से बाहर उसकी अनुज्ञा लेकर रहे। वह भी न मिले तो क्रमशः अपरिगृहीत के अन्दर, भद्रपरिगृहीत के अन्दर और अन्ततः प्रान्त परिगृहीत वृक्ष के उक्त प्रमाण भूमि के अन्दर अनुज्ञा प्राप्त करके रहे।

२०४१. जो भिक्षु सचित्त वृक्षमूल में उच्चार आदि का आचरण (विसर्जन) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२०४२. अपवाद में भिक्षु कारणों से यतनापूर्वक सचित्त वृक्षमूल में विसर्जन कर सकता है—१. स्थंडिल का अभाव २. अटवी ३. नगररोध ४. संभ्रम (हड़बड़ी) ५. भय ६. मल का वेग न रोक पाने से ७. दुर्बलकुक्षि और ८. ग्लान।

२०४३. जो भिक्षु सचित्त वृक्षमूल में स्वाध्याय करता है, सूत्र के उद्देश, समुद्देश आदि का आचरण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२०४४. अपवाद में इन कारणों से भिक्षु को सचित्त वृक्षमूल में उद्देश, समुद्देश आदि करना कल्पता—विधि सम्मत है—१. वह भिक्षु आगाढ़योगी हो और वसति में अस्वाध्यायी हो। २. वसति में गृहस्थ हो और रहस्यसूत्र का अध्ययन करना हो। ३. वसति में या उसके आस-पास कोई मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। ४. कोई ऐसा सूत्र हो जो एक ही आचार्य के पास हो (अन्यत्र व्यवच्छेद को प्राप्त हो गया हो) और वह सूत्र अत्यन्त महान् (विशाल) हो तो वसति में अस्वाध्यायी होने पर बाहर उसका अभ्यास आदि करना पड़ता है।

१. उद्देश, समुद्देश आदि के लिए द्रष्टव्य अणु. सूत्र २।

२०४५. निक्कारणम्मि^१ अप्पण, कारण गिहि अहव अण्णतित्थीहिं।
‘संघाडिं सिव्वावे, सो पावति’^२ आणमादीणि ॥१९२१ ॥ नि ४७२ ॥
२०४६. निक्कारणम्मि लहुगो, गिलाण आरोवणा ‘य विद्धम्मि’^३।
छप्पइगादी संजम, कारण सुद्धो खलु विधीए ॥१९२२ ॥
२०४७. कामं खलु^४ परकरणे, गुरुगो मासो तु^५ वण्णितो पुव्विं।
कारणिगं पुण सुत्तं, सयं तु^६ ऽणुण्णायती^७ लहुगो ॥१९२३ ॥
२०४८. सयसिक्कणम्मि विद्धइ, गिलाण-आरोवणा तु सविसेसा।
छप्पइयऽसंजमम्मि^८, सुत्तादी अकरणे इमं च ॥१९२५ ॥
२०४९. णेगधुणममुंचंते, बंध मुयंते य होति पलिमंथो।
एगस्स वि अक्खेवे, अवहारो होति सव्वेसिं^९ ॥१९२४ ॥
२०५०. अविसुद्धठाण काया, पप्फोडण छप्पया य वातो य।
पच्छाकम्मं व सिया, छप्पइवेधो य हरणं च ॥१९२६ ॥
२०५१. बितियं च^{१०} वुड्डमुड्डोरगे^{११} य गेलण्ण विसमवत्थे य।
एतेहि कारणेहिं, संसिक्कणमप्पणा कुज्जा ॥१९२७ ॥
२०५२. बितियपदमणिउणे वा, ‘निउणे वा’^{१२} होज्ज केणई असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥१९२८ ॥
२०५३. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दो य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिएहिं, असोय^{१३} सोए^{१४} गिहीपुव्वं ॥१९२९ ॥

१. सूत्र १२ (नव ५/१२)।

२. जे भिक्खू संघाडिं सिव्वावे (दे, पा)।

३. पविं (भ)।

४. खलु पूरणे (चू)।

५. य (दे)।

६. च (मु)।

७. °यते (मु), अणुण्णतो (क, पा)।

८. °सव्वम्मिं (दे)।

९. दे और पा प्रति में गा. २०४८ और २०४९ में क्रमव्यत्यय है। हमने प्रतियों का क्रम स्वीकृत किया है।

१०. × (क), व (भ)।

११. वुड्डो तस्स हत्था वा पाया वा कंपंति (चू)।

१२. × (दे)।

१३. व असोय (पा)।

१४. × (दे)।

२०४५. जो भिक्षु अपना उत्तरीय वस्त्र निष्कारण स्वयं सीता है अथवा कारण में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से सिलवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०४६. जो भिक्षु निष्कारण उत्तरीय सीता है, उसे लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सिलाई करते हुए यदि हाथ आदि सूई से बिंध जाए तो ग्लान विषयक प्रायश्चित्त प्राप्त होती है। यदि षट्पदिका आदि की विराधना हो जाए तो संयम विराधना हेतुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कारण में स्वयं विधिपूर्वक संघाटी सीए तो शुद्ध है।

२०४७. प्रश्नकर्ता—प्रथम उद्देशक में मुनि को दूसरे से कार्य करवाने में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—ऐसा निर्देश है तो यहाँ मासलघु प्रायश्चित्त का कथन कैसे किया गया? आचार्य—यह सही है कि पहले परकरण में मासगुरु प्रायश्चित्त वर्णित (निर्दिष्ट) है। पर यह कारणिक सूत्र है अतः इसमें स्वयं करना अनुज्ञात है और परकरण में मासलघु का विधान है।

२०४८. अकारण स्वयं सिलाई करता है, उस समय सूई से हाथ आदि बिंध जाए तो ग्लान—आरोपणा आती है और परितापना का दुःख होता है। षट्पदिका (जूं) का वध होने पर संयम विराधना होती है। सिलाई में लगा रहने से सूत्र और अर्थ पौरुषी नहीं करता, फलतः सूत्र और अर्थ का नाश होता है।

२०४९. यदि सिले हुए उत्तरीय के बंधन आदि खोले बिना मुनि उसकी प्रतिलेखना करता है तो अनेक रूप धुनन दोष^१ पैदा होता है और यदि बंधन खोलकर प्रतिलेखना करता है तो सूत्र एवं अर्थ का पलिमंथ (बाधा) होती है। कोई स्तेन देख ले तो उस एक का ही अपहरण नहीं होता, सबका अपहरण हो जाता है।

२०५०. भिक्षु यदि दूसरे से अपना उत्तरीय सिलवाता है और वह यदि पृथ्वीकाय आदि से युक्त अशुद्ध स्थान पर बैठे तो कायविराधना होती है, सिलाई करते हुए प्रस्फोटन आदि करे तो षट्पदिका (जूं) गिर जाती है तथा वायुकाय का भी उपघात होता है। उस वस्त्र में आने वाली दुर्गन्ध से अभिभूत होकर देश स्नान या सर्वस्नान करे तो पश्चात्कर्म दोष लगेगा। सिलाई के समय जूओं का वध हो सकता है, वह व्यक्ति वस्त्र का भी अपहरण कर सकता है, इत्यादि दोषों के कारण भिक्षु गृहस्थ आदि से वस्त्र न सिलवाए।

२०५१. अपवाद में मुनि इन कारणों से स्वयं उत्तरीय की सिलाई कर सकता है—१. वृद्ध भिक्षु के हाथ पांव कांपते रहते हैं, वह बार-बार उसे ठीक नहीं कर सकता। २. उड्डोरग—बड़े जंघाप्रदेश वाला भिक्षु अथवा ३. ग्लान मुनि बार-बार वस्त्र को संस्थापित नहीं कर पाता, ठीक नहीं कर पाता और ४. विषम वस्त्रों की एक साथ सिलाई करनी हो—इन कारणों से मुनि स्वयं अपने वस्त्र सिल सकता है। पर गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से उत्तरीय वस्त्र की सिलाई नहीं करवाता।

२०५२. भिक्षु यदि सिलाई करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी (किसी रोग आदि के कारण) अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु आचार्य, ग्लान आदि के कार्यों में व्यापृत हो अतः स्वयं सिलाई करने में व्याघात हो (स्वयं सिलाई न कर सके) तो आपवादिक रूप में पर (गृहस्थ या अन्यतीर्थिक) से उत्तरीय सिलवाना कल्पता है—विधिसम्मत है।

२०५३. यदि भिक्षु को गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से उत्तरीय सिलवाना हो तो सर्वप्रथम पच्छाकड़ (जो पहले साधु रह चुका है ऐसे गृहस्थ) से सिलवाए। यदि पच्छाकड़ न हो तो क्रमशः साभिग्रह (अणुव्रती श्रावक), निरभिग्रह—दर्शन श्रावक (सम्यग्दृष्टि) यथाभद्र असंज्ञी (मिथ्यादृष्टि) से उत्तरीय सिलवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक अशौचवादी, शौचवादी गृहस्थ अथवा अशौचवादी या शौचवादी अन्यतीर्थिक संन्यासी से उत्तरीय सिलवाया जा सकता है।

१. उत्तर. २६।२७—अनेक रूप धुनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना।

२०५४. जे भिक्खू^१ दीहाई, कुज्जा संघाडिसुत्तगाई तु।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१९३०॥ नि ४७३ ॥
२०५५. अंछंते^२ सम्मद्दा^३, पडिलेहा चेव ऽणेगरूवाणं।
सुत्तत्थ-तदुभएसु य, पलिमंथो होति दीहेसु ॥१९३१॥
२०५६. चतुरंगुलप्पमाणा^४, तम्हा संघाडिसुत्तगं कुज्जा।
जहण्णेण तिण्णि बंधा, उक्कोसेणं तु^५ छब्भणिता ॥१९३२॥
२०५७. सउणग पाय सरिच्छा, तु पासगा दोण्णि अंत मज्जेगो।
तज्जातेण गहेज्जा, 'मोत्तूण य'^६ होति पडिलेहा ॥१९३३॥
२०५८. बितियपद वुड्डमुड्डोरगे य गेलण्ण विसमवत्थे य।
एतेहि कारणेहिं, दीहे वि हु सुत्तगे कुज्जा ॥१९३४॥
२०५९. आहारमणाहारस्स^७, मग्गणा नियमसा कता होति।
निंबपडोलादीहि^८ य, दिय-राउ चउक्कभयणा उ ॥१९३५॥ नि ४७४ ॥
२०६०. जो हट्टस्साहारो, चउव्विधो पारिगासियं तं तु।
निंब-पडोलादीयं, सति लंभे^९ जं च परिवसति^{१०} ॥१९३६॥ नि ४७५ ॥
२०६१. चतुभंगे चतुगुरुगा, आहारितरे य होंति चतुलहुगा।
सुत्तं पुण तद्विसं, जो धुवति अचेतण पलासे ॥१९३७॥ नि ४७६ ॥
२०६२. भयणपदाण चतुण्हं, अण्णतरागेण जो तु आहारे।
निंब-पडोलादीयं, सो पावति आणमादीणि ॥१९३८॥ नि ४७७ ॥
२०६३. सीतेण व'उसिणेण व'^{११}, वियडेणं धोवणं^{१२} तु संफाणिं^{१३}।
अहवा जातं धोवति^{१४}, संफाहो ऊण णेगाहं ॥१९३९॥

१. सूत्र १३ (नव ५/१३)।

२. अंछणे (मु), अंछणं णाम कड्डणं (चू)।

३. सम्मद्दा णाम पडिलेहणदोसो अणेगरूवधुणणदोसो य भवति (चू)।

४. 'माणं (मु, पा)।

५. ति (दे)।

६. मोत्तूणं (दे)।

७. सूत्र १४ (नव ५/१४)।

८. 'दीहिं (पा)।

९. लाभे (मु)।

१०. परिभुंजति (मु)।

११. 'णेणं (दे)।

१२. धोवणा (मु)।

१३. फंसणणा (भ), संफाणि (मु)।

१४. धावइ (दे)।

२०५४. जो भिक्षु अपने उत्तरीय को बांधने के सूत्र लम्बे करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२०५५, २०५६. उत्तरीय वस्त्र के सूत्र लम्बे हों और वे अधिक खिंच जाएं तो प्रतिलेखना के समय सम्मर्दा^१ एवं अनेक रूप धुनन—इन दोनों दोषों की संभावना रहती है तथा वे परस्पर उलझ जाएं तो सुलझाने पर सूत्र, अर्थ और तदुभय में पल्लिमंथु होता है अतः उत्तरीय वस्त्र के सूत्रों को चार अंगुल प्रमाण करना चाहिए। उत्तरीय वस्त्र के जघन्यतः तीन और उत्कृष्टतः छह बंधन प्रज्ञप्त हैं।

२०५७. भिक्षु संघाटी के पक्षी के पैरों के समान तीन-तीन बन्धनसूत्र बनाए दो—दोनों किनारों पर और एक मध्य में। वे यथासम्भव तज्जात ग्रथित हों—ऊनी के ऊनी एवं सूती वस्त्र के सूती बन्धनरज्जू बनाए। जब प्रतिलेखना करे, उस समय उन्हें खोलकर करे।

२०५८. अपवादपद-१. वृद्ध मुनि के हाथ पैर कांपते रहते हैं, वह बार-बार उत्तरीय वस्त्र को बांध नहीं पाता २. उद्धोरग (बड़े जंघाप्रदेश वाला) भिक्षु अथवा ३. ग्लान भिक्षु बार-बार वस्त्रों को ठीक नहीं कर पाता अतः वह उत्तरीय वस्त्र को बांधने के लिए दीर्घसूत्र बना लेता है। ४. जब विषम वस्त्रों को एक साथ बांधना हो तो उन्हें बांधने के लिए भी लम्बे सूत्र रख सकता है।

२०५९. नीम, परवल आदि के द्वारा आहार और अनाहार की पर्यालोचना करनी चाहिए। पुनः उनके दिवा और रात्रिके आधार पर चार भंग^२ हो जाते हैं।

२०६०. नीरोग व्यक्ति के आहार के चार प्रकार (अशन आदि) प्रज्ञप्त हैं। जो उनको बासी रखकर भोगता है अथवा आहार मिलने पर भी जो नीम, परवल आदि को बासी रखकर खाता है, उसे चारों ही भंगों में प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०६१. जो भिक्षु परियासित—बासी आहार का भोग करता है, उसे चारों भंगों में चतुर्गुण एवं बासी अनाहार का भोग करता है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु उसी दिन ग्रहण किए हुए नीम, परवल आदि के अचित्त पत्तों को धोकर खाता है, यह सूत्र उसी के लिए प्रायश्चित्त का कथन करता है।

२०६२. जो भिक्षु नीम, परवल आदि (अनाहार द्रव्यों) को उपर्युक्त चारों भंग पदों में से किसी भंग से बासी रखकर खाता है, वह भिक्षु आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०६३. 'संफाण' इस सूत्र पद का अर्थ है—शीत अथवा उष्ण जल से धोना, प्रक्षालन करना। वह चाहे तद्विषय गृहीत को धोता है अथवा अनेक दिनों के एकत्रित नीम-पत्र आदि को धोता है, सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी बनता है।

१. उत्तर. २६।२६-सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जायं अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठकर प्रतिलेखना करना।

२. चार भंग—१. दिवागृहीत, दिवाभुक्त २. दिवागृहीत, रात्रिभुक्त
३. रात्रिगृहीत दिवाभुक्त और ४. रात्रिगृहीत, रात्रिभुक्त।

२०६४. छट्टवत विराधणता, पाणादी तक्कणादि संमुच्छे।
तद्विसिगे^१ वऽणट्टा, तण्णस्सित घात भुंजंते ॥ १९४० ॥
२०६५. बितियपदं गेलण्णे, वेज्जुवदेसे य दुल्लभे दव्वे।
तद्विसं जतणाए, बीयं गीतत्थ संविग्गे ॥ १९४१ ॥
२०६६. पउमुप्पल मातुलिंगे, एरंडे चेव निंबपत्ते य।
'वेज्जुवदेसे गहणं, गीतत्थे विकरणं कुज्जा'^२ ॥ १९४२ ॥
२०६७. संफाणितस्स गहणं, असती घेतूण अप्पणा धोवे।
तद्विसिग लंभासति, गेगाविणिसा तु संफाणे ॥ १९४३ ॥
२०६८. पाउंछणगं^३ दुविधं, बितिओद्देसम्मि वण्णितं पुव्वं।
तं पाडिहारियं^४ तू, गेणहंताऽऽणादिणो दोसा ॥ १९४४ ॥ नि ४७८ ॥
२०६९. णट्टे हित-विस्सरिते, अणप्पिणंतम्मि होति^५ वोच्छेदो।
पच्छकम्म पवहणं, धुवावणं वा तदट्टस्स ॥ १९४५ ॥
२०७०. उव्वत्ताए पुव्वं, गहणमलंभे उ होति पडिहारी।
तं पि य न छिण्णकालं, दोसा ते चेव छिण्णम्मि ॥ १९४६ ॥
२०७१. णट्टे हित-विस्सरिते, ज्ञामित वूढे तहेव परिजुण्णे^६।
असती दुल्लभपडिसेहओ य गहणं^७ पडिहारिए चउहा ॥ १९४७ ॥
२०७२. तं पाडिहारियं पादपुंछणं गिण्हऊण जे भिक्खू।
वोच्चत्थमप्पिणादी^८, सो पावति आणमादीणि ॥ १९४८ ॥ नि ४७९ ॥
२०७३. मायामोसमदत्तं, अपच्चओ खिंसणा उवालंभो।
वोच्छेद-पदोसादी, वोच्चत्थं अप्पिणंतस्स^९ ॥ १९४९ ॥

१. तद्वेवसिते (मु)।

२. बृभा (१०२९) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पित्तुदय सन्निवाए वायक्कोवे य सिंभे य।

३. सूत्र १५, १६ (नव ५/१५, १६)।

४. प्रतीपं हरणं प्रातिहार्यं (चू)।

५. होंति (दे)।

६. पडिजुं (दे)।

७. छंद की दृष्टि से 'गहणं' पाठ अतिरिक्त लगता है।

८. 'मप्पणादी (क)।

९. अप्पं (भ)।

२०६४. नीम के पत्ते आदि को बासी रखने पर छोटे व्रत—रात्रि भोजन की विराधना होती है, उसमें प्राणी संमूर्च्छित हो जाते हैं, गिलहरी, छिपकली आदि उस पर ताकते रहते हैं। यदि तद्विषय गृहीत नीम, परवल आदि के पत्तों को भी निष्कारण धोया जाए तो भी तन्निश्रित प्राणियों की घात होती है, प्लावन आदि के दोष उत्पन्न होते हैं।

२०६५. अपवाद में वैद्य के उपदेश से ग्लान भिक्षु नीम आदि के पत्तों को प्रक्षालित करके खा सकता है अथवा वहाँ वह पत्ता दुर्लभ हो तो अनेक दिनों का एकत्रित भी प्रक्षालन कर उपयोग में लिया जा सकता है। मुनि आवश्यकता होने पर पहले अन्य द्वारा प्रक्षालित पत्र आदि द्रव्य को उसी दिन ग्रहण करे, परप्रक्षालित न मिलने पर स्वयं प्रक्षालन करे। प्रतिदिन न मिले तो आगाढ कारण में गीतार्थ भिक्षु उनका विकरण करे।

२०६६. भिक्षु वैद्य के निर्देश के अनुसार पित्त का उदय होने पर पद्म और उत्पल को, सन्निपात में मातुलिंग, वायु में एरंड और श्लेष्म का उदय होने पर नीम के पत्तों का ग्रहण करे। उस दिन का परप्रक्षालित पद्मपत्र आदि न मिले तो संचित किया हुआ परप्रक्षालित पर लिया जा सकता है।

२०६७. भिक्षु आवश्यक होने पर परप्रक्षालित उत्पलपत्र आदि का ग्रहण करे। यदि परप्रक्षालित पत्र आदि द्रव्य न मिले तो ग्रहण कर स्वयं धोए। यदि तदेवसिक (उसी दिन का) द्रव्य न मिले तो अनेक दिनों का एकत्रित कर भी धोकर ग्रहण करे।

२०६८. पादप्रोञ्चन के दो प्रकार होते हैं—ऐसा पहले द्वितीय उद्देशक में बताया जा चुका है। उनमें जो प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०६९. भिक्षु प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन रखे और संयोगवश भिक्षाचर्या करते हुए वह खो जाए, चोर हरण कर ले, स्वाध्याय आदि करने जाए, वहाँ भूल जाए। इन कारणों से भिक्षु जब गृहस्थ को पादप्रोञ्चन पुनः नहीं लौटा पाता, तब दाता उस साधु अथवा अन्य साधुओं को पादप्रोञ्चन या अन्य द्रव्य नहीं देता, उनका व्यवच्छेद कर देता है। (वह गृहस्थ अथवा दाता) यदि उस पादप्रोञ्चन को मिलने पर धुलवाता है, पानी बहाता है तो पश्चात्कर्म दोष होता है। यदि वह खो जाए और उसका मालिक न माने तो उसे उसके लिए मूल्य देना पड़ता है, इस प्रकार प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन ग्रहण करना युक्त नहीं।

२०७०. यदि प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन ग्रहण करना हो तो पहले उसका ग्रहण किया जाए जो निर्देय हो, जिसके प्रति गृहस्थ का राग न हो। वैसा न मिलने पर प्रत्यर्पणीय पादप्रोञ्चन ग्रहण करे, लेकिन आज लौटाएंगे या कल—ऐसा काल का निर्धारण न करे क्योंकि कालनिर्धारण करने पर वे ही पूर्वोक्त दोष आएंगे।

२०७१. यदि भिक्षु का पादप्रोञ्चन कहीं १. खो जाए २. चोरी चला जाए ३. कहीं भूलकर आ जाए ४. जल जाए ५. नदी उतरते हुए डूब जाए ६. परिजीर्ण हो जाए (फट जाए) ७. अन्य पादप्रोञ्चन न मिले या ८. दुर्लभ हो अथवा ९. कोई प्रत्यनीक पादप्रोञ्चन देने का निषेध कर दे—इन कारणों से भिक्षु चार प्रकार के प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन उत्सर्ग-औत्सर्गिक, उत्सर्गापवादिक आदि का ग्रहण कर सकता है।

२०७२. जो भिक्षु उस प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन को ग्रहण कर अर्पण (लौटाने) आदि में विपर्यास करता है—आज लौटाने का कहकर अगले दिन लौटाता है या अगले दिन लौटाने का कहकर उसी दिन लौटाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२०७३. प्रातिहारिक पादप्रोञ्चन को उक्त समय से पहले या पीछे लौटाने से ये दोष आते हैं—१. माया २. मृषा ३. अदत्त ४. अप्रत्यय (अविश्वास) ५. खिंसा ६. उपालंभ ७. व्यवच्छेद और ८. प्रद्वेष^१।

१. व्यवच्छेद उस या अन्य साधु के लिए पादप्रोञ्चन या अन्य द्रव्य—दोनों का हो सकता है, प्रद्वेष भी उस या अन्य साधु के विषय में संभव है।

२०७४. बितियपदे वाघातो, होज्जा पहुणो व^१ अप्पणो वावि ।
एतेहि कारणेहिं, वोच्चत्थं अप्पिणेज्जाहि ॥ १९५० ॥
२०७५. गेलण्ण वास महिता, पडिणीए राय संभमभए वा ।
अह समणे वाघातो, निव्विसगादी य^२ इतरम्मि ॥ १९५१ ॥
२०७६. पडिहारिय^३ जो तु गमो, नियमा सागारियम्मि सो चेव^४ ।
दंडगमादीसु तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ १९५२ ॥
२०७७. पाउंछणगं दुविधं, बितिओद्देसम्मि वण्णितं^५ पुव्विं ।
सागारिसंतियं^६ तं, गेण्हंताऽऽणादिणो दोसा ॥ १९५३ ॥ नि ४८० ॥
२०७८. णट्टे हित-विस्सरिते, अणप्पिणंते य होति वोच्छेदो ।
पच्छाकम्म पवहणं, धुवावणं^७ वा तदट्टुस्स ॥ १९५४ ॥
२०७९. उव्वत्ताए पुव्विं^८, गहणमलंभे^९ उ^{१०} होज्ज^{११} पडिहारी^{१२} ।
तं पि य न छिण्णकालं, ते च्चिय दोसा भवे छिण्णे ॥ १९५५ ॥
२०८०. णट्टे हित-विस्सरिते, झामित वूढे तहेव परिजुण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेहतो य गहणं सागारिए चउहा^{१३} ॥ १९५६ ॥
२०८१. 'सागारिसंतियं तं'^{१४}, पायपुंछणं^{१५} गेण्हरुण जे भिक्खू ।
वोच्चत्थमप्पिणेइ^{१६}, सो पावति^{१७} आणमादीणि ॥ १९५७ ॥ नि ४८१ ॥
२०८२. 'माया-मोसमदत्तं'^{१८}, अपच्चओ खिंसणा उवालंभो ।
वोच्छेद-पदोसादी, वोच्चत्थं अप्पिणंतस्स ॥ १९५८ ॥

१. वि (मु) ।

२. × (दे) ।

३. सूत्र १७-२२ (नव ५/१७-२२) ।

४. च्चेव (भ) ।

५. वण्णितुं (दे) ।

६. 'रियसं' (भ) ।

७. धुया^० (भ) ।

८. पुव्वं (मु) ।

९. 'णं अलंभे' (भ) ।

१०. य (मु) ।

११. होति (दे) ।

१२. परिहा^० (क), 'हारिं' (भ) ।

१३. गाथा के उत्तरार्ध में मात्रा अधिक होने से छंदभंग है ।

यहां 'गहणं' पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है ।

१४. तं सागारिय संतिय (दे) ।

१५. छंद की दृष्टि से 'पाउंछण' अथवा 'पापुंछण' पाठ होना चाहिए ।

१६. 'णेज्जा' (भ), 'प्पिणादी' (दे) ।

१७. पावती (दे) ।

१८. 'मोसादत्तं' (क) ।

२०७४. अपवाद में मुनि इन कारणों से कालविपर्यास करके पादप्रोज्जन को लौटा सकता है— १. यदि प्रभु (पादप्रोज्जन के स्वामी) सम्बन्धी कोई व्याघात पैदा हो जाए २. यदि स्वयं के कोई व्याघात पैदा हो जाए।^१
२०७५. श्रमण के स्वयं के व्याघात के कारण ये हैं— १. वह ग्लान हो जाए। २. वर्षा अथवा ३. महिका (ओस) पड़ने लग जाए ४. बीच में कोई प्रत्यनीक बाधक बन जाए ५. राजद्वेष ६. संभ्रम अथवा ७. बोधिक आदि का भय हो। गृहस्थ सम्बन्धी व्याघात के कारण निर्विषय (देशनिकाला) आदि हैं।
२०७६. जो विधि प्रातिहारिक पादप्रोज्जन के विषय में प्रज्ञप्त है, वही नियमतः शय्यातर विषयक पादप्रोज्जन में ज्ञातव्य है तथा जो उत्सर्ग एवं अपवाद पादप्रोज्जन के विषय में प्रज्ञप्त है, वही दंड आदि के विषय में ज्ञातव्य है।
२०७७. पादप्रोज्जन के दो प्रकार होते हैं—ऐसा पहले द्वितीय उद्देशक में बताया जा चुका है। उनमें से जो शय्यातर का पादप्रोज्जन ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
२०७८. शय्यातर निश्रित पादप्रोज्जन नष्ट हो जाए, कोई चुरा कर ले जाए, कहीं भूल जाए तो पुनः अर्पित न करने पर शय्यातर उसका व्यवच्छेद कर देता है। (वह गृहस्थ अथवा दाता) यदि उस पादप्रोज्जन को मिलने पर धुलवाता है, पानी बहाता है तो पश्चात्कर्म दोष होता है। यदि वह खो जाए और उसका मालिक न माने तो उसे उसके लिए मूल्य देना पड़ता है, अतः शय्यातर का पादप्रोज्जन ग्रहण करना युक्त नहीं।
२०७९. यदि शय्यातर का पादप्रोज्जन ग्रहण करना हो तो पहले उसका ग्रहण किया जाए, जो निर्देय हो, जिसके प्रति गृहस्थ का राग न हो। वैसा न मिलने पर प्रत्यर्पणीय पादप्रोज्जन ग्रहण करे, लेकिन आज लौटाएंगे या कल—ऐसा काल का निर्धारण न करे क्योंकि कालनिर्धारण करने पर वे ही पूर्वोक्त दोष आएंगे।
२०८०. यदि भिक्षु का पादप्रोज्जन कहीं १. खो जाए २. चोरी चला जाए ३. कहीं भूल कर आ जाए ४. जल जाए ५. नदी उतरते हुए डूब जाए ६. परिजीर्ण हो जाए—फट जाए ७. अन्य पादप्रोज्जन न मिले या ८. दुर्लभ हो अथवा ९. कोई प्रत्यनीक पादप्रोज्जन देने का निषेध कर दे—इन कारणों से भिक्षु चार प्रकार के शय्यातरनिश्रित पादप्रोज्जन—उत्सर्ग-औत्सर्गिक, अपवाद-आपवादिक आदि का ग्रहण कर सकता है।
२०८१. जो भिक्षु शय्यातर निश्रित पादप्रोज्जन को ग्रहण कर उसे अर्पण करने (लौटाने) आदि में विपर्यास करता है—आज लौटाने का कहकर अगले दिन लौटाता है या अगले दिन लौटाने का कहकर उसी दिन लौटाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
२०८२. शय्यातर निश्रित पादप्रोज्जन, दंड आदि वस्तुओं या प्रातिहारिक दंड, लाठी आदि को समय पर नहीं लौटाता तो ये दोष आते हैं— १. माया २. मृषा ३. अदत्त ४. अप्रत्यय (अविश्वास) ५. खिंसा (निष्ठुर वचनों से अवहेलना) ६. उपालंभ ७. व्यवच्छेद और ८. द्रष्टेय।

१. प्रभु सम्बन्धी व्याघात—देशनिकाला आदि हेतु द्रष्टव्य गा. १३५५ एवं स्वयं सम्बन्धी व्याघात हेतु द्रष्टव्य गा. २०७५।

२०८३. बितियपदे वाघातो, होज्ज पहुस्सेव^१ अप्पणो वावि ।
‘एतेहि कारणेहिं^२, वोच्चत्थं अप्पिणेज्जाहिं^३ ॥
२०८४. गेलण्ण वास महिता, पडिणीए रायसंभम भए वा ।
अह समणे वाघातो, निव्विसगादी य इतरम्मि ॥१९५९ ॥
२०८५. सेज्जा-संथारदुगं^४, निज्जातेउं गतागते संते ।
दोच्चमणणुणवेत्ता, तमधिदुंतम्मि आणादी ॥१९६० ॥ नि ४८२ ॥
२०८६. मायामोसमदत्तं^५, अपच्चओ खिंसणा उवालंभो ।
वोच्छेद-पदोसादी, अणणुण्णातं अधिदुंतं ॥१९६१ ॥
२०८७. बितियपदमणाभोगा^६, दुट्टादी वा पुणो वि तक्कज्जं ।
आसण्णकारणम्मि व^७, अधिदु^८ अद्धाणमादिसु वा ॥१९६२ ॥
२०८८. अद्धाणे गेलण्णे, ओमऽसिवे गामऽणुगामियं^९ वियाले ।
तेणा सावय-मसगा, सीतं वा तं दुरहियासं ॥१९६३ ॥
२०८९. सण्णी सण्णाता वा, अहभद्दाऽणुगगहो^{१०} त्ति सो^{११} मण्णे ।
सुण्णे य जहा गेहे, अणणुण्णवितुं तदाऽधिदु^{१२} ॥१९६४ ॥
२०९०. पोंडमयं^{१३} वागमयं^{१४}, वालमयं वावि दीहसुत्तं^{१५} तु ।
जे भिक्खू कुज्जाही, सो पावति आणमादीणि ॥१९६५ ॥ नि ४८३ ॥
२०९१. सुत्तत्थे पलिमंथो, उड्डाहो झुसिरदोस सम्मदो ।
हत्थोवघात संचय, पसंग आदाण-गमणं च ॥१९६६ ॥

१. पभुणो व (भ) ।

२. एतेण कारणेणं (भ) ।

३. यह गाथा मुद्रितभाष्य में नहीं है, लेकिन सभी हस्तप्रतियों में मिलती है ।

४. सूत्र २३ (नव ५/२३), सेज्जा सव्वंगिया, संथारओ अड्डाइज्जहत्थो अहवा सेज्जा वसही, संथारओ पुण परिसाडिमेतरो वा (चू) ।

५. °मोसादत्तं (दे) ।

६. बीयं (दे) ।

७. य (भ) ।

८. अधेदु (भ) ।

९. गामाणुगामि (मु), गामाणुगामिते (क) ।

१०. अहाभं (दे) ।

११. णे (भ), नो (दे) ।

१२. सूत्र २४ (नव ५/२४) ।

१३. वालमयं (भ) ।

१४. दीहसुत्तं णाम कत्तति (चू) ।

२०८३. अपवाद में मुनि इन कारणों से कालविपर्यास करके पादप्रोज्जन को लौटा सकता है—१. यदि शय्यातर सम्बन्धी कोई व्याघात पैदा हो जाए २. यदि स्वयं के कोई व्याघात पैदा हो जाए।
२०८४. श्रमण के स्वयं के व्याघात के कारण ये हैं—१. वह ग्लान हो जाए। २. वर्षा अथवा ३. महिका (ओस) पड़ने लग जाए। ४. बीच में कोई प्रत्यनीक बाधक बन जाए ५. राजद्वेष ६. संभ्रम अथवा ७. बोधिक आदि का भय हो। गृहस्थ सम्बन्धी व्याघात के कारण देश निकाला, गांव उजड़ना आदि हैं।
२०८५. जो भिक्षु शय्या (वसति) और दोनों प्रकार के संस्तारक (परिशाटी और अपरिशाटी) को लौटाकर चला गया। पुनः आने पर दूसरी बार अनुज्ञा लिए बिना उनका परिभोग करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
२०८६. प्रातिहारिक या शय्यातर निश्चित शय्यासंस्तारक की अनुज्ञा लिए बिना, उसके परिभोग से ये दोष आते हैं—१. माया २. मृषा ३. अदत्त ४. अप्रत्यय (अविश्वास) ५. खिंसा (निष्ठुर वचनों से अवहेलना) ६. उपालंभ ७. व्यवच्छेद और ८. प्रद्वेष।
२०८७. अपवाद में कोई भिक्षु १. अनाभोग (अज्ञान या विस्मृति) के कारण अनुज्ञा लिए बिना बैठ जाए २. किसी दुष्ट के कारण बिना प्रयोजन बताए बैठना या रहना पड़े तो संस्तारक स्वामी के आने पर उसे प्रयोजन बताकर फिर अनुज्ञा लेता है अथवा मार्ग प्रतिपन्न या अटवी निर्गत अवस्था में मुनि बिना आज्ञा प्रत्यर्पित शय्या संस्तारक पर बैठ सकता है।
२०८८. भिक्षु इन कारणों से एक बार अर्पित, उपाश्रय में पुनः अनुज्ञा लिए बिना रह सकता है—१. अटवी २. ग्लान्य (रोग) ३. अवम ४. अशिव ५. ग्रामानुग्राम परिव्रजन करता हुआ विकाल वेला में पहुँचे ६. स्तेन, ७. श्वापद ८. मच्छर (मच्छरों का उपद्रव) और ९. असहनीय शीत हो तो बाहर वृक्षमूल में न रहे, अनुज्ञा लिए बिना भी उपाश्रय में रहे।
२०८९. जिस शय्या या संस्तारक का स्वामी १. संज्ञी—श्रावक हो, २. संज्ञाति—स्वजन हो ३. यथाभद्रक हो, जो शय्या आदि ग्रहण करने पर मुनियों का अनुग्रह माने अथवा ४. वह शून्य गृह (स्वामी विहीन शय्या, संस्तारक) हो तो मुनि स्तेन आदि पूर्वोक्त आपवादिक कारणों में गृहस्थ की अनुज्ञा लिए बिना भी उन (शय्या, संस्तारक) का परिभोग करे।
२०९०. जो भिक्षु कपास के सूत, वल्क अथवा बाल (केश) से दीर्घसूत्र बनाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
२०९१. मुनि सन आदि के दीर्घसूत्र बनाता है तो सूत्र, अर्थ का समय उसमें लग जाता है, फलतः १. सूत्रार्थ का पलिमंथु (व्याघात) होता है। २. गृहस्थ देखते हैं तो यह गृहीकर्म हैं—कहते हुए उड्डाह करते हैं। ३. वे (सूत्र) शुषिर होते हैं, फलतः शुषिर से होने वाले दोषों की संभावना रहती है, मच्छर आदि संपातिम जीव उससे बंध जाते हैं। ४. सम्मर्दा नामक प्रतिलेखना दोष पैदा होता है। ५. रूई को धुनने आदि में वायुकाय का वध होने से संयमविराधना तथा हस्तोपघात होने से आत्मविराधना होती है। ६. ऊन आदि का संचय करने से संचय दोष एवं पुनः-पुनः संचय से प्रसंगदोष की उत्पत्ति होती है। ७. उन्निष्क्रमण करने वाले साधु के लिए धुनन आदि कर्म आदान बनते हैं और उससे उन्निष्क्रमण का प्रसंग बनता है।

२०९२. अद्धाणनिग्गतादी, झामित वूढे तहेव परिजुण्णे।
दुब्बलवत्थे असती, दीहे वि हु सुत्तगे कुज्जा ॥१९६७ ॥
२०९३. उद्दहरे^१ सुभिक्षे^२, अद्धाण-पवज्जणा^३ तु दप्पेणं।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जती तत्थं ॥१९६८ ॥
२०९४. णाणट्ट-दंसणट्टा, चरणट्टा^४ एवमादि गंतव्वं।
उवगरणपुव्वपडिलेहितेण सत्थेण जतणाए ॥१९६९ ॥
२०९५. सत्थे विवच्चमाणे, अस्संजतं^५ संजते तदुभए यं^६।
मगंत जतणदाणं, छिण्णं पि हु कप्पते^७ घेतुं ॥१९७० ॥
२०९६. संजतभद्दा गिहिभद्दगा य पंतोभए उभयभद्दा।
तेणा होंति चउद्धा, विगिंचणा दोसु तुं^८ जतीणं ॥१९७१ ॥
२०९७. जइ देंतऽजाइया जाइय त्तिं^९ न वि देंति लहुग गुरुगा य।
सागारदाण गमणं, गहणं तस्सेव णऽण्णस्स ॥१९७२ ॥
२०९८. दंड-परिहार^{१०}-वज्जं, चोलपडल-पत्तबंधवज्जं च।
परिजुण्णाणं दाणं, उड्डाह-पदोसरक्खट्टा^{११} ॥१९७३ ॥
२०९९. धोतस्स व रत्तस्स व, अण्णस्स व गेण्हणम्मि चतुलहुगा।
तं चेव घेतु धोउं, परिभुंजे 'जुण्णमुज्जे वा'^{१२} ॥१९७४ ॥
२१००. सट्टाणे अणुकंपा, संजतिं^{१३} पडिहारिए निसट्टे य।
असतीय तदुभए वा, जतणा पडिसत्थमादीसु^{१४} ॥१९७५ ॥

१. ते उद्धं पुरेंति जत्थ, तं उद्दहरं (चू)।

२. जत्थ पुण सुलभं भिक्षं, तं सुभिक्षं (चू)।

३. °ज्जणं (बृभा २८७८, २९७२)।

४. जत्थ (बृभा)।

५. चरित्तट्ट (भ), चरित्तट्टा (बृभा २८७९, २९७३)।

६. असंजए (बृभा २९७४)।

७. वा (दे)।

८. कप्पती (भ), कप्पई (बृभा)।

९. तू (बृभा २९७५)।

१०. व (बृभा २९७६), व्व (भ)।

११. महंता जुण्णकंबली सरडिता डंडपरिहारो भण्णति (चू)।

१२. °सपरिहरणा (बृभा २९७७)।

१३. °मुज्जेज्जा (बृभा २९७८), °ण मज्जे वा (पा)।

१४. संजय (क)।

१५. पडिसुद्धमा° (भ), बृभा (२९७९) की टीका में इस गाथा के लिए 'संग्रहगाथासमासार्थः' का उल्लेख है।

२०९२. अपवाद में भिक्षु दीर्घसूत्र भी कर सकता है जैसे—१. अटवी में निर्गत हो २. पूर्व वस्त्र दग्ध हो जाए ३. डूब जाए ४. परिजीर्ण हो जाए ५. ऐसे क्षेत्र में हों, जहाँ वस्त्र दुर्लभ हों अथवा ६. वस्त्रों का अभाव हो।

२०९३. जब उद्दर (सुकाल) हो और सुभिक्ष (भिक्षा सुलभ) हो, तब भी यदि भिक्षु दर्प से अटवी में जाता है तो शुद्ध पद में भी उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और उस समय जो कुछ भी आत्मविराधना या संयमविराधना होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

२०९४. यदि ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि कारणों से भिक्षु को अटवी में निर्गमन करना आवश्यक हो तो पहले अटवी प्रायोग्य उपकरणों का ग्रहण करे, सार्थ की प्रतिलेखना करे, फिर यतनापूर्वक जाए।

२०९५. ज्ञान आदि कारणों से सार्थ के साथ गमन करने पर भी अटवी में चार प्रकार के चोरों का सामना हो सकता है—१. असंयत के लिए प्रान्त २. संयत के लिए प्रान्त ३. उभयप्रान्त और ४. उभयभद्र। ऐसी स्थिति में गृहस्थ यदि मांगे तो उन्हें वस्त्र यतनापूर्वक दें और अटवी पार करने पर यदि वह (गृहस्थ) वस्त्र को छेद भी दे, तब भी उसे ग्रहण करना कल्पता है।^१

२०९६. स्तेन चार प्रकार के होते हैं—१. संयतभद्र २. गृहीभद्र ३. उभयप्रान्त और ४. उभयभद्र। दो (दूसरे और तीसरे) भंगों में साधुओं का विनाश^२ संभव है।

२०९७. (प्रथम भंगगत स्तेन गृहस्थों के वस्त्र आदि लूट लेते हैं उस समय) यदि गृहस्थों के न मांगने पर भी साधु उन्हें वस्त्र देते हैं तो उन्हें चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि मांगने पर भी वे गृहस्थों को वस्त्र नहीं देते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वे उसे वस्त्र आगारसहित—प्रत्यर्पणीय रूप में देते हैं। अतः जिसे वे वस्त्र देते हैं, यदि वह अन्य पथ से जाए तो मुनि भी उसी पथ से जाते हैं तथा अटवी से निर्गत होने पर उससे वही वस्त्र लेते हैं, अन्य नहीं।

२०९८. साधुओं के वस्त्र न देने पर गृहस्थ निन्दा और प्रद्वेष न करें। इसलिए मुनि दंडपरिहार^३ (जीर्ण बड़ा कम्बल), चोलपट्ट, पटल और पात्रबन्ध को छोड़कर शेष जीर्णवस्त्र उन्हें दे देते हैं।

२०९९. यदि गृहस्थ ने साधु के वस्त्र को लेकर धो लिया हो, रंग लिया हो अथवा अन्य किसी प्रकार से साधु के अयोग्य कर दिया हो, तब भी अटवीनिर्गत होने पर साधु उसे ही ग्रहण करे। यदि वे अन्य वस्त्र का ग्रहण करते हैं तो उन्हें चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उस वस्त्र को धोकर धारण करे (परिभोग करे)। यदि वह अत्यन्त जीर्ण हो जाए तो उसे त्याग दे।

२१००. द्वितीय भंग में जहाँ स्तेन संयतप्रान्त हो, वहाँ पुनः चतुर्भंगी होती है—साध्वियां लुट जाएँ, साधु न लुटें इत्यादि। इस विषय में पहले स्वस्थान में अनुकम्पा करनी चाहिए—यदि साधु और गृहस्थ दोनों के वस्त्र आदि चोरी चले जाएँ और साध्वियों के वस्त्र आदि की चोरी न हो तो सबसे पहले उन्हें साधुओं को वस्त्र आदि देना चाहिए। इस अवस्था में उन्हें साध्वियों के वस्त्र आदि प्रत्यर्पणीय रूप में ग्रहण करना चाहिए और यदि साध्वियों एवं गृहस्थों के वस्त्र आदि चुरा लिए जाएँ और साधुओं के नहीं चुराए गए हो तो साधु साध्वियों को निर्देय (अप्रत्यर्पणीय) रूप में वस्त्र आदि दें। यदि साधु-साध्वियों—दोनों के वस्त्र चोरी चले जाएँ और अन्य वस्त्र आदि न हों तो यतनापूर्वक प्रतिसार्थ आदि से वस्त्र आदि की मार्गणा करनी पड़ती है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. २०९७-२१००।

२. विगिचणया—विनाश।

३. निभा २ चू. पृ. ३२२—महंता जुण्ण कंबली सरडिता डंडपरिहारो भण्णति।

२१०१. ण विवित्ता जत्थ मुणी, समणी य गिही य जत्थ^१ उद्दूढा^२ ।
सद्वाणऽणुकंप तहिं, समणुण्णितरासु वि तहेव^३ ॥ १९७६ ॥
२१०२. लिंगट्ट भिक्ख सीते, गिण्हंती पाडिहारियमिमेसु ।
अमणुण्णितरगिहीसुं, जं लद्धं तन्निभं देति^४ ॥ १९७७ ॥
२१०३. उद्दूढे व तदुभए, सपक्ख-परपक्ख तदुभयं होति ।
अहवा वि समण-समणी, समणुण्णितरेसु एमेव^५ ॥ १९७८ ॥
२१०४. समणुण्णितर^६ गिहि संजतीण^७ असति पडिसत्थ-पल्लीसु ।
तिण्हट्टाए गहणं, पडिहारिय^८ एतरे चेव ॥ १९७९ ॥
२१०५. एवं तु दियागहणं, अहवा रत्तिं मिलेज्ज पडिसत्थो ।
गीतेसु रत्तिगहणं, मीसेसु इमा तहिं जतणा^९ ॥ १९८० ॥
२१०६. वत्थेण व पाएण व, निमंततेऽणुग्गते य अत्थमिते ।
आदिच्चो उदितो त्ति य, गहणं गीतत्थ-संविग्गे^{१०} ॥ १९८१ ॥
२१०७. खंडे पत्ते तह दब्भ चीवरे तह य हत्थपिहणं तु ।
अद्धानविवित्ताणं, आगाढं सेसऽणागाढं^{११} ॥ १९८२ ॥
२१०८. असति विह^{१२} णिग्गता खुडुगादि पेसेंति चउसु वग्गेसु ।
अप्पाहेति वऽगारं, साधुं^{१३} च वियारमादिगतं ॥ १९८३ ॥
२१०९. खुडुडी थेराणऽप्पे, आलोगितरी ठवेत्तु पविसंति ।
ते वि य घेत्तुमतिगता, समणुण्णजडे^{१४} जयंतेवं^{१५} ॥ १९८४ ॥

१. तत्थ (मु) ।

२. उच्छूढा (क), उद्दूढ त्ति मुषिताः (बृभाटी) ।

३. बृभा २९८० ।

४. दिंति (बृभा २९८१) ।

५. बृभा २९८२, दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

६. अमं (दे, बृभा २९८३) ।

७. संजईसु (बृभा) ।

८. परिहां (बृभा) ।

९. बृभा २९८४ ।

१०. बृभा २९८५ ।

११. बृभा २९८६ ।

१२. विहि (दे), असईय (बृभा २९८७) ।

१३. साहुं (बृभा) ।

१४. जड (क) ।

१५. बृभा २९८८ ।

२१०१. जहाँ मुनियों के वस्त्र आदि न चुराए गए हों और साध्वियों एवं गृहस्थों के वस्त्र आदि चुरा लिए गए हों, वहाँ स्वस्थान अनुकम्पा करते समय समनोज्ञ (सांभोजिक) साध्वियों पर अनुकम्पा करनी चाहिए, फिर पार्श्वस्थ आदि तथा गृहस्थ आदि पर अनुकम्पा करनी चाहिए।

२१०२. भिक्षु को मुनिवेश के निमित्त रजोहरण, भिक्षा के लिए पात्रबन्ध तथा शीतरक्षा के लिए प्रावरण ग्रहण करना चाहिए। यदि अटवीप्रपन्न अवस्था में ये सर्वथा न मिलें तो प्रातिहारिक रूप में असमनोज्ञ भिक्षुओं, पार्श्वस्थ आदि तथा गृहस्थ—इन से भी रजोहरण आदि ग्रहण किए जा सकते हैं। जब उन्हें चोलपट्ट आदि प्राप्त हो जाएं तो उनके समान कार्योपयोगी वस्त्र, चोलपट्ट आदि उन्हें पुनः समर्पित कर दें।

२१०३. उभयप्रान्त स्तेन विषयक तृतीयभंग में तदुभय के मुषित होने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है अर्थात् स्वपक्ष (मुनि) तथा परपक्ष (गृहस्थ) दोनों के वस्त्र आदि चोरी किए जा सकते हैं अथवा तदुभय शब्द से निम्न तीन विकल्प भी ग्रहण किए जा सकते हैं—१. साधु और साध्वी २. समनोज्ञ (सांभोजिक) एवं असमनोज्ञ (अन्यसांभोजिक) तथा ३. संविग्न और असंविग्न।

२१०४. सांभोजिक एवं अन्यसांभोजिक पार्श्वस्थ आदि तथा गृहस्थ एवं साध्वियों के पास सर्वथा वस्त्र का अभाव हो जाए तो मुनि प्रतिसार्थ तथा पल्ली आदि में जाकर पनकपरिहाणि की यतनापूर्वक लिंग, भिक्षा एवं शीत निवारण—इन तीनों प्रयोजनों से वस्त्र आदि की याचना करे तथा इतर (पार्श्वस्थ आदि) से प्रातिहारिक रूप में भी ग्रहण करे। साध्वियों के पास यदि सर्वथा वस्त्र न हों तो वे जहाँ वस्त्र उपलब्ध हों, प्राप्त कर अपने गात्र का आच्छादन करें। यतनाविषयक चिन्ता न करें।

२१०५, २१०६. उपर्युक्त विकट परिस्थिति में भी सामान्यतः मुनि दिन में ही वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करे। अथवा प्रतिसार्थ से रात्रि में भी ले सकता है—यदि विवक्षित गच्छ के सारे मुनि गीतार्थ हों तो प्रतिसार्थ से रात्रि में वस्त्र आदि का ग्रहण अनुज्ञात है। जहाँ मिश्र (गीतार्थ एवं अगीतार्थ दोनों) मुनि हों, वहाँ यतना यह है—यदि एक ही प्रतिसार्थ है और वह रात्रि में ही आगे जाने वाला है अतः सूर्योदय से पूर्व अथवा सूर्यास्त के बाद वस्त्र या पात्र के लिए मुनि को निमन्त्रित करे तो संविग्न गीतार्थ कहते हैं—आप जाएँ, हम सूर्योदय होने पर लेने आ जाएँगे। फिर वे रात्रि में ही कुछ दूर उस सार्थ के पीछे चले जाते हैं। सूर्योदय होने पर वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण कर लेते हैं।

२१०७. यदि साध्वियों को अथवा साधु-साध्वियों से मिश्रित गच्छ को अटवी में मुषित होने के बाद किसी पल्ली या प्रतिसार्थ में वस्त्र आदि न मिल सकें तो साध्वियां चर्मखण्ड, शाकपत्र, दर्भ या चीवर, जिस किसी भी वस्तु से अपने गुह्य प्रदेश को ढकें, कुछ भी न हो तो हाथों से ढकें। मुनि यदि एकाकी अध्वा (अटवी) में प्रस्थित है और वह मुषित हो जाए तो वह आगाढ़ कारण है। शेष अर्थात् उपकरणों का जल जाना या प्लावित हो जाना आदि से होने वाला उपकरणों का अभाव अनागाढ़ कारण है।

२१०८. विधिपूर्वक अटवीनिर्गत साधु उपकरणों के मुषित होने पर पल्ली आदि में वस्त्रों की एषणा करते हैं, न मिलने पर क्षुल्लक मुनि को साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चारों वर्गों के पास भेजते हैं तथा कहलाते हैं। यदि उपर्युक्त चारों वर्गों के पास भेजने हेतु क्षुल्लक न हो तो यथाभद्रक गृहस्थों या विचारभूमि आदि में प्रविष्ट साधु को कहलाते हैं—हमारे वस्त्र चोर ले गए हैं। फिर साधु श्रावकों के तथा साध्वियां श्राविकाओं के हाथ से वस्त्र ग्रहण करती हैं।

२१०९. यदि साध्वियां साधुओं को वस्त्र दे तो विधि यह है—छोटी साध्वी स्थविर साधु को वस्त्र दे। यदि छोटी साध्वी न हो तो साधु को देखने पर तरुणी या मध्यमवय वाली साध्वी वस्त्र रखकर अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। तब साधु वस्त्र को पहनकर गांव में प्रविष्ट हो जाते हैं। समनोज्ञ साधुओं के अभाव में भी इसी प्रकार यतना की जाती है।

२११०. अद्धाणणिग्गतादी, संविग्गा 'दुविध सण्णि'^१-अस्सण्णी।
संजति एसणमादी, ऽसंविग्गा दोण्णि वी वग्गा ॥१९८५ ॥
२१११. संविग्गेतरभावित, सण्णी मिच्छा तु गाढऽणागाढे^२।
असंविग्ग मिगाहरणं, अभिगह^३ मिच्छेसु विस हीला^४ ॥ १९८६ ॥
२११२. संविग्गभावितेसुं^५, अणगाढेसुं^६ जतंति पणगादी।
उवदेसो संघाडग, पुव्वग्गहितं व अण्णेसु^७ ॥ १९८७ ॥
२११३. उवदेसो संघाडग, तेसिं अट्टाइ^८ पुव्वग्गहितं तु।
अभिणव-पुराणसुद्धे, उत्तरमूले सयं वावि^९ ॥ १९८८ ॥
२११४. उवदेसो संघाडग, पुव्वग्गहितं व णितियमादीणं।
अभिणव-पुराणसुद्धं^{१०}, पुव्वमभुत्तं ततो भुत्तं^{११} ॥ १९८९ ॥
२११५. उत्तरमूले सुद्धे, नवग^{१२}-पुराणे चउक्कभयणेवं।
परिकम्मण परिभोगे, न होंति दोसा अभिणवम्मि ॥ १९९० ॥
२११६. असतीय लिंगकरणं, पण्णवणट्टा सयं व गहणट्टा।
आगाढकारणम्मी, जहेव हंसादिणो^{१३} गहणं^{१४} ॥ १९९१ ॥
२११७. सेडुग^{१५} रूते पिंजिय, पेलुग्गहणे^{१६} य लहुग दप्पेणं।
तवकालेहि^{१७} विसिट्टा^{१८}, कारण अकमेण ते चेव^{१९} ॥ १९९२ ॥

१. सन्नि दुविह (बृभा २९८९)।

२. गाढमगाढे (दे)।

३. अभिगह (पा, भ), छंद की दृष्टि से यहां 'अभिगह' पाठ स्वीकृत है।।

४. बृभा २९९०

५. असं (बृभा २९९१), 'तेसू (दे, पा)।

६. 'ढेसू (दे), आगाढेसुं (बृभा)।

७. अण्णेसू (भ)।

८. सट्टाइ (मु, भ)।

९. बृभा २९९२।

१०. 'सुत्तं (दे)।

११. बृभा २९९३।

१२. नवे (बृभा २९९४)।

१३. 'दिणं (भ)।

१४. बृभा २९९५।

१५. सेडुओ—कप्पासो (चू)।

१६. पूणिकया वलितं पेलुरिति भण्यते (चू)।

१७. 'लेसु (भ)।

१८. विसिट्टो (दे)।

१९. बृभा २९९६।

२११०, २१११. संविग्न भिक्षु दो प्रकार के होते हैं—सांभोजिक और अन्यसांभोजिक। संज्ञी (श्रावक) दो प्रकार के होते हैं—संविग्नभावित और असंविग्नभावित। असंज्ञी (अन्य गृहस्थ) के दो प्रकार हैं—आगाढमिथ्यादृष्टि और अनागाढमिथ्यादृष्टि। एषणा आदि में उद्युक्त साध्वी के सामान्यतः कोई भेद नहीं है। साधु और साध्वी—दोनों वर्गों के पुनः दो-दो प्रकार हो जाते हैं—संविग्नपाक्षिक और असंविग्नपाक्षिक। अटवी निर्गत अवस्था में वस्त्र आदि का अभाव होने पर भी इन विभिन्न वर्गों से वस्त्र ग्रहण करने में यतना का प्रयोग करे। इनमें असंविग्नभावित श्रावक मृग के समान—अकल्प-कल्प विधि से अज्ञ होते हैं तथा आगाढमिथ्यादृष्टि विसंवाद और हीलना आदि करते हैं अतः भिक्षु प्रथमतः उनसे वस्त्र आदि ग्रहण न करें। २११२. उपर्युक्त परिस्थिति में भिक्षु सर्वप्रथम संविग्नभावित श्रावकों से शुद्ध वस्त्र आदि की याचना करें। उनके पास न मिले तो अनागाढमिथ्यादृष्टि से वस्त्र आदि ग्रहण करे। फिर इसी क्रम से पनक-परिहाणि पूर्वक असंविग्नभावित, अनागाढमिथ्यादृष्टि, अन्यसांभोजिक के द्वारा उपदिष्ट कुलों में वस्त्र आदि की याचना करे। इनके पास भी शुद्ध वस्त्र न मिले तो अन्यसांभोजिक संघाटक से शुद्ध या पूर्वगृहीत शुद्ध वस्त्र को ग्रहण करे।

२११३. उपर्युक्त विधि में जब अन्यसांभोजिक साधुओं के द्वारा उपदिष्ट कुलों में भी वस्त्र आदि उपलब्ध न हों तो अन्यसांभोजिक साधुओं के पास मूल एवं उत्तरगुणों से शुद्ध तथा स्वयं के लिए गृहीत शुद्ध वस्त्र हैं, उनमें पहले अभिन्न वस्त्र का ग्रहण करे, वह न मिले तो पुराना वस्त्र ले।

२११४. अन्यसांभोजिक साधुओं के पास भी वस्त्र न मिले तो नैतिक साधुओं द्वारा उपदिष्ट घरों में वस्त्र की मार्गणा करे। वहां न मिलने पर नैतिक मुनियों के संघाटक से वस्त्र का उत्पादन करे—उनसे पूर्वगृहीत, एषणाशुद्ध, नवीन एवं अपरिभुक्त वस्त्र को ग्रहण करे, वह न मिले तो उन्हीं से पुराने अपरिभुक्त वस्त्र को ग्रहण करे।

२११५. वस्त्र ग्रहण विधि में पहला भंग है—उत्तर और मूलगुणों की अपेक्षा शुद्ध^१ उसके पुनः चार भंग हो जाते हैं—१. नवीन अपरिभुक्त २. पुराना अपरिभुक्त ३. नवीन परिभुक्त और ४. पुराना परिभुक्त। पहले के समान दूसरे और तीसरे भंग में भी इसी चतुर्भंगी से वस्त्र का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि नवीन वस्त्र को ग्रहण करने में परिकर्म सम्बन्धी तथा सुगन्धित, वासित आदि परिभोग सम्बन्धी दोष नहीं होते, अतः वह पुराने की अपेक्षा अल्पदुष्ट है।

२११६. उपर्युक्त विधियों से किसी भी प्रकार से पनक परिहाणि से लेकर मासलघु प्रायश्चित्त पर्यन्त भी वस्त्र की उपलब्धि न हो सके तो श्रावकों को प्रज्ञप्त करने हेतु तथा उस वेश में स्वयं वस्त्र का ग्रहण कर सके, इसलिए आगाढ कारण में शाक्य आदि परतीर्थिक का लिंग धारण करना विधि सम्मत है। आगाढ कारण में मुनि हंस^२—हंसतैल आदि दुर्लभ द्रव्यों की ग्रहण विधि से अथवा चोर की भांति स्वयं वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

२११७. कपास, रूई, पिंजित रूई और पूणी (रूई की पहल)—इनको यदि भिक्षु दर्प से ग्रहण करता है तो उसे तप और काल से विशिष्ट चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कारण में यदि ग्रहण करना हो तो क्रमशः कपास आदि को ग्रहण करे—पहले पूणी ले, वह न मिले तो पिंजित रूई ले, वह न मिले तो रूई और अन्ततः कपास ले। यदि कारण में उत्क्रम से ग्रहण करता है तो भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. चार भंग हैं—१. मूलउत्तर गुणशुद्ध। २. मूलगुणशुद्ध, उत्तरगुण अशुद्ध। ३. मूलगुण अशुद्ध, उत्तरगुण शुद्ध। ४. मूल-उत्तरगुण अशुद्ध।

२. निभा २ चू. पृ. ३२५, ३२६—सव्वहा अभावे जहेव हंसतेल्लादियाणं गहणं दिट्ठं उवकरणस्स वि तहेव। अहवा हंसो तेणगो, जहा हंसो गहणं करेति, कज्जति।

२११८. कडजोगि एक्कगो वा, असतीए णालबद्धसहितो वा।
णिप्फाए उवकरणं, उभओ पक्खस्स पाउग्गं^१ ॥१९९३॥
२११९. अग्गीतेसु^२ विगिंचे, जहलाभं सुलभउवधिखेत्तेसु।
पच्छित्तं च वहंती^३, अलंभं^४ तं चेव धारेंति ॥१९९४॥
२१२०. एसेव गमो नियमा, सेसेसु पदेसु होति णातव्वो।
झामितमादीएसुं^५, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥१९९५॥
२१२१. सच्चित्तमीसगे^६ वा, जे भिक्खू दंडए करे धरे वा।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१९९६॥ नि ४८४ ॥
२१२२. सयमेव छेदणम्मी^७, जीवा दिट्ठे परेण उड्डाहो।
परच्छिण्ण मीसदोसा, भारेण विराधणा दुविधा ॥१९९७॥
२१२३. सुत्तणिवातो एत्थं, परच्छिण्णे^८ होति दंडगे तिविधे।
सो चेव मीसगो खलु, सेसे लहुगा य गुरुगा य ॥१९९८॥
२१२४. बितियपदमणप्पज्जे, गेलण्णऽद्धाण संभमभए^९ वा।
उवधी सरीर तेणग, पडिणीए साणमादीसु ॥१९९९॥
२१२५. वहणं तु गिलाणस्सा, बाला उवधी^{१०} पलंब-अद्धाणे।
अच्चित्ते मीसेतर, सेसेसु वि गहण जतणाए ॥२०००॥
२१२६. चित्ते^{११} य विचित्ते^{१२} या^{१३}, जे भिक्खू दंडगे करे धरे वा।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥२००१॥ नि ४८५ ॥
२१२७. सहजेणागंतूण व, अण्णतरजुतो उ^{१४} चित्तवण्णेणं।
दुप्पभितिसंजुतो पुण, विचित्त^{१५} अविभूसिते सुत्तं ॥२००२॥

१. बृभा २९९७।

२. अगीयत्थेसु (बृभा २९९८)।

३. वहंति (क)।

४. अलाभे (दे)।

५. °एसू (भ)।

६. सूत्र २५, २६ (नव ५/२५, २६)।

७. °म्मिं (क)।

८. परिच्छि° (भ)।

९. सावयभए (मु)।

१०. दुवधी (भ, दे)।

११. सूत्र २७-३० (नव ५/२७-३०), चित्तो णाम
एगतरेण वण्णेण उज्जलो (चू)।

१२. विचित्तो दोहिं वण्णेहिं (चू)।

१३. वा (दे), य (मु)।

१४. य (मु, भ)।

१५. विचित्तो (भ)।

२११८. कृतयोगी—गीतार्थ अथवा जिसने गृहवास में सूत काता हो, वह अकेला उभय पक्ष प्रायोग्य वस्त्रों का उत्पादन करे और यदि ऐसा कृतयोगी न हो तो नालबद्ध संयती को साथ लेकर उभयपक्ष प्रायोग्य वस्त्रों का उत्पादन करे।

२११९. यदि उस संघ में गीतार्थ और अगीतार्थ दोनों हों तो जैसे ही सुलभ उपधि वाले क्षेत्र में पहुंचे और अन्य उपकरण मिलें तो पूर्व उपकरणों को त्याग दे और अगीतार्थ मुनियों के प्रत्ययहेतु यथालघु प्रायश्चित्त का वहन करें। अन्य वस्त्र न मिलें तो उन्हीं को धारण करे। यदि सारे गीतार्थ हों और अन्य वस्त्र न मिलें तो यथाकर्मकृत विधि से उत्पादित वस्त्रों का त्याग करे या न करे, उनकी इच्छा है।

२१२०. दग्ध आदि शेष पदों में भी उत्सर्ग एवं अपवाद पद में नियमतः यही विधि ज्ञातव्य है।

२१२१. जो भिक्षु सचित्त या मिश्र बांस, बेंत आदि से दंड बनाता है अथवा धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२१२२. यदि भिक्षु स्वयं सचित्त काष्ठ का छेदन करता है तो जीवोपघात होता है। यदि उसे काष्ठछेदन करते हुए गृहस्थ देख लेता है तो उड्डाह—निन्दा होती है। परच्छिन्न वनस्पति भी मिश्र होने के कारण जीवोपघात होता है क्योंकि वह आर्द्र होती है। रजोहरण स्वयं ही भारी होता है, फिर दंडयुक्त होने से गुरुतर हो जाता है, फलतः आत्मविराधना एवं संयमविराधना होती है।

२१२३. दंड तीन प्रकार का होता है—१. बांस का २. बेंत का और ३. काष्ठ का। तीनों ही प्रकार के दण्ड जब दूसरे के द्वारा छिन्न होते हैं तब मिश्र होते हैं। सूत्रनिपात उस मिश्र दण्ड में है। शेष—सचित्त परित्त वनस्पतिकाय का दण्ड ग्रहण करने पर चतुर्लघु तथा अनन्तकायमय दण्ड का ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१२४. अपवाद में मुनि इन कारणों से अचित्त या सचित्त दण्ड को यतना पूर्वक ग्रहण कर सकता है— १. अनपध्यात (अनात्मवश) २. ग्लान्य ३. अटवी ४. संभ्रम^१ ५. भय ६. उपधि ७. शरीर ८. स्तेन ९. प्रत्यनीक और १०. श्वान आदि।

२१२५. भिक्षु ग्लान अथवा बाल का वहन करने हेतु, अटवी में उपधि अथवा प्रलम्ब (फल) का वहन करने हेतु, श्वापद आदि का निवारण करने हेतु, उपधि या शरीर का वहन करने हेतु तथा स्तेन, प्रत्यनीक एवं श्वान आदि का निवारण के लिए पहले अचित्त दण्ड को ग्रहण करे, वह न मिले तो मिश्र दंड ले तथा वह भी न मिले तो परित्तकायिक या अनन्तकायिक दंड को यतनापूर्वक ग्रहण करे।

२१२६. जो भिक्षु चित्र (एक वर्णवाला) तथा विचित्र (अनेक वर्णवाला दंड) बनाता है अथवा धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२१२७. कोई भी दण्ड विचित्र दो प्रकार से हो सकता है—१. सहजतया तथा २. आगन्तुक रूप से। कोई स्वभावतः अन्य चित्र (भिन्न) वर्ण से संयुक्त होता है तथा जो दो आदि दण्डों के संयोग से निर्मित हो, वह आगन्तुक रूप से विचित्रवर्ण वाला होता है। वह पुनः दो प्रकार से होता है—१. विभूषित एवं २. अविभूषित। प्रस्तुत सूत्र में अविभूषित विचित्र दंड के ग्रहण एवं धारण का निषेध प्रज्ञप्त है।

१. भाष्य की मुद्रित प्रति एवं चूर्ण के अनुसार दंड रखने का एक अपवाद है—श्वापदभय। प्रस्तुत पाठ के अनुसार ये दो अपवाद हैं—संभ्रम और भय।

२१२८. 'बित्तिपदमणप्पज्जे, गेलण्ण ऽद्धान'^१ संभम-भए वा ।
उवधी सरीर तेणग, पडिणीए साणमादीसु^२ ॥ २००३ ॥
२१२९. गामादिसण्णवेसा^३, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू असणादीणिं^४, गेण्हंताऽऽणादिणो दोसा ॥ २००४ ॥ नि ४८६ ॥
२१३०. मंगलममंगले वा, पवत्तण-निवत्तणे य थिरमथिरे ।
दोसा निव्विसमाणे^५, 'पुढवीमादी णिवट्टम्मि'^६ ॥ २००५ ॥
२१३१. मंगलबुद्धिपवत्तण, अधिकरण थिरम्मि होति तं चेव ।
अप्पडिपोगलठाणे, ओभावणमंतरायादी ॥ २००६ ॥
२१३२. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^७ भए व गेलण्णे ।
अद्धान रोहए वा, जतणा गहणं तु गीतत्थे ॥ २००७ ॥
२१३३. पुव्वपवत्ते गहणं, उक्खित्तपरंपरे य अणभिहडे ।
चुल्लिपदेसरसवती^८, परिमलिते^९ रुक्खदड्ढादी ॥ २००८ ॥
२१३४. अयमादिं^{१०} आगरा खलु, जत्तियमेत्ता तु^{११} आहिता सुत्ते ।
तेसू असणादीणिं, गेण्हंताऽऽणादिणो दोसा ॥ २००९ ॥ नि ४८७ ॥
२१३५. मंगलममंगले वा^{१२}, पवत्तण-निवत्तणे^{१३} य थिरमथिरे ।
दोसा निव्विसमाणे, इमे य दोसा निवट्टम्मि ॥ २०१० ॥

१. बित्तिपदं गेलण्णे असती अद्धान (क) ।
२. °मादिसु वि (मु), °मादीणि (भ) ।
३. सूत्र ३१-३४ (नव ५/३१-३४) ।
४. °दीणी (भ) ।
५. निव्विस्स° (भ) ।
६. °मादी णिवट्टम्मि (दे) ।
७. रायदुट्टे (मु) ।

८. चुल्ली° (दे) ।
९. परिमि° (दे, पा) ।
१०. °मादी (दे), सूत्र ३५ (नव ५/३५) ।
११. य (मु, भ) ।
१२. या (दे) ।
१३. °त्तणा (दे) ।

२१२८. अपवाद में मुनि इन कारणों से चित्र या विचित्र दण्ड को ग्रहण या धारण कर सकता है—
१. अनपध्यात २. ग्लान्य ३. अन्यदंड का अभाव ४. अटवी ५. संभ्रम ६. भय ७. उपधि ८. शरीर ९. स्तेन
१०. प्रत्यनीक एवं ११ श्वान आदि।

२१२९. ग्राम से लेकर सन्निवेश पर्यन्त जितने स्थान सूत्र में प्रज्ञप्त हैं, उन नए बसे हुए गांव, नगर, प्राकार, खेट, कर्बट इत्यादि में जो भिक्षु अशन, पान आदि ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१३०. कोई ग्राम आदि नया बसा और कोई भद्र पुरुष वहां निवास हेतु आया। वहां साधुओं को देखकर वह उसे मंगल मानता है तो मुनि उसकी प्रवृत्ति में निमित्तभूत बनते हैं। यदि वहां रहते ही वह सर्वप्रथम साधुओं को भिक्षा आदि देता है और संयोगवश वह स्थिर हो जाता है तो उसे साधुओं का प्रभाव मानकर उन अथवा अन्य साधुओं के लिए उद्गम आदि दोष करता है। दूसरी तरफ कोई प्रान्त पुरुष उस नवीन ग्राम में आए और साधु दर्शन को अमंगल माने अथवा अस्थिर हो जाने पर उसे साधु दर्शन, भिक्षादान आदि का दोष माने तो वह उन अथवा अन्य साधुओं को अशन आदि देने से मना करता है, फलतः मुनि उस अन्तराय के निमित्त बनते हैं—ये उस नवीन बसे हुए ग्राम आदि में प्रवेश के दोष हैं। वहां की पृथ्वीकाय आदि शस्त्र परिणत नहीं होते, अतः वहां बैठने से पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के संघट्टन से संयमविराधना संभव है।

२१३१. नवीन ग्राम में साधुओं के अशन आदि हेतु प्रविष्ट होने पर भद्र गृहस्थ के मंगलबुद्धि से प्रवर्तन तथा स्थिर होने पर अधिकरण (उद्गम आदि दोषों से हिंसा) का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि उनके दर्शन के बाद सहजभाव से भी कोई प्रान्त पुरुष दरिद्रता^१ से ग्रस्त हो तो अवभावन और अन्तराय दोष पैदा होते हैं।

२१३२. द्वितीय पद में इन कारणों से गीतार्थ भिक्षु यतनापूर्वक नवीन ग्राम आदि में अशन आदि को ग्रहण कर सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी एवं ७. नगररोध।

२१३३. यदि नए बसे हुए ग्राम आदि में अशन आदि ग्रहण करना हो तो जहां अशन आदि को परोसना प्रारम्भ कर दिया गया हो, वहां जाकर ग्रहण करे ताकि प्रवर्तन आदि दोष न हों। जो भोजन बर्तन आदि में निकाल कर परंपरित रूप से रख दिया गया हो, वह भोजन अपने स्थान पर स्थित होकर ले, अभिहृत आहार न ले। चूल्हे के स्थान पर जहां पृथ्वीकाय आदि विध्वस्त हों या रसोई घर में, गाय आदि के द्वारा परिमर्दित पृथ्वी पर या जहां वृक्ष आदि जलाए गए हों, जहां पर सचित्त पृथ्वीकाय आदि की संभावना न हो, वहां अशन आदि ग्रहण करे।

२१३४. लोहे, तांबे, त्रपु, शीशा आदि जिन-जिन धातुओं की खान का सूत्र में निर्देश दिया गया है, उन में जो मुनि अशन, पान आदि ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१३५. लोहे, तांबे आदि की खानें जो अभी नई-नई बसी हैं, वहां कोई भद्र गृहस्थ निवास हेतु आया। वहां साधुओं को देखकर वह उसे मंगल मानता है तो मुनि उसकी प्रवृत्ति में निमित्तभूत बनते हैं। यदि वहां रहते ही वह सर्वप्रथम साधुओं को भिक्षा आदि देता है और संयोगवश वह स्थिर हो जाता है तो उसे साधुओं का प्रभाव मानकर उन अथवा अन्य साधुओं के लिए उद्गम आदि दोष करता है। दूसरी तरफ कोई प्रान्त पुरुष उस नवीन ग्राम में आए और साधु दर्शन को अमंगल माने अथवा अस्थिर हो जाने पर उसे साधु दर्शन, भिक्षादान आदि का दोष माने तो वह उन अथवा अन्य साधुओं को अशन आदि देने से मना करता है, फलतः मुनि उस अन्तराय के निमित्त बनते हैं—ये उस नवीन बसी हुई खान में प्रवेश के दोष हैं। वहां की पृथ्वीकाय आदि शस्त्रपरिणत नहीं होते, अतः वहां बैठने से पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के संघट्टन से संयमविराधना संभव है।

१. निभा २ चू. पृ. ३२९—अपडिपुगलं णाम दारिद्रता।

२१३६. पुढवि ससरक्ख हरिते, सच्चित्ते मीसगे हिते संका ।
सयमेव कोइ गिण्हति, तण्णीसाए अहव अण्णो^१ ॥२०११ ॥
२१३७. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण-रोहए वा, जतणा गहणं तु गीतत्थे ॥२०१२ ॥
२१३८. मुहमादि^२ वीणिया खलु, जत्तियमेत्ता तु^३ आहिता सुत्ते ।
सद्दे अणुदिण्णे वा, उदीरयंतम्मि आणादी ॥२०१३ ॥ नि ४८८ ॥
२१३९. सविगार अमज्झत्थे, मोहस्स उदीरणा य^४ उभओ वि ।
पुणरावत्ती^५ दोसा, य वीणिगाओ य सद्देसु ॥२०१४ ॥
२१४०. इत्थिपरियारसद्दे, रागे दोसे तहेव कंदप्पे ।
गुरुगा गुरुगा गुरुगा, लहुगा लहुगो कमेण भवे ॥२०१५ ॥
२१४१. बित्थियपदमणप्पज्जे^६, करेज्ज अविकोवितो व अप्पज्जे ।
जाणंते वावि पुणो, सण्णा सागारमादीसु ॥२०१६ ॥
२१४२. ओहेण^७ विभागेण य, दुविधा उद्देसिया भवे सेज्जा ।
ओहेणेवतियाणं, बारसभेदा विभागम्मि ॥२०१७ ॥ नि ४८९ ॥
२१४३. जामात्थिय मंडवगो, रसवति रह-साल-आवण-गिहादी ।
परिभोगमपरिभोगे, चउण्हट्ट कोइ^८ संकप्पे ॥२०१८ ॥ नि ४९० ॥

१. × (दे), अण्णे (भ) ।

२. सूत्र ३६-५९ (नव ५/३६-५९) ।

३. य (मु) ।

४. उ (दे) ।

५. पुणरावत्ति णाम कोइ भुत्तभोगी पव्वतितो सो चिंतिति अम्ह

वि महिलाओ एवं करंति, तस्स पुणरावत्ती भवति (चू) ।

६. बीयं (दे) ।

७. सूत्र ६० (नव ५/६१) ।

८. कास (दे) ।

२१३६. नवीन निवेशित लोहे आदि की खान की पृथ्वीकाय सचित्त होती है। वहां के लोगों के हाथ, पात्र आदि भी सचित्त पृथ्वीकाय से खरंटित होते हैं, अतः वहां अशन आदि ग्रहण करने से पृथ्वीकाय का उपघात होता है। वहां हरियाली तथा सचित्त या मिश्र अप्काय आदि का उपघात होने से संयमविराधना होती है। कोई वस्तु चोरी चली जाए तो मुनि पर शंका हो सकती है। अथवा कोई उन्निष्क्रमण का इच्छुक साधु वहां से सोना, चांदी आदि चुरा ले या साधु की निश्रा में कोई अन्य व्यक्ति चोरी कर ले—इत्यादि दोषों के कारण नवीन निवेशित लोहे, त्रपु, सोने आदि की खानों में मुनि अशन आदि ग्रहण न करे।

२१३७. गीतार्थ भिक्षु इन आपवादिक कारणों में नवीन निवेशित खानों में यतनापूर्वक अशन आदि ग्रहण कर सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।

२१३८. मुख, दांत, ओष्ठ आदि जिन-जिन से वादित्र शब्द करने के निषेध का सूत्र में निर्देश दिया गया है, उन शब्दों के द्वारा जो भिक्षु अनुदीर्ण मोह की उदीरणा करता है या उपशान्त मोह की उदीरणा करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१३९. मुख, दांत आदि से वादित्र शब्दों को करने वाले मुनि के ये दोष पैदा होते हैं—१. मुखवीनिका आदि करने से मुनि की सविकारता प्रकट होती है। लोग कहते हैं—अहो! ये विकारसहित प्रव्रजित हुए हैं। २. ये कार्य मुनि की राग-द्वेष युक्तता को प्रकट करते हैं। ३. स्वयं के एवं दूसरे के मोह की उदीरणा होती है। ४. भुक्तभोगी को उसे देख कर पुनरावृत्ति होती है, वह चिन्तन करता है कि हमारी महिलाएं भी ऐसा ही करती थीं। ५. मुखवीनिका आदि को सुनकर अन्य साधुओं में प्रतिगमन आदि दोष पैदा होते हैं।

२१४०. जो भिक्षु मुख, दांत आदि से स्त्रीशब्द, परिचारणा शब्द अथवा अन्य कोई रागहेतुक शब्दों की उदीरणा करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो द्वेष से मुखवीनिका आदि शब्द करता है उसे चतुर्लघु तथा कंदर्प से शब्द को करने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१४१. अपवाद में—१. अनात्मवश मुनि मुखवीनिका आदि शब्द कर सकता है। २. अविकोविद (अज्ञ) शैक्ष अज्ञता के कारण शब्द कर सकता है। ३. गीतार्थ मुनि आत्मवश होने पर भी अटवी आदि में एक दूसरे से बिछुड़ जाने पर मिलने हेतु मुखवीनिका आदि कर सकता है। ४. कभी भाव-सागारिक प्रतिबद्ध शय्या में रहना पड़े, वहां स्त्रियों आदि के रहस्य शब्द सुनाई दे रहे हों तो वे सुनाई न दें, इसलिए भी विज्ञ मुनि मुखवीनिका आदि शब्द कर सकते हैं।

२१४२. औद्देशिक शय्या के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. ओघ से और २. विभाग से। ओघ-संक्षेप में श्रमण या ब्राह्मण का विशेष निर्देश किए बिना, संख्या मात्र (इतने व्यक्तियों के लिए) के आधार पर बनाई गई शय्या ओघ से औद्देशिक शय्या है। विभागपूर्वक औद्देशिक शय्या के बारह भेद होते हैं।

२१४३. (रिश्तेदारों के) जीमनवार के लिए मंडप बनाया हुआ हो, भोजन बनाने हेतु रसोईघर, रथ आदि के लिए शाला, व्यापार के लिए दुकान या स्वयं के रहने हेतु घर बनाया हुआ हो—इन सब का स्वयं भोग करके या भोग किए बिना उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश^१—इन चारों के लिए कोई संकल्प करे।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. २१४५।

२१४४. 'उद्देसिगा समुद्देसिगा च'^१ आदेस तह समादेसं^२।
एमेव कडे चउरो, कम्मम्मि वि होंति चत्तारिं^३ ॥२०१९॥
२१४५. जावंतिग उद्देसो^४, पासंडीणं^५ भवे समुद्देसो^६।
समणाणं आदेसो^७, निग्गंथाणं समादेसो^८ ॥२०२०॥
२१४६. सडित-पडिताणं^९ करणं, कुड्डुकडादीण संजतट्टाए।
एमादि कडं कम्मं, तु भंजितुं जं पुणो कुणति ॥२०२१॥
२१४७. उद्देसिगम्मि लहुगो, 'चउसु वि ठाणेसु होति उ विसिट्ठो'^{१०}।
एमेव कडे गुरुगो, कम्मादिम लहुग तिसु गुरुगा ॥२०२२॥
२१४८. सुत्तणिवातो ओघे, 'आदिविभागे य'^{११} चउसु वि पदेसु।
एतेसामण्णतरं, पविसंताऽऽणादिणो दोसा ॥२०२३॥ नि ४९१॥
२१४९. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोहए वा, जतणाए कप्पती वसिडं ॥२०२४॥
२१५०. पाहुडिया^{१२} वि य^{१३} दुविधा, बादर सुहुमा य होंति णातव्वा।
एक्केक्का वि य तत्था^{१४}, पंचविधा होंति णातव्वा^{१५} ॥२०२५॥ नि ४९२॥
२१५१. विद्धंसणं^{१६} छावणं^{१७} लेवणे^{१८} य भूमीकम्मे^{१९} पडुच्च पाहुडिया।
ओसक्कणं^{२०} अहिसक्कणं^{२१}, देसे सव्वे य णातव्वा^{२२} ॥२०२६॥ नि ४९३॥

- | | |
|---|---|
| १. उद्देसियं समुद्देसियं य (पा)। | कम्मपाहुडं भवति, सा सपाहुडिया छावण-लेवणादि-
करणमित्यर्थः (चू)। |
| २. °देसा (मु), °देसे (क)। | |
| ३. गाथा का उत्तरार्धं पिनि (९७) में इस प्रकार है—
एवं कडे य कम्मे, एक्केक्क चउव्विहो भेदो। | १३. हु (मु)। |
| ४. मुद्देसो (मु), उद्देसा (भ)। | १४. एतो (बृभा १६७४)। |
| ५. पासंडाणं (मु)। | १५. भज्जंती (मु, भ)। |
| ६. °देसा (भ)। | १६. विद्धंसणं भंजणं (चू)। |
| ७. आदेसा (भ)। | १७. छज्जकरणं छावणं (चू)। |
| ८. °देसा (भ), पिनि ९८। | १८. कुड्डुण लिंगणं लेवणं (चू)। |
| ९. °ताणं (भ)। | १९. भूमीए समविसमाए परिकम्मणं भूमीकम्मं (चू)। |
| १०. पत्ते य होति चउसु ठाणेसु (भ)। | २०. कालाण उस्सक्कणं ओसक्कणं (चू)। |
| ११. °गेसु (दे)। | २१. कालस्स संवद्धणं उस्सक्कणं (चू)। |
| १२. सूत्र ६१ (नव ५/६२), जम्मि वसहीए ठियाण | २२. बृभा १६७५। |

२१४४. औद्देशिक शय्या के संकल्प के विषय में चार प्रकार होते हैं—१. उद्देश २. समुद्देश ३. आदेश और ४. समादेश। कृत एवं कर्म के विषय में भी ये ही चारों प्रकार हो जाते हैं। (इस प्रकार विभागकृत औद्देशिक शय्या के कुल बारह भेद हो जाते हैं।)

२१४५. जिस गृह, उपाश्रय आदि का निर्माण चाण्डाल पर्यन्त अंतिम व्यक्ति का उद्देश्य करके करवाया जाए, वह उद्देश कहलाता है। जो सामान्यतः सर्व पाषण्डियों के उद्देश्य से निर्मित हो, वह समुद्देश, जो निर्ग्रन्थ, तापस, शाक्य, आजीवक आदि के उद्देश्य से निर्मित हो, वह आदेश तथा जो केवल निर्ग्रन्थों के उद्देश्य से निर्मित हो, वह समादेश कहलाता है।

२१४६. जो दीवार, कट (आस्तरण) आदि गिर गए हों या उनका खंड गिर गया हो, उनको मुनि के लिए व्यवस्थित करना, सुधरवाना, कृत शय्या के अन्तर्गत है। जो पूर्वकृत हैं, उन्हें तोड़कर पुनः साधु के लिए उसी लकड़ी आदि से बनाना कर्म कहलाता है।

२१४७. औधिक औद्देशिक शय्या में प्रवास करने वाले भिक्षु को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। विभागकृत औद्देशिक शय्या के प्रथम चार भंगों में (स्थानों में) तप एवं काल से विशिष्ट मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार कृत औद्देशिक शय्या के चारों भंगों में तप और काल से विशिष्ट मासगुरु तथा कर्म में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१४८. प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध औधिक तथा विभागकृत औद्देशिक शय्या के प्रथम चारों पदों के विषय में है। जो भिक्षु इनमें से किसी भी शय्या में प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१४९. इन आपवादिक परिस्थितियों में यतनापूर्वक औद्देशिक शय्या में प्रवेश करना कल्पता है—
१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी एवं ७. नगररोध।

२१५०. प्राभृतिका^१ के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. बादर और २. सूक्ष्म। उनमें भी प्रत्येक के पांच-पांच प्रकार होते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।

२१५१. बादर प्राभृतिका के पांच प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. विध्वंसन^२ २. छादन^३ ३. लेपन^४ ४. भूमिकर्म^५ और ५. प्रतीत्य प्राभृतिका^६। इनके पुनः दो-दो भेद हो जाते हैं—१. काल का अवष्वक्कन और २. अधिष्वक्कन तथा १. देश प्राभृतिका और २. सर्वप्राभृतिका।

१. प्राभृतिका—घर की मरम्मत, परिकर्म आदि।

२. विध्वंस—पुराने को तोड़कर नया बनाना।

३. छादन—दर्भ आदि से छादन—छज्जा, छत आदि बनाना।

४. लेपन—दीवार आदि को पुतवाना।

५. भूमिकर्म—विषम भूमि को सम करना, परिष्कार करना।

६. प्रतीत्य प्राभृतिका—साधु के निमित्त त्रिशाल से चतुःशाल बनवाना आदि।

२१५२. अच्छंतु ताव समणा, गतेसु 'भंतुं ततो पु'^१ काहामो ।
ओभासिते व संते, 'न एंति'^२ ता^३ भंतुणं कुणिमो ॥ २०२७ ॥
२१५३. एसेव गमो नियमा, छज्जे लेप्पे^४ य भूमिकम्मे य ।
तेसाल-चउस्साले^५, पडुच्चकरणं तु जइनिस्सा ॥ २०२८ ॥
२१५४. पुव्वघरं दाऊणं^६, जतीण अण्णं करेति सट्टाए ।
काउमणा वा अण्णं, ण्हाणादिसु कालमोसक्के ॥ २०२९ ॥
२१५५. एमेव य ण्हाणादिसु, सीतलकज्जट्ट कोइ^७ उस्सक्के ।
मंगलबुद्धी सो पुण, गतेसु तहियं वसिउकामो ॥ २०३० ॥
२१५६. सम्मज्जणं^८ आवरिसणं^९, उवलेवणं^{१०} पुप्फं^{११} दीवती चेव ।
ओसक्कण उस्सक्कणं^{१२}, देसे सव्वे य णातव्वा ॥ २०३१ ॥ नि ४९४ ॥
२१५७. जाव न मंडलिवेला, ताव पमज्जामु होति ओसक्का ।
उट्टेंतु ताव पढिउं, उस्सक्कणमेव सव्वत्थं^{१३} ॥ २०३२ ॥
२१५८. सव्वम्मि यं^{१४} चतुलहुगा, 'देसम्मि य बादरा य लहुगो तु'^{१५} ।
सव्वम्मि मासिगं तू^{१६}, देसे भिण्णो यं^{१७} सुहुमाए ॥ २०३३ ॥
२१५९. छिण्णमछिण्णाकाले^{१८}, पुणो य नियता य अणियता चेव ।
निद्धिट्ठमणिद्धिट्ठा^{१९}, पाहुडिया अट्टुभंगा उ ॥ २०३४ ॥

१. भंतूण पच्छ (बृभा १६७६) ।

२. नयति (क) ।

३. जा (बृभा) ।

४. लेवे (बृभा १६७७) ।

५. चाउसालं (बृभा), चाउसाल (भ) ।

६. ण व (दे, बृभा १६७८) ।

७. कोवि (दे), बृभा १६७९ ।

८. सम्मज्जण (पा), सम्मज्जण ति पमज्जणं (चू) ।

९. वरिसीयण (मु, दे, पा), उदगेण वरिसणं आवरिसणं (चू) ।

१०. छगणमट्टियाए लिंपणं उवलेवणं (चू) ।

११. सुहुम (बृभा १६८१) ।

१२. अहिसं (बृभा) ।

१३. बृभा १६८२ ।

१४. उ (बृभा १६८०, भ) ।

१५. देसम्मी बायराएँ लहुओ उ (बृभा) ।

१६. खलु (बृभा) ।

१७. उ (मु) ।

१८. जीसे उवलेवणादि परिछिण्णे काले कज्जति, सा छिण्णा (चू) ।

१९. निद्धिट्ठाऽनिं (बृभा १६८३) ।

२१५२. कोई गृहस्थ सोचता है—ज्येष्ठमास में घर तोड़कर दूसरा नया बनवाऊंगा। अचानक ज्येष्ठमास में कोई साधु उसके घर मासकल्प हेतु पधार गए। वह सोचता है—अभी मुनिजन रहें, इनके जाने के बाद करवाऊंगा। यह काल का अधिष्वक्कन या अधिष्वक्कन है। अथवा ज्येष्ठमास के लिए किसी क्षेत्र-प्रतिलेखक मुनि ने उसका घर मांग लिया, अतः वह सोचता है—जब तक मुनिजन नहीं आते, मैं अपने घर की मरम्मत करवा लूं। ऐसा सोचकर वह उस विध्वंसन को ज्येष्ठमास से पूर्व (वैशाख) में ही करवा लेता है—यह काल का अवष्वक्कन है।^१

२१५३. छादन, लेपन एवं भूमिकर्म के विषय में भी अवष्वक्कन एवं अधिष्वक्कन के संदर्भ में यही विधि ज्ञातव्य है। कोई गृहस्थ स्वयं के लिए त्रिशाल बनाना चाहता है, फिर वह साधुओं की दृष्टि से चतुःशाल बनवा लेता है—यह प्रतीत्यकरण या प्रतीत्य प्राभृतिका है।

२१५४. कोई गृहस्थ अपने पूर्व घर को साधुओं को दे देता है तथा स्वयं के लिए अन्य नया बनवा लेता है—यह भी प्रतीत्यकरण है। कोई गृहस्थ जेठमास में अपने लिए नया घर बनवाना चाहता है, पर वह वैशाखमास में इसलिए बनवा लेता है ताकि मुनि रथयात्रा, स्नपन आदि के समय उसके घर में रह सकें—यह प्रतीत्यकरण में काल का अवष्वक्कन है।

२१५५. इसी प्रकार स्नपन महोत्सव आदि के समय कोई गृहस्थ सोचता है—वैशाख के महीने में यहां स्नपन के अवसर पर साधु-समागम होगा। नया घर टंडा रहेगा, इसलिए स्नपन काल के पास ही घर बनवाऊंगा—इस प्रकार काल का अवष्वक्कन कर देता है। अथवा कोई व्यक्ति मंगलबुद्धि से काल का अवष्वक्कन, अधिष्वक्कन करता है—पहले साधु यहां रहे, उनके जाने के बाद मैं रहूंगा—इस दृष्टि से मकान पहले या पीछे बनवाना भी प्रतीत्यकरण है।

२१५६. सूक्ष्म प्राभृतिका के पांच प्रकार हैं—१. सम्मार्जन २. आवर्षण (जल का छिड़काव) ३. उपलेपन (गोबर आदि से लीपना) ४. पुष्पोपचार (पुष्पों की प्रकर रचना) और ५. दीपक जलाना। इनका भी कालतः उत्ष्वक्कन एवं अवष्वक्कन हो सकता है तथा प्रत्येक के देश और सर्व दो-दो भेद हो सकते हैं।

२१५७. जब तक मंडलीवेला—मुनिजन के आहार आदि का समय नहीं होता, तब तक घर का प्रमार्जन (सफाई) कर दें—यह सम्मार्जन विषयक अवष्वक्कन है। मुनिजन आहार करके उठ जाएं अथवा मुनिजन पढ़कर उठ जाएं—यह सम्मार्जन विषयक उत्ष्वक्कन है। इसी प्रकार आवर्षण, उपलेपन आदि सब में ज्ञातव्य है।

२१५८. जो भिक्षु सर्वप्राभृतिका युक्त वसति में अनुप्रविष्ट होता है, उसे विध्वंसन, छादन आदि पांचों ही पदों में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा इन्हीं में देश प्राभृतिका युक्त वसति में अनुप्रविष्ट होने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सूक्ष्म प्राभृतिका—सम्मार्जन, आवर्षण आदि से सर्वप्राभृतिका युक्त वसति में अनुप्रविष्ट होने वाले भिक्षु को मासलघु तथा देशप्राभृतिका में भिन्नमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१५९. सूक्ष्म प्राभृतिका के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. छिन्नकाल में करणीय और २. अच्छिन्न काल में करणीय। पुनः उनके दो-दो प्रकार हो सकते हैं—१. नियत और २. अनियत। पुनः प्राभृतिका करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं—१. निर्दिष्ट पुरुष (इन्द्रदत्त आदि) द्वारा कृत और २. अनिर्दिष्ट पुरुषकृत। इस प्रकार छिन्न, नियत एवं निर्दिष्ट—इन तीन पदों से प्राभृतिका के आठ भंग हो जाते हैं।^१

१. विवक्षित काल से पूर्व वसति का निर्माण आदि अवष्वक्कन तथा निर्माण आदि के विवक्षित काल को बढ़ाना अधिष्वक्कन कहलाता है।

२. आठ भंग हैं—१. छिन्नकालिक नियत निर्दिष्ट २. छिन्नकालिक अनियत निर्दिष्ट ३. छिन्नकालिक नियत अनिर्दिष्ट ४. छिन्नकालिक अनियत अनिर्दिष्ट ५. अछिन्नकालिक नियत निर्दिष्ट ६. अछिन्नकालिक अनियत अनिर्दिष्ट ७. अछिन्नकालिक नियत अनिर्दिष्ट और ८. अछिन्नकालिक अनियत निर्दिष्ट।

२१६०. मासे पक्खे दसरायए य पणगे य एगदिवसे य ।
वाघातिमपाहुडिया, होति पवाता निवाता य^१ ॥२०३५ ॥
२१६१. पुव्वण्हे अवरण्हे, सूरम्मि^२ अणुग्गते व अत्थमिते ।
'मज्झंतिए व वसही'^३, 'सेसं कालं'^४ पडिक्कुट्टा^५ ॥२०३६ ॥
२१६२. पुरिसज्जाओ अमुगो, पाहुडियाकारगो त्ति^६ निद्धिट्ठो ।
सेसा तु अणिद्धिट्ठा, पाहुडिया होति णातव्वा ॥२०३७ ॥
२१६३. कारुण मासकप्पं, वयंति जा कीरती^७ उ मासस्स ।
सा खलु निव्वाघाता, तं वेलाऽऽरेण णिंताणं^८ ॥२०३८ ॥
२१६४. अवरण्हं गिम्हकरणे, पवात सा जेण णासयति घम्मं ।
पुव्वण्हे जा सिसिरे, निव्वात-निवात सा रत्तिं^९ ॥२०३९ ॥
२१६५. पुव्वण्हमपट्टविते^{१०}, अवरण्हे उट्ठितेसु य पसत्था ।
मज्झण्ह निग्गतेसु य, मंडलिसुत पेह वाघाता ॥२०४० ॥
२१६६. तं वेल सारवेती^{११}, पाहुडियाकारगं व पुच्छंति^{१२} ।
मोत्तूण चरिमभंगं, जयंति एमेव सेसेसु ॥२०४१ ॥
२१६७. चरिमे वि होति जतणा, वसंति आउत्त उवधिणो निच्चं ।
दक्खे^{१३} य वसहिपाले^{१४}, ठवेति थेरे पुणित्थीसु^{१५} ॥२०४२ ॥
२१६८. देसम्मि बादरा ते, सुत्तणिवातो उ निवतती एत्थं ।
सव्वम्मि य सुहुमाए, तं सेवंतम्मि आणादी ॥२०४३ ॥ नि ४९५ ॥
२१६९. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणाए कप्पती वसितुं ॥२०४४ ॥

१. बृभा १६८४।

२. सूरे व (दे)।

३. मज्झण्हे इय वसती (मु)।

४. सेसं कालं ति सप्तम्यर्थे द्वितीया (बृभाटी)।

५. बृभा १६८५।

६. उ (बृभा १६८६)।

७. कीरते (भ)।

८. बृभा १६८७।

९. ंरण्हं (दे)।

१०. बृभा १६८८।

११. ंण्हें अपं (बृभा १६८९)।

१२. ंवित्ति (क)।

१३. पुच्छती (दे), बृभा १६९०।

१४. दक्खेहि (दे)।

१५. वसतिं (मु)।

१६. बृभा १६९१।

२१६०. जो प्राभृतिका महीने के अन्त में, पक्ष के अन्त में, दस रात से, पांच रात से, एक दिन से अथवा निरन्तर—इस प्रकार निश्चित कालावधि से की जाती है, वह छिन्नकाल प्राभृतिका होती है। वसति को प्रवात या निवात बनाने हेतु जो प्राभृतिका सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी आदि के काल में की जाती है, वह व्याघातिम प्राभृतिका कहलाती है।

२१६१. पूर्वाह्न में सूर्योदय से पूर्व, अपराह्न में सूर्यास्त के बाद तथा मध्याह्न में कालवेला में—अर्थपौरुषी के उठने के बाद जो प्राभृतिका की जाती है, वह अव्याघातिम प्राभृतिका कहलाती है। शेष—अन्य समयों में की जाने वाली प्राभृतिका प्रतिक्रुष्ट है।

२१६२. जिसमें प्राभृतिका करने वाला व्यक्ति अमुक पुरुष है, अमुक स्त्री है—इस प्रकार निर्दिष्ट हो, वह निर्दिष्ट प्राभृतिका कहलाती है। जिसमें इस प्रकार से किसी कर्त्ता का निर्देश (नाम-कथन) न हो, वह अनिर्दिष्ट प्राभृतिका है—ऐसा ज्ञातव्य है।

२१६३. प्राभृतिका करने के बाद मुनि मासकल्प हेतु प्रविष्ट हुए और महीने के बाद जब प्राभृतिका की जाती है, उस समय से पूर्व ही वे वहां से विहार कर गए—इस प्रकार उनके विहार के पश्चात् की जाने वाली यह मासान्तिक प्राभृतिका भी निर्व्याघात प्राभृतिका है।

२१६४. ग्रीष्मकाल में अपराह्न में मिट्टी, गोबर आदि का लेप करने से उस वसति की गर्मी नष्ट होती है अतः वह प्राभृतिका शीतहेतुक होने से प्रवात प्राभृतिका होती है। इसी प्रकार शिशिरकाल में पूर्वाह्न में गोबर आदि का लेप करने से वसति दिन और रात में निवात हो जाती है अतः वह निवात प्राभृतिका कहलाती है।

२१६५. पूर्वाह्न में सूर्योदय से पूर्व जब तक स्वाध्याय आरम्भ न हो, अपराह्न में स्वाध्याय पौरुषी के सम्पन्न होने पर तथा मध्याह्न में जब मुनिजन भिक्षा हेतु निर्गमन कर दें, तब जो प्राभृतिका की जाती है, वह प्रशस्त है क्योंकि उससे श्रुतमण्डली, भोजनमण्डली और उपकरणप्रेक्षा में कोई विघ्न नहीं होता। जहां प्राभृतिका से श्रुतमण्डली, भोजनमण्डली एवं प्रतिलेखना में व्याघात हो, वहां मुनि को नहीं रहना चाहिए।

२१६६. आपवादिक परिस्थिति में यदि प्राभृतिका युक्त वसति में रहना हो तो मुनि प्रथम भंग वाली वसति में रहें। यदि अन्य भंगों वाली वसति में रहना अनिवार्य हो तो चरम भंग को छोड़कर शेष में यह यतना है—प्राभृतिका करने वाले व्यक्ति को मुनि पूछे कि तुम किस समय प्राभृतिका (सफाई आदि) करोगे? जब वह प्राभृतिका करे, उस समय मुनि अपने उपकरणों की सारणा करे।

२१६७. चरम भंग विषयक यतना यह है—मुनि नित्य अपने उपकरणों के प्रति जागरूक रहें। दक्ष वसतिपाल को उपाश्रय में स्थापित करे। यदि उपाश्रय में प्राभृतिका करने वाली स्त्री न हो तो तरुण वसतिपाल रखें तथा स्त्री प्राभृतिकाकर्त्री हो तो स्थविर वसतिपाल की स्थापना करे।

२१६८. प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध देश बादर प्राभृतिका तथा सर्व सूक्ष्म प्राभृतिका—इन दो में घटित होता है। जो भिक्षु इन प्राभृतिकाओं से युक्त वसति में रहता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१६९. अपवाद में भिक्षु को इन कारणों से यतनापूर्वक प्राभृतिका युक्त वसति में रहना कल्पता है—
१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।

२१७०. सपरीकम्मा^१ सेज्जा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
एक्केक्का वि य एत्तो, सत्तविधा होंति णातव्वा ॥२०४५॥ नि ४९६ ॥
२१७१. पट्टीवंसो दो धारणा य^२ चत्तारि मूलवेलीओ।
मूलगुण सपरिकम्मा, एसा सेज्जा तु णातव्वा ॥२०४६॥ नि ४९७ ॥
२१७२. वंसग कडणोक्कंपण^३, छावण लेवण दुवारभूमी य।
सप्परिकम्मा सेज्जा, एसा मूलुत्तरगुणेसु^४ ॥२०४७॥ नि ४९८ ॥
२१७३. दूमिय-धूमिय-वासिय, उज्जोवित बलिकडा अवत्ता^५ य।
सित्ता सम्मट्टा^६ वि य, विसोधिकोडी कता वसही ॥२०४८॥
२१७४. अप्फासुगेण^७ देसे, सव्वे वा दूमितादि चतुलहुगा।
अप्फासु धूमजोती, देसे वि तहिं भवे लहुगा ॥२०४९॥
२१७५. सेसेसु फासुगेणं, देसे लघु सव्वहिं भवे लहुगा।
सम्मज्जण साहु कुसादि छिण्णमेत्तं^८ तु सच्चित्तं ॥२०५०॥
२१७६. मूलुत्तर^९ चतुभंगो, पढमे बित्तिए^{१०} य गुरुग^{११} सविसेसा।
ततियम्मि होति भयणा, अत्तट्टकडे चरिमसुद्धो^{१२} ॥२०५१॥
२१७७. संठवणा^{१३} लिंपणता, भूमीकम्मे^{१४} दुवार^{१५} संथारे।
थिगलकरणे पडिवुज्जणे^{१६} य दगनिग्गमे चेव ॥२०५२॥
२१७८. संकमकरणे य तहा, दग-वात विलेवण होति पिहणे य।
उच्छेव संधिकम्मे, उवघात उवस्सयस्सेते ॥२०५३॥

१. सपरि° (भ), सूत्र ६२ (नव ५/६३)।

२. उ (भ)।

३. °कप्पण (भ), दंडगोवरि ओलवणं उक्कंपणं (चू)।

४. °णेहिं (दे)।

५. छगणमट्टियाए पाणिणय य अवत्ता (चू)।

६. बहुकाराइणा सम्मट्टा प्रमार्जिता (चू)।

७. °एणं (दे)।

८. छन्न° (दे)।

९. °त्तरे (भ, पा)।

१०. बीए (दे)।

११. गुरुदुग (मु)।

१२. चरिमे सुद्धो (दे)।

१३. अवयवाण साडगो एगदेसखंडस्स पडणं एतेसिं संठवणा (चू)।

१४. भूमीए विसमाए समीकरणं भूमिपरिकम्मं (चू)।

१५. सीतकालं पडुच्च वित्तिण्णदुवारा संकुडा कज्जति णिवायट्टा गिम्हं पडुच्च संकुडदुवारा विसाला कज्जति पवायट्टा (चू)।

१६. परिवु° (दे)।

२१७०. सपरिकर्म शय्या के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. मूलगुण परिकर्म युक्त और २. उत्तरगुण परिकर्म युक्त। इन दोनों के ही सात-सात प्रकार ज्ञातव्य हैं।

२१७१. १. पृष्ठवंश^१, २, ३. दो धारणा^२ तथा ४-७. चार मूलवेली^३—इन सात में परिष्कार कर शय्या को उपयोग योग्य बनाया जाता है, उसे मूलगुण परिकर्म युक्त शय्या जानना चाहिए।

२१७२. शय्या के उत्तरगुणों में पुनः सात मूलगुण होते हैं—१. बांस २. कडण^४ ३. अवकम्बन^५ ४. छादन^६ ५. लेपन^७ ६. द्वार और ७. भूमिकर्म^८—जिस शय्या में इनमें से किसी में परिष्कार किया जाता है, वह उत्तरमूलगुण परिकर्म युक्त शय्या होती है।

२१७३. उत्तरोत्तर परिकर्म युक्त विशोधिकोटिक वसति के आठ प्रकार हैं—१. धवलित (दूमित)—जिसे सफेद करवाया जाए। २. धूमित—जिसके धूप (सुगंधित द्रव्य से उत्पन्न धूम) दिया जाए। ३. वासित—पटवास, कुसुम आदि सुगंधित द्रव्य से सुवासित। ४. उद्योतित—जिसमें रत्न, दीपक आदि से प्रकाश किया जाए। ५. बलिकृत—जिसमें कूर आदि खाद्य पदार्थ का नैवेद्य चढ़ाया गया हो। ६. आवर्त—जिसमें गोबर, मिट्टी एवं पानी का लेप किया गया हो। ७. सिक्त—जिसमें पानी सींचा गया हो। ८. सम्मृष्ट—जो सम्मार्जनी (झाड़ू) आदि से परिमार्जित की हुई हो।

२१७४. अप्रासुक द्रव्य से चाहे वसति का देश परिष्कार हुआ हो या सर्व, धवलित आदि सातों ही पदों से युक्त वसति में निवास करने वाले भिक्षु को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। धूप और ज्योति नियमतः अप्रासुक होते हैं अतः उनसे देश परिकर्म युक्त वसति में निवास करने वाले भिक्षु को भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१७५. धूप और ज्योति—इन दो पदों को छोड़कर शेष पांच पदों में प्रासुक द्रव्य से देश परिकर्म युक्त शय्या में अनुप्रविष्ट होने पर मासलघु और सर्वपरिकर्म युक्त शय्या में अनुप्रविष्ट होने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रश्न होता है—सम्मार्जन सचित्त द्रव्य से कैसे होता है? आचार्य कहते हैं—तत्काल छिन्न कुश आदि सचित्त होते हैं अतः उनसे सम्मार्जन करने पर अप्रासुक द्रव्य से सम्मार्जन होता है।

२१७६. मूलगुण परिकर्म एवं उत्तरगुण परिकर्म के आधार पर चतुर्भंगी बनती है।^९ उसमें प्रथम और द्वितीय भंग में अनुप्रविष्ट होने वाले मुनि को तप और काल से विशिष्ट चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तृतीय भंग में भजना है—यदि उसमें बांस, कडण आदि मूलगुणोपघाती परिकर्म किया गया हो तो काल से विशिष्ट गुरु चौमासी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा धूमित आदि विशोधिकोटिक परिकर्म किया गया हो तो मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। चतुर्थ भंग मूलगुण और उत्तरगुण—दोनों दृष्टियों से शुद्ध है तथा गृहस्थ द्वारा आत्मार्थ (स्वयं के लिए) कृत है, अतः शुद्ध (अप्रायश्चित्ती) है।

२१७७, २१७८. उपाश्रय के उपघात के अन्य कारण ये हैं—१. संस्थापन २. लेपन ३. भूमिकर्म ४. द्वार ५. संस्तारक ६. थिगलकरण (पैबन्द लगाना) ७. प्रतिस्थगन ८. जलनिर्गम ९. संक्रम (पुल आदि) बनाना १०. फुंहार डालना ११. बिलों का स्थगन १२. उत्क्षेप १३. संधिकर्म।

१. पृष्ठवंश—घर के मूल दो खंभों पर रखा जाता बड़ा खंभा। (उपरितन तिर्यक्पाती पृष्ठवंश)
२. धारणा—मकान के दो खंभे (जिस पर पृष्ठवंश तिरछा डाला जाता है।)
३. मूलवेली—घर के छप्पर का आधारभूत स्तम्भ विशेष।
४. कडण (कटन)—घर पर छत डालना या चटाई आदि से घर के पार्श्वभागों का आच्छादन।
५. अवकम्बन—काठ पर काठ के हाते से घर की छत

बांधना (उत्कंचन—ऊपर कंबिकाएं बांधना)।

६. छादन—घास आदि से आच्छादन।
७. लेपन—दीवार पर कर्दम और गोबर से लिपाई।
८. भूमिकर्म—विषम भूमि का समीकरण।
९. १. मूलगुण अशुद्ध, उत्तरगुण अशुद्ध २. मूलगुण शुद्ध, उत्तरगुण शुद्ध ३. मूलगुण अशुद्ध, उत्तरगुण अशुद्ध ४. मूलगुण अशुद्ध, उत्तरगुण शुद्ध।

२१७९. सडित-पडिताण करणं, संठवणा लिंप भूमि कुलियाणं ।
संकोयण-वित्थरणं, पडुच्च कालं तु दारस्स ॥ २०५४ ॥
२१८०. तज्जातमतज्जाता, संथारा थिग्गला^१ तु वातट्टा ।
पडिवुज्जणा तु तेसिं, वासा-सिसिरे निवातट्टा ॥ २०५५ ॥
२१८१. दगनिग्गम पुव्वुत्तो, संकम दगवात सीभरो होति ।
तिण्हं परेण लहुगा, थिग्गल उच्छेव जतिवारा ॥ २०५६ ॥
२१८२. दगवात संधिकम्मे, लहुग^२ बिले होंति गुरुग मूलं वा ।
अप्फासु फासुकरणं, देसे सव्वे य सेसेसु ॥ २०५७ ॥
२१८३. कामं उडुविवरीता^३, केइ पदा होंति आयरणजोग्गा ।
सव्वाणुवाइ^४ केई, केई तक्कालुवट्टाणा ॥ २०५८ ॥ नि ४९९ ॥
२१८४. हेमंतकडा गिम्हे, गिम्हकडा सिसिर-वास कप्पंति ।
अत्तट्टिय^५ परिभुत्ता, तद्विवसं केइ ण तु केई^६ ॥ २०५९ ॥
२१८५. सुत्तणिवातो एत्थं, विसोधिकोडी य णिवतती णियमा ।
एतेसामण्णतरं, पविसंताऽऽणादिणो दोसा ॥ २०६० ॥ नि ५०० ॥
२१८६. असिवे ओमोदरिए रायहुट्टे भए व आगाढे ।
गेलण्ण-उत्तिमट्टे^७, चरित्तऽसज्जाइए^८ असती ॥ २०६१ ॥
२१८७. आलंबणे विसुद्धे, सत्तदुगं परिहरेज्ज^९ जतणाए ।
आसज्ज तु परिभोगं, जतणा पडिसेध संकमणं ॥ २०६२ ॥

१. थिग्गल ति गिम्हे वातागमट्टा गवक्खादि छिड्डे करेति (चू) ।
२. लहुगा (भ) ।
३. उडुवि^० (मु, भ) ।
४. °वाई (दे) ।
५. अत्तट्टे (क) ।
६. केत्ति (दे) ।
७. उत्तमट्टे (दे) ।
८. °झाईए (दे) ।
९. परिहरे णाम परिभुज्जे (चू) ।

२१७९. १. संस्थापन—वसति का कोई अवयव झड़ गया हो या एक देश खंडित हो गया हो, उन्हें ठीक करना संस्थापन है। २. लेपन—भूमि अथवा दीवार पर लेप करना, गोबर या रंग आदि लगाना। ३. भूमिकर्म—विषमभूमि को सम करना। ४. द्वार—काल की अपेक्षा से द्वार का संकोच या विस्तार करना (शीतकाल में दो, तीन द्वारों को एक करना या ग्रीष्मकाल में एक के स्थान पर दो, तीन द्वार करना।)

२१८०. ५. संस्तारक—तज्जात और अतज्जात की अपेक्षा से संस्तारक दो प्रकार के होते हैं।

६. थिंगलकरण—ग्रीष्मकाल में वायु के आगमन हेतु गवाक्ष आदि में छिद्र करना।

७. प्रतिस्थगन—वर्षा एवं शिशिर में वसति को निर्वात करने हेतु गवाक्ष आदि के छिद्रों को रोकना।

२१८१. ८. जलनिर्गम और ९. संक्रम का कथन पहले (द्वितीय उद्देशक में) किया जा चुका है। १०. जलयुक्त वायु को फुंहार कहते हैं। भिक्षु के निमित्त तीन से अधिक जितनी बार थिंगल—गवाक्ष आदि छिद्र किए जाते हैं या गिरी हुई छत आदि के लेप लगाया जाता है, उतने ही चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

२१८२. जो भिक्षु फुंहार तथा संधिकर्म युक्त वसति में रहता है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जिन बिलों में चूहे आदि रहते हों, भिक्षु के लिए उनका स्थगन किया जाता है तो भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जिनमें चूहे आदि न हों, उनका स्थगन करवाया जाए, उस वसति में रहने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जिस वसति में संस्थापन, लेपन, भूमिकर्म आदि शेष परिकर्म यदि अप्रासुक द्रव्य से किए जाएं तो देश और सर्व परिकर्म युक्त वसति में रहने वाले को चतुर्लघु तथा प्रासुक द्रव्य से किए जाएं तो देश और सर्व परिकर्म में क्रमशः मासलघु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१८३. यह निश्चित है कि शय्या-परिकर्म से उत्पन्न कुछ पद (अपराध पद) ऋतुविपरीत होने पर आचरण योग्य हो जाते हैं। कुछ सर्वानुपाती होते हैं—सर्वदा दोषयुक्त होने से कभी भी ग्राह्य नहीं होते। तथा कुछ परिकर्म-पद तत्काल उपस्थापन योग्य (उसी दिन साधुओं के लिए कल्पनीय) होते हैं।^१

२१८४. हेमन्त ऋतु में जो परिकर्म वसति को निवात बनाने के लिए किये जाते हैं, वे ग्रीष्मऋतु में अयोग्य—काम आने योग्य नहीं होते। अतः वह वसति ग्रीष्मऋतु में कल्पनीय होती है। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में प्रवात हेतु किए गए परिकर्म (गवाक्ष आदि) शिशिर एवं वर्षा में कल्पनीय होते हैं। कई परिकर्म जो गृहस्थों के स्वयं के परिभोग में आ जाते हैं, वे धवलीकरण आदि परिकर्म उस दिन भी कल्पनीय हो जाते हैं। कुछ परिकर्म जो मूलगुणों से सम्बद्ध होते हैं, उस दोष का सर्वदा अनुवर्तन रहता है अतः वे कभी भी कल्पनीय नहीं होते।

२१८५. प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध उत्तरोत्तरगुण परिकर्म—धवलित, धूमित आदि विशोधिकोटिक परिकर्म युक्त शय्या से हैं। जो भिक्षु सामान्यतः उपर्युक्त प्रकार की विशोधिकोटिक परिकर्मयुक्त शय्या में प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२१८६. इन कारणों से भिक्षु परिकर्म युक्त शय्या में प्रविष्ट हो सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. आगाढ़ग्लान्य ६. उत्तमार्थ^२ ७. चारित्रदोष ८. अस्वाध्यायी और ९. अभाव।^३

२१८७. विशुद्ध—स्पष्ट आलम्बन (कारण) हो तो भिक्षु पूर्वोक्त दो सप्तक दोषों—पृष्ठवंश आदि मूलगुण सम्बन्धी तथा बांस आदि उत्तरगुण सम्बन्धी दोषों से युक्त वसति का भी यतनापूर्वक (पनक-परिहाणी से) परिभोग करे। आपवादिक कारणों की अपेक्षा से भिक्षु प्रतिषिद्ध वसति का परिभोग करने के लिए अल्पबहुत्व की यतना से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्ति पर्यन्त तत्तद् वसति में संक्रमण करे।

१. व्याख्या हेतु द्रष्टव्य गा. २१८४।

२. उत्तमार्थ—अनशन प्रतिपन्न व्यक्ति के लिए अन्य कोई प्रायोग्य वसति न मिले।

३. अभाव—अन्य मासकल्पयोग्य क्षेत्र न हो, अशिवादि के कारण वहां जाया न जा सके या अन्य कोई वसति हो ही नहीं।

२१८८. एगा मूलगुणेहिं^१, अविमुद्धा इत्थि सारिया बितिया^२ ।
तुल्लारोवणवसधी, कारण 'कहिं तत्थ'^३ वसितव्वं ॥ २०६३ ॥
२१८९. कम्मपसंगऽणवत्था, अणुण्णदोसा य 'ते य'^४ समतीता ।
सतिकरणभुत्तऽभुत्ते^५, संकातितरी यऽणगेविधा ॥ २०६४ ॥
२१९०. अहवा गुरुस्स दोसा, कम्मे इतरी य होंति^६ सव्वेसिं ।
जइणो तवों वणवासे, वसंति लोगे य परिवाओ ॥ २०६५ ॥
२१९१. अहवा पुरिसाइण्णा^७, णातायारे^८ य भीतपरिसा य ।
बालासु य वुड्ढासु य, नातीसु य वज्जती^९ कम्मं ॥ २०६६ ॥
२१९२. तम्हा सव्वाणुण्णा, सव्वनिसेधो य नत्थि समयम्मि ।
आयव्वयं तुलेज्जा, लाभाकंखि व्व^{१०} वाणियगो ॥ २०६७ ॥
२१९३. दव्वपडिबद्ध एवं, जावंतिगमादिगासु भइतव्वा ।
अप्पाण^{११} अप्पकालं, व ठाउकामा ण दव्वम्मि ॥ २०६८ ॥
२१९४. संभोगपरूवणता^{१२}, सिरिघर सिवपाहुडे व^{१३} संभुत्ते ।
दंसण-णाण-चरित्ते, तवहेतुं उत्तरगुणेसु^{१४} ॥ २०६९ ॥ नि ५०१ ॥
२१९५. ओह अभिग्गह 'दाणं, गहणे'^{१५} अणुपालणा य उववाते ।
संवासम्मि य छट्ठो, संभोगविधी मुणेतव्वो ॥ २०७० ॥ नि ५०२ ॥

१. °णेहिं तु (भ, मु) ।

२. बीया (दे) ।

३. तहिं कत्थु (दे) ।

४. एते (क) ।

५. °रणे भु° (दे) ।

६. होति (मु) ।

७. °सायण्णा (दे) ।

८. णायावारे (दे) ।

९. विज्जती (दे), °ज्जए (भ) ।

१०. व (दे) ।

११. अप्पा व (मु) ।

१२. एकत्रभोजनं संभोगः अहवा समं भोगो संभोगो यथोक्त-
विधानेनेत्यर्थः (चू), सूत्र ६३ (नव ५/६४) ।

१३. य (भ) ।

१४. पंकभा १४८६, इस गाथा के लिए चूर्णि में 'इयाणिं
णिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।

१५. दाणग्ग° (भ, पंकभा १४८७) ।

२१८८. प्रश्न—एक वसति मूलगुणों की दृष्टि से अशुद्ध (परिकर्म युक्त होने से अपरिभोग्य) है तथा दूसरी वसति स्त्री प्रतिबद्ध होने से दोष युक्त है। उपर्युक्त दोनों ही वसति का प्रायश्चित्त समान (चतुर्गुरु) है। अशिव आदि कारणों से मुनि को इन दोनों में से एक में रहना है, उसे कहां रहना चाहिए ?

२१८९. समाधान—१. आधाकर्मिक शय्या में साधु रह सकते हैं—ऐसा सोचकर गृहस्थ पुनः-पुनः वैसी शय्या का निर्माण करते हैं—इस प्रकार प्रसंगदोष होता है। २. एक आचार्य को देखकर अन्य आचार्य भी आधाकर्म दोष युक्त शय्या का परिभोग करते हैं—इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। ३. आधाकर्म युक्त शय्या में रहने से प्राणिवध की अनुमोदना होती है। एक तरफ आधाकर्मयुक्त शय्या में रहने से मुनि इन दोषों से समतिक्रान्त (दूषित) होते हैं दूसरी तरफ इतर—स्त्री प्रतिबद्ध शय्या में ये अनेक दोष प्राप्त होते हैं— १. भुक्तभोगी मुनियों को पूर्वभोगों की स्मृति होती है। २. अभुक्तभोगी मुनियों को भोगों के प्रति कौतुक होता है, फलतः प्रतिगमन आदि दोष पैदा होते हैं। ३. लोगों में शंका आदि दोष पैदा होते हैं।

२१९०. स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या में रहने से लोगों में परिवाद होता है—अहो! साधु तपोवन में वास करते हैं—इस प्रकार स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या सब साधुओं के लिए दोषभाक् होती है, जबकि आधाकर्मयुक्त शय्या में रहने से केवल आचार्य को ही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—‘कस्सेयं पच्छित्तं’ गणिणो (इस स्थिति में आधाकर्मयुक्त शय्या अल्पदुष्ट है।)

२१९१. दूसरा पक्ष—१. जो स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या है, वह भी पुरुषबहुल हो। २. जो पुरुष हों, वे भी मुनि-आचार से विज्ञ तथा भीतपरिषत् हों। ३. वहां रहने वाली स्त्रियां अप्राप्तयौवना या अतीव वृद्धा हों। ४. वहां रहने वाली स्त्रियां तरुणी हैं, पर मुनियों के साथ नालबद्ध सम्बन्ध वाली—सगी बहिन आदि हैं अतः अगम्य हैं। इस परिस्थिति में आधाकर्मयुक्त शय्या वर्जनीय है।

२१९२. अतः समय (जैन-सिद्धान्त) में न कोई वस्तु सर्वथा अनुज्ञात है और न सर्वथा प्रतिषिद्ध। मुनि को लाभ के इच्छुक व्यापारी की भांति आय-व्यय की तुलना करनी चाहिए—जहां जिस कार्य में अधिक गुण हो, वहां वह करणीय है।

२१९३. इस प्रकार एक तरफ द्रव्य प्रतिबद्ध शय्या हो तथा दूसरी तरफ यावंतिका शय्या (सार्वजनिक वसति) हो तो मुनि को गुण और दोष की अपेक्षा से भजना करनी चाहिए—विकल्प करके रहना चाहिए। यदि मुनि संख्या में अल्प हों, अल्पकाल तक वहां रहना चाहते हों तो द्रव्य प्रतिबद्ध शय्या में रहना चाहिए।

२१९४. १. सर्वप्रथम संभोज की प्ररूपणा की जाएगी। २. किस पुरुष युग तक एक संभोज रहा और किस कारण कहां से असंभोज प्रवृत्त हुआ, इस विषय में आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती का घटना-प्रसंग बताया जाएगा कि किस प्रकार आर्य महागिरि श्रीघर-आयतन में तथा आर्य सुहस्ती शिवगृह में रहे, कैसे उनमें कलह हुआ और कैसे पुनः संभोज हुआ? ३-६. दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप की वृद्धि के लिए उत्तरगुणों में विषाद प्राप्त (शिथिल) हो रहे समनोज्ञ मुनि को पुनः उद्यतविहारी बनाने हेतु संभोज की इच्छा की जाती है।

२१९५. संभोजविधि छह द्वारों से ज्ञातव्य है—१. ओघ २. अभिग्रह ३. दान ४. ग्रहण ५. अनुपालना ६. उपपात और ६. संवास।

२१९६. उवधि-सुत भत्तपाणे, अंजलीपग्गहे त्ति य।
दावणा य निकाए य, अब्भुट्टाणे त्ति यावरे^१ ॥ २०७१ ॥ नि ५०३ ॥
२१९७. क्कित्तिक्कम्मस्स^२ य करणे, वेयावच्चकरणे त्ति य।
समोसरण सण्णिसेज्जा^३, कहाए^४ य पबंधणे^५ ॥ २०७२ ॥ नि ५०४ ॥
२१९८. उग्गम-उप्पादण एसणा य परिकम्मणा य परिहरणा।
संजोगविधिविभत्ता, 'छट्टाणा होंति उवधिम्मि^६ ॥ २०७३ ॥
२१९९. समणुण्णेण मणुण्णे^७, सहितो सुद्धोवधिग्गहे सुद्धो।
अहमविसुद्धं^८ गेण्हति, जेणऽविसुद्धं तमावज्जे ॥ २०७४ ॥
२२००. एगं व दो व तिण्णि व, आउट्टं तस्स होति पच्छित्तं।
आउट्टंते वि ततो, परेण तिण्हं विसंभोगो ॥ २०७५ ॥
२२०१. निक्कारण अमणुण्णे^९, सुद्धासुद्धं च जो उ उग्गोवे।
उवधिविसंभोगो खलु, सोधी वा^{१०} कारणे सुद्धो ॥ २०७६ ॥
२२०२. संविग्गमण्णसंभोगिएहि, पासत्थमादि य गिहीहिं।
संघाडगम्मि मासो, गुरुगोऽहाछंद^{११} जं चऽण्णं ॥ २०७७ ॥
२२०३. संजतिवग्गे चेवं, समणुण्णितराण नवरि सव्वासिं।
संविग्गासंविग्गं^{१२}, होंती निक्कारणे गुरुगा ॥ २०७८ ॥
२२०४. एमेव संजतीण वि^{१३}, संजतिवग्गे गिहत्थवग्गे वा^{१४}।
साधम्मिएतरासु^{१५} य, नवरं पुरिसेसु चतुगुरुगा ॥ २०७९ ॥

१. पंकभा १४८८, २५०७, व्यभा २३५२।

२. कौकं (व्यभा २३५३)।

३. सणिं (दे, मु)।

४. कधाए (व्यभा)।

५. पंकभा १४८९, २५०८।

६. उवधिम्मि वि होंति छट्टाणा (पंकभा १४९०)।

७. ण्णेण (दे)।

८. अह अविं (मु, पा)।

९. असमं (दे)।

१०. व (भ)।

११. छंदो (दे)।

१२. विग्गाण (मु, पा), विग्गं व ण (दे)।

१३. व (दे, पा)।

१४. य (मु)।

१५. साधम्मीतरेसु (दे), सामित्तरेसु (क)।

२१९६, २१९७. ओघद्वार के बारह प्रतिद्वार प्रज्ञप्त हैं—१. उपधि २. श्रुत ३. भक्तपान ४. अंजलिप्रग्रह ५. दान ६. निकाचना ७. अभ्युत्थान ८. कृतिकर्म ९. वैयावृत्य १०. समवसरण ११. सन्निषद्या और १२. कथाप्रबन्धन।

२१९८. उपधि^१ प्रतिद्वार के छह स्थान (उपप्रतिद्वार) होते हैं—१. उद्गम २. उत्पादन ३. एषणा ४. परिकर्म ५. परिहरण और ६. संयोगविधि-विभाग।

२१९९. उद्गम—एक सांभोजिक समनोज्ञ मुनि अन्य समनोज्ञ साधु के साथ आधाकर्म आदि उद्गम दोषों से रहित विशुद्ध उपधि का ग्रहण करता है तो वह शुद्ध है। यदि वह अशुद्ध (सदोष) उपधि का ग्रहण करता है तो वह जिस दोष से अशुद्ध उपधि का ग्रहण करता है, उस से जितना कर्मबन्ध होता है, उतना ही उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२००. कोई सांभोजिक मुनि अशुद्ध उपधि, आहार आदि को ग्रहण करता है और प्रेरित करने पर वह उससे निवृत्त हो जाता है—इस प्रकार एक, दो या तीन बार भी आवृत्त हो जाने तक उसका प्रायश्चित्त होता है। उसके बाद भी यदि वह अशुद्ध उपधि आदि ग्रहण करता रहता है तो उसका विसंभोज—संभोज-विच्छेद हो जाता है।

२२०१. यदि कोई बिना कारण अमनोज्ञ—अन्यसांभोजिक के साथ शुद्ध या अशुद्ध उपधि का उत्पादन करता है तो उसका संभोज विच्छेद हो जाता है। यदि वह प्रेरणा पाकर उससे आवृत्त हो जाता है—गलती स्वीकार कर लेता है तो तीन बार तक उसे प्रायश्चित्त दे दिया जाता है तथा संभोज रखा जाता है। यदि वह किसी विशेष कारण से अन्यसांभोजिक के साथ उपधि का उत्पादन करता है तो वह शुद्ध है।

२२०२. यदि कोई मुनि संविग्न अन्यसांभोजिक मुनियों के साथ पार्श्वस्थ या गृहस्थों से उपधि का उत्पादन करता है तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह यथाच्छन्दक मुनियों को संघाटक देता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उसकी स्वच्छन्द प्ररूपणा के अनुमोदन अथवा उसको वर्जन करने से कलह निष्पन्न जो प्रायश्चित्त हो, वह भी उसे प्राप्त होता है।

२२०३. साध्वी चाहे संविग्न हो या असंविग्न, सांभोजिक हो या असांभोजिक, यदि कोई मुनि बिना कारण उसके साथ शुद्ध या अशुद्ध उपधि का उत्पादन करता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२०४. साध्वियों का स्त्रीवर्ग के साथ उपधि के उद्गम आदि विषयक आलापक उसी प्रकार वक्तव्य है जैसे साधुओं का पुरुषवर्ग के साथ। इसी प्रकार जो प्रज्ञप्ति साधुओं की स्त्रीवर्ग के साथ उपधि के उद्गम आदि के विषय में है, वही साध्वियों की पुरुष वर्ग के साथ ज्ञातव्य है, चाहे वे साधार्मिक हों या गृहस्थ, केवल पुरुषवर्ग के साथ उपधि के उद्गम या उत्पादन का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु होता है।

१. उपधि—सांभोजिक साधुओं के साथ मर्यादा के अनुसार उपधि का ग्रहण करना उपधि संभोज है।

२२०५. संघाडं दाऊणं, आउट्टंतस्स एक्क दो तिण्णि^१।
न वि होति विसंभोगो^२, तेण परं नत्थि संभोगो ॥२०८०॥
२२०६. पच्छत्तस्स विवड्डी, सरिसट्टाणाउ विसरिस तमेव।
तप्पभित्ती^३ अविस्सुद्धं, माईसुं भुंजतो गुरुगा^४ ॥२०८१॥
२२०७. एमेव सेसगाण वि, अवराधपदाणि जाव तप्पभित्तिं^५।
आउट्टिऊण पुणरवि, निसेवमाणे विसंभोगो ॥२०८२॥
२२०८. स किमवि काऊणऽहवा, सुहुमं वा बादरं व अवराधं।
णाउट्टे^६ विसंभोगो, असहहंते असंभोगो ॥२०८३॥
२२०९. उप्पायणेसणासु वि, एमेव चउक्कगो पडोयारो।
पुरिसाण पुरिस इत्थिसु^७, इत्थीणं इत्थि-पुरिसेसु ॥२०८४॥
२२१०. परिकम्मण चतुभंगो, कारणे विधि वितिओं कारणे^८ अविधी।
निक्कारणम्मि य विधी, चउत्थो^९ निक्कारणे अविधी ॥२०८५॥
२२११. कारणमणुण्ण^{१०} विधिणा, सुद्धो सेसेसु मासिगा तिण्णि।
तवकालेहि विसिट्ठा, अंते गुरुगा य दोहिं^{११} पि ॥२०८६॥
२२१२. कारणमकारणे वा, विधि-अविधीए य मासिगा चउरो।
संविग्ग-अण्णसंभोगिगेसु 'गिहिणं तु'^{१२} चतुलहुगा ॥२०८७॥

१. वारा (दे)।

२. संविभागो (क)।

३. तिप्प (भ)।

४. इस गाथा के बाद भ प्रति में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है। चूर्णि में इस गाथा की व्याख्या नहीं मिलती है अतः इसे मूल गाथा के क्रमांक में नहीं रखा है—
समणुण्णोऽसमणुण्णे, णे सहितो तस्स वावि अट्टाए।
उप्पाएतो उवधिं, एमेवासेसएहिं पि ॥

५. तिप्प (भ)।

६. णाउट्टे (दे)।

७. इत्थी (दे), इत्थि (भ)।

८. कारणा (भ)।

९. चउत्थो (दे)।

१०. कारणे अणु (दे)।

११. दोहं (क)।

१२. गिहिणा उ (दे)।

२२०५. इस प्रकार असांभोजिक मुनियों को एक बार, दो बार या तीन बार तक भी संघाटक देकर यदि प्रेरणा प्राप्त कर मुनि प्रतिनिवृत्त हो जाए तो उसका विसंभोज (संभोज-विच्छेद) नहीं होता। किन्तु यदि वह चौथी बार भी उन्हें संघाटक देता है तो उसके साथ संभोज नहीं रखा जाता।

२२०६. प्रायश्चित्त-वृद्धि दो प्रकार की होती है—स्वस्थान वृद्धि और परस्थान वृद्धि। सदृश स्थान की वृद्धि स्वस्थान वृद्धि है जैसे मासलघु से मासगुरु, चतुर्लघु से चतुर्गुरु आदि। विसदृश स्थान की वृद्धि परस्थान वृद्धि है जैसे मासलघु से दो मास, तीन मास आदि। इस संदर्भ में तीन बार गलती का आसेवन करने तक अमायी होता है अतः उसे अविशुद्धिहेतुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके बाद वही गलती दोहराने से वह नियमतः मायी होता है। अतः उसका विसंभोज किया जाता है और संभोज करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२०७. इसी प्रकार शेष अपराधपदों में भी तीन बार तक आसेवन करके निवृत्त होने तक स्वस्थान प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके बाद (चौथी बार) उसी स्थान का आसेवन करने पर चाहे वह मुनि उससे निवृत्त हो या न हो, उसके प्रायश्चित्त में वृद्धि भी होती है तथा उसका संभोज-विच्छेद भी।

२२०८. यदि कोई मुनि किसी सूक्ष्म या बादर अपराधपद का आसेवन करता है लेकिन अनुशिष्टि देने पर भी उससे निवृत्त नहीं होता अथवा उपर्युक्त उद्गमद्वार में प्ररूपित व्यवस्था पर सम्यक् श्रद्धा नहीं करता, उसका संभोज विच्छिन्न कर दिया जाता है।

२२०९. उत्पादन एवं एषणा द्वार में भी इसी प्रकार चतुष्पदावतार करणीय है। पुरुषों का पुरुष एवं स्त्रियों के साथ तथा स्त्रियों का स्त्री एवं पुरुषों के साथ—१. मुनियों का सांभोजिक मुनियों, अन्यसांभोजिक मुनियों या गृहस्थों के साथ २. मुनियों का सांभोजिक या अन्यसांभोजिक साध्वियों एवं स्त्रियों के साथ ३. साध्वियों का सांभोजिक एवं अन्यसांभोजिक साध्वियों एवं स्त्रियों के साथ तथा ४. साध्वियों का सांभोजिक एवं अन्यसांभोजिक पुरुषों एवं गृहस्थों के साथ उपधि आदि के उत्पादन का पद।

२२१०. परिकर्मणा संभोज^१ के विषय में भी चतुर्भंगी होती है—१. कारण होने पर विधिपूर्वक परिकर्मणा २. कारण होने पर अविधि से परिकर्मणा ३. निष्कारण विधिपूर्वक परिकर्मणा और ४. निष्कारण अविधि से परिकर्मणा।

२२११. कारण में विधिपूर्वक उपधि का परिकर्म करना अनुज्ञात है अतः प्रथम भंग युक्त है। शेष तीनों भंगों में मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दूसरे और तीसरे में क्रमशः तप और काल से विशिष्ट तथा चौथे (अंतिम) भंग में तप और काल दोनों से गुरु।

२२१२. जो भिक्षु संविग्न अन्यसांभोजिक भिक्षुओं के साथ प्रयोजन से या निष्प्रयोजन, विधि अथवा अविधि से उपधि का परिकर्म करता है, उसे चारों ही भंगों में मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह गृहस्थ अथवा पार्श्वस्थ भिक्षुओं के साथ उपधि का परिकर्म करता है तो चतुर्लघु एवं यथाच्छन्द भिक्षुओं के साथ उपधि का परिकर्म करता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रत्येक स्थिति में चारों भंगों में प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त तप और काल से विशिष्ट होता है।

१. परिकर्मणा संभोज—उपधि को उचित प्रमाण में व्यवस्थित कर साधु के प्रायोग्य बना देना।

२२१३. समणुण्ण-संजतीणं, परिकम्मेऊण गणधरो देति ।
संजतिजोग^१-विधीए, अविधीए^२ चतुगुरू होंति ॥ २०८८ ॥
२२१४. पासत्थ-अण्णसंभोइयाण^३ विधिणा उ अविधिणा गुरुगा ।
एमेव संजतीण वि, नवरि मणुण्णेसु वी गुरुगा ॥ २०८९ ॥
२२१५. विधिपरिहरणे^४ सुद्धो, अविधीए मासिगं मणुण्णेसुं ।
विधि-अविधि अण्णमासो, लहुगा पुण होंति इतरेसु^५ ॥ २०९० ॥
२२१६. संजतिवग्गे गुरुगा, एमेव य संजतीण जतिवग्गे ।
नवरं^६ संजतिवग्गे, जह जतिणं साधुवग्गम्मि ॥ २०९१ ॥
२२१७. दस दुयए^७ संजोगा, दस तिगे^८ चउक्कगे उ पंचमगा^९ ।
एक्को य पंचगम्मी^{१०}, नवरिं^{११} पच्छित्तसंजोगा ॥ २०९२ ॥
२२१८. संजोग-विधि-विभागे, चउपडोयार तहेव गमगो उ ।
समणुण्णाऽसमणुण्णा^{१२}, इतरे एमेव इत्थी वि ॥ २०९३ ॥
२२१९. वायण पडिपुच्छण^{१३} पुच्छणा य^{१४} परियट्टणा य कहणा य ।
संजोग-विधि-विभत्ता, छट्टाणा होंति उ सुतम्मि^{१५} ॥ २०९४ ॥
२२२०. अण्णे वायण लहुगो, पासत्थादीसु 'लहुग गुरुगा'^{१६} य ।
सट्टाणे इत्थीसु वि, एमेव विवज्जते गुरुगा ॥ २०९५ ॥

१. °जोगे (दे) ।

२. °धीए य (क) ।

३. °इणाण (क), °इणीण (मु) ।

४. परिहरणा णाम परिभोगो (चू) ।

५. °सेसुं (मु) ।

६. नवरिं (भ) ।

७. दुयए (दे) ।

८. तियए (भ) ।

९. पंचमगा (मु) ।

१०. °मम्मी (भ) ।

११. णवरं (मु) ।

१२. × (भ) ।

१३. °छणा (भ) ।

१४. × (दे) ।

१५. तु. पंकभा १४९१ ।

१६. × (भ) ।

२२१३. गणधर (आचार्य) अपनी सांभोजिक साध्वियों के लिए विधिपूर्वक उपधि का परिकर्म कर, उन्हें संयती-प्रायोग्य बनाकर देता है—यह विधिसम्मत है, शुद्ध है। यदि गणधर अविधि से उपधि का परिकर्म कर साध्वियों को दे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२१४. जो साध्वी पार्श्वस्थ, अन्यसांभोजिक साध्वियों अथवा सांभोजिक गृहस्थ स्त्रियों के द्वारा विधि अथवा अविधि से उपधि का परिकर्म करवाती है अथवा उनके साथ उपधि का परिकर्म करती है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साध्वियां साधुओं को उपधि का परिकर्म करके दे, यह विधिसम्मत नहीं, यदि वे समनोज्ञ सांभोजिक साधुओं को उपधि का परिकर्म करके दे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२१५. यदि कोई भिक्षु सांभोजिक भिक्षुओं के साथ कारण में विधिपूर्वक उपधि का परिभोग करता है तो वह शुद्ध है। समनोज्ञ सांभोजिक साधुओं के साथ निष्कारण विधि या अविधि से तथा कारण में अविधि से उपधि का परिभोग करता है या अन्यसांभोजिक भिक्षुओं के साथ विधि या अविधि से सकारण या निष्कारण उपधि का परिभोग करता है, उसे तप और काल से विशिष्ट मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इतर—पार्श्वस्थ, गृहस्थ आदि के साथ उपधि परिभोग करे, उसे चारों ही भंगों में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२१६. जो भिक्षु संयतीवर्ग के साथ उपधि का परिभोग करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साध्वियों के विषय में यतिवर्ग के साथ उपधि परिभोग की भी यही विधि है। केवल संयतीवर्ग की संयतीवर्ग के विषय में वही विधि ज्ञातव्य है जो यतिवर्ग की यतिवर्ग के विषय में (गा. २२१५ में) प्रज्ञप्त है।

२२१७. एक सांभोजिक भिक्षु के अन्यसांभोजिक भिक्षु के साथ उपधि के उत्पादन आदि के विषय में छब्बीस सांयोगिक भंग होते हैं—द्विक संयोगी दस^१, त्रिक संयोगी दस^२, चतुष्क संयोगी पांच और पंच संयोगी एक, (१०+१०+५+१=२६)—कुल छब्बीस। ये सारे भंग शुद्ध हैं। जहां विसंभोज होगा, उनमें ये ही उद्गम और उत्पादना दोष आदि संयोगों से उत्पन्न होंगे, अतः वहां संयोग प्रायश्चित्त प्राप्त होगा।

२२१८. भिक्षु के अन्यसांभोजिक भिक्षु के साथ संयोग विधि से निष्पन्न विकल्प पूर्वोक्त उद्गम आदि भेदों से किए जाने पर छब्बीस भेद हो जाते हैं। पुनः इनके भंगों का चतुष्पदावतार किया जाता है—

१. समनोज्ञ भिक्षु गृहस्थ, पार्श्वस्थ आदि के साथ उपधि का उत्पादन करे।
 २. समनोज्ञ भिक्षु समनोज्ञ या अमनोज्ञ स्त्रियों (साध्वियों या गृहस्थ स्त्रियों) के साथ उपधि का उत्पादन करे।
 ३. समनोज्ञ साध्वियां गृहस्थ, पार्श्वस्थ आदि विषयों के साथ उपधि का उत्पादन करे। तथा
 ४. समनोज्ञ साध्वियां समनोज्ञ या असमनोज्ञ पुरुषों (साधुओं या गृहस्थों) के साथ उपधि का उत्पादन करे।
२२१९. श्रुत^३ प्रतिद्वार (ओघद्वार का द्वितीय प्रतिद्वार) के छह स्थान होते हैं—१. वाचना २. प्रतिपृच्छा ३. पृच्छा ४. परिवर्तना ५. धर्मकथा और ६. संयोग विधिविभाग।

२२२०. यदि एक सांभोजिक भिक्षु जो अविधि से आए अन्यसांभोजिक भिक्षु या जिसने उपसंपदा स्वीकार नहीं की, उसे श्रुत की वाचना देता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पार्श्वस्थ या गृहस्थ को वाचना दे तो उसे चतुर्लघु तथा यथाच्छन्द को वाचना दे तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साध्वियों के विषय में भी स्वस्थान—अमनोज्ञ साध्वियों या गृहस्थ स्त्रियों में वाचना का यही प्रायश्चित्त है। स्वस्थान का विवर्जन करने पर—साधुओं का स्त्रीवर्ग तथा साध्वियों का पुरुषवर्ग के प्रति वाचना का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है।^४

१. द्विक संयोगी भंग यथा—१. सांभोजिक सांभोजिक के साथ उद्गम एवं उत्पादन से शुद्ध उपधि का उत्पादन करता है। २. उद्गम और एषणा से शुद्ध उपधि का उत्पादन करता है आदि।

२. त्रिक संयोगी भंग—१. सांभोजिक सांभोजिक के साथ उद्गम, उत्पादन एवं एषणा से शुद्ध उपधि का उत्पादन करता है आदि।

३. श्रुत संभोज व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को श्रुत की वाचना दी जाती है।

४. प्रतिपृच्छा, पृच्छा, परिवर्तना और धर्मकथा (अनुयोग कथा) में पुनः इसी चतुष्पदी का समवतार कर लेना चाहिए तथा संयोग विधि में पूर्वोक्त प्रकार से छब्बीस भंग कर लेने चाहिए।

२२२१. पडिपुच्छं अमणुण्णे, वि देति^१ ते वि यतओ पडिच्छंति^२ ।
अण्णासति अमणुण्णीण^३ देति सव्वाणि वि पदाणि ॥ २०९६ ॥
२२२२. उग्गम-उप्पादण-एसणा य संभुंजणा निसिरणा य ।
संजोग-विधि-विभत्ता, 'भत्ते पाणे'^४ वि छट्टाणा ॥ २०९७ ॥
२२२३. जो चेव य उवधिम्मिं, गमो 'तु'^५ सो चेव^६ भत्त-पाणम्मि ।
भुंजणवज्ज मणुण्णे, तिण्णि दिणे कुणति पाहुण्णं ॥ २०९८ ॥
२२२४. ठवणाकुले व^७ मुंचति, पुव्वगतो वावि अहव संघाडं ।
अविसुद्ध भुंज गुरुगा, अविगडितेणं च अण्णेणं ॥ २०९९ ॥
२२२५. समणि मणुण्णी 'छेदो, अमणुण्णी'^८ भुंजणे भवे मूलं ।
पासत्थे केइ छल्लहु, सच्छंदेणं तु छग्गुरुगा ॥ २१०० ॥
२२२६. समणुण्णस्स विधीए, सुद्धो निसिरंत^९ भत्त-पाणं तु ।
अमणुण्णेतर संजति, लहुगो लहुगा य गुरुगा य ॥ २१०१ ॥
२२२७. भुंजणवज्जपदाणं, कज्जेऽणुण्णा तु अहव थी-वज्जा ।
अण्णे भायण असती, इतरे असती^{१०} सढे वावि ॥ २१०२ ॥
२२२८. वंदित-पणमित-अंजलि^{११}, गुरुगालावे^{१२} 'अभिग्गह णिसेज्जा'^{१३} ।
संजोग-विधि-विभत्ता, अंजलिपग्गहे^{१४} वि छट्टाणा ॥ २१०३ ॥

१. देति (भ) ।

२. पडिपुच्छंति (भ) ।

३. ण्णीण न (क) ।

४. य भत्तदाणे (भ, पंकभा १४९२) ।

५. × (दे) ।

६. चेव उ होंति (दे) ।

७. वा (दे) ।

८. × (दे) ।

९. ंरंतो (दे) ।

१०. वसति (मु) ।

११. एगेण वा दोहिं वा मउलिएहिं हत्थेहिं णिडालसंठितेहिं
अंजली भण्णति (चू) ।१२. भत्ति-बहुमाण-णेह-भरितो सरभसं णमो ऋत्तमासमणाणं
ति तो गुरुआलावो भण्णति (चू) ।१३. अणुग्गह^० (दे), णिसज्जकरणं तिण्हट्टा सुत्तपोरिसीए
अत्थपोरिसीए ततिया आल्लोयणनिमित्तं अवराहाल्लोयणा
पक्खियाइसु वा एसा आभिग्गह-णिसेज्जा भण्णति
(चू) ।

१४. णिकम्मे (पंकभा १४९३) ।

२२२१. श्रुत सम्भोज का अपवाद—१. भिक्षु यदि असमनोज्ञ को भी प्रतिपृच्छा—प्रश्न का उत्तर प्रदान करे और वे भी उसे यतनापूर्वक ग्रहण करें तो शुद्ध है। २. असमनोज्ञ साध्वियों को वाचना आदि प्रदान करने वाला प्रवर्तिनी आदि कोई न हो तो आचार्य उन्हें वाचना, प्रच्छना आदि सभी पद प्रदान कर सकता है।

२२२२. भक्तपान^१ प्रतिद्वार (ओघद्वार का तृतीय प्रतिद्वार) के छह स्थान होते हैं—१. उद्गम २. उत्पादन ३. एषणा ४. संभोजन ५. विसर्जना (दान) और ६. संयोग विधि विभाग।

२२२३. उपधि द्वार में जो विधि प्रज्ञप्त है, संभोजन स्थान को छोड़कर वही विधि भक्तपान में भी ज्ञातव्य है। समनोज्ञ भिक्षु समनोज्ञ भिक्षु के साथ आहार करता है, वह शुद्ध है। समनोज्ञ भिक्षु के आने पर दूसरा समनोज्ञ भिक्षु उसका तीन दिन आतिथ्य करे। यदि वह आतिथ्य नहीं करता अथवा अविधि से उसके साथ आहार करता है, कुष्ठ, क्षय आदि के रोगी के साथ आहार करता है तो उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२२४. प्राघुर्ण्य (आतिथ्य) की विधि—१. आगन्तुक समनोज्ञ भिक्षुओं को भक्तपान अनुकूलतापूर्वक मिल सके अतः उनको स्थापनाकुलों में छोड़ दे और स्वयं अन्य घर में भिक्षार्थ चला जाए। २. स्वयं श्रावकों के घरों में उनके साथ जाकर पहले उन्हें भक्तपान दिलवाए। ३. उन्हें भक्तपान में सहयोग हेतु संघाटक प्रदान करे। यदि अन्यसांभोजिक भिक्षु के साथ अनाभोगपूर्वक (अज्ञानवश) एक मण्डली में आहार करता है तो तीन बार तक प्रत्येक बार मासलघु तथा चौथी बार मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह उनके साथ अविशुद्ध (दोषयुक्त) आहार करता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा चौथी बार में उसका विसंभोज हो जाता है।

२२२५. यदि कोई भिक्षु समनोज्ञ साध्वी के साथ भक्तपान का संभोजन करता है तो उसे छेद तथा असमनोज्ञ के साथ करता है तो उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार पार्श्वस्थ साधुओं एवं गृहस्थों के साथ भक्तपान का संभोज रखने वाले भिक्षु को षड्लघु एवं यथाच्छन्द भिक्षु के साथ भक्तपान संभोज रखने वाले को षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२२६. निसर्जना (दान)—जो भिक्षु समनोज्ञ भिक्षु को विधिपूर्वक भक्तपान का दान करता है, वह शुद्ध (निर्दोष) है। वही यदि असमनोज्ञ भिक्षुओं—पार्श्वस्थ को, यथाच्छन्द को या साध्वी को भक्तपान का दान करता है तो उसे क्रमशः मासलघु, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२२७. अशिव आदि कार्यो (आपवादिक प्रयोजनों) में अन्यसांभोजिक के साथ संभोजन को छोड़कर भक्तपान विषयक सभी स्थानों की अनुज्ञा है। अथवा स्त्री को छोड़कर अन्य सभी के साथ इन सभी पदों की अनुज्ञा है। अथवा यदि अन्यसांभोजिक पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं के पास पात्र का अभाव हो या किसी शठ की शठता के कारण^२ पात्र होने पर भी अन्यसांभोजिक के साथ भक्तपान का संभोज किया जा सकता है।

२२२८. 'अंजलिप्रग्रह'^३ प्रतिद्वार के छह स्थान होते हैं—१. वंदना २. प्रणाम ३. अंजलि ४. गुरु आलाप ५. निषद्या और ६. संयोगविधि विभाग।

१. भक्तपान संभोज के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं के साथ एक मंडली में भोजन किया जाता है।

२. कोई शठ अन्यसांभोजिक सोचें—ये हमारे साथ आहार नहीं करेंगे, फलतः सारा भक्तपान हमारा हो जाएगा और सारा अपने पात्र में ग्रहण कर ले तो उनकी शठता को जानकर मुनि उनके साथ संभोज कर सकता है।

३. अंजलिप्रग्रह संभोज—पर्याय ज्येष्ठ सांभोजिक को हाथ जोड़कर वन्दना करना।

२२२९. पणुवीससंजुतं^१ पुण, होति वदण^२-पणमितं तु मुद्धेणं।
हत्थुस्सेह णमो त्ति य, निसेज्जकरणं च तिण्हट्ठा ॥२१०४॥
२२३०. इतरेसु होंति लहुगा, संजति गुरुगा य जं च आसंका।
सेसाऽकरणे लहुगो, लहुगा वत्थुं च आसज्ज^३ ॥२१०५॥
२२३१. अविरुद्धा सव्वपदा, उवस्सए होंति संजतीणं तु।
अतिघरपत्तगुरुम्मि य, बहिया गुरुगा य आणादी ॥२१०६॥ नि ५०५ ॥
२२३२. सेज्जोवधि-आहारे, सीसगणाणुप्पदाण सज्झाए।
संजोग-विधि-विभत्ता, दवावणाए^४ वि छट्ठाणा ॥२१०७॥
२२३३. सीसगणम्मि विसेसो, अण्णेसु वि कारणेहरा लहुगो।
इतरेसि देंति गुरुगा, संजतिवग्गे य जो देति^५ ॥२१०८॥
२२३४. समणी उ देति उभयं^६, जतीण जयओ वि सिस्सणी^७ तीए।
छंद-निकाय-निमंतण, एगट्ठा तत्थ वि तहेव ॥२१०९॥
२२३५. सेज्जोवधि-आहारे, सीसगणाणुप्पदाण-सज्झाए।
संजोग-विधि-विभत्ता, निकायणाए^८ वि छट्ठाणा ॥२११०॥
२२३६. 'अब्भुट्ठाणे आसण'^९, किंकर अब्भासकरणं^{१०} अविभत्ती।
संजोग-विधि-विभत्ता, अब्भुट्ठाणे वि^{११} छट्ठाणा ॥२१११॥
२२३७. जह चेव य कितिकम्मे, तह चेव य होति किंकरो जाव।
सव्वेसिँ पि भूयाणं, धम्मे^{१२} अब्भासकरणं^{१३} तु ॥२११२॥

१. °सजुयं (भ) ।

२. छंद की दृष्टि से यहां प्रतियों में 'वदण' के स्थान पर 'वदन' पाठ मिलता है।

३. °ज्जा (दे) ।

४. पंकभा १४९४।

५. देंति (दे) ।

६. उभयं पि णाम सीसं सीसिणिं (चू) ।

७. सिस्सणी (भ) ।

८. निमंतणाए (पंकभा १४९५)

९. अब्भुट्ठासण अंजलि (पंकभा १४९६) ।

१०. °रणं (दे) ।

११. व (भ) ।

१२. धम्मा (दे, पा) ।

१३. अभ्यासे वर्तयति अभ्यासवर्ती (चू) ।

२२२९. पच्चीस आवश्यकों^१ से युक्त वंदनक वन्दना संभोज होता है। सिर झुकाकर प्रणाम करना प्रणाम संभोज है। एक या दोनों हाथों को मुकुलित कर ललाट पर स्थित करना अंजलिसंभोज है। भक्ति, बहुमान पूर्वक 'णमो खमासममाणं' इत्यादि नमस्कार गुरु आलाप संभोज है। सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी तथा आलोचना (दोष की आलोचना या पाक्षिक आलोचना) के लिए निषद्या प्रदान करना अभिग्रहनिषद्या कहलाती है।

२२३०. जो भिक्षु इतर—पार्श्वस्थ, गृहस्थ आदि के प्रति वन्दना, प्रणाम आदि उपर्युक्त संभोज स्थानों का प्रयोग करता है, उसे चतुर्लघु तथा साध्वियों के लिए वन्दना आदि का प्रयोग करता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साध्वी को वन्दना, प्रणाम आदि करने पर आशंका आदि होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है। शेष—सांभोजिक एवं अन्यसांभोजिक संविग्न साधुओं के प्रति जो वन्दना, प्रणाम आदि संभोज स्थानों का प्रयोग नहीं करता, उसे मासलघु अथवा आचार्य, उपाध्याय आदि वस्तु (व्यक्ति विशेष) की अपेक्षा से चतुर्लघु, मासगुरु आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२३१. यदि पाक्षिक आलोचना आदि के लिए साध्वियां साधुओं के उपाश्रय में आई हुई हों तो उनके लिए वन्दना, प्रणाम आदि सारे स्थानों का प्रयोग करना अविरुद्ध—विधिसम्मत है। जब वे (साध्वियां) भिक्षा आदि के लिए उपाश्रय से बाहर गई हो, उस समय उनके लिए वन्दना आदि करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों की प्राप्ति होती है।

२२३२. 'दान' प्रतिद्वार के छह स्थान होते हैं—१. शय्या २. उपधि ३. आहार ४. शिष्यगण का अनुप्रदान ५. स्वाध्याय और ६. संयोगविधि विभाग। (शय्या, उपधि और आहार निसर्जनाद्वार तथा स्वाध्याय सूत्रद्वार के अनुसार ज्ञातव्य है।)

२२३३. प्रस्तुत गाथा में शिष्यगण का दान विशेष है। शेष दो पूर्ववत् हैं। अन्यसांभोजिक यदि श्रुत, वस्त्र आदि की दृष्टि से शिष्यसंग्रह करने में असमर्थ हों इस कारण से उन्हें शिष्यगण देने वाला भिक्षु शुद्ध है, अन्यथा अर्थात् निष्कारण उन्हें शिष्य देने से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो पार्श्वस्थ आदि तथा संयती वर्ग को शिष्य प्रदान करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२३४. साध्वी यदि सांभोजिक साधुओं को उभय—शिष्य और शिष्या दे तो शुद्ध है। इसी प्रकार सांभोजिक साध्वी को शिष्या देने वाला साधु भी शुद्ध है। 'ओघ' द्वार का छठा प्रतिद्वार है निकाचना। छन्दना, निकाचना और निमन्त्रणा एकार्थक है। उसे भी दान द्वार के समान ही ज्ञातव्य है।

२२३५. निकाचना द्वार के छह स्थान होते हैं—१. शय्या २. उपधि ३. आहार ४. शिष्यगण का अनुप्रदान ५. स्वाध्याय और ६. संयोगविधि विभाग।

२२३६. अभ्युत्थान^२ द्वार के छह स्थान होते हैं—१. अभ्युत्थान २. आसन^३ ३. किंकर^४ ४. अभ्यासकरण^५ ५. अविभक्ति और ६. संयोगविधि विभाग।

२२३७. अभ्युत्थान से किंकर पर्यन्त द्वारों की वक्तव्यता उसी प्रकार है, जैसे कृतिकर्म की। धर्म विषयक सभी पूजाओं में धर्मों की निकटवर्तिता अभ्यासकरण है।

१. पच्चीस आवश्यक—निभा २ चू. पृ. ३४९ चउसिरं बारसावत्तं, दुपवेसं दुओणयं तिगुत्तं च।

अहाजायं निक्खमेगं, वंदणयं पणवीसजुयं ॥

२. अभ्युत्थान संभोज—पर्याय ज्येष्ठ, श्रुतसम्पन्न आदि को अभ्युत्थान आदि से सम्मान देना।

३. ज्येष्ठ साधुओं को आसन प्रदान करना।

४. प्राघूर्णक, आचार्य आदि से पूछना—आज्ञा दें मैं आपकी क्या सेवा करूं।

५. आचार्य आदि के समीप रहना।

२२३८. भुंजण वज्जा अण्णे, अविभत्ती इतर लहुग-गुरुगा य।
संजति थेर-विभत्ती, माता इतरीसु गुरुगा उ ॥२११३ ॥
२२३९. सुत्ताऽऽयाम-सिरोणत, मुद्धाणं सुत्तवज्जितं चेव।
संजोग-विधि-विभत्ता, 'छट्टाणा होंति कितिकम्मे'^१ ॥२११४ ॥
२२४०. सुत्तं कड्ढति वेट्टो, उट्ट-निवेसादि न तरती काउं।
आयामे पुण वेट्टो, करेति बितिओ ससुत्तपरो ॥२११५ ॥
२२४१. रातिणिय-सारियतरण, सिरप्पणामं करेति ततिओ तु।
मुहुरोगी आयामे, मुद्ध समत्ते ऽहव गिलाणो ॥२११६ ॥
२२४२. जह चेवऽब्भुट्टाणे, चउक्कभयणा तहेव कितिकम्मे।
संजति संजयकरणे, न मुद्ध केई^२ तु रयहरणं ॥२११७ ॥
२२४३. आहार-उवधि-मत्तग, अधिकरण विओसणा य सुसहाए।
संजोग-विधि-विभत्ता, वेयावच्चे वि^३ छट्टाणा^४ ॥२११८ ॥
२२४४. ओसवणं^५ अधिकरणे, सव्वेसु वि सेस जह उ आहारे।
असहायस्स सहायं, कुसहाए वा जहा सीसे ॥२११९ ॥
२२४५. वास-उडु-अहालंदे^६, 'साहारोग्गह पुहत्त इत्तरिए'^७।
वुड्ढावास समुसरणें, छट्टाणा^८ होंति पविभत्ता ॥२१२० ॥
२२४६. वास उडु अहालंदे, एते च्चिय होंति छप्पया गुणिता^९।
साधारणोग्गहेणं, पत्तेणेगं तुभयकाले^{१०} ॥२१२१ ॥

१. कितिकम्मे होंति छट्टाणा (पंकभा १४९७)।

२. केयं (भ)।

३. व (भ)।

४. पंकभा १४९८।

५. ओसमणं (दे)।

६. वासा उडु (क)।

७. °इत्ति° (भ), पुहुत्तसाहारणोग्गहि त्ति° (पंकभा १४९९)।

८. × (दे)।

९. गणिया (दे)।

१०. उभ° (दे)।

२२३८. एकत्र भोजन को छोड़कर अन्यसांभोजिक साधुओं के साथ अविभक्ति करना (अपने भाई/पिता आदि के समान मानना) निर्दोष है। पार्श्वस्थ आदि के साथ अविभक्ति करने वाले मुनि को चतुर्लघु तथा यथाच्छन्द के साथ अविभक्ति करने वाले मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संविग्न स्थविरा साध्वी के साथ अविभक्ति करणीय है—आप मेरी मां/बहिन के समान हैं, मैं आपमें और उनमें कोई भेद नहीं मानता। अन्य—पार्श्वस्थ आदि साध्वियों, गृहस्थस्त्रियों के प्रति अविभक्ति करने वाले तथा संविग्न तरुण साध्वियों के प्रति अशुद्ध भाव से अविभक्ति करने वाले मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२३९. कृतिकर्म^१ प्रतिद्वार के छह स्थान होते हैं—१. सूत्र २. आयाम ३. शिरोनत ४. मूर्धा ५. सूत्रवर्जित तथा ६. संयोगविधि विभाग।

२२४०. जो मुनि वात आदि से ग्रस्त होने के कारण उठकर बैठ नहीं सकता, आवर्त नहीं दे सकता है, वह अस्खलित, अमीलित आदि गुणों से युक्त वन्दनसूत्र का बैठ-बैठे उच्चारण कर वन्दना देता है—यह सूत्र कृतिकर्म है। जो मुनि बैठा-बैठा वन्दनसूत्र पूर्वक आवर्त देता है यह दूसरा—आयाम नामक कृतिकर्म है।

२२४१. तृतीय शिरोनत कृतिकर्म—किसी गच्छ का आचार्य अवमरात्तिक हो, वहां रात्तिक साधु उसे कहे—आचार्यवर! आप मध्यम वन्दनक न दें ताकि शैक्ष साधु परिभव न करें। तब वह आचार्य मध्यम वन्दनक के समय केवल शिरःप्रणाम करता है—यह शिरोनत है अथवा कोई अतरण—ग्लान मुनि भी केवल सिर झुकाकर वन्दना करता है, यह भी शिरोनत कृतिकर्म है। मूर्धा—वन्दन सम्पन्नता के समय कोई मुंहरोगी मुनि सिर की क्रिया पूर्वक प्रणाम करता है अथवा कोई ग्लान मुनि केवल शिरोनतिपूर्वक वन्दना करता है, वह मूर्धा कृतिकर्म है। सूत्रवर्जित कृतिकर्म—जो मुनि उठना, बैठना, आवर्त आदि सारी क्रियाएं कर सकता है, पर मुंह में रोग होने के कारण सूत्र का उच्चारण नहीं कर पाता—यह सूत्रवर्जित कृतिकर्म है।

२२४२. जिस प्रकार अभ्युत्थान द्वार में चतुर्भंगी होती है, उसी प्रकार कृतिकर्म में भी ज्ञातव्य है। जहां साध्वियों को साधुओं का कृतिकर्म करना हो, वहां वे खड़ी-खड़ी सूत्रोच्चारण, आवर्त आदि सब कुछ करती हैं, केवल बैठे-बैठे मस्तक को रजोहरण पर नहीं टिकाती। कुछ आचार्यों के अनुसार वे केवल खड़े-खड़े रजोहरण पर सिर झुकाती हैं। वही उनका मूर्धा कृतिकर्म है।

२२४३. वैयावृत्य^२ प्रतिद्वार के छह स्थान होते हैं—१. आहार २. उपधि ३. मात्रक ५. अधिकरण (कलह) का व्युपशमन ५. सुसहाय और ६. संयोगविधि विभाग।

२२४४. कलह किसी के साथ उत्पन्न हो, उसका उपशमन करणीय है। इस प्रकार अधिकरण का व्युपशमन नामक वैयावृत्य सबके साथ सम्भव है। शेष संभोज—आहार, उपधि और मात्रक की वक्तव्यता आहार की ही भांति ज्ञातव्य है। सुसहाय संभोज का अर्थ है—असहाय को सहायक देना अथवा कुसहाय (जिसके सहायक अच्छे नहीं हैं उसे) अच्छा सहायक प्रदान करना। इसकी वक्तव्यता शिष्यगण का अनुप्रदान नामक संभोज (२२३२-२२३४) की भांति ज्ञातव्य है।

२२४५. समवसरण प्रतिद्वार के प्रविभक्त (संयोग रहित) छह स्थान होते हैं—१. वर्षा अवग्रह (अधिकृत स्थान) २. ऋतुबद्ध अवग्रह ३. यथालन्द अवग्रह ४. इत्वरिक अवग्रह ५. वृद्धवास अवग्रह और ६. समवसरण अवग्रह।

२२४६. आदेशान्तर से समवसरण के वर्षावास अवग्रह, ऋतुबद्ध अवग्रह तथा यथालन्द अवग्रह—इन तीनों को साधारण और प्रत्येक से गुणित करने पर वर्षाकाल एवं ऋतुबद्धकाल दोनों में छह पद होते हैं।

१. कृतिकर्म का अर्थ है वन्दना काल में करणीय क्रियानुष्ठान।

२. सांभोजिक साधुओं को आहार, उपधि, मात्रक, कलहशमन आदि के सहयोग से उपष्टम्भ देना।

२२४७. पडिबद्ध^१ लंदि उग्गह, जं निस्साए तु तस्स सो होति ।
रुक्खादी पुव्वठिते, इत्तिरि^२ वुट्ठे य णहाणादी ॥ २१२२ ॥
२२४८. साधारण-पत्तेगो, चरिमं^३ 'वज्जे तु'^४ उग्गहो होति ।
गेण्हमदेताऽऽरुवणा, सच्चित्ताचित्तणिप्फण्णा ॥ २१२३ ॥
२२४९. समणुण्णमणुण्णे वा, अदेतऽणाभव्व गेण्हमाणे वा ।
संभोग वीसुकरणं, इतरे य अलंभ पेल्लेति ॥ २१२४ ॥
२२५०. परियट्टणाणुओगे, वागरण पडिच्छणा य आलोए ।
संजोग-विधि-विभत्ता, 'सण्णीसेज्जे वि'^५ छट्टाणा ॥ २१२५ ॥
२२५१. सणिसेज्जो व गतो पुण, तग्गतेण परियट्टणे हवति सुद्धो^६ ।
अण्णेण होति लहुगो, इतरे लहुगा य गुरुगा य ॥ २१२६ ॥
२२५२. अणिसेज्जा अणुयोगं, सुणेति लहुगा उ^७ होंति देते य ।
वागरण^८ निसेज्जगतो, इतरेसु वि^९ देतऽसुद्धो^{१०} तु ॥ २१२७ ॥
२२५३. जो उ निसेज्जोवगतो^{११}, पडिपुच्छे वावि अहव आलोए ।
लहुगा य विसंभोगो, समणुण्णो होति^{१२} अण्णो वा ॥ २१२८ ॥
२२५४. वादो^{१३} जप्प^{१४} वितंडा^{१५}, 'पइण्णगकहा य णिच्छयकहा य'^{१६} ।
संजोग-विधि-विभत्ता, 'कह-पडिबंधे'^{१७} वि छट्टाणा ॥ २१२९ ॥

१. पडिबुद्ध (दे) ।

२. इत्तिरि (मु) ।

३. चरिमो णाम समोसरणं, तत्थ उग्गहो णत्थि (चू) ।

४. वज्जेत्तु (क), उज्झित्तु (भ) ।

५. सण्णीसेज्जाए (पंकभा १५००) ।

६. गाथा के पूर्वाद्ध में छंदभंग है ।

७. य (दे) ।

८. वागरणे त्ति पृष्टः सन् व्याकरोति (चू) ।

९. अपिशब्दाद् गिहत्थाण वि गिहत्थीण वि संजतीण वि देतो असुद्धो (चू) ।

१०. देति पुट्टो (भ, पा) ।

११. णिसज्जाए उवविट्ठो णिसज्जोवगतो भवति, जति सुत्तमत्थं वा पडिच्छति (चू) ।

१२. होउ (दे) ।

१३. मतमभ्युपगम्य पंचावयवेन त्रयवयवेन वा पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रहात् छलजातिविरहितो भूतार्थान्वेषणपरो वादः (चू) ।

१४. परिगृह्य सिद्धान्तं प्रमाणं च छल-जाति-निग्रहस्थानपरं भाषणं यत्र जल्पः (चू) ।

१५. यत्रैकस्य पक्षपरिग्रहो नापरस्य दूषणमात्रप्रवृत्तः, स वितंडः (चू) ।

१६. पइण्णयामीसिया कहा होति (पंकभा १५०१) ।

१७. कहापबंधे (पंकभा) ।

२२४७. जो गच्छप्रतिबद्ध यथालन्दक जिस आचार्य के निश्राय में विहरण करते हैं, उनका अवग्रह ही यथालन्दक मुनियों का अवग्रह होता है। वृक्ष आदि के नीचे विश्राम आदि के निमित्त कुछ समय के लिए अनुज्ञा लेकर रहते हैं, वह इत्वरिक अवग्रह होता है। उनमें जो पूर्वस्थित होता है—पहले अनुज्ञा लेकर रहता है, वह उसका अवग्रह होता है तथा जो साथ-साथ अवग्रह की अनुज्ञा लेते हैं, उनका साधारण अवग्रह होता है। जिनका जंघाबल क्षीण हो जाता है उनका अवग्रह वृद्धावास अवग्रह कहलाता है। स्नान, अनुयान तथा प्रतिमा की महिमा आदि के अवसरों पर साधुओं का मिलन समवसरण कहलाता है।

२२४८. प्रथम पांचों अवग्रहों के दो-दो भेद होते हैं—साधारण और प्रत्येक। चरम अर्थात् समवसरण नामक छोटे स्थान में साधारण अवग्रह होता है, प्रत्येक नहीं होता। उसमें वसति के लिए अवग्रह की मार्गणा होती है। वसति के दो प्रकार होते हैं—साधारण और प्रत्येक। उसमें जो अनाभाव्य को ग्रहण करता है अथवा पूर्वगृहीत को नहीं देता^१, उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रायश्चित्त दो प्रकार का होता है—सचित्त निष्पन्न (चतुर्गुरु) तथा अचित्त निष्पन्न (उपधि निष्पन्न)।

२२४९. जो सांभोजिक अनाभाव्य का ग्रहण करता है अथवा ग्रहण किए हुए को नहीं देता है, उसका संभोज पृथक् कर दिया जाता है। इसी प्रकार असांभोजिक भी यदि अनाभाव्य का ग्रहण करता है अथवा ग्रहण किए हुए को नहीं देता तो वह जिनका सांभोजिक है, वे उसका विसंभोज कर देते हैं। इतर—पार्श्वस्थ आदि का क्षेत्र यदि छोटा है फिर भी संविग्न मुनि उन्हें पीड़ित करते हैं तो उन्हें क्रमशः सचित्त या अचित्त निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि उनके पास विस्तृत क्षेत्र है तथा दूसरी ओर संविग्न मुनियों के अनिर्वाह की स्थिति है तो वे उन्हें प्रेरित करें तो शुद्ध हैं।

२२५०. सन्निषद्या^२ प्रतिद्वार के छह स्थान होते हैं—१. परिवर्तना २. अनुयोग ३. व्याकरण ४. प्रतीच्छना ५. आलोचना और ६. संयोगविधि विभाग।

२२५१. दो सांभोजिक आचार्य संघाटक के रूप में अपनी-अपनी निषद्या पर बैठकर श्रुत परिवर्तना करें तो शुद्ध हैं। यदि वे अन्यसांभोजिक के साथ निषद्या करें तो उन्हें मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इतर—पार्श्वस्थ एवं गृहस्थ के साथ निषद्या करते हुए श्रुत परिवर्तना करने पर चतुर्लघु एवं यथाच्छन्द तथा साध्वियों के साथ परिवर्तना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२५२. जो मुनि अक्षनिषद्या^३ के बिना अनुयोग का कथन करता है अथवा उसका श्रवण करता है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। व्याकरण का अर्थ है—पूछने पर उत्तर देना। जो पार्श्वस्थ, गृहस्थ, गृहस्थ स्त्री अथवा साध्वियों को निषद्या में स्थित होकर व्याकरण प्रदान करता है, वह अशुद्ध—प्रायश्चित्तार्ह है।

२२५३. जो मुनि निषद्या में उपविष्ट होकर सूत्र और अर्थ की प्रतिपृच्छा अथवा आलोचना करता है उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। समनोज्ञ हो या अन्य, जो निषद्या सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण करता है, उसका संभोज विच्छेद कर दिया जाता है।

२२५४. कथाप्रबन्ध (कथा सम्बन्धी व्यवस्था) प्रतिद्वार में छह स्थान होते हैं—१. वाद २. जल्प ३. वितण्डा ४. प्रकीर्णकथा (उत्सर्गकथा) ५. निश्चयकथा (अपवादकथा) और ६. संयोग विधि विभाग।

१. सांभोजिक साधुओं के अवग्रह में जाकर कोई साधु शिष्य, वस्त्र आदि का जान बूझकर ग्रहण करता है अथवा अनजान में गृहीत शिष्य, वस्त्र आदि अवग्रहस्थ साधुओं को नहीं सौंपता है, उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है।

२. दो सांभोजिक आचार्यों का अपनी-अपनी निषद्या पर बैठकर श्रुत परिवर्तना करना।

३. अक्ख—चन्दनक, समुद्र में होने वाला द्वीन्द्रिय जन्तु, जिसके निर्जीव शरीर को जैन साधु लोग स्थापनाचार्य में रखते हैं।

२२५५. वादं जप्प वितंडं, सव्वेहि वि कुणति समणिवज्जेहिं ।
समणीण वि पडिकुट्टा, होति सपक्खे वि तिण्णि कहा ॥ २१३० ॥
२२५६. 'उस्सग्ग पइण्णकहा'^१, अववाओ^२ होति निच्छयकहा^३ तु ।
अहवा ववहारणया, पइण्णसुद्धा तु णिच्छइगा ॥ २१३१ ॥
२२५७. बारस य चउव्वीसा, छत्तीसऽडयालमेव सट्ठी य ।
बावत्तरी-विभत्ता, चोयालसतं तु संभोगे^४ ॥ २१३२ ॥
२२५८. दो चेव सया सोला, अट्टासीता तहेव दोण्णि सया ।
तिण्णि य सट्ठिसयाइं, चत्तारि सया य बत्तीसा ॥ २१३३ ॥
२२५९. बारस य चउव्वीसा, छत्तीसऽडयालमेव सट्ठीया ।
बावत्तरी छग्गुणिता, चत्तारि सया तु बत्तीसा^५ ॥ २१३४ ॥
२२६०. एतेसिं तु पदाणं, करणे संभोग अकरणे इतरो ।
दोहि विमुक्के चउवीस^६, होति तस्सहित इतरो उ ॥ २१३५ ॥
२२६१. 'णाणादी छत्तीसा, चउकसायवज्जितस्स अडयाला ।
संवर सट्ठि दुसत्तरी^७, छहि अहव त एव छद्दारा ॥ २१३६ ॥
२२६२. बावत्तरीं पि^८ तह चेव, कुणसु रागादिगेषु संगुणितं ।
अकप्पादि छहि पदेहिं, चत्तारि सया उ बत्तीसा ॥ २१३७ ॥
२२६३. अभिगह^९ संभोगो पुण, णातव्वो तव दुवालसविधम्मि ।
दाणग्गहणे दुविधो, सपक्ख-परपक्खतो^{१०} भइतो ॥ २१३८ ॥

१. × (पा), णेगम-संगह-ववहारेहिं जं कहिज्जति, सा पइण्णकहा (चू) ।
२. उव° (दे) ।
३. रिजुसुत्तादिएहिं सुद्धणएहिं जं कहिज्जति, सा णिच्छयकहा (चू) ।
४. तु. पंकभा १५०४ ।
५. पंकभा १५०५ ।
६. चउव्वीस (दे) ।
७. णाण-दंसण-चरित्तेहि तिहिं गुणिता बारस छत्तीसतिविधो

संभोगो भवति । अण्णाणादिएहिं तिहिं छत्तीसतिविधो विसंभोगो भवति । चउक्कसायावगयस्स चउग्गुणा बारस अडयालीसतिविधो संभोगो, सो चेव चउक्कसायसहियस्स विसंभोगो । संवरो पंचमहव्वयाति, तेहिं गुणिया सट्ठी । रातीभोयणसहितेहिं छग्गुणिया बारस-बावत्तरी भवति (चू) ।
८. तु (दे, पा) ।
९. अभिराभिमुख्येन ग्रहो अभिगहो (चू) ।
१०. परिप° (भ) ।

२२५५. साधु साध्वियों के साथ वाद, जल्प एवं वितण्डा नहीं करता। अन्य सभी (असांभोजिकों) के साथ सब कथाएं की जा सकती हैं। साध्वियों के लिए प्रथम तीनों कथाएं स्वपक्ष में (साध्वियों के साथ) भी प्रतिक्रुष्ट—निषिद्ध हैं।

२२५६. उत्सर्ग कथा को प्रकीर्णकथा तथा अपवादकथा को निश्चयकथा कहा जाता है। अथवा जो नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से कही जाती है, वह प्रकीर्ण कथा तथा ऋजुसूत्र आदि शुद्ध नयों से कही जाती है वह निश्चयकथा कहलाती है।

२२५७. ओघतः संभोज के बारह प्रकार होते हैं। उसे दो, तीन यावत् छह से गुणित करने पर संभोज के क्रमशः चौबीस, छत्तीस, अड़चास, साठ और बहत्तर विभाग हो जाते हैं। उसे पुनः दो से गुणित करने पर संभोज के एक सौ चवालीस भेद हो जाते हैं।

२२५८. बहत्तर प्रकार के संभोज को पुनः तीन, चार यावत् छह से गुणित करने पर क्रमशः दो सौ सोलह, दो सौ अठ्यासी, तीन सौ साठ तथा चार सौ बत्तीस भेद होते हैं।

२२५९. बारह प्रकार के ओघ संभोज को दो आदि से गुणित करने पर क्रमशः चौबीस, छत्तीस, अड़चास और साठ भेद हो जाते हैं तथा छह से गुणित बहत्तर भेदों को पुनः छह से गुणन करने पर चार सौ बत्तीस भेद हो जाते हैं।

२२६०. इन ओघ संभोज से दो, तीन आदि के गुणन से उत्पन्न चौबीस, छत्तीस आदि विभाग पदों को करने से संभोज तथा न करने से विसंभोज होता है। इन बारह पदों का राग और द्वेष से विप्रमुक्त आचरण करने पर चौबीस प्रकार का संभोज होता है तथा उन्हीं का राग और द्वेष से युक्त आचरण करने पर चौबीस प्रकार का विसंभोज होता है।

२२६१. संभोज के उपर्युक्त बारह भेदों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीन से गुणा करने पर छत्तीस, चार कषाय के अपगम से गुणा करने पर अड़चास, पांच महाव्रत रूप संवर से गुणा करने पर साठ तथा रात्रि भोजन विरमण सहित छह प्रकार के संवर से गुणा करने पर बहत्तर भेद हो जाते हैं। अथवा ओघ द्वार के उपधि, श्रुत आदि बारह द्वारों के छह-छह भेद होने से संभोज के बहत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हीं बारह भेदों को अज्ञान आदि पदों से गुणा करने पर विसंभोज के भी छत्तीस आदि भेद हो जाते हैं।

२२६२. उपधि, श्रुत आदि से संगुणित करने पर निष्पन्न बहत्तर प्रकार के संभोज को राग-द्वेष दो से गुणा करने पर संभोज के एक सौ चवालीस, ज्ञान आदि तीन से गुणा करने पर दो सौ सोलह यावत् अकल्प्य षट्क, व्रत षट्क या काय षट्क में से किसी एक षट्क से गुणा करने पर चार सौ बत्तीस भेद हो जाते हैं।

२२६३. बारह प्रकार के तप के विषय में विविध अभिग्रहों को धारण करना अभिग्रहसंभोज है—ऐसा ज्ञातव्य है। दानग्रहण संभोज के दो प्रकार होते हैं—१. स्वपक्षतः २. परपक्षतः। उसके पुनः चार भंग हो जाते हैं—१. दान-ग्रहण २. दान-नोग्रहण ३. नो दान, ग्रहण और ४. नो दान, नो ग्रहण। इसमें प्रथम और द्वितीय भंग स्वपक्ष विषयक, तृतीय परपक्ष (गृहस्थ) विषयक तथा चतुर्थ भंग पार्श्वस्थादि विषयक होने से संभोजशून्य है।

२२६४. अणुपालण संभोगो , णातव्वो होति संजतीवग्गे ।
उववाते संभोगो, पंचविधुवसंपदाए तु ॥ २१३९ ॥
२२६५. सुत^१-सुह^२-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणए य होति बोधव्वो ।
उववाते संभोगो, पंचविगप्पो भवति एसो ॥ २१४० ॥
२२६६. संवासे संभोगो, सपक्ख-परपक्खतो य णातव्वो ।
सरिकप्पेसु^३ सपक्खे, परपक्खम्मी गिहत्थेसु ॥ २१४१ ॥
२२६७. पक्खिय 'चउवरिसे वा'^४, अकरण आरोवणा तु सति विरिए ।
'सेसतवस्स अकरणे'^५, लहुगो अमणुण्णता चेव ॥ २१४२ ॥
२२६८. चतुभंग दाणगहणे, मणुण्ण पढमो तु संजती बितिओ ।
गिहिएसु होति ततिओ, इतरेसु^६ तु अंतिमो भंगो ॥ २१४३ ॥
२२६९. अविधी अणुपालेंते, अणाभवंतं व देंत गेण्हंते ।
पच्छित्त वीसुकरणे, पच्छाऽऽउट्टं व संभुंजे ॥ २१४४ ॥
२२७०. संभोगमण्णसंभोइए व उववातओ तु संभोगो ।
संवासो तु मणुण्णे, सेसे लहु-लहुग-गुरुगा य ॥ २१४५ ॥
२२७१. जस्सेते संभोगा, उवलद्धा अत्थतो^७ य विण्णाता ।
निज्जूहितुं समत्थो, निज्जूढे यावि परिहरितुं ॥ २१४६ ॥

१. सुत्तथाण णिमित्तं उवसंपया सुतोवसंपया (चू) ।

२. एक्कस्स आयरियस्स बहुगुणं खेतं तमण्णो आयरिओ
जाणिरुण अणुजाणावेरुण तस्स खेत्ते ठायति, एस
खेतोवसंपया (चू) ।

३. सरिसो कप्पो जेसिं, ते सरिसकप्पा (चू) ।

४. चउवारिसिते (दे) ।

५. सेसे तवस्सऽकरणे (भ) ।

६. 'रेसुं (क) ।

७. अट्टतो (क) ।

८. पंकभा १५०७ ।

२२६४. अनुपालना संभोज का अर्थ है—क्षेत्र, उपधि, शय्या आदि के विषय में तथा क्षेत्र संक्रमण के विषय में साध्वियों की विधिपूर्वक अनुपालना। उपपात संभोज—पांच प्रकार की उपसंपदा स्वीकार करना।

२२६५. उपपात (अपेक्षा होने पर सांभोजिक साधुओं की उपसंपदा स्वीकार करना) संभोज में ये पांच विकल्प (प्रकार) होते हैं—१. श्रुत २. सुखदुःख ३. क्षेत्र ४. मार्ग और ५. विनय।^१

२२६६. संवास संभोज स्वपक्ष और परपक्ष के भेद से द्विविध ज्ञातव्य है। सदृश कल्प वाले संयत वर्ग के प्रति स्वपक्ष संवास होता है तथा गृहस्थों के विषय में परपक्ष संवास।

२२६७. वीर्य (शक्ति) होने पर भी जो मुनि पाक्षिक उपवास, चातुर्मासिक बेला तथा सांवत्सरिक तेला नहीं करता, उसे वही (उपवास आदि) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यावत्कथित अनशन के अतिरिक्त वीर्य होने पर भी बारह प्रकार में से किसी प्रकार का तप नहीं करता, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कहने पर भी निवृत्त न होने वाला मुनि अमनोज्ञ हो जाता है, उसका विच्छेद कर दिया जाता है।

२२६८. दानग्रहण संभोज की चतुर्भंगी में प्रथम भंग समनोज्ञ संयत, द्वितीय भंग साध्वियों, तृतीय भंग गृहस्थों तथा चतुर्थ भंग इतर—पार्श्वस्थ आदि पर लागू होता है।^२

२२६९. जो मुनि संयतीवर्ग का विधिपूर्वक पालन नहीं करता अथवा उन्हें अनाभाव्य (अनुचित वस्तु)—दंडयुक्त रजोहरण, वृन्तयुक्त तुंबा आदि देता अथवा उनके हाथ से लेता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कहने पर भी यदि वह उस आचरण से निवृत्त नहीं होता, उसका संभोज विच्छेद कर दिया जाता है। यदि वह निवृत्त हो जाए तो पुनः संभोज कर लिया जाता है।

२२७०. सांभोजिक मुनि यदि प्रवास करके लौटे तो आलोचना पूर्वक उसे उपपातसंभोज में स्थापित किया जा सकता है। अन्यसांभोजिक को भी आलोचना पूर्वक उपसंपदा प्रदान की जा सकती है। एक सांभोजिक मुनि दूसरे सांभोजिक मुनि के साथ संवास करे, वह शुद्ध है। अन्यसांभोजिक मुनि के साथ संवास करने पर मासलघु, पार्श्वस्थ आदि तथा गृहस्थ के साथ संवास करने पर चतुर्लघु तथा यथाच्छन्द एवं साध्वियों के साथ संवास करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२७१. जिसको संभोज के ये सारे विकल्प सूत्रपदों से उपलब्ध (ज्ञात) तथा अर्थ की दृष्टि से विज्ञात हो, वह मुनि अन्य मुनि का प्रमाद से निर्यूहण करने में समर्थ होता है तथा जो निर्यूह (गण से निष्कासित) किया गया है, उसे पुनः धारण करने में भी समर्थ होता है।

१. पंचविध उपसंपदा—१. श्रुतोपसंपदा—श्रुत एवं अर्थ के निमित्त उपसंपदा ग्रहण करना। २. सुख दुःखोपसंपदा—मनुष्य जन्म बहुप्रत्यपाय है अतः रोगातंक आदि के समय ये मेरी वैयावृत्य करेंगे और मैं इनकी—ऐसा सोचकर गच्छ की उपसंपदा ग्रहण करना। ३. क्षेत्रोपसंपदा—एक आचार्य अच्छे क्षेत्र में स्थित है उसकी अनुज्ञा लेकर दूसरे आचार्य का उसमें प्रवास करना। ४. मार्गोपसंपदा—दो आचार्यों में एक मार्गज्ञ है और दूसरा नहीं। अमार्गज्ञ आचार्य मार्गज्ञ आचार्य से कहता है—मैं आपके प्रभाव से आपके साथ अमुक क्षेत्र में विहरण करना चाहता हूँ। तब मार्गज्ञ आचार्य उसे मार्गानुरूप उपदेश देता है। ५. विनयोपसंपदा—दो आचार्यों में एक वास्तव्य है और दूसरा आगंतुक। वास्तव्य आचार्य आगंतुक को क्षेत्र के सुगम दुर्गम मार्ग, सुखविहार आदि का ज्ञान देता है तथा आगंतुक उन्हें वस्त्र, शिष्य आदि ग्रहण करते समय निवेदन करता है।

२. यदि कोई मुनि अन्यसांभोजिक मुनियों के विषय में प्रथम तीन भंगों का आचरण करता है तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, गृहस्थ एवं पार्श्वस्थों के विषय में उनका आचरण करने पर चतुर्लघु, यथाच्छन्द के विषय में आचरण करने पर चतुर्गुरु तथा साध्वियों के विषय में प्रथम और तृतीय भंग का आचरण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२७२. सरिकप्पे^१ सरिच्छंदे^२, तुल्लचरित्ते^३ विसिट्टतरगे^४ वा ।
‘कुव्वे संथव तेहिं^५’, णाणीहिं चरित्तगुत्तेहिं^६ ॥२१४७॥
२२७३. सरिकप्पे सरिच्छंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्टतरगे वा ।
आदेज्ज भत्तपाणं, सएण लाभेण वा तुस्से^७ ॥२१४८॥
२२७४. ठितकप्पम्मि दसविधे, ठवणाकप्पे य दुविधमण्णतरे ।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिकप्पो स संभोगो^८ ॥२१४९॥ नि ५०६ ॥
२२७५. अगडे भातुग तिल-तंडुले व सरक्खे य गोणि असिवे य ।
अविणट्टे संभोगे, सव्वे संभोइया आसी^९ ॥२१५०॥ नि ५०७ ॥
२२७६. आगंतु तदुत्थेण व, दोसेण विणट्ट कूव तो^{१०} पुच्छा ।
कउ आणीयं तुदगं, अविणट्टे णासि सा पुच्छा^{११} ॥२१५१॥
२२७७. भोइकुलसेविभाउग^{१२}, दुस्सीलेक्के उ जाएँ तो^{१३} पुच्छा ।
एमेव सेसगेसु वि, होति विभासा तिलादीसु^{१४} ॥२१५२॥
२२७८. ‘साधम्मय वेधम्मय’^{१५}, निघरिसभाणे तहेव कूवे य ।
अविणट्टे संभोगे, सव्वे संभोइया आसी^{१६} ॥२१५३॥
२२७९. संपतिरण्णुप्पत्ती, सिरिघर उज्जाणि हेट्ट बोधव्वा ।
अज्जमहागिरि हत्थिप्पभित्ती जाणह विसंभोगो^{१७} ॥२१५४॥

१. थेरकप्पियस्स थेरकप्पिओ चव सरिसकप्पो (चू) ।

२. दव्वादिएहिं अभिग्गहेहिं सरिसच्छंदो दट्टव्वो (चू) ।

३. सामायियचरित्तिणो सामायियचरित्ती तुल्लचरित्ती (चू) ।

४. अज्झवसाणविसेसेण वा संजमकंडएसु विसिट्टतरो (चू) ।

५. साधूहिं संथवं कुज्जा (जीभा २१०९, पंकभा १५०९),
कुव्वेज्ज संथवं तहिं (भ) ।

६. °गुत्तीहिं (दे) ।

७. जीभा २११०, पंकभा १५०८ ।

८. पंकभा १५१० ।

९. समणा (दे, पा), व्यभा २३५६ ।

१०. ततो (भ) ।

११. व्यभा २३५७ ।

१२. भोइयकुलसेवियाओ (मु) ।

१३. ततो (मु, भ) ।

१४. व्यभा २३५८ ।

१५. साधम्मिय वइधम्मिय (व्यभा २३५९) ।

१६. आसि (दे), व्यभा में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार
है—

गावी पुक्खरिणीया, नीएल्लग सेवगागमणे ।

१७. यह गाथा भ प्रति में नहीं है ।

२२७२. जो मुनि स्थविरकल्प आदि की दृष्टि से समानकल्प (मर्यादा) वाला है, द्रव्य आदि विषयक अभिग्रहों की दृष्टि से समान छन्द—अभिप्राय वाला है, सामायिक आदि की अपेक्षा सदृशचारित्री है, अध्यवसाय आदि की दृष्टि से विशिष्टतर संयमस्थान वाला है, ज्ञानी एवं चारित्रगुप्त मुनि को उसके साथ संवास (संस्तव) करना चाहिए।

२२७३. जो मुनि अपने समान कल्पस्थिति वाला हो, समान अभिग्रह वाला हो, तुल्य चारित्र वाला तथा विशिष्टतर संयमपर्याय वाला हो, उसी से आहार-पानी ग्रहण करे या स्वयं के लाभ से संतुष्ट रहे।

२२७४. जो मुनि दस प्रकार के स्थितकल्प, दो प्रकार के स्थापनाकल्प में से किसी एक में तथा उत्तरगुण—पिंडविशोधि आदि से सम्बन्धित मर्यादाओं में समान कल्प वाला हो, उसके साथ संभोज सम्बन्ध रखा जाता है।

२२७५. जब तक संभोज सम्बन्ध विनष्ट नहीं हुआ, तब तक सारे संविग्न साधुओं का एक ही संभोज था। संभोज व्यवच्छेद के संदर्भ में छह उदाहरण ज्ञातव्य हैं—१. अगड (कुआं) २. भाई ३. तिल ४. चावल ५. सरजस्क (शैव भक्त) और ६. अशिवग्रस्त गौवर्ग।

२२७६. कुछ कुएं आगन्तुक विष, छाल आदि तथा तदुत्थ क्षार, लवण आदि दोनों से विनष्ट हो गए—उनका जल दोषपूर्ण हो गया। तब पृच्छा होने लगी—कोई जल लेकर आता, उसे पूछा जाता—पानी कहां से लाए हो? (दोषयुक्त पानी लाने वाले को रोका जाता, तर्जना की जाती।) जब तक सारे कुएं अच्छे थे—अविनष्ट थे, तब तक कोई प्रश्न नहीं था।

२२७७. दो भाई निर्भय होकर राजा की सेवा करते। उन्हें अन्तःपुर पर्यन्त सब जगह प्रवेश प्राप्त था। छोटे भाई ने अन्तःपुर में अनाचार का सेवन किया, फलतः पूछा जाने लगा। बड़े भाई को प्रवेश मिल जाता। छोटे भाई को रोक दिया जाता। उसी प्रकार तिल, तंडुल आदि शेष उदाहरणों में भी विकल्प कर लेने चाहिए—जब तक सब निर्दोष थे, तब तक कोई प्रश्न नहीं था। कुछ के दूषित होने पर सबके विषय में पूछा जाने लगा।

२२७८. किसी साधु की अपने साथ साधर्मिकता का ज्ञान होने पर ही संभोज किया जाता है और वैधर्मिकता का ज्ञान होने पर संभोज विच्छेद। जिस प्रकार कुएं आदि के उदाहरणों में जल को दूषित जानने पर उसका परिहार किया गया, वैसे ही पात्रतल का सम्यक् घर्षण नहीं करते, वस्त्र को विधिपूर्वक नहीं सिलते आदि बातों के आधार पर उनके संयम-शैथिल्य को जानकर उसका परिहार किया जाता है। जब तक संभोज विनष्ट नहीं हुआ था, तब तक सभी संविग्न साधु सांभोजिक थे—सबका एक संभोज था।

२२७९. सम्राट् सम्प्रति की उत्पत्ति तथा आचार्य महागिरि के श्रीघर आयतन में प्रवास से पूर्व सभी संयत उद्यतविहारी थे, ऐसा ज्ञातव्य है। अतः आर्य महागिरि एवं आचार्य सुहस्ति से विसंभोज का क्रम प्रारम्भ हुआ—ऐसा जानें।

२२८०. सदहणा खलु मूलं, सदहमाणस्स होति संभोगो।
णाणम्मि तदुवओगो, तहेव अविसीदणं चरणे ॥ २१५५ ॥
२२८१. 'दंसण-णाण-चरित्ताण, वुड्ढिहेतुं तु'^१ एस संभोगो।
तवहेतु उत्तरगुणेषु, चेव सुहसारणा भवति ॥ २१५६ ॥ नि ५०८ ॥
२२८२. एतेसामण्णतरं, संभोगं जो वदेज्ज नत्थि त्ति।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २१५७ ॥ नि ५०९ ॥
२२८३. बितियपदमणप्पज्जे, वदेज्ज अविकोविते^२ व^३ अप्पज्जे।
जाणंते वावि^४ पुणो, भयसा तव्वादि गच्छट्ठा ॥ २१५८ ॥
२२८४. जं^५ पज्जत्तं तमलं, दढं थिरं अपरिहारिय धुवं तु।
लक्खणजुत्तं पायं, तं होती धारणज्जं तु ॥ २१५९ ॥ नि ५१० ॥
२२८५. एत्तो एगतरेणं, गुणेहि^६ सव्वेहि वावि संजुत्तं।
जे भित्तूणं पायं, परिट्टुवे आणमादीणि ॥ २१६० ॥ नि ५११ ॥
२२८६. अद्धाणणिग्गतादी^७, झामित सेहे व तेण पडिणीए।
आय-पर-तदुभए वा, असती जे पाविहिति^८ दोसा ॥ २१६१ ॥
२२८७. अद्धाणणिग्गतादी^९, न य देंते हाणि^{१०} अप्पणो देंते।
गिहि भाणेसण पोरिसि, कायाण विराधणमडंते ॥ २१६२ ॥
२२८८. तम्हा न वि भिंदेज्जा, जातमजातं विगिंचते विधिणा।
विस-विज्ज-मंत-थंडिल^{११}, असती तुच्छे य बितियपदं ॥ २१६३ ॥

१. × (पा)।

२. अधिको (क)।

३. वि (क)।

४. यावि (दे)।

५. सूत्र ६४ (नव ५/६५), तं (दे)।

६. गुणेण (मु, भ)।

७. ँनिग्गमादी (भ)।

८. पावतिहिति (दे)।

९. ँनिग्गमादी (भ)।

१०. हाणी (भ)।

११. थंडिल्ल (मु)।

२२८०. श्रद्धा करना—सम्यक् दर्शन मोक्षमार्ग का मूल है। जो मुनि सूत्रप्रज्ञप्त संभोज से सम्बद्ध उत्सर्ग अपवाद विधियों पर श्रद्धा करता है, वह सांभोजिक होता है। इसी प्रकार जो ज्ञानोपयोग में उपयुक्त तथा चारित्र में अप्रमत्त (अविषण्ण) रहता है, वह सांभोजिक होता है। इसके विपरीत आगम पर श्रद्धा न करने वाले तथा ज्ञान और चारित्र में प्रमत्त मुनि का संभोज विच्छेद कर दिया जाता है।

२२८१. यह संभोज व्यवस्था ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि के लिए तथा तपोवृद्धि के लिए अभीष्ट है। सांभोजिक मुनि यदि उत्तरगुणों में शिथिल होता है, तो उसकी सारणा (प्रेरणा) सुकर होती है।

२२८२. पार्श्वस्थ आदि के साथ एक संभोज रखने पर भी कोई कर्मबन्धन नहीं होता—जो मुनि इस प्रकार का कथन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२२८३. अपवाद में इन कारणों से मुनि 'संभोज प्रत्ययिक कर्म बन्धन नहीं होता', यह कह सकता है—
१. अनात्मवश हो २. अविकोविद—शैक्ष/अज्ञ हो ३. गीतार्थ हो, वह भय से कह दे ४. कोई दंडिक पुरुष यह प्ररूपणा करे, तब वह मौन रह जाए और ५. गच्छ या स्वयं की रक्षा के लिए कह दे।

२२८४, २२८५. अलं का अर्थ है—पर्याप्त। स्थिर का अर्थ है—दृढ़, मजबूत। ध्रुव का अर्थ है—अप्रत्यर्पणीय—न लौटाने योग्य। धारणीय का अर्थ है—लक्षणोपेत, अच्छे लक्षणों वाला पात्र। जो मुनि इनमें से एक गुण युक्त अथवा सब गुणों से युक्त पात्र को खण्ड-खण्ड करके परिष्ठापन करता (परठता) है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२२८६. अटवी निर्गत कोई सांभोजिक मुनि आएँ, अशिव, राजद्वेष आदि के कारण आएँ, उनके पात्र जल गए हों, शैक्ष को उपस्थापना देने के लिए पात्र की अपेक्षा हो, स्तेन अथवा प्रत्यनीक पात्र का अपहरण कर ले गए हों और वे (सांभोजिक मुनि) पात्र मांगे, उस समय मुनि को पात्रभेदन कर परिष्ठापित करते देखें, उससे जो आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ और तदुभयसमुत्थ दोष हों, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त परिष्ठापन करने वाले मुनि को प्राप्त होता है। पात्र के अभाव में जो दोष हों, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी उसी को प्राप्त होता है।

२२८७. अटवी निर्गत मुनि को पात्र नहीं देते और वे गृहस्थ के पात्र में परिभोग करते हैं। पात्र दें तो स्वयं की हानि होती है। अनेषणीय पात्र का परिभोग करते हैं, पात्र की गवेषणा करते हुए सूत्र अथवा अर्थ की हानि करते हैं, पात्र हेतु भ्रमण करते हुए षट्काय की विराधना करते हैं—इत्यादि सब का प्रायश्चित्त पात्रभेदन कर, परठने वाले मुनि को प्राप्त होता है।

२२८८. इसलिए पात्र चाहे जात—विषभावित या विद्याभिर्मंत्रित हो या अजात—निर्दोष हो, उसका भेदन न करे, विधिपूर्वक उसका परित्याग करे। अपवाद पद में—विषभावित हो, विद्या या मंत्र से अभिमंत्रित हो तथा उपयुक्त स्थंडिल न हो तो उसका भेदन कर दे ताकि उससे होने वाला छोटा, बड़ा गलत प्रयोजन सिद्ध न हो सके।

२२८९. पायम्मि^१ य^२ जो तु गमो, नियमा वत्थम्मि होति सो चेव ।
दंडगमादीसु तथा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ २१६४ ॥
२२९०. गणणाएँ पमाणेण व^३, हीणऽतिरित्तं च अवचितोवचितं^४ ।
झुसिरं खर-पम्हं वा, अणेगखंडं च जो धारे ॥ २१६५ ॥ नि ५१२ ॥
२२९१. सो^५ आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तम्हा, न वि धारे हीणमतिरित्तं^६ ॥ २१६६ ॥ नि ५१३ ॥
२२९२. हीणे कज्जविवत्ती, अतिरेगे संचतो व अधिकरणं ।
झुसिरादि उवरिमेसुं, विराधणा संजमे होति ॥ २१६७ ॥
२२९३. हीणाधि ए य पोरा, भाणविवत्ती य होति भारो य ।
कडिवियणा य अदीहे, उण्णम-उड्डाहमादीया ॥ २१६८ ॥
२२९४. एगं उडुबद्धम्मी^७, वासावासासु होंति दो चेव ।
दंडो दसा य तस्स तु, पमाणतो दोण्ह वी भइया ॥ २१६९ ॥
२२९५. पडिपुण्ण हत्थपूरिम^८, जुत्तपमाणं तु होति णातव्वं ।
अप्पोल्लम्मि तु पम्हं, च एगखंडं वऽणुण्णातं ॥ २१७० ॥
२२९६. बितियपदमणप्पज्जे, असती^९ पुव्वकत दुल्लभे चेव ।
सण्हे थुल्ले^{१०} य खरे, एगस्स सती य दुगमादी ॥ २१७१ ॥
२२९७. सण्हे करेति थुल्लं, तु गब्भगं परिहवेति^{११} तं थुल्ले ।
झुसिरेऽवणेति लोमं, खरं तु उल्लं पुणो मलए ॥ २१७२ ॥

१. सूत्र ६५, ६६ (नव ५/६६, ६७) ।

२. उ (दे) ।

३. य (मु, भ) ।

४. अवलितो^० (क) ।

५. सूत्र ६७ (नव ५/६८) ।

६. प्रतियों में इस गाथा का केवल प्रथम चरण मिलता है,
लेकिन मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है ।

७. °बद्धम्मिं (दे) ।

८. बत्तीसंगुलपडिपुण्णं बाहिरणिस्सजाए सह हत्थपूरिमं,
एरिसं जुत्तपमाणं रओहरणं (चू) ।

९. असइ (भ) ।

१०. उल्ले (दे) ।

११. °हरेति (मु) ।

२२८९. पूर्व (उत्सर्ग) पद तथा अपर (अपवाद) पद के विषय में जो विधि पात्र के संदर्भ में निर्दिष्ट है, नियमतः वही विधि वस्त्र एवं दंड, लाठी आदि के विषय में ज्ञातव्य है।

२२९०, २२९१. जो भिक्षु गणना प्रमाण की दृष्टि से एक (ऋतुबद्ध काल में) या दो (वर्षावास में) तथा प्रमाण प्रमाण (बत्तीस अंगुल दीर्घ) की दृष्टि से हीन या अतिरिक्त, अपचित (पोर प्रमाण से कम) तथा उपचित (पोर प्रमाण से अधिक), शुषिर, परुष किनारी वाला एवं अनेक खण्डों से युक्त रजोहरण धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः हीन और अतिरिक्त रजोहरण को धारण न करे।

२२९२. बत्तीस अंगुल से कम लम्बा रजोहरण रखने से कार्य विपत्ति (प्रयोजन की असिद्धि) होती है। अतिरिक्त प्रमाण वाला रजोहरण रखने से संचय दोष एवं अधिकरण दोष की संभावना रहती है। शुषिर, परुष दशा वाला आदि सदोष रजोहरण को धारण करने से संयम विराधना होती है।

२२९३. अंगुष्ठ के पोर से कम मोटाई वाला रजोहरण धारण करना पात्र सम्बन्धी आपदा का निमित्त बनता है, अंगुष्ठ पोर से अधिक मोटाई वाला रजोहरण धारण करने पर भार होता है। कम लम्बाई वाला रजोहरण धारण करने से प्रमार्जन करते हुए कमर में वेदना होने लगती है, अधिक झुकने से उड्डाह आदि दोष भी पैदा होते हैं।

२२९४. गणना प्रमाण की दृष्टि से मुनि ऋतुबद्ध काल में एक तथा वर्षावास में दो रजोहरण धारण कर सकता है। रजोहरण का दंड और दशा प्रमाण-प्रमाण की दृष्टि से भाज्य है—दण्ड एक हाथ का हो तो दशा आठ अंगुल की, दण्ड बीस अंगुल का तो दशा बारह अंगुल की और दण्ड छब्बीस अंगुल का तो दशा छह अंगुल की—दोनों का कुल परिमाण बत्तीस अंगुल होता है।

२२९५. बत्तीस अंगुल लम्बाई से प्रतिपूर्ण तथा बाह्यनिषद्या सहित हस्तपूरिम (हाथ भरने जितनी) मोटाई वाला रजोहरण युक्त प्रमाण वाला जानना चाहिए। युक्त प्रमाण वाला, अशुषिर, मृदुदशा वाला तथा एक खंड वाला (एकांगिक) रजोहरण मुनि के लिए अनुज्ञात है।

२२९६. अपवाद पद—१. कोई मुनि आत्मवश न हो, २. यथोक्त प्रमाण वाले रजोहरण का अभाव हो, ३. पूर्वकृत रजोहरण हीन या अतिरिक्त प्रमाण वाला प्राप्त हो, ४. किसी क्षेत्र या काल में रजोहरण दुर्लभ हो तो मुनि अत्यन्त श्लक्ष्ण, स्थूल, परुष दशा वाला रजोहरण रख सकता है। एकांगिक रजोहरण न मिले तो दो, तीन खंडों वाला रजोहरण भी धारण कर सकता है।

२२९७. यदि रजोहरण पट्टक पतला हो तो उसका मध्यभाग (गर्भ) मोटा कर दे। यदि रजोहरणपट्टक स्थूल हो तो रजोहरण के मध्यभाग का परित्याग कर दे या उस रजोहरणपट्टक को पतला कर दे। यदि रोओं के कारण रजोहरण शुषिर हो तो रोओं का अपनयन कर दे। यदि रजोहरण की किनारी अधिक परुष हो तो उसे गीला करके पुनः मसल दे।

२२९८. जे भिक्खू^१ सुहुमाईं, करेज्ज रयहरणसीसगाईं तु ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २१७३ ॥ नि ५१४ ॥
२२९९. मूढेसुं^२ सम्मद्दो^३, झुसिरमणाइण्ण दुब्बला चव ।
सुहुमेसु होंति दोसा, बितियं कासी य पुव्वकते ॥ २१७४ ॥
२३००. कंडूसगबंधेणं^४, तज्जाइतरेण जो उ रयहरणं ।
बंधति कंडूसो पुण, पट्टउ आणादिणो दोसा ॥ २१७५ ॥ नि ५१५ ॥
२३०१. अतिरेगउवधिअधिकरणमेव सज्झाय-झाण पलिमंथो ।
कंडूसगबंधम्मी^५, दोसा लोभे पसज्जणता^६ ॥ २१७६ ॥
२३०२. बितियपदमणप्पज्जे, असतीए दुब्बले य पडिपुण्णे ।
एतेहि कारणेहिं, 'संबद्धं कप्पते'^७ काउं ॥ २१७७ ॥
२३०३. तिण्हुवरिं^८ बंधाणं, डंडं^९ तिभागस्स हेट्टुं^{१०} उवरिं वा ।
दोरेण असरिसेण व, संतर संबद्धणाणादी^{११} ॥ २१७८ ॥ नि ५१६ ॥
२३०४. तम्हा तिपासियं^{१२} खलु, दंडतिभागम्मिं^{१३} सरिसदोरेणं ।
रयहरणं बंधेज्जा, पदाहिणं^{१४} निरंतरं भिक्खू ॥ २१७९ ॥
२३०५. बितियपदमणप्पज्जे, बंधे^{१५} अविकोविते व अप्पज्जे ।
जाणंते वावि पुणो, असती अण्णस्स^{१६} दोरस्स ॥ २१८० ॥

१. सूत्र ६८ (नव ५/६९) ।

२. मूढेसू (दे) ।

३. सम्मद्दा (दे) ।

४. सूत्र ६९ (नव ५/७०), कंडूसगबंधो णाम जाहे रयहरणं तिभागपएसे खोमिएण उण्णिएण वा चीरेणं वेदियं भवति, ताहे उण्णियदोरेण तिपासियं करेति, तं चीरं कंडूसग-पट्टओ भण्णति (चू) ।

५. °म्मिं (क) ।

६. पमज्जं (क) ।

७. संबद्धे कप्पती (भ) ।

८. सूत्र ७०-७२ (नव ५/७१-७३) ।

९. दंडण (क) ।

१०. जेट्टु (दे) ।

११. संबद्ध आणादी (दे) ।

१२. तिपां (क) ।

१३. डंडं तिं (दे), °भागे तु (भ, मु) ।

१४. °हिणा (भ) ।

१५. संधे (भ) ।

१६. सरिसस्स (भ) ।

२२९८. जो भिक्षु रजोहरणशीर्ष (फलियों के शीर्ष स्थान) को सूक्ष्म (बारीक) बनाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२२९९. रजोहरणशीर्ष को सूक्ष्म बनाने पर ये दोष होते हैं—१. वे आपस में उलझ जाते हैं तो सम्मर्द दोष^१ होता है। २. यदि शुषिर हों तो शुषिरदोष होता है। ३. वह साधुओं के लिए अनाचार है। ४. बारीक रजोहरणशीर्ष दुर्बल होते हैं। (शीघ्र टूट जाते हैं।) अपवाद पद में अनात्मवशता आदि कारणों से कोई भिक्षु सूक्ष्म रजोहरणशीर्ष बना लेता है अथवा पूर्वकृत को ग्रहण या धारण कर सकता है।

२३००. जो भिक्षु रजोहरण को तज्जातीय—ऊनी धागे या अन्यजातीय—सूती धागे आदि से कंडूसग बन्धन से बांधता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों से प्राप्त होता है। कंडूसग बंधन पर बांधा जाने वाला वस्त्र कंडूसग पट्ट^२ कहलाता है।

२३०१. रजोहरण को कंडूसग बन्धन से बांधने पर ये दोष आते हैं—१. अतिरिक्त उपधि अनुपयोगी होने के कारण अधिकरण होती है, उपकरण नहीं। २. उसकी सिलाई, धुलाई आदि कार्य स्वाध्याय, ध्यान में पलिमन्थु (विघ्न) पैदा करते हैं। ३. वह धागा, पट्ट आदि इधर उधर खो जाए, कोई हरण करले तो अधृति होती है, लोभप्रत्ययिक दोष पैदा होते हैं। ४. प्रसंग दोष—देखादेखी अन्य मुनि भी रजोहरण को बांधने लगते हैं।

२३०२. अपवाद में इन कारणों से भिक्षु रजोहरण को सम्यक् प्रकार से बांध सकता है—१. भिक्षु अनात्मवश हो। २. उसके पास अन्य रजोहरण का अभाव हो तथा जो रजोहरण उसके पास हो, वह एक स्थान पर दुर्बल हो। ३. उसके पास जो रजोहरण हो, वह अप्रतिपूर्ण—हस्तपूरिम से कम मोटाई वाला हो।

२३०३. जो भिक्षु रजोहरण पर तीन से अधिक बंधन बांधता है, दण्ड के तृतीय भाग से नीचे या ऊपर बंधन बांधता है, असमान (भिन्नजातीय) धागे से बंधन बांधता है या अन्तरयुक्त बंधन बांधता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३०४. इसलिए भिक्षु दण्ड के तृतीय भाग में, सदृश—समान जातीय धागे से त्रिपाश्विक—तीन बंधन लगाए तथा वे बंधन दांयी ओर निरन्तर (अन्तर रहित) लगाए।

२३०५. अपवाद में अनात्मवश मुनि या शैक्ष (अकोविद) आत्मवश मुनि भी तीन से अधिक बन्धन बांध सकता है। कभी तज्जातीय धागा न हो तो जानकार (गीतार्थ) भिक्षु भी भिन्नजातीय धागे से रजोहरण बांध सकता है।

१. सम्मर्द दोष के विस्तार हेतु देखें द्रष्टव्य, उत्तरज्जयणाणि २६/२६।

२. निभा २ चू. पृ. ३६७ कंडूसगबंधो णाम जाहे रयहरणं तिभागपएसे खोमिएण उण्णिण्ण वा चोरेण वेदियं भवति ताहे उण्णियदोरेण तिपासियं करेति, तं चीरं कंडूसगपट्टओ भण्णति—जब रजोहरण त्रिभागप्रदेश में, रेशमी या ऊनी वस्त्र से वेष्टित किया जाता है और ऊनी डोरी से तीन पाश्वरों में बांधा जाता है, उस वस्त्र को 'कंडूसग पट्ट' कहा जाता है और उस बन्ध को कंडूसगबन्ध कहा जाता है।

२३०६. दव्वे^१ खेत्ते काले, भावे य चउव्विधं 'तु अणिसट्ठं'^२ ।
बित्तिओ 'वि य'^३ आदेसो, जं न वि दिण्णं गुरुजणेणं^४ ॥ २१८१ ॥ नि ५१७ ॥
२३०७. पंचऽतिरित्तं दव्वे^५, अच्चित्तं दुल्लभं च दोसुं तु ।
भावम्मि वण्णमोल्ला, अणणुण्णातं व जं गुरुगो^६ ॥ २१८२ ॥ नि ५१८ ॥
२३०८. एतेसामण्णतरं, रयहरणं जो धरेज्ज अणिसट्ठं^७ ।
आणादि-विराधणया, संजम-मुच्छा य तेणादी ॥ २१८३ ॥ नि ५१९ ॥
२३०९. बित्तिपदमणप्पज्जे, धरेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे ।
जाणंते वा असती^८, धरेज्ज असिवादि वेगागी^९ ॥ २१८४ ॥
२३१०. आउग्गहखेत्ताओ^{१०}, परेण जं तं तु होति वोसट्ठं ।
आरेणमवोसट्ठं^{११}, वोसट्ठं^{१२} धरेंतं^{१३} आणादी ॥ २१८५ ॥ नि ५२० ॥
२३११. मूङ्गमादिखइत्ते, अपमज्जंते^{१४} तु ता विराधेति ।
सप्पे व विच्छुगे वा, जा गेण्हति^{१५} खइय आयाए ॥ २१८६ ॥
२३१२. बित्तिपदमणप्पज्जे, घोटुल्ल^{१६} गिलाण संभमेगतरं^{१७} ।
असिवादी परलिंगे, वोसट्ठं पी धरेज्जाहि ॥ २१८७ ॥
२३१३. मुहपोत्ति निसेज्जाए^{१८}, एसेव गमो तु होति णातव्वो ।
वोसट्ठमवोसट्ठे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ २१८८ ॥

१. सूत्र ७३ (नव ५/७४) ।

२. अणिस्सट्ठं (दे) ।

३. अवि (दे) ।

४. णेण (भ), इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्ण में 'णिज्जुत्ती इमा' का उल्लेख किया है ।

५. दव्वे उ (मु) ।

६. गुरुगा (भ) ।

७. जं गुरुजणेण नो अणुण्णायं, तं अणिसिट्ठं (चू) ।

८. वि पुणो (भ) ।

९. एगागी (दे) ।

१०. सूत्र ७४ (नव ५/७५) ।

११. जं पुण आतोग्गहे वट्ठति, तं अवोसट्ठं (चू) ।

१२. वोसट्ठे (भ) ।

१३. धरेंति (दे) ।

१४. अप्प (दे) ।

१५. गेण्हति (दे) ।

१६. धारोल्ल (दे) ।

१७. तरे (भ) ।

१८. सेज्जाए (भ) ।

२३०६. अनिसृष्ट—अदत्त (तीर्थकरों के द्वारा अननुज्ञात) रजोहरण के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्यतः २. क्षेत्रतः ३. कालतः और ४. भावतः। एक दूसरा आदेश (अपेक्षा) भी है, जिसके अनुसार जो गुरु के द्वारा प्रदत्त नहीं है, वह भी अनिसृष्ट रजोहरण है।

२३०७. द्रव्यतः पांच प्रकार के—और्णिक, औष्टिक, सन आदि के अतिरिक्त—क्षेत्रतः एवं कालतः जो अर्चित—बहुमूल्य एवं दुर्लभ हो, वह तथा भावतः वर्णाढ्य एवं बहुमूल्य रजोहरण मुनि के लिए अननुज्ञात है। जो गुरु के द्वारा प्रदत्त नहीं, वह रजोहरण भी अनुज्ञात नहीं।

२३०८. जो भिक्षु उपर्युक्त प्रकारों में से किसी भी दृष्टि से अनिसृष्ट—अननुज्ञात रजोहरण को धारण करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है। वर्णाढ्य एवं बहुमूल्य रजोहरण पर मूर्च्छा पैदा हो जाती है, फलतः राग होने से संयम विराधना होती है। चोर आदि के हरण और उससे होने वाले अन्य दोषों की भी संभावना रहती है।

२३०९. द्वितीय पद—अपवाद में कोई अनात्मवश मुनि या कोई शैक्ष आदि अकोविद आत्मवश मुनि अनिसृष्ट रजोहरण को धारण कर सकता है। कभी द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से अनुज्ञात रजोहरण सर्वथा न मिले तो गीतार्थ भिक्षु भी अनिसृष्ट रजोहरण को धारण कर सकता है। कदाचित् कोई भिक्षु अशिव आदि कारणों से एकाकी हो जाए तो वह किसे निवेदन करेगा। अतः वह भी गुरु के द्वारा अननुज्ञात रजोहरण धारण कर सकता है।

२३१०. जो आत्मावग्रह (शरीर प्रमाण क्षेत्र) से परे हो, वह व्युत्सृष्ट है। जो वस्तु उस क्षेत्र सीमा के भीतर हो, वह अव्युत्सृष्ट कहलाती है। जो भिक्षु रजोहरण को व्युत्सृष्ट क्षेत्र—चारों तरफ एक हाथ की सीमा के बाहर^९ रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३११. मुनि का रजोहरण हाथ प्रमाण भूमि से दूर रखा हुआ है और उसे कोई चींटी आदि जन्तु काट ले, यदि वह रजोहरण से प्रमार्जन किए बिना सहसा खुजला बैठे तो उस जन्तु की विराधना होती है और रजोहरण लेने के लिए जाए तो आत्मविराधना होती है। कोई सर्प, बिच्छू आदि डस जाए तो जब तक रजोहरण ग्रहण करेगा, तब तक कदाचित् उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

२३१२. अपवाद पद में रजोहरण को व्युत्सृष्ट रखने के ये कारण हो सकते हैं—१. वह (रखने वाला) मुनि अनात्मवश (क्षिप्तचित्त आदि) हो। २. रजोहरण धोया हुआ होने से गीला हो। ३. वह मुनि ग्लान या ग्लान की परिचर्या में लगा हुआ हो। ४. अग्नि, बाढ़ आदि के कारण संभ्रम (हड़बड़ी) से दूर रख दे। ५. अशिव आदि के कारण परलिंग (अन्यतीर्थक का वेश) बनाया हुआ हो।

२३१३. व्युत्सृष्ट एवं अव्युत्सृष्ट रजोहरण विषयक जो विधि प्रज्ञप्त है, वही विधि मुखवस्त्रिका एवं निषद्या के विषय में उत्सर्ग तथा अपवाद पद में ज्ञातव्य है।

१. निभा २ चू. पृ. ३६९—इह पुण रयोहरणं पडुच्च समंततो हत्थो।

२३१४. तिण्हं^१ तु विगप्पाणं, अण्णतरागेण जो अधिट्ठेज्जा^२ ।
पाउंछणगं भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥२१८९॥ नि ५२१ ॥
२३१५. दोहि वि णिसेज्जणाहिं^३, एक्केण व बितिय-ततिय^४ पादेहिं ।
अहवा मगतो एक्को, दोहि वि पासेहि दोण्णि भवे ॥२१९०॥
२३१६. बितियपदमणप्पज्जे, अधिट्ठ अविकोविते व अप्पज्जे ।
जाणंते वावि पुणो, मूसग-तेणादिमादीसु ॥२१९१॥
२३१७. जे भिक्खू तुयट्ठें, 'रयहरणं सीसए'^५ ठवेज्जाहि ।
पुरतो व मगतो वा, वामगपासे निसण्णो वा ॥२१९२॥ नि ५२२ ॥
२३१८. सो^६ आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, दाहिणपासम्मि तं कुज्जा ॥२१९३॥ नि ५२३ ॥
२३१९. बितियपदमणप्पज्जे, करेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे ।
ओवास असति मूसग, तेणगमादीसु जाणमवि ॥२१९४॥
२३२०. उस्सीसगगहणेणं, निसि सुवणं निसि^७ समुब्भवो मोहो ।
गुरुगा^८-लहुगा मासा, वुत्ता चउमासिगा इणमो ॥२१९५॥
२३२१. माउग्गामो^९ तिविधो, दिव्वो माणुस्सगो तिरिक्खो य ।
एक्केक्को वि य दुविधो, देहजुतो चेव पडिमजुतो ॥२१९६॥ नि ५२४ ॥
२३२२. देहजुतो वि य दुविधो, सज्जीवो 'तह य चेव'^{१०} निज्जीवो ।
सण्णिहितमसण्णिहितो, दुविधो पडिमाजुतो होति ॥२१९७॥ नि ५२५ ॥
२३२३. पण्णवणामेत्तमिदं^{११}, जं देहजुतं अचेतणं दिव्वं ।
तं पुण जीवविमुक्कं, भिज्जति^{१२} स तहा जह पदीवो^{१३} ॥२१९८॥

१. सूत्र ७५ (नव ५/७६) ।

२. अहिक्खेज्जा (क) ।

३. निसज्जणा (दे, भ), णिसेज्जणा पुता भण्णति (चू) ।

४. ततिओ य (दे) ।

५. °रणुस्सीएण (दे) ।

६. सूत्र ७६, ७७ (नव ५/७७, ७८) ।

७. निस (भ) ।

८. गुरुग (दे) ।

९. सूत्र १ (नव ६/१), मातिसमाणो गामो मातुगामो ।

मरहट्ठविसयभासाए वा इत्थी माउग्गामो भण्णति (चू) ।

१०. × (दे), चेव तह य (भ) ।

११. °मिणं (दे) ।

१२. भज्जति (दे) ।

१३. य दीवो (मु) ।

२३१४. जो भिक्षु (अग्रे विवक्षित) तीनों विकल्पों में से किसी भी एक प्रकार से पादप्रोच्छन— रजोहरण पर बैठता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३१५. रजोहरण पर अधिष्ठित होने (बैठने) के तीन विकल्प हैं—१. दोनों पुतप्रदेशों को टिकाकर बैठना। २. एक पुतप्रदेश को टिकाकर बैठना और ३. पैर और एड़ियां टिकाकर बैठना। अथवा १. पृष्ठभाग से आक्रान्त करना। २. और ३. दोनों पार्श्व भाग, पुतप्रदेश एवं ऊरु भाग से आक्रान्त करना।

२३१६. द्वितीय पद—अपवाद में इन कारणों से रजोहरण पर अधिष्ठित हो सकता है—१. वह मुनि अनात्मवश हो २. आत्मवश मुनि भी शैक्ष—अज्ञ हो। ३. मूषक आदि काट न लें, स्तेन, प्रत्यनीक आदि हरण न कर सके—इस भय से जानकार (गीतार्थ) मुनि भी उस (रजोहरण) पर बैठ सकता है।

२३१७, २३१८. जो भिक्षु रजोहरण पर त्वग्वर्तन करता—सोता है, फलियों को ऊंचा कर उसे सिरहाने, दाहिनी ओर या बायीं ओर रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना (आत्मविराधना एवं संयमविराधना)—इन दोषों को प्राप्त होता है, अतः भिक्षु सोते और बैठते समय फलियों को नीचे की ओर करके दायीं ओर रखे।

२३१९. अपवाद पद में कोई अनात्मवश मुनि या आत्मवश शैक्ष मुनि रजोहरण को सिरहाने या बायीं ओर रख सकता है अथवा कोई गीतार्थ मुनि स्थान (अवकाश) के अभाव में या मूषक, स्तेन आदि से भय की स्थिति में भी रजोहरण को सिरहाने, बायीं ओर आदि रख सकता है।

२३२०. पांचवें उद्देशक के अंतिम सूत्र में रजोहरण को सिरहाने रखकर सोने का निषेध है। इससे रात्रि में सोने का प्ररूपण होता है। मोह का समुद्भव भी रात्रि में होता है। उदीर्ण मोह वाला भिक्षु ही स्त्री को प्रार्थना करता है—यह प्रस्तुत उद्देशक के साथ इसका संबंध है अथवा प्रथम पांच उद्देशकों में गुरुमास और लघुमास प्रायश्चित्त वाले अतिचारपदों का प्ररूपण हुआ है। अब (अग्रिम उद्देशकों) में गुरु एवं लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वाले अतिचारपदों का प्ररूपण किया जाएगा—यह संबंध है।

२३२१. मातृग्राम^१ (स्त्री) के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. दिव्य २. मानुष्यक ३. तैर्यञ्च। पुनः प्रत्येक के दो-दो प्रकार हो जाते हैं—१. देहयुक्त और २. प्रतिमायुक्त।

२३२२. देहयुक्त—दिव्य मातृग्राम के दो प्रकार होते हैं—१. सजीव और २. निर्जीव। प्रतिमायुक्त (लेप्य आदि प्रतिमा) के दो प्रकार हैं—१. सन्निहित (देवताधिष्ठित) और २. असन्निहित।

२३२३. जो देहयुक्त अचेतन दिव्य मातृग्राम का कथन है, वह प्रज्ञापनामात्र है क्योंकि जीवच्युत होते ही देवताओं का शरीर उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे बुझते ही दीपशिखा, अतः देवशरीर अचित्त नहीं होता।

१. यह मराठी भाषा का शब्द है। मातृग्राम का अर्थ है—माता के समान इन्द्रियों (पूर्ण विकसित इन्द्रियों) वाली स्त्री।

२३२४. एक्केक्को वि य तिविधो, 'जहण्णगो मज्झिमो य उक्कोसो'^१।
परिगहियमपरिगहिओ, एक्केक्को सो भवे दुविधो ॥ २१९९ ॥
२३२५. पायावच्च कुडुंबिय, दंडिगपारिग्गहो भवे तिविधो।
तव्विवरीतो य पुणो, णातव्वऽपरिग्गहो^२ होति ॥ २२०० ॥
२३२६. दिट्ठमदिट्ठा य पुणो, विण्णवणा तस्स होति दुविधा उ।
ओभासणयाए या, तब्भावासेवणाए य ॥ २२०१ ॥
२३२७. मासगुरुगादि छल्लहु, जहण्णगे मज्झिमे य^३ उक्कोसे।
अपरिग्गहितऽच्चित्ते, दिट्ठादिट्ठे य देहजुते^४ ॥ २२०२ ॥
२३२८. चउलहुगादी मूलं, जहण्णगादिम्मि होति^५ अच्चित्ते।
तिविधे अपरिग्गहिते, दिट्ठादिट्ठे य देहजुते ॥ २२०३ ॥
२३२९. चतुगुरुगादी छेदो, जहण्णगे मज्झिमे य उक्कोसे।
अपरिग्गहिते देहे, दिट्ठादिट्ठे य सच्चित्ते ॥ २२०४ ॥
२३३०. छल्लहुगादी चरिमं, जहण्णगादिम्मि होति सच्चित्ते।
तिविधे ति-परिग्गहिते, दिट्ठादिट्ठे य^६ देहजुते ॥ २२०५ ॥
२३३१. सण्णिहितं जह स-जियं, अच्चित्तं जह तहा असण्णिहितं।
पडिमाजुतं तु दिव्वं, माणुस^७-तेरिच्छि एमेव ॥ २२०६ ॥ नि ५२६ ॥
२३३२. पच्छित्तं दोहि गुरुं, दिव्वे गुरुगं तवेण माणुस्से।
तेरिच्छे दोहि लहू, तवारिहं विण्णवंतस्स ॥ २२०७ ॥

१. वाणमंतरं जहण्णं, भवणजोइसिया मज्झिमं, वेमाणियं उक्कोसं। माणुसेसु पायावच्चं जहण्णं, कोडुंबियं मज्झिमं, दंडियं उक्कोसं। तिरिएसु जहण्णे अय-एलगादि। मज्झिमं व लवा-महासदियादि, उक्कोसं गो-महिसादि (चू)।
२. °पडिग्ग° (क)।
३. व (भ)।

४. °जुत्ते (भ), पा प्रति में २३२५-२७—ये तीन गाथाएं नहीं हैं।
५. × (दे)।
६. ति (दे)।
७. माणुस्स (क)।

२३२४. दिव्य आदि प्रत्येक प्रकार के मातृग्राम के तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. जघन्य २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट। उनके प्रत्येक के पुनः दो-दो प्रकार होते हैं—१. परिगृहीत और २. अपरिगृहीत।
२३२५. परिगृहीत दिव्यप्रतिमा आदि मातृग्राम के तीन प्रकार होते हैं—१. प्राजापत्य परिगृहीत २. कौटुम्बिक परिगृहीत और ३. दांडिक परिगृहीत। इसके विपरीत जो इन तीनों में से किसी से परिगृहीत न हो, वह अपरिगृहीत मातृग्राम है।
२३२६. मातृग्राम (स्त्री) से विज्ञापना के दो प्रकार होते हैं—१. अवभाषण (प्रार्थना) और २. मैथुन का आसेवन। उनके पुनः दृष्ट एवं अदृष्ट—ये दो भेद हो जाते हैं।
२३२७. दिव्य देहयुक्त अचित्त अपरिगृहीत मातृग्राम के साथ कोई भिक्षु मैथुन का आसेवन करे तो जघन्य (वानव्यन्तर) के साथ अदृष्ट आसेवन में मासगुरु एवं दृष्ट आसेवन में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार मध्यम में (भवनपति व ज्योतिष्क देव) में क्रमशः चतुर्लघु एवं चतुर्गुरु तथा उत्कृष्ट (वैमानिक देव) के विषय में चतुर्गुरु एवं षड्लघु का विधान है।
२३२८. दिव्य देहयुक्त अचित्त परिगृहीत मातृग्राम के तीन प्रकार हैं—१. प्राजापत्य परिगृहीत २. कौटुम्बिक परिगृहीत एवं ३. दांडिक परिगृहीत। उनमें अदृष्ट आसेवन एवं दृष्ट आसेवन के क्रमशः जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट प्रायश्चित्त हैं—प्राजापत्य में चतुर्लघु से षड्गुरु पर्यन्त, कौटुम्बिक में चतुर्गुरु से छेद तथा दांडिक में षड्लघु से मूल पर्यन्त।
२३२९. दिव्य देहयुक्त सचित्त अपरिगृहीत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट मातृग्राम के क्रमशः अदृष्ट एवं दृष्ट मैथुन आसेवन से मुनि को चतुर्गुरु, षड्लघु यावत् छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
२३३०. दिव्य देहयुक्त सचित्त प्राजापत्य आदि के द्वारा परिगृहीत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट मातृग्राम के साथ अदृष्ट एवं दृष्ट मैथुन आसेवन के फलस्वरूप भिक्षु को क्रमशः षड्लघु, षड्गुरु यावत् चरम—पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
२३३१. सन्निहित प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के विषय में प्रायश्चित्त की वक्तव्यता सचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है तथा असन्निहित प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के विषय में प्रायश्चित्त की वक्तव्यता अचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है। सामान्यतः मनुष्य एवं तिर्यच मातृग्राम की वक्तव्यता भी दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है।
२३३२. जो भिक्षु दिव्य मातृग्राम से मैथुन की प्रार्थना करता है, उसे प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यच मातृग्राम से प्रार्थना करता है, उसका प्रायश्चित्त क्रमशः तप से गुरु और दोनों से लघु होता है—यह तपयोग्य प्रायश्चित्त के विषय में तीनों का अन्तर ज्ञातव्य है।

२३३३. अयमण्णो उ विगप्पो, तिविधे तिपरिग्गहम्मि णातव्वो ।
सजिएतर पडिमजुते, दिव्वे माणुस्स तिरिए य ॥ २२०८ ॥
२३३४. चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छम्मासिग छेद लहुग गुरुगो य ।
मूलं 'जहण्णगम्मि वि'^१, निसेवमाणस्स पच्छित्तं ॥ २२०९ ॥
२३३५. चतुगुरुग छच्च लहु-गुरु, छम्मासिग छेद लहुग गुरुगो य^२ ।
मूलं अणवट्टप्पो, मज्झिमगे सेवमाणस्स ॥ २२१० ॥
२३३६. तव छेदो लहु गुरुगा, छम्मासिग मूल सेवमाणस्स ।
अणवट्टप्पो पारंचिओ य 'उक्कोस विण्णवणे'^३ ॥ २२११ ॥
२३३७. सण्णिहितं जह स-जियं, अच्चित्तं जह तहा असण्णिहितं ।
पडिमाजुतं तु दिव्वं, माणुस-तेरिच्छ^४ एमेव ॥ २२१२ ॥
२३३८. पच्छित्तं दोहि गुरुं, दिव्वे गुरुगं तवेण माणुस्से ।
तेरिच्छे दोहि लहू, तवारिहं विण्णवेतस्स^५ ॥ २२१३ ॥
२३३९. चतुगुरुगा छग्गुरुगा, छेदो मूलं^६ जहण्णगे^७ होति ।
छग्गुरु छेदो मूलं, अणवट्टप्पो य मज्झिमगे^८ ॥ २२१४ ॥
२३४०. छेदो मूलं च तहा, अणवट्टप्पो य होति पारंची ।
एवं दिट्ठमदिट्ठे, माणुस्से विण्णवेतस्स ॥ २२१५ ॥

१. °गम्मी (भ) ।

२. × (भ) ।

३. सेवमाणो तु उक्कोसं (भ) ।

४. तेरिच्छि (मु) ।

५. २३३७, २३३८—इन दोनों गाथाओं का पा प्रति में केवल

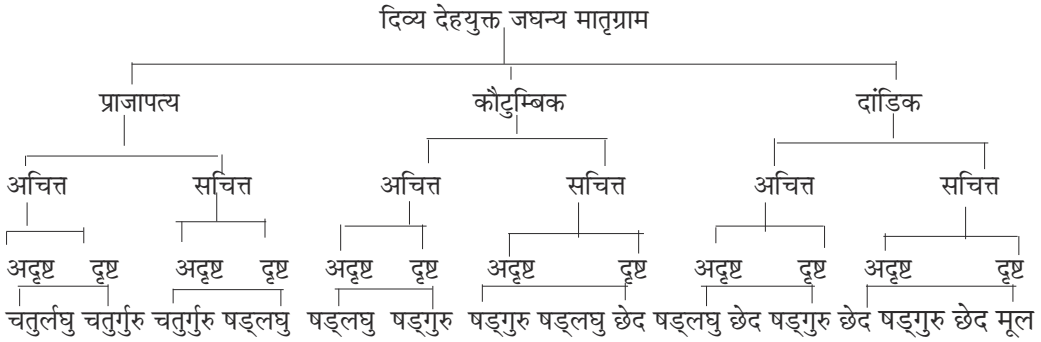
संकेत मात्र है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथाएं दी गई हैं ।

६. मूलं व (भ) ।

७. जहिंते (दे) ।

८. पा प्रति में २३३९-४६ तक की आठ गाथाएं नहीं हैं ।

२३३३, २३३४. प्रायश्चित्त का अन्य विकल्प यह है—त्रिविध—जघन्य आदि त्रिक, त्रिपरिगृहीत, प्राजापत्य परिगृहीत आदि त्रिक, सजीव और इतर (निर्जीव) प्रतिमायुक्त—सन्निहित, दिव्य आदि त्रिक तथा च शब्द से दृष्ट और अदृष्ट पद की स्थापना कर क्रमशः उनके नीचे अर्धापक्रान्ति के क्रम से चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्गुरु, षड्लघुछेद और षड्गुरुछेद तथा मूल—इन प्रायश्चित्त पदों की स्थापना करनी चाहिए—इस प्रकार यह दिव्य, जघन्य मातृग्राम के साथ मैथुन भाव के आसेवन का प्रायश्चित्त है—



२३३५. उपर्युक्त चारणिका के द्वारा प्रायश्चित्त पदों—चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, षड्लघुछेद, षड्गुरुछेद मूल और अनवस्थाप्य की स्थापना करने पर दिव्य देहयुक्त मध्यम दांडिक परिगृहीत सचित्त मातृग्राम के साथ दृष्ट रूप में मैथुन भाव का आसेवन करने वाले भिक्षु को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३३६. दिव्य देहयुक्त उत्कृष्ट प्राजापत्य परिगृहीत आदि, अचित्त एवं सचित्त मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन आसेवन की प्रार्थना करने वाले भिक्षु को षड्लघु तप, षड्गुरु तप, षड्लघु छेद षड्गुरु छेद यावत् पारांचित प्राप्त होता है।

२३३७. उत्कृष्ट सन्निहित प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के विषय में प्रायश्चित्त की वक्तव्यता सचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है तथा उत्कृष्ट असन्निहित प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के विषय में प्रायश्चित्त की वक्तव्यता अचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है। सामान्यतः मनुष्य एवं तिर्यच मातृग्राम की वक्तव्यता भी दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है।

२३३८. जो भिक्षु उत्कृष्ट दिव्य मातृग्राम से मैथुन की प्रार्थना करता है, उसे प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु होता है तथा मनुष्य और तिर्यच मातृग्राम से मैथुन की प्रार्थना करता है, उसका प्रायश्चित्त क्रमशः तप से गुरु और दोनों से लघु होता है—यह तपयोग्य प्रायश्चित्त के विषय में तीनों का अन्तर ज्ञातव्य है।

२३३९. जो भिक्षु जघन्य प्राजापत्य परिगृहीत मनुष्य मातृग्राम के साथ अदृष्ट रूप में मैथुन आसेवन करता है, उसे चतुर्गुरु तथा दृष्ट रूप में आसेवन करता है, उसे षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार कौटुम्बिक एवं दांडिक के साथ अदृष्ट एवं दृष्ट आसेवन से क्रमशः षड्गुरु, छेद, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु मध्यम प्राजापत्य परिगृहीत आदि मनुष्य मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन आसेवन करता है, उसे क्रमशः षड्गुरु, छेद, छेद, मूल, मूल और अनवस्थाप्य प्राप्त होता है।

२३४०. जो भिक्षु उत्कृष्ट प्राजापत्य परिगृहीत आदि मनुष्य मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन की प्रार्थना करता है, उसे क्रमशः छेद, मूल अनवस्थाप्य तथा पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३४१. चतुलहुगा चतुगुरुगा, छेदो मूलं जहण्णगे होंति ।
चतुगुरु छेदो मूलं, अणवट्टप्पो य मज्झिमगे ॥ २२१६ ॥
२३४२. छेदो मूलं च तथा, अणवट्टप्पो य होति पारंची ।
एवं दिट्ठमदिट्ठे, तेरिच्छं^१ विण्णवेंतस्स ॥ २२१७ ॥
२३४३. मेहुणभावो तब्भावसेवणा^२ सेवगस्स^३ पच्छित्तं ।
वुत्तं वोच्छामेतो, ओभासेंतस्स पच्छित्तं ॥ २२१८ ॥
२३४४. मासगुरू चतुगुरुगा, दो चतुगुरुगा य लहुग^४-लहुगा य ।
दो चतुलहुगा य तथा, दिव्वे माणुस्स-तेरिच्छे ॥ २२१९ ॥
२३४५. सण्णहितं जह स-जियं, अच्चित्तं जह तथा असण्णहितं ।
पडिमाजुत्तं तु दिव्वं, माणुस^५ तेरिच्छ एमेव ॥ २२२० ॥
२३४६. पच्छित्तं दोहि गुरुं, दिव्वे गुरुगं तवेण माणुस्से ।
तेरिच्छे दोहि लहु, तवारिहं विण्णवेंतस्स ॥ २२२१ ॥
२३४७. अविसेसितमदिट्ठे, गुरुगो दिट्ठे य होंति गुरुगा उ ।
दिव्व नरऽदिट्ठ गुरुगो, दिट्ठे गुरुगा य दोहिं^६ पि ॥ २२२२ ॥
२३४८. तिरियमचेतसचेते, गुरुगो 'ऽदिट्ठे तु दिट्ठ'^७ चउलहुगा ।
ओभासंतस्सेवं, तब्भावासेवणे वुत्तं ॥ २२२३ ॥
२३४९. एतेसामण्णतरं, माउग्गामं तु जो उ विण्णवए ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २२२४ ॥ नि ५२७ ॥

१. तिरिं (भ) ।

२. °वणे (भ) ।

३. सेवणस्स (दे) ।

४. × (दे) ।

५. माणुस्स (दे) ।

६. दोसुं (भ, पा) ।

७. अदिट्ठे दिट्ठे (पा) ।

२३४१, २३४२. जो भिक्षु जघन्य प्राजापत्य परिगृहीत आदि तिर्यञ्च मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन की प्रार्थना करता है, उसे क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु मध्यम प्राजापत्य परिगृहीत आदि तिर्यञ्च मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन की प्रार्थना करता है, उसे क्रमशः चतुर्गुरु, छेद, मूल और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उत्कृष्ट प्राजापत्य परिगृहीत आदि तिर्यञ्च मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन की प्रार्थना करने वाले भिक्षु को छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३४३. तद्भावसेवन का अर्थ है—मैथुन का आसेवन। उपर्युक्त सारा (गा. २२०२-१७) प्रायश्चित्त मैथुन आसेवन करने वाले भिक्षु के लिए कहा गया। आगे उसकी प्रार्थना^१ करने वाले का प्रायश्चित्त कहा जाएगा।

२३४४. तद्भाव सेवन के प्रायश्चित्त का तृतीय विकल्प यह है—अविशेषित—दिव्य, मनुष्य या तिर्यच सम्बन्धी किसी भी देहयुक्त सचित्त एवं अपरिगृहीत के साथ कोई भिक्षु मैथुन आसेवन करे और उसे कोई देखे नहीं तो उसे मासगुरु तथा देख लिया जाए तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अविशेषित देहयुक्त सचित्त एवं अविशेषित—परिगृहीत प्राजापत्य आदि किसी के द्वारा परिगृहीत मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन आसेवन करने वाले भिक्षु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अविशेषित देहयुक्त अचित्त एवं अपरिगृहीत मातृग्राम के साथ अदृष्ट मैथुन आसेवन करने वाले भिक्षु को मासलघु तथा दृष्ट मैथुन सेवन करने वाले भिक्षु को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अविशेषित, देहयुक्त, अचित्त एवं अविशेषित परिगृहीत मातृग्राम के साथ अदृष्ट और दृष्ट रूप में मैथुन सेवन करने वाले भिक्षु को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३४५, २३४६. सन्निहित प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के साथ मैथुन आसेवन के प्रायश्चित्त की वक्तव्यता सचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के सदृश ज्ञातव्य है तथा असन्निहित दिव्य मातृग्राम के मैथुन आसेवन के प्रायश्चित्त की वक्तव्यता अचित्त देहयुक्त दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है। सामान्यतः मनुष्य एवं तिर्यच मातृग्राम की वक्तव्यता भी दिव्य मातृग्राम के समान ज्ञातव्य है। जो भिक्षु दिव्य मातृग्राम के साथ मैथुन का आसेवन करता है, उसे प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु होता है। मनुष्य एवं तिर्यच मातृग्राम से प्रार्थना करता है, उसका प्रायश्चित्त क्रमशः तप से गुरु और दोनों से लघु होता है—यह तपयोग्य प्रायश्चित्त के विषय में तीनों का अन्तर ज्ञातव्य है।

२३४७. अविशेषित (दिव्य आदि किसी भी) मातृग्राम से मैथुन का अवभाषण करते हुए यदि भिक्षु को किसी ने नहीं देखा हो तो उसे मासगुरु और यदि वह देख लिया गया हो तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। विशोषित—देव और मनुष्य मातृग्राम से मैथुन का अदृष्ट अवभाषण करने वाले भिक्षु को मासगुरु और दृष्ट अवभाषण करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३४८. सचित्त या अचित्त तिर्यच मातृग्राम से अदृष्ट अवभाषण करने वाले भिक्षु को मासगुरु तथा दृष्ट अवभाषण करने वाले भिक्षु को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रस्तुत दो गाथाओं में मैथुन अवभाषण प्रत्ययिक प्रायश्चित्त का कथन हुआ है, तद्भाव (मैथुन) आसेवन का प्रायश्चित्त इससे पहले प्रज्ञप्त किया जा चुका है। शिष्य—अवभाषण सचित्त से होता है, अचित्त से अवभाषण कैसे हो सकता है? गुरु—संकल्प करना ही अचित्त के प्रति अवभाषण है।

२३४९. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी भी मातृग्राम से मैथुन की प्रार्थना करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१. निभा २ चू. पृ. ३७२—ओभासणता प्रार्थनता।

२३५०. सण्णिहित भद्दियासुं^१, पडिबंधो गिण्हणादिओ दोसा ।
पंतासु लग्गकड्ढण, खेत्तादी दिट्ठ पत्थारो ॥ २२२५ ॥
२३५१. एमेव असण्णिहिते, लग्गण खेत्तादिया नवरि^२ नत्थि ।
तत्थेव य पडिबंधो, दिट्ठे गहणादिया उभए^३ ॥ २२२६ ॥
२३५२. सुत्तनिवातो एत्थं, चतुगुरुगा जेसु होंति ठाणेसु ।
उच्चारितऽत्थसरिसा, सेसा तु विकोवणट्ठाए ॥ २२२७ ॥
२३५३. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभियोग-असिव-दुब्धिक्खमादिसू^४ जा जहिं जतणा ॥ २२२८ ॥
२३५४. मोहोदयअणुवसमे, कहणे^५ अकहेंत होंति गुरुगा उ ।
कहितोपेहा गुरुगा, जं काहिति जं च पाविहिती ॥ २२२९ ॥
२३५५. दुविधे तेगिच्छम्मी^६, निव्वीतिगमादिगं अतिक्कंते ।
अट्ठाणसद्दहत्थे, पच्छाऽचित्ते गणे दोच्चं ॥ २२३० ॥
२३५६. उवभुत्त^७ थेरसद्धिं, सद्दजुता वसहि तह वि उ अठंते ।
अच्चित्त तिरिय णारिसु, नारिं निव्वेग लक्खेज्जा ॥ २२३१ ॥
२३५७. लिंगेण चेव क्किट्ठिया^८, दियासु जा तिण्णि तेण परमूलं ।
तत्तो चउत्थभंगे, सेसा भंगा पडिक्कुट्ठा ॥ २२३२ ॥

१. °यासू (दे) ।

२. नवर (दे) ।

३. उभए त्ति अप्पणो परस्स य आयरियादीणं (चू) ।

४. °मादीसु (दे) ।

५. कहणा (भ) ।

६. तिगिच्छगम्मिं (भ) ।

७. अविभुत्त (भ) ।

८. कट्ठिया (दे) ।

२३५०. प्रतिमायुक्त दिव्य मातृग्राम के दो प्रकार होते हैं—१. सन्निहित और २. असन्निहित। सन्निहित देवता के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. भद्र और २. प्रान्त। भद्र देवता के सन्निहित प्रतिमा के प्रति प्रार्थना करने पर वह उसके समक्ष स्त्री विभ्रम आदि कर सकती है, जिससे भिक्षु उसके प्रति प्रतिबद्ध हो जाता है। यदि कोई भिक्षु को ऐसा करते देख ले तो उड्डाह, ग्रहण, बन्धन आदि दोष भी संभव हैं। यदि वह देवता प्रान्त है तो वह भिक्षु के पीछे लग कर उसे क्षिप्तचित्त आदि कर सकती है। यदि भिक्षु को कोई ऐसा करते देख ले तो ग्रहण, कर्षण आदि पूर्वोक्त दोष तथा प्रस्तार दोष हो सकता है।^१

२३५१. यदि वह प्रतिमा देवता से असन्निहित है तो अदृष्ट अवस्था में होने वाले दोष (पीछे लगना, क्षिप्तचित्त करना आदि दोष) संभव नहीं, पर दृष्टविषयक ग्रहण आदि तथा प्रतिबन्ध आदि दोष संभव हैं, उस भिक्षु तथा आचार्य आदि—दोनों का ग्रहण संभव है।

२३५२. उपर्युक्त प्रायश्चित्त स्थानों में जिनमें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध उन्हीं से है। शेष दोषों का प्ररूपण उच्चारणार्थ के समान है—प्ररूपण मात्र है। शिष्य की बुद्धि के विकोपन—विस्तार के लिए किया गया है।

२३५३. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद हैं—१. अनात्मवशता २. आत्मवश मुनि की दोनों—सनिमित्त और अनिमित्त मोहचिकित्सा के लिए विज्ञपना ३. अभिओग—राजाज्ञा आदि से बलात् नियुक्ति ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष—इन कारणों में भिक्षु जहाँ जो यतना करणीय है, उसके साथ अपवाद पद का सेवन करे।

२३५४. कदाचित् किसी भिक्षु के मोह का उदय हो जाए, वह उपशान्त नहीं हो सके तो वह आचार्य को निवेदन करे। यदि वह निवेदन न करे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त और स्थिति निवेदन करने पर भी गुरु उसकी उपेक्षा करे तो गुरु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा भिक्षु मोहवश हस्तकर्म आदि करता है, तत्प्रत्ययिक उड्डाह, ग्रहण आदि दोष का निमित्त बनता है तो उस पर सबका प्रायश्चित्त भी गुरु को प्राप्त होता है।

२३५५. द्विविध मोहोदय की चिकित्सा के क्रम में जब भिक्षु निर्विगय, आयंबिल आदि उपायों का अतिक्रमण कर देता है अर्थात् निर्विगय, आयंबिल, ऊर्ध्वस्थान आदि उपायों से स्वस्थ (उपशान्तमोह) नहीं हो पाता, तब उसे अस्थान (वेश्यापाटक) या शब्दप्रतिबद्ध शय्या में रखा जाता है। उसके बाद उसे चिकित्सा के लिए हस्तकर्म, अचित्त स्त्रीशरीर में बीजनिर्गम, गण से पृथक् रहकर द्वितीय भंग^२ से प्रतिसेवन आदि उपायों की क्रमशः व्यवस्था दी जाती है।

२३५६. जब आयंबिल आदि उपायों से भिक्षु का मोह उपशान्त नहीं होता, तब आचार्य उसे भुक्तभोगी स्थविरों के साथ वेश्यापाटक, शब्दप्रतिबद्ध शय्या आदि अस्थानों में रखते हैं, जिससे आलिंगन आदि देखकर, परिचारणा आदि के शब्दों को सुनकर उसका बीजनिर्गम हो जाए। यदि उन उपायों से भी वह भिक्षु अपने को नहीं रोक पाता तो वह क्रमशः एक यावत् तीन बार अचित्त तिर्यच स्त्री शरीर तथा मनुष्यस्त्री शरीर का प्रतिसेवन करता है। इन स्थितियों में वह नारी के प्रति निर्वेद को प्राप्त हो सके—ऐसा लक्ष्य रखना चाहिए।

२३५७. मोहचिकित्सा के लिए साधुवेश में अन्यलिंग (अन्य स्त्री) की मातृग्राम का प्रतिसेवन करने वाले भिक्षु को भुक्तभोगी स्थविरों के साथ गण से पृथक् अन्य वसति में रखा जाता है। वहाँ अन्धकार में वृद्धा श्राविका के साथ एक यावत् तीन बार प्रतिसेवन करने से उसका मोह उपशान्त हो जाए तो ठीक, उससे अधिक प्रतिसेवन करने वाले को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तत्पश्चात् तीन बार तक चतुर्थभंग—अन्यवेश में अन्य स्त्री के साथ प्रतिसेवन करता है। शेष प्रथम और तृतीय भंग निषिद्ध हैं।

१. इसमें भिक्षु का दोष नहीं, बिना परीक्षा दीक्षा देने वाले आचार्य का दोष है—ऐसा सोचकर वह गणी अथवा गण का अहित कर सकता है।

२. प्रतिसेवना विषयक चतुर्भंगी हैं—१. सलिंगेण सलिंगे २. सलिंगेण अण्णलिंगे ३. अण्णलिंगेण सलिंगे ४. अण्णलिंगेण अण्णलिंगे।

२३५८. सदेस सिस्सिणि सज्झंतिवासिणी^१ कुल-गणे य संघे य ।
कुलकण्णगा कुलवधू, विधवा य तहा सलिंगेण^२ ॥२२३३॥
२३५९. लिंगम्मि य चउभंगो, पढमे भंगम्मि होति^३ चरिमपदं ।
मूलं चउत्थभंगे, बितिए ततिए य भयणा तु^४ ॥२२३४॥
२३६०. अण्णत्थ^५ सलिंगेणं, कण्णागमणम्मि होति चरिमपदं ।
विहवाय होति नवमं, अविहवणारीय मूलं तु ॥२२३५॥
२३६१. अहवा पायावच्ची^६, कोडुंबिणि दंडिणी य लिंगेणं ।
मूलं अणवट्टप्पो, चरिमपदं पावती कमसो ॥२२३६॥
२३६२. अण्णेण सलिंगम्मि य, सिस्सिणि सज्झंतिगी कुले चरिमं ।
णवमं गणिच्चियाए, संघच्चीए भवे मूलं ॥२२३७॥
२३६३. गंतूण परविदेसं, लिंगविवेगेण सद्धि किडिगासु^७ ।
पुव्वभणिता य दोसा, परिहरितव्वा पयत्तेणं ॥२२३८॥
२३६४. जोणी बीए य तहिं, चउक्कभयणा तु तत्थ कातव्वा ।
एग दुग तिण्णि^८ वारे, सुद्धस्स तु वड्ढिता गुरुगा ॥२२३९॥
२३६५. सबियम्मि^९ अंतं मूलं, बाहिर-परिसाडणे^{१०} भवे छेदो ।
पणपण्णिगाइ अंतो, छेदो बाहिं तु छग्गुरुगा ॥२२४०॥
२३६६. छेदो छग्गुरु अहवा, दसण्ह अंतो बहिं व आरेणं ।
पणपण्णाए परतो, छग्गुरु चउगुरुग अंतं^{११} बहिं ॥२२४१॥

१. सज्झंतिगस्स अंतेवासिणी भर्तृज्जिकेत्यर्थः (चू) ।

२. पा प्रति में इस गाथा का केवल एक चरण है ।

३. होंति (दे) ।

४. पा प्रति में यह गाथा नहीं है ।

५. अण्णत्थ त्ति अण्णलिंगिणी (चू) ।

६. °वुच्ची (दे) ।

७. कडि° (भ) ।

८. तिण्ण (भ) ।

९. सबीय° (मु) ।

१०. पडिसा° (मु, क) ।

११. अंतो (पा) ।

२३५८. प्रथम भंग में भिक्षु स्वदेश या परदेश में रहता हुआ अपने ही कुल, गण अथवा संघ की शिष्या, साधर्मिक भिक्षुणी या अंतेवासिनी का उसी भिक्षुवेश में प्रतिसेवन करता है। द्वितीय भंग में अपने वेश (भिक्षुवेश) में रहता हुआ किसी कुलीन कन्या, कुलवधू अथवा विधवा के साथ प्रतिसेवन करता है।

२३५९. लिंग के संदर्भ में चतुर्भंगी प्रज्ञप्त है।^१ उनमें प्रथम भंग का आसेवन करने पर चरम—पारांचित प्रायश्चित्त तथा चतुर्थ भंग का आसेवन करने पर भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। द्वितीय और तृतीय भंग में प्रायश्चित्त की भजना है।^२

२३६०. जो स्वलिंग—भिक्षुवेश में अन्यलिंग स्त्री (गृहस्थ स्त्री) का आसेवन करता है, उसे कन्या के साथ गमन (प्रतिसेवन) करने पर चरम (पारांचित), विधवा के साथ गमन करने पर नवम (अनवस्थाप्य) और अविधवा (सधवा) स्त्री के साथ गमन करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३६१. अथवा भिक्षुवेश में प्राजापत्य स्त्री, कौटुम्बिक (कृषक) स्त्री तथा दांडिक स्त्री के साथ प्रतिसेवना करने वाले भिक्षु को क्रमशः मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३६२. जो भिक्षु अन्यलिंग में स्वलिंग साध्वी (शिष्या या साधर्मिक भिक्षुणी) की प्रतिसेवना करता है, यदि वह उसके कुल की हो तो चरम (पारांचित) प्रायश्चित्त, उसके गण की हो तो नवम (अनवस्थाप्य) प्रायश्चित्त और संघ की हो तो मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३६३. अपवाद में प्रतिसेवना करने पर मोहोपशान्ति नहीं होती, तब वह चतुर्थभंग का प्रयोग करता है उसकी विधि यह है—वह अपनी जन्मभूमि और विहारभूमि को छोड़कर अन्यत्र देश में जाए। वहां अपना वेश त्याग करे। फिर वृद्धा श्राविका का एक यावत् तीन बार प्रतिसेवन करता है। इसमें भी पूर्व प्रज्ञप्त—कन्या, कुलवधू, अमात्य पत्नी, रानी आदि का तथा अन्य दोषों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए।

२३६४. कन्या आदि को छोड़कर अन्य स्त्रियों की इस संदर्भ में योनि और बीज के आधार पर चतुर्भंगी कर लेनी चाहिए।^३ पहले, दूसरे और तीसरे भंग में प्रतिसेवना करता है, वह शुद्ध है। अन्यथा उसका प्रायश्चित्त बढ़ता है और चतुर्गुरु तक वृद्धिंगत हो जाता है।^४

२३६५, २३६६. अम्लान योनि वाली स्त्री के ऋतुकाल के प्रथम तीन दिनों में बीज पुद्गलों का परिशाटन करने वाले को मूल तथा उसके बाद (चौथे दिन के बाद) बीज पुद्गलों का परिशाटन करने वाले को छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। म्लान योनि वाली स्त्री के ऋतुकाल के प्रथम तीन दिनों में बीज पुद्गलों का परिशाटन करने वाले को छेद तथा उसके बाद परिशाटन करने वाले को षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अन्य आचार्यों के मतानुसार अम्लानयोनि स्त्री के ऋतुकाल के १० दिनों तक बीज पुद्गलों का परिशाटन करने वाले को छेद तथा अन्य दिनों में बीज परिशाटन करने वाले को षड्गुरु प्रायश्चित्त आता है। शेष भंगों में—५५ वर्षों से पूर्व के अबीज काल में अंतः तथा बाह्य एवं ५६ आदि वर्षों से अधिक अवस्था वाली स्त्री के ऋतुकाल के प्रथम १० दिनों में बीज परिशाटन करने वाले को षड्गुरु तथा उसके बाद के दिनों में बीज परिशाटन करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. चतुर्भंगी हेतु द्रष्टव्य गा. २३५५ का पादटिप्पण।

२. द्रष्टव्य निभा गा. २३६०-२३६२।

३. अम्लान योनि सबीज २. अम्लानयोनि अबीज ३. म्लानयोनि सबीज ४. म्लानयोनि अबीज। अम्लान योनि—५५ वर्ष से कम उम्र वाली स्त्री। सबीज—ऋतुकाल। इनकी पुनः अंतः और बाह्य—तीन दिन तक और तीन दिन बाद के आधार पर दो चतुर्भंगियां बन जाती हैं।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. २३६५, २३६६ का अनुवाद।

२३६७. कुलवंसम्मि पहीणे, रज्जं अकुमारगं परो पेल्ले।
तं कीरतु पक्खेवो, एत्थ उ^१ बुद्धीएँ पाधण्णं ॥२२४२॥
२३६८. तरुणीण य पक्खेवो, भोगेहि निमंतणं^२ च भिक्खुस्स।
भोत्तुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसियस्स^३ ॥२२४३॥
२३६९. सुट्टुल्लसिते भीते, पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेरविदू।
मूलं छेदो छग्गुरु^४, 'चतुगुरु लघुमास-गुरु-लहुगो'^५ ॥२२४४॥
२३७०. 'बहुआइण्णे इतरेसु'^६, गेणहमाणण दुल्लभे भिक्खे।
असिवम्मि इमा जतणा, दुब्भिक्खे चेव संथरणे ॥२२४५॥
२३७१. लहुगो य होति मासो, दुब्भिक्खऽविसज्जणम्मि^७ साधूणं।
णेहाणुरागरत्तो, खुड्डो वि य णेच्छती^८ गंतुं ॥२२४६॥
२३७२. भिक्खं पि य परिहायति, भोगेहि^९ निमंतणा य भिक्खुस्स^{१०}।
गेण्हति एगंतरिते^{११}, लहुगा गुरुगा 'य चउमासा'^{१२} ॥२२४७॥
२३७३. पडिसेवंतस्स तहिं, छम्मासा 'होति छेद मूलं'^{१३} च।
अणवट्टप्पो पारंचिओ य पुच्छ य तिविधम्मि ॥२२४८॥
२३७४. मातुग्गामं^{१४} हियए, णिवेसइत्ताण हत्थकम्मादी।
जे भिक्खू कुज्जाही, तं मेहुणसण्णितं होति ॥२२४९॥ नि ५२८ ॥
२३७५. हत्थादि जाव सोतं, पढमुद्देसम्मि जो गमो भणितो।
मेहुण्णं पडियाए, छट्टुद्देसम्मि सो चेव ॥२२५०॥

१. य (बृभा ४९४८)।

२. ंतणा (मु. भ)।

३. बृभा ४९५०।

४. छम्मास (बृभा ४९५२)।

५. चउर गुरु-लहु-लहुगमासो (बृभा)।

६. इतरेसु पासत्थाइसु (चू)।

७. ंज्जणे य (बृभा ४९५५)।

८. णेच्छए (दे)।

९. भोगे य (दे)।

१०. साहुस्स (बृभा)।

११. एक्कंतरियं (बृभा)।

१२. चउमासा (बृभा ४९५७, दे)।

१३. छेदो होति मूलं (बृभा ४९५८)।

१४. सूत्र २-१० (नव ६/२-१०)।

२३६७. किसी राजा के कुल और वंश क्षीण हो जाने पर राज्य को अकुमारक जानकर दूसरे राजा उस पर आक्रमण कर सकते हैं। मंत्री सुझाव देता है कि आप रानी में अपर पुरुष का बीज प्रक्षिप्त करवाएं। यहां उपाय के निरूपण में बुद्धि का प्राधान्य है।^१

२३६८. उपर्युक्त परिस्थिति में राजाज्ञा से प्रतिसेवनार्थ नियुक्त भिक्षु को प्रासाद में कैद करके उसके पास तरुणी रानियों को रखा जाता है। भोग हेतु निमंत्रण देने पर यदि वह वशितेन्द्रिय भिक्षु भोग की इच्छा नहीं करता तो उसे मार दिया जाता है।

२३६९. उपर्युक्त परिस्थिति में जो-जो मनःस्थिति होती है और उसके आधार पर अधोलिखित भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त ज्ञातव्य हैं—१. जिसका सिरच्छेद कर दिया गया, वह शुद्ध है। २. चलो, इस बहाने से स्त्री की प्राप्ति होगी—इस उल्लसित मनःस्थिति का प्रायश्चित्त है मूल। ३. यदि राजाज्ञा नहीं मानूंगा तो मरना पड़ेगा—इस भीत मानसिकता का प्रायश्चित्त है छेद। ४. अभी मैं आलोचना, प्रत्याख्यान रहित मरूंगा। अभी दोष सेवन कर लूं, बाद में प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान सहित पंडितमरण प्राप्त करूंगा—इसका प्रायश्चित्त है षड्गुरु। ५. जीवित रहूंगा तो प्रतीच्छकों को वाचना दूंगा—चतुर्गुरु। ६. जीवित रहूंगा तो गच्छ की सारणा वारणा करूंगा—चतुर्लघु। ७. जीवित रहूंगा तो स्थविरों की वैयावृत्य करूंगा—मासगुरु। ८. जीवित रहूंगा तो ज्ञानसम्पन्न आचार्य की वैयावृत्य करूंगा—मासलघु।

२३७०. अशिव तथा दुर्भिक्ष आदि के कारण एक स्थान पर पार्श्वस्थ आदि बहुत से भिक्षु इकट्ठे हो जाएं, संविग्न भिक्षु के लिए शुद्ध, एषणीय भिक्षा दुर्लभ हो जाए, अन्य भिक्षु एषणीय, अनेषणीय आदि कुछ भी ग्रहण कर रहे हैं, उस आपवादिक परिस्थिति में सामाचारी का निर्देश देते हुए भाष्यकार कहते हैं—

२३७१-२३७३. दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होने पर अथवा उसकी संभावना होने पर जंघाबल से क्षीण आचार्य यदि साधुओं को विसर्जित न करें तो उन्हें असामाचारी निष्पन्न मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१ गुरु के प्रति अत्यन्त स्नेहानुराग युक्त एक क्षुल्लक शिष्य जाना नहीं चाहता। उसे दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा भी नहीं मिलती। एक स्त्री उसे भिक्षा के बदले भोगहेतु निमंत्रण देती है। मुनि एकान्तरित तप स्वीकार करके प्रतिसेवना करता है। उसके प्रथम प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। इस प्रकार एकान्तर प्रतिसेवना के क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु यावत् चौदहवें दिन पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१ प्रश्न है कि तीन प्रकार की मैथुनाभिलाषा क्यों उत्पन्न होती है। (समाधान है—मैथुनेच्छा का उदय सनिमित्तिक भी होता है और निमित्त बिना—केवल मोहोदय से भी)

२३७४. जो भिक्षु मातृग्राम (स्त्री) को हृदय में स्थापित कर (यह मेरी पत्नी है—ऐसा सोचकर) हस्तकर्म आदि क्रियाएं करता है, वे क्रियाएं मैथुनसंज्ञा वाली होती हैं अतः उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३७५. हस्तकर्म से लेकर अचित्त स्रोत में अंगादान अनुप्रविष्ट करने तक की जो सारी विधि प्रथम उद्देशक में प्रज्ञप्त हैं, छठे उद्देशक में वही मैथुन प्रतिज्ञा के साथ प्रज्ञप्त है—ऐसा ज्ञातव्य है।

१. अमात्य सुझाव देता है कि महारानी के साथ निर्ग्रन्थ के नियोग से जो पुत्र पैदा होगा, वह आपका ही होगा। निर्ग्रन्थ किसी को कुछ कहेंगे नहीं अतः इस घटना से आपका अपयश भी नहीं होगा। इस प्रकार भिक्षु को कभी-कभी राजाज्ञा से प्रतिसेवना हेतु बलात् नियुक्त किया जा सकता है।

२. यदि दुर्भिक्ष आदि के समय एवं ग्रामानुग्राम परिव्रजन में असमर्थ आचार्य संघ को विसर्जित न करें तो उन्हें आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। वे साधु भोजन के अभाव में एषणा आदि दोष लगाते हैं अथवा कोई कालधर्म को प्राप्त हो जाता है, अतः आचार्य को संघ का विसर्जन कर देना चाहिए।

३. यदि निरन्तर मैथुन सेवन करे तो दूसरे दिन मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३७६. जे^१ कुज्जा बूया वा, माउग्गामं तु मेहुणट्ठाए।
इच्छामो ते अज्जे^२, अचेलियं दट्टुमाणादी^३ ॥ २२५१ ॥ नि ५२९ ॥
२३७७. णातग कहण पदोसे, सयं व दट्टूण गेणहणादीया।
आसुगहणं कीवे^४, अंगादाणं तु मा पेहे ॥ २२५२ ॥
२३७८. अहभावदरिसणम्मि^५ वि, दोसा किमु जो तदट्ठिओ पेहे।
अहियं तं बंभवओ, सूरालगो व^६ चक्खुस्स ॥ २२५३ ॥
२३७९. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभियोग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू^७ जा जहिं जतणा ॥ २२५४ ॥
२३८०. मोहोदयअणुवसमे, कहणे^८ अकहेति होंति गुरुगा य।
कहितोपेहा गुरुगा, जं काहिति जं च पाविहिती^९ ॥ २२५५ ॥
२३८१. दुविधे तेगिच्छम्मी, निव्वीतियमादियं अतिक्कंते।
अट्ठाणसद्दहत्थे, पच्छाऽचित्ते गणे दोच्चं ॥ २२५६ ॥
२३८२. विसयकलहेतरं^{१०} वा, मातुग्गामस्स मेहुणट्ठाए।
जो कुज्जा बूया वा, बहिया गच्छेज्ज आणादी ॥ २२५७ ॥ नि ५३० ॥
२३८३. काएण^{११} व वायाए^{१२}, वामपयत्ताए विसयकलहो^{१३} तु।
चंडिक्कतं व पासं^{१४}, इतरो पुण तीय असुहीहिं^{१५} ॥ २२५८ ॥
२३८४. पडिपक्खो तु पदुट्ठो, छोभगगहणादि अहव पंतावे।
अण्णेसिं पि अवण्णो, णिच्छुभणादी य दियराओ^{१६} ॥ २२५९ ॥

१. सूत्र ११ (नव ६/११)।

२. अज्जा (भ)।

३. दट्टु आं (दे)।

४. जीवो (दे)।

५. °वदंसं (क, पा)।

६. वि (दे)।

७. °मादीसु (दे)।

८. कहणा (मु)।

९. °हिति (मु), गाथा २३८१, २३८२—ये दोनों गाथाएं दे प्रति में नहीं मिलती हैं। मुद्रित भाष्य में ये गाथाएं मिलती हैं, लेकिन चूर्णिकार ने इनकी व्याख्या नहीं की है। यद्यपि

ये गाथाएं प्रक्षिप्त सी लगती हैं, लेकिन संदर्भ की सुरक्षा हेतु हमने इनको मूल क्रमांक के साथ रखा है।

१०. सूत्र १२ (नव ६/१२)।

११. वामो कामस्तत् प्रवृत्तिः जा पंतावणकिरिया सो कायकलहो (चू)।

१२. जं कामातुरो थी-पुरुसो वा उल्लवति सो वायकलहो (चू)।

१३. विसमकं (दे)।

१४. पासो (दे)।

१५. असं (मु, दे)।

१६. दियदियओ (दे)।

२३७६. जो भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से मातृग्राम को अचेल करे या उसे कहे—आर्ये! मैं तुम्हें अचेल देखना चाहता हूँ, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३७७. भिक्षु की उपर्युक्त चेष्टा में कुपित होकर वह स्त्री अपने ज्ञातिजनों अथवा ग्रामप्रमुख आदि को कह सकती है। जिससे प्रद्विष्ट होकर वे भिक्षु को बन्दी बना सकते हैं। अथवा उस स्त्री के द्वारा अंगादान दिखाए जाने पर भिक्षु स्वयं उसका ग्रहण कर सकता है, क्लीब शीघ्र ही प्रतिसेवना हेतु प्रवृत्त हो सकता है जिससे ग्रहण, आकर्षण आदि दोष पैदा हो सकते हैं। अतः भिक्षु स्त्री के अंगादान को न देखे।

२३७८. यथाभाव—सहजभाव से भी यदि अंगादान दिख जाए, तब भी मोह का उदय संभव है तो मैथुनार्थी देखे, तब तो दोषों की बात ही क्या? अर्थात् दोष होने ही हैं। स्त्री के अंगादान का दर्शन ब्रह्मव्रत (या ब्रह्मचारी) के लिए वैसे ही अहित सम्पादक है जैसे आंखों के लिए सूर्य दर्शन।

२३७९. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद है—१. कोई मुनि अनात्मवश हो। २. मुनि दोनों—सनिमित्तक या अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए मातृग्राम के अचेल देखने की इच्छा करे। ३. अभियोग—राजाज्ञा आदि से बलात् ऐसा करने के लिए नियुक्त हो। ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि के कारण ऐसा करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतना का प्रयोग करे।

२३८०. कदाचित् किसी भिक्षु के मोह का उदय हो जाए और वह उपशान्त नहीं हो सके तो उसे आचार्य को निवेदन करना चाहिए। यदि वह निवेदन नहीं करता तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भिक्षु अपनी स्थिति निवेदन कर देता है और गुरु उसकी उपेक्षा करता है तो गुरु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा वह भिक्षु मोहवश जो हस्तकर्म आदि करता है, तत्प्रत्ययिक जिन उद्वाह, ग्रहण आदि दोषों को प्राप्त होता है, उन सबका प्रायश्चित्त भी गुरु (आचार्य) को प्राप्त होता है।

२३८१. किसी भिक्षु के सनिमित्तक और अनिमित्तक दोनों में से किसी प्रकार का मोह उदित हो जाए तो गुरु उसकी चिकित्सा करवाते हैं। चिकित्सा के क्रम में जब भिक्षु निर्विगय आदि चिकित्साओं का अतिक्रमण कर देता है अर्थात् निर्विगय, आयम्बिल, ऊर्ध्वस्थान आदि उपायों से स्वस्थ नहीं हो पाता, तब उसे वेश्यापाटक या शब्दप्रतिबद्धशय्या में रखा जाता है। उसके बाद उसे चिकित्सा के लिए हेतु स्त्रीशरीर में बीजनिर्गम, गण से पृथक् रहकर द्वितीय भंग^१ से प्रतिसेवना आदि उपायों की व्यवस्था दी जाती है।

२३८२. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम के साथ विषयकलह या कषायकलह करता है, कामातुर भाषा में बोलता है अथवा उस प्रकार के कलह को देखने के लिए ग्राम, वाटक आदि से बाहर जाता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३८३. वाम का अर्थ है काम। कामेच्छु के समान स्त्री को प्रान्तापित (पीड़ित) करने की प्रवृत्ति-कायकलह कहलाता है। कामातुर स्त्री पुरुषों का उल्लाप (वार्तालाप) वाक्कलह कहलाता है। स्त्री को रुष्ट देखकर उस स्त्री को प्रसन्न करने हेतु उसके विपक्षभूत लोगों के साथ कलह करता है, वह कषायकलह है। प्रतिसेवना की इच्छा से भिक्षु को इनमें से कोई भी कलह करना नहीं कल्पता।

२३८४. भिक्षु की उपर्युक्त अकल्पनीय प्रवृत्ति को देखकर स्त्री के ज्ञातिजन या उसके विरोधी लोग प्रद्विष्ट हो सकते हैं, उस पर आरोप लगा सकते हैं, फलतः ग्रहण, आकर्षण आदि दोष पैदा हो सकते हैं। इतना ही नहीं, वे प्रद्वेष के कारण अन्य साधुओं के प्रति भी अवर्णवाद बोल सकते हैं। दिन अथवा रात में उन्हें ग्राम अथवा उपाश्रय से बाहर निकाल सकते हैं।

१. प्रतिसेवनाविषयक चतुर्भंगी हेतु द्रष्टव्य गा. २३५५ का पादटिप्पण।

२३८५. बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा ॥ २२६० ॥
२३८६. छण्णेतरं^१ च लेहं, माउग्गामस्स मेहुणट्टाए ।
जे लिहति लिहावेति य, बहिया गच्छे व आणादी ॥ २२६१ ॥ नि ५३१ ॥
२३८७. लिवि^२-भासा अत्थेण^३ व, छण्णो इतरो लिवीउ जा जहियं ।
उत्ताणत्थ सभासा, गतो य अप्पाहितं वावि ॥ २२६२ ॥
२३८८. काले सिहि-णंदिकरे, मेहनिरुद्धम्मि अंबरतलम्मि ।
मित-मधुर-मंजुभासिणि, ते धन्ना जे पियासहिता ॥ २२६३ ॥
२३८९. कोमुइणिसा य पवरा, वारियवामा य दुद्धरो मदणो ।
रेहंति^४ य सरयगुणा, तीसे य^५ समागमो णत्थि ॥ २२६४ ॥
२३९०. एवं पाउसकाले, वरिसारत्ते य वासितुं मेहा ।
होउं णिब्भरभारा, तुरियं संपत्थिगा सरदे ॥ २२६५ ॥
२३९१. तुह दंसण-संजणितो, हियए चिंतिज्जमाण विलसंतो^६ ।
वग्गति^७ य मे अणंगो, सोगुल्लुगेसु^८ अंगेसु ॥ २२६६ ॥
२३९२. लिक्खंत-णिज्जमाणे^९, अप्पिज्जंते कहिज्जमाणे वा ।
दोसा होंति अणेगा, लिहग-णिवेदेतं णिंताणं ॥ २२६७ ॥
२३९३. बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभियोग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{१०} ॥ २२६८ ॥

१. सूत्र १३ (नव ६/१३) ।

२. लिवी जा दोहिं मिलिउं उप्पाइया (चू), अधवा दविडमाई
जा जम्मि देसे णत्थि (चू) ।

३. अत्थओ—जं अप्पई ताभिहाणेण लिहितं वा ववहियं
वा (चू) ।

४. रेहंती (भ) ।

५. उ (दे) ।

६. विगसंतो (भ) ।

७. वज्जति (दे) ।

८. सोगुल्लुगेसु (भ) ।

९. °माणे य (दे) ।

१०. पा प्रति में इस गाथा का केवल प्रथम चरण है ।

२३८५. प्रस्तुत सूत्र में अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. आत्मवश मुनि दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए कायकलह आदि करे। ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने के लिए नियुक्त हो। ४. अशिवग्रस्त हो। ५. अथवा दुर्भिक्ष आदि के कारण उपर्युक्त आचरण करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतनाविधि का पालन करे।

२३८६. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को प्रच्छन्न या प्रकट रूप में कुछ लिखता है, अन्य से लिखवाता है अथवा इस प्रकार के लेखन के लिए गच्छ से बाहर जाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३८७. प्रच्छन्न लेख तीन प्रकार का होता है—१. अन्य देश की लिपि—द्राविड़ी आदि में लिखा हुआ। २. अन्य अनार्य भाषा में कहा हुआ तथा ३. अर्थतः व्यवहित—गुप्त पदों आदि में कहा हुआ। प्रकट लेख भी तीन प्रकार का होता है—१. जो जहां की लिपि है, उस में लिखा हुआ २. स्वभाषा में लिखा हुआ और ३. उक्तानार्थ—जो कहने मात्र से ज्ञात (अवगत) हो जाए।

२३८८. आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है, मयूरों के लिए आनन्दप्रद काल है। हे मित, मधुर और मंजुभाषिणी! ऐसे समय में वे पुरुष धन्य हैं जो प्रिया सहित हैं। (इस श्लोक में प्रत्येक पाद के प्रथम अक्षर से उस पुरुष ने उस स्त्री को लिखा 'कामेमि ते'।)

२३८९. उपर्युक्त प्रार्थना का उत्तर देते हुए स्त्री लिखती है—रात्रि में चांदनी बहुत प्रवर (उत्तम) है। जिसके स्त्री निकट नहीं है, उसके लिए मदन दुर्धर है। शरद् ऋतु के गुण सुशोभित हो रहे हैं, फिर भी उसका समागम नहीं हो रहा है। (इस श्लोक में प्रत्येक पद के प्रथम अक्षर से उस स्त्री ने अपनी भावना व्यक्त की—'को वारेति'।)

२३९०. इसी प्रकार प्रावृष काल में और वर्षारत्र में बरस कर मेघ निर्भर होकर शरदऋतु के लिए शीघ्र प्रस्थान कर चुके हैं। (श्लोक के प्रथमाक्षर से पुनः स्त्री ने अपनी भावना व्यक्त की—एव होतु।)

२३९१. तुमको देखने से उत्पन्न और हृदय में चिन्तन करने से विलसित होता हुआ मदन मेरे शोक से त्रुटित^१ अंगों में फुदक रहा है। (यह पुरुष का उत्तर है—तुहि वसो।)

२३९२. लिखित संदेश को ले जाते हुए, निर्दिष्ट व्यक्ति को देते हुए कोई देख ले या कहते समय कोई सुन ले तो संदेश देने वाले भिक्षु के ग्रहण, आकर्षण आदि अनेक दोष हो सकते हैं, लेखन करने वाला, ले जाने वाला या सुनने वाला ग्रामप्रधान आदि को कह सकता है, अतः भिक्षु काम संदेश न दे।

२३९३. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. आत्मवश मुनि दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए मातृग्राम को कामलेख लिखे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से ऐसा करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां यतनाविधिपूर्वक उक्त अपवाद को काम में ले।

१. उल्लोक (दे) त्रुटित।

२३९४. भल्लातगमादीसुं^१, पोसंते वावि अहव पिटुंते ।
जे भिक्खू उप्पाए, मेहुण्णट्टाएँ आणादी ॥ २२६९ ॥ नि ५३२ ॥
२३९५. पडिणीयता 'य अण्णे'^२, आयतिहेतुं व कोउगेणं वा ।
चीयत्ता य^३ भविस्ससि, पउणिस्ससि ता इमेणं तु ॥ २२७० ॥
२३९६. दिट्ठा व भोइएणं, सिट्ठे णीया व जं सें^४ काहंति ।
परितावणा व वेज्जे, तुवरे लेवट्टता काया ॥ २२७१ ॥
२३९७. उप्पक्कं मे गत्तं, पेच्छामु ण जा सें कीरती किरिया ।
ते च्चिय दोसा दिट्ठे, अंगादण^५ पासणे जे तु ॥ २२७२ ॥
२३९८. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^६ ॥ २२७३ ॥
२३९९. सीतोदगवियडेणं^७, पोसंते^८ वावि अहव पिटुंते ।
जे भिक्खुप्पाएत्ता^९, उच्छोले आणमादीणि ॥ २२७४ ॥ नि ५३३ ॥
२४००. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{१०} ॥ २२७५ ॥
२४०१. सीतोदे^{११} जो तु गमो, णियमा सो चेव तेल्लमादीसुं^{१२} ।
गंधादीएसु तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ २२७६ ॥
२४०२. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{१३} ॥ २२७७ ॥

१. °दीसू (भ), सूत्र १४ (नव ६/१४) ।

२. × (दे) ।

३. व (भ) ।

४. सि (मु) ।

५. छंद की दृष्टि से 'अंगादाण' के स्थान पर 'अंगादण' पाठ स्वीकृत किया है ।

६. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है ।

७. सूत्र १५ (नव ६/१५) ।

८. पीसंते (दे) ।

९. भिक्खुपाहिता (भ) ।

१०. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है ।

११. सूत्र १६-१८ (नव ६/१६-१८) ।

१२. °दीसुं (दे) ।

१३. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है ।

२३९४. जो भिक्षु मैथुन के लिए स्त्री के पोषान्त—योनि तथा पृष्ठान्त—अपानद्वार का भिलावा आदि से उत्पाटन करता है, अत्यधिक उभारता है—शोथयुक्त बनाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३९५. जो भिक्षु स्त्री अथवा उसके ज्ञातिजन के प्रति प्रत्यनीकता के भाव से उसकी योनि आदि को पीड़ा युक्त बनाता है, भविष्य में यह स्त्री मेरे अधीन हो जाएगी—ऐसा सोचकर अथवा उसके अपानद्वार आदि को देखने के कौतुक से उसे भिलावा आदि का लेप करने के लिए कहता है। अथवा 'तुम अपने पति के लिए प्रिय हो जाओगी', 'तुम स्वस्थ हो जाओगी'—इस कथन के साथ भी किसी स्त्री को भिलावा आदि के लेप का निर्देश देता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२३९६. दोष—परिभोगकाल में पति जब स्त्री के योनि आदि के स्थान को परिपक्व देखता है तो पूछता है—यह क्या? स्त्री के कहने पर वह (पति) भिक्षु अथवा अपनी पत्नी के प्रति प्रद्वेष कर सकता है, उन्हें कष्ट पहुंचा सकता है। आगाढ़ अथवा अनागाढ़ वेदना पहुंचा सकता है। उसकी चिकित्सा हेतु वैद्य कोई रस या लेप बनाता है, उसमें पृथ्वी आदि छहकाय के जीवों की हिंसा हो सकती है।

२३९७. संयत के द्वारा लेप लगाने का निर्देश मिलने पर स्त्री अपने पति से कहती है—मेरा गात्र पक गया है। पति कहता है—दिखाओ, ताकि कोई चिकित्सा करवाई जा सके। वह उसके अंगादान को देखता है पुनः वे ही प्रद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

२३९८. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए स्त्री के गुह्यस्थानों का उत्पाटन करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से ऐसा करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतनाविधि का प्रयोग करे।

२३९९. जो भिक्षु मैथुन के संकल्प से स्त्री के पोषान्त या पृष्ठान्त को शोथ आदि के द्वारा उत्पीड़ित कर उसे ठण्डे या गर्म अचित्त जल से धोता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४००. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए उक्त अनासेव्य उपाय का आचरण करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से ऐसा करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतनाविधि का प्रयोग करे।

२४०१. स्त्री के पोषान्त एवं पृष्ठान्त के संदर्भ में जो दोष शीतोदक आदि सूत्रों में निर्दिष्ट हैं, वे ही उत्पक्व अंग को देखने पर, तैल मालिश एवं लोम्र आदि सुगंध द्रव्यों को लगाने के प्रसंग में संभावित हैं अतः प्रस्तुत सूत्रत्रयी के पूर्व (उत्सर्ग) पद एवं अपर (अपवाद) पद को पूर्वोक्त विधि से जान लेना चाहिए।

२४०२. प्रस्तुत आलापक के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा के लिए उक्त अनासेव्य उपायों का आचरण करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से ऐसा करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतनाविधि का प्रयोग करे।

२४०३. 'अहते य'^१ धोतमइले, रत्ते चित्ते तथा विचित्ते य।
मेहुण्ण-परिण्णाए^२, एताइ धरेंति आणादी ॥ २२७८ ॥ नि ५३४ ॥
२४०४. मइले अणुभडहेतुं^३, आतट्टित भावितासु वा वहती^४।
आत-पर-मोहउदयट्टयाएँ सेसाण^५ दाहामो ॥ २२७९ ॥
२४०५. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^६ ॥ २२८० ॥
२४०६. पादे^७ पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो गमो ततिए।
मेहुण्ण-परिण्णाए, छट्टुद्देसम्मि सो चेव ॥ २२८१ ॥
२४०७. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^६ ॥ २२८२ ॥
२४०८. खीर-दधीमादीहिं^८, सेसाहारा विसूइया होंति।
मेहुण्ण-परिण्णाए, ताणाहारेंत^९ आणादी ॥ २२८३ ॥ नि ५३५ ॥
२४०९. णाणादिसंधणट्टा, वि सेविता पेति उप्पहं विगती।
किं पुण जो पडिसेवति, विगती^{१०} वण्णादिणं कज्जे ॥ २२८४ ॥
२४१०. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{११} ॥ २२८५ ॥
२४११. पुरिसाणं जो तु गमो, इत्थीवग्गम्मि होति^{१२} सो चेव।
एसेव अपरिसेसो, इत्थीणं पुरिसवग्गम्मि ॥ २२८६ ॥

छट्टो उद्दसओ समत्तो

१. अहवंतिय (दे), सूत्र १९-२३ (नव ६/१९-२४), मुद्रित भाष्य में बावीसवां सूत्र नहीं है।
२. पतिण्णाए (क)।
३. अणुभड (दे)।
४. वहति (दे), वहति णाम परिभोगं करेति (चू)।
५. सेसेसु (भ), सेसाणु (दे)।
६. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है।
७. सूत्र २४-७६ (नव ६/२५-७८)।
८. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है।
९. सूत्र ७७ (नव ६/७९), दहिं मां (पा)।
१०. रेंते (दे), रित (भ)।
११. विगति (दे)।
१२. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है।
१३. होंति (दे)।

२४०३. जो भिक्षु मैथुन की परिज्ञा (प्रतिज्ञा) —संकल्प से अहत (अखंड), धोए हुए, मैले, रंगे हुए, एक सुन्दर वर्ण वाले या रंग बिरंगे—इन वस्त्रों को धारण करता है—अपरिभोग्य रूप में रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४०४. प्रस्तुत प्रसंग में भिक्षु दो प्रयोजनों से मैले वस्त्र रखता है—१. मैले वस्त्रों से मैं अनुद्भट—शान्त, वैरागी लगूंगा। २. मुझे आत्मार्थी समझ कर मेरे मैले वस्त्रों से भावित स्त्रियां विश्वासपूर्वक मेरे पास आ जाएंगी। शेष—धोए हुए, रंगीन या रंगबिरंगे वस्त्रों को धारण करने के दो प्रयोजन हो सकते हैं—१. स्वयं, पर या उभय के मोहोदय हेतु और २. वे वस्त्र, मैं उस स्त्री को दूंगा ताकि वह मेरे अनुकूल हो जाएगी।

२४०५. प्रस्तुत आलापक के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा हेतु विविध प्रकार के वस्त्र धारण करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से मैले, रंगे हुए आदि वस्त्रों को धारण करना पड़े तो जो यतना जहां करणीय है, वहां भिक्षु उस यतना का प्रयोग करे।

२४०६. पाद-प्रमार्जन से लेकर शीर्षद्वारिका (सिर ढांकने) पर्यन्त जो विधि-निषेध तृतीय उद्देशक में प्राप्त है, वही सम्पूर्ण विधि छोटे उद्देशक में मैथुन परिज्ञा (प्रतिज्ञा) —कामसंकल्प के साथ ज्ञातव्य है।

२४०७. प्रस्तुत आलापक के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु दोनों—सनिमित्तक और अनिमित्तक मोहचिकित्सा हेतु पादप्रमार्जन, कायप्रमार्जन आदि करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो ४. अशिवग्रस्त हो अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से भिक्षा आदि प्राप्त करने हेतु पादप्रमार्जन आदि कार्य करने हों तो जहां जो यतना करणीय है, भिक्षु वहां उस यतनाविधि का सेवन करे।

२४०८. दूध, दही, नवनीत आदि का उल्लेख कर देने से शेष (प्रणीत) आहार भी सूचित होता है। जो भिक्षु किसी भी प्रणीत (स्निग्ध या विकृति उत्पादक) आहार का मैथुन के संकल्प को भोग करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४०९. ज्ञान, दर्शन आदि के संधान के प्रयोजन से सेवित विकृति (विगय) भी मनुष्य को उत्पथ में ले जा सकती है तो उसकी तो बात ही क्या, जो वर्ण आदि के लिए इसका आसेवन करे।

२४१०. प्रस्तुत सूत्र के अपवाद पद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु दूध, दही आदि प्रणीत आहार का सेवन करे ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् विगय आदि का सेवन करना पड़े। ४. अशिव तथा ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से प्रणीत आहार का सेवन करना पड़े तो जो यतना जहां करणीय है, वहां उस यतनाविधि के साथ अपवादपद का सेवन करे।

२४११. पुरुषों के विषय में जो विधि प्रज्ञप्त है, वही सम्पूर्ण रूप से स्त्रियों (साध्वियों) के विषय में ज्ञातव्य है। केवल स्त्रियों में वह पुरुष वर्ग के विषय में वक्तव्य है यथा—जा भिक्खुणी पिउग्गामं मेहुणवडियाए विण्णवेइ.... इत्यादि।

२४१२. आहार-मंत-भूसा, मालियमादी तु बाहिरा भूसा।
विगती विगतिसहावा^१, व बाहिरं कुज्ज संठप्पं ॥२२८७॥
२४१३. तणमालियादिया^२ ऊ, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते।
मेहुण्ण-परिण्णाए^३, ता उ धरेंतस्स आणादी ॥२२८८॥ नि ५३६ ॥
२४१४. तण-वेत्त-मुंज-कट्टे, भिंड मयण-मोर-पिच्छ-हड्डुमयी।
पोंडियदंतें पत्तादि, करे धरें पिण्णिद्ध आणादी ॥२२८९॥ नि ५३७ ॥
२४१५. सविकारो मोहुदीरणा^४, य वक्खेव रागऽणाइण्णं।
गहणं च तेण दंडिग, गोमिय भाराधिकरणादी ॥२२९०॥
२४१६. बित्तिपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^५ ॥२२९१॥
२४१७. अयमादी^६ लोहा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते।
मेहुण्ण-परिण्णाए, ताइ^७ धरेंतस्स आणादी ॥२२९२॥ नि ५३८ ॥
२४१८. सविकारो मोहुदीरणा य वक्खेव रागऽणाइण्णं।
गहणं च तेण दंडिग-दिट्ठंतो नंदिसेणेण ॥२२९३॥
२४१९. बित्तिपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^८ ॥२२९४॥
२४२०. कडगादी आभरणा^९, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते।
मेहुण्ण-परिण्णाए, ताइ^{१०} धरेंतम्मि^{११} आणादी ॥२२९५॥ नि ५३९ ॥

१. विगतसं (भ)।

२. सूत्र १-३ (नव ७/१-३)।

३. पतिण्णाए (भ)।

४. मोहोदी (दे)।

५. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है।
मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है।

६. सूत्र ४-६ (नव ७/४-६)।

७. एताइ (मु)।

८. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता
है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

९. सूत्र ७-९ (नव ७/७-९)।

१०. एताइ (मु)।

११. धरेंतस्स (दे, भ)।

२४१२. विकृति (विगय) स्वभाव को विकृत करती है। उसे खाने से भिक्षु पुष्ट शरीर वाला हो जाता है अतः वह उसकी आन्तरिक विभूषा है। तृण, मूँज, पंख आदि की माला बाह्य विभूषा है अतः प्रस्तुत उद्देशक में उसका निषेध किया जाता है।

२४१३. तृण की माला, मूँज की माला, बेंत, मोम आदि जितने (सोलह) प्रकार की मालाओं का सूत्र में कथन किया गया है, उनमें से किसी भी प्रकार की माला को भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४१४. उशीर आदि तृण विशेष, बेंत, मूँज, काठ, भेंड (गुल्म विशेष), मोम, मोरपिच्छ, हड्डी, हाथीदांत, पत्र, पुष्प, बीज इत्यादि से जो भिक्षु माला को बनाता है, रखता है या धारण करता (पहनता) है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४१५. माला बनाने, पहनने आदि के दोष—१. सविकारता २. स्वयं के तथा दूसरे के मोह की उदीरणा ३. सूत्रार्थ में व्याक्षेप ४. सरागता ५. तीर्थकरों के द्वारा अनाचीर्ण (अनाज्ञप्त) ६. माला को लेने के लिए स्तेन आदि के द्वारा ग्रहण (पकड़ा जाना) ७. 'साधु नहीं है'—ऐसा सोचकर पुलिस द्वारा पकड़ा जाना ८. गोल्मिक के द्वारा कर (चुंगी) के लिए पकड़ा जाना ९. भार वृद्धि १०. संयम में अनुपकारक होने से अधिकरण रूप होना ११. स्फालन, छेदन, घर्षण आदि में शस्त्र आदि लगने से आत्मविराधना १२. संयम-विराधना (शुषिर आदि के कारण) और १३. लोकनिन्दा।

२४१६. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी दासी आदि की आराधना करनी पड़े ताकि उससे प्रलुब्ध होकर वह उसे प्रतिसेवना दे दे। ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो। ४. अशिव एवं ५. दुर्भिक्ष आदि परिस्थितियों में विविध प्रकार की मालाओं का उपहार देकर दंडिक पुरुष आदि को प्रसन्न करना पड़े ताकि वे उसे भोजन आदि दे दें तो भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधिपूर्वक पहले अल्पमूल्य वाली और बाद में बहुमूल्य मालाओं का निर्माण आदि करे।

२४१७. लोहा, तांबा, शीशा आदि जितनी (छह) प्रकार की धातुओं का सूत्र में कथन किया गया है, उनमें से किसी भी प्रकार की धातु को जो भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों से प्राप्त होता है।

२४१८. विविध धातुओं के ग्रहण यावत् परिभोग के दोष—१. सविकारता २. स्वयं के तथा दूसरे के मोह की उदीरणा ३. सूत्रार्थ में व्याक्षेप ४. सरागता ५. तीर्थकरों के द्वारा अनाचीर्ण (अनाज्ञप्त) ६. धातुओं को लेने के लिए स्तेन आदि के द्वारा ग्रहण ७. 'साधु नहीं है'—ऐसा सोचकर पुलिस आदि के द्वारा पकड़ा जाना ८. गोल्मिक के द्वारा कर आदि के लिए पकड़ा जाना। यहां नन्दीषेण का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।^१

२४१९. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी दासी आदि को प्रसन्न करने के लिए विविध प्रकार की धातुओं का ग्रहण, धारण आदि करना हो, जिससे उसे प्रलुब्ध कर प्रतिसेवना की जा सके। ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो। ४. अशिव एवं ५. दुर्भिक्ष आदि परिस्थितियों में निर्वाह न हो सके (जीवन निर्वाह का अन्य कोई साधन न हो) जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधिपूर्वक पहले अल्पमूल्य वाली और बाद में बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग करे।

२४२०. वलय, कुंडल, हार आदि जिन-जिन आभूषणों का सूत्र में कथन किया गया है, उन्हें जो भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. पाइय. —लोह—किसी भी प्रकार की धातु।

२. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४०।

२४२१. सविकारो मोहुद्दीरणा य वक्खेव रागऽणाइण्णं।
गहणं च तेण दंडिग, दिट्ठंतो णंदिसेणेण ॥२२९६ ॥
२४२२. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणां ॥२२९७ ॥
२४२३. सहिणादी^१ वत्था खलु, जत्तियमेत्ता तु^२ आहिता सुत्ते।
मेहुण्ण-परिण्णाए, ताइ धरंतम्मि आणादी ॥२२९८ ॥ नि ५४० ॥
२४२४. सविकारो मोहुद्दीरणा य वक्खेव रागऽणाइण्णं।
गहणं च तेण दंडिग, दिट्ठंतो णंदिसेणेण^३ ॥२२९९ ॥
२४२५. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा ॥२३०० ॥
२४२६. अक्खादी^४ ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते।
जो घेतुं संचाले^५, सो पावति आणमादीणि ॥२३०१ ॥ नि ५४१ ॥
२४२७. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^६ ॥ २३०२^७ ॥
२४२८. पादप्पमज्जणादी^८, सीसदुवारादि^९ जो गमो छट्टे।
अण्णोण्णस्स तु करणे, सो चेव गमो तु सत्तमगे ॥२३०४ ॥
२४२९. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग असिव दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{१०} ॥२३०५ ॥

१. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है।
मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

२. सहिणं—सूक्ष्मं (चू), सूत्र १०-१२ (नव ७/१०-१२),
इन तीनों सूत्रों में मुद्रित भाष्य एवं नवसुत्ताणि के पाठ में
कुछ अंतर है।

३. य (मु)।

४. २४२४ एवं २४२५—इन दोनों गाथाओं का हस्तप्रतियों में
केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

५. सूत्र १३ (नव ७/१३)।

६. आचाले (दे)।

७. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता
है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

८. मुद्रित भाष्य में २३०३ का क्रमांक नहीं है।

९. सूत्र १४-६६ (नव ७/१४-६७)।

१०. 'राई (दे)।

११. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता
है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

२४२१. आभूषणों के ग्रहण यावत् परिभोग के दोष—१. सविकारता २. स्वयं के तथा दूसरे के मोह की उदीरणा ३. सूत्रार्थ में व्याक्षेप ४. सरागता ५. तीर्थकरों के द्वारा अनाचीर्ण ६. आभूषणों को लेने के लिए स्तेन आदि के द्वारा पकड़ा जाना ७. 'साधु नहीं है'—ऐसा सोचकर पुलिस आदि के द्वारा पकड़ा जाना तथा ८. गोल्मिक के द्वारा कर चुंगी आदि के लिए पकड़ा जाना। यहां नन्दीषेण का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

२४२२. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी दासी आदि को प्रसन्न करने के लिए विविध प्रकार के आभूषण आदि धारण करना हो, जिससे उसे प्रलुब्ध कर प्रतिसेवना की जा सके। ३. राजाज्ञा से बलात् आभूषण धारण करना पड़े। ४. अशिव या ५. दुर्भिक्ष आदि में भिक्षा आदि प्राप्त करने हेतु बहुमूल्य या अल्पमूल्य आभूषण रखना या देना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधि का पालन करे।

२४२३. सूत्र में जिन सूक्ष्म, स्निग्ध और लक्षणयुक्त वस्त्रों का कथन किया गया है, उन्हें जो भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४२४. विविध प्रकार के बहुमूल्य लक्षणोपेत वस्त्र धारण करने के दोष—१. सविकारता २. स्वयं के तथा दूसरे के मोह की उदीरणा ३. सूत्रार्थ में व्याक्षेप ४. सरागता ५. तीर्थकरों के द्वारा अनाचीर्ण ६. वस्त्र प्राप्त करने के लिए स्तेन आदि के द्वारा पकड़ा जाना ७. 'साधु नहीं है'—ऐसा सोचकर पुलिस आदि के द्वारा पकड़ा जाना और ८. गोल्मिक के द्वारा कर चुंगी आदि के लिए पकड़ा जाना। यहां नन्दीषेण का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

२४२५. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा के लिए किसी दासी आदि को प्रलोभित करना हो ३. राजाज्ञा से बलात् ऐसा करवाया जाए ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष आदि में अनिर्वाह की स्थिति हो तो भिक्षा आदि प्राप्त करने के लिए भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधि से बहुमूल्य एवं लक्षणोपेत वस्त्रों को बना सकता है, रख सकता है अथवा परिभोग कर सकता है।

२४२६. सूत्र में जिन-जिन अक्ष (कनपटी), ऊरु, उदर आदि अंगों का कथन किया गया है, उन्हें पकड़कर जो भिक्षु मैथुन की प्रतिज्ञा से संचालित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४२७. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी दासी आदि को प्रलोभित करना हो ३. अभियोग—राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने हेतु नियुक्त हो। ४. अशिव अथवा ५. दुर्भिक्ष के कारण अनिर्वाह की स्थिति हो तो आगाढ़ कारण में भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधि से उक्त अपवाद को काम में ले।

२४२८. पादप्रमार्जन से लेकर शीर्षद्वारिका (सिर ढांकने) पर्यन्त जो विधि निषेध छठे उद्देशक में प्रज्ञप्त हैं, वही सम्पूर्ण विधि सातवें उद्देशक (सूत्र १४-१६) में परस्पर एक दूसरे के पादप्रमार्जन आदि के विषय में ज्ञातव्य है।

२४२९. प्रस्तुत आलापक के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी दासी आदि को प्रलोभित करने के लिए पादप्रमार्जन आदि क्रियाएं करनी पड़े। ३. राजाज्ञा से बलात् वैसा करना पड़े। ४. अशिव अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि में किसी प्रकार से अनिर्वाह की स्थिति हो तो भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधि के परस्पर एक दूसरे की पादप्रमार्जन आदि क्रियाएं करे।

२४३०. अण्णोण्ण-करण-वज्जा, जे सुत्ता सत्तमम्मि उवदिट्ठा^१ ।
उभयस्स वि विण्णवणे, इत्थी-पुरिसाण तो सुणसु ॥२३०६ ॥
२४३१. एसेव गमो नियमा, णपुंसगेसु^२ पि इत्थि-पुरिसाणं ।
पादादि जा दुवारं, सरिसेसु य बालमादीसु ॥२३०७ ॥
२४३२. पुढवीमादीगेसु^३, माउग्गामं उ मेहुणट्ठाए ।
जे भिक्खू णिसियावे, सो पावति आणमादीणि ॥२३०८ ॥ नि ५४२ ॥
२४३३. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग असिव दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^४ ॥२३०९ ॥
२४३४. अंके^५ पलियंके वा, माउग्गामं तु मेहुणट्ठाए ।
जे भिक्खू णिसियावे, सो पावति आणमादीणि^६ ॥२३१० ॥ नि ५४३ ॥
२४३५. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा ॥२३११ ॥
२४३६. आगंतागारादिसु^७, माउग्गामं तु मेहुणट्ठाए ।
जे भिक्खू णिसियावे, सो पावति आणमादीणि ॥२३१२ ॥ नि ५४४ ॥
२४३७. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^८ ॥२३१३ ॥
२४३८. अण्णतरं^९ तेगिच्छं, माउग्गामस्स^{१०} मेहुणट्ठाए ।
जे भिक्खू कुज्जाहि, सो पावति आणमादीणि ॥२३१४ ॥ नि ५४५ ॥
२४३९. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्भिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^{११} ॥२३१५ ॥

१. उदिट्ठा (मु, भ) ।

२. °गेहिं (दे) ।

३. °दीएसू (भ), सूत्र ६७-७४ (नव ७/६८-७५) ।

४. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है ।

५. सूत्र ७५, ७६ (नव ७/७६, ७७) ।

६. २४३४-३७—इन चार गाथाओं का दे प्रति में केवल संकेत मात्र मिलता है । पा प्रति में २४३५ और २४३७ का केवल

संकेत मिलता है । मुद्रित भाष्य में ये पूरी गाथाएं मिलती हैं ।

७. °दीसुं (भ), सूत्र ७७, ७८ (नव ७/७८, ७९) ।

८. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है ।

९. सूत्र ७९ (नव ७/८०) ।

१०. °ग्गामं तु (मु) ।

११. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है ।

२४३०. पादप्रमार्जन से शीर्षद्वारिका पर्यन्त जो सूत्र सातवें उद्देशक में उद्दिष्ट हैं, वे ही अन्योन्यकरण (परस्पर करने) को छोड़कर ज्ञातव्य हैं। यहां इन्हें स्त्री और पुरुष के परस्पर निवेदन (कामनिवेदन) के संदर्भ में जानना चाहिए।

२४३१. जो गम स्त्री पुरुषों के परस्पर निवेदन के संदर्भ में प्रज्ञप्त है, वही पादप्रमार्जन से शीर्षद्वारिका तक सम्पूर्ण नपुंसक के विषय में ज्ञातव्य है—पुरुष स्त्रीवेशधारी नपुंसक से कामनिवेदन करता है और स्त्री पुरुषवेशधारी नपुंसक से कामनिवेदन करती है तथा वही सम्पूर्ण सदृश एवं विसदृश बाल रूप के विषय में ज्ञातव्य है—स्त्री छोटी बच्ची का एवं पुरुष छोटे बच्चे का चुंबन लेता है—इत्यादि।

२४३२. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को सचित्त पृथ्वी, सस्निग्ध या सरजस्क पृथ्वी आदि पर बिठाता या सुलाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४३३. प्रस्तुत सूत्रकदम्बक के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा की दृष्टि से किसी स्त्री को सस्निग्ध, सरजस्क आदि पृथ्वी पर बिठाना पड़े। ३. राजाज्ञा से बलात् वैसा करना पड़े। ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों में किसी आगाढ़ कारण से उपर्युक्त अपवाद का सेवन करना पड़े तो जो जहां यतना करणीय है, उस यतनापूर्वक उक्त आचरण करे।

२४३४. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को अंक (गोद) या पल्यंक (पालथी) में बिठाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४३५. प्रस्तुत सूत्रद्वयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा के लिए किसी स्त्री को अंकादि में बिठाए। ३. राजाज्ञा से बलात् उपर्युक्त कार्य करना पड़े। ४. अशिव एवं ५. दुर्भिक्ष आदि आगाढ़ कारणों में संस्तरण हेतु यदि उपर्युक्त अपवाद का आचरण करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतनाविधि से कार्य करे।

२४३६. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को यात्रिशाला, आरामशाला, गृहपति कुल आदि में बिठाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४३७. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु यात्रिशाला, आरामशाला आदि स्थानों में स्त्री के साथ उपर्युक्त व्यवहार करे। ३. राजाज्ञा से बाधित होकर वैसा कार्य करना पड़े ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष आदि आगाढ़ कारणों से उपर्युक्त अपवाद पद का सेवन करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतना का प्रयोग करे।

२४३८. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम की अन्यतर—वात, पित्त श्लेष्म या सान्निपातिक किसी भी रोग की चिकित्सा करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४३९. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु मातृग्राम की चिकित्सा करनी पड़े। ३. राजाज्ञा से किसी स्त्री की चिकित्सा में नियुक्त हो। ४. अशिव तथा ५. दुर्भिक्ष आदि आगाढ़ कारणों में निर्वाह हेतु किसी स्त्री को चिकित्सा करनी आवश्यक हो तो भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस विधि का आचरण करे।

२४४०. अमणुण्णाणऽवहारं^१, उवहारं चेव तह मणुण्णाणं ।
जे भिक्खु पोग्गलाणं, देहट्टाणे व आणादी ॥ २३१६ ॥ नि ५४६ ॥
२४४१. वमण-विरेगादीहिं, अब्भंतरं^२-पोग्गलाण अवहारो ।
तेल्लुव्वट्टण-जल-पुप्फ-चुण्णमादीहि बज्झाणं ॥ २३१७ ॥
२४४२. कयवरं^३-रेणुच्चारं, मुत्तं चिक्खल्ल-खाणु-कंटाणं ।
सद्दादमणुण्णाणं^४, करेज्ज तट्टाण अवहारं ॥ २३१८ ॥
२४४३. आवरिसीयण उवलंपणं च चुण्ण-कुसुमोवयारं च ।
सद्दादमणुण्णाणं, करेज्ज तट्टाण उवहारं ॥ २३१९ ॥
२४४४. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्धिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^५ ॥ २३२० ॥
२४४५. पक्खी-पसुमादीणं^६, सिंगादीएसु जो तु घेत्तूणं ।
उव्वीहे पव्वीहे^७, मेहुण्णट्टाए^८ आणादी ॥ २३२१ ॥ नि ५४७ ॥
२४४६. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्धिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^९ ॥ २३२२ ॥
२४४७. पक्खी-पसुमादीणं^{१०}, जो भिक्खू सोय कट्टुमादीणि ।
अणुपविसेउं^{११} चाले, मेहुण्णट्टाए आणादी ॥ २३२३ ॥ नि ५४८ ॥
२४४८. णवसोतो^{१२} खलु पुरिसो, सोया इक्कारसे^{१३} व इत्थीणं ।
मणुयगतीसू^{१४} एवं, तिरि-इत्थीणं तु भइयव्वा ॥ २३२४ ॥

१. सूत्र ८०, ८१ (नव ७/८१, ८२) ।

२. अब्भिं (दे) ।

३. बहुश्रुसिरदव्वसंकरो कयवरो (चू) ।

४. सद्दा अमं (दे) ।

५. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है ।
मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है ।

६. °दीणिं (भ), सूत्र ८२ (नव ७/८३) ।

७. पगरिसेण वहइ खिवति पव्विहति अहवा प्रतीपं विहं पविहं
मुंचतीत्यर्थः (चू) ।

८. मेहुण्णट्टा य (मु) ।

९. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता
है । मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है ।

१०. सूत्र ८३ (नव ७/८४) ।

११. °पविसेउं (भ) ।

१२. दो कण्णा, दो अच्छी, दो णासा, मुहं, अंगादानं,
अधिट्टाणं च एते नव पुरिसस्स (चू) ।

१३. इत्थीए ते चेव अण्णे दो थणा, एते एक्कारस (चू) ।

१४. °ईसुं (दे) ।

२४४०. जो भिक्षु (मैथुन के लिए) अपने शरीर अथवा निवास आदि के स्थान में मनोज्ञ पुद्गलों का उपहार—संपातन या अमनोज्ञ पुद्गलों का अपहार—निष्कासन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४४१. वमन, विरेचन आदि के द्वारा शरीर के आन्तरिक मलों—पित्त, कफ, श्लेष्म आदि का निष्कासन आभ्यन्तर (अन्तर्भूत) अमनोज्ञ पुद्गलों का अपहार है तथा तेल, उद्वर्तन, जल, पुष्प एवं सुगंधित चूर्ण आदि के द्वारा शरीर के बाह्य अमनोज्ञ पुद्गलों का अपहार एवं मनोज्ञ पुद्गलों का उपहार (प्राप्ति/संपातन) संभव है।

२४४२. जिस स्थान में भिक्षु को रहना, बैठना आदि हो, उस स्थान से कूड़ा, धूल, मल, मूत्र, कीचड़, स्थाणु कटे आदि को साफ करवाना, रुदन आदि के अशुभ पुद्गलों को निकालना—अमनोज्ञ पुद्गलों का अपहार है।

२४४३. भिक्षु के निवास आदि के स्थान में जल का आवर्षण (छिड़काव) गोबर, मिट्टी व पानी आदि से उपलेपन, सुगंधित चूर्ण का विकिरण, पुष्पोपचार तथा गीत आदि मनोज्ञ शब्दों का उत्पादन—मनोज्ञ पुद्गलों का उपहार है।

२४४४. प्रस्तुत सूत्रत्रयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी स्त्री (दासी) आदि के शरीर या निवास स्थान में मनोज्ञ पुद्गलों को उपहार और अमनोज्ञ पुद्गलों का अपहरण करना पड़े। ३. राजाज्ञा से बलात् ऐसा करने में नियुक्त हो। ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से उक्त अपवाद का सेवन करना हो तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतना का प्रयोग करे।

२४४५. जो भिक्षु पक्षी या पशुजाति के किसी प्राणी के सींग, पूंछ, सिर आदि अंगों को पकड़कर मैथुन के लिए ऊंचा उठाता है, उत्पाटन करता है, उन्हें पकड़कर छोड़ता है या संचालित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४४६. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु को द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी पक्षी या पशुजाति के सींग, पूंछ आदि अंगों का संचालन आदि करे। ३. राजाज्ञा से बलात् ऐसा करना पड़े। ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष आदि कारणों से उक्त अपवाद का सेवन करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस यतना का प्रयोग करे।

२४४७. जो भिक्षु मैथुन के लिए पक्षी, पशु आदि के स्रोत—मुख, आंख, गुदाद्वार आदि छिद्रों में काष्ठ, खपाची, शलाका आदि को अनुप्रविष्ट कर उन्हें संचालित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४४८. मनुष्यगति में पुरुष के नौ स्रोत होते हैं और स्त्री के ग्यारह। तिर्यच स्त्री में स्रोतों की भजना है।

२४४९. एक्कार-तेर-सत्तर, दुत्थणि चउ अट्ट एव भयणा तु।
णिव्वाघाते एते, वाघातेणं तु भइयव्वा ॥२३२५ ॥
२४५०. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा ॥२३२६ ॥
२४५१. पक्खी-पसुमादीणं^१, एसा 'इत्थि ति'^२ जो करिय^३ भिक्खू।
दंत-णहादीएसुं, मेहुण्णट्टाय आणादी ॥२३२७ ॥ नि ५४९ ॥
२४५२. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^४ ॥२३२८ ॥
२४५३. जे भिक्खू^५ असणादी, माउग्गामस्स मेहुणट्टाए।
देज्जा व^६ पडिच्छेज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥२३२९ ॥ नि ५५० ॥
२४५४. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^७ ॥२३३० ॥
२४५५. जे^८ भिक्खू वत्थादी, माउग्गामस्स मेहुणट्टाए।
देज्जा व पडिच्छेज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥२३३१ ॥ नि ५५१ ॥
२४५६. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वावि दुविध तेगिच्छे।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^९ ॥२३३२ ॥
२४५७. पंचविधं^{१०} सज्झायं, माउग्गामस्स मेहुणट्टाए।
जे भिक्खू कुज्जाही, सो पावति आणमादीणि ॥२३३३ ॥ नि ५५२ ॥

१. सूत्र ८४ (नव ७/८५)।

२. इत्थी य (दे)।

३. करिस (दे)।

४. २४५०, २४५२—इन दो गाथाओं का हस्तप्रतियों में केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथाएं हैं।

५. सूत्र ८५, ८६ (नव ७/८६, ८७)।

६. य (भ)।

७. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है।

८. सूत्र ८७, ८८ (नव ७/८८, ८९)।

९. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है। मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा मिलती है।

१०. सूत्र ८९, ९० (नव ७/९०, ९१)।

२४४९. जिन अजा आदि तिर्यञ्च स्त्रियों के दो स्तन होते हैं, उनके मनुष्यस्त्री के समान ग्यारह स्रोत होते हैं। चार स्तन वाली गाय आदि तिर्यचस्त्रियों के तेरह तथा आठ स्तन वाली शूकरी आदि के सत्रह स्रोत होते हैं। ये स्रोत निर्व्याघात की अपेक्षा से प्रज्ञप्त हैं। व्याघात में—एकाक्षी अजा के दस तथा त्रि-स्तना गौ के बारह भी होते हैं अतः इनकी स्रोत संख्या भजनीय है।

२४५०. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा की दृष्टि से शुक्र पुद्गलों के निर्घातन हेतु उक्त प्रयोग करे। ३. राजाज्ञा आदि से बलात् कोई उक्त कार्य करवाए। ४. अशिव अथवा ५. दुर्भिक्ष आदि में कदाचित् संयतप्रान्त लोगों से बचने हेतु उक्त कार्य करना पड़ता है ताकि ये 'साधु नहीं है'—ऐसा सोच वे लोग भिक्षु के साथ गलत व्यवहार न करे। अपवाद आसेवन में जहां जो यतना करणीय है, वहां भिक्षु यथाविधि यतना का प्रयोग करे।

२४५१. जो भिक्षु 'यह स्त्री है'—ऐसा सोचकर (ऐसी भावना से) पक्षी, पशु आदि का आलिंगन आदि करता है, मैथुन के लिए दांत, नख आदि से उनका छेदन, विच्छेदन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४५२. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई अनात्मवश भिक्षु उक्त आचरण करे। २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा की दृष्टि से शुक्र पुद्गलों के निर्घातन हेतु उक्त प्रयोग करे। ३. राजाज्ञा से उक्त अनासेव्य आचरण करना पड़े। ४. अशिव या ५. दुर्भिक्ष कारणों में निर्वाह हेतु उक्त अनाचरण करना पड़े तो भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस विधि का प्रयोग करे।

२४५३. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को अशन, पान आदि देता है अथवा उनसे ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४५४. प्रस्तुत सूत्रद्वयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा के लिए किसी दासी आदि को प्रलोभित करने के लिए उसे अशन आदि दे अथवा उससे ले। ३. राजाज्ञा से बलात् उक्त कार्य करवाया जाए। ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष में अनिर्वाह की स्थिति हो तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उस का प्रयोग करते हुए अपवाद का आसेवन करे।

२४५५. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को वस्त्र, पात्र आदि देता है अथवा उनसे ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४५६. प्रस्तुत सूत्रद्वयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु किसी स्त्री को वस्त्र आदि दे या उससे वस्त्र, पात्र आदि ले। ३. राजाज्ञा से बलात् उक्त कार्य करवाया जाए। ४. अशिव और ५. दुर्भिक्ष में अनिर्वाह के कारण ऐसा करना पड़े तो भिक्षु जहां जो यतना करणीय है, वहां उस विधि का प्रयोग करे।

२४५७. जो भिक्षु मैथुन के लिए मातृग्राम को पांच प्रकार का स्वाध्याय—वाचना, पृच्छना आदि प्रदान करता है अथवा उनसे ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४५८. बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा^१ ॥ २३३४ ॥
२४५९. आगारमिंदिणं^२, अण्णतरागेण मातुगामस्स ।
जे भिक्खू कुज्जाही^३, सो पावति आणमादीणि ॥ २३३५ ॥ नि ५५३ ॥
२४६०. काणच्छि रोमहरिसो^४, वेवहु सेओ वि दिट्ठमुहरागो^५ ।
णीसासजुता य कधा, वियंभितं पुरिसआयारा ॥ २३३६ ॥
२४६१. सकडक्खपेहणं बाल-चुंबणं कण्ण-णासकंडुयणं ।
छण्णंगदंसणं घट्टणाणि उवगूहणं बाले ॥ २३३७ ॥
२४६२. णीयल्लगदुच्चरिताणुकित्तणं तस्सुहीण य पसंसा ।
पायंगुट्टेण मही-विलेहणं^६ णिट्टुभणपुव्वं ॥ २३३८ ॥
२४६३. भूसण-विघट्टणाणि य, कुवियाणि सगव्विताणि य गयाणि ।
इति इत्थी-आगारा, पुरिसायारा य जे भणिता ॥ २३३९ ॥
२४६४. बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वावि दुविध तेगिच्छे ।
अभिओग-असिव-दुब्बिक्खमादिसू जा जहिं जतणा ॥ २३४० ॥
- सत्तमो उद्देशो सम्मत्तो**
२४६५. कहिता खलु आगारा, ते उ कहिं कतिविधा व विण्णया ।
आगंतागारादिसु, सविगारविहारमादीया ॥ २३४१ ॥
२४६६. आगंतागारे^७, आरामागार गिहकुलाऽवसहे ।
पुरिसित्थि^८ एगऽणेगे, चउक्कभयणा दुपक्खे वि ॥ २३४२ ॥ नि ५५४ ॥
२४६७. जा कामकहा सा^९ होतऽणारिया लोकिकी व उत्तरिया ।
णिट्टुर भल्लीकहणं, भागवतपदोसखामणया ॥ २३४३ ॥

१. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल संकेत मात्र मिलता है । ५. दिट्ठमहु^५ (क) ।

मुद्रित भाष्य में पूरी गाथा है । ६. विलिहणं (भ) ।

२. सूत्र ९१ (नव ७/९२) । ७. सूत्र १ (नव ८/१) ।

३. कुब्बेज्जा (दे) । ८. पुरिसित्थि (दे) ।

४. रोमाण हरिसो रोमहरिसो रोमंचेत्यर्थः (चू) । ९. सा उ (दे) ।

२४५८. प्रस्तुत सूत्रद्वयी के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. कोई आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु स्त्री को सूत्रार्थ दे या उससे वाचना ले। ३. राजाज्ञा से बलात् ऐसा करवाया जाए। ४. अशिव अथवा ५. दुर्भिक्ष में जीवननिर्वाह हेतु उसे ऐसा करना हो तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उसका विधिवत् प्रयोग करे।

२४५९. जो भिक्षु मैथुन की इच्छा से श्रोत्र आदि किसी इन्द्रिय के द्वारा कोई आकार करता है—संकेत आदि करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२४६०. स्त्री में अनुरक्त पुरुष के आकार हैं—काणाक्षि—आंख मारना, रोमांच, शरीर में हल्की कंपकंपी, पसीना आना, दृष्टिराग, मुखराग, निःश्वास युक्त बोलना, पुनः-पुनः स्त्रीकथा, जम्हाई लेना आदि।

२४६१-२४६३. कामुक स्त्री के आकार हैं—कटाक्ष पूर्वक देखना, बच्चे को चूमना, कान, नाक आदि खुजलाना, गुह्य अंगों को दिखाना, गुह्य अंगों का संचालन, बच्चे का उपगूहन, अपने ज्ञातिजनों के कुत्सित आचरण का कथन, उस (अनुरक्त पुरुष) के सुहृज्जनों की प्रशंसा, थूक या खखारपूर्वक पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदना, आभूषणों का विघटन (संचालन) कोपपूर्ण तथा गर्वपूर्ण गमन आदि तथा जो पुरुष के पूर्वप्रज्ञत आकार हैं, वे सब अनुरक्त स्त्री के आकार हैं।

२४६४. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. आत्मवश भिक्षु द्विविध मोहचिकित्सा हेतु विविध आकार करे। ३. राजाज्ञा से बलात् उसे ऐसा करना पड़े ४. अशिव अथवा ५. दुर्भिक्ष में निर्वाह हेतु उसे उक्त अनाचरण करना पड़े तो जहां जो यतना करणीय है, वहां उसका यथाविधि प्रयोग करे।

सातवां उद्देशक समाप्त

२४६५. सातवें उद्देशक के अन्तिम सूत्र (के भाष्य) में स्त्री और पुरुष के आकारों का कथन (निरूपण) हुआ है। वे कहां हो सकते हैं? यात्रीगृहों, आरामगृहों आदि में। इस प्रसंग में वे आकार कितने प्रकार के होते हैं—यह विज्ञेय है तथा उन यात्रीगृहों, आरामगृहों आदि में भिक्षु के विकारपूर्वक विहार, स्वाध्याय, अशन-पानादि का ग्रहण आदि प्रतिषिद्ध है—यह विवक्षित है।

२४६६. यात्रीगृह, आरामगृह, गृहपतिकुल एवं आश्रम—इन सभी स्थानों में पुरुष एवं स्त्री—इन दोनों पक्षों में एक व अनेक के भंग से चतुर्भंगी बन जाती है—१. एक भिक्षु, एक स्त्री के साथ, २. एक भिक्षु, अनेक स्त्रियों के साथ आदि।

२४६७. जो काम-कथा होती है, वह अनार्य आचरण है—आर्यजन हेतु अनाचरणीय है। वह लौकिक और लोकोत्तर—दो प्रकार की होती है। आक्रोश युक्त, असभ्य वचनों के साथ कही जाने वाली कथा निष्ठुर कथा है, जैसे—द्वारिका दहन से लेकर भल्ली घर की उत्पत्ति की कथा^१। साधु के मुंह से ऐसी अप्रिय बात को सुनकर भागवत (वैष्णव) धर्मानुयायी प्रद्विष्ट हो गया, पर यथार्थ ज्ञान होने पर उसने साधु से क्षमायाचना की।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं ४१।

२४६८. अवि 'मायरं पि'^१ सद्धिं, कहा तु एगाणियस्स^२ पडिसिद्धा ।
किं पुण अणारियादी, तरुणित्थीहिं सह गतस्स ॥ २३४४ ॥
२४६९. अण्णा वि^३ अप्पसत्था, थीसु कहा किमु अणारिय-असम्भा ।
चंक्रमण-झाय^४-भोयण, उच्चारेसुं तु सविसेसा ॥ २३४५ ॥
२४७०. भयणपदाण चतुण्हं, अण्णतरजुते उ संजते संते ।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवावि करेज्ज सज्झायं ॥ २३४६ ॥ नि ५५५ ॥
२४७१. असणादी^५ वाऽऽहारे, उच्चारादी य आचरेज्जाहि ।
णिट्टुरमसाधुजुत्तं, अण्णतरकहं च जो कहए ॥ २३४७ ॥ नि ५५६ ॥
२४७२. सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥ २३४८ ॥ नि ५५७ ॥
२४७३. बितियपदमणप्पज्जे, गेलण्णुवसग्ग-रोहगऽद्धाणे ।
संभम-भय-वासासु य, खंतिगमादी य^६ णिक्खमणे ॥ २३४९ ॥ नि ५५८ ॥
२४७४. उद्देसम्मि चउत्थे, गेलण्णे जो विधी समक्खातो ।
सो चेव य बितियपदे, गेलण्णे अट्टमुद्देसे ॥ २३५० ॥
२४७५. कुलवंसम्मि पहीणे, सस-भसगेहिं तु^७ होति आहरणं ।
सुकुमालिय-पव्वज्जा, सपच्चवाया य फासेणं ॥ २३५१ ॥ नि ५५९ ॥
२४७६. जितसत्तु-णरवरिंदस्स, अंगजा-सस-भसा य सुकुमाला ।
धम्मे जिणपण्णत्ते, कुमारगा चेव पव्वइता^८ ॥ २३५२ ॥
२४७७. तरुणाइण्णे णिच्चं, उवस्सए सेसिगाण रक्खट्टा ।
गणिणि 'गुरुणा उ कहणं'^९, पिहुवसए^{१०} हिंडती^{११} एगो ॥ २३५३ ॥

१. रम्मि (क) ।

२. एगाणियस्स (मु) ।

३. अविसद्दाओ सवेरग्गा (चू) ।

४. झाण (क) ।

५. णादिं (दे) ।

६. ण (दे) ।

७. च (बृभा ५२५४) ।

८. बृहत्कल्पभाष्य की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा' का संकेत है ।

९. बृभा ५२५५ ।

१०. गुरुभाउकं (बृभा ५२५६) ।

११. वीसुवस्सए (मु) ।

१२. हिंडए (मु) ।

२४६८. अकेले भिक्षु का माता के साथ धर्मकथा करना भी प्रतिषिद्ध है, तो अन्य तरुण स्त्रियों के साथ अनार्यकथाओं की तो बात ही क्या ?

२४६९. स्त्रियों के मध्य अन्य—वैराग्यपूर्ण धर्मकथा करना भी प्रशस्त नहीं तो अनार्य, असभ्य कथाओं की तो बात ही क्या ? केवल स्त्रियों के मध्य कथा करने में जो दोष संभव है, वे ही विशेष रूप से (कुछ अधिक मात्रा में) उनके साथ चंद्रमण (गमनागमन), स्वाध्याय, भोजन का आदान-प्रदान तथा उच्चार आदि में संभव हैं अतः भिक्षु के लिए इन सबका वर्जन किया गया है।

२४७०-२४७२. पूर्वोक्त चार भंगों में से किसी भी भंग से युक्त जो संयत (भिक्षु) विहार करता है, स्वाध्याय करता है, अशन, पान आदि का आहार करता है, उच्चार आदि का आचरण—विसर्जन^१ करता है, निष्ठुर एवं असाधुजनोचित किसी कथा का कथन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं दो प्रकार की विराधना को प्राप्त होता है अतः भिक्षु इन पदों का वर्जन करे।

२४७३. अपवाद में भिक्षु निम्नांकित कारण होने पर पूर्वोक्त चारों विकल्पों में से किसी का प्रयोग कर सकता है—१. अनपध्यात (अनात्मवश) २. ग्लान्य ३. उपसर्ग ४. नगररोध ५. अटवी ६. संभ्रम ७. भय और ८. वर्षा।^२ कदाचित् कोई वृद्धा आदि स्त्री अशिव आदि के कारण एकाकी रहे हुए भिक्षु के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो वह प्रथम विकल्प—‘अकेला भिक्षु अकेली स्त्री’ के साथ विहार आदि संभव है।^३

२४७४. ग्लान्य द्वार के विषय में जो विधि चौथे उद्देशक में प्रज्ञप्त हैं, वही विधि आठवें उद्देशक में ग्लान्य नामक अपवाद पद में ज्ञातव्य है।^४

२४७५. द्वितीय ‘उपसर्ग’ द्वार में शशक और भसक—दो राजकुमार मुनियों का उदाहरण है। वाराणसी नगरी में राजा जितशत्रु के दो पुत्र—शशक और भसक तथा एक पुत्री सुकुमालिका थी। अशिव के कारण उनका सारा कुल वंश नष्ट हो गया। राजकुमारों और राजकुमारी ने दीक्षा ले ली। अपने अत्यधिक रूप एवं सुकोमल स्पर्श के कारण वह सुकुमालिका साध्वी अन्य साध्वियों के संयम में बाधक बनने लगी। (इस गाथा के व्याख्यान हेतु भाष्यकार अग्रिम पांच गाथाएं लिखते हैं।)

२४७६, २४७७. राजा जितशत्रु के शशक और भसक—दो पुत्र तथा सुकुमालिका नाम की एक पुत्री थी। कुमारावस्था में ही वे तीनों जिनप्रज्ञप्त धर्म में दीक्षित हो गए। साध्वी सुकुमालिका के रूप से आकृष्ट होकर बहुत से युवक उसके पीछे-पीछे उपाश्रय में आ जाते। तरुणों से आकीर्ण उपाश्रय में शेष साध्वियों की रक्षा दुष्कर हो गई। प्रवर्तिनी ने आचार्य से समस्या का निवेदन किया। आचार्य ने शशक एवं भसक को साध्वी सुकुमालिका के संरक्षण का दायित्व सौंपा। वे तीनों पृथक् उपाश्रय में रहने लगे। जब एक भाई भिक्षा आदि के लिए बाहर जाता तो दूसरा बहिन की रक्षा करता। जो तरुण उपाश्रय में जाने का प्रयत्न करते, दोनों भाई उनको हत-विहत कर उनका निवारण करते।

१. निभा २ की चू. पृ. ३०१—आयरिता वोसिरिता।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. २४७५-२५३३।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. २५३४-२५४९।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. १८६५-१८८६।

२४७८. हतविहतविप्परद्धे^१, वण्हिकुमारेहि तुरुमिणीणगरे^२।
किं काहिति^३ हिंडंतो, पच्छा ससगो व भसगो^४ वा ॥ २३५४ ॥
२४७९. चक्की वीसतिभागं, सव्वे वि य केसवाओ दसभागं।
मंडलिया छब्भागं, आयरिया अद्धमद्धेणं^५ ॥ २३५५ ॥
२४८०. भायऽणुकंपपरिण्णा, समोहतं^६ एगु भंडगं बितिओ।
आसत्थवणियगहणं, भाउग-सारिच्छ^७ दिक्खा य ॥ २३५६ ॥
२४८१. सेणादी गम्मिहिती, खेतुप्पादं इमं वियाणित्ता।
असिवे ओमोदरिए, भयचक्काऽणिग्गमे गुरुगा ॥ २३५७ ॥ नि ५६० ॥
२४८२. आणादिणो^८ य दोसा, विराधणा होति संजमायाए।
असिवादिम्मि परूवित, अधिगारो होति सेणाए ॥ २३५८ ॥ नि ५६१ ॥
२४८३. अतिसेसं-देवतं^९-णिमित्तमादि अवितह पवित्ति सोऊणं।
णिग्गमण होति पुव्वं, अण्णाते रुद्धे^{१०} वोच्छिण्णे ॥ २३५९ ॥
२४८४. सोच्चा व सोवसग्गं, खेत्तं मोत्तव्वऽणागतं^{११} चेव।
जइ ण मुयंति सगाले, लग्गति गुरुगे सवित्थारे ॥ २३६० ॥
२४८५. गेलण्ण-रोह-असिवे, रायद्दुट्टे भए व ओमम्मि।
उवधी-सरीरतेणग, णाते वि ण होति णिग्गमणं ॥ २३६१ ॥
२४८६. एतेहि य अण्णेहि य, न णिग्गता कारणेहिं बहुगेहिं।
अच्छंतें होंति जतणा, संवट्टे णगररोधे य ॥ २३६२ ॥

१. हत-महितं (भ, बृभा ५२५८)।

२. °रुगिणी° (दे)।

३. काही (क)।

४. भिसओ (मु)।

५. भ प्रति में यह गाथा नहीं मिलती है। बृभा (५२५७) में

यह गाथा इस प्रकार है—

इक्खागा दसभागं, सव्वे वि य वण्हिणो उ छब्भागं।

अम्हं पुण आयरिया, अद्धंअद्धेण विभयंति ॥

६. °हणं (मु)।

७. सारिक्ख (बृभा ५२५९)।

८. °दिया (मु)।

९. अवि° (मु)।

१०. देवया (क)।

११. रुद्धे व (दे)।

१२. °व्वमणा° (मु, दे)।

२४७८, २४७९. वृष्णिकुमारों—शशक, भसक के द्वारा हत विहत होकर तुरुमिणी नगरी के बहुत से नागरिक उनके विरुद्ध हो गए। फलतः गोचरी के लिए पूरे नगर में घूमने पर भी तीनों के लिए पर्याप्त आहार नहीं मिलता। प्रश्न होता है कि उन दोनों ने सुकुमालिका की रक्षा क्यों की? आचार्य कहते हैं—चक्रवर्ती यदि अपनी प्रजा का सम्यक् पालन नहीं करते तो उन्हें उस पाप का बीसवां भाग और पालन करते हैं तो पुण्य का बीसवां भाग प्राप्त होता है। अपनी प्रजा का सम्यक् पालन करने और न करने पर क्रमशः वासुदेव उस पुण्य और पाप का दसवां भाग तथा मांडलिक राजा उसका छठा भाग प्राप्त करते हैं। आचार्य अपने साधु-साध्वियों की संयम और आत्मविराधना में रक्षा न कर सकें तो उन्हें उस पाप का आधा और रक्षा करने पर पुण्य का आधा भाग प्राप्त होता है, इसीलिए उन्होंने उसकी रक्षा की।^१

२४८०. भाइयों पर अनुकम्पित होकर सुकुमालिका ने अनशन स्वीकार कर लिया। मूर्च्छित होने पर भाइयों ने सोचा कि यह कालधर्म को प्राप्त हो गई। अतः एक ने उसे उठाया और दूसरे ने सारे उपकरण ग्रहण किए। भाइयों ने मृत मानकर उसका परिष्ठापन कर दिया। साध्वी सुकुमालिका कुछ आश्वस्त हुई। सार्थ का एक वणिक् उसको अपने साथ ले गया। उसने उसे अपनी पत्नी बना लिया। कुछ समय बाद दोनों भाई उसके घर भिक्षार्थ गए। मुनियों ने उसे देखकर कहा—हमारी बहिन एकदम तुम्हारे जैसी ही थी। सुकुमालिका ने पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली।^२

२४८१, २४८२. यहां सेना आने वाली है अथवा इस क्षेत्र में मासकल्प आदि से पूर्व ही सेना के घेराव आदि के व्याघात की उत्पत्ति होगी—यह जानकर भी जो उस क्षेत्र से निर्गमन नहीं करता। अथवा वर्षावास योग्य क्षेत्र में अशिव, अवमौदरिका, म्लेच्छ आदि का भय, शत्रु सेना का आक्रमण इत्यादि व्याघात होंगे—यह जानकर भी वहां से निर्गमन नहीं करता, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है, संयमविराधना एवं आत्मविराधना होती है। प्रस्तुत प्रसंग में अशिव, अवम आदि की प्ररूपणा के पश्चात् 'सेना' पद का अधिकार है—ऐसा ज्ञातव्य है।

२४८३. अनागत अशिव आदि को जानने के चार मुख्य साधन हैं—१. अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान २. देवता का वचन ३. अविस्वादी निमित्तज्ञान और ४. अविषय भविष्यवक्ता। इनसे अशिव आदि को जानकर पहले उस क्षेत्र से निर्गमन किया जा सकता है। इनके अभाव में अशिव आदि का ज्ञान न होने से, नगररोध अथवा मार्गों के व्यवच्छेद के कारण उस क्षेत्र से निर्गमन न कर सके तो भिक्षु का दोष नहीं।

२४८४. 'यह क्षेत्र सोपसर्ग है'—ऐसा सुनकर उपसर्ग आने से पूर्व (अनागत) ही जो भिक्षु समय रहते (सगाले) उस क्षेत्र को नहीं छोड़ता उसको विस्तारपूर्वक^३ चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४८५. आगामी उपसर्ग का ज्ञान होने पर भी इन कारणों से निर्गमन नहीं होता—१. भिक्षु स्वयं ग्लान हो या ग्लान की सेवा से प्रतिबद्ध हो। २. नगररोध ३. उस क्षेत्र से बाहर अशिव (महामारी) का प्रकोप। क्षेत्र से बाहर ४. राजद्वेष ५. भय ६. अवम (दुर्भिक्ष) ७. उपधिस्तेन और ८. शरीरस्तेन होने से निर्गमन संभव न हो।

२४८६. उपर्युक्त अथवा अन्य बहुत से कारणों से भिक्षु का संवर्त^४ या नगररोध से निर्गमन न हो सके तथा उसे वहां रहना हो तो यह यतना करणीय है—

१. बृहत्कल्पभाष्य में यही बात केशव और मांडलिक के स्थान पर इक्ष्वाकुवंशीय एवं हरिवंशवंशीय राजाओं के नाम से दी गई है, चक्रवर्ती का उल्लेख नहीं है। तुलना हेतु द्रष्टव्य बृहत्कल्पभाष्य भा. ५ गा. ५२५७ वृत्ति पृ. १३९८।

२. कथा के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ४२।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य बृहत्कल्पभाष्य गा. १८६९।

४. वह स्थान या दुर्ग, जहां बहुत गांवों के लोग एकत्रित होकर रह रहे हों।

२४८७. संवट्टम्मि तु जतणा, भिक्खे भत्तट्ट-वसहि-थंडिल्ले ।
तम्मि भए पत्तम्मी, अवाउडा एगतो ठंति ॥२३६३॥ नि ५६२ ॥
२४८८. वइयासु व पल्लीसु व, भिक्खं काउं वसंति संवट्टे ।
सव्वम्मि रज्जखोभे, तत्थेव य जाइ थंडिल्ले ॥२३६४॥
२४८९. पूयलिय सत्तु ओदण^१, गहणं पडलोवरिं पगासमुहे ।
सुक्खादीण अलंभे, अजवंते वा विलक्खणता ॥२३६५॥
२४९०. पच्छण्णासति वहिता, अह सभयं तेण चिलिमिणी अंतो^२ ।
'असती तध'^३ सभयम्मि व, धरेंति अद्धेतरे भुंजे ॥२३६६॥
२४९१. काले अपहुप्पंते, भए व सत्थे व गंतुकामम्मि ।
कप्पुवरि भायणाइं, काउं एक्को उ परिवेसे ॥२३६७॥
२४९२. पत्तेयचड्डुगासति, सज्झिलगा एगतो गुरू वीसुं ।
ओमेण कप्पकरणं, अण्णो गुरू णेक्कगो वावि ॥२३६८॥
२४९३. भाणस्स कप्पकरणं, दड्डेल्लग-मुत्त-कडुयुरुक्खेसु ।
तस्सऽसति कमढ कप्पर, काउमजीवे पदेसे वा^४ ॥२३६९॥
२४९४. गोणादी वाघाते, अलब्भमाणे व बाहि वसमाणा ।
वातदिसि सावयभए, सयं पडालिं पकुव्वंति ॥२३७०॥
२४९५. पढमासति सेसाण व, मत्तग वोसिच्च रयणिएँ पभाए ।
थंडिल्लनिवेसे वा, गतेसु सभाए पदेसेसु^५ ॥२३७१॥

१. °दणं (दे) ।

२. अंतो (भ) ।

३. असती य व (मु) ।

४. दे प्रति का ५४ वां पत्र लुप्त होने से गा. २४९३ से २५१३ तक की गाथाओं के पाठान्तर नहीं लिए गए हैं ।

५. °सेसु (भ) ।

२४८७. संवर्त में भिक्षु के लिए भिक्षा, भक्तार्थ, वसति एवं स्थंडिल विषयक यतना करणीय है तथा वहां रहते हुए कदाचित् शत्रुसेना, म्लेच्छ, डाकू का डर पैदा हो जाए तो भिक्षु अपने सारे उपकरणों को गुप्त स्थान में रखकर स्वयं अप्रावृत होकर एक तरफ कायोत्सर्ग कर लेते हैं।

२४८८. संवर्त में सचित्त पृथ्वीकाय हो तो भिक्षु पहले से बसी हुई ब्रजिकाओं तथा पल्लियों में भिक्षार्थ जाए। वहां गोचरी करके स्थंडिल में आहार करले तथा संवर्त में आकर रह जाए। यदि सर्वत्र राज्यक्षोभ हो तो वहीं संवर्त में अचित्त स्थंडिलों में भिक्षा ग्रहण करे।

२४८९. वे भिक्षा में पूपलिका, सत्तू और ओदन जो पटल के ऊपर हैं, उसे प्रकाशमुख वाले पात्र में ग्रहण करते हैं। यदि शुष्क की प्राप्ति न हो अथवा साधुओं के लिए पर्याप्त मात्रा में शुष्क ओदन आदि न मिले तो आर्द्रखाद्य वस्तुएं लेते समय उसके लगे हुए खरंटक को सम्यक् प्रकार से देखते हैं।

२४९०. भिक्षु संवर्त के बाहर प्रच्छन्न स्थान में भक्तार्थ करे—आहार ग्रहण करे। यदि बाहर प्रच्छन्न स्थान नहीं हो अथवा कोई भय हो तो भिक्षु संवर्त के भीतर ही चिलिमिली लगाकर आहार करे। यदि चिलिमिली न हो अथवा भय के कारण उसे भी लगाना संभव न हो तो आधे अर्थात् कुछ पात्रों को रख दे तथा शेष से कमढक आदि में लेकर आहार करे।

२४९१. यदि बारी-बारी आहार करने जितना समय न हो अथवा भय के कारण शीघ्र आहार सम्पन्न करना हो या सार्थ जाने वाला हो तो सारे पात्रों को कप्प—कंबल आदि के ऊपर रख कर या ढंक कर सब भिक्षु एक साथ ही कमढकों में आहार करे, एक व्यक्ति सबको परोसे।

२४९२. यदि सबको मिल सके, इतने चड्डुक (काष्ठपात्र) न हों तो जो साधर्मिक प्रेमपूर्ण साथ में आहार करें, वे साथ में कर लें। गुरु पृथक् आहार करें। आहार के बाद थोड़े-थोड़े जल से पात्रों का प्रक्षालन कर लें तथा गुरु के निश्राय के पात्र का अलग प्रक्षालन कर लें, साथ में न मिलाए।

२४९३. आहार के बाद भिक्षु दग्धभूमि, गाय आदि पशुओं के मूत्र आदि से प्रासुक भूमि या कटुकरस वाले वृक्षों के आसपास की भूमि पर उन पात्रों का कल्प (सफाई) करे। यदि उपर्युक्त या इसी प्रकार के अन्य अचित्त स्थंडिल का अभाव हो तो कमढक या घड़े के कपाल में कल्प करके उस पानी को अन्यत्र अजीव (अचित्त) प्रदेश पर परिष्ठापित कर दे।

२४९४. भिक्षु संवर्त के भीतर निराबाध प्रदेश में रहे। यदि अन्दर ऐसा स्थान न हो अथवा गाय, भैंस आदि का व्याघात हो तो संवर्त के बाहर रहे। यदि संवर्त के बाहर श्वापद भय या आक्रमण आदि का भय हो तो किसी पूर्वनिष्पन्न पडाली—छोटी कुटिया या चटाई आदि से छाई हुई कच्ची छत में रहे। वहां पर भी वातानुकूलित स्थान का वर्जन करे। यदि पूर्वनिष्पन्न पडाली न हो तो प्रासुक चटाई आदि से स्वयं उसका निर्माण करे।

२४९५. यदि प्रथम स्थंडिल^१ (अनापात असंलोक स्थंडिल) न मिले तो भिक्षु शेष स्थंडिलों (आपात संलोक आदि तीनों) में भी मलमूत्र का परिष्ठापन कर सकता है। यदि स्थंडिल सर्वथा न हो तो दिन में ऐसे ही रहे, रात्रि में मात्रक में विसर्जन कर सुबह स्थंडिल में ले जाकर परिष्ठापन करे। यदि ऐसा भी कोई स्थंडिल न मिले तो संवर्त के चले जाने पर उसी सन्निवेश में परिष्ठापन करे। यदि पृष्ठतः भय हो तो धर्माधर्माकाश आदि अजीव प्रदेशों पर विसर्जन करे।

१. स्थंडिल की चतुर्भंगी हेतु द्रष्टव्य उत्तर. २४/१६।

२४९६. जिणलिंगमप्पडिहतं, अवाउडा वावि दट्टु वज्जेति ।
थंभणि-मोहणिकरणं, कतजोगो^१ वा भवे करणं ॥२३७२ ॥
२४९७. संवट्टणिग्गताणं, णियट्टणा अद्धरोधजतणा य ।
भत्तट्टण थंडिल्ले, सरीरभिकखे विगिंचणता ॥२३७३ ॥ नि ५६३ ॥
२४९८. हाणी जा एगट्टा, दो दारा कडग चिलिमिणी वसभा ।
तं चेव एगदारे, मत्तगसुवणं^२ च जतणाए ॥२३७४ ॥
२४९९. रोहे उ अट्टमासे, वासासु सभूमिए णिवा जंति ।
रुद्धे उ तेण णगरे, हावंति ण मासकप्पं तु ॥२३७५ ॥
२५००. भिक्खस्स व वसधीय व, असती सत्तेव चतुर जा एक्का ।
लंभालंभे एक्केक्कगस्सऽणेगा उ संजोगा ॥२३७६ ॥
२५०१. एगत्थ वसंताणं, पिहं दुवारासती सयंकरणं ।
मज्झेण कडगचिलिमिलि, तेसुभओ थेर-खुड्डीओ ॥२३७७ ॥
२५०२. दारदुगस्स तु असती, मज्झे दारस्स कडगपोत्ती वा ।
णिकखम-पवेसवेला, ससद्दपिंडेण सज्झाओ ॥२३७८ ॥
२५०३. अंतम्मि व मज्झम्मि व, तरुणी तरुणा तु सव्वबाहिरओ ।
मज्झे मज्झिमथेरी, खुड्ढुग-‘खुड्डी य थेरा य’^३ ॥२३७९ ॥
२५०४. पत्तेय समण दिक्खित, पुरिसा इत्थी य सव्व एगट्टा ।
पच्छण्णकडगचिलिमिलि^४, मज्झे वसभा य मत्तेणं ॥२३८० ॥

१. °जोगे (भ) ।

२. °सुधोवणं (मु) ।

३. थेरा य खुड्डी य (मु) ।

४. °मिणि (पा) ।

२४९६. शत्रु सेना आदि का भय उपस्थित होने पर भिक्षु अपने सारे उपकरणों को गुप्त स्थान में रखकर अप्रावृत खड़े हो जाएं, ताकि उन्हें अप्रतिहत जिनप्रतिमा समझकर अथवा उन्हें नग्न देखकर छोड़ दें। यदि वे तब भी उपद्रव करें तो भिक्षु स्तंभन, मोहन (मूर्च्छा) आदि के लिए विद्या, मंत्र आदि का प्रयोग करें। मंत्रविद् भिक्षु न हो तो कृतकरण भिक्षु गच्छ की संरक्षा के लिए करण—शिक्षण^१ (अनुशिष्टि) का प्रयोग करें।

२४९७. मासकल्प वाले क्षेत्र से आकर संवर्त में रहने वाले मुनि प्रयोजनवश नगर के प्रति निवर्तना करते हैं अथवा रोध के कारण आठमास तक नगर से निवर्तन न हो तो यतनापूर्वक वास करे। वह यतना वसति, आहार, स्थंडिल विचिंगणा—परिष्ठापन आदि विषयक होती है।

२४९८. रोध के समय आठ वसतियों की प्रत्युपेक्षा कर उनमें ऋतुबद्ध काल के आठ मासों में एक-एक मास रहे। आठ वसतियां प्राप्त न हो तो सात, छह इस प्रकार हानि होते-होते साधु-साध्वियों को एक वसति में रहना हो तो उसके दो द्वार होने चाहिए। ऐसी स्थिति में अपान्तराल में कटक या चिलिमिलिका बांधनी चाहिए। जहां एक ही द्वार वाली वसति हो तो उसमें भी यही विधि है। पृथक् कायिकीभूमि के अभाव में मात्रक का प्रयोग करे। यतनापूर्वक पात्र धोएं।

२४९९. रोध के आठ मास पूर्ण होने पर वर्षावास में नृप अपनी भूमि में चले जाते हैं। साधु रोध में रहते हुए भी परबल रुद्ध नगर में मासकल्प की हानि नहीं करते।

२५००. आठ वसतियां और आठ भिक्षाचर्या न होने पर सात, चार यावत्, एक वसति और एक भिक्षाचर्या की प्रत्युपेक्षा करे। एक-एक के लाभ-अलाभ में संयोगतः अनेक विकल्प होते हैं।

२५०१. साधु-साध्वियों के लिए यदि पृथक्-पृथक् उपाश्रय न हों तो पृथक् द्वार वाली वसति में रहे। यदि अलग द्वार न हों तो दीवार को छेदकर द्वार स्वयं बना ले। यदि घर के बीच दीवार का छेदन न हो सके तो कटक या चिलिमिली लगा ले। चिलिमिली के पास एक तरफ स्थविर साधु तथा दूसरी तरफ छोटी साध्वियां बैठें।

२५०२. जहां साधु-साध्वियों को एक साथ रहना हो और दो द्वार न हों, वहां द्वार के मध्यभाग में कटक या वस्त्र की चिलिमिली लगाकर द्वार के दो भाग किए जा सकते हैं, जिससे आधे से साधु और अन्य आधे भाग से साध्वियां आवागमन कर सके। यदि द्वार संकड़ा होने से उसके दो भाग न हों तो समूह के रूप में परस्पर निष्क्रमण, प्रवेश की बेला का वर्जन करें, सशब्द निष्क्रमण करें, सामूहिक स्वाध्याय करें।

२५०३. चिलिमिली से द्विधाकृत उपाश्रय में तरुणी साध्वियों को अंत में और अपाय की संभावना हो तो मध्य में रखा जाता है। साधुओं की तरफ तरुण साधुओं को सर्वबाह्य अंत में रखा जाता है। साध्वियों की तरफ छोटी साध्वियों के बाद मध्यभाग में क्रमशः स्थविरा और मध्यवय वाली साध्वियां रहती हैं तथा साधुओं की तरफ स्थविरों के बाद छोटे तथा उनके आगे मध्यमवय वाले साधु रहते हैं।

२५०४. 'प्रत्येक श्रमण दीक्षित' से यहां तात्पर्य है—जहां सारे पाषण्डी पुरुषों का एक उपाश्रय हो अथवा सारी पाषण्डी स्त्रियों का एक उपाश्रय हो अथवा सारे पाषंडी स्त्रीपुरुषों का एक उपाश्रय हो। ऐसी स्थिति में यतना यह है—मात्रक आदि लेने का कार्य प्रच्छन्न प्रदेश में करे। यदि प्रच्छन्न प्रदेश न हो तो वृषभभिक्षु मध्यभाग में कटक चिलिमिली लगा दे। जहां कायिकी भूमि में गृहस्थ आते हों वहां वृषभसाधु ही दिन और रात्रि में मात्रक आदि का परिष्ठापन करे। पाषण्डीस्त्रियों के मध्य साध्वियों के लिए भी यही यतना है।^२

१. बृभा. ४८०९ की वृत्ति—करण शिक्षण।

२. जहां एक द्वार वाले उपाश्रय में अनेक साधु-साध्वी साथ रहते हैं, बाहर कोई प्रत्युपाय हो तो वहां पर तरुणी साध्वियां मात्रक में कायिकी का विसर्जन कर, उसे प्रौढवय वाली साध्वियों को देती हैं। वे उसे स्थविरा साध्वियों को, स्थविरा उसे छोटी साध्वियों को तथा वे उसे वृषभसाधुओं को देती हैं, वृषभसाधु उसका परिष्ठापन करते हैं।

२५०५. 'पच्छण्ण असति'^१ णिण्हग, बोडियभिकखू असोय-सोए य ।
पउरदव-चडुगादी^२, गरहा य सअंतरं^३ एक्को ॥२३८१॥
२५०६. पासंडीपुरिसाणं, पासंडित्थीण वावि पत्तेगे ।
पासंडित्थि पुमाणं, व एगतो होतिमा जतणा ॥२३८२॥
२५०७. जे जहिं^४ असोयवादी, साहम्मं वावि जत्थ तहिं वासो ।
णिहुता य जुद्धकाले, ण वुग्गहो णेव सज्झाओ ॥२३८३॥
२५०८. तं चेव पुव्वभणितं, पत्तेगं दिस्स 'मत्त कुरुकूयं'^५ ।
थंडिल्ल-सुक्ख-हरिते, पवायपासे पदेसे वा ॥२३८४॥
२५०९. पढमासति अमणुण्णेताराण गिहियाण वावि आलोए ।
पत्तेय मत्त कुरुकूय, दवं व पउरं गिहत्थेसुं^६ ॥२३८५॥
२५१०. तेण परं^७ गिहत्थाणं, असोयवादीण गच्छ आवायं ।
इत्थी-णपुंसगेसु वि, परम्महो कुरुकूया सेव ॥२३८६॥
२५११. पच्छण्णपुव्वभणिते, विदिण्ण थंडिल्ल सुक्ख हरिते वा ।
अगड-वरंडग-दीहिय, जलणे पासे य देसेसु ॥२३८७॥
२५१२. अण्णाते परलिंगं^८, णाउवओगद्ध मा उ मिच्छत्तं ।
णाते उडुहाहो वा, अयसो पत्थारदोसा वा ॥२३८८॥
२५१३. ण विं^९ कोइ किंचि पुच्छति, णित्तमणितं च बाहि अंतो वा ।
आसंकित पडिसेहो, गमणे आणादिणो दोसा ॥२३८९॥ नि ५६४॥

१. ण्णासति (पा) ।

२. चडुगं-कमढगं (चू) ।

३. असंतरं (भ) ।

४. जध (भ) ।

५. माणि कुडुगा य (भ, पा), कुरुगा य (पा) ।

६. गिहिं (भ) ।

७. परि (भ) ।

८. लिंगे (मु) ।

९. व (भ) ।

२५०५. प्रच्छन्न स्थान तथा चिलिमिली—दोनों ही न हों तो भिक्षु निहवों के साथ रहे, वे न मिलें तो क्रमशः बोटिक (जैन सम्प्रदाय विशेष), जैनेतर भिक्षुओं, अशौचवादियों और शौचवादियों के मध्य रहे। वे लोग उन भिक्षुओं से गर्हा न करें, इसलिए आचमन आदि क्रियाएं प्रचुर जल से करे, आहार चड्डुकों (काष्ठपात्री) में करे। आचमन तथा पात्र प्रक्षालन आदि के समय एक भिक्षु को बीच में खड़ा कर दे।

२५०६. 'पत्तेय समणा दिक्खिय'—की व्याख्या दो प्रकार से संभव है—१. पाषण्डी पुरुष सारे एक स्थान पर रहें तथा पाषण्डी स्त्रियां एक स्थान में अलग रहें। २. पाषण्डी स्त्री और पुरुषों सबका एकत्र अवस्थान हो—इस विषय में यतना यह (गा. २५०५ में प्रज्ञप्त) है।

२५०७. युद्धकाल में भिक्षु जहां अशौचवादी निहव, बोटिक आदि साधर्मिक हों, वहां रहे। वे उस समय निर्भूत (निर्व्यापार)—शान्तभाव से रहें। स्वपक्ष या परपक्ष के साथ व्युद्ग्रह न करें और न स्वाध्याय करें।

२५०८. सब पाषण्डियों के साथ रहते हुए भिक्षु उत्सर्ग हेतु पूर्वोक्त—अनापात असंलोक स्थंडिल में जाए। शौचक्रिया हेतु अमत्र का प्रयोग करे। यदि बाहर स्थंडिल न मिले तो उपाश्रय के भीतर अनुज्ञात स्थंडिल में विसर्जन करे। यदि सूखा स्थंडिल न मिले तो हरियाली युक्त स्थंडिल पर विसर्जन करे। यदि प्रवात प्रदेश के पार्श्वभाग में, नीचे कोई भी प्रासुक स्थंडिल न मिले तो धर्म, अधर्म आदि प्रदेशों पर विसर्जन करे।

२५०९. यदि अनापात असंलोक स्थंडिल न मिले तो आपात असंलोक स्थंडिल में विसर्जन किया जाए। उसमें भी सर्वप्रथम असमनोज्ञ भिक्षुओं के आवागमन मार्ग में, यदि वह न मिले तो क्रमशः पार्श्वस्थ आदि तथा अन्त में गृहस्थों के आपात स्थान में विसर्जन किया जाए। इनमें भी पहले अशौचवादियों, उसके अभाव में शौचवादियों के आपातस्थान का उपयोग किया जाए। इन स्थानों में विसर्जन करते समय प्रत्येक भिक्षु अपने अमत्र का प्रयोग करे तथा गृहस्थों के समक्ष शौचक्रिया करनी हो तो प्रचुर जल का भी प्रयोग करे।

२५१०. तृतीय भंग में अन्तिम है—अशौचवादी एवं शौचवादी गृहस्थों के आपात स्थान में विसर्जन। इसके पश्चात् द्वितीय भंग—अनापात संलोक स्थंडिल का उपयोग होता है। स्त्री एवं नपुंसक के संलोक स्थान में विसर्जन करे तो शौचक्रिया पराङ्मुख होकर करे। यदि वह भी न मिले तो स्त्री एवं नपुंसक के आपात स्थान में भी विसर्जन हेतु जा सकता है।

२५११. नगररोध में रहते हुए यदि किसी भिक्षु के मृत शरीर का परिष्ठापन करना हो तो दक्षिण दिशा में अनापात असंलोक स्थंडिल में प्रच्छन्न स्थान पर विसर्जित करे और उसके रजोहरण आदि उपकरण उसके पास रख दे। यदि ऐसा स्थान न हो तो अन्य अनुज्ञात स्थंडिल में उसका परिष्ठापन किया जाए। यदि वहां हरितकाय हो तो सूखने के बाद या अधसूखे घास पर परिष्ठापन किया जाए। यदि ऐसा स्थंडिल भी न हो तो क्रमशः किसी अनुज्ञात कूप, बरामदे, बहती हुई दीर्घिका या जलती हुई अग्नि में भी उसका परिष्ठापन किया जाए। इसमें से किसी भी विकल्प की उपलब्धि न होने पर—ये धर्म, अधर्म आदि के अजीव प्रदेश हैं—ऐसा सोचकर वहां उसका परिष्ठापन करे।

२५१२. यदि वह मृत भिक्षु अज्ञात है—जनविश्रुत नहीं हैं तो उसका परलिंग भी किया जा सकता है किन्तु वह लिंगापहार उसके उपयोगकाल (अन्तर्मुहूर्त्त) के बाद करना चाहिए ताकि वह मिथ्यात्व को प्राप्त न हो। जो जनविश्रुत है, उसका परलिंग करने पर लोगों में उड्डाह, शासन का अपयश तथा प्रस्तारदोष की संभावना रहती है अतः उसको स्वलिंग—साधुवेश में ही पूर्वोक्त विधि से विसर्जित करना चाहिए।

२५१३. बाहर और अन्दर आते जाते हुए जहां कोई कुछ नहीं पूछता, नगररोध के समय भिक्षु वैसे स्थान में रहे। जहां भिक्षु पर भी आशंका हो—कौन है? क्यों आया है? कहां से आया है, वहां भिक्षु को नहीं जाना चाहिए। यदि वह जाता है तो आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२५१४. पउरऽण्णपाणगमणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाता ।
सो य इतरे य चत्ता, कुल-गण-संघे य पत्थारो ॥२३९० ॥
२५१५. अंतो अलब्भमाणे एसणमादीसु होति जइतव्वं ।
जावंतिए विसोधी, अमच्चमादी अलाभे वा ॥२३९१ ॥
२५१६. आपुच्छित आरक्खिय^१, सेट्ठि^२ सेणावति^३ऽमच्च-रायाणं ।
णिग्गमण-दिट्ठरूवे, भासा वि^४ तहिं असावज्जा ॥२३९२ ॥
२५१७. मा णीह सयं दाहं, संकाए वा ण देंति णिग्गंतुं ।
दाणम्मि होति गहणं, अणुसट्ठादीणि^५ पडिसेधे ॥२३९३ ॥
२५१८. बहिया वि गमेऊणं, आरक्खिगमादिणो ततो णिंति ।
हित-णट्ठ-चारियादी^६, एवं दोसा जढा होति ॥२३९४ ॥
२५१९. पियधम्मे दढधम्मे, संबंधऽविकारिणो^७ करणदक्खे^८ ।
पडिवत्तीय य कुसले, तब्भूते^९ पेसते बहिया ॥२३९५ ॥
२५२०. केवइय आस-हत्थी, जोधा धण्णं च केत्तियं णगरे ।
परितंत-अपरितंता, णागरसेणा व ण वि जाणे ॥२३९६ ॥
२५२१. सुणमाणे^{१०} वि ण^{११} सुणिमो, सज्झाए समिति-‘गुत्ति आउत्ता’^{१२} ।
सावज्जं सोऊण वि, ण हु^{१३} लब्भाऽऽइक्खिखउं जतिणो ॥२३९७ ॥
२५२२. भत्तट्ठणमालोए^{१४}, मोत्तूणं संकिताइ^{१५} ठाणाइं ।
सच्चित्ते पडिसेधो, अतिगमणं दिट्ठरूवाणं ॥२३९८ ॥

१. आरक्खितो—कोट्टपालो (चू) ।

२. × (दे) ।

३. °वती (दे) ।

४. य (भ) ।

५. °दीण (दे) ।

६. °यादि (मु) ।

७. संबंधि° (भ) ।

८. किरियद° (चू), °णदक्खे (दे) ।

९. तब्भूमे (क, द) ।

१०. °माणा (दे) ।

११. व (दे) ।

१२. गुत्तमाइत्ता (दे) ।

१३. वि (दे) ।

१४. जत्तट्ठ° (भ), °लोइए (दे) ।

१५. संकिलाइं (दे) ।

२५१४. यदि अन्यत्र प्रचुर अन्नपान मिलता हो, निर्वाह हो सके, फिर भी भिक्षु उपर्युक्त शंकास्थान में जाता है, तो उसे चार महीने का अनुद्घातिक (चतुर्गुरु) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो जाता है, वह स्वयं भी परित्यक्त होता है तथा अन्य भी—कोई बाहर रहने वाले को बन्दी बना लेते हैं तो कोई अन्दर वाले भेद न दे दें—ऐसा सोच उन्हें बन्दी बना लेते हैं। कुल, गण एवं संघ के विनाश का भी निमित्त बन सकता है।

२५१५. यदि नगर के भीतर प्रासुक एषणीय आहार पानी आदि न मिले तो भिक्षु पनक परिहानि से चतुर्लघु प्रायश्चित्त पर्यन्त यतनापूर्वक ग्रहण करें। यदि विशोधिकोटिक आहार आदि सर्वथा उपलब्ध न हो तो अमात्य, दानश्राद्ध गृहस्थों आदि से अवभाषण पूर्वक भी आहार आदि लिया जा सकता है। फिर भी न मिले तो अविशोधिकोटिक दोषयुक्त आहार को ग्रहण करने का प्रसंग उपस्थित होता है।

२५१६. यदि भिक्षा सर्वथा अनुपलब्ध हो तो भिक्षु कोतवाल से कहे—‘हम भिक्षार्थ बाहर जाना चाहते हैं, मार्ग दें।’ यदि वह कहे—‘मैं भिक्षा दे दूंगा’ तो उससे भिक्षा ले ले। यदि वह कहे—‘मेरे पास भिक्षा नहीं है, बाहर जाने के लिए आप श्रेष्ठी से पूछें तो भिक्षु श्रेष्ठी से पूछे। इसी प्रकार क्रमशः सेनापति, अमात्य एवं राजा से भी पूछा जाए। यदि वे दें तो उनसे भिक्षा ले ले। बाहर जाने की अनुज्ञा दे तो बाहर जाए। बाहर जाते समय द्वारपालों को दिखा दे कि ये भिक्षु हैं, आप उन्हें दृष्टरूप कर लें—पहचान लें। ये भिक्षा के लिए बाहर गमनागमन करेंगे। आप इन्हें कुछ न कहें। बाहर निकलने के बाद असावद्य भाषा^१ बोलें।

२५१७. कोतवाल यदि कहे—आप बाहर न जाएं, हम स्वयं भिक्षा देंगे अथवा भेद की शंका से उन्हें बाहर न जाने दे तो अशुद्ध आहार भी भिक्षु ले ले। यदि वह न आहार दे और न बाहर जाने दे तो भिक्षु उसे अनुशिष्टि प्रदान करे। अनुशिष्टि और धर्मकथा से भी वह न माने तो मंत्र आदि का भी प्रयोग किया जाए।

२५१८. नगर आदि से बाहर जाते समय यदि भिक्षु आरक्षक आदि सब से पूरी तरह बात करके अनुज्ञा लेकर निकलते हैं तो हत, नष्ट तथा गुप्तचर आदि से सम्बन्धित सभी दोष स्वयं त्यक्त हो जाते हैं—कोई व्यक्ति या वस्तु अपहृत हो जाए, नष्ट हो जाए या कोई गुप्तचर घुस जाए तो भिक्षु आशंका मुक्त रहता है।

२५१९. बहिर्गमन वाले साधु इन गुणों से युक्त हों—१. वे प्रियधर्मा एवं दृढधर्मा हों। २. नगर के बाहर एवं भीतर उनके अनेक स्वजन हों। ३. अविकारी हो—उद्भट वेश वाले और कंदर्पशील वाले न हों। ४. करण—भिक्षा ग्रहण आदि क्रियाओं में दक्ष हों ५. प्रतिपत्ति—उत्तर देने की कला में कुशल हों।

२५२०. भिक्षार्थ आदि के लिए बाहर निकले हुए भिक्षुओं को यदि कोई व्यक्ति पूछे—नगर में हाथी, घोड़े कितने हैं? नगर में योद्धा कितने हैं? भण्डार में धन कितना है? या नगर की सेना कितनी है? इत्यादि बातों का मुनि एक ही उत्तर दे कि वह नहीं जानता, चाहे उसे वे कितना ही परितान्त (खिन्न) करे या न करे।

२५२१. यदि बाहरी लोग कहे—आप तो नगर में ही रहते हैं, फिर कैसे नहीं जानते? तो मुनि कहे—हम अपने स्वाध्याय तथा समिति, गुप्ति में इतने तल्लीन रहते हैं कि सुनते हुए भी इन बातों को नहीं सुनते। यदि नगर के अन्तःस्थित लोग भी कुछ सावद्य प्रश्न पूछें तो मुनि कहे—सावद्य बात यदि हम सुन भी लें, तब भी हमें कहना नहीं कल्पता। अथवा अन्दर और बाहर मुनि एक ही उत्तर रखे—बहुं सुणेइ कण्णेहिं....।

२५२२. उपर्युक्त प्रकार से गोचरी के लिए परिभ्रमण करते हुए जब उसे सामुदानिक भिक्षा प्राप्त हो जाए तो प्रकाशयुक्त स्थान में भोजन करे। भिक्षु आहार के लिए उन स्थानों का वर्जन करे, जो गुप्तचर, चोर आदि होने की शंका पैदा करे। यदि कोई शैक्ष (सचित्त) प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त करे तो उसे मना कर दे। यदि कोई साधुवेश धारण कर मुनि के साथ गमनागमन करे तो उसे भी रोक दे तथा प्रवेश के समय द्वारपाल से कहे—हमें दृष्टरूप कर लो (पहचान लो)।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. २५२०, २५२१।

२५२३. सावग सण्णिट्ठाणे, ओयवितेतर करेति भत्तट्ठं।
तेसऽसती आलोए, चड्डुग कुरुयाइ णो छण्णे^१ ॥२३९९॥
२५२४. भत्तट्ठित्ताहाडा, पुणरवि घेतुं अतिंति^२ पज्जत्तं।
अणुसट्ठी दारिट्ठे, अण्णे वऽसती य जं अंतं ॥२४००॥
२५२५. रुद्धे वोच्छिण्णे वा, दारिट्ठे दो वि कारणं दीवे।
इहरा चारिगसंका, अकाल ओखंदमादीसु^३ ॥२४०१॥
२५२६. बाहिं तु वसितुकामं, अतिणेंती^४ पेल्लिया अणिच्छंतं।
गुरुगा पराजय जए, बितियं रुद्धे व वोच्छिण्णे ॥२४०२॥
२५२७. मज्झम्मि य तरुणीओ, थेरीओ तासि होंति उभयंतं।
थेरि बहिट्ठा खुड्डी, खुड्डीबहिट्ठा भवे थेरा^५ ॥२४०३॥
२५२८. थेरबहिट्ठा खुड्ढा, खुड्ढुबहिट्ठा उ^६ होंति तरुणा उ।
दुविधम्मि वि अद्धाणे, सपच्चवायम्मि एस गमो ॥२४०४॥
२५२९. आऊ-अगणी-वाऊ, तेणग रट्ठादि संभमो भणितो।
बोहिगमेच्छादिभए, गोयरचरियाएँ वासेणं ॥२४०५॥
२५३०. जलसंभमे थलादिसु, चिट्ठंताणं भवेज्ज^७ चउभंगो।
एगतरुवस्सए वा, वूढगलंते व सव्वत्तो ॥२४०६॥
२५३१. एगतरझामित्तै^८ उवस्सयम्मि डज्जेज्ज वावि मा वसधी।
एमेव य वातम्मि वि, तेणभया वा णिलुक्काणं ॥२४०७॥

१. छड्डुणे (दे)।

२. अर्तति (दे)।

३. उखंद ओकट्ठिओ (चू)।

४. णेति (मु, भ)।

५. थेरी (दे, भ)।

६. य (भ)।

७. हवे (दे)।

८. एगंत (दे)।

२५२३. जहां श्रावक-श्राविकाएं हों, उस स्थान में भक्तार्थ (आहार) करे। ऐसा स्थान न हो तो उनमें से एक (श्रावक या श्राविका) के द्वारा परिकर्मित तथा उसके अभाव में अपरिकर्मित स्थान में भक्तार्थ करे। इन में से कोई स्थान न मिले तो यथाभद्रक आदि के बीच प्रकाशयुक्त स्थान में काष्ठपात्रों में भक्तार्थ करे तथा पात्रप्रक्षालन करे। लेकिन प्रच्छन्न स्थान में भक्तार्थ न करे ताकि उसके प्रति गुप्तचर आदि की शंका न हो।

२५२४. यदि एक बार में पूरी भिक्षा प्राप्त न हो तो पुनः पर्याप्त ग्रहण करके प्रवेश करे। यदि द्वारपाल कुछ मार्गणा करे या प्रवेश न करने दे तो उसे अनुशिष्टि दे। यदि कोई अन्य दाता अनुकम्पा से भिक्षु को कुछ दे तो उसे ग्रहण कर ले। अन्यदाता न हो तो जो कुछ अन्तप्रान्त मिले, उससे निर्वाह करे।

२५२५. भिक्षु भिक्षार्थ निकला और अचानक नगर द्वार अवरुद्ध हो जाएं या गमनागमन प्रतिषिद्ध हो जाए तो दोनों—अन्तः स्थित एवं भिक्षार्थ बाहर गए हुए साधु द्वारपाल आदि के सामने भिक्षार्थ गमन का हेतु बताएं। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो कदाचित् उनके प्रति गुप्तचर होने की शंका हो सकती है या अकाल में आने से ओखंद—घोर डालने या शत्रु को छल से मारने वाले^१ की शंका भी संभव है।

२५२६. भिक्षार्थ निकले हुए साधुओं में से यदि कोई बाहर रहना चाहे तो उसके सहायक साधु उसे बलात् अन्दर आने के लिए प्रेरित करें एवं इच्छा न होने पर भी प्रविष्ट कराएं उस समय एक या अनेक साधु बिना कारण बाहर रहे तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। आभ्यन्तरवर्ती साधुओं के जय पराजय हेतुक अनेक दोष संभव है। अपवादपद में सभी साधुओं के बहिर्गमन के पश्चात् नगर अवरुद्ध हुआ हो, गमनागमन व्यवच्छिन्न हुआ हो तो नगर में न आने या द्वारपाल आदि को जानकारी न देने पर भी साधु शुद्ध है—प्रायश्चित्ती नहीं।

२५२७, २५२८. अद्वाण—अटवी के दो प्रकार हैं—पंथ और मार्ग। दोनों ही प्रकार की सप्रत्यपाय अटवी में साधु-साध्वियों के साथ विहार आदि की विधि यह है—तरुणी साध्वियां मध्य में रहें। उनके दोनों ओर स्थविरा साध्वियां रहें। उनके दोनों ओर क्षुल्लक (छोटी) साध्वियां रहें। उनके बाहर—दोनों ओर स्थविर साधु, उनके दोनों ओर छोटे साधु तथा उनके दोनों ओर तरुण साधु रहें।

२५२९. जल (बाढ आदि), अग्नि (दावानल आदि), वायु (चक्रवात आदि) स्तेन तथा राष्ट्रक्षोभ आदि से उत्पन्न हड़बड़ी संभ्रम कहलाता है। भय से बोधिक, म्लेच्छ आदि का भय विवक्षित है तथा वर्षा के कारण गोचरार्थ भ्रमण करते हुए साधु-साध्वियों का एकत्र वास संभव है।

२५३०. जल के संभ्रम से उन्नत स्थल, पर्वत आदि पर बचाव हेतु गए हुए भिक्षु के चारों भंग—१. एक भिक्षु, एक स्त्री २. अनेक भिक्षु, अनेक स्त्री आदि संभव हैं। साधु अथवा साध्वियों में से किसी एक के उपाश्रय के पानी में डूब जाने पर अथवा चारों ओर से वर्षा का पानी चूने (टपकने) से भी दोनों—साधु-साध्वियों के एक साथ रहने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

२५३१. साधु अथवा साध्वियों में से किसी एक का उपाश्रय जल जाए या उसकी रक्षा के लिए वे अन्य वसति में गए हुए हों ताकि उपाश्रय न जले या जली हुई वसति से संक्रान्त हो रहे हों तो अग्नि संभ्रम में एकत्र अवस्थान की चतुर्भंगी संभव है। इसी प्रकार वायुसंभ्रम तथा स्तेनभय से गुप्त प्रदेश में छिपने के कारण भी चारों भंग संभव हैं।

१. ओखंद—छावनी, घेरा डालना।

२५३२. भोइयमादिविरोधे, रट्टादीणं तु संभमे होज्जा।
बोहिग-मेच्छभए वा^१, गुत्तिणिमित्तं च एगत्थ ॥२४०८ ॥
२५३३. पुव्वपविट्ठेगतरे, वासभएणं विसेज्ज अण्णतरो।
तत्थ रहिते परंमुह, ण य सुण्णे संजती ठंति^२ ॥२४०९ ॥
२५३४. कारण एग मडंबे, खंतिगमादीसु मेलणा होज्जा^३।
पव्वज्जमब्भुवगमे, अप्पाण चउव्विधा तुलणा ॥२४१० ॥
२५३५. असिवादिकारणगतो, वोच्छिण्णमडंबं^४ संजतीरहिते।
कहिताकहित^५ उवट्ठित, असंकइत्थीसिमा जतणा ॥२४११ ॥
२५३६. आहारादुप्पादण, दव्वे समुत्ति^६ व जाणते तीसे।
जइ तरति णेउ^७ खेत्ते, आहारादीणि वऽद्धाणे ॥२४१२ ॥
२५३७. गिम्हादिकालपाणग, णिसिगमणोमेसु वावि जइ सत्तो।
भावे कोधादि जई, गाहे णाणे य चरणे य^८ ॥२४१३ ॥
२५३८. गुरु-गणिणिपादमूलं^९, एवमपत्ताएँ अप्पतुलणाए।
आवकधसमत्थो वा, पव्वावे एतरे भयणा ॥२४१४ ॥
२५३९. अब्भुज्जतमेगतं, पडिवज्जितुकाम सो वि पव्वावे।
'गण-गणि'^{१०} सलद्धिए तं^{११}, एमेव अलद्धिजुत्तो वि^{१२} ॥२४१५ ॥
२५४०. पव्वावणिज्ज^{१३} तुलणा, एमेवित्थं तदक्खिणा^{१४} होति।
अविदित तुलणा उ परे, उवट्ठित^{१५} तुलणा उ^{१६} आतगता ॥२४१६ ॥

१. ता (भ)।

२. दे प्रति में यह गाथा नहीं है।

३. होज्ज (मु)।

४. अट्टाइयजोयणम्भंतरे जस्स अण्णं वसिमं णत्थि, तं
छिण्णमडंबं (चू)।

५. कहितअकं (भ)।

६. समुत्ति (भ)।

७. णित्तु (मु)।

८. दे प्रति में यह गाथा नहीं है।

९. गणणिं (दे)।

१०. गणिगुण (भ)।

११. उ (मु, दे)।

१२. तु (भ)।

१३. ंज्जा (दे)।

१४. तदक्खिणा (मु), तदक्खिं (दे)।

१५. छंद की दृष्टि से 'उवट्ठि' पाठ होना चाहिए।

१६. य (मु)।

२५३२. एक ग्रामप्रधान का दूसरे ग्रामप्रधान से, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से विरोध होने पर भी संप्रभ्रम के कारण एकत्र अवस्थान की चतुर्भंगी संभव है। बोधिक एवं म्लेच्छ भय में छिपने के लिए, पलायन करते समय अथवा गुप्त (रक्षा) के निमित्त चतुर्भंगी संभव है।

२५३३. मूसलाधार वर्षा होने पर साधु या साध्वी भीगने के भय से किसी घर में रुकें और अचानक अन्य (साध्वी या साधु) आ जाए तो दोनों पक्षों का कुछ काल के लिए एकत्र अवस्थान संभव है। ऐसी स्थिति में वे एक दूसरे से पराङ्मुख होकर स्वाध्याय में संलग्न रहें। कितनी भी वर्षा हो, साध्वी शून्यस्थान में न रुके।

२५३४. किसी कारणवश मुनि किसी छिन्नमडंब^१ में अकेला हो और सहसा वहां माता के सदृश कोई अशंकनीय स्त्री मिले। यदि वह उस अकेले साधु के पास दीक्षा लेना चाहे तो मुनि स्वयं को चतुर्विध—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार कसौटियों पर तौले।

२५३५. अशिव आदि के कारण कोई मुनि संयतीरहित किसी छिन्नमडंब में अकेला रह रहा हो, वहां कोई अशंकनीय स्त्री उसके धर्मोपदेश से या स्वतः ही दीक्षा के लिए उपस्थित हो, वहां यतना यह है—

२५३६. द्रव्य तुलना—वह उसके लिए आहार, उपधि, शय्या आदि द्रव्यों के उत्पादन में समर्थ है या नहीं? उस स्त्री की प्रकृति क्या है? उसे भूख अधिक लगती है, सर्दी अधिक लगती है, प्रथमालिका में मधुरपानक चाहिए—इत्यादि जानकर वह उन्हें उत्पादन करने (लाने) में समर्थ हो तो उस स्त्री को दीक्षा दे सकता है। क्षेत्र तुलना—यदि वह भिक्षु अद्वाण (अटवी/मार्ग) में उस स्त्री को ले जा सकता है, उसके लिए वहां आहार आदि ला सकता है—इत्यादि क्षेत्र तुलना है।

२५३७. काल तुलना—यदि वह उस स्त्री के लिए ग्रीष्मकाल में ठंडा पानक, प्रवात वसति आदि ऋतुक्षम तथा दुर्लभ वस्तुओं को उत्पादन कर सके, इसी प्रकार शीत आदि अन्य कालों में तदुपयोगी द्रव्य लाकर दे सके, रात्रि में भी उसके साथ अकेला गमन कर सके, अवम आदि कालों में आहारादि उत्पादन में समर्थ हो—यह काल तुलना है। भाव तुलना—यदि वह भिक्षु अपने क्रोध आदि भावों पर विजय कर सके, उस नवदीक्षिता साध्वी के ज्ञान, चारित्र आदि के अवगाहन में अथक प्रयास कर सके, उसे चक्रवाल सामाचारी का शिक्षण प्रदान कर सके तो वह उसे दीक्षा दे सकता है।

२५३८. इस प्रकार अपने आप को इन चार तुलनाओं में तौलने पर यदि वह यावज्जीवन उसका निर्वाह करने में समर्थ हो तो उसको प्रव्रजित करे तथा गुरु एवं प्रवर्तिनी के पास पहुंचने तक उस का निर्वाह करे, प्रवर्तन करे। यदि वह समर्थ न हो और अन्य कोई वट्टावग—शुश्रूषा करने वाला/प्रवर्तक हो तो वह उसे दीक्षा देकर उसे सौंप दे अन्यथा दीक्षा न दे—यह भजना है।

२५३९. यदि वह भिक्षु स्वयं अनशन या जिनकल्प आदि स्वीकार करना चाहे और (उपर्युक्त) स्त्री प्रव्रजित होना चाहे तो वह तभी उसे प्रव्रज्या दे जब गण में कोई अन्य गणी लब्धिसपन्न हो। उस साध्वी का प्रवर्तन कर सके तो वह उन्हें सौंप कर स्वयं अभ्युद्यतविहार स्वीकार करे। यदि उस साध्वी के लिए कोई दूसरा प्रवर्तक न हो तो स्वयं उसका प्रवर्तन करे। यदि कोई लब्धिसम्पन्न गणी प्रवर्तक न हो तो स्वयं लब्धिमान न होने पर भी उस स्त्री को दीक्षित करे और उसका प्रवर्तन (सेवा शुश्रूषा) करे।

२५४०. दीक्षप्रदाता स्वयं की द्रव्य, क्षेत्र आदि से परीक्षा करने के बाद प्रवाजनीय स्त्री की भी यही परीक्षा करता है। प्रश्न होता है कि यदि वह स्त्री उसकी मां, बहिन आदि निकटतम सम्बन्धी है तो उसकी प्रकृति आदि वह जानता ही है फिर परीक्षा क्यों? आचार्य कहते हैं—कदाचित् वह छोटा ही मुनि बना हो तो न भी जाने। जिसके सुख, दुःख, क्रोध आदि स्वभाव को जानता है, उसकी परीक्षा आवश्यक नहीं। उसके उपस्थित होने पर आत्मतुलना ही करणीय है। इसी प्रकार अन्य को नहीं जानता अतः उनकी परीक्षा करणीय है।

१. वह स्थान, जहां अढाई योजन की सीमा में कोई बस्ती न हो, छिन्नमडंब कहलाता है।

२५४१. पारिच्छ^१ पुव्वमण्ह^२, कायाणं दायणं च दिक्खा य ।
तत्थेव गाहणं पंथे, णयणं 'पत्ता य'^३ इत्तरिया^४ ॥ २४१७ ॥
२५४२. पेज्जादि पातरासे, सयणासणवत्थ-पाउरणदव्वे ।
दोसीण दुब्बलाणि^५ य, सयणादि असक्कता एण्हिं ॥ २४१८ ॥
२५४३. पडिकारा^६ य बहुविधा, विसयसुहा^७ आसि तेण पुण एण्हिं ।
चंकमण-णहाण-धुवणा, विलेवणा ओसधाइं व ॥ २४१९ ॥
२५४४. अद्धाण दुक्खसेज्जा, सरेणु तमसा य^८ वसधिओ खेत्ते ।
परपाएसु गताणं, वुत्थाण व उदु-सुहघरेसु ॥ २४२० ॥
२५४५. आहारादुवभोगो, जोग्गो जो जम्मि होति कालम्मि ।
सो अण्णहा ण य णिसिं, 'अकालऽजोग्गो य हीणो'^९ य ॥ २४२१ ॥
२५४६. सव्वस्स पुच्छणिज्जा, ण य पडिकूलेति सइरमुदितत्था^{१०} ।
खुड्डी वि पुच्छणिज्जा, चोदण फरुसादिया भावे ॥ २४२२ ॥
२५४७. जा जेण व तेण जधा, व लालिता तं तहण्णहा भणति ।
सोतादिकसायाण य^{११}, जोगाण य णिग्गहो समिती ॥ २४२३ ॥
२५४८. आलिहण^{१२}-सिंच-तावण, वीयण-दंत-धुवणादिकज्जेसु ।
कायाणाणुवभोगो^{१३}, फासुगभोगो परिमितो य ॥ २४२४ ॥
२५४९. 'अब्भुवगता य'^{१४} लोगो, कप्पट्टग-लिंगकरण दावणता ।
भिक्खग्गहण कहेति व, पेति^{१५} वऽहं^{१६} ते दिसा तिण्णि ॥ २४२५ ॥

१. पारिच्छा णाम तुलणा (चू) ।

२. पुच्छमं (मु) ।

३. अप्पा य (भ, मु) ।

४. इत्तिं (दे) ।

५. निब्बं (दे) ।

६. पडियारा णाम सरीरसंस्कारा (चू) ।

७. × (दे) ।

८. × (भ) ।

९. °लहीणो यऽजोग्गो (भ) ।

१०. सतिरमिति सेच्छा, उदितमिति भाविया (चू) ।

११. व (भ) ।

१२. °हिण (दे) ।

१३. °याण अणुं (दे) ।

१४. °ताए (भ) ।

१५. वेति (भ) ।

१६. विहं (भ) ।

२५४१. दीक्षाप्रदाता भिक्षु उस स्त्री से पूछता है कि दीक्षा के बाद द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—ये सब भिन्न होंगे, इस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वह उसे षट्काय के रक्षण^१ सम्बन्धी निर्देश देता है। फिर क्रमशः दीक्षा प्रदान, वहीं मडंब में उसे ग्रहण और आसेवन शिक्षा का अवगाहन कराना, मार्ग-नयन एवं आचार्य को अर्पण आदि क्रमशः वह इत्वरिक दिशा (प्रब्रज्या प्रदाता भिक्षु) करता है।^२

२५४२. भिक्षु उस प्रवाजनीय स्त्री से कहता है—पहले तुम पेया आदि मनोनुकूल द्रव्यों से प्रातराश करती थी, अब दीक्षित होने के बाद मध्यान्ह में भिक्षाटन करके पारणा आदि करना होगा, वह भी सदा मनोनुकूल द्रव्य हो, आवश्यक नहीं। गृहस्थ अवस्था में ऋतु के अनुकूल शयन भूमि, पल्यंक आदि तथा बैठने हेतु कुर्सी आदि उपलब्ध थे, अब कठोर भूमि और घास के बिछौने सोने-बैठने को मिलेंगे। पहले तुम्हारे वस्त्र तथा कम्बल आदि प्रावरणद्रव्य बहुमूल्य एवं ऋतु के अनुसार श्लक्ष्ण होते थे, अब वे अल्पमूल्य और मोटे होंगे। खाने पीने के बर्तन सोने, चांदी के नहीं, काष्ठपात्र एवं अलाबू मिलेंगे। स्निग्ध एवं ऋतुक्षम भोजन के स्थान पर बासी एवं दुर्बल आहार से काम चलाना होगा। क्या इन सब के लिए तुम तैयार हो ?

२५४३. गृहवास में रहते हुए तुम विषय सुख प्रदान करने वाले बहुत प्रकार के प्रतिकार (शारीरिक परिकर्म) करती रहती थी, चंक्रमण, स्नान, हाथ पैर प्रक्षालन, विविध रोगोपशामक विलेपन एवं औषधियों का प्रयोग गृहवास में सुलभ था, दीक्षा के बाद उस से मुंह मोड़ना होगा।

२५४४. (क्षेत्र तुलना) गृहवास में तुम ऋतु के अनुसार सुखद-शय्या तथा हाथी के होदे आदि यानों का आस्वादन करती रही हो। अब क्षेत्र विषयक भी अनेक परीषह सोढव्य हैं—मार्ग में दुःखकर शय्या, वह भी धूल से भरी हुई, अंधकारमय उपाश्रय—अतः सोच लो क्या ये सब सहन कर सकोगी।

२५४५. (काल तुलना) आहार आदि का उपभोग भी जो जिस काल में योग्य हो, भिक्षु को उससे विपरीत मिलता है। विपरीत आहार भी रात्रि में बिलकुल खाना नहीं तथा दिन में समय पर मिले, आवश्यक नहीं। वह अकाल में प्राप्त होने वाला अकालोचित आहार भी कदाचित् कम मिलता है, पूरा नहीं मिलता है।

२५४६. (भाव तुलना) गृहवास में तुम सबके लिए प्रष्टव्य थी—सब तुम्हें पूछकर कार्य करते थे। कोई भी तुम्हारे प्रतिकूल व्यवहार नहीं करता था, हर कार्य में तुम अपनी स्वेच्छा से भावित थी, पर दीक्षा के बाद एक छोटी साध्वी भी तुम्हारे लिए प्रष्टव्य हो जाएगी, तुम्हें उसको पूछकर कार्य करना पड़ेगा। कोई तुम्हें परुष वचनों से भी प्रेरणा दे सकता है—क्या इन सब भावतुलनाओं में उत्तीर्ण हो सकोगी ?

२५४७. जो सुखभावित हो, उसे अन्य प्रकार से पूछा जाए तथा जो दुःख भावित हो, यथा तथा लालित हो, उसे उसी प्रकार से पूछा जाए। उसे यह भी कहा जाए—प्रब्रजित होने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों का, कषायों तथा अप्रशस्त मन आदि योगों का निग्रह करणीय है, सदा अपनी आत्मा को समितियों से भावित करना है।

२५४८. प्रब्रज्या के पश्चात् आलेखन-विलेखन में पृथिवीकाय, सिंचन आदि में जलकाय तथा क्रमशः आतापन, वीजन और दंतधावन आदि कार्यों में क्रमशः अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय का समारंभ सर्वथा वर्जनीय है। जिन कार्यों में पृथ्वीकाय आदि का उपयोग करना है, वह भी प्रासुक का ही उपयोग करना है। प्रासुक वस्तु का भी मुनि को यथासंभव परिमित उपयोग करना चाहिए।

२५४९. यदि वह पूर्वोक्त सब बातों को स्वीकार कर ले तो उसका लोच कर दिया जाए तथा नवदीक्षित के समान लिंग (वेश) पहनाकर दीक्षा दे दी जाए। उसी छिन्नमडंब में उसे ग्रहण-आसेवन शिक्षा प्रदान की जाए, उद्गम आदि दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण की विधि समझाए तथा गुरु के समीप ले जाए। इस प्रकार वह उससे कहे—मैं ही तुम्हारी तीनों दिशाएं हूँ—मैं ही तुम्हारा आचार्य, उपाध्याय हूँ और प्रवर्तिनी हूँ। गुरु के समीप पहुंचकर वह सारा वृत्तान्त यथावत् निवेदन कर उसे गुरु को सौंप देता है।

१. द्रष्टव्य गा. २५४२-४७।

२. द्रष्टव्य गा. २५४८।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य निभा २ चू. पृ. ४३१।

२५५०. उज्जाणऽट्टाल^१ दगे, सुण्णा कूडार^२ तुस भुसे गोमे ।
गोणा^३ जाणा पणिगा, परियाग महाकुले^४ सेव^५ ॥ २४२६ ॥ नि ५६५ ॥
२५५१. सभमादुज्जाणगिहा^६, णिगमगिह-वणियमादिणं इतरे ।
नगरादिनिग्गमेसु य, सभादि निज्जाणगेहा तु ॥ २४२७ ॥
२५५२. साला तु अहे वियडा, गेहं कुडुसहितं तुऽणेगविधं ।
वणिभंडसाल परिभिक्षुगादिमहबहुगपाहुण्णे^७ ॥ २४२८ ॥
२५५३. संझा राती^८ भणिता, संझाए उ विगमो वियालो^९ तु ।
केसिंची वोच्छत्थं, पच्छणतरे दुविधकाले ॥ २४२९ ॥ नि ५६६ ॥
२५५४. इत्थीणं मज्झम्मी, इत्थी संसत्त परिवुडे^{१०} ताहिं ।
चउ पंच उ परिमाणं, तेण परे कहेत आणादी ॥ २४३० ॥ नि ५६७ ॥
२५५५. मज्झं दोणहंतगतो, संसत्तो ऊरुगादिघट्टंतो ।
चतुदिसिठिताहि परिवुडो, पासगताहिं व अफुसंतो^{११} ॥ २४३१ ॥ नि ५६८ ॥
२५५६. दुविधं च होति मज्झं, संसत्तो दिट्ठि-दिट्ठि अंतो वा ।
भावो व तासु णिहितो, एमेवित्थीण पुरिसेसु ॥ २४३२ ॥
२५५७. इत्थी-णातिसुहीणं, अचियत्तं आसियावणा छेदो ।
आत-पर-तदुभए वा, दोसा संकादिया चेव ॥ २४३३ ॥
२५५८. बितियपदमणप्पज्झे, णातीवग्गे य सण्णिसेज्जासु ।
णाताचारुवसग्गे^{१२}, रण्णो अंतेपुरादीसु ॥ २४३४ ॥

१. सूत्र २-९ (नव ८/२-९) ।

२. कूडा व (मु, भ) ।

३. गोमा (भ) ।

४. महाकुलं पि इब्भकुलादी पाहण्णे बहुजणआइण्णं बहुत्ते (चू) ।

५. चूर्णि में इस गाथा के लिए 'इमा सुत्तसंगहगाहा' का उल्लेख है ।

६. उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, जं वा ईसि पगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं (चू) ।

७. °भिक्षुगा° (क) ।

८. सूत्र १० (नव ८/१०), जंसि काले चोरादिया रज्जंति, सा राती (चू) ।

९. ते च्विय जम्मि काले विगच्छंति सो वियालो संझेत्थर्थः (चू) ।

१०. सव्वतो समंता परिवेदिओ परिवुडो भण्णति (चू) ।

११. इस गाथा के लिए चूर्णि में 'इदाणि णिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।

१२. °चारवस° (दे) ।

२५५०. उद्यान, अट्टालग, जलमार्ग, शून्यगृह, कूटागार, बुसशाला, भुसशाला, गोमयशाला, गौशाला, यानशाला, पण्यशाला, अन्य संन्यासियों का आश्रम और महाकुल (श्रेष्ठीकुलों या बहुत जनों से आकीर्ण कुलों) में भी वही विधि है—जो उत्सर्ग एवं अपवाद प्रथमसूत्र में प्रज्ञप्त हैं, वे ही चतुर्भंगी सहित अशेष ज्ञातव्य हैं।

२५५१. सभागृह, उद्यानगृह, निर्गमन गृह, वणिक् गृह, नगरगृह, निर्गमगृह, निर्याणगृह—ये सारे विभिन्न प्रयोजन के लिए कार्यकर होते हैं। इनमें भी अकेला भिक्षु अकेली स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार आदि नहीं कर सकता और न उसे अश्रमणप्रायोग्य कथा कह सकता।

२५५२. जो नीचे विशाल होता है, वह मकान शाला कहलाता है। घर दीवार सहित होता है। उसके अनेक प्रकार होते हैं। जहां व्यापारी अपने विक्रेय भाण्ड रखते हैं, वह भंडशाला तथा भिक्षुओं आदि के स्थान को परियावसथ कहते हैं। 'महा' शब्द बहुत एवं प्राधान्य का वाचक है अतः जहां समृद्ध लोग रहें या बहुत से लोग रहें, वे महाकुल कहलाते हैं।

२५५३. संध्या को रात तथा संध्या के विगम को विकाल कहा गया है। कुछ लोग इसको विपर्यस्त—विपरीत कहते हैं। उनके अनुसार प्रच्छन्न काल रात है और उसका चला जाना—विकालवेला (उषाकाल) है।

२५५४. जो भिक्षु रात्रि या विकालवेला में स्त्रियों के मध्य, स्त्रियों से संसक्त अथवा परिवृत होता हुआ अपरिमित—चार या पांच प्रश्नोत्तर के परिमाण से अधिक कथा करता है। वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२५५५. जिसके दोनों ओर स्त्रियां हों, वह स्त्री-मध्य कहलाता है। जिसके ऊरु, कोहनी आदि स्त्रियों से संघट्टित हो रहे हों, वह स्त्री संसक्त कहलाता है। जिसके चारों दिशाओं में स्त्रियां बैठी हों या जो दोनों पार्श्व में बैठी स्त्रियों से अस्पृष्ट हो, वह स्त्री परिवृत कहलाता है।

२५५६. मध्य के दो प्रकार हैं—स्त्रियों के मध्य या दृष्टियों (स्त्रियों की दृष्टियों) के मध्य। इसी प्रकार संसक्त के भी दो प्रकार हैं—ऊरु आदि से संघट्टित और दृष्टि से संघट्टित। अथवा यदि स्त्रियों का भाव पुरुषों में निहित—निविष्ट है और पुरुषों का स्त्रियों में, तो वह भी परस्पर संसक्त अवस्था है।

२५५७. जो भिक्षु रात्रि में स्त्रियों के मध्य कथा करता है, वह उन स्त्रियों के ज्ञातिजनों एवं सुहृद्जनों के लिए अप्रिय हो जाता है। अप्रीति के कारण वे उसे निकाल भी सकते हैं, उसके या अन्य साधुओं के लिए किसी द्रव्य, वसति आदि का व्यवच्छेद कर देते हैं। भिक्षु तथा उन स्त्रियों के एक साथ मिलने पर आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ तथा उभयसमुत्थ दोष भी पैदा हो सकते हैं। अन्य लोग भी उन पर शंका आदि कर सकते हैं तथा ग्रहण, बन्धन आदि दोष भी पैदा हो सकते हैं।

२५५८. अपवाद पद में—१. कोई अनात्मवश मुनि स्त्रियों के मध्य कथा कर सकता है। २. कोई भिक्षु बहुत समय से ज्ञातिवर्ग के मध्य आया हो ३. वे कुल श्रावक, शय्यातर आदि के होने से ज्ञात-आचार वाले तथा अशंकनीय हों तथा ४. कोई उपसर्ग हो जाने से राजा द्वारा अन्तःपुर में उपदेश देने हेतु नियुक्त हो।

१. उद्यान आदि शब्दों के अर्थ हेतु द्रष्टव्य निभा २ चू. पृ. ४३३।

२५५९. णच्चासण्णम्मि ठितो, दिट्ठिमबंधंत^१ ईसि व किढीसु।
वेरगं पुरिसविमिस्सियासु किढिगाजुताणं वा ॥२४३५ ॥
२५६०. स-गणिच्चिया^२ ससिस्सिणि, अधवा वि सगच्छवासिणी भणिता।
पर-सिस्सिणि पर-गच्छे, णातव्वा पर-गणिच्चीओ^३ ॥ २४३६ ॥ नि ५६९ ॥
२५६१. पुरतो व मग्गतो वा, सपच्चवाते अपच्चवाते य।
वच्चंताणं तेसिं, चउक्कभयणा^४ अवोच्चत्थं ॥ २४३७ ॥ नि ५७० ॥
२५६२. पुरतो वच्चति^५ साधू, अधवा पिट्ठेण एत्थ चउभंगो।
अहव ण^६ पुरतोऽवाओ, 'पिट्ठे वा'^७ एत्थ वा चतुरो ॥२४३८ ॥ नि ५७१ ॥
२५६३. भयणपदाण^८ चतुण्हं, अण्णतरागेण संजतीसहिते।
ओहतमणसंकप्पो, जो कुज्ज^९ विहारमादीणि ॥२४३९ ॥ नि ५७२ ॥
२५६४. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं^{१०} तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा^{११} ॥२४४० ॥ नि ५७३ ॥
२५६५. अद्धितिकरणे पुच्छा, किं कहितेणं अणिग्गहसमत्थे।
दुक्खमणाते किरिया, सिट्ठे सत्तिं ण हावेस्सं ॥२४४१ ॥
२५६६. अम्ह वि करेति अरती, सूइतदुक्खं इमं असीसंतं।
इति अणुरत्तं भावं, णातुं भावं पदंसेति ॥२४४२ ॥
२५६७. पंथे त्ति णवरि णेम्मं^{१२}, उवस्सगादीसु एस^{१३} चेव गमो।
णिस्संकिता हु पंथे, इच्छमणिच्छे य वावत्ती ॥२४४३ ॥

१. दिट्ठिमं (दे)।
२. गणिच्चिया (मु, भ), सूत्र ११ (नव ८/११)।
३. परिगं (भ)।
४. णा उ (दे)।
५. गच्छति (दे)।
६. णु (क)।
७. पच्छद्धे (क)।

८. णदाणं (दे), णपदा य (क)।
९. कुज्जा (दे)।
१०. णधणा (भ)।
११. उ वज्जे (दे)।
१२. निब्भमेत्तं णेमं (चू)।
१३. एसु (दे)।

२५५९. उपर्युक्त आपवादिक परिस्थितियों में यतना यह है—भिक्षु स्त्रियों के अत्यधिक पास न बैठे, युवा स्त्रियों पर दृष्टि न टिकाए। पुरुषों से विमिश्र या वृद्ध स्त्रियों सहित स्त्रियों में, वृद्धाओं पर ईषद् दृष्टिक्षेप करते हुए वैराग्यपूर्ण कथा कहे।

२५६०. स्वगण की साध्वी के दो प्रकार हो सकते हैं—१. स्वयं की शिष्या २. स्वयं की गच्छवासिनी। इसी प्रकार दूसरे गण की साध्वी के भी दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. दूसरे की शिष्या और २. दूसरे गच्छ में दीक्षित।

२५६१, २५६२. पुरतः और मार्गतः (पृष्ठतः) तथा सप्रत्यपाय एवं अप्रत्यपाय के आधार पर गमन आदि के विषय में चार भंग हो जाते हैं—१. आगे साधु, पीछे साध्वी २. पीछे साधु, आगे साध्वी ३. बहुतों में—आगे भी साधु, पीछे भी साधु तथा ४. न आगे साधु, न पीछे साधु। इसी प्रकार—१. आगे सप्रत्यपाय, पीछे नहीं २. पीछे सप्रत्यपाय, आगे नहीं ३. आगे भी सप्रत्यपाय, पीछे भी और ४. न आगे और न पीछे प्रत्यपाय। यदि आगे, पीछे, कहीं कोई प्रत्यपाय न हो तो अविपर्यस्त (आगे साधु, पीछे साध्वियां) गमन करे।

२५६३, २५६४. जो भिक्षु उपर्युक्त चारों ही भंगपदों में से किसी भी भंग से संयती सहित विहार करता हुआ यदि उपहत मनःसंकल्प वाला होता है तो वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—आत्मविराधना एवं संयमविराधना को प्राप्त होता है। अतः भिक्षु उस समय विहार, स्वाध्याय, आहार आदि—इन पदों का विवर्जन करे।

२५६५. भिक्षु को अधीर बनते देख साध्वियां पूछती हैं—ज्येष्ठार्य! अधीर क्यों हैं? भिक्षु कहता है—जो (दुःख के) निग्रह में समर्थ न हों, उसे कहने से क्या लाभ? साध्वियां—जब तक दुःख ज्ञात न हो, तब तक उसकी क्रिया—प्रतिकार कैसे हो? अतः आप अपनी अधृति का कारण बताएं, अपनी शक्ति का हापन न करें—कमजोर न बनें।

२५६६. इतना कहने पर भी यदि वह अपने दुःख का कारण नहीं बताता तो साध्वियां पुनः कहती हैं—आपकी आकृति से दुःख सूचित हो रहा है, फिर भी आप यदि हमें नहीं बताएंगे तो हमें भी अरति—दुःख होगा। इस प्रकार साध्वियों के अनुराग भाव को देखकर वह भी अपना भाव प्रदर्शित कर देता है—शब्दों से या आकार से भाव प्रकट कर देता है।

२५६७. केवल मार्ग में ही नहीं, मार्ग के समान उपाश्रय आदि में भी यही विधि है। मार्ग में अपने भाव आदि प्रदर्शित करने में निःशंकता रहती है—संकोच नहीं रहता। यदि भिक्षु के भाव जानकर संयती भी उसकी इच्छा करने लगे तो दोनों की चारित्रविराधना संभव है। यदि वह इच्छा न करे तो संयत के आत्मनिग्रह के अभाव में आत्मविराधना की संभावना रहती है। वह चिन्ता से वैहायस मरण आदि अकाम्य मृत्यु का वरण भी कर सकता है।

२५६८. बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णुवसग्ग दुविधमद्धाने ।
उवधी सरीर-तेणग, संभम-भय-खेत्त-संकमणे ॥ २४४४ ॥ नि ५७४ ॥
२५६९. पाउग्गस्स अलंभे, एगागि-गिलाण खंतिगादिसु वा ।
दंडिगमाउवसग्गा^१, मुच्चेज्ज कधं च इति चिंता ॥ २४४५ ॥
२५७०. उवधी सरीर चारित्त^२, ताव^३ मुच्चेज्ज किह णु हु अवाया ।
ववसायसहायस्स वि, सीयति चित्तं धितिमतो वि ॥ २४४६ ॥
२५७१. परिसंतो अद्धाने, दवग्गिभयसंभमं च नाऊणं ।
बोहिगमेच्छभए^४ वा, इति चिंता होति एगस्स ॥ २४४७ ॥
२५७२. णिग्गंथीणं गणधरपरूवणा खेत्तपेहणा^५ वसधी^६ ।
'सेज्जातर वीयारे, गच्छस्स य आणणा दारा'^७ ॥ २४४८ ॥
२५७३. पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गेऽवज्ज ओय-तेयंसी^८ ।
संगहुवग्गहकुसलो^९, सुत्तथविदू गणाधिपती ॥ २४४९ ॥
२५७४. आरोह^{१०}-परीणाहो^{११}, चितमंसो 'इंदियायपडिपुण्णा'^{१२} ।
अह ओयो^{१३} तेयो पुण, होति अणोत्तप्पता देहे^{१४} ॥ २४५० ॥
२५७५. खेत्तस्स उ पडिलेहा, कातव्वा होति आणुपुव्वीए ।
किं वच्चती गणधरो, जो वहती^{१५} सो तणं चरति^{१६} ॥ २४५१ ॥
२५७६. संजतिगमणे गुरुगा, आणादी सउणि-पेसि-पेल्लणता ।
'तुच्छालोभेण य'^{१७} आसियावणादी भवे दोसा ॥ २४५२ ॥ नि ५७५ ॥

१. डंडि° (मु, भ) ।

२. चारित्ति (दे) ।

३. पाव (क), भाव (मु) ।

४. °भयं (दे) ।

५. खेत्तमग्गणा (भ, बृभा २०४८) ।

६. चेव (बृभा) ।

७. वसही वियार गच्छस्स आणणा वारए चेव (बृभा) ।

८. °तेयस्सी (बृभा २०५०) ।

९. वत्थादिएहिं जो संगहकरो ओसहभेसज्जेहिं उवग्गहकरो (चू) ।

१०. उस्सेहो आरोहो भण्णति (चू) ।

११. वित्थारो परिणाहो भण्णति (चू) ।

१२. इंदियाइ ऽपडिपुण्णो (मु) ।

१३. उभयो(दे) ।

१४. बृभा २०५१ ।

१५. चरई (बृभा २०५२) ।

१६. वहइ (बृभा) ।

१७. उवलोभे तुच्छा (बृभा २०५३) ।

२५६८. द्वितीय पद में भिक्षु भिक्षुणी के समक्ष उपहत मनः संकल्प वाला भी हो सकता है। वे आपवादिक कारण हैं—१. अनात्मवश (भिक्षु या भिक्षुणी यक्षावेश आदि के कारण अनात्मवश हो।) २. ग्लान्य ३. उपसर्ग ४. द्विविध अद्भुतान ५. उपधिस्तेन ६. शरीरस्तेन ७. संभ्रम ८. भय और ९. क्षेत्र संक्रमण।^१

२५६९. ग्लान्य—कोई भिक्षु ग्लान हो और उसके प्रायोग्य आहार, औषध आदि न मिले अथवा कोई भिक्षुणी ग्लान अथवा वृद्धा हो तो उसकी सेवा शुश्रूषा विषयक चिन्ता संभव है। उपसर्ग—कोई दांडिक पुरुष (पुलिसमैन आदि) भिक्षुणियों पर उपसर्ग कर रहे हों, उन्हें कष्ट दे रहे हों तो चिन्ता हो सकती है कि ये इस उपसर्ग से कैसे मुक्त हों?

२५७०. उपधिस्तेन और शरीरस्तेन—किसी क्षेत्र में कोई उपद्रवी साध्वियों के वस्त्र आदि चुराते हों, उनको शारीरिक कष्ट देते हों, उनके चारित्रभंग का प्रयत्न करते हों तो व्यवसायी—दूधनिश्चयी, अनेक सहायकों वाले, धृतिमान् भिक्षु का चित्त भी विषादग्रस्त हो सकता है कि किस प्रकार वे इस आपत्ति से मुक्त हों।

२५७१. अद्भुतान—अटवी में परिश्रान्त, क्षुधा एवं पिपासा से व्याकुल भिक्षु को चिन्ता हो सकती है कि इससे कैसे निस्तार हो? संभ्रम—दावानल, बाढ़ आदि के भय एवं संभ्रम को जानकर किसी को चिन्ता होना स्वाभाविक है। भय—कोई बोधिक (म्लेच्छ विशेष) तथा म्लेच्छ के भय से भी चिन्तातुर हो सकता है।

२५७२. क्षेत्र-संक्रमण—क्षेत्र संक्रमण विषयक चिन्ता (चिन्तन) छह द्वारों से ज्ञेय है—१. निर्ग्रन्थियों के गणधर की प्ररूपणा २. क्षेत्र प्रेक्षा ३. वसति ४. शय्यातर ५. विचार (भूमि) और ६. गच्छ की आज्ञा।

२५७३. साध्वियों का गणधर दस विशेषताओं से सम्पन्न होना चाहिए—१. प्रियधर्मा २. दूधधर्मा ३. संविग्न ४. अवद्यभीरू ५. ओजस्वी ६. तेजस्वी ७. संग्रहकार ८. उपग्रहकार ९. पुरुष और १०. सूत्रार्थविद्।

२५७४. ओजस्वी—जिसका आरोह (ऊंचाई) और परीणाह (चौड़ाई/मोटाई) तुल्य हो, शरीर चितमांस (मांसल) हो, इन्द्रिय प्रतिपूर्ण हों, वह ओजस्वी कहलाता है। तेजस्वी—जिसके शरीर में अलज्जनीयता हो, वह तेजस्वी कहलाता है।

२५७५. क्षेत्र की प्रतिलेखना का जो क्रम पूर्वनिर्दिष्ट है, उसी आनुपूर्वी से करणीय है। प्रेरक—क्या क्षेत्रप्रतिलेखना के लिए गणधर (आचार्य) जाते हैं? समाधान—जो वहन करता है, वही घास चरता है। इसी प्रकार आचार्य ही गण का भोग करते हैं अतः वे ही गण के चिन्ता के भार का वहन करते हैं। (अतः संयतियों के लिए भी क्षेत्र प्रतिलेखना गणधर—संयतों के द्वारा ही करणीय है।)

२५७६. यदि संयतियों को क्षेत्र प्रतिलेखना के लिए भेजा जाता है तो आचार्य को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है तथा उन्हें आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पक्षिणी शिकारी के बाज का विषय आसानी से बन जाती है, उसी प्रकार दुष्टव्यक्ति स्त्री पर हावी हो जाते हैं। जैसे आम्र आदि फलों का टुकड़ा सभी के लिए अभिलषणीय होता है, वैसे ही कोई भी विषयार्थी स्त्री को आसानी से प्रेरित कर सकता है। वह स्वल्प वस्तु से भी प्रलुब्ध हो सकती है, अतः संयती को क्षेत्रप्रतिलेखना के लिए भेजने पर हरण आदि दोष पैदा होते हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. २५६९-८९।

२५७७. तुच्छेण वि लोभिज्जति, भरुयच्छाहरण नियडिसड्डेणं।
पिंतणिमंतण वहणे, चेइयरूढाण अक्खिवणं^१ ॥ २४५३ ॥
२५७८. एमादिकारणेहिं^२, ण कप्पती संजतीण पडिलेहा।
गंतव्व गणधरेणं, विधिणा जो वण्णतो पुव्विं ॥ २४५४ ॥
२५७९. घणकुड्डा सकवाडा, सागारिय भगिणिमाउ^३ पेरंते।
णिप्पच्चवाय जोग्गा, विच्छिण्ण पुरोहडा वसधी^४ ॥ २४५५ ॥
२५८०. णासण्ण णातिदूरे, विधवा-परिणतवयाण पडिसेवे।
मज्झत्थऽविकाराणं, अकुतूहलभाविताणं च^५ ॥ २४५६ ॥
२५८१. गुत्तागुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तिमंतं^६ गंभीरे।
भीतपरिसमद्विते, 'अज्जासेज्जातरे भणिता'^७ ॥ २४५७ ॥
२५८२. 'भोइय-महतरमादी'^८, बहुसयणो पेल्लओ^९ कुलीणो य।
परिणतवओ अभीरू, अणभिग्गहितो अकुतूहली^{१०} ॥ २४५८ ॥
२५८३. वीयारे बहि गुरुगा, अंतो विय ततियवज्जिते^{११} चेव।
ततिए वि जत्थ पुरिसा, उर्वेति वेसित्थियाओ य^{१२} ॥ २४५९ ॥
२५८४. जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थि णपुंस हेट्ट तेरिच्छ।
सा तु दिसा पडिकुट्टा, पढमा बितिया चउत्थी य^{१३} ॥ २४६० ॥ नि ५७६ ॥
२५८५. चारभड-घोड^{१४} मेंठा, सोलग^{१५} तरुणा य जे य दुस्सीला।
उब्भामित्थी वेसिय, अपुमेसु य एंति तु तदट्ठी^{१६} ॥ २४६१ ॥

१. °वणा (भ), बृभा २०५४।

२. एएहिं का° (बृभा २०५५)।

३. माउ भगिणि (बृभा २०५९)।

४. वसही (क)।

५. बृभा २०६०, गा. २५७९, २५८०—ये दोनों गाथाएं दे और पा प्रति में गा. २५८१ के बाद हैं। बृहत्कल्पभाष्य में भी यही क्रम मिलता है।

६. सत्तमंत (बृभा २०५८)।

७. ओभासण चिंतणा दाणे (बृभा)।

८. भोईय मयहर° (दे)।

९. पित्तउ (क), पिल्लओ (बृभा २०६१)।

१०. अकोउहल्ली (भ, पा)।

११. °वज्जते (मु)।

१२. बृभा २०६४।

१३. बृभा २०६५, बृभाटी में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा' का संकेत है।

१४. पंचालवट्टादि घोडा (चू)।

१५. सोला तुरगपरियट्टगा (चू)।

१६. बृभा २०६६।

२५७७. स्वल्प प्रलोभन से स्त्रियों को प्रलुब्ध किया जा सकता है, इस विषय में भरुकच्छ के कपट श्रावक का उदाहरण ज्ञातव्य है। भरुकच्छ में विराजमान रूपवती साध्वियों पर मुग्ध हुए व्यापारी ने छद्मश्रावकत्व के द्वारा साध्वियों को विश्वास में ले लिया। उसने प्रवर्तिनी से निवेदन किया कि मेरे वाहन-स्थान में मैंने मंगल स्थान बनवाया है। कृपाकर वहां साध्वियों को चैत्यवन्दना के लिए भेजें। वहां जाकर साध्वियां जैसे ही उस वाहन पर चढ़ी, उसने वाहन चला दिया और साध्वियों का अपहरण कर ले गया।

२५७८. इत्यादि (पूर्वोक्त) कारणों से साध्वी को क्षेत्र-प्रतिलेखना हेतु भोजना नहीं कल्पता, अतः पूर्व वर्णित (ओघ निर्युक्ति में वर्णित) विधि से आचार्य को क्षेत्रप्रतिलेखना हेतु जाना चाहिये।

२५७९. वसति—साध्वियों का उपाश्रय घनकुड्य—पक्की ईंट की दीवार वाला और कपाटयुक्त हो, उसके पर्यन्त—आसपास शय्यातर की बहिन, माता आदि प्रौढवय वाली स्त्रियां रहती हों, वह निष्प्रत्यपाय—दुष्टजनों, स्तेन आदि के भय से रहित तथा साध्वियों के रहने योग्य हो तथा उसके पास पुरोहड—आगे या पीछे खुला स्थान हो।

२५८०. जो विधवा या प्रौढवय वाली हों, मध्यस्थ—कंदर्पशील न हों, गीत आदि विकारों से रहित, साध्वियों के आहारादि क्रियाओं के विषय में कौतुकरहित और धर्म से भावित हों, वे स्त्रियां साध्वियों के उपाश्रय से न अति दूर, न अति निकट सेवा करे, रहे।

२२८१, २५८२. शय्यातर—उस गुप्त (सुरक्षित) और गुप्तद्वार वाली वसति का मालिक, ग्रामप्रमुख या महत्तर (अग्रणी पुरुष) हो, कुलपुत्र, शक्तिमान्, गंभीर, भीतपरिषत् (दबंग), मार्दव सम्पन्न, बहुत से स्वजनों वाला, प्रेरक (उचित प्रेरणा देने वाला), उच्च कुल में उत्पन्न (कुलीन) हो, परिणत वय—प्रौढ, अभीरु (साहसी), अनभिगृहीत (अनाग्रही) तथा अकुतूहली हो—ऐसा व्यक्ति आर्या का शय्यातर हो सकता है।

२५८३. विचारभूमि—उत्सर्गतः संयतियों की विचारभूमि अन्दर—उपाश्रय से संलग्न होती है। उसमें भी तृतीय भंग—आपात असंलोक प्रशस्त है। यदि साध्वियां बाहर विचारभूमि में जाएं अथवा तृतीय भंग को छोड़कर अन्य भंग वाली विचारभूमि में उत्सर्ग करे तो आचार्य को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आपात स्थंडिल में भी जहां पुरुषों तथा वैश्या स्त्रियों का आवागमन हो, वह स्थंडिल अप्रयुज्य है।

२५८४. वह दिशा, जहां दुःशील—परदाराभिलाषी व्यक्ति आते रहते हों, जहां वैश्या स्त्रियां, नपुंसक, अधो भाग (गुह्य अवयवों) का क्षौरकर्म करने वाले तथा तिर्यच—बन्दर आदि बैठे हों, वह दिशा उत्सर्ग हेतु प्रतिक्रुष्ट है तथा प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थी—पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण दिशा भी सामान्यतः उत्सर्ग हेतु निषिद्ध है।

२५८५. उपर्युक्त स्थानों में गुप्तचर, सैनिक, कामासक्त पुरुष^१, महावत^२, अश्वपाल^३ आदि आते रहते हैं तथा दुश्चरित्र युवक, उद्भ्रामक स्त्रियों और नपुंसकों के पास उनके प्रार्थी (अभिलाषी) व्यक्ति आते रहते हैं।

१. घोड—कामासक्त।

२. मेंट—महावत।

३. सोलग—अश्वपाल।

२५८६. हेट्टुउवासणहेतुं, णेगागमणम्मि गहण उड्डाहो ।
वाणर-मयूर-हंसा, छगलग^१-सुणगादि-तेरिच्छा ॥ २४६२ ॥
२५८७. जइ अंतो वाघातो, बहिया 'सिं ततियया'^२ अणुण्णाता ।
सेसा णाणुण्णाता, अज्जाण वियारभूमीओ ॥ २४६३ ॥
२५८८. पडिलेहियं च खेत्तं, संजतिवग्गस्स आणणा होंति^३ ।
णिव्कारणम्मि मग्गतो, कारण 'पुरतो व समगं'^४ वा ॥ २४६४ ॥
२५८९. णिप्पच्चवाय-संबंधि^५-भाविते गणधरऽप्पबिति-ततिओ ।
णेति भए पुण सत्थेण, सद्धि^६ कतकरणसहितो वा^७ ॥ २४६५ ॥
२५९०. उभयट्ठातिणिविट्ठं, मा पेल्ले वइणि^८ तेण पुर एगे^९ ।
तं तु ण जुज्जति अविणय, विरुद्धउभयं च जतणाए^{१०} ॥ २४६६ ॥
२५९१. णातगमणातगं^{११} वा, सावगमस्सावगं च जे भिक्खू ।
अद्धं वा कसिणं वा, रातिं^{१२} तू संवसाणादी ॥ २४६७ ॥ नि ५७७ ॥
२५९२. साधुं^{१३} उवासमाणो, उवासगो सो वती य अवती वा ।
सो पुण णातग इतरो, एवऽणुवासे^{१४} वि दो भंगा ॥ २४६८ ॥ नि ५७८ ॥
२५९३. इत्थिं पडुच्च सुत्तं, सहिरण्ण सभोयणे च आवासे ।
जइ णिस्सागत जे वा, मेहुण-णिसिभोयणे कुज्जा ॥ २४६९ ॥
२५९४. जइ पत्ता तु निसीधे^{१५}, पए व णिंतेसु अद्धमण्णतरे ।
एगतरमुभयतो वा, वाघातेणं तु^{१६} अद्धणिसिं^{१७} ॥ २४७० ॥

१. छाला (बृभा २०६७) ।

२. तासि तइया (बृभा २०६८) ।

३. होइ (दे) ।

४. समगं व पुरतो (बृभा २०६९) ।

५. संबंधे (दे) ।

६. सद्धिं (मु, पा) ।

७. बृभा २०७० ।

८. समणि (क) ।

९. वेगो (क) ।

१०. बृभा २०७१ ।

११. सूत्र १२ (नव ८/१२), णायगो स्वजनो अणायगो
अस्वजनः (चू) ।

१२. राती (दे) ।

१३. साहू (दे) ।

१४. एवमणुवासगे (क, पा) ।

१५. निसीहे (क) ।

१६. व (दे) ।

१७. णिसी (दे) ।

२५८६. जो व्यक्ति गुह्य प्रदेश के क्षौरकर्म^१ हेतु वहां रहते हैं, उनके पास अनेक लोग आते हैं। उनमें से कोई (उदीर्णमोह) यदि संयती को पकड़ ले तो उड्डाह होता है। इसी प्रकार वानर, मोर, हंस, बकरा और कुत्ता—ये तिर्यच भी स्त्री के अभिलाषी होते हैं अतः इनसे बचना चाहिए।

२५८७. यदि अन्तःस्थित विचारभूमि में कोई व्याघात उत्पन्न हो जाए तो बाहर भी तृतीय भंग^२ अनुज्ञात है। आर्याओं की विचारभूमि की दृष्टि से अन्य भंग अनुज्ञात नहीं।

२५८८. जब क्षेत्र की प्रतिलेखना हो जाए तो संयतीवर्ग का आनयन—एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में संक्रमण किया जाता है। यदि कोई विशेष कारण भय आदि न हो तो साधु के पीछे साध्वियां चले। विशेष कारण में साध्वियां साधुओं के आगे एवं साथ-साथ भी चल सकती हैं।

२५८९. निष्प्रत्यपाय अवस्था में गणधर एक या दो साधुओं के साथ साध्वियों को उनके सम्बन्धी जनों से भावित (उनके साथ लेकर) जाए। यदि भय आदि कोई प्रत्यपाय हो तो वह उन्हें सार्थ के साथ या किसी कृतकरण (सहस्रयोधी आदि) संयत के साथ उन्हें लेकर जाएं।

२५९०. कुछ आचार्यों का मत है—संयती को आगे चलना चाहिए ताकि संयत या संयती कायिकी या संज्ञा विसर्जन हेतु बैठे तो परस्पर एक दूसरे को प्रेरित न करे। पर उनका यह मत उपयुक्त नहीं क्योंकि इससे साध्वियों का अविनय प्रकट होता है तथा यह विधि लोकविरुद्ध है। इसलिए दोनों ही पक्ष कायिकी एवं संज्ञा का विसर्जन यतना से करे—जहां एक साधु कायिकी आदि का विसर्जन करे, वहां सब रुक जाएं। साधुओं के रुकते देख साध्वियां भी पीछे रुक जाएं तथा यथास्थान विसर्जन करके आ जाएं, जिससे उपर्युक्त दोष नहीं होते।

२५९१. जो भिक्षु स्वजन तथा अन्यजन, श्रावक या अन्य किसी भी गृहस्थ को आधी या पूरी रात अपने साथ संवास करवाता है, संवास का अनुमोदन करता है, उसे आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं।

२५९२. साधु की उपासना करने वाला उपासक (श्रमणोपासक) कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं—१. व्रती—स्थूलप्राणातिपातविरमण आदि व्रतों को धारण करने वाला तथा २. अव्रती। पुनः प्रत्येक के दो प्रकार हो सकते हैं—१. ज्ञाति—स्वजन तथा २. इतर—अस्वजन। इसी प्रकार अनुपासक (श्रावकेतर गृहस्थ) के भी दो-दो भंग संभव हैं।

२५९३. प्रस्तुत सूत्र मुख्यतः स्त्रीविषयक है—यदि भिक्षु स्त्री को संवास करवाता है, स्त्री सहित पुरुष को, हिरण्य (स्वर्ण आदि द्रव्य) युक्त पुरुष को या भक्तपान युक्त पुरुष को अपने उपाश्रय में रात्रि में संवास करवाता है तो उसे सूत्रनिपात से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह गृहस्थ वहां रहता हुआ मैथुन का सेवन करता है अथवा रात्रिभोजन करता है तो वह भी उड्डाह आदि का हेतु बनता है।

२५९४. यदि रात्रि के एक, दो या तीन प्रहर बीतने पर उपाश्रय में पहुंचे हों या सुबह दोनों में से एक—गृहस्थ या संयत जल्दी चले जाएं या किसी व्याघात के कारण दोनों ही चले जाएं तो अर्धनिशा, एक या तीन याम का भी संवास संभव है।

१. उवासण—क्षौरकर्म, हजामत।

२. तृतीय भंग में जहां स्त्रियों का आवागमन हो, वह स्थंडिल अनुज्ञात है।

२५९५. सागारियअधिकरणे, भासादोसा य वालमातंके ।
आउय-वाघातम्मि य, सपक्ख-परपक्ख-तेणादी ॥ २४७१ ॥
२५९६. किंचण अट्टा एतेहिं, घातितो गहण-दोस-गमणं वा ।
अण्णेणावि^१ अवहिते^२, संका गहणादिया दोसा ॥ २४७२ ॥ नि ५७९ ॥
२५९७. तम्हा ण संवसेज्जा, खिप्पं णिक्कामते तओ ते उ ।
जे भिक्खू ण णिक्खामे, सो पावति आणमादीणि ॥ २४७३ ॥ नि ५८० ॥
२५९८. बितियपदं गेलण्णे, पडिणीए तेण सावयभए वा ।
सेहे अद्धाणम्मि य, कप्पति जतणाए संवासो ॥ २४७४ ॥
२५९९. आगंतुगं तु वेज्जं, अण्णट्टागासती^३ य संवसते^४ ।
पडिणीए तु गिहीणं, अल्लियति गिही व आणेति ॥ २४७५ ॥
२६००. संवासे^५ जे दोसा, णिक्खमण-पवेसणम्मि ते चेव ।
णातव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ २४७६ ॥
२६०१. गिहिसहितो वा संका, आरक्खिगमादि गेणहणादीया ।
उभयाचरणदवासति, अवण्ण-अपमज्जणादीया ॥ २४७७ ॥
२६०२. समवायादी^६ तु पदा, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसिं असणादीणं^७, गेणहंताऽऽणादिणो दोसा^८ ॥ २४७८ ॥ नि ५८१ ॥
२६०३. गणभत्तं समवाओ, तत्थ ण कप्पं जहिं णिवस्संसी ।
पितिकालो पिंडनिवेदणं तु णिवणीयसामण्णो ॥ २४७९ ॥
२६०४. इंदमहादीएसुं, उवहारं^९ णिवस्स जणवद-पुरे वा ।
वितिमिस्सितो न कप्पति, भद्ग-पंतादिदोसेहिं ॥ २४८० ॥

१. अण्णेण वावि (मु, दे) ।

२. अविहिते (दे) ।

३. °ट्टाणास° (मु) ।

४. °सति (दे) ।

५. सूत्र १३ (नव ८/१३) ।

६. सूत्र १४ (नव ८/१४) ।

७. °दीणिं (भ) ।

८. दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

९. °हारे (पा) ।

२५९५, २५९६. गृहस्थ के साथ संवास के दोष—१. सागारिक—रात्रि में जलाभाव के कारण कायिकी विसर्जन के पश्चात् भिक्षु को मूत्र से आचमन (शौचक्रिया) तथा पादप्रमार्जन करना पड़े तो अशौच (सागारिक) का प्रसंग आता है। २. अधिकरण—गृहस्थ अप्काय, अग्निकाय आदि का समारंभ करे तो हिंसा होती है। आते जाते समय हाथ, पैर आदि के लगने से आपस में कलह हो सकता है। ३. भाषादोष—भिक्षु संयती की भाषा बोले तो गृहस्थ उसे ग्रहण कर लेता है और असंयती की भाषा बोलता है, तो सावद्य भाषा का दोष लगता है। ४. व्याल, आतंक, यथायु और व्याघात—यदि गृहस्थ किसी सांप आदि के डसने, आतंक की उत्पत्ति से, आयुष्यक्षय से अथवा अन्य किसी व्याघात से मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो साधुओं पर शंका हो सकती है कि हो सकता है, इन्होंने इसे हिरण्य आदि के लिए मार दिया हो, फलतः ग्रहण, आकर्षण आदि दोष संभव है। ५. स्वपक्षदोष—यदि उस गृहस्थ के पास धन हो और कोई शैक्ष या अभिनवधर्मा उसे लेकर चला जाए, तब भी साधुओं के प्रति शंका आदि दोष पैदा हो सकते हैं। ६. परपक्षदोष—उस गृहस्थ का धन कोई अन्य गृहस्थ या चोर आदि ग्रहण कर ले, तब भी साधुओं के प्रति शंका ग्रहण आदि दोष हो सकते हैं।

२५९७. गृहस्थ के साथ रात्रि संवास में उपर्युक्त दोष हैं अतः भिक्षु उनके साथ संवास न करे। उपाश्रय से उन्हें निष्क्रान्त कर दे। जो भिक्षु गृहस्थों को निष्क्रमण हेतु नहीं कहता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२५९८, २५९९. अपवादपद में इन कारणों से यतनापूर्वक रात्रि में गृहस्थ के साथ संवास करना कल्पता है—१. ग्लान्य २. प्रत्यनीक ३. स्तेन अथवा श्वापद भय ४. शैक्ष और ५. अटवी। किसी ग्लान भिक्षु के लिए वैद्य आदि को बुलाया गया। अन्य स्थान का अभाव है तो उस आगंतुक वैद्य के साथ संवास करना प्रत्यनीक, स्तेन आदि के भय में गृहस्थ के साथ संश्लिष्ट रहना अथवा गृहस्थ को बुलाना अपवाद पद है।^१

२६००. गृहस्थ के साथ रात्रि संवास में जो दोष प्रज्ञप्त हैं, मतिमान् व्यक्ति को वे ही दोष उनके साथ निष्क्रमण-प्रवेश में जान लेने चाहिए। अतः कायिकी विसर्जन आदि के लिए निष्क्रमण एवं प्रवेश के विषय में पूर्व (उत्सर्ग) एवं अपर (अपवाद) पद में वही विधि ज्ञातव्य है।

२६०१. गृहस्थ के साथ निष्क्रमण प्रवेश करते देख कोई भिक्षु पर चोर या पारदारिक होने की शंका कर सकता है, आरक्षक आदि उसे पकड़ सकते हैं, बन्दी आदि बना सकते हैं। उभय संज्ञाओं—कायिकी एवं संज्ञा के पश्चात् जलाभाव में भिक्षु आचमन नहीं करता तो उड्डाह एवं अवर्णवाद की संभावना रहती है, पैर, स्थंडिल आदि की प्रमार्जना न करे तो संयमविराधना होती है अतः रात्रि में गृहस्थ के साथ विसर्जन आदि के लिए निष्क्रमण या प्रवेश न करे।

२६०२. समवाय (गोठ का भोजन), श्राद्ध का भोजन, इंद्रमह, स्कन्ध आदि उत्सवों का भोजन आदि जिन-जिन का सूत्र में कथन किया गया है, उनमें जो भिक्षु अशन, पान आदि का ग्रहण करता है, उसे आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं।

२६०३, २६०४. वह गणभक्त (गोठ का सामूहिक भोज), जिसमें राजा की भी हिस्सेदारी हो, मुनि के लिए कल्पनीय नहीं। इसी प्रकार पितृकाल (श्राद्ध महीने) में पितरों के लिए आहार दिया जाए, जिसमें राजा के ज्ञातिजन भी सम्मिलित हों, वह श्राद्धभोजन मुनि के लिए कल्पनीय नहीं। इंद्रमहोत्सव, स्कन्धमहोत्सव, गिरियात्रा आदि विभिन्न उत्सवों पर जो बलि आदि उपहृत किए जाते हैं, उसमें यदि नागरजनों के साथ राजा का भोजनांश भी मिश्रित हो तो वह भिक्षु को ग्रहण करना नहीं कल्पता क्योंकि उसमें भद्रप्रत्ययिक एवं प्रान्तकृत दोषों की संभावना रहती है।

१. शैक्ष को जब तक प्रव्रजित न किया जाए तथा अटवी आदि में साथ-साथ चल रहे हों, वहां भी आपवादिक संवास कल्पता है।

२६०५. रण्णो पत्तेगं वा, वि होज्ज अहवा वि मिस्सिता ते तु ।
गहणागहणेगस्स^१ उ, दोसा उ इमे पसज्जति ॥ २४८१ ॥
२६०६. भद्दग तण्णीसाए, पंतो घेप्पंत द्दु णं भणति ।
अंतो घरे ण इच्छह, इह गहणं दुद्धम्मो त्ति ॥ २४८२ ॥
२६०७. भत्तोवधिवोच्छेदं, णिव्विसय^२-चरित्त-जीवभेदं वा ।
एगमणेगपदोसे, कुज्जा पत्थारमादीणि ॥ २४८३ ॥
२६०८. तेसु अगेण्हंतेसू, तीसे परिसाएँ एवमुप्पज्जे ।
को जाणति किं एते, साधू घेतुं ण इच्छंति ॥ २४८४ ॥
२६०९. इतरेसिं गहणम्मी, णिव-चोल्लग-वज्जणे जणासंका ।
जातीदोसं से ते, जाणंतगंतुगो सो य^३ ॥ २४८५ ॥
२६१०. तम्हा ण तत्थ गमणं, समवायादीसु जत्थ रण्णो उ ।
पत्तेगं वा भत्तं, अण्णेण जणेण वा मिस्सं ॥ २४८६ ॥
२६११. बित्तिपदं गेलण्णे, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरियपदोसे, भए य गहणं अणुण्णातं ॥ २४८७ ॥
२६१२. उत्तर^४-साला उत्तर-गिहा य रण्णो हवति दुविधा तु ।
गहणागहणे तत्थ उ, दोसा ते 'तं च'^५ बित्तिपदं ॥ २४८८ ॥
२६१३. साल त्ति णवरि णेमं^६, उज्जाण-पवेसं^७ सव्वहिं वज्जे ।
सालाणं पुण गहणं, हयादि हितणट्टमासंका ॥ २४८९ ॥

१. गिहिणां (दे) ।

२. णिव्विस्सय (दे) ।

३. वा (दे) ।

४. सूत्र १५ (नव ८/१५) ।

५. च्चेव (भ) ।

६. णिभमेत्तं णेमं उदाहरणमात्रं (चू) ।

७. णेण (मु) ।

२६०५. जहां मूर्धाभिषिक्त राजा का प्रत्येक—अकेले का भोज हो, चाहे अन्य नागरिकों के साथ मिश्रभोज हो, उसमें से अन्य का ग्रहण करे और राजपिण्ड का ग्रहण न करे या दोनों का ग्रहण करे तो इन (अधोलिखित) दोषों को प्रसंग आ सकता है।

२६०६, २६०७. ग्रहण में दोष—यदि राजा भद्रप्रकृति वाला है तो सोचता है कि भिक्षुजन संखंडी मिश्रित मेरा आहार लेते हैं तो वह दान देने हेतु बार-बार संखंडी करता है। यदि राजा प्रान्त (क्रूर) प्रकृति वाला है तो सोचता है—ये मुनि कितने दुष्टधर्मा हैं, जो मेरे घर में मेरा भोजन ग्रहण नहीं करते और यहां जनपद भक्त के साथ उसका ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा सोच वह रुष्ट हो जाता है, फलतः भिक्षुओं के आहार, उपधि आदि का व्यवच्छेद कर देता है, उन्हें देशनिकाला दे देता है, चारित्रभ्रष्ट या जीवनच्युत कर देता है। एक या अनेक भिक्षुओं पर प्रद्विष्ट होकर वह कुल, गण, संघ आदि का प्रस्तार—विनाश कर देता है।

२६०८. साधु राजा के भोजन से मिश्रित अशन आदि का ग्रहण नहीं करते तो परिषद् (गोठ आदि में सम्मिलित लोगों) में यह शंकायुक्त चिन्तन पैदा होता है कि कौन जाने, क्या कारण है कि साधु इस अशन आदि को क्यों नहीं लेना चाहते ?

२६०९, २६१०. बहुत सारे गौष्ठिक पुरुषों के साथ राजा का भी अशनादि उपस्कृत हो, वहां यदि भिक्षु अन्य लोगों के भोजन^१ में से ग्रहण करे और राजा के भोजन का वर्जन करे तो लोगों में आशंका होती है—यह राजा करकण्डू के समान आगन्तुक है। लगता है, मुनिवर इसके जातिदोष को (यह हीन जाति है ऐसा) जानते हैं। फलतः सर्वत्र उसकी चर्चा से प्रद्विष्ट होकर राजा उनके भक्त, उपधि आदि का व्यवच्छेद कर देता है। अतः उन गोष्ठी-भोजों में, जहां राजा का अकेले का या अन्य लोगों के आहार के साथ मिश्र आहार आदि बनता हो, वहां जाना मुनि के लिए कल्पनीय नहीं।

२६११. अपवादपद में इन कारणों में उपर्युक्त अवसरों पर बने राजपिण्ड का ग्रहण अनुज्ञात है—
१. आगाढ़ ग्लान्य हो। २. राजा का बार-बार निमंत्रण हो तो एक बार लेकर प्रसंगदोष का निवारण करे।
३. कोई दुर्लभ द्रव्य अन्यत्र अनुपलब्ध हो। ४. केवल राजा के घर को छोड़कर अन्य सभी घर अशिव ग्रस्त हों। ५. अवमौदरिका (दुर्भिक्ष) आदि के कारण अन्यत्र आहार आदि अनुपलब्ध हो। ६. राजा किसी कारण से अत्यधिक प्रद्विष्ट हो तथा ७. अन्यत्र बोधिक, म्लेच्छ आदि का भय हो।

२६१२. राजाओं के द्विविध उत्तरशाला—सभागृह तथा दो प्रकार के उत्तरगृह होते हैं। उनमें होने वाले राजपिण्ड को ग्रहण करने अथवा न करने पर वे (पूर्वप्रज्ञप्त) ही दोष तथा वही अपवाद पद है।

२६१३. प्रस्तुत सूत्र में शाला का ग्रहण उदाहरण मात्र^२ है। वस्तुतः राजा के उद्यान, उपवेशन स्थान (या प्रवेश मार्ग) आदि सभी स्थान आहार आदि के लिए वर्ज्य हैं। घुड़साल, गजशाला आदि में घोड़े, हाथी आदि के अपहरण होने या भाग जाने पर साधु पर दोषारोपण की आशंका रहती है, इसलिए भी इस सूत्र में शाला का ग्रहण किया गया है।

१. चोल्लग—भोजन।

२. निभा २ चू. पृ. ४४५—णेमं उदाहरणमात्रं।

२६१४. मूलगिहमसंबद्धा^१, गिहा य साला य उत्तरा होंति ।
जत्थ व^२ ण वसति राया, पच्छा कीरंति जावऽण्णे ॥ २४९० ॥
२६१५. हयमादी^३ साला खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
गहणागहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २४९१ ॥
२६१६. सण्णिधिसण्णिचयातो^४, खीरादी वत्थपत्तमादी वा^५ ।
गहणागहणे तत्थ उ, दोसा ते 'तं च'^६ बितियपदं ॥ २४९२ ॥
२६१७. ओदण^७-गोरसमादी, विणासिदव्वा तु सण्णिधी होंति ।
सक्कुलि-तेल्ल-घत-गुला, अविणासी संचइयदव्वा^८ ॥ २४९३ ॥
२६१८. ओसट्टे उज्झियधम्मिण्ण उ संसट्ट सावसेसेसु ।
वणिमग जायणपिंडो, अणाहपिंडे अबंधूणं ॥ २४९४ ॥ नि ५८२ ॥
२६१९. एतेसामण्णतरं, जे पिंडं रायसंतियं गिण्हे ।
ते चेव तत्थ दोसा, तं चेव य होति^९ बितियपदं ॥ २४९५ ॥ नि ५८३ ॥
- अट्ठमो उद्देशो समत्तो**
२६२०. पत्थिव^{१०}-पिंडऽधिकारो^{११}, अयमवि तस्सेव एस णवमस्स ।
सो कतिविधो त्ति वा केरिसस्स रण्णो विवज्जो उ ॥ २४९६ ॥
२६२१. जो 'मुद्धा अभिसित्तो'^{१२}, पंचहि सहितो पभुंजते रज्जं ।
तस्स तु पिंडो वज्जो, तत्त्विवरीतम्मि भयणा तु ॥ २४९७ ॥
२६२२. मुदिते मुद्धऽभिसित्ते, मुदितो जो होति 'जोणितो सुद्धो'^{१३} ।
अभिसित्तो च परेहिं, सयं च भरहो जथा राया^{१४} ॥ २४९८ ॥

१. मूलगहं (दे) ।

२. वि (दे) ।

३. सूत्र १६ (नव ८/१६) ।

४. सूत्र १७ (नव ८/१७) ।

५. या (दे) ।

६. च्चेव (दे) ।

७. सूत्र १८ (नव ८/१८) ।

८. संचयीदं (दे) ।

९. तत्थ (भ) ।

१०. सूत्र १, २ (नव ९/१, २) ।

११. पिंडऽहीकारे (भ) ।

१२. मुद्धं परं प्रधानमाद्यमित्यर्थः, तस्स आदिराइणा अभिसित्तो मुद्धो मुद्धाभिसित्तो (चू) ।

१३. जोणिसुद्धो तु (दे, जीभा १९९९, पंकभा १३०१) ।

१४. वृभा ६३८२, पंकभा १३०१ ।

२६१४. जो मूल गृह (राजमहल) से असंबद्ध होते हैं, जहां राजा निवास नहीं करता या जिनका निर्माण पश्चात्—उत्तरकाल में होता है, वे घर और शाला भी उत्तरगृह एवं उत्तरशाला कहलाते हैं।

२६१५. अश्वशाला, गजशाला, मंत्रशाला आदि जिन-जिन शालाओं का सूत्र में आख्यान किया गया है वहां राजपिण्ड ग्रहण करने या न करने पर वे ही दोष तथा वही अपवादपद ज्ञातव्य है।

२६१६. राजा से सम्बद्ध दूध, दही आदि सन्निधि द्रव्यों तथा वस्त्र, पात्र आदि संचयिक द्रव्यों में से ग्रहण करने तथा न करने पर भिक्षु के वे ही दोष हैं तथा वही अपवादपद है।

२६१७. चावल (भात), गौरस—दूध, दही आदि विनाशी द्रव्यों का संग्रह सन्निधि कहलाता है। तिलपपड़ी, तैल, घी, गुड़ आदि अविनाशी द्रव्यों का संग्रह संचय कहलाता है।

२६१८. उज्झितधर्मा—त्याज्य भोजन उत्सृष्ट पिण्ड तथा भुक्तावशिष्ट—खाने के बाद बचा हुआ भोजन संसृष्ट पिण्ड कहलाता है। याचना वृत्ति (भिक्षा वृत्ति) से जीवन यापन करने वालों के लिए बनाया हुआ भोजन वनीपक पिण्ड तथा अनाथ—जिनका कोई बंधु न हो, उनके लिए बनाया गया भोजन अनाथपिण्ड कहलाता है।

२६१९. जो भिक्षु उत्सृष्ट पिण्ड, संसृष्ट पिण्ड इत्यादि में से किसी आहार को, जो राजा से संबद्ध हो, ग्रहण करता है, उसे वे ही दोष प्राप्त होते हैं और उनके लिए वही द्वितीय पद—अपवादपद है।

२६२०. आठवें उद्देशक के अंतिम सूत्र में राजपिण्ड का अधिकार था, नवें उद्देशक के प्रथम सूत्र में भी उसी का अधिकार है—यह इन दोनों का संबंध है। प्रश्न है—राजपिण्ड के कितने प्रकार होते हैं और वह किस राजा का वर्जनीय है?

२६२१. जो मूर्धाभिषिक्त हो—जिसका राज्याभिषेक हो चुका हो तथा जो सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह—इन पांच पदाधिकारियों सहित राज्य का भोग कर रहा हो, उसका पिण्ड—अशन आदि मुनि के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अनभिषिक्त राजा आदि के विषय में भजना है—दोष लगे तो उस अशनादि का वर्जन करे, अन्यथा आवश्यक नहीं।

२६२२. जो राजा मुदित और मूर्धाभिषिक्त हो, उसका पिण्ड राजपिण्ड है। मुदित का अर्थ है—योनितः शुद्ध—जिसका कुल एवं वंश (मातृकुल एवं पितृवंश) उदित शुद्ध हो। जो दूसरे—पिता आदि के द्वारा अभिषिक्त हो या भरत के समान स्वयं अभिषिक्त हुआ हो, वह मूर्धाभिषिक्त कहलाता है।

२६२३. पढमगभंगे वज्जो, होतु व मा वावि जे तहिं^१ दोसा।
सेसेसु होतऽपिंडो, जहिं दोसा तं वि वज्जेति^२ ॥ २४९९ ॥
२६२४. असणादीया चतुरो, वत्थे पाए य कंबले चेव।
पाउंछणगे य तहा, अट्टविधो रायपिंडो तु^३ ॥ २५०० ॥ नि ५८४ ॥
२६२५. अट्टविधरायपिंडं^४, अण्णतरागं तु जो पडिग्गाहे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २५०१ ॥ नि ५८५ ॥
२६२६. ईसर-तलवर-माडंबिएहिं सेट्टीहिं सत्थवाहेहिं।
णिंतेहि अइंतेहि^५ य, वाघातो होति भिक्खुस्स^६ ॥ २५०२ ॥
२६२७. ईसरभोइयमादी^७, तलवरपट्टेण तलवरो^८ होति।
वेंटणबद्धो सेट्टी^९, पच्चंतणिवो^{१०} तु माडंबी^{११} ॥ २५०३ ॥
२६२८. जा णिंति^{१२} इंति तावऽच्छणे^{१३} उ सुत्तादि-भिक्खपरिहाणी।
रीया^{१४} अमंगलं ति य, पेल्लाऽऽहणणा इहरहा वा^{१५} ॥ २५०४ ॥
२६२९. लोभे एसणघातो, संका तेणे 'णपुंस इत्थी य'^{१६}।
इच्छंतमणिच्छंतं, चातुम्मासा भवे गुरुगा^{१७} ॥ २५०५ ॥
२६३०. अण्णत्थ एरिसं दुल्लभं ति 'गेण्हे अणेसणिज्ज'^{१८} पि।
अण्णेण वि अवहरिते, संकिज्जति एस तेणो त्ति ॥ २५०६ ॥
२६३१. वाघातो सज्झाए, सरीरवाघात भिक्खवाघातो।
राखत्तिय चउभंगो, इत्थं वाघातदोसा य^{१९} ॥ २५०७ ॥

१. भणित (जीभा २०००)।

२. बृभा ६३८३।

३. जीभा २००१, बृभा ६३८४।

४. 'पिंडे (बृभा ६३८५), (जीभा २००२)।

५. अणितेहि (मु)।

६. बृभा ६३८६, साहुस्स (जीभा २००३),
साधुस्स (पंकभा १३०२)।

७. 'भोईय' (दे), इश ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्तः ईश्वरः (चू)।

८. रायप्रतिमो चामरविरहितो तलवरो भण्णति (चू)।

९. जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति, तं वेंटणगं तं जस्स
रण्णा अणुण्णातं, सो सेट्टी भण्णति (चू)।

१०. 'तऽहिवो (बृभा ६३८७)।

११. जीभा २००४।

१२. णिंत (दे)।

१३. ता अच्छओ (बृभा, जीभा)।

१४. इरिया (बृभा ६३८८, जीभा)।

१५. तु (जीभा २००५)।

१६. चरित्तभेदे य (पंकभा १३०३)।

१७. बृभा ६३८९, जीभा २००६।

१८. गेण्हेज्जऽणे^{१८} (बृभा ६३९०, जीभा २००७),
गेण्हंतऽणे^{१८} (दे)।१९. दे प्रति, बृभा और जीभा में यह गाथा नहीं है। यद्यपि यह
गाथा प्रक्षिप्त सी लगती है, लेकिन संदर्भ की सुरक्षा की
दृष्टि से इसको मूल क्रमांक के साथ रखा है।

२६२३. मुदित और मूर्धाभिषिक्त से चतुर्भंगी हो जाती है। इनमें प्रथम भंग—जो मुदित भी हो और मूर्धाभिषिक्त भी, वर्ज्य है चाहे उसका अशन आदि ग्रहण करने का दोष हो या न हो। शेष तीन भंगों (मुदित हो, मूर्धाभिषिक्त नहीं इत्यादि) के पिण्ड को राजपिण्ड नहीं गिना जाता। यदि वह सदोष हो तो उसका वर्जन करें।

२६२४. राजपिण्ड के आठ प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. अशन आदि चार—१. अशन २. पान ३. खादिम ४. स्वादिम ५. वस्त्र ६. पात्र ७. कंबल और ८. पादप्रोज्जनक।

२६२५. जो भिक्षु उपर्युक्त आठ में से किसी भी राजपिण्ड को ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२६२६. ईश्वर, तलवर, माडंबिक, श्रेष्ठी और सार्थवाहों के गमन और आगमन से भिक्षु के व्याघात हो सकता है।

२६२७. ग्राम प्रधान आदि पट्टबद्ध राजपुरुष ईश्वर तथा तलवरपट्ट से युक्त राजपुरुष (चंवर रहित, राजा के समान सम्मान्य पुरुष) तलवर कहलाते हैं। जिसके मस्तक पर राजा की ओर से श्रीदेवी से अंकित वेष्टन बांधा जाता है वह श्रेष्ठी तथा प्रत्यन्त ग्रामों (छिन्न मंडबों) का राजा माडंबिक कहलाता है।

२६२८. राजमहल में ईश्वर, तलवर आदि के आवागमन से भिक्षु के व्याघात हो सकता है। उसके हाथ, पात्र आदि टूट सकते हैं। यदि वह उनके आने जाने की खड़ा-खड़ा प्रतीक्षा करे तो सूत्रार्थ पौरुषी तथा भिक्षा की परिहाणी हो सकती है। ईर्यापूर्वक चलते हुए उसे धक्का लग सकता है, अश्व आदि के निरीक्षण में तत्पर होने से संयम-विराधना संभव है। कोई मुंडित मस्तक को अमंगल समझकर भिक्षु को निकलवा देता है, चाबुक आदि से चोट पहुंचा देता है। ऐसा न भी हो, तब भी लोगों की भीड़ के कारण भी धकियाना, चोट आना आदि संभव हैं।

२६२९. राजकुल में प्रविष्ट होने वाला भिक्षु—१. लोभ के कारण एषणा का घात कर देता है। २. किसी वस्तु की चोरी हो जाए तो उस पर शंका हो सकती है। ३. स्तेन भी उसकी निश्रा से प्रविष्ट हो सकते हैं। ४. नपुंसक, स्त्री आदि के साथ प्रतिसेवना की इच्छा करने और न करने—दोनों ओर दोष की संभावना रहती है अतः राजपिण्ड ग्रहण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२६३०. अन्यत्र इस प्रकार का द्रव्य मुश्किल है या अमुक द्रव्य दुर्लभ है, ऐसा सोचकर कदाचित् भिक्षु अनेषणीय भी ग्रहण कर लेता है। राजकुल में अनेक वस्तुएं इधर उधर रखी हुई होती हैं, उनमें से किसी का उसी दिन हरण हो जाए तो भिक्षु के विषय में शंका होना स्वाभाविक है।

२६३१. राजकुल में प्रविष्ट होने वाला भिक्षु ईश्वर, तलवर आदि के प्रवेश, निष्क्रमण में होने वाली भीड़ आदि से बचने हेतु यदि उनकी प्रतीक्षा करे तो उसके सूत्र और अर्थ—स्वाध्याय की हानि (व्याघात) होती है। यदि वह उनकी प्रतीक्षा न करे तो हाथ, पैर आदि के चोट लगने से शरीर का व्याघात होता है। विभिन्न व्याघातों से बचने की चेष्टा में वह कभी समय पर भिक्षार्थ जा नहीं पाता, फलतः भिक्षा में व्याघात होता है। राजा और क्षत्रिय (मूर्धाभिषिक्त और मुदित) से सम्बद्ध चारों ही भंगों में इस प्रकार के व्याघात आदि दोष संभव है।

२६३२. अलभंता पवियारं, इत्थि-णपुंसा बला वि गेण्हंति^१ ।
आयरियकुल-गणे वा, संघे 'व करेज्ज'^२ पत्थारं ॥ २५०८ ॥
२६३३. अण्णे वि होंति दोसा, 'आइण्णे गुम्मरयणमादीया'^३ ।
तण्णीसाय पवेसो, तिरिक्ख-मणुया भवे दुट्ठा^४ ॥ २५०९ ॥ नि ५८६ ॥
२६३४. आइण्णे रतणाइं^५, गेण्हेज्ज सयं परो व तण्णीसा^६ ।
गोम्मिय-गहणाऽऽहणणा, रण्णो य^७ णिवेदिते जं तु ॥ २५१० ॥
२६३५. चारिय-चोराभिमरा, कामी पविसंति^८ तत्थ तण्णीसा^९ ।
वाणर^{१०}-तरच्छ-वग्घा, मिच्छादिणरा व घातेज्जा ॥ २५११ ॥
२६३६. दुविधे 'गेलण्णम्मि य'^{११}, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरिय-पदोसे, भए य गहणं अणुण्णातं^{१२} ॥ २५१२ ॥
२६३७. अंतेउरं^{१३} च तिविधं, जुण्ण^{१४}-णव^{१५} चैव कण्णगाणं^{१६} च ।
एक्केक्कं पि य दुविधं, सट्ठाणे चैव परठाणे ॥ २५१३ ॥ नि ५८७ ॥
२६३८. एतेसामण्णतरं, रण्णो अंतेपुरं तु जो पविसे^{१७} ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २५१४ ॥ नि ५८८ ॥
२६३९. दंडारक्खिय दोवारिएहिं, वरिसधर-कंचुइज्जेहिं ।
णिंतेहि अणिंतेहि य, वाघातो चैव^{१८} भिक्खुस्स ॥ २५१५ ॥

१. गेण्हेज्जा (जीभा २००९, बृभा ६३९२) ।

२. वा कुज्ज (जीभा) ।

३. 'रयणगुम्ममा' (दे), गोम्मियआइण्णरतणमादी य (जीभा २०१०) ।

४. बृभा (६३९३) की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा' का संकेत है ।

५. 'णादी (दे, बृभा ६३९४) ।

६. तन्निस्सा (दे, बृभा) ।

७. वि (दे) ।

८. व विसंति (बृभा ६३९५, जीभा) ।

९. निस्साते (दे, पा) ।

१०. वारण (जीभा २०१२) ।

११. 'म्मिं (दे, भ), 'म्मी (जीभा २०१३) ।

१२. बृभा ६३९६ ।

१३. सूत्र ३ (नव ९/३) ।

१४. णहसियजोव्वणाओ अपरिभुज्जमाणीओ अच्छंति, एयं जुण्णंतेपुरं (चू) ।

१५. जोव्वणयुत्ता परिभुज्जमाणीओ नवंतेपुरं (चू) ।

१६. अप्पत्तजोव्वणाण रायदुहियाण संगहो कन्नंतेपुरं (चू) ।

१७. पवेसे (भ) ।

१८. होति (भ) ।

२६३२. अन्तःपुर में रहने वाले स्त्री, नपुंसक आदि वहां प्रविचार (कामक्रीड़ा) का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते, फलतः एकान्त देख साधु को बलात् पकड़ लेते हैं, ऐसी स्थिति में यदि वह उनकी बात स्वीकार कर लेता है तो संयम विराधना आदि दोष होते हैं। यदि वह उन्हें अस्वीकार कर देता है तो वे साधु पर बलात् ग्रहण का कलंक लगा देते हैं, कष्ट देते हैं। राजा भी रुष्ट होकर आचार्य के कुल, गण या संघ का विनाश कर सकता है।

२६३३. राजकुल में प्रवेश करने पर अन्य दोष भी होते हैं, जैसे—कदाचित् वहां कोई रत्न आदि बिखरे हुए हों और उस अतिभूमि (निषिद्ध स्थान) में भिक्षु प्रविष्ट हो जाए तो तत्रस्थ गौल्मिक पुरुष आदि उसे आहत कर सकते हैं। अथवा उस की निश्रा से कोई दुष्ट तिर्यच या मनुष्य प्रविष्ट होकर किसी को हानि पहुंचा सकते हैं।

२६३४. राजकुल रत्न आदि से आकीर्ण होता है—स्वयं भिक्षु या उसकी निश्रा से कोई अन्य व्यक्ति उनका हरण कर ले, उन्हें ले लें तो गौल्मिक पुरुष भिक्षु को बन्दी बना सकते हैं, पीट सकते हैं या राजा को निवेदन कर दे तो वह उन्हें कष्ट पहुंचा सकता है, मरवा सकता है।

२६३५. भिक्षु की निश्रा से कोई गुप्तचर, चोर, वधक (अहिमर) अथवा कामुक आदमी प्रविष्ट हो जाए, बन्दर, तरक्ष (व्याघ्र) आदि जन्तु प्रविष्ट हो जाएं और वे राजकुल में कुछ हानि पहुंचा दे, किसी के साथ प्रतिसेवना कर ले तो भिक्षु पर आरोप आ सकता है। यदि भिक्षु का प्रवेश अनुज्ञात हो, तब भी अज्ञानवश म्लेच्छ आदि लोग उसे मार सकते हैं अतः भिक्षु राजपिण्ड का ग्रहण न करे।

२६३६. इन परिस्थितियों (अपवादों) में राजपिण्ड का ग्रहण अनुज्ञात है—१. दोनों प्रकार के (आगाढ़ और अनागाढ़) ग्लान्य में भिक्षु को किसी पथ्य की अत्यन्त अपेक्षा हो। २. राजा निर्मात्रित करे तो उसे कहे—यदि पुनः नहीं कहो तो (एक बार) ले लेता हूं। अथवा अधिक आग्रह हो तो ले ले। ३. कोई दुर्लभ द्रव्य अनिवार्यतः चाहिए। ४. अवमौदरिका की स्थिति हो। ५. राजकुमार प्रद्विष्ट हो। (राजा प्रद्विष्ट हो) और ६. बोधिक, म्लेच्छ आदि के भय से राजा के यहां ठहरा हुआ हो। (रह रहा हो।)

२६३७, २६३८. अन्तःपुर के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. जीर्ण अन्तःपुर (प्रौढ़ एवं अपरिभोग्य रानियों का) २. नव अन्तःपुर (युवा एवं परिभोग्य रानियों का) और ३. कन्या अन्तःपुर (अप्राप्तयौवन राजकुमारियों का)। प्रत्येक के दो-दो प्रकार होते हैं—१. स्वस्थान (राजमहल) में स्थित तथा २. परस्थान (उद्यान आदि) में स्थित। जो भिक्षु इनमें से किसी अन्तःपुर में प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२६३९. अन्तःपुरों में दण्डारक्षकों, द्वारपालों, वर्षधरों एवं कंचुकीपुरुषों के गमनागमन से भिक्षु के स्वाध्याय आदि में व्याघात होता है।

२६४०. दंडधरो^१ दंडारक्खिओ^२ उ, दोवारिया^३ उ दारिद्धा ।
वरिसधर-बद्ध-चिप्पित, कंचुगिपुरिसा^४ तु महतरगा^५ ॥ २५१६ ॥
२६४१. अण्णे व^६ होंति दोसा, आइण्णे गुम्मरतणइत्थीओ ।
तण्णीसाएँ पवेसो, तिरिक्ख-मणुया भवे दुट्ठा ॥ २५१७ ॥
२६४२. सद्दादि इंदियत्थोवओगदोसा ण एसणं सोधे ।
सिंगारकहाकहणे, एगतरुभए य बहुदोसा ॥ २५१८ ॥
२६४३. बहिया वि होंति दोसा, केरिसगा कहण-गेण्णहादीया ।
गव्वो बाउसियत्तं, सिंगाराणं च संभरणं ॥ २५१९ ॥
२६४४. बितियपदमणाभोगा, वसहि-परिक्खेव सेज्ज-संधारे ।
हयमादी दुट्ठाणं, आवयमाणाण 'कज्जे व'^७ ॥ २५२० ॥
२६४५. जे^८ भिक्खू वएज्जाहि^९, अंतेउरियं^{१०} ण कप्पते^{११} मज्झं ।
अंतेउरमतिगंतुं, आहारपिंड इहाणादी ॥ २५२१ ॥ नि ५८९ ॥
२६४६. गमणादि अपडिलेहा, दंडिगकोवे^{१२} हिरण्णसच्चित्ते ।
अभिओग-विसे हरणं, भेद विरोधे य लेवकडे ॥ २५२२ ॥
२६४७. लोभे एसणघातो, संका तेणे चरित्तभेदे य ।
इच्छंतमणिच्छंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ २५२३ ॥

१. दंडगहियग्गहत्थो सावतो अंतेपुरं रक्खइ (चू) ।

२. रण्णे वयणेण इत्थिं पुरिसं वा अंतेपुरं णीणेति पवेसेति वा,
एस दंडारक्खितो (चू) ।

३. दोवारिया दारे चेव णिविद्धा रक्खंति (चू) ।

४. रण्णे आणत्तीए अंतेपुरियसमीवं गच्छंति, अंतेपुरियाणत्तीए
वा रण्णे समीवं गच्छंति ते कंचुइया (चू) ।

५. जे रण्णे समीवं अंतेपुरियं णयंति आणंति वा रिउण्हायण्हातं
वा कहं कहेंति, कुवियं वा पसादेंति, कहेंति य रण्णे,
विदिते कारणे अण्णतो वि जं अग्गतो काउं वयंति, ते

महतरगा (चू) ।

६. वि (मु) ।

७. कज्जेसु (क, पा) ।

८. सूत्र ४ (नव ९/४) ।

९. °ज्जाही (भ) ।

१०. अंतेपुरवासिणी अंतेपुरिया रण्णे भारिया इत्यर्थः (चू) ।

११. कप्पती (दे) ।

१२. °कोवि (भ) ।

२६४०. १. दण्डारक्षक—जो हाथ में दंड धारण कर अन्तःपुर की रक्षा करता है। २. द्वारपाल—जो द्वार पर बैठ कर अन्तःपुर की रक्षा करता है। ३. वर्षधर—ये नपुंसक अन्तःपुर रक्षक होते हैं। इनके दो प्रकार हैं—१. वर्धित—बधिया—जिनके अण्डकोशों को पैदा होते ही छेदन आदि के द्वारा खण्डित—विनष्ट कर दिया जाए तथा २. चिप्पित—जन्म के समय में अंगूठे से मर्दन कर जिनका अण्डकोश दबा दिया जाए। ४. कंचुकी—जो अन्तःपुर के हुकुम (आज्ञा) को राजा के पास तथा राजा की आज्ञा को अन्तःपुर में पहुंचाता है। ५. महत्तरक—अन्तःपुर का वह विशिष्ट रक्षक, जो तत्रस्थ रानियों आदि को राजा के पास ले जाता है, उनके ऋतुस्नान, कोप, कोप के कारण आदि बातों का राजा को निवेदन करता है।

२६४१. अन्तःपुर में प्रवेश करने पर अन्य दोष भी होते हैं—वहां आकीर्ण रत्न आदि को भिक्षु के साथ आने वाले पुरुष या स्त्रियां उठा ले जाएं तो तत्रस्थ गौल्मिक पुरुष आदि भिक्षु को आहत कर सकते हैं। अथवा भिक्षु की निश्रा में कोई दुष्ट तिर्यच या मनुष्य अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर उसकी स्त्रियों या मुनि को चोट पहुंचा सकता है अथवा कोई अन्य प्रकार की अनिष्ट घटना हो सकती है।

२६४२. अन्तःपुर में होने वाले गीत आदि के शब्दों से इन्द्रिय विषयों में उपयुक्त भिक्षु ईर्या, एषणा आदि समितियों का शोधन नहीं कर पाता—सम्यक् पालन नहीं कर पाता। शृंगारकथा के कारण (तादृश वार्तालाप से) आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ या उभयसमुत्थ राग आदि दोष होने की संभावना रहती है।

२६४३. यदि वह अन्तःपुर उद्यान आदि बाह्य भागों में हो, तब भी अनेक दोष होते हैं। यथा—१. अन्तःपुर कैसा है—इस कौतुक से वहां जाए तो पूर्ववर्णित दोषों की संभावना रहती है। २. शृंगारकथा को कहने से भिक्षु को बन्दी बनाया जाना आदि दोष संभव हैं। ३. अन्तःपुर में कथा करने जाता हूँ, मेरा शरीर सुन्दर एवं परिपुष्ट है, इत्यादि बातों का गर्व हो सकता है। ४. बाकुशिकत्व—अन्तःपुर में प्रवेश के लिए वह हाथ, पैर आदि धो सकता है और ५. शृंगारिक वातावरण से उसे पूर्वभोगों की स्मृति हो सकती है।

२६४४. अपवाद में भिक्षु इन कारणों से अन्तःपुर में प्रविष्ट हो सकता है—१. अनाभोग—भिक्षु को ज्ञान न हो अथवा अन्तःपुर परस्थान—उद्यान आदि में हो तो वह पूर्वाभ्यास के कारण वहां अज्ञानवश प्रविष्ट हो जाता है। २. भिक्षु उद्यान में ठहरा हुआ हो और चारों ओर अन्तःपुर आ जाने से उनसे परिवेष्टित हो जाए तो अन्य वसति के अभाव में आगमन-गमन करना पड़े। ३. शय्या, संस्तारक लौटाने के लिए ४. दुष्ट घोड़े, हाथी, प्रत्यनीक आदि पीछे पड़ जाएं तो बचाव के लिए और ५. कुल, गण, संघ आदि के किसी आपत्कालीन कार्य के लिए रानी से मिलना हो तो भिक्षु अन्तःपुर में प्रविष्ट हो सकता है।

२६४५. जो भिक्षु अन्तःपुर की रानी, राजकुमारी आदि से कहता है—मुझे अन्तःपुर में आना नहीं कल्पता, अतः तुम मुझे यहीं आहार, पानी आदि लाकर दे दो, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२६४६. दोष—१. वह अन्तःपुरिका (रानी आदि) प्रतिलेखना के बिना गमनागमन करती है, पात्र आदि उठाती, रखती है अतः वह भिक्षा मुनि के लिए अकल्प्य है। २. भिक्षु को पात्र देते देखकर दंडारक्षक आदि कुपित हो सकते हैं। ३. वह अन्तःपुरिका भिक्षु के पात्र में भिक्षा के साथ हिरण्य आदि अकल्प्य या सचित्त पदार्थ डाल सकती है। ४. मुनि के सुन्दर, पुष्ट शरीर पर मुग्ध होकर वह पात्र के द्वारा वशीकरण कर सकती है। ५. प्रद्वेष के कारण अन्य व्यक्ति या स्वयं वह पात्र में विषैली वस्तु या विष डाल सकती हैं। ६. वह पात्र का हरण कर सकती है। ७. सम्यक् प्रकार से नहीं पकड़ने से उससे पात्र टूट सकता है और ८. अज्ञानवश वह मधुघृत जैसे लेपकृत विरोधी द्रव्यों को एक साथ डालकर ला सकती है।

२६४७. अन्तःपुर में प्रविष्ट होने वाला भिक्षु—१. लोभ के कारण एषणा की हानि कर देता है। २. अन्तःपुर में किसी वस्तु की चोरी होने पर उस पर शंका हो सकती है। ३. उसकी निश्रा में अन्य स्तेन आदि भी प्रविष्ट हो सकते हैं। ४. स्व एवं पर समुत्थ दोषों से चारित्र्यभेद हो सकता है तथा ५. तत्रस्थ स्त्री या नपुंसकों के साथ इच्छा से या बलात् अनिच्छा से प्रतिसेवना की संभावना हो सकती है, अतः अन्तःपुर में प्रविष्ट होने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२६४८. दुविधे गेलण्णम्मी, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरिय-पदोसे, भए व^१ 'सा कप्पते भणितुं'^२ ॥२५२४ ॥
२६४९. एसेव^३ गमो नियमा, णातव्वो होति बितियसुत्ते वि ।
पुव्वे अवरे य पदे, दुविधे उवधिम्मि वि तहेव ॥२५२५ ॥
२६५०. रण्णो^४ दुवारमादी, भत्ता^५ वुत्ता य जत्तिया सुत्ते ।
गहणागहणे तत्थ^६ व, दोसा उ इमे पसज्जंति ॥२५२६ ॥
२६५१. दोवारियपुव्वुत्ता, बलं पदादी पसू हय-गयादी ।
सेवग-भोइगमादी, कतऽकतवित्ती णव पुराणा ॥२५२७ ॥
२६५२. कंतार-णिग्गताणं, दुब्भिक्खे^७ दमग^८ वरिसवद्दलिया^९ ।
पाहुणग अतिहिआदेसिया य आरोग्गसालितरं ॥२५२८ ॥
२६५३. भद्दो^{१०} तण्णिस्साए, पंतो घेप्पंत दट्टु णं भणति ।
अंतो घरे न इच्छह, इह गहणं दुट्ठधम्म ति ॥२५२९ ॥
२६५४. भतोवधिवोच्छेदं, णिव्विसिय 'चरित्त-जीवभेदं वा'^{११} ।
एगमणेगपदोसे, कुज्जा पत्थारमादीणि ॥२५३० ॥
२६५५. तेसु अगेण्हंतेसू, तीसे परिसाएँ एवमुप्पज्जे ।
को जाणति किं एते, साधू घेतुं न इच्छंति ॥२५३१ ॥
२६५६. दुविधे गेलण्णम्मी^{१२}, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरियपदोसे, भए व^{१३} गहणं अणुण्णातं ॥२५३२ ॥

१. य (दे) ।

२. गहणं अणुण्णातं (जीभा २०१३) ।

३. सूत्र ५ (नव ९/५) ।

४. सूत्र ६ (नव ९/६) ।

५. भुत्ता (भ) ।

६. तत्था (भ) ।

७. कंताराते अडविणिग्गयाणं भुक्खत्ताणं जं दुब्भिक्खे राया

देति, तं दुब्भिक्खभत्तं (चू) ।

८. दमगा रंका तेसिं भत्तं दमगभत्तं (चू) ।

९. °सपाहुडिया (दे), पाहुडिवद्दलिया (क) ।

१०. भद्दो (भ) ।

११. जीयचरित्तभेदं व (दे) ।

१२. °म्मिं (दे, पा) ।

१३. य (पा) ।

२६४८. इन आपवादिक परिस्थितियों में भिक्षु को अन्तःपुरिका को पात्र देकर अशन आदि लाकर देने के लिए कहना कल्पता है—१. आगाढ़ या अनागाढ़—द्विविध ग्लान्य में किसी पथ्य आदि की अत्यन्त अपेक्षा हो। २. अन्तःपुर की स्त्रियां रानी आदि अत्यधिक आग्रह पूर्वक निमंत्रित करे। ३. कोई दुर्लभ द्रव्य अनिवार्यतः चाहिए और अन्यत्र अनुपलब्ध हो। ४. अशिव ५. अवमौदरिका आदि में अन्यत्र भिक्षा आदि न मिलने से अनिर्वाह की स्थिति हो या अन्तःपुर के सिवाय सब अशिवग्रस्त हों। ६. राजा या राजकुमार अथवा अन्य जनता प्रद्विष्ट हो और अन्तःपुर प्रद्विष्ट न हो तथा ७. म्लेच्छ, बोधिक आदि के भय से अन्यत्र जाना शक्य न हो।

२६४९. प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व (उत्सर्ग) एवं अपर (अपवादपद) में पूर्वोक्त विधि ही ज्ञातव्य है। मुनि के दोनों—औधिक एवं औपग्रहिक उपधि के विषय में ये सूत्रोक्त उत्सर्ग, अपवाद ज्ञातव्य हैं।

२६५०. प्रस्तुत सूत्र में राजा के घर में निष्पन्न द्वारपाल-भक्त, पशुभक्त, भृतकभक्त आदि जिन-जिन भक्तों—भोजनों का कथन किया गया है, उनको वहां ग्रहण करने पर और राजपिण्ड को ग्रहण न करने पर इन दोषों का प्रसंग आता है।

२६५१, २६५२. द्वारपाल का कथन पहले किया जा चुका। बल का अर्थ है—पदाति सेना, अश्व सेना आदि। हाथी, घोड़े आदि पशु शब्द से परिगणित हैं। सेवक, ग्रामप्राधान आदि, जिनकी आजीविका निर्धारित है, वे भृतक तथा जिनकी आजीविका निर्धारित नहीं, वे कृतक कहलाते हैं। अथवा वे नए और पुराने दो प्रकार के होते हैं। कांतार—सघन वनों से निर्गत लोगों के लिए, दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिए, द्रमक—भिखारियों तथा सुदीर्घकालीन (साप्ताहिक) आदि वर्षा में दिया जाने वाला भोजन क्रमशः कान्तारभक्त, दुर्भिक्षभक्त, द्रमकभक्त और वर्दलिकाभक्त कहलाता है। अतिथियों के लिए दिया जाने वाला आदेशभक्त या पाहुणभक्त तथा रोगियों को या आरोग्यशालाओं में वितरित किया जाने वाला भोजन ग्लानभक्त है।

२६५३-२६५५. राजकुल में द्वारपाल आदि के लिए निष्पन्न भोजन ग्रहण करने के दोष—भद्रप्रकृति वाला राजा सोचता है—द्वारपाल आदि के लिए बना भोजन भिक्षुजन ले सकते हैं तो इनके निमित्त बनवा कर दे दिया जाए। इस प्रकार वह उन निमित्तों से बारम्बार आरम्भ करता है। प्रान्तप्रकृति वाला राजा भिक्षु को उपर्युक्त प्रकार से आहार ग्रहण करते देख कर सोच सकता है—ये कितने दुष्टधर्मा हैं, जो मेरे घर में मेरा भोजन नहीं लेते और यह लेते हैं और वह उन पर रुष्ट हो जाता है। फलतः वह भिक्षुओं के आहार, उपधि आदि का व्यवच्छेद कर देता है, उन्हें देश निकाला दे देता है, चारित्रभ्रष्ट या जीवनच्युत कर देता है। एक या अनेक भिक्षुओं के प्रति प्रद्विष्ट होकर वह कुल, गण, संघ आदि का प्रस्तार—विनाश भी कर देता है। साधु राजा हेतु निष्पन्न आहार नहीं लेते तथा द्वारपाल, पशु, भृतक आदि हेतु निष्पन्न आहार लेते हैं, तो उनकी परिषद् (द्वारपाल, द्रमक आदि उन-उन लोगों) के मन में यह शंका हो सकती है—कौन जाने क्या कारण है? जो भिक्षु राजा द्वारा प्राप्त आहार नहीं लेना चाहते और हमारे से लेते हैं इत्यादि।

२६५६. निम्नोक्त अपवादों में द्वारपालभक्त, पशुभक्त आदि का ग्रहण करना अनुज्ञात है—१. द्विविध ग्लान्य (आगाढ़ या अनागाढ़ रोग) २. राजा द्वारा साग्रह निमंत्रण ३. दुर्लभ द्रव्य ४. अशिव ५. अवम (दुर्भिक्ष) ६. राजप्रद्वेष (राजा को प्रसन्न कर अनुकूल बनाने के लिए इनके लिए बना भोजन लिया जा सकता है) तथा ७. बोधिक, म्लेच्छ आदि का भय। (विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. २६४८)

१. दोषों हेतु द्रष्टव्य गा. २६५३-२६५५।

२६५७. छद्दोसायतणे^१ पुण, रण्णो अविजाणिरुण जे भिक्खू।
चउराय-पंचरायं, परेण पविसाणमादीणि^२ ॥२५३३॥ नि ५९० ॥
२६५८. कोट्टागारा^३ य तहा, भंडागारा^४ य पाणगारा^५ य।
खीरघर^६-गंजसाला^७, महाणसाणं^८ च छायतणा ॥२५३४॥
२६५९. गहणादीया दोसा, आयतणं संभवो त्ति वेगट्टा^९।
दिट्ठेतर^{१०} पुच्छि^{११} गविसण, गंजसाला उ कुट्टणिया ॥२५३५॥
२६६०. पढमे बितिए ततिए, चउत्थमासादि चउगुरू अंते।
उव्वातो पढमदिणे, बितिया एगेसि ता पंच ॥२५३६॥
२६६१. अहवा पढमे दिवसे, भिण्णं मासादि पंचमे गुरूगा।
वीसादि व एगेसिं, परेण पंचण्ह दिवसाणं ॥२५३७॥
२६६२. भद्देषु रायपिंडं, आवज्जति गहणमादिपंतेसु^{१२}।
असिवे ओमोदरिए, गेलण्णपदोस^{१३} बितियपदं ॥२५३८॥
२६६३. जे^{१४} भिक्खू रातीणं, णिगगच्छंताण अहव निंताणं।
चक्खुपडियाएँ पदमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥२५३९॥ नि ५९१ ॥
२६६४. संकप्पुट्टियपदभिंदणे य दिट्ठेसु चेव सोधी तु।
लहुगो गुरूगो मासो, चउरो लहुगा य गुरूगा य ॥२५४०॥
२६६५. मणउट्टियपदभेदे, य दंसणे मासमादि चतुगुरूगा।
गुरूगो लहुगा गुरूगा^{१५}, दंसणवज्जेसु य पदेसु ॥२५४१॥

१. सूत्र ७ (नव ९/७)।

२. इस गाथा के लिए चूर्ण में 'इमा णिज्जुत्ती' का उल्लेख है।

३. जत्थ सणसत्तरसाणि धण्णाणि कोट्टागारो (चू)।

४. भंडागारो जत्थ सोलसविहाइं रयणाइं (चू)।

५. पाणागारं जत्थ पाणियकम्मं तो सुरा-मधु-सीधु-खंडगं मच्छंडिय मुद्दियापभित्तीण पाणगाणि (चू)।

६. खीरघरं जत्थ खीर-दधि-णवणीय-तक्कादीणि अच्छंति (चू)।

७. गंजसाला जत्थ सण-सत्तरसाणि धण्णाणि कोट्टिज्जंति

अहवा गंजा जवा ते जत्थ अच्छंति, सा गंजसाला (चू)।

८. महाणससाला जत्थ असण-पाण-खातिमादीणि णाणाविहभक्खे उवक्खडिज्जंति (चू)।

९. एगट्टा (दे)।

१०. दिट्ठितरे (क)।

११. पुच्छ (दे)।

१२. °दिपिंडेसु (दे)।

१३. °पदे य (मु, भ)।

१४. सूत्र ८ (नव ९/८)।

१५. × (दे)।

२६५७. जो भिक्षु राजा से संबद्ध कोष्ठागार, भाण्डागार आदि छह दोषायतनों को सम्यक् प्रकार से जाने बिना, चार या पांच रात के बाद भी, पिंडपात की प्रतिज्ञा से प्रविष्ट होता है, निष्क्रमण करता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२६५८. वे छह दोषायतन (दोष के स्थान) हैं—१. कोष्ठागार (धान्य भंडार) २. भाण्डागार (खजाना) ३. पानागार (विभिन्न पेय पदार्थों का स्थान) ४. क्षीरशाला (दूध, दही आदि का स्थान, गौशाला) ५. गंजशाला (पाट आदि कूटने का स्थान या ईंधनशाला) और ६. महानसशाला।

२६५९. दोष का अर्थ है ग्रहण, आकर्षण (पकड़ना, बन्दी बनाना) आदि दोष। आयतन—स्थान, उत्पत्तिस्थान आदि एकार्थक हैं अतः उपर्युक्त छह स्थान दोषायतन कहलाते हैं। देखना, अदृष्ट को पूछना तथा गवेषणा करना—कितने हैं? उन भांडागार आदि का मुंह किधर है—इत्यादि बहुविध ज्ञान गवेषणा है। गंजशाला का अर्थ है—पाट आदि कूटने का स्थान।

२६६०. प्रथम दिन इन षडायतनों की जानकारी न करने पर भिक्षु को मासलघु तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ (आदि) दिनों में क्रमशः मासगुरु, चतुर्लघु और अन्त में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार पहले दिन थका हुआ होने से मुनि न भी पूछे तो दूसरे दिन से शुरू कर पांचवें दिन तक चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२६६१. एक आदेश के अनुसार उपर्युक्त दोष के प्रायश्चित्त का क्रम प्रथम दिन में भिन्नमास से प्रारम्भ करें तो पांचवें दिन चतुर्गुरु आता है। एक अन्य मत के अनुसार प्रायश्चित्त बीस दिन रात से शुरू करें तो चतुर्गुरु पांच दिन के बाद (छठे दिन) आता है।

२६६२. राजा के अन्नभंडार, खजाने आदि के रक्षक यदि भद्र हों तो उस अशन आदि की निश्रा में राजपिण्ड ग्रहण करने का प्रसंग आता है और यदि वे प्रान्त प्रकृति हों, तो ग्रहण, प्रान्तापन आदि दोष आते हैं। १. अशिव २. अवमौदरिका तथा ३. ग्लान्य में पणगपरिहाणी से यतना करते हुए अपवाद पद में कोष्ठागार आदि को जाने, पूछे और गवेषणा किए बिना भिक्षा ग्रहण की जा सकती है।

२६६३. जो भिक्षु मूर्धाभिषिक्त राजाओं के निर्गमन अथवा आगमन को देखने की प्रतिज्ञा से एक कदम भी रखने का अभिसंधारण—जाने का पर्यालोचन (संकल्प) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२६६४. राजा को देखूं—ऐसा संकल्प, उठना, पदभेद तथा दर्शन (देखना) आदि पदों के लिए भिक्षु को लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त (शोधि) प्राप्त होता है।

२६६५. एक अन्य आदेश से मन (संकल्प), उठना और पदभेद में ही मासगुरु यावत् चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त हो जाता है। ये प्रायश्चित्त दर्शन वर्ज्य (दर्शन से पूर्व के) पदों में प्रज्ञप्त हैं, दर्शन होने पर तो बात ही क्या?

२६६६. पडिपोग्गले अपडिपोग्गले^१ य गमणं नियत्तणं वावि ।
विजए पराजए वा, पडिसेधं वावि वोच्छेदं ॥२५४२॥
२६६७. दट्टूण य^२ रायड्ढिं, परीसहपराजितोऽत्थ कोई तु ।
आसंसं^३ वा कुज्जा, पडिगमणादीणि व पदाणि^४ ॥२५४३॥
२६६८. बितियपदमणप्पज्जे, अभिधारऽविकोविते व अप्पज्जे ।
जाणंतो वावि पुणो, कुल-गण-संघादिकज्जेसु ॥२५४४॥
२६६९. जे^५ भिक्खू इत्थियाएँ, सव्वालंकारभूसियाए तु ।
चक्खुवडियाएँ पदमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥२५४५॥ नि ५९२ ॥
२६७०. मणउट्टियपदभेदे^६, य दंसणे मासमादि चतुगुरुगा ।
गुरुगो लहुगा गुरुगा, दंसणवज्जेसु य पदेसु ॥२५४६॥
२६७१. केइत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी^७ य 'केइ निक्खंता' ।
रमणिज्जलोइयं ति य, अम्हं पेयारिसं^८ आसि ॥२५४७॥
२६७२. पडिगमणमण्णतित्थिग, सिद्धी संजति सलिंगहत्थे य ।
वेहाणस ओहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥२५४८॥
२६७३. रीयादि अणुवओगो, इत्थी-णाती-सुहीणमचियत्तं^९ ।
अजितिंदिय उड्डाहो, आवडणे भेद पडणं च ॥२५४९॥
२६७४. बितियपदमणप्पज्जे, अभिधारऽविकोविते व अप्पज्जे ।
जाणंतो वावि पुणो, मोह-तिगिच्छादि^{१०}-कज्जेसु ॥२५५०॥

१. × (दे) ।

२. व (दे) ।

३. आसंसा णिदाणं कुज्जा (चू) ।

४. पयाणं (दे) ।

५. सूत्र ९ (नव ९/९) ।

६. चित्तुट्ठिं (पा), इस गाथा का 'पा' प्रति में केवल

प्रथम चरण है ।

७. भुत्तं (दे) ।

८. पि य एरिसं (दे) ।

९. °ण अचिं (दे) ।

१०. °च्छा तु (भ) ।

२६६६. भद्र राजा 'प्रतिपुद्गल'—साधु के दर्शन को मंगल मानकर युद्ध आदि के लिए प्रस्थान करता है तो युद्ध, हिंसा आदि का निमित्त साधु बनता है तथा विजय प्राप्त होने पर वह बार-बार साधु दर्शन पुरस्सर ही युद्ध करना चाहता है। प्रान्त प्रकृति राजा साधु को 'अप्रतिपुद्गल'—मुण्डमस्तक या दरिद्र मानता हुआ उसके दर्शन को अमंगल मानता है। कदाचित् युद्ध में पराजय प्राप्त हो तो वह भिक्षु के भक्त, उपधि आदि का व्यवच्छेद कर सकता है, वसति हेतु प्रतिषेध कर सकता है।

२६६७. कोई परिषह पराजित भिक्षु राजा की ऋद्धि, अलंकृत अन्तःपुर आदि को देखकर आशंसा—निदान कर ले अथवा सिद्धपुत्री, संयती आदि से प्रतिसेवना कर ले, उत्प्रव्रजित होकर गृहवास में चला जाए आदि दोष संभव है, अतः राजा के आगमन आदि का पर्यालोचन मुनि के लिए निषिद्ध है।

२६६८. अपवाद पद में कोई अनात्मवश मुनि या आत्मवश भी अकोविद—अज्ञ मुनि राजा के गमन आदि को देखने के लिए संकल्प कर सकता है अथवा कुल, गण संघ आदि से सम्बद्ध कोई विशिष्ट कार्य हो तो जानता हुआ (विज्ञ भिक्षु) भी राजा के पीछे-पीछे जाकर उससे सम्पर्क आदि कर सकता है।

२६६९. जो भिक्षु मूर्धाभिषिक्त राजाओं की सारे अलंकारों से विभूषित स्त्रियों (रानियों, राजकुमारियों) को देखने की प्रतिज्ञा से एक कदम भी रखने का अभिसंधारण—जाने का पर्यालोचन (संकल्प) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२६७०. अलंकारों से विभूषित स्त्रियों (रानियों, राजकुमारियों) को देखूँ—ऐसा संकल्प उठाना, उसके लिए पदभेद करना (चलना) तथा उन्हें देखना—इनके लिए लघुमास से लेकर चतुर्गुरु अर्थात् क्रमशः गुरुमास, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक अन्य आदेश से ये प्रायश्चित्त दर्शन वर्ज्य (दर्शन से पूर्व) पदों के लिए है, दर्शन की तो बात ही क्या ?

२६७१. कोई राजकुमार, ईश्वरपुत्र आदि भोगों को भोग कर दीक्षित हुए हों, कोई भोगों का भोग किए बिना कुमार (अविवाहित) आदि अवस्थाओं में निष्क्रान्त हुए हों तो अन्तःपुरिकाओं को देखकर उन्हें अपने पूर्वभोगों की स्मृति हो जाती है कि हमारे भी इस प्रकार के रमणीय लौकिक भोग एवं स्त्री समूह था। हमें भी ये भोग प्राप्त होते इत्यादि स्मृति एवं कल्पना से वे उत्प्रव्रजित हो जाते हैं।

२६७२. वह भुक्तभोगी भिक्षु उन अलंकृत स्त्रियों से आकृष्ट होकर अपनी भोग स्मृति से चंचल बनकर प्रतिगमन कर लेता है अथवा किसी अन्यतीर्थिक भिक्षुणी, सिद्धपुत्री या संयती के साथ प्रतिसेवना कर लेता है अथवा हस्तकर्म कर लेता है। फिर जब उसे अपने व्रतभंग का भान होता है तो वैहायस मरण आदि अकाम मृत्यु का वरण कर लेता है अथवा अवधावन (गृहवास में प्रवेश) कर लेता है। अभुक्तभोगी मुनि को उन्हें देखकर कौतुक पैदा होता है और कुतूहलवश वह भी इन पदों का समाचरण कर लेता है।

२६७३. जब भिक्षु एकटक स्त्रियों की ओर देखता रहता है तो ईर्या के प्रति उसका उपयोग नहीं रहता। दूसरी ओर उन स्त्रियों के ज्ञातिजन, सुहृद आदि के लिए वह अप्रिय हो जाता है, क्योंकि उसकी अनुरक्त दृष्टि से उसका अंतरंग भाव ज्ञात हो जाता है फलतः 'वह अजितेन्द्रिय है' इस प्रकार लोगों में उड्डाह हो जाता है। ईर्या में अनुपयुक्त भिक्षु स्थाणु आदि से टकराकर गिर जाता है, पात्र, हाथ, पैर आदि टूट सकते हैं, पात्र गिर सकते हैं।

२६७४. प्रस्तुत सूत्र के द्वितीयपद है—अनात्मवश (क्षिप्तचित्त आदि) भिक्षु अथवा कोई अल्पज्ञ आत्मवश भिक्षु भी स्त्रियों को देखने का संकल्प कर सकता है। कोई भिक्षु विज्ञ है, लेकिन मोहचिकित्सा आदि प्रयोजनों से वृषभ साधुओं के साथ अल्पसागारिक स्थान में खड़ा होकर अन्तःपुरिकाओं को देख सकता है।

२६७५. णिव्वितियमायतीए^१, दिट्ठीकीवो असारिए पेहे ।
अद्धाणाणि व गच्छति, संबाहणमादि दिच्छंति^२ ॥ २५५१ ॥
२६७६. मंस^३ छवि भक्खणट्ठा, सव्वे उड्डुणिगता^४ समक्खाता ।
गहणागहणे 'तत्थ उ'^५, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५५२ ॥
२६७७. मंसक्खाता पारद्धिणिगता मच्छ-णदि-दह-समुहे ।
छवि-कलमादीसंगा, जे य फला जम्मि उ उडुम्मि ॥ २५५३ ॥
२६७८. मेधा^६ धारण^७ इंदिय, देहाऊणी^८ विक्ज्जते जम्हा ।
उववूहणिया तम्हा, चउव्विधा सा तु असणादी ॥ २५५४ ॥
२६७९. आसण्णमुक्क उट्टिय, भिण्णा उ विणिगता^९ ततो केई ।
वोच्छण्णा सव्वे णिगता तु पडिपक्खओ सुत्तं ॥ २५५५ ॥
२६८०. रण्णो उववूहणिया, समीहितोवक्खडा^{१०} य^{११} दुविधा तु ।
'छिन्नाच्छिन्ने तत्थ उ'^{१२}, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५५६ ॥
२६८१. राया^{१३} उ जहिं उसिते, तेसु पदेसेसु बितियदिवसादी ।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवावि करेज्ज सज्जायं ॥ २५५७ ॥ नि ५९३ ॥
२६८२. असणादी वाहारे, उच्चारादीणि वोसिरेज्जा वा ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २५५८ ॥ नि ५९४ ॥
२६८३. पम्हुट्ठ^{१४} अवहिते वा, संका अभिचारुगं च किं कुणति ।
इति अभिणववुत्थम्मी, चिरवुत्थऽचियत्तगहणादी^{१५} ॥ २५५९ ॥

१. °मादितीतो (दे), °तीए वि (भ) ।

२. दिज्जंति (दे), गच्छंति (भ) ।

३. सूत्र १० (नव ९/१०) ।

४. उडुणि° (क), °ग्गमा (भ) ।

५. तत्था (भ) ।

६. शीघ्रं ग्रंथग्रहणं मेधा (चू), सूत्र ११ (नव ९/११) ।

७. धारणा (पा), गृहीतस्याविस्मरणेन धृति धारणा (चू) ।

८. °ऊणि उ (पा) ।

९. व णिग्ग° (भ) ।

१०. ओदणकुसणादि उवक्खडा य (चू) ।

११. तु (मु) ।

१२. गहणागहणमच्छिण्णे (भ) ।

१३. सूत्र ११ (नव ९/१२), मुद्रित पुस्तक की सूत्र संख्या में ११ का क्रमांक दो बार है ।

१४. पम्हुट्ठं णाम पडियं, वीसरियं वा किंचि होज्ज (चू) ।

१५. °वुत्थ विचित्त° (दे) ।

२६७५. कोई दृष्टिक्लीब भिक्षु जब निर्विगय आदि चिकित्सा क्रम को पूरा करने पर भी उपशान्त न हो तो वह अल्पसागारिक स्थान में (जहां गृहस्थ अल्पतम हों या न हों, वहां) खड़ा होकर उनकी ओर देखे। यदि इससे उसके पुद्गलों का परिशाटन न हो तो वह उन्हें देखने मार्ग में जाए। फिर भी मोहोपशमन न हो तो उनके संबाधन—मालिश, मर्दन आदि क्रियाओं को देखे, मोहचिकित्सा हेतु इन पदभेद आदि क्रियाओं को करने में प्रायश्चित्त नहीं है।

२६७६. मांस, मत्स्य, छवि (कलम, चने आदि की फलियां) आदि फल खाने के लिए जंगल, नदी, समुद्र, उद्यान आदि में निर्गत सारे राजाओं का ऊपर (प्रस्तुत सूत्र में) बाह्य निर्गत रूप में कथन किया गया है। उनके लिए वहां जो अशन, पान आदि बनाया जाए, उसमें से ग्रहण न करने पर तथा राजपिण्ड को छोड़कर अन्यसत्क अशन का ग्रहण करने पर वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं तथा वही उसके लिए अपवादपद है।

२६७७. मांस खाने के लिए शिकार हेतु निर्गत, मत्स्य खाने के लिए नदी, द्रह, समुद्र आदि पर गए हुए तथा कलम (चावल या चना) के साथ होने वाली फली और जिस ऋतु में जो फल होते हैं, उनको खाने के प्रयोजन से उद्यान आदि में गए हुए राजाओं को प्रस्तुत सूत्र में 'बहिया निग्गयाणं' पद से निरूपित किया गया है।

२६७८. जिस आहार से मेधा, धारणा, इंद्रिय क्षमता, शरीर एवं आयु का विवर्धन हो, उसे उपबृंहणीय आहार कहा जाता है, वह अशन, पान आदि के भेद से चार प्रकार का होता है।

२६७९. भोजन के बाद परिषद् के लोग आसन छोड़कर उठ जाएं, वह उत्थित, उनमें से कुछ लोग चले जाएं, वह भिन्न तथा सारे चले जाएं तो परिषद् व्यवच्छिन्न कहलाती है। सूत्र में इनके प्रतिपक्ष—अनुत्थित आदि का ग्रहण किया गया है।

२६८०. राजा की भोजन मंडली में उपबृंहणिका समीहित—उपहत की जा रही हो। वह उपबृंहणिका उपस्कृत—ओदन आदि व्यंजन तथा अनुपस्कृत—दूध, दही आदि के भेद से दो प्रकार की होती है। उसके पुनः दो-दो प्रकार हो जाते हैं—१. छिन्न—जिसे परोस दिया गया हो और २. अच्छिन्न—जिसे परोसने के लिए रखा हो (परिविष्यमाण)। जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी भी प्रकार के उपबृंहणीय अशन आदि को परिषद् के उठने आदि से पूर्व ग्रहण करता है, अथवा राजा के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के हिस्से में से ग्रहण करता है, वहां वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं तथा वही उसके लिए अपवादपद है।

२६८१, २६८२. 'जहां राजा आज रहा है' वहां उन्हीं प्रदेशों में, द्वितीय आदि दिनों में (दूसरे, तीसरे दिन) जो भिक्षु विहरण करता है, स्वाध्याय करता है, अशन आदि का आहार करता है अथवा उच्चार आदि का विसर्जन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२६८३. वहां पर राजा आदि का कोई आभूषण आदि गिर गया हो, भूल से छूट गया हो और कोई अन्य व्यक्ति उसका हरण कर ले तो वहां प्रवासी मुनियों के प्रति शंका हो सकती है। किसी को शंका हो सकती है कि वे यहां वशीकरण आदि क्या कर रहे हैं। यदि राजा वहां से अभी (निकट भूतकाल में) गया हो तो ये दोष होते हैं और उसे गए हुए तथा मुनियों को रहते हुए काफी समय हो जाए तो अप्रियता आदि दोष पैदा होते हैं। ग्रहण, आकर्षण, वध-बन्धन आदि दोनों ही परिस्थितियों में संभव है।

२६८४. अहवा सचित्तकम्मे, दट्टूणोधारिते तु ते दिव्वे।
अत्थाणी वासहरे, णिवण्णसंबाहिओ व इहिं ॥ २५६० ॥
२६८५. भुत्ताभुत्ताण तहिं, भवन्ति मोहुब्भवेण दोसा तु।
पडिगमणादी तम्हा^१, एते उ पदे वि वज्जेज्जा ॥ २५६१ ॥
२६८६. बितियपदमणप्पज्जे, उस्सण्णाइण्ण^२-संभमभए वा।
जतणाएऽणुणवेत्ता, कप्पेंति विहारमादीणि ॥ २५६२ ॥
२६८७. जत्तुग्गतरादीणं^३, अहवा 'जत्ता उ'^४ पडिणियत्ताणं।
गहणागहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५६३ ॥
२६८८. मंगलममंगलिच्छा, णियत्तमणियत्तणेण^५ अधिकरणं।
जावन्तिगमादी वा^६, एमेव य पडिनियत्ते वी ॥ २५६४ ॥
२६८९. गिरिजत्तपट्टिताणं^७, अहवा जत्ताउ पडिनियत्ताणं।
गहणागहणे तत्थ उ, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५६५ ॥
२६९०. गिरिजत्ता गयगहणी, तत्थ उ संपट्टिता नियत्ताणं।
गहणागहणे 'तत्थ उ'^८, दोसा 'ते तं च'^९ बितियपदं ॥ २५६६ ॥
२६९१. रण्णो^{१०} महाभिसेगे, वट्टंते जो उ णिक्खमे भिक्खू।
'अहवा पविसेज्जाही'^{११}, सो पावति आणमादीणि ॥ २५६७ ॥ नि ५९५ ॥
२६९२. मंगलममंगले वा^{१२}, पवत्तण-णिवत्तणे य थिरमथिरे।
विजए पराजए वा, वोच्छेदं वावि पडिसेधं ॥ २५६८ ॥

१. जम्हा (भ)।

२. उस्सण्णं णाम ण तत्थ कोति वावारं वहति (चू)।

३. सूत्र १२, १३ (नव ९/१३, १४)।

४. जुत्ता (दे)।

५. णिवत्त° (क)।

६. या (भ)।

७. सूत्र १४-१७ (नव ९/१५-१८)।

८. दे प्रति में यह गाथा नहीं है।

९. × (दे)।

१०. भवन्ति (दे)।

११. सूत्र १८ (नव ९/१९)।

१२. °वावि पविसेज्जा (मु), °पवीसे° (दे)।

१३. या (क)।

२६८४, २६८५. अथवा राजमहल के दिव्य (अत्यन्त चित्ताकर्षक) चित्रों से युक्त स्थानों को देखकर उसके मन में कुछ अन्यथा भावों की उत्पत्ति होती है, वह रागपूर्वक सोचता है—यह आस्थानिक मंडप है, यह राजा का वासगृह है, यहां पर बैठा था, यहां उसका मर्दन किया गया था—इत्यादि चिन्तन करते हुए भुक्तभोगी को स्मृति एवं अभुक्तभोगी को कुतूहल निमित्तक मोहोद्भव होता है। मोह की तीव्रता में वह प्रतिगमन, प्रतिसेवना, हस्तकर्मादि कर लेता है। अतः मुनि राजमहल आदि में इन स्वाध्याय, आहार आदि पदों का वर्जन करे।

२६८६. द्वितीय पद—अपवाद में १. कोई अनात्मवश मुनि वहां प्रवास, स्वाध्याय आदि कर सकता है। २. वह स्थान चिरकाल से राजा के द्वारा परित्यक्त हो—वहां कोई कार्य वह न करता हो। ३. वह सर्वजन सामान्य (बहुजनाकीर्ण) हो। ४. अग्नि आदि के संभ्रम तथा ५. बोधिक आदि के भय में अन्य वसति न मिले तो मुनि को यतनापूर्वक अनुज्ञा लेकर वहां विहरण, स्वाध्याय आदि करना कल्पता है।

२६८७. कोई उग्र, भोज आदि मूर्धाभिषिक्त राजा परराज्य (शत्रु) को विजय करने के लिए यात्रा पर निकले या विजय यात्रा कर लौटे, उस समय मंगल आदि के निमित्त वह ब्राह्मणों आदि को भोजन कराता है, उस भोजन को ग्रहण करने तथा न करने पर भी वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं तथा उनके लिए वही द्वितीय पद है—ऐसा ज्ञातव्य है।

२६८८. भिक्षु को देखकर यात्राभिमुख राजा मंगल अथवा अमंगल की इच्छा (कामना) से यात्रा के लिए चला जाए या पुनः प्रविष्ट हो जाए—दोनों ही परिस्थितियों में अधिकरण की संभावना रहती है तथा यदि इतने ब्राह्मणों को भोजन करवाना है—ऐसी यावन्तिका संखड़ी हो तो तत्सम्बन्धी अधिकरण आदि दोष भी होते हैं। ये ही दोष विजययात्रा से लौटकर दिये जाने वाले ब्राह्मणभोज आदि में भी संभव हैं।

२६८९. नदीयात्रा, गिरियात्रा आदि के लिए प्रस्थित एवं प्रतिनिवृत्त राजा के द्वारा जिस ब्राह्मणभोज आदि का आयोजन होता है, उसमें अशन आदि ग्रहण करने एवं न करने पर वे ही दोष संभव हैं तथा अपवादपद प्रस्तुत सूत्रचतुष्टयी में ज्ञातव्य है।

२६९०. गिरियात्रा का प्रयोजन है—हाथी पकड़ना। उसके लिए प्रस्थित एवं उससे प्रतिनिवृत्त राजा के द्वारा जिस भोज आदि का आयोजन होता है, उसमें अशन आदि ग्रहण करने एवं न करने पर वे ही दोष संभव है तथा वही अपवादपद यहां भी ज्ञातव्य है।

२६९१. जिस समय राजा का महाभिषेक हो रहा हो, उस समय जो भिक्षु उसके निकट से निष्क्रमण अथवा प्रवेश करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२६९२. यदि वह राजा उस भिक्षु को मंगल मानता है तो राज्याभिषेक के प्रवर्तन में और अमंगल मानता है तो उसके निवर्तन में हिंसा आदि (अधिकरण) दोषों की संभावना रहती है। भिक्षु के निष्क्रमण-प्रवेश से राज्याभिषेक हुआ और यदि उसका शासन स्थिर हो गया, निरन्तर विजय मिली तो वह हर मांगलिक कार्य में साधु को बुलाना चाहेगा—इस प्रकार हर बार उसको अधिकरण का निमित्त बनना पड़ेगा। यदि वह अस्थिर शासन एवं पराजय का निमित्त बना तो राजा साधु के लिए वसति का व्यवच्छेद या आहार आदि प्रतिषेध कर सकता है।

२६९३. दद्रूण य राइड्ढिं^१, परीसह-पराजितोऽत्थ कोई^२ तु।
आसंसं वा कुज्जा, पडिगमणादीणि व पदाणि ॥ २५६९ ॥
२६९४. बितियपदमणप्पज्जे, अभिचारऽविकोविते^३ व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, ऽणुणवणादीहि कज्जेहिं ॥ २५७० ॥
२६९५. णारुणमणुणवणा^४, पुव्विं पच्छा अमंगलावणा^५।
उवओग पुच्छिरुणं, 'न णाए'^६ मज्जे अणुणवणा ॥ २५७१ ॥
२६९६. ओहादीयाभोगिणि, णिमित्तविसएण^७ वावि णारुणं।
भद्दे पुव्वाणुणा, पंतमणाते य मज्झमि ॥ २५७२ ॥
२६९७. अणुणविते दोसा, पच्छा वा^८ अप्पियं अवण्णो वा।
पंते पुव्वममंगल, णिच्छुभण-पदोस-पत्थारो ॥ २५७३ ॥
२६९८. आभोएत्ताण विदू, पुव्विं पच्छा णिमित्तविसएण।
राया किं देमि त्ति य, जं दिण्णं पुव्वरातीहिं ॥ २५७४ ॥
२६९९. जाणंतो अणुजाणति^९, अजाणओ भणति तेहि किं दिण्णं।
पायोग्गं ति य वुत्ते, किं पायोग्गं इमं सुणसु ॥ २५७५ ॥
२७००. आहार-उवधि-सेज्जा, ठाण-णिसीदण-तुयट्ट-गमणादी।
थी-पुरिसाण य दिक्खा, दिण्णा णे पुव्वराईहिं ॥ २५७६ ॥
२७०१. 'भद्दो सव्व'^{१०} वितरति, दिक्खावज्जमणुजाणती^{११} पंतो।
अणुसट्टादिमकाउं, णित्ते गुरुगा य आणादी ॥ २५७७ ॥
२७०२. चेइय-सावग-पव्वतिउकाम अतरंतबाल-'वुड्ढा य'^{१२}।
चत्ता अजंगमा वि य, अभत्ति तित्थस्स हाणी य ॥ २५७८ ॥

१. रायड्ढिं (मु)।

२. कोई (दे, भ)।

३. अभिधार (दे)

४. °ण वणु (क)।

५. °गलमव (मु, भ)।

६. अण्णाए (दे)।

७. °त्तवस (दे)।

८. ऊ (क)।

९. °णती (दे, क)।

१०. भद्दओ सव्व (दे)।

११. °णते (मु)।

१२. बुड्ढादी (दे)

२६९३. कोई परीषह पराजित भिक्षु राजा की ऋद्धि, अलंकृत अन्तःपुर आदि को देखकर आशंसा—निदान कर लेता है अथवा सिद्धपुत्री, संयती आदि के साथ प्रतिसेवना कर लेता है, उत्प्रव्रजित होकर गृहस्थवास में जा सकता है अतः राजा के महाभिषेक के समय भिक्षु का राजकुल में जाना प्रतिषिद्ध है।

२६९४. प्रस्तुत सूत्र के अपवादपद हैं—१. कोई अनात्मवश भिक्षु वहां चला जाए २. आत्मवश भिक्षु अकोविद—इन दोषों को न जानने के कारण चला जाए अथवा ३. कुल, गण, संघ आदि के विशिष्ट प्रयोजन से राजा की अनुज्ञा आदि प्राप्त करने के लिए अभिषेककाल में राजकुल में जा सकता है।

२६९५. यतना—अभिषिक्त होने वाले राजा के राज्य की स्थिति को अवधिज्ञान आदि के द्वारा जानकर उसके आधार पर पहले या पीछे निष्क्रमण या प्रवेश की अनुज्ञा ले। अन्यथा उसका राज्य अस्थिर होने से पहले अनुज्ञा लेने पर अमंगल तथा बाद में लेने पर वह अवज्ञा का अनुभव कर सकता है। उपयोग (विशिष्ट ज्ञान) के अभाव में पूछकर उसकी राज्य स्थिति का ज्ञान करे। यदि राज्य स्थिति ज्ञात न हो तो मध्य में अनुज्ञा ली जाए।

२६९६. अमुक राजा का राज्य स्थिर होगा या अस्थिर—इसे अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान से, आभोगिनी विद्या से अथवा अवितथ निमित्त से जाना जा सकता है। स्वयं के पास इनमें से ज्ञान का कोई साधन न हो तो अन्य से पूछकर जाना जाए। यदि वह राजा भद्र है तो पहले अनुज्ञा ले। यदि प्रान्त हो तो बाद में तथा प्रकृति अज्ञात हो तो मध्य में अनुज्ञा ले।

२६९७. विधिपूर्वक अनुज्ञा न ली जाए तो बाद में अनुज्ञा लेने पर वह सोचता है कि मैं इन भिक्षुओं के लिए अप्रिय हूँ, तभी ये मेरे अभिषेक के समय नहीं आये। अथवा ये भिक्षु घमंडी हैं, लोकव्यवहार को नहीं जानते हैं। यदि वह राजा प्रान्त प्रकृति का है तो पहले अनुज्ञा लेने पर अमंगल मानकर भिक्षुओं को अपने राज्य से निकाल देता है। प्रद्विष्ट होकर कुल, गण आदि का विनाश कर देता है।

२६९८. भिक्षु निमित्त आदि से जानकर राजा से पूर्व या पश्चात् अनुज्ञा लेते हैं। यदि वह (राजा) विज्ञ होता है तो भिक्षुओं को अनुज्ञा दे देता है। यदि वह विज्ञ नहीं होता तो पूछता है—क्या दूँ? आपको किसकी अनुज्ञा चाहिए! भिक्षु कहते हैं—जो पूर्व राजाओं के द्वारा प्रदत्त है, उसी की अनुज्ञा दें।

२६९९. यदि राजा परम्परा आदि का ज्ञाता हो तो वह भिक्षुओं के प्रायोग्य जो कुछ भी होता है, उसकी अनुज्ञा दे देता है अन्यथा पुनः पूछता है—मेरे पूर्वज राजाओं ने क्या-क्या दिया? मुनि कहते हैं—आपके पूर्वजों ने हमें प्रायोग्य का दान दिया? वह पूछता है—प्रायोग्य क्या होता है? भिक्षु कहते हैं—लो, सुनो।

२७००. आपके पूर्ववर्ती राजाओं ने समय-समय पर भिक्षुओं को उनके प्रायोग्य आहार, उपधि एवं उपाश्रय दिया। अपेक्षानुसार बैठने, खड़े होने, सोने एवं गमनागमन करने आदि की अनुज्ञा दी तथा स्त्री, पुरुषों को दीक्षा दी।

२७०१, २७०२. भिक्षुओं के ऐसा कहने पर भद्र प्रकृति वाला राजा उन्हें सब की अनुज्ञा दे देता है पर जो प्रान्त प्रकृति वाला होता है, वह दीक्षा को छोड़कर अन्य सबकी आज्ञा दे देता है। 'यदि आप सबको दीक्षित कर देंगे तो हम क्या करेंगे'—इस प्रकार प्रतिषेध करने पर भिक्षु उसे अनुशिष्टि प्रदान करें। यदि वे बिना अनुशिष्टि प्रदान किए, गमन करते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है तथा वे आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होते हैं। क्योंकि ऐसा करने से चैत्य, श्रावक, मुमुक्षु (दीक्षित होने के इच्छुक), अक्षम, बाल, वृद्ध एवं अजंगम (विहार करने में अक्षम) भिक्षुओं की उपेक्षा होती है, चैत्य, प्रवचन आदि के प्रति भक्ति का अभाव प्रतीत होता है, फलतः तीर्थ की हानि होती है।

२७०३. अच्छंताण वि गुरुगा, अभत्ति तित्थे य हाणि जा वुत्ता।
भणमाण भणावेत्ता, अच्छंति अणिच्छ वच्चंति ॥ २५७९ ॥
२७०४. संदिसह च पाउगं, दंडिग णिक्खमण एत्थ वारेति।
गुरुगा अणिग्गमम्मी^१, दोसु वि रज्जेसु अप्पबहुं ॥ २५८० ॥
२७०५. एक्कहि विदिण्णरज्जे, रज्जे एगत्थ होति अविदिण्णं।
एगत्थ इत्थियाओ, पुरिसज्जाता य एगत्थ ॥ २५८१ ॥
२७०६. तरुणा थेरा य तहा, 'दुग्गयगा अड्डगा'^२ य कुलपुत्ता।
जणवयगा णागरगा, अब्भित्तरबाहिरा^३ कुमारा य ॥ २५८२ ॥
२७०७. ओहीमादी णातुं, जे दिक्खमुवेत्ति तत्थ बहुगा उ।
ते बेत्ति^४ समणुजाणसु, असती पुरिसे य^५ जे य^६ बहू ॥ २५८३ ॥
२७०८. एताणि वितरति तहिं, कम्मघणो कक्खडो^७ उ णिव्विसती^८।
भरहाधिवो णऽसि तुमं, पभवामी^९ अप्पणो रज्जे ॥ २५८४ ॥
२७०९. दिक्खेहिं अच्छंता, अमंगलं वा मए इमे दिट्ठा।
'मा वा'^{१०} ण पुणो देच्छं, अभिक्खणं चेति णिव्विसए ॥ २५८५ ॥
२७१०. अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्ज-णिमित्ते पभुस्स करणं वा।
भिक्खे अलब्भमाणे, अद्धाणे जा जहिं जतणा ॥ २५८६ ॥
२७११. वेउव्वियलद्धी वा, ईसत्थे^{११} विज्जओरसबली वा।
तवलद्धि पुलागो वा, पेल्लेत्ति^{१२} तमेतरे गुरुगा ॥ २५८७ ॥

१. अणिक्खमं (क)।

२. दुक्खयरागाड्डया (दे)।

३. अब्भं (मु, भ)।

४. भण्णति (दे), भणति (पा)।

५, ६. व (दे)।

७. कक्खडो तिव्वकम्मोदए वट्टमाणो

णिव्विसए आणवेज्ज (चू)।

८. ँसए (मु)।

९. ँवामिं (भ)।

१०. वा मा (दे)।

११. इसं (भ)।

१२. पेल्लंति (दे)।

२७०३. यदि राजा के प्रतिषेध के बावजूद भी भिक्षु वहां रहें तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि इससे अन्य क्षेत्रों में जिन भव्य जीवों को प्रतिबोध प्राप्त हो सकता था, वे उपेक्षित होने से तीर्थ के प्रति भक्ति का अभाव प्रदर्शित होता है। नये क्षेत्र, श्रावक आदि न बनने से तीर्थ की हानि होती है। अतः भिक्षुओं का कर्तव्य है कि वे स्वयं राजा को सम्यक् प्रतिबोध दें, अन्य से कहलवाएं और अनुज्ञा प्राप्त करके वहां रहें। यदि सर्वथा अनिच्छा व्यक्त करे तो वहां से विहार दें।

२७०४. हमें प्रायोग्य की अनुज्ञा दें—ऐसा कहने पर जो दंडिक पुरुष (राजा) भिक्षा आदि देता है, पर निष्क्रमण—दीक्षित करने का निषेध करता है, वहां से निर्गमन न करने पर भिक्षु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, अतः वह दोनों राज्यों में अल्पबहुत्व का निर्धारण करे।

२७०५-२७०७. उस राजा के दो राज्य हों और वह एक में से दीक्षित करने की अनुज्ञा दे और एक में से न दे। अथवा एक राज्य के पुरुषों को और अन्य राज्य की स्त्रियों को दीक्षित करने की अनुज्ञा दे। अथवा कहे—तरुण और स्थविरों में से एक वर्ग को दीक्षित करें, निर्धन और धनी, कुलीन और अकुलीन, जनपदवासियों और नगरवासियों, आभ्यन्तरवर्ती और बाह्यवर्ती अथवा कुमार और विवाहित में से किसी एक वर्ग को दीक्षित करने की अनुज्ञा दे तथा अन्य को न दे तो भिक्षु अवधि आदि ज्ञान-विशेष से जाने और जहां पर बहुत से पुरुष दीक्षा लेने वाले हों, उनकी अनुज्ञा देने के लिए कहे। यदि पुरुष दीक्षा लेने वाले अधिक न हों तो जो वर्ग हो, उसकी अनुज्ञा प्राप्त करे।

२७०८. कोई राजा उपर्युक्त विधि से अनुज्ञा दे देता है किन्तु कोई भारीकर्मा और अत्यधिक कर्कश प्रकृति वाला हो तो भिक्षुओं को ऐसा कहने पर राज्य से निकाल देता है। तब कोई पुलाक आदि लब्धि से सम्पन्न भिक्षु कहे—तुम पूरे भारत के अधिपति नहीं हो। वह कहता है—चाहे भरताधिप नहीं हूँ पर अपने राज्य पर मेरा प्रभुत्व है, अतः आप निकल जाएं यहां से।

२७०९. वह (कर्कश प्रकृति वाला राजा) सोचता है—ये भिक्षु यहां रहेंगे तो किसी को दीक्षा दे देंगे या मुझे दिखाई देने से मेरा अमंगल हो जाएगा अथवा मुझे निरन्तर बार-बार इन्हें न देखना पड़े—इत्यादि सोचकर वह उन्हें अपने राज्य से निकालना चाहता है।

२७१०. उपर्युक्त परिस्थिति में भिक्षु राजा को अनुशिष्टि (उपदेश) दे, उसे धर्मकथा के द्वारा समझाने का प्रयत्न करे। यदि वह न माने तो विद्या, मंत्र, निमित्त आदि का प्रयोग करे। यदि फिर भी वह उपशान्त न हो और भिक्षु यदि प्रभुत्व-सम्पन्न हो तो करण (वीर्यस्फुरण) का प्रयोग करे। यदि भिक्षु इतना समर्थ न हो और उसे वहां रहते हुए भिक्षा भी न मिलती हो तो उसके राज्य से विहार कर जाए। रास्ते में यतनापूर्वक उत्पादन आदि दोषों से विशुद्ध भिक्षा को ग्रहण करे।

२७११. उपर्युक्त आपवादिक स्थिति में विष्णु अणगार के समान वैक्रियलब्धि सम्पन्न मुनि उसका प्रयोग कर सकता है। धनुर्वेद में प्रशिक्षित या सहस्रयोधी जैसा औरसबली अपने उस सामर्थ्य का प्रयोग करता है, विद्यासम्पन्न विद्या से, तपोलब्धि या तेजोलब्धि सम्पन्न उस लब्धि से और पुलाक अपनी पुलाक लब्धि के द्वारा उस राजा को शिक्षा—सजा दे सकते हैं। यदि इनमें से कोई सामर्थ्य न हो और फिर भी उसे प्रेरणा देने का प्रयत्न करता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२७१२. दसहिं^१ च रायहाणी, सेसाणं सूयणा कता होति ।
मासस्संतो दुग-तिग, ताओं अतितम्मि आणादी ॥ २५८८ ॥ नि ५९६ ॥
२७१३. इम इति पच्चक्खमी^२, दस संखा जत्थ राइणो ठाणा ।
उद्धिट्ट-रायहाणी, गणिता दस वंज-चंपादी ॥ २५८९ ॥
२७१४. चंपा महुरा वाणारसी य सावत्थिमेव साकेतं ।
हत्थिणपुर-कंपिल्लं, मिहिला-कोसंबि-रायगिहं ॥ २५९० ॥
२७१५. संती कुंथू य अरो, तिण्णि वि जिणचक्कि एक्कहिं जाया ।
तेण दस होति जत्थ व, केसवजाता जणाइण्णा ॥ २५९१ ॥
२७१६. तरुणा वेसिस्थि 'विवाहरायमादीसु होति'^३ सतिकरणं ।
आउज्ज-गीतसद्दे, इत्थीसद्दे य सविगारे ॥ २५९२ ॥
२७१७. रूवं^४ आभरणविधी^५, वत्थालंकार^६ भोयणे गंधे ।
मत्तुम्मत्तविउव्वण^७, वाहण-जाणे सतीकरणं ॥ २५९३ ॥
२७१८. हय-गय-रह-सम्मद्दे, जणसम्मद्दे य आयवावत्ती ।
भिकख-वियार-विहारे, सज्झायज्झाणपलिमंथो ॥ २५९४ ॥
२७१९. बितियपदे असिवादी, उवधिस्स^८ वि कारणे व लेवस्स ।
बहुगुणतरं च गच्छे, आयरियादि व्व आगाढे ॥ २५९५ ॥
२७२०. रायादि-गाहणट्टा, पदुट्ट-उवसामणट्ट कज्जे वा ।
सेहे व अतिच्छंता, गिलाण-वेज्जोसहट्टा वा ॥ २५९६ ॥
२७२१. खत्तियमादी^९ ठाणा, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५९७ ॥

१. सूत्र १९ (नव ९/२०) ।

२. °म्मिं(पा) ।

३. °माई य दट्टु (क) ।

४. सिंगारागार रूवाणि (चू) ।

५. हारऽद्धहारादिया आभरणविधी (चू) ।

६. केसपुष्पादि अलंकारो (चू) ।

७. उत् प्राबल्येन मत्ते उन्मत्ते, दरमतो वा उन्मतो (चू) ।

८. °स्सा (दे) ।

९. सूत्र २० (नव ९/२१) ।

२७१२. दस राजधानियों का कथन करने से शेष जनाकीर्ण नगरियों की भी सूचना हो जाती है अर्थात् जो भिक्षु एक मास के अन्तर्गत दो या तीन बार राजधानियों या जनाकीर्ण बड़े नगरों में निष्क्रमण, प्रवेश करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२७१३. सूत्र में प्रज्ञस इमा—प्रत्यक्ष (तत्कालीन) और दस—संख्या का वाचक पद है। राजा के स्थान को राजधानी कहा गया है। वे उस समय गणना की दृष्टि से दस तथा व्यंजन (नाम) की दृष्टि से चम्पा, मथुरा, वाराणसी आदि थी।

२७१४. दस राजधानियां प्रज्ञस हैं—१. चम्पा, २. मथुरा, ३. वाराणसी (बनारस), ४. श्रावस्ती, ५. साकेत, ६. हस्तिनापुर, ७. कांपिल्य, ८. मिथिला, ९. कोशाम्बी और १०. राजगृह।

२७१५. भगवान् शान्ति, कुंथु और अर—ये तीनों तीर्थकर और चक्रवर्ती एक ही राजधानी में हुए। इसलिए राजधानियों की संख्या दस प्रज्ञस है। जहां पर वासुदेव हों या जो बहुत ज्यादा जनाकीर्ण हो, उन नगरों का भी भिक्षु को वर्जन करना चाहिए।

२७१६. राजधानी में स्त्रीसमूह से परिवृत तरुणों, वैश्या स्त्रियों तथा राजा आदि के विवाह आदि उपलक्ष्यों में आतोद्य (वाद्य) तथा गीत आदि के शब्दों एवं स्त्रियों के हसित, क्वणित आदि मोहोत्पादक शब्दों को सुनकर भुक्तभोगी भिक्षुओं को स्मृति तथा अभुक्तभोगी को कौतुक उत्पन्न होता है।

२७१७. इसी प्रकार वहां बहुत प्रकार के शृंगारप्रचुर रूपों, विविध आभूषणों, वस्त्रालंकारों से विभूषित स्त्री-पुरुषों, विभिन्न भोज्य सामग्रियों, कपूर, अगरू आदि सुगंधित पदार्थों को उपभोग करते स्त्री-पुरुषों को देखकर भुक्तभोगी भिक्षुओं को अपने पूर्वभोगों की स्मृति होने लगती है। कई लोग अत्यधिक हर्ष में मत्त एवं गर्व से उन्मत्त होते हैं, कई विविध प्रकार के रूप धारण करते हैं, कई अश्व आदि वाहनों एवं शिविका आदि यानों में आरूढ़ होते हैं, जिन्हें देखकर भिक्षुओं को अपने पूर्व भोगों की स्मृति होने की संभावना रहती है अतः भिक्षु को इन स्थानों का वर्जन करना चाहिए।

२७१८. राजधानी में स्थान-स्थान पर घोड़े, हाथी, रथ आदि के सम्पर्द एवं जन-सम्पर्द होने से भिक्षु के आत्मविराधना—हाथ, पैर टूटना, गिरना आदि की संभावना रहती है। अत्यधिक भीड़भाड़ के कारण मार्ग रुके हुए रहते हैं। फलतः भिक्षाचर्या, विचारभूमि जाना, विहार आदि में बार-बार मार्ग हेतु प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जिससे विलम्ब होने के कारण स्वाध्याय तथा अत्यधिक आकुलता से ध्यान में बाधा पहुंचती है।

२७१९, २७२०. द्वितीय पद—अपवाद में भिक्षु इन कारणों से राजधानी में जा सकता है—१. अन्यत्र अशिव (महामारी आदि) हो। २. अन्यत्र उपधि न मिले। ३. वहां लेप सुलभ हो। ४. गच्छ के लिए वह क्षेत्र बहुगुण—अधिक उपयोगी हो। ५. आचार्य आदि के आगाढ़ कारण में पथ्य आदि प्रायोग्य द्रव्य वहीं उपलब्ध हों। ६. अन्य कोई आगाढ़ कारण हों। ७. राजा आदि को धर्म ग्राहणार्थ—धर्मोपदेश देकर उन्हें धर्म स्वीकार कराने के लिए। ८. प्रद्विष्ट राजा आदि को उपशान्त करने के लिए। ९. वहां जाने पर शैक्ष अपने ज्ञातिजनों के द्वारा अगम्य हो जाएगा अतः शैक्ष की दृष्टि से तथा १०. ग्लान भिक्षु के लिए वैद्य, औषध आदि की अपेक्षा से भिक्षु राजधानी में जा सकता है।

२७२१. सूत्र में क्षत्रिय (आरक्षक), राजा, कुराजा (प्रत्यन्तनृप) आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निसृष्ट (प्रदत्त) अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२२. नडमादी^१ ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २५९८ ॥
- २७२२/१. अब्भंगादीठाणा जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू नीहडगहणा, दोसा ते तं च बितियपदं ॥
२७२३. पोसगमादी^३ ठाणा, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते 'तं च'^४ बितियपदं ॥ २५९९ ॥
२७२४. दमगादी^५ ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं^६ ॥ २६०० ॥
२७२५. आसाण य हत्थीण य, दमगा जे पढमताएँ विणियंति ।
परियट्ट मँठ^७ पच्छा, आरोहा^८ जुद्धकालम्मि ॥ २६०१ ॥
२७२६. सत्थवाहादिठाणा^९, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २६०२ ॥
२७२७. वरिसधरट्टाणादी^{१०}, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २६०३ ॥
२७२८. खुज्जादी^{११} ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते^{१२} ।
तेसू णीहड-गहणे, दोसा ते तं च बितियपदं ॥ २६०४ ॥
२७२९. अद्धाण-सद्दोसा, 'दुगुंछ लोगम्मि'^{१३} संक-सतिकरणं ।
आत-परसमुत्थेहिं, कड्डणगहणादिया^{१४} दोसा ॥ २६०५ ॥

नवमो उद्देशो समत्तो

१. णाडगादि णाडयंता णडा (चू), सूत्र २१ (नव १/२२) ।
२. यह गाथा केवल 'पा' प्रति मे मिलती है । शैली की दृष्टि से यह निशीथ भाष्य की संवादी मिलती है अतः हमने इसको ऊपर गाथाओं के साथ रखा है, लेकिन सभी हस्तप्रतियों में न मिलने के कारण इसे मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है ।
३. सूत्र २२ (नव १/२३) ।
४. च्चेव (दे) ।
५. जे पढमं विणयं गाहेति, ते दमगा (चू), सूत्र २३-२५ (नव १/२४-२६) ।
६. हस्तप्रतियों में इस गाथा का केवल प्रथम चरण मिलता है ।
७. जे जणा जोगासणेहिं वावारं वा वहेति, ते मँठा (चू) ।
८. जुद्धकाले जे आरुहंति, ते आरोहा (चू) ।
९. सूत्र २६ (नव १/२७), °वाहगादि° (भ), °वाहणट्टाणा (दे) ।
१०. °ट्टाणा खलु (दे), सूत्र २७ (नव १/२८) ।
११. सूत्र- २८ (नव १/२९) ।
१२. सद्दे (दे) ।
१३. दुगुंछिता लोए (मु, भ) ।
१४. गेणहणकड्डादिया (दे) ।

२७२२. सूत्र में नट, नर्तक आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निसृष्ट (प्रदत्त) अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२२/१. सूत्र में अभ्यंग आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निःसृष्ट (प्रदत्त) अज्ञान, पान को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवाद भी नहीं है।^१

२७२३. सूत्र में अश्वपोषक, हस्तीपोषक आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निसृष्ट (प्रदत्त) अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२४. इन सूत्रों में अश्वद्रमक, अश्वपाल, अश्वारोही आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निसृष्ट (प्रदत्त) अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२५. जो व्यक्ति घोड़े, हाथी आदि को प्रथम बार शिक्षित करते हैं, वे प्राथमिक शिक्षक द्रमक कहलाते हैं। उन्हें योग्या (शास्त्र-संचालन का अभ्यास) और आसन कराने वाले अश्वमेंठ, हस्तीमेंठ आदि तथा युद्धकाल में उन पर आरोहण करने वाले अश्वारोही आदि कहलाते हैं।

२७२६. सूत्र में शास्त्रवाह (धनुर्वेद आदि शास्त्रों का कथन करने वाले), संबाधन करने वाले, अभ्यंगन, उद्वर्तन आदि करने वाले जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा निसृष्ट (प्रदत्त) अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२७. सूत्र में वर्षधर, कंचुकी, द्वारपाल आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा प्रदत्त अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२८. सूत्र में कुब्जा दासी, किरात देश में उत्पन्न दासी, वामन दासी आदि जितने स्थानों का कथन किया गया है, उनके लिए मूर्धाभिषिक्त राजा द्वारा प्रदत्त अशन, पान आदि को जो भिक्षु ग्रहण करता है, उसको वे (राजपिण्ड से प्राप्त होने वाले) ही दोष प्राप्त होते हैं तथा एतद्विषयक अपवादपद भी वही है।

२७२९. कुब्जा, किरात आदि दासियों के स्थान पर उनके लिए प्रदत्त राजपिण्ड को ग्रहण करने पर भिक्षु मार्ग सम्बन्धी तथा उनके द्वारा गाए गए गीत आदि के प्रति राग-द्वेष होने से शब्द प्रत्ययिक दोष संभव हैं। वे लोक में जुगुप्सित हैं। उनके संसर्ग से अनाचार सेवन के विषय में भी शंका हो सकती है। भुक्तभोगी भिक्षुओं के लिए वे भोगस्मृति का कारण बन सकती हैं। दासियों के आकृष्ट होने या मुनि के आकृष्ट होने से परसमुत्थ एवं आत्मसमुत्थ दोष मुनि के चारित्रभेद के हेतु बन सकते हैं। शंका, प्रतिसेवना आदि से ग्रहण-आकर्षण आदि दोष भी संभव हैं।

नवम उद्देशक समाप्त

१. राजा के अभ्यंगन, उद्वर्तन आदि करने वाले व्यक्तियों (स्थानों) का कथन सूत्र २६ में हुआ है अतः यह गाथा २७२६/१ होनी चाहिए।

२७३०. मा भुंज रायपिंडं, ति चोदितो तत्थ मुच्छितो गिद्धो ।
खुज्जादी मा वच्चसु^१, आगाढ च उप्पती दसमे ॥ २६०६ ॥ नि ५९७ ॥
२७३१. आगाढं^२ पि य दुविधं, होति असूयाय तह य सूयाए ।
एतेसिं पत्तेयं, दोण्हं पि परूवणं वोच्छं ॥ २६०७ ॥ नि ५९८ ॥
२७३२. गाढुत्त गूहणकरं^३, गाहेतुम्हं व तेण आगाढं ।
णेहरहितं तु फरुसं, उभए^४ संजोयणा णवरं ॥ २६०८ ॥ नि ५९९ ॥
२७३३. जाति-कुल-रूव-भासा, धण-बल-परियाग जस^५ तवे लाभे ।
सत्त-वय-बुद्धि-धारण^६, उग्गह^७-सीले^८ समायारी ॥ २६०९ ॥ नि ६०० ॥
२७३४. अम्हे मों जातिहीणा, जातीमंतेहि को विरोधो णे ।
एस असूया-सूया^९, तु णवरि परवत्थुणिहेसो ॥ २६१० ॥
२७३५. अम्हे मों कुलहीणा, को कुलपुत्तेहिं सह विरोधो णे ।
एस असूया-सूया, तु णवरि^{१०} परवत्थु-णिहेसो ॥ २६११ ॥
२७३६. अम्हे मों रूवहीणा, सरूवदेहेसु को विरोधो णे ।
एस असूया-सूया, तु णवरि परवत्थुणिहेसो^{११} ॥ २६१२ ॥
२७३७. अम्हे मो अकतमुहा, अलं विवादेण णे कतमुहेहिं^{१२} ।
एस असूया-सूया, तु णवरि परवत्थु-णिहेसो ॥ २६१३ ॥
२७३८. खर^{१३}-फरुस^{१४}-णिट्ठुरं^{१५} णे, वक्कं तुज्ज मित-महुर^{१६}-गंभीरं ।
एस असूया-सूया, तु णवरि परवत्थुणिहेसो^{१७} ॥ २६१४ ॥

१. वच्चह (भ) ।

२. सूत्र १ (नव १०/१), इस गाथा के लिए चूर्णि में 'णिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।

३. गूहणकरं अन्यस्याख्यातुं न शक्यते (चू) ।

४. × (दे) ।

५. लोके ख्यातिर्महात्मा इति यशः संजमो वा (चू) ।

६. धारणा दृढस्मृतिः (चू) ।

७. बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणां उग्गहं करेति (चू) ।

८. अक्कोहादिणा सीलेण जुत्तो सीलवं, चक्कवाल-सामायारीए जुत्तो कुसलो वा (चू) ।

९. × (दे) ।

१०. नवरं (भ), सर्वत्र ।

११. दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

१२. वाग्मी-कृतमुखः (चू) ।

१३. सरोसवयणमिव अकंतं खरं (चू) ।

१४. प्रणय नेह-णित्तण्हं फरुसं (चू) ।

१५. जगारादियं अणुवयारं णिट्ठुरं (चू) ।

१६. अत्थअभिधाणेहिं मधुरं (चू) ।

१७. पा प्रति में यह गाथा नहीं है ।

२७३०. कोई भिक्षु अत्यधिक आसक्ति के कारण राजपिण्ड का भोग करता है अथवा कुब्जा, किराती आदि दासियों के लिए निसृष्ट राजपिण्ड को लाने हेतु उनके घर जाता है तो आचार्य उसे प्रेरणा देते हैं—तुम राजपिण्ड का भोग मत करो अथवा कुब्जा आदि के घर मत जाओ। आचार्य के द्वारा प्रेरणा (वारणा) प्राप्त कर वह उनके प्रति आगाढ़ वचन बोलने लगता है। इस प्रकार नवम उद्देशक के अन्तिम आलापक में प्रज्ञप्त निषेध से दसवें उद्देशक के प्रथम सूत्र का सम्बन्ध है—वे उसकी (आगाढ़ वचन की) उत्पत्ति के हेतु हैं।

२७३१. आगाढ़ वचन के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. असूचा आगाढ़ वचन और २. सूचा आगाढ़ वचन। मैं दोनों का पृथक्-पृथक् प्ररूपण करूंगा।

२७३२. आगाढ़ का अर्थ है—गाढ़ रूप से कहा गया, जिसे अन्य को न कहा जा सके (छिपाने योग्य) तथा जिसे कहने मात्र से सुनने वाले के मन में ऊष्मा—ताप पैदा हो जाए, वह आगाढ़ होता है। परुष का अर्थ है—स्नेह रहित (निष्पिपास) वचन। तृतीय सूत्र में दोनों का सांयोगिक भंग—आगाढ़ परुष का निषेध प्रज्ञप्त है।

२७३३. आगाढ़ वचन का स्वरूप इन सत्रह द्वारों से ज्ञातव्य है—१. जाति, २. कुल, ३. रूप, ४. भाषा, ५. धन, ६. बल, ७. पर्याय, ८. यश, ९. तप, १०. लाभ, ११. सत्त्व, १२. वय, १३. बुद्धि, १४. धारणा, १५. अवग्रह, १६. शील और १७. समाचारी।

२७३४. हम तो जातिहीन हैं, जातिवान् लोगों से हमारा क्या विरोध हो सकता है—इस प्रकार व्यंग्यात्मक रोष वचन—आगाढ़ असूचा वचन हैं। जहां पर सीधा परवस्तु (सामने वाले व्यक्ति) के दोष का आख्यान हो, वह आगाढ़ सूचा वचन है, यथा आचार्य आदि को कहना—आप जातिहीन हैं।

२७३५. हम तो कुलहीन हैं, कुलपुत्रों (कुलीनों) से हमारा क्या विरोध—यह व्यंग्यात्मक रोषवचन असूचा वचन है तथा दूसरे व्यक्ति का स्पष्टतया दोषात्मक निर्देश सूचा वचन है कि आप कुलहीन हैं।

२७३६. हम तो रूपहीन हैं, सुन्दर शरीर वालों से हमारा क्या विरोध—यह व्यंग्यात्मक रोषवचन असूचा वचन है तथा दूसरे व्यक्ति का स्पष्टतया दोषात्मक निर्देश सूचावचन है कि आप रूपहीन हैं।

२७३७. हम तो अकृतमुख (बिना मुंह के) हैं—वाक्पटु नहीं हैं। वाक्पटु लोगों से हमारा क्या विवाद—यह व्यंग्यात्मक रोषवचन असूचावचन है तथा दूसरे व्यक्ति का स्पष्टतया दोषात्मक निर्देश सूचावचन है कि आप वाक्पटु नहीं हैं।

२७३८. (अथवा) हमारी भाषा तो खर, परुष एवं निष्ठुर है। आप तो बड़े मितभाषी, मधुरभाषी एवं गंभीर वाणी^१ वाले हैं—यह व्यंग्यात्मक रोषवचन असूचावचन है तथा दूसरे व्यक्ति का स्पष्टतया दोषात्मक निर्देश सूचावचन है कि आपकी भाषा खर, परुष एवं निष्ठुर है।

१. सरोष अप्रिय वचन खर, स्नेह रहित वचन परुष एवं जकार आदि से बहुल निरुपचार वचन निष्ठुर कहलाता है। अल्प अक्षर वाला वचन मित, सुन्दर शब्दचयन एवं अर्थ का प्रतिपादक वचन मधुर तथा गंभीर स्वर (उच्चारण) वाला वचन गम्भीर कहलाता है।

२७३९. अम्हे मो धणहीणा, आसि अगारम्मि इड्ढिमं तुब्भे ।
एस असूया^१-सूया^२, तु णवरि परवत्थु-णिद्देसो ॥ २६१५ ॥
२७४०. एमेव सेसगेसु वि, जोएतव्वा असूय-सूयाओ ।
आतगता तु असूया, सूया पुण पागडं भणति ॥ २६१६ ॥
२७४१. एक्केक्का सा दुविधा, संतमसंता^३ य अप्पणि परे य ।
पच्चक्ख-परोक्खा वि य, असंत पच्चक्ख दोसतरा ॥ २६१७ ॥
२७४२. गणि-वायए बहुस्सुते^४, मेधावाऽऽयरिय-धम्मकहि-वादी^५ ।
अप्पकसाए थूले^६, तणुगे दीहे य 'मडहे य'^७ ॥ २६१८ ॥
२७४३. अम्हे खमणा ण गणी, को गणिवसहेह^८ सह विरोधो णे ।
एस असूया-सूया, तु णवरि परवत्थुणिद्देसो ॥ २६१९ ॥
२७४४. अगणिं व^९ गणिं बूया, 'गणिं व अगणिं'^{१०} तु हासमादीहिं ।
एवं सेसपदेसु वि, सप्पडिवक्खं^{११} तु णेतव्वं ॥ २६२० ॥
२७४५. छेदादी आरोवण, नेतव्वा जाव मासिगं लहुगं^{१२} ।
आयरिए वसभम्मि य, भिक्खुम्मि य खुड्डुगे चेव ॥ २६२१ ॥
२७४६. आयरिओ आयरियं, आगाढं वयति पावती च्छेदं ।
वसभे छग्गुरु भिक्खुम्मि छल्लहू खुड्डुगे गुरुगा ॥ २६२२ ॥
२७४७. वसभे छग्गुरुगादी, छल्लहूगा भिक्खु खुड्डु^{१३} गुरुगादी ।
अंतो पुण सिं चउलहु, मासगुरू मासलहुगो य ॥ २६२३ ॥

-
१. अप्पणो दोसं भासति, ण परस्स एसा असूया (चू) । ८. गणव^० (भ) ।
२. ण अप्पणो, परस्स फुडमेव दोसं भासति, एसा सूया (चू) । ९. वा (दे) ।
३. जहत्थेण ठियं संतं । अभूतार्थं अनृतं असंतं (चू) । १०. गणी उ अगणी (दे) ।
४. विचित्तं बहुयं च सुयं बहुस्सुतो (चू) । ११. सप^० (भ) ।
५. ससमयपरसमएसु कतागमो उप्पण्णप्पतिभो वादी (चू) । १२. लहुआ (दे) ।
६. थुल्ले (दे) । १३. खुड्डु (भ) ।
७. मडहते वा (क), बृभा ६०९० ।

२७३९. हम तो गरीब घर के हैं, आप तो गृहस्थवास में बड़े ऋद्धिसम्पन्न थे—यह व्यंग्यात्मक रोषवचन असूचावचन है तथा दूसरे व्यक्ति का स्पष्टतया दोषात्मक निर्देश सूचावचन है कि आप गरीब घर के हैं।
 २७४०. इसी प्रकार शेष द्वारों—बल (शारीरिक शक्ति), पर्याय (चारित्र-पर्याय), यश (लोक में सुख्याति) आदि^१ के विषय में भी असूचा एवं सूचा वचन की योजना कर लेनी चाहिए। जहां आत्मगत—अपने दोष का कथन कर व्यंग्य किया जाता है वह असूचा वचन तथा दूसरे के दोष का प्रकट कथन सूचा वचन है।
 २७४१. उपर्युक्त सभी प्रकार के सूचा एवं असूचा वचन के सत् (भूतार्थ कथन) तथा असत् (अयथार्थ कथन) ये दो-दो प्रकार हो जाते हैं (यथा स्वयं जातिमान् होते हुए भी जातिहीन कहना—असत् असूचा एवं दूसरे किसी को जातिमान् होने पर भी जातिहीन बताना असत् सूचा वचन है।) पुनः कथन की अपेक्षा से दो-दो प्रकार हो जाते हैं—प्रत्यक्ष कथन और परोक्ष कथन। इनमें असत् और प्रत्यक्ष सूचा एवं असूचा वचन अधिक दोषपूर्ण हैं।

२७४२. अथवा इन ग्यारह द्वारों से स्वयं की प्रशंसा अथवा भदंत (आचार्य आदि) की निन्दा करता है—
 १. गणि, वाचक, २. बहुश्रुत, ३. मेधावी, ४. आचार्य, ५. धर्मकथी, ६. वादी, ७. अल्पकषायी, ८. स्थूल (दक्षता हीन), ९. तनु (दक्ष), १०. दीर्घ (हृष्ट पुष्ट) तथा ११. कृशकाय।

२७४३. हम तो श्रमण हैं, गणी नहीं। गणी और वृषभ से हमारा क्या विरोध? यह व्यंग्यात्मक रोष वचन असूचा है तथा जिसमें दूसरे व्यक्ति के लिए स्पष्टतया दोष का निर्देश हो, वह सूचा वचन है।

२७४४. अथवा हास्य-व्यंग्य आदि से अ-गणी—जो आचार्य नहीं हो, उसे आचार्य कहना अथवा गणी को अ-गणी कहना भी आगाढ़ वचन है। इसी प्रकार शेष पदों में भी प्रतिपक्ष सहित आगाढ़ वचन स्वयं ज्ञेय हैं।

२७४५. उपर्युक्त प्रकारों से आगाढ़ वचन बोलने वाले आचार्य, वृषभ, भिक्षु और क्षुल्लक को छेद से लेकर मासलघु पर्यन्त आरोपणा (प्रायश्चित्त) प्राप्त होता है—ऐसा जानना चाहिए।

२७४६. कोई आचार्य यदि दूसरे आचार्य को आगाढ़ वचन कहता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह यदि वृषभ, भिक्षु और क्षुल्लक को आगाढ़ वचन बोलता है तो उसे क्रमशः षड्गुरु, षड्लघु तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२७४७. वृषभ यदि आचार्य को आगाढ़ वचन बोलता है तो उसे षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वही वृषभ, भिक्षु या क्षुल्लक को आगाढ़ वचन बोलता है तो क्रमशः षड्लघु, चतुर्गुरु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भिक्षु आचार्य, वृषभ आदि को आगाढ़ वचन बोले तो प्रायश्चित्त षड्लघु से प्रारम्भ होकर मासगुरु और क्षुल्लक के लिए चतुर्गुरु से प्रारम्भ होकर मासलघु तक प्राप्त होता है।

१. उपवास आदि तपस्या तप, आहार आदि की उपलब्धि लाभ, मनोबल आदि से युक्त होना सत्त्व या शक्त, अवस्था आदि के अनुसार सौन्दर्य सम्पन्नता वय, औत्पत्तिकी आदि बुद्धि से युक्त होना बुद्धि, मजबूत स्मरणशक्ति धारणा, बहु, बहुविध आदि का ग्रहण अवग्रह, क्रोधोपशान्ति शील तथा चक्रवाल सामाचारी में कुशल होना समाचारी—इस प्रकार इन-इन अर्थों में असूचा एवं सूचा वचन निषिद्ध है।

२७४८. पंचणहारियादी, च्छेदा एक्केक्क हासणा^१ अहवा।
राइंदियवीसंतं, चउण्ह चत्तारि व^२ विसिद्धा ॥ २६२४ ॥
२७४९. जं चेव परट्टाणे, आसायंतो उ^३ पावते^४ ओमं।
तं चेव य ओमो 'वि य'^५, आसायंतो उ^६ रायणियं ॥ २६२५ ॥
२७५०. एतेसामण्णतरं, आगाढं जो वदे भदंतरं।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २६२६ ॥ नि ६०१ ॥
२७५१. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वा वएज्ज खिंसंतो।
उवलंभट्टा य तथा, सीदंते वा वदेज्जाहि ॥ २६२७ ॥
२७५२. जातिकुलस्स सरिसगं^७, करेहि ण हु^८ कोह्वो भवे साली।
आसललितं वरागो, चाएति न गह्भो काउं ॥ २६२८ ॥
२७५३. रूवस्सेव सरिसगं, करेहि ण हु कोह्वो भवे साली।
आसललियं वरागो, चाएति न गह्भो काउं^९ ॥ २६२९ ॥
२७५४. अहं^{१०} वायगो त्ति भण्णति, एस किर गणी अयं च आयरिओ।
सों वि मण्णे एरिसगो, जेण कतो एस आयरिओ ॥ २६३० ॥
२७५५. जाती-कुलस्स सरिसं, करेहि मा अप्पवेरिओ होहि।
होज्ज हु ते परिवाओ^{११}, गिहि-पक्खे साहु-पक्खे य ॥ २६३१ ॥
२७५६. जुत्तं णाम^{१२} तुमे वायगेण गणिणा व एरिसं काउं।
आयरिएण व होउं, 'काऊणं किं च'^{१३} काहामो ॥ २६३२ ॥
२७५७. अहवा ण मज्झ जुत्तं, भदंत एयारिसाणि वोत्तुं जे।
गुरुभत्ति-चोदितमणो, भणामि लज्जं पजहिऊणं ॥ २६३३ ॥

१. भासणा (दे)।
२. वि (मु, भ)।
३. ण (भ)।
४. पावती (दे)।
५. वी (दे)
६. वि (मु, भ)।
७. सरिसं (क)।

८. हि (दे)।
९. दे प्रति में यह गाथा नहीं है।
१०. कह (दे)।
११. परिवयणं परिवातो अयसो अगुणकित्तणं इत्यर्थः (चू)।
१२. णामशब्दः पादपूरणे (चू)।
१३. × (दे)।

२७४८. एक अन्य आदेश से प्रायश्चित्त का क्रम पांचों—आचार्य, वृषभ, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक में छेद से प्रारम्भ होकर बीस रात-दिन तक आता है। एक अन्य आदेश से सभी के लिए प्रायश्चित्त तपकाल से विशिष्ट चतुर्गुरु अथवा सामान्यतः चतुर्गुरु प्राप्त होता है।

२७४९. अवमरालिक को भी पर—ज्येष्ठ की आशातना करने पर वही प्रायश्चित्त प्राप्त होना चाहिए जो ज्येष्ठ को अवम की आशातना करने पर प्राप्त होता है।

२७५०. उपर्युक्त सूचा असूचा आदि में से किसी प्रकार का आगाढ़-वचन जो भिक्षु आचार्य, वृषभ आदि भदन्तों को बोलता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है। (आगाढ़ वचन से कलह तथा पक्ष-विपक्ष होने से गच्छ भेद आदि दोष भी आते हैं।)

२७५१. द्वितीय पद—अपवाद में १. कोई अनात्मवश भिक्षु अथवा आचार्य आगाढ़ वचन बोलता है या २. आत्मवशता की स्थिति में भी यदि उसकी खिंसा करनी हो, उपालम्भ देना हो तो आगाढ़ वचन बोलता है। अथवा ३. कोई भदन्त आदि संयम में विषादग्रस्त हो रहा हो, उसे आगाढ़ वचन के द्वारा पुनः संयम में स्थिर किया जाता है।

२७५२. कोई बहुश्रुत आचार्य जातिहीन होने के कारण अपने शिष्यों, प्रतीच्छकों की जाति आदि से खिंसा करे तो शिष्य आदि कहते हैं—अब हमने जान लिया है, जाति, कुल आदि से आप भी हमारे समान ही हैं। अतः आप जो हमें कह रहे हैं, वह आपके जाति, कुल को भी समान करना है क्योंकि कहने मात्र से कोद्रव कभी शालि नहीं होता। न ही बेचारे गधे को जाति से ललित अश्व बनाया जा सकता है।

२७५३. कोई आचार्य स्वयं रूप सम्पन्न न होने पर भी अपने शिष्यों की रूप आदि से खिंसा करे तो शिष्य आदि कहते हैं—रूप से आप हमारे समान ही हैं। कहने मात्र से कोद्रव (तुच्छ धान्य) कभी शालि (उत्कृष्ट ओदन) नहीं होता और न ही बेचारे गधे को ललित अश्व बनाया जा सकता है।

२७५४. यह वाचक कहलाता है, यह गणी है, यह आचार्य है, मैं मानता हूँ जिसने इन्हें आचार्य, वाचक आदि बनाया, वह भी ऐसा ही है—इस प्रकार खिंसा करने वाले आचार्य आदि को कहा जाता है।

२७५५. आप जाति और कुल से हमें अपने समान बनाते हो, पर ऐसा करके आप स्वयं के शत्रु मत बनो, क्योंकि इससे गृहस्थों और साधुओं में आपका ही परिवाद (अपयश) होगा।

२७५६. आप वाचक हैं, गणी हैं। आपके लिए यह करना युक्त नहीं है। यदि आप आचार्य—मर्यादा-रक्षक होकर ऐसा करेंगे तो हम सामान्य भिक्षु क्या करेंगे ?

२७५७. अथवा हे भदन्त! आपके समक्ष मेरा ऐसा बोलना भी उचित नहीं, किन्तु गुरु भक्ति से प्रेरित होने के कारण मुझे लज्जा त्याग कर ऐसा कहना पड़ता है।

२७५८. वरतर मए सि भणितो, न यावि अण्णेण^१ पच्चुवालद्धो ।
छण्णे मम वेण्णप्पं, भणेज्ज अण्णो पगासेंतो ॥ २६३४ ॥
२७५९. तुम्हे मम आयरिया, हितोवदेसि त्ति तेण सीसोऽहं^२ ।
एवं वियाणमाणा, ण हु जुज्जति रूसिउं भंते^३ ॥ २६३५ ॥
२७६०. एमेव सेसगेसु वि, तस्सेव हितट्टया^४ वदागाढं ।
रागं^५ कुसुंभओ मुयति ण वि हु अविकोवितो संतो ॥ २६३६ ॥
२७६१. वत्थुं^६ वियाणिरुणं, एवं खिंसे उवालभेज्जा वा ।
खिंसा^७ तु णिप्पिवासा^८, सपिवासा होउवालंभो ॥ २६३७ ॥
२७६२. खिंसा खलु ओमम्मी, खरसज्जे वा विसीयमाणम्मि^९ ।
रायणिय-उवालंभो, पुव्वगुरु महिड्ढि माणी य ॥ २६३८ ॥
२७६३. जं^{१०} लहुसगं तु फरुसं, बितिओद्देसम्मि वण्णितं पुव्विं^{११} ।
तं चेव णिरवसेसं^{१२}, दसमुद्देसम्मि णातव्वं ॥ २६३९ ॥
२७६४. एसेव^{१३} गमो नियमा, मीसगसुत्ते वि होति नातव्वो ।
आगाढ-फरुसगम्मी^{१४}, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मी^{१५} ॥ २६४० ॥
२७६५. दव्वे^{१६} खेत्ते काले, भावे आसायणा मुणेतव्वा ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २६४१ ॥ नि ६०२ ॥
२७६६. दव्वे आहारादिसु, खेत्ते गमणादिगेसु णातव्वा ।
'कालम्मि विवच्चासे'^{१७}, मिच्छापडिवज्जणा भावे ॥ २६४२ ॥ नि ६०३ ॥

१. पत्तेण (क) ।

२. ऽहं सीसो (दे) ।

३. तुम्भे (दे) ।

४. °ट्टिया (मु) ।

५. रंगं (दे) ।

६. वत्थु (भ) ।

७. णिट्ठुरं णिण्णेहवयणं खिंसा (चू) ।

८. णिप्पं (दे, भ) ।

९. विसायं (दे) ।

१०. सूत्र २ (नव १०/२) ।

११. पुव्वं (मु) ।

१२. य आगाढं (भ) ।

१३. सूत्र ३ (नव १०/३)

१४. °समीसे (भ) ।

१५. °म्मिं (दे) ।

१६. सूत्र ४ (नव १०/४) ।

१७. × (क) ।

२७५८. यह अच्छा हुआ कि आपने मेरे सामने ही अमुक बात कही, इससे कोई दूसरा आपको उपालम्भ नहीं देगा। मैं तो आपको प्रच्छन्न रूप से गलती बता रहा हूँ, अन्य कोई होता तो लोगों के सामने दोष प्रकाशन करता हुआ उपालम्भ देता।

२७५९. यदि उचित खिंसा या उपालम्भ से भी गुरु रुष्ट हो तो कहे—आप मेरे आचार्य हैं, हितोपदेष्टा हैं, मैं आपका शिष्य हूँ—ऐसा सोचकर मैंने विनम्रता पूर्वक जो निवेदन किया, भंते! उसे सुनकर भी आपका रुष्ट होना उचित नहीं। (ऐसा जानकर आप रुष्ट न हों।)

२७६०. इस प्रकार शेष अनात्मवश उपाध्याय आदि के विषय में भी आपवादिक परिस्थितियों में आगाढ़ वचन का प्रयोग संभव है। प्रश्न होता है कि जान-बूझकर व्यक्ति (भिक्षु) गुरु को आगाढ़ वचन कैसे बोल सकता है? समाधान—जिस प्रकार कुसुंभ का घर्षण किए बिना वह अपना रंग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार एकान्त में स्पष्टतापूर्वक खिंसा आदि के बिना यदि गुरु अनाचार सेवन से विरत न हो तो आगाढ़ वचन बोलना पड़ता है।

२७६१. इस प्रकार मतिमान् 'वस्तु' (सामने वाले व्यक्ति) को जानकर खिंसा या उपालम्भ का प्रयोग करे। खिंसा का अर्थ है—निष्पिपास, स्नेहरहित वचनों से प्रेरणा देना तथा उपालम्भ का अर्थ है—सपिपास स्निग्ध, मधुर वचनों से प्रेरणा देना।

२७६२. यदि विषादग्रस्त व्यक्ति अवमरालिक है या खरसाध्य—कठोर वचनों से सुधरने वाला है तो उसके लिए खिंसा का प्रयोग किया जाता है। यदि वह रालिक है, पहले गुरु (आचार्य) रहा हुआ है, राजा आदि महान् ऋद्धि सम्पन्न है अथवा ऋद्धिरहित होने पर भी मानी (अभिमानि) है तो उसके लिए उपालम्भ का प्रयोग किया जाता है।

२७६३. द्वितीय उद्देशक में जो लघुस्वक परुष वचन के विषय में निरूपण किया गया है, वही सम्पूर्ण (उत्सर्ग और अपवाद पद में) दसवें उद्देशक में ज्ञातव्य है।

२७६४. जो विधि पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में प्रज्ञप्त है, वही आगाढ़-परुष वचन विषयक मिश्र सूत्र के पूर्व (उत्सर्ग) एवं अपर (अपवाद) पद में ज्ञातव्य है।

२७६५. आशातना के चार प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। इनका नानात्व मैं यथाक्रम से बताऊँगा।

२७६६. द्रव्य आशातना आहार आदि तथा क्षेत्र आशातना गमन आदि के विषय में ज्ञातव्य है। काल विषयक विपर्यास—विनय पूर्वक गुरु की बात को न सुनना काल आशातना है तथा मिथ्या प्रतिपत्ति—गुरु की बात को सम्यक् स्वीकार न करना भाव आशातना है।

२७६७. काले तु सुणेमाणे^१, अपडिसुणेतस्स होति आसयणा।
मिच्छादिफरुसभावे, अंतरभासा य कहणा य ॥ २६४३ ॥
२७६८. गुरुपच्चइया^२ आसायणा^३ तु धम्मस्स मूलछेदो य^४।
चतुपददोसा एते, एतो व विसेसियं वोच्छं ॥ २६४४ ॥
२७६९. सच्चित्तखद्धकारग, अविकडणमदंसणे भवे दोसा।
इंगाल अविधि तेणिय^५, गलगुच्छूढा त्ति सेसेसुं^६ ॥ २६४५ ॥
२७७०. घट्टण-रेणु-विणासो, तिपास^७-ओभावणा भवे पुरतो^८।
खेत्ते काल-पलित्ते^९, गिलाण असुणेत्त अधिकरणं ॥ २६४६ ॥
२७७१. सेहादीण अवण्णा, परउत्थियगम्म परिभवो लोगे।
भावासायण दोसा, सम्ममणाउंटणा चेव ॥ २६४७ ॥
२७७२. मिच्छापडिवत्तीए, जे भावा जत्थ होंति सब्भूता।
'तेसू^{१०} वितहं पडिवज्जणाय'^{११} आसायणा तम्हा ॥ २६४८ ॥ नि ६०४ ॥
२७७३. जं ऽगारऽणगारत्ते, सुतं तु सहसंभुतं च जं किंचि।
तं गुरु अण्णहकहणे, णेवमिदं मिच्छपडिवत्ती ॥ २६४९ ॥
२७७४. एवं भणितो^{१२} दोसो, इमं सुतं वऽण्णहिं मए एवं।
सब्भूतमसब्भूते, एवं मिच्छाउ पडिवत्ती ॥ २६५० ॥

१. सुयमा^० (मु)।

२. °च्चणिया (दे)।

३. आस^० (भ)।

४. तु (मु)।

५. तेणिं (मु, भ), तेणे (भ)।

६. सेसेसू (दे)।

७. पासिणो (दे)।

८. आसणं गच्छंतस्स गुरुणा संघट्टणा भवति, पादुट्टियरेणुना य वत्थविणासो भवति, सो जति पासतो वामतो दाहिणतो मग्गतो य पुरतो गच्छंते ओभावणा आयरियस्स (चू)।

९. पलित्ते के स्थान पर 'पेल्लितं' पाठ होना चाहिए।

१०. तेसु व (भ)।

११. तेसिं तु वितहपडिवज्जणाए (दश्रुनि १९)।

१२. भणतो (मु, भ)।

२७६७. शिष्य रात्रि अथवा विकाल वेला में सोया हुआ है, गुरु बुलाए और वह सुनता हुआ भी न सुने—यह काल आशातना है। गुरु की बात को मिथ्या स्वीकार करना या स्वीकार न करना, गुरु को परुष वचन बोलना, धर्मकथा आदि करते हुए गुरु के बीच में बोलना—यह भाव आशातना है।

२७६८. गुरु के विनय से ज्ञान आदि गुणों की आय होती है। अविनय (आशातना) से उस आय का छेदन होता है। विनय धर्म का मूल है, आशातना से उसका छेदन होता है—यह द्रव्य, क्षेत्र आदि चारों पदों की आशातना का सामान्य दोष है। अब इनसे होने वाले विशेष दोषों का कथन करूंगा।

२७६९. गुरु के पास अनालोचित, अप्रदर्शित आहार करने से भिक्षु के द्रव्यविषयक आशातना लगती है। साथ ही यदि वह सचित्त फल, कंद आदि खा ले, अतिप्रमाण में खा ले अथवा शरीर के लिए अकारक—अहितकर^१ आहार कर ले तो तत्संबंधी दोष भी संभव हैं। मनोज्ञ भोजन के विषय में अति आसक्ति तथा प्रशंसा से अंगार दोष, सुरसुर, चवचव आदि शब्द पुरस्सर खाने से अविधि दोष अथवा आलोकवर्जित भाजन आदि में गुरु को दिखाए बिना खाने से स्तैन्य दोष लग सकता है। रात्तिक आदि के साथ मनोज्ञ भोजन प्रचुर मात्रा में खाने से गले में लगने, त्वरित व स्थूल ग्रास से आत्मविराधना आदि दोष संभव हैं।

२७७०. क्षेत्र आशातना—गुरु के पार्श्व (दाएं, बाएं), आगे अथवा पीछे सटकर चलने आदि से गुरु की अपभ्राजना होती है, उनके शरीर का संघटन होने से उन्हें कष्टानुभूति होती है, शिष्य के पैरों से उठी धूल से गुरु के वस्त्रों का विनाश हो सकता है (वस्त्र मैले हो जाते हैं)—ये क्षेत्र आशातना के दोष हैं।

काल आशातना—कदाचित् रात्रि या विकाल वेला में गुरु अस्वस्थ हों और बुलाएं तो न सुनने पर ग्लान विराधना होती है। यदि अग्नि लग जाए तो उपकरण या आचार्य अजंगम हो तो आचार्य के भी जलने की संभावना रहती है। जब शिष्य नहीं सुनता और दूसरा उसे कहता है कि क्यों अनसुना कर रहे हो, इत्यादि कहने पर उत्तर-प्रत्युत्तर करते हुए कलह हो जाता है।

२७७१. भाव आशातना—शिष्य को अवज्ञा करते देख शैक्ष सोचते हैं—लगता है, आचार्य पतित हो गए हैं, तभी हमसे बड़े साधु इनकी अवज्ञा कर रहे हैं। ऐसा सोच वे भी अवज्ञा करते हैं। अपने शिष्यों से अवज्ञा और पराभव होने पर परतीर्थियों की भी अवज्ञा का विषय बनता है, फलतः अन्य लोग भी उसकी अवज्ञा करते हैं। गुरु के उपदेश को सम्यक् न स्वीकार करने से उत्पन्न भाव आशातना के ये दोष हैं।

२७७२. जो पदार्थ जिस द्रव्य, क्षेत्र आदि में सद्भूत हैं, जैसे जिन भगवान ने प्ररूपित किए हैं, उनका मिथ्या प्रतिपादन करना मिथ्या प्रतिपत्ति है। कदाचित् अज्ञान आदि के कारण गुरु उनका वितथ प्रतिपादन करे और शिष्य यदि परिषद् के बीच में ही उन्हें कह दे कि अमुक तत्त्व ऐसे नहीं हैं, आप जानते नहीं हैं आदि तो उसके भाव आशातना होती है।

२७७३. प्रश्न—आचार्य जिस अर्थ को नहीं जानते, शिष्य उसे कैसे जानेगा? समाधान—शिष्य ने गृहस्थ अवस्था में किसी के पास उस अर्थ को सुना हो, अनगार अवस्था में किसी अन्य आचार्य आदि के पास ज्ञान क्रिया हो या स्वयं अपने ऊह-अपोह से वितर्क किया हो और गुरु उस का अन्यथा प्रतिपादन करे, तब शिष्य कहता है कि यह तत्त्व इस प्रकार नहीं है—ऐसा कहने से मिथ्या प्रतिपत्ति होती है।

२७७४. यदि शिष्य कहे—इस प्रकार प्रतिपादन करने से आपको उत्सूत्र प्ररूपण का दोष लगता है, मैंने अन्यत्र ऐसा सुना है—सद्भूत या असद्भूत तत्त्व के विषय में परिषद् के मध्य गुरु को इस प्रकार कहने से मिथ्या प्रतिपत्ति होती है और भाव आशातना लगती है।

१. खड्गकारग में अकार लुप्त मानना चाहिए।

२७७५. बितियं^१ पढमे^२ ततिए^३, य होंति गेलण्णकज्जमादीसु।
अद्धाणादी बितिए, ओसण्णादी चउत्थम्मि ॥२६५१ ॥ नि ६०५ ॥
२७७६. होज्ज गुरुगो गिलाणो, अपत्थदव्वं तु^४ तं च 'इट्ठं से'^५।
अविगडमदंसितं वा, भुंजे खद्धं व दलएज्जा ॥२६५२ ॥
२७७७. कंटादिसाहणट्ठा, अवथंभट्ठा वऽलीणो अद्धाणे।
संबाधुवस्सए वा, विस्साम-गिलाण छेदसुते ॥२६५३ ॥
२७७८. काले गिलाणवावड, सेहस्स व सारियं भवे बाहिं।
संबाधुवस्सए वा, अधिकरणादी 'उ मा'^६ दोसा ॥२६५४ ॥
२७७९. उल्लावं तु असत्तो, दाउ गिलाणो तहेव उट्टेउं।
तुसिणी तत्थ गतो वा, सुणेज्ज सो वाहरंतस्स ॥२६५५ ॥
२७८०. भणति रहे जइ एवं, हवेज्ज णिद्वोसमिहरहा दोसा।
तुज्जे वि ताव^७ ऊहह, भणति पगासे वि दढमूढे ॥२६५६ ॥
२७८१. विरहे उ मठायंतं, ओसण्णं भणति परिसमज्जे वि।
ण वि 'जाणसी हितादि'^८ व, नडपढितं किं तुहंतेणं^९ ॥२६५७ ॥
२७८२. जे^{१०} भिक्खू असणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥२६५८ ॥ नि ६०६ ॥
२७८३. तं काय परिच्चयती, 'तेण य'^{११} भुत्तेण संजमं चयती^{१२}।
अतिखद्ध अणुचितेण य, विसूइगादीणि आयाए ॥२६५९ ॥

१. बितियं ति अववायपदं (चू)।
२. पढमे त्ति दव्वासायणा (चू)।
३. ततिए त्ति कालासादणा (चू)।
४. व (मु, भ)।
५. से इट्ठं (मु)।
६. इमा (भ)।

७. तावशब्दः परिमाणवाचकः (चू)।
८. णसि हितादि (पा)।
९. तवतेणं (भ)।
१०. सूत्र ५ (नव १०/५)।
११. तेणेव (दे)।
१२. चयते (क)।

२७७५. अपवाद पद में प्रथम और तृतीय—द्रव्य एवं काल आशातना ग्लान्य कार्य आदि में, द्वितीय—क्षेत्र आशातना अटवी या मार्ग में तथा चतुर्थ—भाव आशातना अवसन्न आदि अवस्थाओं में अनुज्ञात है।

२७७६. गुरु या रात्तिक ग्लान हो या उनके लिए अपथ्य द्रव्य जो उन्हें इष्ट हो, वह गोचरी में मिले तो शिष्य गुरु को दिखाए बिना, आलोचना किए बिना स्वयं खा सकता है या प्रचुर मात्रा में अन्य भिक्षु को दे सकता है। इस प्रकार गुरु की रक्षा के निमित्त द्रव्य आशातना करने पर भी शुद्ध है।

२७७७. क्षेत्र आशातना के अपवाद—मार्ग में कांटों को हटाने के लिए आगे-आगे चलने से, विषम स्थान में अवलम्बन या ग्लान अवस्था में अवलम्ब हेतु पार्श्वतः सटकर चलने तथा आचार्य को दबाने, विश्रामणा आदि कराने के निमित्त उनका संघट्टन करने से शिष्य आशातना का भागी नहीं होता। ग्लान अवस्था में उद्वर्तन, परिवर्तन कराने के लिए भी वह अति आसन्न बैठ सकता है। गुरु छेदसूत्रों का वाचन मन्दस्वर से करवाते हैं ताकि अपरिणत भिक्षु उन्हें न सुन सकें, उस समय उन्हें सुनने के लिए श्रोता मुनि अति निकट बैठने पर भी प्रायश्चित्तार्ह नहीं।

२७७८. काल आशातना के अपवाद—रात्रि या विकाल वेला में भिक्षु किसी ग्लान के वैयावृत्य आदि में व्यापृत है और गुरु आवाज लगाए तो गुरु को उत्तर न दे। शैक्ष के ज्ञातिजन आदि बाहर खड़े हों, स्वर पहचानकर उन्निष्क्रान्त न कर ले, अतः गुरु की बात का उत्तर न दे। साधुओं से खचाखच भरे हुए संबाध, उपाश्रय आदि में प्रत्युत्तर न मिलने पर किसी को उल्लंघन कर जाता हुआ या गृहस्थ प्रतिबद्ध शय्या में अधिकरण दोष के भय से उत्तर न देता हुआ भिक्षु काल आशातना का भागी नहीं बनता।

२७७९. जो ग्लान उल्लाप—प्रत्युत्तर देने में असमर्थ हो या उठने में असमर्थ हो, यदि गुरु के बुलाने पर वह मौन रहता है या वहीं शय्या आदि पर बैठा हुआ सुनता है तो आशातना का दोष नहीं लगता।

२७८०. भाव आशातना के अपवाद—शैक्ष एकान्त में गुरु से कहता है—यदि आप अमुक तत्त्व का प्ररूपण इस प्रकार करें तो निर्दोष होगा, अन्यथा सिद्धान्त विराधना का दोष आएगा। आप भी इस पर विचार करें कि यह तत्त्व इस प्रकार संगत है या नहीं। ऐसा कहने से भाव आशातना नहीं लगती। यदि सम्मुखीन रात्तिक आदि दृढमूढ़ हो, तत्त्व को स्वीकार न करते हों तो प्रकाश में—परिषद् बीच भी कहा जा सकता है।

२७८१. एकान्त में अनेक बार समझाने पर भी यदि कोई मिथ्याप्ररूपण से विरत न हो, अवसन्न हो जाए तो उसे परिषद् के बीच भी कहना पड़ता है—तुम हित-अहित को नहीं जानते, फिर नट के समान केवल पाठ रटने से क्या लाभ? उसका पैरों से संघट्टन किया जाता है ताकि वह सोचे कि जो शिष्य मुझे देवता के समान मानते थे, अब मेरा दास के समान तिरस्कार कर रहे हैं। श्रेय है कि मैं अवसन्नता को छोड़ूँ, उद्यतविहारी बनूँ।

२७८२. जो भिक्षु मूल, कंद आदि अनन्तकाय से युक्त अशन, पान, खादिम आदि का आहार करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२७८३. अनन्तकाय युक्त अशन आदि के भोग से वनस्पतिकाय का परित्याग (विराधना) होती है, फलतः संयम त्याग—संयम की विराधना होती है। अनन्तकाय से अशन सुस्वादु बन जाता है, उसे प्रचुर मात्रा में, अनुचित रूप से खाने पर सम्यक् परिपाक (पाचन) नहीं होता, विशूचिका, अजीर्ण आदि से आत्मविराधना होती है।

२७८४. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^१ भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जतण^२ इमा तत्थ कातव्वा ॥ २६६० ॥
२७८५. ओमं तिभागमद्धे, तिभागआयंबिले चउत्थादी ।
निम्मिस्से मिस्से या, परित्तऽणंते य जा जतणा ॥ २६६१ ॥
२७८६. साली^३-घत-गुल-गोरस, नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
'पुण्णट्ट दाणसङ्का'^४, आहाकम्मे निमंतणया ॥ २६६२ ॥ नि ६०७ ॥
२७८७. आहाकम्मे तिविधे, आहारे उवधि-वसहिमादीसु ।
आहाराहाकम्मं, चउव्विधं होति असणादी ॥ २६६३ ॥ नि ६०८ ॥
२७८८. उवधी आहाकम्मं, वत्थे पाए य होति णातव्वं ।
वत्थे पंचविधं पुण, तिविधं पुण होति पायम्मि ॥ २६६४ ॥ नि ६०९ ॥
२७८९. वसही आहाकम्मं, मूलगुणे^५ चेव उत्तरगुणे^६ य ।
एक्केक्कं सत्तविधं, नातव्वं^७ आणुपुव्वीए ॥ २६६५ ॥ नि ६१० ॥
२७९०. आहा अथे य कम्मे, आयाहम्मे^८ य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, णातव्वं कप्पती^९ कस्स ॥ २६६६ ॥ नि ६११ ॥
२७९१. संघस्स पुरिम-पच्छिम-‘समणाणं चेव होंति समणीणं’^{१०} ।
चउण्ह उवस्सयाणं, कातव्व परूवणा होति ॥ २६६७ ॥
२७९२. संघं समुद्धिसित्ता, पढमो बितिओ य समण-समणीणं^{११} ।
ततिओ उवस्सए खलु, चउत्थओ एगपुरिसं तु ॥ २६६८ ॥

१. रायदुट्टे (मु) ।

२. जतणा (भ) ।

३. सूत्र ६ (नव १०/६) ।

४. °ट्ट करण° (बृभा ५३४१), दाणट्ट करणसङ्का (पंकभा १२८५), पिनि (८२/१) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

दाणे अभिणवसङ्के, आहायकते निमंतणया ।

५. मूलगुणे सत्तविहं इमं—पट्टीवंसो, दो धारणाओ, चत्तारि य मूलवेलीओ (चू) ।

६. उत्तरगुणे इमे सत्त—वंसग-कडण-ओकंचण-छावण-लेवण-दुवार-भूमिकम्मे य (चू) ।

७. नेतव्वं (भ) ।

८. आयाकम्मे (मु) ।

९. कप्पते (बृभा ५३४२) ।

१०. मज्झिमसमणाण चेव समणीणं (बृभा ५३४३), समणीणं चेव होति समणाणं (क) ।

११. °णीओ (बृभा ५३४४) ।

२७८४. १. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी और ७. नगररोध—इन आपवादिक कारणों में यदि अनन्तकाय युक्त अशन आदि का भोग करे तो यह यतना करणीय है।

२७८५. यदि एषणीय आहार अवम हो तो ऊनोदरी कर ले, त्रिभाग न्यून (२/३ भाग) आहार से काम चला ले। उतना भी न मिले तो अर्धभाग, एक तिहाई भाग (१/३ भाग) खाकर रह जाए, आर्यंबिल, उपवास आदि कर ले किन्तु अनन्तकाय मिश्र न ले। यदि उपवास आदि न हो सके तो परित्तकाय मिश्र से निर्वाह करे। फिर भी संस्तरण न हो पनक परिहानि की यतना से प्रलम्बसूत्र में प्रज्ञप्त विधि से आहार ग्रहण करे।

२७८६. किसी दानश्राद्ध या अभिगम श्राद्ध के घर नवीन शालि (चावल) आए हों, अच्छा घी, गुड़ या गोरस आया हो, तुंबे आदि नवीन वल्लीफल आए हों तो वह सोचता है कि मैं पहले साधुओं को खिलाकर फिर घर में उपयोग करूंगा। अतः पुण्य के निमित्त वह आधाकर्म आहार आदि के लिए मुनि को निमंत्रित करता है।

२७८७. आधाकर्म के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. आहार, २. उपधि और ३. वसति (शय्या) आदि। आधाकर्म आहार के पुनः चार प्रकार होते हैं—अशन, पान, खादिम और स्वादिम।

२७८८. आधाकर्म उपधि के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. वस्त्र और २. पात्र। वस्त्र के जांगिक, भांगिक आदि पांच तथा पात्र के अलाबुमय, दारुमय और मृत्तिकामय—ये तीन प्रकार ज्ञातव्य हैं।

२७८९. आधाकर्म वसति के दो प्रकार होते हैं—१. मूलगुण आधाकर्म और २. उत्तरगुण आधाकर्म। प्रत्येक (दोनों) के क्रमशः सात-सात प्रकार ज्ञातव्य हैं।

२७९०. आधाकर्म के चार एकार्थक नाम हैं—१. आधाकर्म,^१ २. अधःकर्म,^२ ३. आत्माधर्म^३ और ४. आत्मकर्म^४। वह आधाकर्म किसके तीर्थ में किसे किस प्रकार नहीं कल्पता—यह ज्ञातव्य है।

२७९१. आधाकर्म करने वाला ओघ (सामान्य) अथवा विभाग (विशेष) रूप से इन चार को उद्दिष्ट कर आहार आदि बनाता है—१. संघ २, ३. प्रथम व अन्तिम तीर्थकर के साधु-साध्वी और ४. चार-उपाश्रय।^५ अतः इनकी प्ररूपणा करणीय है।

२७९२. आधाकर्म आहार आदि बनाने वाला गृहस्थ सामान्यतः चार संकल्पों से आधाकर्म करता है—१. संघ को उद्दिष्ट करके, २. श्रमण-श्रमणियों को उद्दिष्ट करके, ३. उपाश्रय को उद्दिष्ट करके और ४. एक पुरुष को उद्दिष्ट करके।

१. आधाकर्म आहार आदि का ग्रहण करने से आत्मा में कर्मों का आधान होता है अथवा आत्मा कर्मों पर आहित हो जाती है अतः वह भाव आधाकर्म है।

२. आधाकर्म ग्रहण करने वाला मुनि स्वयं को विशुद्ध संयम पर्यवों से अविशुद्ध संयम स्थानों में नीचे की ओर ले जाता है, अतः वह भाव अधःकर्म है।

३. भाव आत्मा है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। आधाकर्म लेने वाला अपनी आत्मा का हनन करता है, अतः आधाकर्म को आत्माधर्म (आत्मा+अधर्म) कहा गया है।

४. आधाकर्म लेने वाला भिक्षु पर—गृहस्थ के कर्म (क्रिया) को अपना कर्म बना लेता है, अतः आधाकर्म का एक नाम है—आत्मकर्म।

५. चार उपाश्रय—१. पंचयाम वाले साधु, २. पंचयाम वाली साध्वियां, ३. चतुर्याम वाले साधु और ४. चतुर्याम वाली साध्वियां।

२७९३. जदि^१ सव्वं उद्विसिउं, संघं 'तु करेति'^२ दोण्ह वि ण कप्पे ।
अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्थ वि तहेव ॥२६६९॥
२७९४. जइ 'पुण पुरिमं'^३ संघं, उद्विसती^४ मज्झिमस्स तो कप्पे ।
मज्झिम उद्विट्ठे पुण, दोण्हं पि अकप्पितं होति^५ ॥२६७०॥
२७९५. एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वणिद्विट्ठे^६ ।
मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोण्ह वि ण कप्पे ॥२६७१॥
२७९६. पुरिमाणं एगस्स वि, कतं तु सव्वेसि पुरिम-चरिमाणं ।
ण वि कप्पे ठवणामेत्तगं^७ तु गहणं तहिं णत्थि^८ ॥२६७२॥
२७९७. एवमुवस्सय पुरिमे, 'उद्विट्ठं तं ण'^९ पच्छिमा भुंजे ।
मज्झिमतव्वज्जाणं, कप्पे उद्विट्ठसमपुव्वा ॥२६७३॥
२७९८. सव्वे समणा समणी, मज्झिमगा चेव पच्छिमा चेव ।
मज्झिमग-समण-समणी, पच्छिमगा समण-समणीओ^{१०} ॥२६७४॥
२७९९. उवसग^{११}-गणित^{१२}-विभावित, उज्जुगज्झु य वंकज्झु य ।
मज्झिमग उज्जुपण्णा, पेच्छा सण्णाइयागमणं ॥२६७५॥ नि ६१२ ॥

१. जं (भ), यदीत्यभ्युपगमे (चू) ।

२. करेति (बृभा ५३४५) ।

३. खलु पुरिल्ल (भ) ।

४. उद्विसति (दे) ।

५. बृभा ५३४६ ।

६. पुव्वमुद्विट्ठं (दे, पा), पुव्वमुद्विट्ठे (बृभा ५३४७), पुव्वमिति
रिसभसामिणो तित्थे जे समणा समणीओ वा (चू) ।

७. ठवणा इति प्रज्ञापनमात्रं नात्र संभवोऽस्तीत्यर्थः (चू),

एतच्च स्थापनामात्रं प्ररूपणामात्रं संज्ञाविज्ञानार्थं क्रियते,

बहुकालान्तरितत्वेन पूर्वपश्चिमसाधूनामेकत्रासम्भवात्
तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटते (बृभाटी) ।

८. बृभा ५३४८ ।

९. उद्विट्ठ ण तं तु (बृभा ५३४९) ।

१०. बृभा ५३५०, दे प्रति में २७९८, २७९९—ये दोनों गाथाएं
नहीं हैं ।

११. उवस्सग (दे, बृभा ५३५१) ।

१२. बहूणं उवस्सगाणं मज्झे पंच इति गणिया (चू) ।

२७९३. सामान्यतः सारे संघ को उद्दिष्ट कर आधाकर्म आहार आदि बनाता है तो वह दोनों—चातुर्याम और पंचयाम धर्म वाले साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता। अथवा वह सब साधु-साध्वियों को उद्दिष्ट कर बनाए, तब भी दोनों को नहीं कल्पता।

२७९४. यदि गृहस्थ पुरिम संघ (ऋषभ भगवान के संघ) को उद्दिष्ट कर आहार आदि बनाए तो वह मध्यम बाईस तीर्थकरों के संघ के लिए कल्प्य है। मध्यम बाईस तीर्थकरों के संघ के उद्देश्य से निर्मित आहार दोनों—चातुर्याम और पंचयाम धर्मावलंबियों के लिए अकल्पनीय है।

२७९५. इसी प्रकार पूर्व—ऋषभ स्वामी के श्रमण-श्रमणी वर्ग के उद्देश्य से बनाया गया आहार मध्यम तीर्थकरों के संघ के लिए कल्पनीय होता है, पर उन (मध्यम तीर्थकरों) के साधु-साध्वियों के उद्देश्य से निर्मित आहार आदि दोनों (प्रथम और मध्यम) के लिए अकल्पनीय है।

२७९६. एक पुरुष के उद्देश्य से निर्मित आधाकर्म आहार प्रथम से चरम पर्यन्त सभी तीर्थकरों के साधुओं के लिए अकल्प्य है।^१ किन्तु यह स्थापना—प्रज्ञापन मात्र है और मध्यम तीर्थकरों में से एक को उद्दिष्ट कर निर्मित आहार आदि प्रथम व चरम तीर्थकरों के सब साधुओं के लिए तथा मध्यम के उस एक साधु के अतिरिक्त सबके लिए कल्पनीय होता है।

२७९७. उपाश्रय सामान्य के उद्देश्य से निष्पन्न आहार आदि सब साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय होता है। प्रथम (ऋषभ स्वामी) उपाश्रय के उद्देश्य से निर्मित आहार प्रथम व चरम के सब साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय तथा मध्यम के लिए कल्पनीय होता है। मध्यम तीर्थकरों के सब उपाश्रयों के उद्देश्य से निर्मित आहार सब उपाश्रयों के लिए अकल्पनीय होता है। किन्तु मध्यम के किसी एक उपाश्रय को उद्देश्य कर निर्मित आहार केवल उनको छोड़ शेष सब मध्यम उपाश्रयों के लिए कल्पनीय होता है। लेकिन उस आहार आदि की दृष्टि से पूर्व और चरम तो उद्दिष्ट सम ही हैं।

२७९८. सब साधु-साध्वी के उद्देश्य से निर्मित आहार सभी के लिए, मध्यम साधु साध्वी ही—इस उद्देश्य से निष्पन्न आहार मध्यम और पश्चिम सभी के लिए, पश्चिम साधु-साध्वी के उद्देश्य से निर्मित आहार आदि महावीर के सब साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय और मध्यम बाईस तीर्थकरों के साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय है। मध्यम श्रमणों या श्रमणियों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार आदि केवल उन-उन को छोड़कर शेष सब के लिए अकल्पनीय है। पश्चिम श्रमणों या श्रमणियों के उद्देश्य से निर्मित आहार आदि मध्यम श्रमण-श्रमणियों के लिए कल्पनीय है और शेष के लिए अकल्पनीय।

२७९९. गणित और विभाजित^३ के संयोग से उपाश्रयों के चार भंग हो जाते हैं। प्रथम तीर्थ के साधु-साध्वी ऋजुजड़ और अन्तिम तीर्थ के साधु-साध्वी वक्रजड़ होते हैं। उनके लिए आधाकर्म सभी भंगों में वर्जित है। मध्यम तीर्थ के साधु-साध्वी ऋजुप्राज्ञ होते हैं। इनके लिए आधाकर्म की भजना है।^३ ये नटप्रेक्षण तथा स्वज्ञातिगमन—दो दृष्टान्तों से ज्ञेय है।

१. मध्यम तीर्थकरों के साधुओं में से एक के ग्रहण कर लेने पर वह आहार आदि उन सब साधुओं के लिए कल्पनीय हो जाता है, पर प्रथम व अन्तिम तीर्थकरों के साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय नहीं होता।

२. जहाँ बहुत से उपाश्रय हों, वहाँ कोई गृहस्थ चार या पाँच इस प्रकार गिनती पूर्वक आहार बनाए, वे उपाश्रय गणित कहलाएंगे तथा उनमें भी यदि अमुक अमुक नामोल्लेखपूर्वक उनके लिए आहार बनाए तो वे विभाजित कहलाएंगे।

३. मध्यम साधु-साध्वियों के लिए जो गणित विभाजित हों, उनके अतिरिक्त शेष मध्यम साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय होता है। जब केवल विभाजित हो तो जिनके नामपूर्वक बनाया गया हो, उनके तथा उनके सदृशनाम वाले अन्य के लिए अकल्पनीय तथा शेष के लिए कल्पनीय होता है। यदि गणनापूर्वक हो तो वह गणना पूरी न हो तब तक अकल्पनीय, होता है। चतुर्थ भंग—अगणित अविभाजित आधाकर्म सबके लिए अकल्पनीय होता है।

२८००. नडपेच्छं ददूणं, अवस्स आलोयणा^१ ण सा^२ कप्पे ।
कउगादी सो पेच्छति, न ते वि पुरिमाण तो सव्वे^३ ॥ २६७६ ॥
२८०१. एमेव उग्गमादी, एक्केक्कणिवारिते तरे गेण्हे ।
सव्वे वि ण कप्पंति, त्ति वारितो जज्जियं^४ चयति^५ ॥ २६७७ ॥
२८०२. सण्णातगा वि उज्जुत्तणेण कस्स कड^६ तुज्झं^७ एयं^८ तिं ।
मम उद्धिद्व ण कप्पति, कीतं अण्णस्स वा पकरे^९ ॥ २६७८ ॥
२८०३. सव्वेसि संजताणं, उग्गमदोसा निवारिता सव्वे ।
इति कहिते पुरिमाणं, सव्वेसिं ते उ ण करेति^{११} ॥ २६७९ ॥
२८०४. उज्जुत्तणं से आलोयणाएँ जडुत्तणं 'तु जं'^{१२} भुंजे ।
तज्जातिए ण जाणति, गिही वि अण्णस्स अण्णे^{१३} वा ॥ २६८० ॥
२८०५. उज्जुत्तणं से आलोयणाएँ पण्णा तु सेसवज्जणया ।
सण्णायगा वि दोसे, ण करेत्तण्णे ण सव्वेसिं^{१४} ॥ २६८१ ॥
२८०६. वंका उ ण साहंती, पुट्ठा य^{१५} भणंति उण्ह-कंटादी ।
पाहुणग-सद्ध-ऊसव, गिहिणो वि य वाउलंतेवं ॥ २६८२ ॥
२८०७. एतेसामण्णतरं, आहाकम्मं तु गेण्हती जो उ ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं^{१६} पावे ॥ २६८३ ॥ नि ६१३ ॥

१. मालो (क) ।
२. से (मु, भ) ।
३. बृभा ५३५२ ।
४. जा जियं (मु) ।
५. वज्जे (दे, बृभा ५३५३) ।
६. कत (बृभा ५३५४) ।
७. तुज्झं (भ) ।
८. मेयं (बृभा) ।
९. तु (दे) ।
१०. करते (दे) ।

११. बृभा (५३५५) में यह गाथा कुछ पाठांतर के साथ मिलती है—
सव्वजईण निसिद्धा, मा अणुमण्ण त्ति उग्गमा णे सिं ।
इति कहिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसि ण करेति ॥
१२. से जं (मु, बृभा) ।
१३. अन्नं (बृभा ५३५६) ।
१४. वन्नेसिं (दे, पा), यण्णेसिं (बृभा ५३५७) ।
१५. उ (भ, बृभा ५३५८) ।
१६. °धणा (भ) ।

२८००, २८०१. भगवान् ऋषभ के तीर्थ के साधु भिक्षार्थ गए। बीच में नटों का नाटक देखा। ऋजु होने के कारण उन्होंने आचार्य के समक्ष अवश्य आलोचना की। आचार्य ने कहा—नटप्रेक्षण नहीं कल्पता। दूसरी बार गए। मार्ग में इन्द्रजाल देखने लगे। आलोचना की। गुरु ने कहा—मुनि को इन्द्रजाल देखना नहीं कल्पता। इस प्रकार जितना वर्जन किया जाता है, वे उतना कार्य नहीं करते। सबका वर्जन किया जाए तो सबका परित्याग कर देते हैं। इसी प्रकार उद्गम आदि दोषों में से यदि एक-एक का वर्जन किया जाए तो वे दूसरे का समाचरण कर लेते हैं। जब कह दिया जाता है कि सारे उद्गम आदि दोष अकल्पनीय हैं तो वे यावज्जीवन उनका परित्याग कर देते हैं—यह है उनकी ऋजुता युक्त जड़ता (अल्पमतिवत्)।

२८०२. ऋजुजड़ संयतों के संज्ञातक (ज्ञातिजन) भी ऋजु होते हैं। उनके घर में आरम्भ, समारंभ देखकर मुनि पूछता है—यह किसके लिए किया? वे कहते हैं—आपके लिए। मुनि—मेरे लिए बनाया हुआ मुझे नहीं कल्पता। यह सुनकर वे उसके लिए खरीद कर ला देते हैं या अन्य किसी मुनि के लिए बना देते हैं।

२८०३. जब मुनि कहते हैं—सारे ही मुनियों के लिए सभी उद्गम दोष निषिद्ध हैं। ऐसा कहने पर प्रथम ऋजुजड़ मुनियों के ज्ञातिजन किसी भी साधु के लिए कोई भी उद्गम दोष नहीं करते।

२८०४. इस प्रकार इन दृष्टान्तों में साधु जो आलोचना करता है तथा गृहस्थ स्पष्टतः स्वीकार करता है, यह उनका ऋजुत्व है। दूसरी ओर साधु जो तज्जातीय अन्य दोषों को नहीं जानता और गृहस्थ अन्य साधु के लिए या अन्य प्रकार के दोष का समाचरण करता है, वह उनकी मति की जड़ता है।

२८०५. मध्यम बावीस तीर्थकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं अतः वे एकान्त में भी प्रतिषेधित दोष की आलोचना करते हैं। यह ऋजुता है तथा शेष तज्जातीय दोषों का वर्जन करते हैं—यह उनकी प्रज्ञा है। एक के लिए जो दोष है, वह अन्य के लिए भी है तथा तज्जातीय अन्य दोष भी वर्जित हैं—यह समझना ज्ञातिजनों की प्रज्ञा है।

२८०६. अन्तिम तीर्थकर के साधु वक्रजड़ होते हैं। वे दोष प्रतिसेवना कर स्वयं आलोचना नहीं करते। पूछा जाए कि तुमने नटों को नहीं देखा तो वहां क्यों खड़े थे? तो कहते हैं—हम धूप से अभिभूत हो वहां विश्राम कर रहे थे या कांटा चुभ गया, उसे निकाल रहे थे। इसी प्रकार गृहस्थ भी पूछने पर व्यामोहित करते हैं, कहते हैं—आज हमारे अतिथि आए हुए थे। हमें यही भोजन रुचिकर है अथवा आज उत्सव है अतः अमुक आरम्भ समारम्भ किया है—यह है उनका वक्रता। जड़ता यह है कि वे जान-अजान में अतिचार लगाते रहते हैं।

२८०७. जो भिक्षु इनमें से किसी प्रकार का आधाकर्म ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२८०८. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^१ भए व गेलण्णे ।
अद्धाण-रोहए वा, धितिं पडुच्चा व आहारे ॥ २६८४ ॥
२८०९. आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि^२ भयणाड ।
तिक्खुत्तऽडविपवेसे^३, चतुपरियट्टे ततो गहणं ॥ २६८५ ॥
२८१०. गुरुगो^४ जावज्जीवं, सुद्धमसुद्धेण होति कातव्वं ।
वसभे बारसवासा, अट्टारस भिक्खुणो मासा ॥ २६८६ ॥
२८११. लाभालाभे^५-सुह-दुक्ख-जीविते-मरणऽतीतवज्जाइं ।
गिहि-अण्णतित्थियाण व, जे भिक्खू वागरेज्जाणा ॥ २६८७ ॥ नि ६१४ ॥
२८१२. पट्टवितो मे अमुगो, लभति ण 'लब्भति व'^६ तस्सिमा वेला ।
वीमंसा दुक्खीहं, सुहीति^७ अमुगं च ते दुक्खं ॥ २६८८ ॥
२८१३. जीवति 'स मओ त्ति व'^८ संकितम्मि एगतरगस्स णिहेसं ।
एवं होहिति तुज्झं, तस्स व लाभादओ एस्से ॥ २६८९ ॥
२८१४. 'आणंदं अपडिहतं'^९, संखडिकरणं च उभयथा होंति ।
खित्तादि मरण कोट्टण, अधिकरणमणागतं^{१०} जं च ॥ २६९० ॥
२८१५. उच्छाह विसीदंते, अगंतुकामस्स होति गमणं च^{११} ।
अहिकरण-थिरीकरणं, कय-विक्कय सन्नियत्ती य ॥ २६९१ ॥
२८१६. आदेस-विसंवादे, पदोस-णिच्छुभणमादि-वोच्छेदो ।
अधिकरणं अण्णेण व, उड्डाहऽण्णाण-वादो य ॥ २६९२ ॥

१. रायदुट्टे (मु) ।

२. °णए य (बृभा ५३५९) ।

३. तिउणं अडवि° (भ), °विपवेसणम्मि (क) ।

४. सूत्र ७ (नव १०/७) ।

५. सूत्र ८ (नव १०/८) ।

६. लभति ते (दे) ।

७. सुहीसि (दे) ।

८. मओ त्ति वा (मु, भ) ।

९. °दमप्पडि° (दे) ।

१०. °गते (दे) ।

११. तु (मु), व (क) ।

२८०८. अपवादपद में इन कारणों से धृति के अनुसार आधाकर्म आहार ग्रहण किया जा सकता है—१. अशिव, २. अवमौदारिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी और ७. नगररोध।
२८०९. आचार्य, अभिषेक अथवा भिक्षु ग्लान हो और पथ्य या औषध न मिले तो आधाकर्म आहार की भजना है। इसी प्रकार अटवी प्रवेश, उत्तीर्ण (पर्यवसान) या मध्य में यदि तीन बार गवेषणा करने पर भी शुद्ध आहार आदि न मिले तो असंस्तरण की स्थिति में चतुर्थ पर्यटन में पनक परिहाणी पूर्वक (चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तक) आधाकर्म का ग्रहण किया जा सकता है।
२८१०. आचार्य ग्लान हो तो शुद्ध पथ्य या औषध न मिलने पर यावज्जीवन अशुद्ध का ग्रहण किया जा सकता है। वृषभ और भिक्षु को ग्लान-अवस्था में क्रमशः बारह वर्ष और अठारह माह तक अशुद्ध पथ्य और औषध दी जा सकती है।
२८११. जो भिक्षु अतीत काल को छोड़कर (वर्तमान और भविष्य-विषयक) लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन और मरण के निमित्त का गृहस्थ या अन्यतीर्थिक के समक्ष कथन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
- २८१२, २८१३. कोई पूछता है—मैंने अमुक व्यक्ति को अमुक व्यक्ति के पास भेजा है, उसे लाभ होगा या नहीं? अथवा अमुक व्यक्ति अमुक वेला में मेरे पास आया है, वह लाभ प्राप्त कर आया है या नहीं? कोई विमर्श की दृष्टि से पूछता है—मैं सुखी हूँ या दुःखी? उसे कहना—तुम्हारे अभी अमुक दुःख है। कोई विदेश में है, उसके स्वजनों को शंका हो तो पूछ लेते हैं—वह जीवित है, या मृत (नामशेष) हो गया है। ऐसा पूछने पर दोनों में से एक का निर्देश करना—ये वर्तमानकालिक निमित्तकथन हैं। इसी प्रकार तुझे या अमुक व्यक्ति को लाभ होगा या नहीं, सुखी रहोगे या दुःखी, जीवित रहोगे या नहीं—इत्यादि परोक्ष आगामी काल विषयक निमित्त का कथन करना भविष्यत् निमित्त का कथन है।
२८१४. अमुक व्यक्ति जीवित है—ऐसा सुनकर उसके ज्ञातिजन अपने अप्रतिहत आनन्द का प्रदर्शन करने हेतु वर्धमान उत्सव आदि करते हैं। अमुक मर गया—ऐसा सुनकर वे मृत्युभोज आदि करते हैं—इस प्रकार दोनों ही निमित्तों का कथन अधिकरण का हेतु बनता है। अनागतकालीन जीवन एवं मरण को सुनकर भी हर्ष या विषादहेतुक क्षिप्तचित्तता, मरण की भविष्यवाणी से सिर, छाती आदि को पीटना तथा मृतककृत्य आदि विषयक अधिकरण संभव है, अतः भिक्षु उनका कथन न करे।
२८१५. लाभ की भविष्यवाणी से विषन्न व्यक्ति में उत्साह जाग जाता है, परदेश में लाभ की भविष्यवाणी से अगंतुमना भी परदेश चला जाता है। अमुक वस्तु से लाभ होगा—सुनकर उसके क्रय-विक्रय के निवर्तन या प्रवर्तन का मानस बन जाता है—इस प्रकार लाभ, अलाभ आदि निमित्तों का कथन अधिकरण (हिंसा/कलह) तथा व्यापार आदि में स्थिरीकरण का हेतु बनता है।
२८१६. किसी अपेक्षा विशेष के कारण मुनि द्वारा कथित निमित्त विसंवदित हो जाए—गलत हो जाए तो गृहस्थ आदि प्रद्विष्ट हो सकते हैं, उसे उपाश्रय से निकाल सकते हैं, आहार आदि का व्यवच्छेद कर देते हैं, अन्य नैमित्तिक के साथ कलह हो सकता है। यदि अन्य नैमित्तिक का कथन सत्य हो जाए तो भिक्षु के अज्ञान का प्रचार एवं निन्दा होती है।

२८१७. नियमा तिकालविसए, वि निमित्ते छव्विधे हवति^१ दोसो ।
सज्जं तु वट्टमाणे, आतुभए तत्थिमं णातं ॥ २६९३ ॥
२८१८. आकंपिता णिमित्तेण, 'भोइए^२ होतिमे^३ चिरगतम्मि ।
पुव्वभणितं कधंते, आगतुरुट्ठो^४ य^५ वलवाए ॥ २६९४ ॥
२८१९. दाराभोगण एगागि, आगमो परियणस्स पच्चोणी^६ ।
पुच्छा 'य खमगकहणं^७, सादीयंकारसुविणादी^८ ॥ २६९५ ॥
२८२०. कोहा^९ वलवागब्भं, च पुच्छितो 'भणति पंचपुंडासो'^{१०} ।
फालण दिट्ठे जति णेवं तो तुह^{११} अवितहं कति वा ॥ २६९६ ॥
२८२१. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे^{१२} भए व गेलण्णे ।
अद्धाण-रोहए वा, जतणाए वागरे भिक्खू ॥ २६९७ ॥
२८२२. एतेहऽसंथरंतो, पणगादी कम्मऽतिच्छितो संतो ।
एस्सेव पडुप्पणं, व भणति भद्देसु उवउत्तो ॥ २६९८ ॥
२८२३. सेहऽवहारो^{१३} दुविधो, पव्वावियए य ऽपव्वयंते य ।
एक्केक्को वि य दुविधो, पुरिसिस्थिगतो य नातव्वो ॥ २६९९ ॥ नि ६१५ ॥
२८२४. पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खस्स अतिगते संते ।
सेहस्स आसियावण, अभिधारेते^{१४} व पावयणी^{१५} ॥ २७०० ॥ नि ६१६ ॥
२८२५. सन्नातिगतो अद्धाणिओ व^{१६} वंदणग पुच्छ सेहो मि ।
सो कत्थ मज्झ कज्जे, छातपिवासस्स वा अडती^{१७} ॥ २७०१ ॥

१. भवे (पिनि २०४) ।
२. भोइणी (मु, भ) ।
३. भोइणी भोइए (पिनि २०५) ।
४. आगओगो (क) ।
५. व (दे, पिनि) ।
६. पच्चोणी (मु) ।
७. समणे कहणं (पिभा ३३) ।
८. सुमिणादी (दे) ।
९. कोवो (पिभा ३४) ।

१०. पंचपुंडमाहंसु (पिभा) ।
११. तहि (दे) ।
१२. रायदुट्ठे (मु, दे) ।
१३. सूत्र ९ (नव १०/९) ।
१४. ऽभिधा (भ) ।
१५. बृभा ५०७३ ।
१६. य (दे) ।
१७. बृभा ५०७४ ।

२८१७. त्रिकाल विषयक—अतीत, वर्तमान, भविष्य से संबंधित लाभ-अलाभ आदि षड्विध निमित्त का कथन नियमतः दोषपूर्ण ही है। उसमें भी वर्तमान का निमित्त कभी-कभी स्वयं और पर के लिए सद्य (तत्काल) दोषपूर्ण घातक हो जाता है। इस विषय में यह ज्ञात (दृष्टान्त) है।

२८१८-२८२०. एक नैमित्तिक से एक ग्रामस्वामिनी आकृष्ट थी। ग्रामस्वामी को परदेश में चिरकाल हो जाने पर उसकी पत्नी ने नैमित्तिक से पूछा। उसने उसके पति के आगमन का ठीक समय बता दिया। ग्रामस्वामी की पत्नी परीक्षा करने हेतु अकेला ही आ गया। उसने सबको अगवानी में उपस्थित देख पूछा। 'नैमित्तिक ने कहा।' यह सुन उसे शंका हो गई। उसने नैमित्तिक को बुलाया। तपस्वी नैमित्तिक ने स्वप्नशास्त्र आदि विभिन्न निमित्तों के विषय में बताया। उसने पूछा—इस घोड़ी के गर्भ में क्या है? उत्तर मिला—पंचपुंड्र—पांच स्थानों पर सफेद चिन्ह वाला घोड़ा। ग्रामस्वामी ने घोड़ी का पेट फाड़ दिया। ग्रामस्वामी ने कहा—यदि तुम्हारा ज्ञान झूठा होता तो यही गति तुम्हारी होती। इस प्रकार के यथार्थ निमित्तज्ञानी कितने होते हैं? अतः भिक्षु वर्तमान व भविष्यत् निमित्त का कथन न करे।^१

२८२१. १. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी एवं ७. नगररोध—इन अपवादों में भिक्षु यतनापूर्वक निमित्त का कथन कर सकता है।

२८२२. उपर्युक्त अपवादों में पनक परिहाणी से आधाकर्म का क्रम अतिक्रान्त हो जाए, तब भी यदि निर्वाह न हो सके तो भिक्षु भद्र श्रावकों के बीच, पूर्ण उपयोग के साथ पहले आगामी और बाद में प्रत्युत्पन्न (वर्तमानकालिक) निमित्त का कथन करे।

२८२३. शैक्षापहार के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. प्रव्रजित शिष्य का, २. अप्रव्रजित शिष्य का। उन शिष्यों के प्रत्येक के पुनः दो-दो प्रकार हो जाते हैं—१. स्त्रीगत और २. पुरुषगत (शिष्य)।

२८२४, २८२५. कोई भिक्षु प्रव्राजनीय शिष्य को लेकर प्रस्थित हुआ। भिक्षा के समय उसे गांव के बाहर छोड़ वह गांव में प्रविष्ट हुआ। इधर कोई दूसरा भिक्षु संज्ञाभूमि गया हुआ था या विहार के लिए मार्गगत था। उसने उसे देखा। शैक्ष ने वन्दना की। उसने पूछा—कौन हो? कहां जा रहे हो? शैक्ष—मैं अमुक साधु के साथ दीक्षा की इच्छा से जा रहा हूं। भिक्षु—वह कहां है? शैक्ष—मुझे भूख व प्यास लग गई। अतः मेरे लिए भिक्षाटन हेतु गए हैं। इस प्रकार अकेले बैठे शैक्ष को फंटा कर (ठग कर) अपहरण कर लिया जाता है। कोई शैक्ष किसी आचार्य का अभिसंधारण कर दीक्षा के लिए अकेला ही जा रहा हो, तब भी उपर्युक्त विधि से अपहार संभव है। ये दोनों ही जब सूत्रार्थ ग्रहण कर प्रावचनी हो जाते हैं, तब अपना दिशा-परिच्छेद (आचार्य का निर्णय) स्वयं कर लेते हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४३।

२८२६. मज्झमिणमण्णपाणं, भुंजसु 'उवजीवऽणुकंपयाएँ'^१ सुद्धो उ ।
पुट्टमपुट्टे कहणा^२, एमेव य इयरहा दोसा^३ ॥२७०२ ॥
२८२७. भत्ते पण्णवण निगूहणा य वावार^४ झंपणा चेव ।
पट्टवण^५ सयंहरणे, सेहे अव्वत्त^६ वत्ते य ॥२७०३ ॥
२८२८. गुरुगो चउलहु चउगुरु, छल्लहु^७ छगुरुगमेव छेदो य ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं^८ अणवट्ट पारंची^९ ॥२७०४ ॥
२८२९. अभिधारेंत वयंतो, पुट्टो वच्चामहं अमुगमूलं ।
पण्णवण भत्तदाणे, तहेव सेसा पया णत्थि^{१०} ॥२७०५ ॥
२८३०. पुरिसम्मि इत्थिगम्मि य, पव्वावितगम्मि एस चेव गमो ।
णातव्व णिरवसेसो, अव्वत्त तहेव वत्ते य^{११} ॥२७०६ ॥
२८३१. एवं तु सो अवहितो, 'जाहे जातो'^{१२} सयं तु पावयणी ।
णिव्वकारणे य गहितो, वच्चति ताहे पुरिल्लाणं^{१३} ॥२७०७ ॥
२८३२. अण्णस्स व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जतेगतरजुत्ते ।
धारेति तमेव गणं, जो य^{१४} हडो कारणज्जाते^{१५} ॥२७०८ ॥
२८३३. कारणजात अवहडो, गणं 'धरेंतो तु अवहरंतस्स'^{१६} ।
'जावेगो निम्मातो'^{१७}, पच्छा से अप्पणो इच्छा ॥२७०९ ॥

१. °पणाय (बृभा) ।

२. कहणे (दे) ।

३. बृभा ५०७५ ।

४. वावारं (दे) ।

५. पत्थं (बृभा ५०७६, जीभा २३३९) ।

६. बाले (भ) ।

७. × (दे, भ) ।

८. × (दे) ।

९. बृभा ५०७७ ।

१०. णत्थी (भ), बृभा ५०७८ ।

११. गाथाओं के क्रम में बृभा में यह गाथा नहीं मिलती हैं ।

१२. × (दे) ।

१३. बृभा ५०८१ ।

१४. व (दे) ।

१५. बृभा ५०८२ ।

१६. धरेमाणा सो हरंतस्स (मु, भ) ।

१७. जाहेगो निप्फणो (बृभा ५०८४) ।

२८२६. यदि वह दूसरा साधु साधर्मिक पर अनुकम्पा कर उसे भक्तपान देता है, उसके पूछने या पूछे बिना भी उसे धर्मोपदेश देता है तो वह शुद्ध है। अन्यथा ('यह मेरा हो जाएगा'—इस बुद्धि से) उसे अन्नपान, धर्मोपदेश आदि देता है तो वह दोषयुक्त है। (उसे शैक्षापहार प्रत्ययिक चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

२८२७. शैक्ष के दो प्रकार होते हैं—१. अव्यक्त (बाल) और २. व्यक्त (वयस्क)। उसके अपहरण के छह प्रयोग होते हैं—१. भक्तपान देना, २. धर्म का उपदेश देना, ३. छिपाना या छिपने के लिए कहना।^१ उसके छिपने पर पलाल आदि से उसे स्थगित करना,^२ ५. उसे किसी के साथ या अकेले को अन्यत्र भेज देना और ६. स्वयं उसका अपहरण कर ले जाना।

२८२८. यदि एक भिक्षु शैक्षापहार हेतु अव्यक्त शैक्ष को भक्तपान आदि देता है तो उपर्युक्त छह प्रयोगों से उसे क्रमशः मासगुरु, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु और छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा व्यक्त शैक्ष को भक्तपान आदि देने से चतुर्लघु से मूल पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। गणी (उपाध्याय)^३ को अव्यक्त एवं व्यक्त शैक्ष के अपहार हेतु भक्तपान आदि देने का चतुर्लघु से अनवस्थाप्य पर्यन्त तथा आचार्य को चतुर्गुरु से पारांचित पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२८२९. कोई शैक्ष किसी आचार्य का अभिसंधारण कर अकेला जाता है। दूसरे भिक्षु आदि से पूछने पर कहता है—मैं अमुक के पास प्रव्रजित होने जा रहा हूँ। इसमें भक्तदान और धर्मोपदेश दो पद प्रयोक्तव्य हैं। अकेला (शैक्ष) होने से शेष निगूहन आदि पद एवं तत्प्रत्ययिक प्रायश्चित्त नहीं होते।

२८३०. जो विधि अप्रव्रजित व्यक्त तथा अव्यक्त पुरुष (शिष्य) और स्त्री (शिष्या) के विषय में प्रज्ञप्त है वही सम्पूर्ण प्रव्रजित व्यक्त तथा अव्यक्त शिष्य और शिष्या के विषय में ज्ञातव्य है।

२८३१. इस प्रकार जो किसी के द्वारा अपहृत है या निष्कारण गृहीत है, वह जब स्वयं प्रावचनी—अनुयोगधर हो जाता है तो अपना दिशा-परिच्छेद कर बोधिलाभ हेतु पूर्ववर्ती आचार्य के पास चला जाता है।

२८३२. जिस भिक्षु के द्वारा उसका अपहरण किया गया, उसके गण में यदि कोई अन्य आचार्य नहीं है अथवा उसके आचार्य अभ्युद्यतविहार (एकलविहार आदि) या अभ्युद्यतमरण स्वीकार कर रहे हैं, अथवा किसी आचार्य ने कारणजात—प्रयोजनविशेष से उसका अपहरण किया है तो वह अपहृत शैक्ष उसी गण को धारण करता है, पूर्ववर्ती आचार्य के पास नहीं जाता।

२८३३. जो शैक्ष प्रयोजन विशेष से अपहृत हुआ है, वह उसी गण का आभाव्य होता है। यदि वह अपहरणकर्ता गण के उस प्रयोजन को सिद्ध न कर सके तो वह पूर्ववर्ती गण का आभाव्य होता है अथवा उस गण में रहते हुए, उसको धारण करते हुए यदि वह किसी गीतार्थ भिक्षु का निर्माण कर दे तो उसके बाद उसकी इच्छा है—वह उस गण में रहे या पूर्ववर्ती आचार्य के पास जाए। जो निष्कारण अपहृत है और उसने उस गण में एक गीतार्थ को तैयार कर दिया, वह पूर्ववर्ती आचार्य का ही आभाव्य होता है, नियमतः उन्हीं के पास जाता है।

१. वह उस शैक्ष को कहता है—तुम अमुक स्थान पर छिप जाओ।

२. निभा ३ चू. पृ. २२—झंपेति स्थगयति।

३. वही—गणिगहणातो उवञ्जातो।

२८३४. एतेसामण्णतरं, अवहारं जो करेज्ज सेहस्स।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २७१० ॥ नि ६१७ ॥
२८३५. नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुजोगे य।
सुत्तत्थजाणगस्सा^१, कप्पति सेहावहारो तु ॥ २७११ ॥
२८३६. एमेव य इत्थीए^२, अभिधारंतीए तह वयंतीए।
वत्तऽव्वत्ताए गमो, जहेव पुरिसस्स णातव्वो^३ ॥ २७१२ ॥
२८३७. विप्परिणामणसेहे^४, पव्वावियए य ऽपव्वयंते य।
एक्केक्का सा दुविधा, पुरिसित्थिगता य णातव्वा ॥ २७१३ ॥ नि ६१८ ॥
२८३८. तह चेवऽभिधारंते, वंदित-पुच्छा य भत्तपण्णवणा।
तह वि असंबज्झंते, विप्परिणामे इमेहिं तु^५ ॥ २७१४ ॥ नि ६१९ ॥
२८३९. आहिंडए विवित्ते, मद्दविए जाति-लाभ-सुत-अत्थे।
पूइय महणे णेता, संगहकुसलो कहक वादी ॥ २७१५ ॥ नि ६२० ॥
२८४०. आहिंडति सो णिच्चं, वयं तु णाहिंडगा ण वत्थव्वा।
अहवा वि स वत्थव्वो, अम्हे पुण अणियता वासा ॥ २७१६ ॥
२८४१. एमेव सेसगेसु वि, पडिपक्खगतेण णिंदती तं तु।
जइ वि य सो होति तहा, तह वि य विस्सासणा^६ सा उ ॥ २७१७ ॥
२८४२. दिट्ठमदिट्ठ विदेसत्थ गिलाणे मंदधम्म^७ अप्पसुते।
णिप्फत्ति णत्थि तस्सा, तिविधं गरहं च सो कुणति ॥ २७१८ ॥
२८४३. जइ पुण तेण ण दिट्ठा, णेव सुता पुच्छितो भणति अण्णे।
जदि वा गता विदेसं, सो साहति जत्थ ते विसए ॥ २७१९ ॥

१. अज्जाकारणजाते (बृभा ५०८३)।

२. इत्थी जे (पा)।

३. बृभा ५०८०।

४. सूत्र १० (नव १०/१०)।

५. ति (दे)।

६. विस्सासणा विपरिणामणा इत्यर्थः (चू)।

७. °धम्मस्स (क)।

८. जेण (दे)।

२८३४. उपर्युक्त में से किसी भी प्रकार से जो शैक्ष का अपहरण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२८३५. किसी आचार्य के पास पूर्वगत की वस्तु या प्राभृत का अथवा कालिकश्रुत के अध्ययन या श्रुतस्कन्ध का कोई ऐसा अंश (ज्ञान) सुरक्षित हो, जो अन्य किसी आचार्य के पास न हो। वह ज्ञाता आचार्य यदि अन्य में संक्रान्त न कर सकेगा तो उसका व्यवच्छेद निश्चित है—ऐसा जानकर यदि कोई सूत्रार्थविद् पुरुष भक्तपान, धर्मोपदेश आदि के द्वारा किसी शैक्ष का अपहरण करे तो यह विधिसम्मत है।

२८३६. इसी प्रकार कोई स्त्री जो किसी आचार्य का अभिसंधारण कर अकेली जा रही है या किसी साध्वी के साथ जा रही है, चाहे वह व्यक्त (वयस्क) है या अव्यक्त (नाबालिग) है—सर्वत्र वही विधि ज्ञातव्य है जो पुरुष के विषय में प्रज्ञप्त है।

२८३७, २८३८. दो प्रकार के शिष्यों को विपरिणत—प्रव्रज्या के परिणामों से रहित किया जाता है—
१. प्रव्रजित और २. अप्रव्रजित। पुनः उनके स्त्री और पुरुष के भेद से दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं। वह भी पूर्ववत् अभिसंधारण कर ससहाय अथवा अकेला जा रहा हो, उसे उसी प्रकार वन्दना करने पर पूछे तथा भक्तपान, धर्मोपदेश आदि दे, फिर भी यदि उसके परिणाम खंडित न हों तो इन उपायों से उसका परिणाम-भेद करता है। (वह विधिसम्मत नहीं।)

२८३९. शैक्ष को विपरिणत करने के प्रकार ये हैं—१. आहिंडक, २. विविक्त, ३. मार्दव सम्पन्न, ४. जाति सम्पन्न, ५. लब्धिमान्, ६. बहुश्रुत, ७. अर्थज्ञाता, ८. पूजित, ९. महान्, १०. नेता, ११. संग्रहकुशल, १२. कथाकार और १३. वादी।

२८४०. आहिंडक पद से विपरिणत करते हुए कहता है—तुम अमुक आचार्य के पास प्रव्रज्या हेतु जा रहे हो, वे तो नित्य पर्यटनशील (आहिंडक) हैं। तुम भी बारह महीने विहार करते रहोगे तो सूत्रार्थ को प्राप्त कब करोगे? हम तो न नित्य पर्यटनशील हैं और नित्य वास्तव्य (एक स्थान पर रहने वाले)। हमारे पास दीक्षित होकर तुम सुगमता से सूत्र और अर्थ ग्रहण कर सकते हो। अथवा उस शैक्ष की पर्यटनरुचि को समझकर वह कहता है—वे तो एक स्थान पर रहते हैं। उनके पास दीक्षा लेने पर तुम देश-देशान्तर नहीं देख पाओगे। हम नवकल्पविहारी—अनियतवासी हैं। हमारे पास दीक्षा लोगे तो देश-विदेश की यात्रा करोगे।

२८४१. इसी प्रकार शेष विविक्त (निरतिचार), मृदुस्वभाव वाले, जातिसम्पन्न आदि पदों की वक्तव्यता ज्ञातव्य है—जो पद उस शैक्ष के अनुकूल हों, उनको स्वयं के साथ प्ररूपण करता है और प्रतिपक्ष पदों से अन्य आचार्य की निन्दा करता है। यदि वे निरतिचारता, मृदुता, जातिसम्पन्नता आदि गुण उन आचार्य में हों, तब भी उसकी निन्दा कर शैक्ष के मन को विपरिणत कर देता है।

२८४२. किसी आचार्य का अभिसंधारण कर जाता हुआ शैक्ष किसी अन्य मार्गवर्ती साधु से पूछता है—क्या आपने अमुक आचार्य को देखा है? उसे विपरिणत करने हेतु वह साधु कहता है—न देखा, न सुना। स्वदेश में होने पर भी कह देता है—अमुक विदेश में है। ग्लान हैं (वे खुद ही परावलम्बी हैं, तुम्हारा क्या भला करेंगे?) या उसके पास प्रव्रजित होने वाला ग्लान हो जाता है। वे मंदधर्मा हैं, वे अल्पश्रुत हैं, उनके पास प्रव्रजित की निष्पत्ति नहीं होती (देवलोक हो जाता है या उन्निष्क्रान्त।) अथवा वह साधु उन आचार्य की त्रिविध गर्हा (ज्ञान आदि त्रिक की गर्हा या कायिक, वाचिक एवं मानसिक गर्हा) करता है।

२८४३. जिस भिक्षु से शैक्ष आचार्य के विषय में पूछे, यदि उसने उन्हें न देखा या न सुना हो तो पूछने पर कहे कि तुम किसी अन्य से पूछ लो, मैं नहीं जानता। यदि आचार्य विदेश गए हों तो उस देश का नाम बता दें।

२८४४. सेसेसु तु^१ सभ्भावं, णाऽतिक्खति मंदधम्मवज्जेसु ।
गूहंते सभ्भावं, विप्परिणति हीणकहणे य ॥ २७२० ॥
२८४५. सीसोकंपिय गरहा, हत्थविलंबित अहो य हक्कारे ।
अच्छी^२ कण्णा य दिसा, वेला णामं ण घेतत्तव्वं ॥ २७२१ ॥
२८४६. पव्वयसि^३ आमं^४ कस्स त्ति सगासे अमुगस्स णिद्धिदे ।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु^५ ॥ २७२२ ॥
२८४७. अबहुस्सुता असुद्धा^६, अहच्छंदी तेहि^७ वावि संसग्गी ।
ओसण्णो संसग्गी, वि तेहि एक्केक्कगे दो दो ॥ २७२३ ॥
२८४८. सीसोकंपण हत्थे, कण्ण-अच्छी दिसि काइगा गरहा ।
वेला अहो अहंति य, नामं ति य वायिगी होति ॥ २७२४ ॥
२८४९. अह माणसिगी गरहा, सूतिज्जति नेत्त-वत्त-रागेहिं ।
धीरत्तणेण य पुणो, अभिणंदति णेव तं वयणं ॥ २७२५ ॥
२८५०. असढस्स नत्थि सोधी, सेहो पुण पुव्वपरिणतो होति ।
विप्परिणामे गुरुगा, आणादि अणंतसंसारी^८ ॥ २७२६ ॥
२८५१. णाणे दंसण-चरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अह होति तिविधगरहा, काए वाए मणे चेव ॥ २७२७ ॥
२८५२. एताणि य अण्णाणि य, विप्परिणामणपयाणि सेहस्स ।
उवधि-णियडिप्पहाणा^९, कुव्वंति अणुज्जुगा^{१०} केई^{११} ॥ २७२८ ॥
२८५३. एतेसामण्णतरं, विस्ससणं^{१२} जे^{१३} करेति सेहस्स ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २७२९ ॥ नि ६२१ ॥

१. र (दे) ।
२. अच्छि (भ) ।
३. °यसी (दे) ।
४. आम (क) ।
५. × (भ) ।
६. वऽसुद्धा (भ) ।
७. तहिं (भ) ।

८. भ प्रति में यह गाथा नहीं है ।
९. परस्य व्यंजकत्वेन अधिका कायक्रिया णियडी भण्णति (चू) ।
१०. °ज्जगा (दे) ।
११. केइ (दे) ।
१२. विस्सासेइ—विप्परिणामेति (चू) ।
१३. जो (पा) ।

२८४४. इसी प्रकार शेष पदों में भी सद्भाव (यथार्थ) का कथन करे। केवल मंदधर्मता को छोड़कर उसके किसी भी प्रतिकूल पद—ग्लानत्व आदि का कथन न करे। सद्भाव को छिपाना या ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की अल्पता का कथन करना—ये सब शैक्ष के विपरिणामन के प्रकार हैं।

२८४५. शैक्ष के पूछने पर अवज्ञापूर्वक सिर हिलाना, हाथ हिलाना, हाथ लम्बा करना या हाथ को विंडबित करना, अहो कष्टं, अहो! पता नहीं चलता, हा! हा! अकार्य हो गया आदि अवज्ञा-वचन कहना, आंखें मिचमिचाना या निर्निमेष होकर बैठ जाना, नाम लेते ही कानों को हाथों से ढक लेना, कहना—जिस दिशा में वे हैं, उस दिशा में भी नहीं बैठना चाहिए या निरन्न (भूखे पेट) इस सुबह की वेला में नाम भी नहीं लेना चाहिए—इत्यादि क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिक गर्हा है।

२८४६. अकेले शैक्ष को जाते देख कोई साधु या आचार्य पूछता है—दीक्षा लगे? शैक्ष—हां! साधु—किसके पास? शैक्ष—अमुक आचार्य के पास। ऐसा कहने (नाम निर्देश करने) पर वह अपने आपको उससे अधिक बताता है—आत्मप्रशंसा करता है अथवा इन वाक्यों से दूसरे का उपहनन करता है।

२८४७. मैं बहुश्रुत हूं, वह अबहुश्रुत है। मेरा उच्चारण शुद्ध है, उसका अशुद्ध है। या वह यथाच्छन्द है, यथाच्छन्द का संसर्गी है। अवसन्न है या अवसन्नो का संसर्ग रखता है। इसी प्रकार पार्श्वस्थ, पार्श्वस्थ-संसर्गी, कुशील, कुशील-संसर्गी आदि प्रत्येक के दो-दो पद हो जाते हैं।

२८४८. कायिक गर्हा—शिरःकम्पन, हस्तविडम्बन, कर्णस्थगन, अक्षिनिमीलन, अन्य दिशा में मुंह करके बैठना आदि चेष्टाएँ कायिक गर्हा हैं। वाचिक गर्हा (सुबह-सुबह) इस वेला में नाम नहीं लेना चाहिए, अहो-अहो करना, हा-हा करना—आदि अवज्ञासूचक वाचिक चेष्टाएं वाचिक गर्हा हैं।

२८४९. जो अवज्ञा का भाव नेत्रविकार, मुखराग (मुखविकार) से सूचित होता है, वह मानसिक गर्हा है। अथवा कोई धीर भिक्षु शैक्ष से सुनकर कि मैं अमुक के पास दीक्षित हो रहा हूं, मौन रह जाता है, उसका 'अच्छा है, कृत्य है' इत्यादि प्रमोदपूर्ण वाक्यों से अभिनन्दन नहीं करता, यह भी मानसिक गर्हा है। (धैर्य के कारण वह उसके वचनों से प्रकट नहीं होती, उदासीनता से प्रकट होती है।)

२८५०. जो मध्यस्थ नहीं होता, रागद्वेष युक्त होता है, उसकी शोधि नहीं होती। दूसरी तरफ शैक्ष भी पूर्व आचार्य का आभाव्य होता है—पूर्ववर्ती परिणामों वाला होता है। अतः शैक्ष को विपरिणत करने वाला अनन्तसंसारी^१ होता है, उसे आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। उसका प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरु।

२८५१. अथवा गर्हा के तीन प्रकार हैं—१. ज्ञानगर्हा (उस आचार्य के ज्ञान की गर्हा), २. दर्शनगर्हा और ३. चारित्रगर्हा। अथवा अन्य तीन प्रकार हैं—१. सूत्र गर्हा (उस आचार्य के सूत्रोच्चारण को सदोष बताना), २. अर्थगर्हा (अर्थ को शंका आदि दोषों से युक्त बताना) और ३. उभयगर्हा। अथवा गर्हा के अन्य तीन प्रकार हैं—१. शरीरगर्हा (उस आचार्य के शरीर को हुंड आदि संस्थानयुक्त बताना), २. वचनगर्हा और ३. मनगर्हा (उसे दूषित विचार वाला बताना)।

२८५२. कुछ भिक्षु जो ऋजु नहीं होते, उपधि प्रधान—तीव्र कर्मोदय वाले^२ तथा निकृति—माया बहुल होते हैं, वे इन या इस प्रकार के शैक्ष को विपरिणत करने वाले पदों का समाचरण करते हैं।

२८५३. जो भिक्षु इनमें से किसी भी उपाय से शैक्ष को विश्वासित—विपरिणत करते हैं, वे आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होते हैं।

१. निभा ३ चू. पृ. २९—साधर्मिक स्तैन्य के कारण वह दुर्लभबोधित्व का उपार्जन कर अनन्तसंसारी बन जाता है।

२. वही—किति उवही? तिविहा—कम्मोवधी, भावोवधी, सरीरोवधी। इह तु कम्मोवधीपहाणा तीव्रकर्मोदए वर्तमाना इत्यर्थः।

२८५४. णारुण य वोच्छेदं, पुव्वकते कालियाणुओगे य।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कप्पति विस्सासणा ताहे ॥२७३०॥
२८५५. रागेण^१ व दोसेण व, दिसावहारं करेज्ज जे भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ २७३१ ॥ नि ६२२ ॥
२८५६. जाति^२-कुल^३-रूव^४-भासा^५, धण-बल^६-परिवार^७-जस^८-तवे लाभे।
सत्त^९-वय बुद्धि-धारण, उग्गहसीले समायारी ॥२७३२॥
२८५७. एतेहि तु उववेतं, रागेण परं तु 'कोई उद्दिसति'^{१०}।
जच्चादिविहूणं वा, उज्झति कोई परिभवेणं ॥२७३३॥
२८५८. अहवण^{११} मेत्तीपुव्वं^{१२}, पूया लद्धि परिवारतो रागे।
अहिगरणमसम्माणे, सभावनिट्ठं च दोसेणं ॥२७३४॥
२८५९. आणादिणो य दोसा, विराधणा होंति संजमायाए।
दुल्लभबोधीयत्तं, बितियवतविराधणा चेव ॥२७३५॥
२८६०. बितियपदं आयरिए, ओसण्णोधाइए य^{१३} कालगते।
ओसण्णो छव्विधो खलु^{१४}, वत्तमवत्तस्स^{१५} मग्गणया ॥२७३६॥
२८६१. वत्ते खलु^{१६} गीतत्थे, अव्वत्त वएण अहव ऽगीतत्थे^{१७}।
वत्तिच्छ सार पेसण^{१८}, अहवाऽऽसण्णे सयं गमणं ॥२७३७॥

१. सूत्र ११ (नव १०/११)।

२. मातिपक्खविसुद्धा इब्भजाइ (चू)।

३. पियपक्खविसुद्धं इक्खागुमादियं कुलं (चू)।

४. सुविभत्तंगोवंगअहीणपचेदियत्तणं रूवं (चू)।

५. मिय-मधुर-फुडाभिहाणा भासा (चू)।

६. उवचियमंससोणिओ बलवं (चू), विरियंतराय
खयोवसमेण वा बलवं (चू)।

७. परियार (क)।

८. ससमय-परसमय-विसारयत्तणेण लोगे लोगुत्तरे य जसो
(चू)।

९. विद्धि-आवतीसु य अणुस्सुओ अविक्कमा य सत्तमंतो
दुदारज्झवसाणो वा सत्तमंतो (चू)।

१०. उद्दिसति कोई (मु, भ)।

११. अहवणशब्दो विकल्पप्रदर्शने (चू)।

१२. पुव्वमेत्ती (दे)।

१३. व (क)।

१४. पुण (दे)।

१५. सोलसवरिसारेण वयसा अवत्तो, परेण वत्तो।
अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अव्वत्तो,
सुत्तेण गीयत्थो वत्तो (चू)।

१६. खलु पादपूरणे (चू)।

१७. अगी^० (बृभा ५४७५)।

१८. पेहण (दे, पा)।

२८५४. किसी आचार्य के पास पूर्वगतसूत्र की वस्तु या प्राभृत अथवा कालिक श्रुत का अध्ययन/श्रुतस्कन्ध आदि का कोई ऐसा अंश सुरक्षित हो जो किसी अन्य आचार्य के पास सुरक्षित न हो, वह ज्ञाता आचार्य यदि अन्य में उसे संक्रान्त नहीं कर सकेगा तो उसका व्यवच्छेद निश्चित है—ऐसा जानकर वह सूत्रार्थविद् आचार्य (पुरुष विशेष) भक्तपान आदि के द्वारा शैक्ष को विश्वासित—विपरिणत करे तो यह अपवादपद में विधि सम्मत है।

२८५५. जो भिक्षु राग अथवा द्वेष से दिशापहार करता है—स्वयं के आचार्य, उपाध्याय को छोड़ अन्य को स्वीकार करता है,^१ वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

२८५६, २८५७. कोई आचार्य इभ्य जाति या इक्ष्वाकु आदि कुल का है, कोई रूपसम्पन्न है, मृदुमधुर आदि भाषा के गुणों से युक्त है, धनवान परिवार से संबंधित है, बलवान् या प्रतिष्ठित परिवार वाला है, यशस्वी, तपस्वी एवं उत्कृष्ट लब्धि सम्पन्न है, सत्त्ववान्, वयवान् (तीस वर्षीय देवता के समान युवा दिखने वाला) या बुद्धि सम्पन्न है, बहु, बहुविध आदि धारणाकुशल या अवग्रह सम्पन्न है, क्षमा आदि शील सम्पन्न या समाचारी कुशल है—इस प्रकार के विशिष्ट गुणों से सम्पन्न आचार्य को कोई राग के कारण स्वीकार कर लेता है अथवा कोई अपने जाति, कुल आदि से विहीन आचार्य को परिभव (द्वेष) के कारण छोड़ देता है—यह दिशापहार है।

२८५८. अथवा किसी आचार्य के साथ पहले से मैत्री सम्बन्ध है, वह पूजित, लब्धि सम्पन्न एवं परिवार सम्पन्न है। अतः राग के कारण उसे स्वीकार कर लेना या स्वयं के आचार्य के साथ कलह होने, उनके द्वारा अपमानित होने या स्वभावतः अनिष्ट होने से द्वेष के कारण उन्हें छोड़ देना—यह दिशापहार है।

२८५९. जो भिक्षु राग अथवा द्वेष से दिशापहार करता है, वह आज्ञाभंग, आत्म-विराधना, संयम-विराधना तथा द्वितीयव्रत—सत्य की विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है तथा दुर्लभबोधित्व का निर्वर्तन करता है।

२८६०. द्वितीय (अपवाद) पद में यदि स्वयं का आचार्य अवसन्न हो जाए, संयम से अवधावन कर ले (उन्निष्क्रान्त हो जाए) अथवा कालगत हो जाए तो दिशापहार करना विधिसम्मत है। इस प्रसंग में अवसन्न को पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि से छह प्रकार का जानना चाहिए। गणधारण के विषय में भी व्यक्त एवं अव्यक्त के आधार पर मार्गणा कर लेनी चाहिए।

२८६१. जिस गच्छ का आचार्य अवसन्न हो गया, उस गच्छ में पीछे वर्तापक (गण संचालक) शिष्य के १. व्यक्त व गीतार्थ, २. अव्यक्त व गीतार्थ, ३. व्यक्त व अगीतार्थ तथा ४. अव्यक्त व अगीतार्थ—ये चार भंग हो सकते हैं। यदि वह व्यक्त (वयस्क) एवं गीतार्थ हो तो वह अवसन्न आचार्य के स्थान पर अन्य आचार्य को भी उद्दिष्ट कर सकता है। अवसन्न आचार्य को प्रेरणा देने हेतु किसी अन्य गीतार्थ को भेज सकता है या आसन्न हो तो स्वयं भी जाकर प्रेरित कर सकता है।

१. निसू १०/११ चू. पृ. २९—दिशेति व्यपदेशः प्रव्रजनकाले उपस्थापनाकाले वा यो आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः। तस्यापहारी—तं परित्यज्य अन्यमाचार्यं उपाध्यायं वा प्रतिपद्यते इत्यर्थः।

२८६२. एगाह पणग पक्खे, चाउम्मास^१ वरिस जत्थ व मिलती ।
चोदेति चोदवेति व, 'णेच्छंत सयं तु वट्टावे'^२ ॥ २७३८ ॥
२८६३. 'अण्णं च उद्दिसावे'^३, पयावणट्ठा ण^४ संगहट्ठाए ।
जति णाम गारवेणं^५, मुएज्ज ऽणिच्छे सयं ठाति ॥ २७३९ ॥
२८६४. सुयवत्त^६ वयाऽवत्तो, भणति गणं ते 'ऽहं^७ धारिउमसत्तो'^८ ।
सारेहि सगणमेतं, अण्णं च वयामु आयरियं ॥ २७४० ॥
२८६५. आयरिय-उवज्जायं, णिच्छंते^९ अप्पणा^{१०} य असमत्थे ।
तिगसंवच्छरमद्धं, कुल-'गण-संघे'^{११} दिसाबंधो^{१२} ॥ २७४१ ॥
२८६६. सच्चित्तादि हरंती^{१३}, कुलं पि णेच्छामु जं कुलं तुज्झं^{१४} ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं 'व तुमं जइ न ठासि'^{१५} ॥ २७४२ ॥
२८६७. एवं पि अठायंते, 'ताहे तू'^{१६} अद्धपंचमे वरिसे ।
सयमेव धरेति गणं, अणुलोमेणं च 'णं सारे'^{१७} ॥ २७४३ ॥
२८६८. अहव जइ अत्थि थेरा, सत्ता परियट्ठिरुण तं गच्छं ।
दुहतो वत्त सरिसगो, तस्स उ गमगो मुणेत्तव्वो^{१८} ॥ २७४४ ॥
२८६९. वत्तवतो तु अगीतो, जदि थेरा तत्थ केइ गीतत्था ।
तेसंतिगे^{१९} पढंतो, 'चोदिति सिं असति'^{२०} अण्णत्थ ॥ २७४५ ॥

१. चउमासे (बृभा ५४७६), चाउमासे (पा) ।
२. अणिच्छे वट्टावते सयं तु (मु, भ) ।
३. उद्दिसइ व अन्नदिसं (बृभा ५४७७) ।
४. य (दे) ।
५. °वेण वि (भ, बृभा) ।
६. °वत्तो (मु, बृभा) ।
७. हिं (दे) ।
८. ण सारितुं सत्तो (बृभा ५४७८) ।
९. पुच्छंते (भ), इच्छंते (मु, दे) ।
१०. अप्पणो (मु) ।

११. संघ-गण (दे) ।
१२. बृभा ५४७९ ।
१३. हरंति ण (मु), हरंति णे (क, पा) ।
१४. तुज्झं (बृभा ५४८०) ।
१५. वा जति तुमं ण ट्ठासि (भ, मु) ।
१६. तावेतुं (मु) ।
१७. सारेइ (बृभा ५४८१) ।
१८. बृभा ५४८२ ।
१९. तेसंतते (क) ।
२०. चोएइ स असइ (बृभा ५४८३), चोदते स सती (दे, पा) ।

२८६२. व्यक्त एवं गीतार्थ शिष्य अवसन्न आचार्य को एक दिन प्रेरित करे या प्रतिदिन वहां सारणा हेतु जाए। अथवा वह अपेक्षानुसार पांच दिन तक, पक्ष, चातुर्मास या वर्ष में एक बार भी सारणा कर सकता है। जहां समवसरण हो, वहां मिले, तब प्रेरित कर सकता है अथवा अन्य से सारणा करवाता है। यदि वह (आचार्य) किसी भी तरह अवसन्न दोषों को छोड़ना न चाहे तो गीतार्थ शिष्य स्वयं गण का संचालन करे।

२८६३. अवसन्न आचार्य को प्रान्तापित (उत्तेजित) करने के लिए वह उसके स्थान पर अन्य गीतार्थ को आचार्य बना दे। यद्यपि वह स्वयं भी संघ के संग्रह-उपग्रह में समर्थ है अतः स्वयं भी आचार्य बन सकता है, पर अन्य को आचार्य पद पर स्थापित कर वह अवसन्न आचार्य के गौरव को चोट पहुंचाना चाहता है ताकि—मेरे जीते जी अन्य को आचार्य बना दिया—इस गौरव से वह अपनी अवसन्नता को छोड़ दे। यदि ऐसा नहीं होता (वह अवसन्नता का त्याग करना नहीं चाहता) तो व्यक्त एवं गीतार्थ शिष्य (न चाहते हुए भी) स्वयं गणी पद पर स्थापित हो जाता है।

२८६४. यदि शिष्य श्रुत से व्यक्त (गीतार्थ) है, पर वय से अव्यक्त है तो अवसन्न आचार्य से कहता है—मैं आपके स्थान पर गणधारण करने में असमर्थ हूँ, अतः या तो आप स्वयं गण की सम्यक् सारणा करें अथवा हम दूसरे आचार्य के पास जा रहे हैं।

२८६५. वय से अव्यक्त शिष्य स्वयं गण संचालन में असमर्थ होता है, अतः अन्य आचार्य या उपाध्याय के निर्धारण के उद्देश्य से वह पूर्वाचार्य से कहता है—हम यदि अन्य आचार्य के पास जाएंगे तो वे हमारे सचित्त आदि का हरण कर लेंगे—हमारे शैक्ष, वस्त्र, पात्र आदि उनके हो जाएंगे। अतः हम अन्य आचार्य की उपसम्पदा नहीं चाहते, पर आप सारणा नहीं करेंगे तो हम निःशंक होकर अन्यत्र जाएंगे। ऐसा कह वे क्रमशः कुल, गण एवं संघ से दिशाबंध हेतु निवेदन करते हैं, जहां क्रमशः तीन वर्ष, एक वर्ष तथा छह महीने तक उन्हें अन्य दिशा की उपसम्पदा प्राप्त होती है तथा सचित्त आदि का हरण भी नहीं किया जाता। अर्थात् सर्वप्रथम कुलसमवाय उन्हें एक आचार्य देता है। तीन वर्ष तक वह उनकी सारणा करता है, पर सचित्त आदि का हरण नहीं करता।

२८६६. तीन वर्ष बाद वह पुनः पूर्वाचार्य से कहता है—जो आपका कुल है, उसके द्वारा प्रदत्त आचार्य के पास हमारे तीन वर्ष हो रहे हैं। यदि अब हम उसके संचालन में रहेंगे तो वह हमारे सचित्त आदि का हरण करेगा। अतः हम कुलाचार्य के पास नहीं रहना चाहते। यदि आप हमारे आचार्य नहीं होते हैं तो हम अन्य गण अथवा संघ के पास दिशाबंध हेतु जा रहे हैं।^१

२८६७. इस प्रकार साढ़े चार वर्ष तक पूर्वाचार्य को अवतप्त करने पर भी वह अपनी अवसन्नता को नहीं छोड़े और गीतार्थ शिष्य यदि वय से व्यक्त हो जाए, तो स्वयं गण को धारण करे। जहां पर भी पूर्वाचार्य को देखे, समय-समय पर अनुकूल वचनों से पूर्वाचार्य को प्रेरित करे।

२८६८. अथवा स्वयं के गण में यदि गणसंचालन में समर्थ स्थविर है और वह स्वयं गीतार्थ है तो उनके नेश्राय से स्वयं गण को धारण करे। अन्य को आचार्य न बनाए। क्योंकि उसकी विधि भी उभय व्यक्त के सदृश हो जाती है—ऐसा ज्ञातव्य है।

२८६९. तृतीय भंगवर्ती शिष्य वय से व्यक्त होता है, पर गीतार्थ नहीं। उसके गण में कोई गीतार्थ स्थविर हों तो वह उनके पास अध्ययन भी करे एवं पूर्वाचार्य की सारणा भी। यदि स्वयं के गण में गीतार्थ स्थविर न हों तो स्वयं गण को धारण करके या न करके वह अन्य आचार्य के पास सूत्र अध्ययन के लिए जाए।

१. वे शिष्य कुलाचार्य से गणसमवाय के पास जाते हैं। गण उन्हें दिशा देता है। एक वर्ष तक वे वहां रहते हैं। पुनः पूर्ववत् निवेदन कर संघसमवाय में जाते हैं। संघ द्वारा प्रदत्त आचार्य के निर्देशन में पुनः छह महीने रहते हैं।

२८७०. जो पुण उभयावत्तो^१, वट्टावग असति सो तु उद्दिसति ।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूण 'इमे तु उद्दिसति'^२ ॥ २७४६ ॥
२८७१. संविग्गमगीतत्थं, ऽसंविग्गं खलु तहेव गीतत्थं ।
असंविग्गऽगीतत्थं^३, उद्दिसमाणस्स चतुगुरुगा ॥ २७४७ ॥
२८७२. सत्तरत्तं तवो होत्ति, ततो छेदो पहावती^४ ।
छेदेण छिण्णपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं^५ ॥ २७४८ ॥
२८७३. छट्टाणविरहितं वा, संविग्गं वावि वयति गीतत्थं ।
चउरो य अणुग्घाता, तत्थ वि आणादिणो दोसा^६ ॥ २७४९ ॥ नि ६२३ ॥
२८७४. छट्टाणा^७ जा णितिओ^८, तव्विरहितकाहियादिया चउरो ।
ते वि य उद्दिसमाणे, छट्टाणगताण जे दोसा ॥ २७५० ॥
२८७५. ओहाविय कालगते, जाहिच्छा ताहें उद्दिसावेति ।
अव्वत्ते तिविधे वी, णियमा पुण संगहट्टाए^९ ॥ २७५१ ॥
२८७६. तीसु वि दीवितकज्जा, विसज्जिता जइ य तस्स^{१०} तं णत्थि ।
णिक्खिविय वयंति दुवे, भिक्खू किं दाणि^{११} णिक्खिवितुं^{१२} ॥ २७५२ ॥
२८७७. दोणहट्टाए दोणह वि, णिक्खिवणा^{१३} होत्ति उज्जमंतेसु ।
सीदंतेसु तु^{१४} सगणो, वच्चति मा ते विणासेज्ज^{१५} ॥ २७५३ ॥
२८७८. वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो तु आयरिए ।
णिक्खिवणे^{१६} तम्मि चत्ता^{१७}, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा^{१८} ॥ २७५४ ॥

१. °य अवत्तो (बृभा ५४८४) ।

२. उद्दिसंति इमे (बृभा) ।

३. °ग्गमगी° (मु, बृभा ५४८५) ।

४. °वति (दे) ।

५. बृभा ५४८६ ।

६. बृभा ५४८७ ।

७. पासत्थो उस्सण्णो कुसीलो संसत्तो अहाच्छंदो णितितो य—
एतेहिं छहिं ठाणेहिं (चू) ।

८. नियगो (बृभा ५४८८) ।

९. बृभा ५४८९ ।

१०. तत्थ (बृभा ५४९२) ।

११. दाणी (दे) ।

१२. °वओ (क), °वतू (बृभा) ।

१३. णिक्खमणा (भ) ।

१४. वि (दे), अ (बृभा) ।

१५. °सिज्जा (बृभा ५४९३) ।

१६. णिक्ख° (दे) ।

१७. वित्ता (दे) ।

१८. बृभा ५४९४ ।

२८७०. चतुर्थ भंगवर्ती शिष्य जो वय एवं सूत्र दोनों दृष्टियों से अव्यक्त होता है, गच्छ में अन्य वर्तापक (गण-संचालक) न हो तो अन्य आचार्य की उपसंपदा स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार स्वयं के आचार्य के अवसन्न होने पर चारों ही भंग वाले शिष्यों को अन्य आचार्य का उद्देश करना हो तो वे इन (अग्रे विवक्षित) को छोड़कर अन्य किसी को आचार्य रूप में उद्दिष्ट करे—उसकी उपसंपदा स्वीकार करे।

२८७१. संविग्न अगीतार्थ, असंविग्न गीतार्थ तथा असंविग्न अगीतार्थ—इन्हें आचार्य या उपाध्याय रूप में उद्दिष्ट करने वाले भिक्षु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२८७२. उपर्युक्त तीनों भिक्षु दिशा योग्य नहीं। जो उन्हें आचार्य या उपाध्याय बनाये और सात दिन तक उसकी आलोचना न करे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके बाद पुनः सात दिन तक आलोचना न करने पर षड्लघु, अग्रिम सात दिनों के लिए षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके बाद सात-सात दिनों के लिए क्रमशः चतुर्गुरु छेद, षड्लघुछेद तथा षड्गुरुछेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके बाद एक-एक दिन के लिए क्रमशः मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२८७३, २८७४. जिसे आचार्य या उपाध्याय रूप में उद्दिष्ट किया जाए, उसके लिए छह स्थान वर्जित हैं—१. पार्श्वस्थ, २. अवसन्न, ३. कुशील, ४. संसक्त, ५. यथाच्छन्द एवं ६. नैत्यिक। इन छह स्थानों से रहित, संविग्न एवं गीतार्थ भिक्षु भी यदि दोष युक्त है तो उसे आचार्य या उपाध्याय रूप में उद्दिष्ट करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष होते हैं। प्रश्न—पार्श्वस्थ आदि छह स्थानों के अतिरिक्त और कौन से दोष होते हैं? समाधान—वे दोष चार हैं—१. काथिक, २. प्राशिनक, ३. मामाक और ४. संप्रसारक या अकृतक्रिया। इनको आचार्य या उपाध्याय रूप में उद्दिष्ट करने पर भी वे ही दोष प्राप्त होते हैं जो पार्श्वस्थ आदि षट्स्थानगत के विषय में आते हैं।

२८७५. पूर्वाचार्य अवधावन कर ले या कालगत हो जाए, तब प्रथम चतुर्भंगी (व्यक्त अव्यक्त विषयक चतुर्भंगी) में कथित भंगों में प्रथम भंग को छोड़कर शेष तीनों भंगों वाले (सूत्र या वय से अव्यक्त) शिष्य जब इच्छा हो, तभी अन्य आचार्य की उपसंपदा स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु जो उभयतः अव्यक्त हो, उन्हें गच्छ के संग्रहण हेतु नियमतः अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करना चाहिए। त्रिविध पद का दूसरा विकल्प यह है कि वह कुल, गण या संघ में से किसी के भी आचार्य की उपसंपदा स्वीकार कर सकता है।

२८७६. तीनों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) के लिए गुरु के समक्ष अपना प्रयोजन निवेदित कर दिशा (आचार्य) का विसर्जन कर अन्य दिशा को स्वीकार कर सकते हैं। यदि आचार्य और उपाध्याय उद्यतविहार हेतु गणविसर्जन कर जाएं तो संविग्न गीतार्थ में गणनिक्षेप करके जाएं। यदि स्वयं के गण में कोई संविग्नगीतार्थ न हो तो गणनिक्षेप किए बिना न जाएं। भिक्षु के पास गण का दायित्व नहीं तो वह क्या निक्षेप करेगा? अर्थात् वह उद्यत विहार हेतु दिशा विसर्जन कर सकता है।

२८७७. दोनों (ज्ञान और दर्शन) के लिए प्रस्थान करते हुए दोनों (गणावच्छेदक और आचार्य-उपाध्याय) अपने पदों का निक्षेप संविग्न गीतार्थ के पास करें। यदि उनके अभाव में गण या शिष्य अवसाद को प्राप्त हो रहे हों तो वे अपने गण को साथ लेकर जाते हैं, ताकि उनका (गण या शिष्यों का) विनाश न हो।

२८७८. गणावच्छेदक या आचार्य यदि दिशा का विसर्जन कर गण से पृथक् जाएं तो उनके लिए वही विधि है, जो उभय व्यक्त—वय एवं श्रुत से व्यक्त भिक्षु के विषय में प्रज्ञप्त है। असंविग्न आचार्य या गणावच्छेदक के पास गण निक्षेपण करने से शिष्य परित्यक्त होते हैं, अतः वह जिस किसी प्रकार से उन्हें अपने साथ ले जाए तथा स्वयं जिसकी उपसंपदा स्वीकार करे, उसी के पास अपने शिष्यों को भी उद्दिष्ट करे। उनके निष्क्रमण के पश्चात् उपसंपन्न होने वाले सभी शिष्य उसी के होते हैं, जिसे उन्होंने दिशा के रूप में उद्दिष्ट किया है।

२८७९. ओहावित ओसण्णे, भणति अणाहा वयं विणा तुज्जे।
कम-सीसमसागरिए, दुप्पडियरगं जतो तिण्हं ॥२७५५ ॥
२८८०. जो जेण जम्मि ठाणम्मि, ठावितो दंसणे व चरणे वा।
सो तं ततो चुयं^१ तम्मि चेव काउं भवे णिरिणो^२ ॥२७५६ ॥
२८८१. णिक्खवणा^३ अप्पाणे, परे य संतेसु तस्स ते देति।
संघाडगे असंते^४, सो वि न वावारऽणापुच्छा ॥२७५७ ॥
२८८२. सयमेव^५ य अवहारो, होति दिसाए ण मे गुरू सो तु।
अह भणिता विप्परिणामणा तु अण्णेसिमा होति ॥२७५८ ॥ नि ६२४ ॥
२८८३. रागेण व दोसेण व, विप्परिणामं करेति जे भिक्खू।
दुविधं तिविध दिसाए^६, सो पावति आणमादीणि ॥२७५९ ॥ नि ६२५ ॥
२८८४. डहरो अकुलीणो त्ति य, दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति।
अवि यऽप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवति आयरियं ॥२७६० ॥
२८८५. डहरो एस तव गुरू, तुमं च थेरो न जुज्जते जोगो।
अविपक्कबुद्धि एसो, वए करेज्जा व जं किंचि ॥२७६१ ॥
२८८६. एमेव सेसगेसु वि, तं निंदंतो सयं परं वावि।
संतेण असंतेण व, पसंसते तं कुलादीहिं^७ ॥२७६२ ॥
२८८७. णारुण य वोच्छेदं, पुव्वकते कालियाणुजोगे य।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कप्पति विस्सासणा ताहे ॥२७६३ ॥

१. सुयं (भ)।

२. निरणो (भ), बृभा ५४९१।

३. णिक्ख^० (भ)।

४. असंतो (भ)।

५. सूत्र १२ (नव १०/१२)।

६. आयरियोवज्झाया दुविहा दिसा साहूणं। आयरियोवज्झाया पवत्तिणी य तिविहा संजतीण दिसा (चू)।

७. कुलादि की व्याख्या हेतु देखें निचू भा. ३ पृ. ३६।

२८७९. आचार्य अवधावन कर दे या अवसन्न हो जाए तो उन्हें देखकर कहे—आपके बिना हम अनाथ हो गए। कृपा करें, संयम में अभ्युत्थान कर हमें सनाथ करें। जहां गृहस्थ आदि न हों, वहां उनके चरणों में मस्तक टिका कर निवेदन करे। शिष्य—आचार्य जब चारित्ररहित हो, गृहीभूत हो जाएं तो उनके चरणों में क्यों झुके? आचार्य—तीन व्यक्तियों के उपकार का बदला चुकाना दुष्कर है—माता, पिता और धर्माचार्य।

२८८०. जिस गुरु ने जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश आदि के द्वारा दर्शन एवं चारित्र में स्थापित किया, वे यदि दर्शन एवं चारित्र से रहित हो गए और शिष्य उन्हें पुनः दर्शन एवं चारित्र में स्थापित करता है तो वह ऋण मुक्त हो जाता है।

२८८१. जब आचार्य या उपाध्याय के द्वारा आलोचना आदि प्राप्त कर पूर्ववर्ती आचार्य को पुनः संयम में स्थापित कर दिया जाए, तब वे कहते हैं—ये मेरे साधु हैं, इन्हें मैं आपको सौंपता हूं। यदि उसके पास स्वयं के शिष्य हों तो वह उस (प्रतीच्छक आचार्य) के शिष्यों को ग्रहण न करे। उसी को दे दे। यदि वास्तव्य आचार्य के पास शिष्य न हों तो सारे शिष्यों को ग्रहण कर उसे एक संघाटक दे दे। वह प्रतीच्छक आचार्य भी वास्तव्य आचार्य को पूछे बिना उन शिष्यों को प्रेषण आदि किसी कार्य में व्यापृत न करे।

२८८२. पूर्वसूत्र में 'वह मेरा गुरु नहीं'—इस प्रकार स्वयं के द्वारा दिशापहार का प्रज्ञापन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में अन्य के द्वारा दिशापहार के रूप में विपरिणामन का प्रज्ञापन प्रस्तुत है।

२८८३. भिक्षु की दिशा के दो प्रकार हैं—आचार्य और उपाध्याय। भिक्षुणी की दिशा के तीन प्रकार हैं—आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी। जो भिक्षु राग अथवा द्वेष से किसी भिक्षु या भिक्षुणी की द्विविध अथवा त्रिविध दिशा से उसको विपरिणत करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२८८४. किसी भिक्षु की दिशा-विपरिणामन हेतु वह इन युक्तियों का प्रयोग करता है—१. अल्पवयस्क, २. अकुलीन, ३. दुर्मेधा, ४. द्रमक, ५. मंदबुद्धि, ६. अल्पलब्धिमान् और ७. उसके स्वयं के शिष्य आचार्य का परिभव करते हैं।

२८८५. अल्पवयस्क—कोई प्रौढ़ शैक्ष किसी तरुण आचार्य के पास दीक्षा लेना चाहता है तो भिक्षु कहता है—यह तुम्हारा गुरु तो छोटा है और तुम स्थविर। आचार्य शिष्य की यह कैसी जोड़ी? इसकी बुद्धि पूरी परिपक्व नहीं। यह जो कुछ कह देगा, क्या तुम समझदार होकर भी जो कहेगा, वह करणीय-अकरणीय करोगे? यह तो तुम्हारे बेटे, पोते के समान है इत्यादि।

२८८६. अकुलीन, दुर्मेधा आदि शेष पदों के द्वारा भी उस आचार्य या उपाध्याय की निन्दा करना, यथा—वह अकुलीन है, मेधावी नहीं है, आदि उस शिष्य को कहना उसका विपरिणामन है। अथवा कुल आदि पदों से स्वयं के या किसी अन्य आचार्य की प्रशंसा करना और जिसके पास वह शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता है, उसके सत् या असत् दोषों का कथन करना—दिशा विपरिणामन है, जैसे—अमुक आचार्य कुलीन हैं, तुम्हारे आचार्य हीन कुल के हैं। अमुक आचार्य मेधावी हैं। तुम्हारे आचार्य अल्प मेधा वाले हैं आदि।

२८८७. अमुक आचार्य के पास पूर्वगत या कालिकानुयोग का विशिष्ट अंश है और यदि वे उसे अन्य को प्रदान नहीं करेंगे तो विवक्षित ज्ञान का व्यवच्छेद हो जाएगा—ऐसा जानकर कोई सूत्रार्थविद् भिक्षु/आचार्य किसी का दिशापहार करता है—विवक्षित आचार्य के प्रति उसे विपरिणत करता है तो उस स्थिति में विशेष प्रयोजनवश (अपवाद पद में) यह विधि सम्मत है।

२८८८. बहिय^१ऽण्णगच्छवासी, आदेसं^२ आगतं तु जो संतं ।
तिण्ह दिवसाण परतो, ण पुच्छती^३ संवसाणादी ॥ २७६४ ॥ नि ६२६ ॥
२८८९. पढमदिण बितिय-ततिए, लहु-गुरु-लहुगा य सुत्त तेण परं ।
संविग्गमणुण्णितरे, व होंतऽपुट्टे इमे दोसा ॥ २७६५ ॥
२८९०. उवचरग^४-अहिमरे^५ वा, छेवतितो^६ तेण मेहुणट्ठी वा ।
रायादवकारी वा, पउत्तओ भावतेणो वा ॥ २७६६ ॥
२८९१. उवसंपदावराहे, कज्जे कारणिय अट्टजाते वा ।
बहिया उ गच्छवासिस्स दीवणा एवमादीहिं ॥ २७६७ ॥
२८९२. कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाण राया य धम्मकहि-वादी ।
छम्मासादुक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥ २७६८ ॥
२८९३. अण्णेण पडिच्छावे, तस्सऽसति स तं पडिच्छते रत्तिं ।
उत्तर-वीमंसासुं^७, खिण्णो व णिसिं पि ण पडिच्छे ॥ २७६९ ॥
२८९४. दोहि तिहि वा दिणेहिं, जइ छिज्जति तो न होति पच्छित्तं ।
तेण परमणुण्णवणा^८, कुलाइ रण्णो व^९ दीवेति ॥ २७७० ॥
२८९५. बितियपदमणप्पज्जे, अण्णगणादागतं ण विप्फाले ।
अप्पज्झं च गिलाणं, अच्छित्तुकामं च वच्चंतं ॥ २७७१ ॥

१. सूत्र १३ (नव १०/१३), विहित (दे) ।
२. आगतो आदेसं करोतीति आएसो (चू) ।
३. पुच्छिया (दे, पा) ।
४. उवचरो-भंडितो (चू) ।
५. अहिमरो-बंदिओ (चू) ।

६. छेवतितो असंविग्गहितो भण्णति (चू) ।
७. °सासू (दे) ।
८. °मण्णुवणा (दे) ।
९. वा (दे) ।

२८८८. जो (आचार्य) बाह्यवासी—अन्यगच्छवासी प्राघुर्णक भिक्षु के आने पर तीन दिन के बाद भी आने का प्रयोजन आदि नहीं पूछता और उसे अपने साथ संवास करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

२८८९. वह समागत भिक्षु संविग्न है, सांभोजिक है या अन्य कोई—इस विषय में जानकारी किए बिना संवास करने पर प्रथम दिन लघुमास, दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः मासगुरु एवं चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके बाद—चौथे दिन से सूत्रनिपात से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा न पूछने से ये दोष संभव हैं।

२८९०. वह प्राघुर्णक भिक्षु कोई गुप्तचर (सेवा आदि के बहाने से उपद्रव करने वाला), अहिमर (धन आदि के लोभ से वध करने वाला), अत्यन्त असंविग्न, स्तेन, मैथुनार्थी (मैथुन सेवन करके या करने के लिए आने वाला), राजा आदि का अपकार करके आया हुआ, किसी के द्वारा प्रयुक्त या आत्मप्रेरणा से सिद्धान्त विराधना करने वाला भावस्तेन हो सकता है। अतः सम्यक् जानकारी किए बिना किसी को संवास की अनुज्ञा नहीं देनी चाहिए।

२८९१. बाहर से आने वाला अन्य गच्छवासी पूछने पर या बिना पूछे अपने आने के यदि ये कारण प्रकट करें—१. आपके पास उपसंपदा के लिए आया हूँ। २. अपराध (दोष) की आलोचना हेतु आया हूँ। ३. कुल, गण, संघ आदि के कार्य से। ४. अशिव आदि आपवादिक कारणों से। ५. किसी अन्य अर्थजात (प्रयोजन समवाय/बहुत से प्रयोजनों) से आया हूँ। इन कारणों के प्रकाशन से आचार्य यदि उसे शुद्ध जाने तो आलोचना न दे (प्रायश्चित्त न दे)।

२८९२. आचार्य यदि कुल, गण आदि के किसी कार्य विशेष में व्यापृत हों, स्वयं अनशन में हो या अनशन वाले भिक्षु की सेवा आदि में व्याकुल हों, ग्लान अथवा ग्लान-कार्य में व्यापृत हों, राजा आदि के साथ दिनभर धर्मकथा में लीन हों, परवादी के साथ वाद में लगे हों—इत्यादि कारणों से उत्कृष्टतः छह मास तक भी आगन्तुक मुनि की जानकारी न करें तो दोष नहीं। छह मास की अवधि का अतिक्रमण करें तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

२८९३. यदि आचार्य उपर्युक्त कार्यों में व्यापृत हों तो तीन दिन बीतने पर अन्य व्यक्ति (भिक्षु) के द्वारा उसे आलोचना दिलवाए। यदि अन्य कोई भिक्षु आलोचनार्ह न हो तो स्वयं रात्रि के समय उसे आलोचना दे। यदि रात्रि में परवादी को उत्तर देने या विमर्श में लगा हो अथवा दिन में परिश्रान्त होने के कारण रात्रि में विश्राम अनिवार्य हो और आलोचना न दे सके तो छह महीने भी बीत सकते हैं। ऐसी स्थिति में वह छह महीने के बाद भी अन्य भिक्षु से उसे आलोचना दिलवा सकता है।

२८९४. छह महीने के पश्चात् यदि दो-तीन दिनों में काम सम्पन्न हो जाए तो कोई प्रायश्चित्त नहीं। यदि उसके बाद भी काम सम्पन्न न हो सके और उसे आलोचना न दे सके तो कुल, गण या संघ अथवा राजा को निवेदन कर अपने कारण को स्पष्ट कर दे कि अमुक कारण से इस अवधि में आलोचना नहीं दे सका।

२८९५. अपवाद में अन्य गण से आये हुए अतिथि साधु को जिन कारणों से नहीं पूछा जाता, वे हैं—
१. आचार्य अनात्मवश हों। २. आचार्य ग्लान या ग्लान व्यापृत हों या अतिथि साधु ग्लान अथवा ग्लान-व्यापृत हो। ३. अतिथि साधु बिना पूछे ही कह दे कि आपके पास रहने के लिए आया हूँ। ४. अतिथि साधु पूछने से पूर्व ही कह दे—यहां रहकर अमुक कारण से चला जाऊँगा।

२८९६. अहिकरणमहोकरणं^१, अधरगतीगाहगं^२ अहोतरणं ।
अद्धितिकरणं च तथा, अहीरकरणं च अहिकरणं^३ ॥ २७७२ ॥ नि ६२७ ॥
२८९७. साहिकरणो य दुविधो, सपक्ख-परपक्खतो य नातव्वो ।
एक्केक्को वि य दुविधो, गच्छगतो णिग्गतो चेव ॥ २७७३ ॥ नि ६२८ ॥
२८९८. सच्चित्तऽचित्तमीसोवयोग-परिहारिणं य देसकहा ।
सम्ममणाउट्टंते, अहिकरणमतो^४ समुप्पज्जे^५ ॥ २७७४ ॥ नि ६२९ ॥
२८९९. किमणाऽऽभव्वं गेण्हसि, गहितं व न देसि मज्झ आभव्वं^६ ।
सच्चित्तेतरमीसे, वितहापडिवत्तितो^७ कलहो ॥ २७७५ ॥
२९००. विच्चामेलणं^८ सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव ।
अण्णम्मि य वत्तव्वे, हीणाधियमक्खरे चेव^९ ॥ २७७६ ॥
२९०१. परिहारिगमठवेंते, ठवितमणट्टाएँ^{१०} णिव्विसंते य^{११} ।
कुच्छित्तकुले व^{१२} पविसति, चोदितऽणाउट्टणे कलहो ॥ २७७७ ॥
२९०२. देसकहापरिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि ।
मा कर देसकहं 'वा, अठायमाणम्मि'^{१३} अधिगरणं^{१४} ॥ २७७८ ॥
२९०३. जो जस्स उ उवसमती^{१५}, विज्झवणं 'तेण तस्स'^{१६} कातव्वं ।
जो तु उवेहं कुज्जा, आवज्जति 'सो इमे ठाणे'^{१७} ॥ २७७९ ॥

१. सूत्र १४ (नव १०/१४) ।

२. °हणं (मु) ।

३. अधिकं अतिरित्तं उत्सूत्रं करणं अधिकरणं (चू) ।

४. °रण ततो (बृभा ५७२७) ।

५. बृभा (२६९३) में इस गाथा के लिए निर्युक्तिगाथा का संकेत है ।

६. बृभा (५७२८) में इस गाथा का पूर्वाद्धं इस प्रकार है—
आभव्वमदेमाणे, गिण्हंते तमेव मग्गमाणे वा ।

७. °वज्जओ (दे, मु) ।

८. °लणु (भ) ।

९. बृभा २६९५, ५७२९ ।

१०. ठविए अणट्टाए (मु, भ) ।

११. व (दे), वा (बृभा २६९६, ५७३०) ।

१२. य (मु, भ) ।

१३. ति य, चोइय अठियम्मि (बृभा २६९७) ।

१४. बृभा ५७३१ ।

१५. विउसमती (दे) ।

१६. तस्स तेण (बृभा २६९८, ५७३३) ।

१७. मासियं लहुगं (बृभा) ।

२८९६. अधिकरण के सात निरुक्त या एकार्थक नाम हैं—१. अधिकरण—वह कर्मबन्ध का कारण होने से भावतः अधिकरण है।^१ २. अधोकरण—वह (कलह) आत्मा को अधोगति में ले जाता है। ३. अधोगतिगाहन—वह आत्मा को अधोगति का ग्रहण करवाता है। ४. अधःअवतरण—भूमिगृह में ले जाने वाली सीढ़ी के समान वह अवतरण—पाताल, नरक आदि में उतरने का साधन है। ५, ६. अधिकरण अधीर व्यक्ति (असंयमी) के द्वारा किया गया अधृतिपूर्ण कार्य है अतः अधृतिकरण या अधीरकरण है। ७. अबुद्धिमान् व्यक्ति का कार्य होने से कलह का एक नाम है—अधीकरण।

२८९७. साधिकरण साधु कृत अधिकरण के दो प्रकार हैं—१. स्वपक्ष अधिकरण और २. परपक्ष अधिकरण। पुनः उनके (प्रत्येक के) दो-दो प्रकार हो जाते हैं—गच्छगत और गच्छनिर्गत।

२८९८. इन छह विषयों में कथन या प्रेरणा को सम्यक् स्वीकार न करने पर अधिकरण उत्पन्न होता है—१. सचित्त, २. अचित्त, ३. मिश्र, ४. वचोगत, ५. पारिहारिक (कुल) और ६. देशकथा।

२८९९. किसी साधु के पास कोई शैक्ष आया। दूसरे साधु ने उसे ग्रहण कर लिया। अब पूर्व साधु कहता है—तुम्हारा आभाव्य (अधिकृत) नहीं (तुम्हारे द्वारा इसे तैयार नहीं किया गया)। तुम इसे क्यों ले रहे हो? अथवा मैंने इसे पहले आभाव्य किया, अतः मेरा अधिकार है। इसे दूसरा साधु सम्यक् स्वीकार नहीं करता और दोनों में कलह (अधिकरण) हो जाता है। इसी प्रकार अचित्त (पात्र) आदि तथा मिश्र (वस्त्रपात्रयुक्त शैक्ष) के विषय में भी दो साधुओं में अधिकरण संभव है।

२९००. कुछ वचोगत निमित्त भी अधिकरण के हेतु बन जाते हैं, यथा—कोई साधु सूत्र को व्यत्याप्रेडित कर बोलता है—किसी अन्य श्रुतस्कन्ध या अध्ययन के पाठ को अन्य के साथ सम्मिश्रित कर बोलता है, कोई साधु देशान्तर में देशी भाषा—महाराष्ट्री आदि बोलता है या हास्यास्पद शब्द^२ बोलता हुआ उपहास का पात्र बनता है, कोई अन्य वक्तव्य के स्थान पर अन्य कुछ बोल जाता है, जैसे—कुंद के स्थान पर चंद। कोई हीनाक्षर या अत्यक्षर उच्चारण करता है (भास्कर के स्थान पर भाकर और सुवर्ण के स्थान सुसुवर्ण) तो हंसी का पात्र बनता है। इस प्रकार बोलने वाले को जब कोई शुद्ध उच्चारण आदि के लिए प्रेरित करता है, तब सम्यक् प्रतिपत्ति के अभाव में कलह संभव है।

२९०१. कोई साधु गुरु, ग्लान आदि के लिए पारिहारिक कुलों की स्थापना नहीं करता, स्थापित कुलों में अनर्थक (निष्प्रयोजन) प्रविष्ट होता है, कुत्सित पारिहारिक कुलों में प्रविष्ट होता है तथा प्रेरित किये जाने पर सम्यक् प्रकार से निवृत्त नहीं होता, उसे सम्यक् प्रकार से स्वीकार नहीं करता तो कलह संभव है।

२९०२. एक साधु देशकथा करता है और दूसरा कहता है—देशकथा मत करो। वह कहता है—तुम कौन होते हो मुझे रोकने वाले—इस प्रकार उससे विरत न होने पर या एक-एक साधु के देशराग के कारण अधिकरण संभव है, यथा—एक कहता है—सौराष्ट्र बहुत अच्छा देश है, दूसरा—तुम कूपमंडूक हो, दक्षिणापथ ज्यादा रमणीय है—इस प्रकार देशराग से उत्तर-प्रत्युत्तरिका करते हुए अधिकरण उत्पन्न हो सकता है।

२९०३. जो जिसके द्वारा उपशान्त हो, उसे उसके द्वारा उपशान्त करवाना चाहिए, जो उसकी उपेक्षा करता है, वह इस स्थान का (उपेक्षा प्रत्ययिक) प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

१. अधिकरण का वैकल्पिक अर्थ है—अधिकं अतिरिक्तं उत्सूत्रं करणं अधिकरणं।

२. कुणिय—हास्यास्पद शब्द।

२९०४. लहुगो उ उवेहाए, गुरुगो सो चेव उवहसंतस्स ।
उत्तुयमाणे लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसो^१ ॥२७८० ॥ नि ६३० ॥
२९०५. परपत्तिया ण किरिया, मोत्तु परट्टं च जयसु आयट्ठे^२ ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि 'दोसो हवइ एवं'^३ ॥२७८१ ॥
२९०६. जइ परो पडिसेवेज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ^४ मोणं चरेंतस्स^५, के अट्ठे परिहायति^६ ॥२७८२ ॥
२९०७. एसो वि^७ ताव दमयतु^८, हसति व तस्सोम्मताय ओहसणा ।
उत्तरदाणं मा ओसराहि अह होति उत्तुयणा^९ ॥२७८३ ॥
२९०८. वायाए 'हत्थेहि व'^{१०}, पादेहिं दंत-लउडमादीहिं ।
जो कुणति सहायत्तं, समाणदोसं तग बेत्ति^{११} ॥२७८४ ॥
२९०९. णागा! जलवासीया!, सुणेह तस-थावरा! ।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई^{१२} ॥२७८५ ॥
२९१०. वणसंड सरे जल-थल-खहचर वीसमण देवताकहणं ।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयणास चूरणता^{१३} ॥२७८६ ॥
२९११. तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्त-णाणाणं ।
साधुपदोसो संसारवद्धणो^{१४} साधिकरणस्स ॥२७८७ ॥ नि ६३१ ॥
२९१२. अतिभणित अभणिते वा, तावो भेदो य जीवचरणणं^{१५} ।
रूवसरिसं ण सीलं, जिम्हं 'मण्णे भवे अयसो'^{१६} ॥२७८८ ॥

१. बृभा २६९९, ५७३४ ।

२. आइट्ठे (भ) ।

३. दोसायते एवं (बृभा ५७३७), बृभा २७०१ ।

४. तुज्झ (ऋषि ३५/१६) ।

५. करेंतस्स (ऋषि, बृभा ५७३८) ।

६. °यती (भ), बृभा २७०२ ।

७. व (दे) ।

८. दम्मउ (दे, बृभा २७०४) ।

९. उच्छयणा (क), बृभा ५७३५ ।

१०. हत्थेहिं (मु) ।

११. बृभा २७०५, ५७३६ ।

१२. °त्तति (दे), बृभा २७०६, ५७३९ ।

१३. मूरणता (क), बृभा २७०७, ५७४० ।

१४. °वड्डणो (बृभा २७०८, ५७४१) ।

१५. °चरणे वा (बृभा २७०९, ५७४२) ।

१६. व मणे अयस एवं (बृभा) ।

२९०४. जो भिक्षु कलह करने वाले भिक्षुओं की उपेक्षा करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार उनका उपहास करने वाला मासगुरु, उन्हें उत्तेजित करने वाला चतुर्लघु और सहायता करने वाला सदृश दोषी होने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।

२९०५, २९०६. कलह करने वाले साधुओं को देखकर कोई साधु सोचता है—ये कलह कर रहे हैं तो मेरे क्या? दूसरे की क्रिया से मेरे कोई कर्मबन्धन नहीं होता। अतः साधु को दूसरे के कार्यों को छोड़ उत्कृष्ट आत्मार्थ के लिए (ध्यान, स्वाध्याय आदि में) प्रयत्न करना चाहिए। ओषनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में उपेक्षा संयम का प्ररूपण मिलता है। जो व्यक्ति उपेक्षा करता है, उसके स्वाध्याय आदि गुणों की वृद्धि होती है तथा दूसरों से होने वाले व्याक्षेप, सूत्रार्थ पलिमंथु आदि दोषों की हानि होती है। यदि आचार्य या अन्य साधु उसे उन साधुओं को उपशान्त करने हेतु कहते हैं तो वह कहता है—यदि कोई अन्य पापप्रवृत्ति का प्रतिसेवन करता है तो मुझे क्या? मैं अपने मुनित्व का समाचरण कर रहा हूँ, अन्य व्यक्ति के पाप आसेवन से मेरे कौन-से अर्थों की हानि होती है? (यह उपेक्षा है।)

२९०७. कलह करने वालों में एक साधु यदि मौन हो जाए, उत्तर न दे तो उसे कहना—तुम भी इसे इसी प्रकार दान्त करो, पीछे मत हटो। अथवा उसके पीछे हटने का उपहास करना—उपहास पद के अन्तर्गत आता है। किसी को उत्तर देना सिखाना, तुम इससे हारते क्यों हो—इत्यादि वाक्यों से किसी को कलह के लिए उकसाना—उत्तेजना पद के अन्तर्गत आता है।

२९०८. जो व्यक्ति कलह करने वालों में से किसी एक का वाणी से सहयोग करता है, हाथों, पैरों, दांत आदि से प्रहार कर सहयोग करता है, उसे लाठी आदि हथियार देकर सहायता करता है, उसे आचार्य कलहकारी के समान दोषी कहते हैं।

२९०९, २९१०. दो गिरगिटों में झगड़ा हो गया। वनदेवता ने घोषणा की—हे हाथियों! जलवासी प्राणियों! हे त्रस स्थावर जीवों! सुनो, जहां पर गिरगिट लड़ते हैं, वहां अभाव हो जाता है, विनाश हो जाता है। अतः इनकी उपेक्षा मत करो, इन्हें रोको। वहां पर विश्राम कर रहे जलचर, स्थलचर और नभचर प्राणियों ने सुना लेकिन उन्होंने गिरगिटों के कलह की उपेक्षा की। एक गिरगिट भागा और हाथी की सूंड में घुस गया। दूसरे ने पीछा किया। हाथी के कपाल में जाकर दोनों लड़ने लगे। भयंकर वेदना एवं असमाधि से हाथी ने सारे वनखंड को तहश नहश कर दिया। तालाब की पाल तोड़ दी। सारे जलचर विनष्ट हो गए।^१

२९११. साधिकरण (कलहकारी मुनि) के अथवा कलह के ये दोष हैं—१. ताप २. भेद ३. अपयश ४. दर्शनहानि ५. ज्ञानहानि ६. चारित्र हानि ७. साधुओं के प्रति द्वेष और ८. संसार की वृद्धि।^२

२९१२. कलहकारी साधु सामने वाले को बहुत कुछ कह देता है, फिर वह अपने अतिकथन पर पश्चात्ताप करता है। अथवा कभी-कभी वह सामने वाले को कुछ कह नहीं पाता और बाद में पश्चात्ताप करता है—मैं उसे यह कह सकता था, ऐसे कह सकता था इत्यादि। कलह करने से साधुसंघ में भेद पड़ता है—टुकड़ों में बंट जाता है। कलह वाचिक से कायिक स्तर पर उतर जाए तो जीव हिंसा तक की नौबत आ सकती है, दोनों या कोई एक संयम से च्युत हो सकता है। लोगों में अपभ्रजना होती है—इनका शील रूप के समान नहीं (साधु का वेश है, आचार नहीं)। ये ऐसा लज्जास्पद आचरण करते हैं—इस प्रकार अपयश होता है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४४।

२. साधुओं में पक्ष-प्रतिपक्ष होने से गणभेद होता है।

३. साधुओं को कलह करते देख लोगों में अपयश होता है।

४. कलह से साधर्मिक वात्सल्य की हानि से दर्शन हानि होती

है तथा कषायकलुषित चित्त के कारण ज्ञान में बाधा पैदा होती है अतः ज्ञानहानि होती है।

५. विस्तार हेतु द्रष्टव्य बृहत्कल्पभाष्य गा. २७१०-२७१५।

२९१३. अक्कुट्टुतालिते वा, पक्खापक्खि कलहेण^१ गणभेदो ।
एगतर-सूयगेहि व^२, रायादीसिट्टु गहणादी ॥ २७८९ ॥
२९१४. चत्तकलहो^३ वि^४ ण पढति, अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी ।
जह कोहादिविवड्डी, तह हाणी होति चरणे वि ॥ २७९० ॥
२९१५. आगाढे अधिगरणे, उवसम ओकड्डुणा^५ उ गुरुवयणं ।
उवसमह कुणह झायं, छड्डुणता सागपत्तेहिं ॥ २७९१ ॥ नि ६३२ ॥
२९१६. जं अज्जितं समीखल्लएहिं तव-नियम-बंधमइएहिं ।
तं 'दाणि पेच्छ णाहिह^६, छड्डुंतो साग-पत्तेहिं ॥ २७९२ ॥
२९१७. जं अज्जितं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेति^७ नरो मुहुत्तेणं^८ ॥ २७९३ ॥ नि ६३३ ॥
२९१८. आयरिय एगु ण भणे, अह एग णिवारि मासिगं लहुगं ।
रागद्दोसविमुक्को, सीतघरसमो उ आयरिओ^९ ॥ २७९४ ॥
२९१९. वारेति एस एतं, ममं ण वारेति पक्खरागेणं ।
बाहिरभावं गाढतरगं च मं पेक्खसी एक्कं^{१०} ॥ २७९५ ॥
२९२०. गच्छा अणिग्गतस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विधी होति ।
सज्जाय-भिव्ख भत्तट्टुवासाए 'चतुर एक्केक्के'^{११} ॥ २७९६ ॥
२९२१. दुप्पडिलेहितमादीसु, चोदितो सम्ममपडिवज्जंते^{१२} ।
ण वि पट्टुवेंति उवसम, कालो ण सुद्धो जितं 'वा सिं'^{१३} ॥ २७९७ ॥

१. कलहम्मि (बृभा २७१०, ५७४३) ।

२. य (मु) ।

३. वत्तं (बृभा २७११, ५७४४) ।

४. व (दे) ।

५. अवकं (दे, बृभा २७१३, ५७४५) ।

६. दाइं पच्छ नाहिसि (बृभा २७१४, ५७४६) ।

७. हारेति (भ) ।

८. बृभा २७१५, ५७४७ ।

९. बृभा २७१६, ५७४८ ।

१०. बृभा २७१७, ५७४९, ये सभी गाथाएं बृभा के प्रथम उद्देशक में भी पुनरुक्त हुई हैं ।

११. बृभा ५७६२ ।

१२. सम्मं तु अपं (बृभा ५७६३) ।

१३. वासी (मु, भ) ।

२९१३. कोई साधु कलह करता हुआ आक्रोशपूर्वक अपशब्द कह दे, फलतः दूसरा उसकी पिटाई कर दे, कोई एक का पक्ष ले, अन्य साधु दूसरे का पक्ष ले—इस प्रकार पक्षापक्षिकलह से गण में भेद पड़ता है। उनमें से कोई एक पक्ष जाकर राजकुल में सूचित कर दे या अन्य कोई पिशुन राजकुल में कह दे तो ग्रहण, वध, बन्धन आदि दोष संभव हैं।

२९१४. त्यक्तकलह साधु कलह के बाद भी संतप्तचेता रहता है, उसका स्वाध्याय आदि में मन नहीं लगता, फलतः ज्ञानहानि होती है। अन्य पक्ष के साधुओं के प्रति प्रद्वेष रहता है, वात्सल्य के अभाव से दर्शन दूषित होता है—सम्यक् दर्शन की हानि होती है। चारित्र का अर्थ है कषायोपशान्ति। फलतः जैसे-जैसे क्रोध की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे चारित्र की हानि होती है।

२९१५. इसलिए आगाढ़ कलह उत्पन्न हो जाए तो अन्य साधु उन्हें अलग-अलग कर, उपशान्त करे अथवा गुरुवचनों से कलहकारी साधुओं का अपकर्षण करे। उन्हें कहा जाए—उपशान्त हो जाओ, शान्तभाव से स्वाध्याय करो। अपने कनकरस सदृश चारित्र को शाकपत्रों पर गिराकर व्यर्थ मत करो।

२९१६. कलहकारी साधुओं को द्रमक पुरुष के दृष्टान्त^१ के द्वारा समझाते हुए गुरु कहते हैं—अब देखो! जो तुमने तप, नियम एवं ब्रह्मव्रत के परिश्रम रूप शमी-खल्लक (दोने)^२ से अर्जित किया, उस चारित्र रूपी कनकरस को तुमने कषायरूपी शाकपत्रों पर डाल दिया। इसे समझो।

२९१७. मनुष्य देशोनपूर्वकोटि काल में जिस चारित्र का अर्जन करता है, उसे भी मुहूर्त भर के कषाय से नष्ट कर देता है।

२९१८. राग और द्वेष से विमुक्त आचार्य शीतघर (वातानुकूलित भवन)^३ की भांति सबके लिए समान होते हैं अतः यदि आचार्य कलह करने वाले एक शिष्य को रोके और दूसरे को कुछ न कहे तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९१९. एक को निषेध करने (रोकने) पर दूसरा सोचता है—यह आचार्य इसको अपना मानता है इसलिए पक्षपात के कारण इसे तो रोकता है और मुझे नहीं रोकता। इस प्रकार या तो वह आचार्य के प्रति बाह्यभाव (आत्मीयता का अभाव) की अनुभूति करता है अथवा वह अधिक कलह करता है। या वह आचार्य से कहता है—आप तो मुझे अकेले को दूसरा मानते हो—इस प्रकार वह उन्निष्क्रमण कर देता है।

२९२०. यदि कलहकारी भिक्षु उपशान्त न हों, पर गण से निष्क्रान्त भी न हुए हों तो आचार्य उन्हें प्रतिदिन चार-चार बार उपशान्ति की प्रेरणा दें—वे चार स्मारणा काल हैं—१. स्वाध्याय काल में (सूर्योदय के समय), २. भिक्षा के समय, ३. आहार के समय तथा, ४. शाम को प्रतिक्रमण के समय—यह विधि है।

२९२१. कोई भिक्षु सम्यक् प्रतिलेखना न कर रहा हो, उसे कुछ कहा जाए और वह सम्यक् स्वीकार न करे तो कलह सम्भव है। उस समय एक या दो साधु कलह करने लगे, स्वाध्याय शुरू न करें तो आचार्य कहे—साधुओं शान्त हो जाओ, अन्यथा अन्य साधु भी स्वाध्याय नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा कहने पर वह कलुषितचेता भिक्षु कहता है—आज काल शुद्ध नहीं है—अस्वाध्यायी है, अथवा बादलों का गर्जन हो गया है अतः स्वाध्याय नहीं कल्पता। उसके ऐसा कहने पर शेष साधु स्वाध्याय कर लेते हैं, काल-अशुद्धि आदि दोष न होने पर भी कलह के कारण स्वाध्याय न करने से उसे मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४५।

२. दे.श.को.—खल्लक—पत्रपुट, दौना।

३. जैसे चक्रवर्ती के वर्धकी रत्न द्वारा निर्मित शीतघर वर्षा में निवात-प्रवात, शीत में गर्म तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल होता है, वैसे ही आचार्य भी समान रूप से सबके लिए भी सर्वतुक्षम होते हैं। जैसे शीतघर किसी के लिए पक्षपात नहीं करता, आचार्य भी पक्षपात रहित होते हैं।

२९२२. 'णोतरणे ऽभत्तट्टी'^१, ण च वेला ऽभुंजणे^२ ण जिण्णं सिं ।
ण पडिक्कमंति उवसम, णिरतीचारा णु पच्चाह^३ ॥ २७९८ ॥
२९२३. अण्णम्मि व^४ कालम्मिं, पढंत हिंडंत मंडलाऽऽवासे ।
तिण्णि व दोण्णि व मासा, होंति पडिक्कंत गुरुगा उ ॥ २७९९ ॥
२९२४. एवं दिवसे दिवसे, चाउक्कालं तु सारणा तस्स ।
जति वारें ण सारेती, गुरूण^५ गुरूगो उ ततिवारे^६ ॥ २८०० ॥
२९२५. एवं तु अगीतत्थे, गीतत्थे सारिते गुरू सुद्धो ।
जइ तं गुरू ण सारे, आवत्ती होति दोण्हं पि^७ ॥ २८०१ ॥
२९२६. गच्छो य दोण्णि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवेती ।
'भत्तट्ट ण'^८ सज्झायं, वंदण ऽलावं ततो परेणं ॥ २८०२ ॥
२९२७. आयरिओ चउमासे^९, संभुंजति चउर^{१०} देति सज्झायं ।
वंदणऽऽलावं चतुरो, तेण परं मूल णिच्छुभणा ॥ २८०३ ॥
२९२८. एवं^{११} बारसमासे, दोसु तवो सेसगे भवे छेदो ।
परिहायमाण तद्विवस, तवो मूलं पडिक्कंते^{१२} ॥ २८०४ ॥
२९२९. एवं एक्केक्कदिणं, भवेत्तु ठवणादिणे वि एमेव ।
चेइयवंदणसारित^{१३}, तम्मि य^{१४} काले तिमासगुरू ॥ २८०५ ॥
२९३०. 'मूलं तु पडिक्कंते'^{१५}, पडिक्कमंते व होज्ज अधिगरणं ।
संवच्छरमुस्सगो, कतम्मि मूलं ण सेसाइं ॥ २८०६ ॥

१. णो तरती अभत्तट्टी (भ, मु) ।
२. उ भुंजणे (दे) ।
३. बृभा ५७६४ ।
४. वि (बृभा ५७६५) ।
५. गुरूगो (बृभा) ।
६. ततीवारे (बृभा ५७६६) ।
७. बृभा ५७६७ ।
८. भत्तट्टं (मु, भ), भत्तट्टण (बृभा ५७६८) ।

९. चउरो मासे (बृभा)
१०. चउरो (बृभा ५७६९) ।
११. एतं (भ) ।
१२. बृभा ५७७० ।
१३. °सारे (बृभा ५७७१) ।
१४. व (भ), × (दे), वि (बृभा) ।
१५. पडिक्कंते पुण मूलं (बृभा ५७७२) ।

२९२२. गोचरी के लिए जाते समय उसे (कलहकारी साधु को) कहा जाता है—आर्य! शान्त हो जाओ, (अन्यथा) अन्य साधु भिक्षा के लिए नहीं जा सकेंगे। वह कहे—वे तो उपवासी हैं अथवा अभी तक भिक्षा वेला नहीं हुई। ऐसा करने पर अन्य साधु भिक्षार्थ चले जाते हैं। गोचरी आने पर उसे पुनः पूर्वोक्त प्रकार से उपशान्ति का निर्देश दिया जाता है। वह प्रत्युत्तर देता है—मुझे भूख नहीं, मेरा पहले का आहार भी पचा नहीं। ऐसा कहने पर अन्य सब आहार कर लेते हैं। पुनः प्रतिक्रमण के समय उसे कहते हैं—उपशान्त हो जाओ, अन्यथा अन्य साधु भी प्रतिक्रमण नहीं कर रहे हैं। ऐसा सुन वह कहता है—ये सब तो निरतिचार हैं। ऐसा कहने पर वे सब प्रतिक्रमण कर लेते हैं।

२९२३. यदि सूर्योदय के पश्चात् अन्य काल में स्वाध्याय शुरू करने के बाद पढ़ते हुए, भिक्षाटन में, भिक्षामंडली में या आवश्यक काल में कलह उत्पन्न हो तो पूर्वोक्त सारणाकालों में एक-एक की हानि हो जाने से क्रमशः तीन, दो, एक सारणाकाल बचता है और उपशान्त न होने पर उस साधु के क्रमशः दो और एक मासगुरु प्रायश्चित्त आता है। यदि प्रतिक्रमण तक उपशान्त न हो तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९२४. इस प्रकार अनुपशान्त मुनि की प्रतिदिन चार काल में सारणा की जाती है। आचार्य इन सारणा कालों में जितनी बार सारणा (प्रेरणा) नहीं करता तो उसे उतनी बार मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९२५. प्रतिदिन चार बार का कथन अगीतार्थ की अपेक्षा से है। यदि कलहकारी साधु गीतार्थ है तो आचार्य उसे दिन में चारों कालों में उपशान्ति की प्रेरणा दे, उसके बाद प्रतिदिन प्रेरित न भी करे तो शुद्ध है। यदि आचार्य गीतार्थ या अगीतार्थ की सारणा न करे या वे उपशान्त न हों तो प्रायश्चित्त दोनों को ही आता है।

२९२६. इस प्रकार अनुपशान्त भिक्षु की गच्छ दो मास तक प्रतिदिन चार काल में सारणा करता है। वह (गच्छ) प्रतिपक्ष में उसके साथ क्रमशः इन संभोजों का परिहापन—वर्जन करता है—१. भक्तार्थ, २. स्वाध्याय, ३. वन्दना और ४. आलाप। अर्थात् एक पक्ष (१५ दिन) तक सारणा करने पर उपशान्त न होने वाले साधु के साथ आहार नहीं किया जाता, दो पक्ष के बाद उसके साथ स्वाध्याय नहीं किया जाता आदि।

२९२७. आचार्य अनुपशान्त भिक्षु के साथ चार महीने तक चारों संभोज रखता है। उसके बाद आहार का वर्जन करता है। आठ महीने स्वाध्याय आदि तीनों संभोज रहते हैं। फिर स्वाध्याय का वर्जन करता है। पुनः अग्रिम चार मास में वह वंदन और आलाप दो संभोज रखता है—इस प्रकार एक वर्ष पूर्ण होने पर भी यदि उसका चित्त उपशान्त न हो तो उस साधु को मूल प्रायश्चित्त आता है, उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

२९२८. इस प्रकार बारह महीने अनुपशान्त रहने पर प्रथम दो महीनों में तप तथा शेष दस महीनों में छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह विधि पर्युपासना दिवस (संवत्सरी) के प्रतिक्रमण करने के पश्चात् उत्पन्न कलह के विषय में प्रज्ञप्त है। दिन और महीने की परिहाणि करते-करते संवत्सरी का दिन आ जाए और उस दिन कलह उत्पन्न हो तो तप और मूल प्रायश्चित्त आता है, छेद नहीं। यदि संवत्सरी के प्रतिक्रमण काल में ही अधिकरण उत्पन्न हुआ तो केवल मूल प्रायश्चित्त आता है, तप आदि नहीं।^१

२९२९, २९३०. भाद्रव शुक्ल पंचमी के दिन कलह सूर्योदय से पूर्व उत्पन्न हुआ, तब अग्रिम संवत्सरी तक पूरा एक वर्ष होता है। यदि किसी के कलह की उत्पत्ति भाद्रव शुक्ल षष्ठी, सप्तमी यावत् आश्विन कृष्ण एकम....आदि में हुई हो तो उसके उस वर्ष में एक, दो यावत् ३५९ दिन भी कम हो सकते हैं। इस प्रकार यदि स्थापना दिन—पर्युषणा (संवत्सरी के दिन) सूर्योदय से पूर्व किसी के कलह उत्पन्न हुआ हो तो उसे क्रमशः स्वाध्याय, चैत्यवन्दन एवं प्रतिक्रमण काल में उपशान्ति की प्रेरणा दी जाती है और उपशान्त न होने पर प्रायश्चित्त स्वरूप तीन गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने पर भी उपशान्त न हो तो मूल प्रायश्चित्त आता है। यदि संवत्सरी का प्रतिक्रमण करते समय (प्रतिक्रमण के मध्य) कायोत्सर्ग करने के बाद कलह उत्पन्न हुआ, उपशान्त नहीं हुआ तो मूल प्रायश्चित्त आता है, शेष नहीं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, गा. २९२९, २९३०।

२९३१. संवच्छरं च रुद्रं, आयरिओ रक्खती^१ पयत्तेणं ।
जइ णाम उवसमेज्जा, पव्वतराजीसरिसरोसो^२ ॥ २८०७ ॥
२९३२. अण्णे दो आयरिया, एक्केक्कं वरिसमुवसमेंतस्स^३ ।
तेण परं गिहि एसो, बितियपदं रायपव्वतिए ॥ २८०८ ॥
२९३३. एमेव गणायरिए^४, गच्छम्मि तवो तु तिण्णि पक्खाइं ।
दो पक्खा आयरिए, पुच्छा य कुमारदिट्ठंतो^५ ॥ २८०९ ॥
२९३४. पणयालदिणे गणिणो, चउहा 'काउं सपाय एक्कारा'^६ ।
भत्तट्टण सज्जाए, वंदण ऽऽलावे य हावेति ॥ २८१० ॥
२९३५. तीसदिणा आयरिए, अद्धट्टदिणा उ हावणा तत्थ ।
गच्छेण चउपदेहि तु, णिज्जूढे^७ लग्गती छेदे ॥ २८११ ॥
२९३६. संकमतो^८ अण्णगणं, सगणेण य वज्जितो चउपदेहिं ।
आयरिओ पुण वरिसं^९, वंदणऽऽलावेहिं सारेति^{१०} ॥ २८१२ ॥
२९३७. सज्जायमादिएहिं^{११}, दिणे दिणे सारणा परगणे वी^{१२} ।
नवरं पुण णाणत्तं, तवो गुरुस्सेतरो^{१३} छेदो ॥ २८१३ ॥
२९३८. सरिसावरार्धे दंडो, जुवरणो^{१४} भोगहरण बंधादी ।
मज्झिम बंधवधादी, अवत्त कण्णादि खिंसा य^{१५} ॥ २८१४ ॥

१. रक्खए (बृभा ५७७३) ।

२. °रातीस° (बृभा) ।

३. °समेत्तमेअस्स (बृभा ५७७४) ।

४. इह गणाचार्यग्रहणादुपाध्यायः परिगृह्यते (चू) ।

५. बृभा ५७७५ ।

६. काऊण साहिएक्कारा (बृभा ५७७६) ।

७. णिच्छूढे (बृभा ५७७७) ।

८. संकंतं (भ), संकंतो (बृभा) ।

९. नवरिं (बृभा ५७७८) ।

१०. णं सारे (बृभा) ।

११. °माईएहिं (दे) ।

१२. वि (दे, बृभा) ।

१३. °तरे (बृभा ५७७९) ।

१४. जुगर° (मु) ।

१५. वी (भ), वा (बृभा ५७८०) ।

२९३१. जिसका कलह उपशान्त नहीं हुआ, उस रुष्ट साधु को आचार्य एक वर्ष तक प्रयत्नपूर्वक रखते हैं ताकि (प्रेरणा प्राप्त कर) उसका क्रोध शान्त हो जाए। एक वर्ष के बाद भी जो उपशान्त नहीं होता, उसके क्रोध को पर्वत-राजि (पत्थर की रेखा) के समान मानना चाहिए।

२९३२. मूल आचार्य के समान दो अन्य आचार्य भी एक-एक वर्ष तक उसे उपशान्त करते हुए संरक्षण देते हैं। यदि कहीं उपशान्त हो जाता है तो वह वहीं शिष्यत्व स्वीकार कर लेता है। यदि फिर भी उपशान्त नहीं होता तो उसे गृहस्थ बना दिया जाता है—उसके लिंग का अपहरण कर लिया जाता है। इसका द्वितीय पद (अपवाद) यह है कि यदि कोई राजा आदि प्रव्रजित हुआ हो तो तीन साल के बाद भी उसका लिंगापहार नहीं किया जाता।

२९३३. इसी प्रकार गणाचार्य—उपाध्याय और आचार्य अनुपशान्त कलह रहे तो गण में रहते हुए उन्हें क्रमशः तीन और दो पक्ष तक तप और उसके बाद छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

शिष्य—भिक्षु, उपाध्याय और आचार्य का दोष समान, फिर प्रायश्चित्त में भेद क्यों? (भिक्षु को दो मास तक तप, उपाध्याय को डेढ़ तथा आचार्य को एक मास तक तप—ऐसा क्यों?)

आचार्य कुमारदृष्टान्त के द्वारा इसका समाधान करते हैं।^१

२९३४. उपाध्याय के लिए तीन पक्ष—पैंतालीस दिन तक तप प्रायश्चित्त का विधान है। उन (पैंतालीस दिनों) का चौथा भाग होता है—सवा ग्यारह दिन। जो उपाध्याय अनुपशान्त रहता है, कलह से सवा ग्यारह दिन बीतने के बाद उसके साथ भक्तार्थ संभोज का वर्जन कर दिया जाता है, उसके पुनः सवा ग्यारह दिन बाद स्वाध्याय, फिर इसी क्रम से वंदना और आलाप संभोज का वर्जन किया जाता है। इस प्रकार डेढ़ मास पूर्ण होने के बाद छेद-दशक (भिक्षु के समान ही दस महीने तक छेद) का प्रारम्भ हो जाता है।

२९३५. आचार्य को दो पक्ष—तीस दिन तक तप प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तीस का चतुर्थांश होता है—साढ़े सात दिन। आचार्य के साथ प्रत्येक साढ़े सात-दिन के बाद क्रमशः भक्तार्थ, स्वाध्याय, वन्दना और आलाप—इन चारों संभोजों का हापन—वर्जन होता है। इस प्रकार गच्छ के द्वारा चारों पदों (भक्तार्थ आदि) से निर्यूद्ध होने के बाद छेद प्रायश्चित्त लगता है—छेद दशक का प्रारम्भ होता है।

२९३६. भिक्षु, उपाध्याय या आचार्य जब स्वगण के द्वारा भक्तार्थ आदि चारों पदों से वर्जित हो जाता है, तब अन्य गण में संक्रमण करता है। वहां उस गण का आचार्य पुनः उसकी वंदन, आलाप आदि पदों से सारणा करता हुआ एक वर्ष तक उसका संरक्षण करता है।

२९३७. अन्य गण में भी भिक्षु, उपाध्याय या आचार्य की प्रतिदिन स्वाध्याय आदि पदों से सारणा की जाती है। केवल नानात्व (भेद) इतना है कि सारणा के चारों स्थानों (कालों) में सारणा न करने पर गुरु को तप प्रायश्चित्त (गुरु मास) आता है, जबकि इतर (साधु) को छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९३८. एक राजा के तीन पुत्र थे। एक दिन उन तीनों ने विचार-विमर्श किया—पिता को मारकर राज्य को आपस में बांट लें। राजा को पता चल गया। बड़ा पुत्र युवराज है, प्रधान व्यक्ति है अतः उसे भोगहरण, बंधन, ताड़न आदि सारे दंड दिये गए। मध्यम राजकुमार को केवल बंधन, ताड़न आदि दंड दिये गए। तीसरा राजकुमार बेचारा छोटा है, ऐसा सोच उसके कान मरोड़े गए, खिंसा की गई, पर भोगहरण या बंधन आदि दंड नहीं दिये गए।^१ इस प्रकार समान अपराध होने पर भी वस्तुभेद (भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों) के आधार पर दंड भिन्न-भिन्न दिया जाता है, यह व्यावहारिक है, पक्षपात नहीं।

१. दृष्टान्त हेतु दृष्टव्य, गाथा २९३८।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४६।

२९३९. अप्पच्चय वीसत्थत्तणं च लोगगरहा य दुरभिगमो ।
आणाए य परिभवो, णेव भयं तो तिहा दंडो^१ ॥ २८१५ ॥
२९४०. गच्छम्मि उ^२ पट्टविते, 'जेण पदे'^३ णिग्गतो ततो बितियं ।
भिक्षु गणायरियाणं, मूलं अणवट्ट पारंची ॥ २८१६ ॥
२९४१. खर^४-फरुस^५-णिट्टुराइं, अह सो भणितुं अभाणितव्वाइं ।
णिग्गमण कलुसहियए, सगणे अट्टा परगणे य^६ ॥ २८१७ ॥
२९४२. 'उच्चसर-सरोसुत्तं'^७, हिंसग मम्मवयणं खरं तं तु ।
अक्कोस^८-निरुवयारुत्तमसब्भं^९ णिट्टुरं होति ॥ २८१८ ॥
२९४३. 'अद्धट्ट अट्टमासा'^{१०}, मासा 'दो होति'^{११} अट्टसु पयारो ।
वासासु असंचरणं, न चेव इतरे वि पेसंति ॥ २८१९ ॥
२९४४. सगणम्मि पंचराइंदियाइं^{१२} दस परगणे मणुण्णेसुं ।
अण्णेसु होति पण्णर^{१३}, वीसा तु गतस्स ओसण्णे ॥ २८२० ॥
२९४५. एमेव उवज्झाए^{१४}, दसदिवसादी तु भिण्णमासंतो ।
पण्णरसादी उ गणी^{१५}, चउसु वि ठाणेसु मासंतो ॥ २८२१ ॥
२९४६. सगणम्मि पंचराइंदियाइं^{१६} भिक्षुस्स तद्विवस छेदो ।
दस होति उवज्झाए^{१७}, गणि^{१८}-आयरिए य पण्णरस^{१९} ॥ २८२२ ॥

१. बृभा ५७८१ ।

२. य (मु), व (क) ।

३. जम्मि पदे स (बृभा ५७८२), जेण पदेण (दे) ।

४. उच्चेण महंतेण सरेण जं सरोसं उक्तं, तं खरं (चू) ।

५. जं पुण हिंसगं मम्मघट्टणं च, तं फरुसं (चू) ।

६. वा (बृभा ५७५०) ।

७. उच्चं सरोस भणियं (बृभा ५७५१) ।

८. जगारादियं अक्कोसवयणं (चू) ।

९. °वचारिं तमसब्भं (बृभा), ककार-डकारादियं च
णिरुवयारं, असभाजोग्गं असब्भं जहा कोलिकः (चू) ।

१०. अट्टऽट्ट अट्टमासा (बृभा ५७५२) ।

११. होतऽट्ट (बृभा) ।

१२. °याणि (दे) ।

१३. पणरस (बृभा ५७५३) ।

१४. य होइ गणी (बृभा ५७५४) ।

१५. गुरू (बृभा) ।

१६. °याणि (दे) ।

१७. अहोरत्ता (बृभा ५७५५) ।

१८. गणं (भ) ।

१९. °रसा (भ) ।

२९३९. आचार्य (प्रधान प्रमाण पुरुष) यदि बहुकषाय एवं कलहकारी हों तो अनास्था^१ विश्वस्तता^२, लोकनिन्दा, दुरधिगम्यता^३, आज्ञा का परिभव^४ एवं भय का अभाव^५—ये दोष आते हैं। अतः व्यक्तिभेद से त्रिधा दंड उचित है।

२९४०. भिक्षु यदि तप प्रायश्चित्त प्रारम्भ होने के बाद गण से निर्गमन करता है तो उसे उसका द्वितीय—अग्रिम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार भिक्षु, उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा भिक्षु आदि कषायित व्यक्ति गण से जिस पद—भक्तार्थ, स्वाध्याय आदि संभोज विच्छेद के स्थान से निर्गमन करते हैं, अन्य गण में वह क्रम अग्रिम पद से प्रारम्भ होता है, जैसे—यदि स्वगण में उन्होंने भक्तार्थ-विसंभोज का वहन कर लिया तो दूसरे गण में जाने पर उनके साथ भक्तार्थ संभोज नहीं रखा जाएगा, स्वाध्याय किया जा सकेगा।

२९४१. जो कषाय से कलुषित हृदय वाला है, वह खर, परुष, निष्ठुर एवं अवाच्य शब्दों या भाषा का प्रयोग कर अपने गण से निर्गमन करता है, उसके स्वगण और अन्य गण में आठ-आठ स्पर्द्धक^६ होते हैं।

२९४२. खर का अर्थ है—उच्च स्वर से रोष युक्त बोलना। हिंसक एवं मर्मकारी (मर्मभेदी) शब्दों का प्रयोग करना परुष भाषा है। आक्रोश पूर्वक, निरुपचार (जिसमें क, ड आदि की बहुलता हो, ऐसी भाषा) और असभ्य शब्दों का प्रयोग करना निष्ठुर वचन कहलाता है।

२९४३, २९४४. वह कषायित भिक्षु स्वयं के गण के आठ स्पर्द्धकों में एक-एक पक्ष रहा है, इस प्रकार उसके अष्टार्थ—चार मास व्यतीत हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य गणवर्ती स्पर्द्धकों में भी पक्ष-पक्ष के क्रम से चार मास हो जाते हैं—ये दो चार मास मिलकर आठ मास हो जाते हैं। वर्षावास में भिक्षु के लिए संचरण विहित नहीं। अतः संचरण के आठ ही मास होते हैं। वर्षावास प्रारम्भ होने पर वह जिस स्पर्द्धक में संक्रमण करता है, वहां से इतर (उस स्पर्द्धक के) भिक्षु भी उसे अन्यत्र संप्रेषित नहीं करते। इस विधि से प्रत्येक स्पर्द्धक में उस कषायित भिक्षु की स्वाध्याय, भिक्षा आदि सारणा कालों में सारणा की जाती है। सारणा करने पर भी उपशान्त न होने वाले भिक्षु को स्वगण में पांच रात्रिदिन, परगण में समनोज्ञ के साथ दस, अमनोज्ञ के साथ पन्द्रह तथा अवसन्न भिक्षुओं के साथ बीस रात्रिदिन का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९४५. इसी प्रकार उपाध्याय एवं आचार्य के भी स्वगण एवं परगण में संक्रमण काल वक्तव्य है। इस क्रम में उपाध्याय का प्रायश्चित्त दस रात्रि-दिन के छेद से प्रारम्भ होकर भिन्न मास तक चलता है तथा आचार्य का प्रायश्चित्त चार स्थानों में पन्द्रह रात्रि-दिन के छेद से प्रारम्भ होकर एक मास में सम्पन्न होता है।

२९४६. स्वगण में अनुपशान्त भिक्षु को प्रतिदिन के क्रम से पांच रात-दिन, उपाध्याय को दस रात-दिन और आचार्य को पन्द्रह रात-दिन का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. लोगों को उनके उपदेश पर आस्था नहीं रहती—ये कहते हैं चारित्र का अर्थ है अकषाय और स्वयं कषायितचेता हैं, ये यथावादी तथाकारी नहीं हैं।
२. उनके शिष्य विश्वस्त होकर कलह करते हैं—कलह करते समय उन्हें दण्ड आदि का भय नहीं रहता।
३. क्रोधी आचार्य शिष्यों एवं प्रतीच्छकों के लिए दुरधिगम्य होते हैं—कोई उनके पास सरलता से जाना नहीं चाहता।
४. शिष्य उनकी आज्ञा का परिभव—तिरस्कार करते हैं, अवहेलना करते हैं।
५. शिष्यों को गलती करते भय नहीं होता।
६. पाइय-फडुग-सम्पूर्ण गण के अधिष्ठाता के वशवर्ती गण का एक लघुतर हिस्सा, समुदाय का एक अति छोटा विभाग जो सम्पूर्ण समुदाय के अध्यक्ष के अधीन हो। (तेरापंथ संघ की पारिभाषिक शब्दावलि में सहाय या साज।)

२९४७. अण्णगणे भिक्खुस्सा^१, 'दस तु'^२ रातिंदिया भवे छेदो ।
पण्णरस उवज्झाए^३, गणि-आयरिए भवे वीसा ॥ २८२३ ॥
२९४८. संविग्गमण्णसंभोगिएहिं^४ भिक्खुस्स पण्णरसछेदो ।
वीसा य उवज्झाए, गणि-आयरिए य पणवीसा^५ ॥ २८२४ ॥
२९४९. एवं एक्केक्कदिणं, हवेतु ठवणादिणे वि एमेव ।
चेइयवंदणसारित, तम्मि वि काले तिमासगुरू^६ ॥ २८२५ ॥
२९५०. पासत्थादिगतस्सा, वीसं राइंदियाइँ भिक्खुस्स ।
पणवीसं^७ उवज्झाए, गणि-आयरिए भवे मासो ॥ २८२६ ॥
२९५१. अट्ठुइज्जा मासा, पक्खे^८ अट्ठहिं मासा हवंति वीसं तु^९ ।
पंच तु मासा पक्खे, अट्ठहि चत्ता उ भिक्खुस्स^{१०} ॥ २८२७ ॥
२९५२. पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहि मासा हवंति चत्ता उ ।
अट्ठट्ठमास पक्खे, अट्ठहि सट्ठी^{११} भवे गणिणो ॥ २८२८ ॥
२९५३. अट्ठट्ठमास पक्खे, अट्ठहि मासा हवंति सट्ठीओ^{१२} ।
दसमासा पक्खेणं, अट्ठहऽसीती तु आयरिए ॥ २८२९ ॥
२९५४. अट्ठट्ठमासपक्खे, अट्ठहि मासा भवंति सट्ठीओ ।
दसमासा पक्खेणं, अट्ठहऽसीती य भिक्खुस्स^{१३} ॥ २८३० ॥

१. य भिक्खुस्स (भ) ।

२. दसेव (बृभा ५७५६)

३. अहोरत्ता (बृभा) ।

४. ण्णअण्णं (दे) ।

५. पणुवीसा (भ, पा), २९४८-५०—ये तीन गाथाएं बृभा में नहीं हैं ।

६. बृभा ५७७१, दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

७. पणुं (भ) ।

८. द्वितीय चरण में छंद की दृष्टि से मात्राएं अधिक हैं ।

यहां 'पक्खे' पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है ।

९. दे प्रति में इस गाथा का प्रथम चरण है ।

१०. बृभा ५७५७ ।

११. सट्ठीं (बृभा ५७५८) ।

१२. सट्ठीं तु (बृभा ५७५९) ।

१३. गाथाओं के क्रम में यह गाथा बृभा में नहीं है, लेकिन यह गाथा यहां होनी चाहिए ।

२९४७, २९४८. अनुपशान्त भिक्षु परगण में सांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण करता है, तब उसे प्रतिदिन दस रात-दिन का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उस अवस्था में उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः पन्द्रह एवं बीस दिन का छेद प्राप्त होता है। यदि अन्यगण में अन्यसांभोजिक संविग्न साधुओं के साथ संक्रमण करता है तो भिक्षु को पन्द्रह रात-दिन का छेद तथा उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः बीस और पच्चीस रात-दिन का छेद प्राप्त होता है।

२९४९. इस प्रकार एक-एक दिन कम करते-करते स्थापना दिवस अर्थात् पर्युषणा दिवस तक ले जाएं। उस दिन सूर्योदय से पूर्व कलह उत्पन्न हो तो इस प्रकार करे—पहले स्वाध्याय स्थापित करते समय उसे उपशान्त होने के लिए कहे, फिर वन्दनार्थ (चैत्य वन्दन के लिए) जाते समय कहे, उपशान्त न होने पर प्रतिक्रमण की वेला में पुनः कहे। यदि फिर भी वह उपशान्त न हो पाए तो उस मुनि को तीन गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है।

२९५०. अनुपशान्त भिक्षु यदि पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं के साथ संक्रमण करता है, तब उसे बीस रात्रिदिन का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उस अवस्था में उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः पच्चीस रात्रिदिन का छेद तथा एक महीने का छेद प्राप्त होता है।

२९५१. अनुपशान्त भिक्षु के स्वगण में संक्रमण करते हुए प्रतिदिन पांच-पांच रात्रि-दिन के क्रम से एक पक्ष में (१५×५=७५ दिन) ढाई मास का छेद प्रायश्चित्त आता है। वहीं अन्य गण में सांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण करते हुए दस-दस रात्रिदिन के क्रम से पक्ष में पांच मास (१५×१०=१५०/३० दिन=५ मास) का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। स्वगण और अन्य गण दोनों में आठ-आठ स्पर्द्धक होते हैं उनमें संक्रमण करने पर ढाई मास को आठ से गुणित (२ $\frac{१}{२}$ × ८=२०) बीस मास और अन्य गण के गुणन से (५×८=४०) ४० मास होते हैं।

२९५२. अनुपशान्त उपाध्याय के स्वगण में संक्रमण करते हुए प्रतिदिन दस-दस रात्रि-दिन के क्रम से एक पक्ष में पांच मास और आठ से गुणित करने पर चालीस मास का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह यदि अन्य गण में सांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण करता है तो प्रतिदिन पन्द्रह-पन्द्रह रात-दिन के छेद से दो सौ पच्चीस दिन अर्थात् (२२५/३०=७ $\frac{१}{२}$) साढ़े सात मास का छेद प्राप्त होता है। उसे आठ स्पर्द्धकों के साथ गुणित करने पर साठ मास का छेद हो जाता है।

२९५३. आचार्य के स्वगण में संक्रमण करते हुए पूर्वोक्त क्रम से साढ़े सात मास का छेद और आठ स्पर्द्धकों में कुल साठ मास का छेद प्राप्त होता है। यदि वह अनुपशान्त अवस्था में अन्य गण में संक्रमण करता है तो प्रतिदिन बीस-बीस रात्रि-दिन के छेद से दस मास का तथा आठ स्पर्द्धकों से गुणित करने पर अस्सी मास का छेद प्राप्त होता है।

२९५४. यदि अनुपशान्त भिक्षु अन्यसांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण करता है तो उसे प्रतिदिन पन्द्रह-पन्द्रह रात-दिन के क्रम से उसे साढ़े सात मास का तथा आठ स्पर्द्धकों में कुल साठ मास का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा अवसन्न भिक्षुओं के साथ संक्रमण करते हुए बीस रातदिन के छेद के क्रम से दस मास का तथा आठ स्पर्द्धकों में कुल अस्सी मास का छेद प्राप्त होता है।

२९५५. दसमासा पक्खेणं, असी अट्टहि य हवंति णातव्वा ।
अद्धत्तेरसपक्खे, अट्टहि य सयं भवे गणिणो ॥ २८३१ ॥
२९५६. अद्धं तेरस पक्खे, मासाण सयं च^१ अट्टहिं भवति ।
पण्णरस-मास-पक्खे, अट्टहि वीसुत्तरं गणिणो ॥ २८३२ ॥
२९५७. चोदेति रागदोसे, सगण-परगणे इमं तु णाणत्तं ।
पंतावण णिच्छुभणं, परकुलघर घाडिण गता ॥ २८३३ ॥
२९५८. अचियत्तकुलपवेसे, अतिभूमि अणेसणिज्ज-पडिसेधे ।
अवहार ऽमंगलुत्तर, सभावअचियत्तमिच्छत्ते ॥ २८३४ ॥
२९५९. अहिगरण गिहत्थेहिं, 'ओसरणं कड्डुणा'^२ य आगमणं ।
आलोयण पेसवणं^३, अपेसणे होंति चतुलहुगा ॥ २८३५ ॥
२९६०. आणादिणो य दोसा, 'विराधणा होति संजमायाए'^४ ।
वुग्गाहण सत्थेणं, 'वारण अगणी विसं उवधी'^५ ॥ २८३६ ॥ नि ६३४ ॥
२९६१. रज्जे देसे गामे, णिवेसण गिहे^६ 'य वारणं'^७ कुणति ।
जा तेण विणा हाणी, कुल-गण-संघे य पत्थारो ॥ २८३७ ॥
२९६२. एतस्स णत्थि दोसो, अपरिक्खियदिक्खितस्स अह दोसो ।
पभु कुज्जा पत्थारं, अपभू वा कारवे^८ पभुणा^९ ॥ २८३८ ॥
२९६३. तम्हा खलु पट्टवणं^{१०}, पुव्वं वसभा समं च वसभेहिं ।
अणुलोमणं^{११} पेच्छामो^{१२}, 'णेंति अणिच्छं पि वसभेहिं'^{१३} ॥ २८३९ ॥

१. तु (दे) ।

२. ओसार विकड्डुणा (बृभा ५५६९), ओसारण क^० (दे) ।

३. पत्थवणं (बृभा) ।

४. बंधण-णिच्छुभण कडगमदो य (बृभा ५५७०) ।

५. अगणुवगरणं विसं वारे (बृभा) ।

६. गिहि (दे) ।

७. णिवा^० (बृभा ५५७१) ।

८. कारणे (भ) ।

९. बृभा ५५७२ ।

१०. पत्थवणं (भ) ।

११. अणुलोमणं ति प्रगुणीकरणमित्यर्थः (चू) ।

१२. पेच्छामो ति (मु, भ) ।

१३. ति णेंति अणिच्छमाणो वि वसभेहिं (दे, मु), णेंति अणिच्छं पि तं वसभा, (बृभा ५५७३) ।

२९५५, २९५६. अनुपशान्त उपाध्याय को अन्यसांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण का पक्ष में दस मास तथा आठ से गुणित होने पर कुल अस्सी मास और अवसन्न भिक्षुओं के साथ संक्रमण करने पर साढ़े बारह मास का तथा आठ से गुणित करने पर सौ मास का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अनुपशान्त आचार्य को अन्यसांभोजिक भिक्षुओं के साथ संक्रमण में उपर्युक्त क्रम से पक्ष में साढ़े बारह मास का तथा आठ से गुणित करने पर सौ मास का और अवसन्न भिक्षुओं के साथ संक्रमण करने पर पक्ष में पन्द्रह मास तथा आठ से गुणित करने पर एक सौ बीस मास का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९५७. शिष्य प्रश्न करता है—आप स्वगण में कम प्रायश्चित्त देते हैं और अन्य गण में अधिक, इस प्रकार नानात्व (भेद) से आपका स्वगण में राग और अन्यगण में द्वेष प्रकट होता है। आचार्य—प्रायश्चित्त की भिन्नता होने पर भी राग या द्वेष नहीं, इसे तुम एक दृष्टान्त से समझो—एक व्यक्ति ने अपनी चारों पत्नियों को प्रान्तापित घर से निकाल दिया। पहली पत्नी किसी दूसरे घर, दूसरी कुलघर और तीसरी पति के घनिष्ठ मित्र के घर चली गई, पर चौथी कहीं नहीं गई। पहली पत्नी को सर्वाधिक दंड मिला।^१

२९५८. परपक्ष के साथ कलह के अनेक कारण हैं—१. अज्ञान अथवा विस्मृति के कारण भिक्षु किसी अप्रिय कुल में प्रविष्ट हो जाए। २. भिक्षु निषिद्ध स्थान में प्रविष्ट हो जाए। ३. भिक्षा अनेषणीय है, ऐसा कहकर उसका प्रतिषेध कर दे। ४. कोई ज्ञातिजन शैक्ष का अपहार कर ले। ५. गृहस्थ साधु को देख 'अमंगल है' ऐसा कह दे। ६. सिद्धान्त—चर्चा में गृहस्थ उत्तर देने में अक्षम हो। ७. स्वभावतः ही कोई भिक्षु अप्रिय हो अथवा ८. कोई गृहस्थ अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि हो।

२९५९. उपर्युक्त या तथाविध अन्य कारणों से किसी साधु का गृहस्थों के साथ अधिकरण हो जाए तो दूसरा साधु उसे वहां से हटा ले। यदि वह न हटना चाहे तो उसकी बांह पकड़ कर खींच ले। वहां से निवृत्त होकर गुरु के पास आ जाए और आलोचना करे कि अधिकरण हो गया। गुरु उस गृहस्थ को उपशान्त करने हेतु वहां वृषभ साधुओं को प्रेषित करे। यदि अधिकरण ज्ञात होने पर भी गुरु उसकी उपशान्ति हेतु वृषभों को नहीं भेजता तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९६०. गृहस्थ के साथ भिक्षु अधिकरण करे तो उसे आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। अनुपशान्त गृहस्थ भिक्षु को उन्निष्क्रान्त कर सकता है या अन्य किसी समर्थ व्यक्ति से उन्निष्क्रान्त करवा सकता है, कशा आदि से पीट सकता है—इस प्रकार भिक्षु के संयम विराधना एवं आत्म-विराधना की संभावना रहती है। गृहस्थ अन्य लोगों को व्युदग्राहित कर सकता है, शस्त्र से आहत कर सकता है, भिक्षा आदि का निषेध, अग्नि के द्वारा वस्त्र, उपाश्रय आदि का दहन, विष देना, उपधि का अपहरण आदि के द्वारा साधुओं को कष्ट दे सकता है।

२९६१. अधिकरण से आक्रुष्ट होकर गृहस्थ साधु को राज्य, देश, ग्राम, निवेश या अपने घर में प्रवेश करने से रोक देता है, भिक्षा, वस्त्र आदि का निषेध कर देता है। उस निषेध से जो हानि होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह गृहस्थ समर्थ हो तो आक्रोश के कारण कुल, गण और संघ का विनाश भी कर सकता है।

२९६२. गृहस्थ सोचता है—इस अनुपशान्त साधु का दोष नहीं। दोष तो उनका है, जिन्होंने बिना पूरी परीक्षा किये इसे दीक्षित कर दिया। ऐसा सोचकर यदि वह समर्थ है तो स्वयं आचार्य आदि का विनाश कर देता है और स्वयं सक्षम न हो तो किसी अन्य प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति से उसका विनाश करवा देता है।

२९६३. अतः अनुपशान्त गृहस्थ को शान्त करने के लिए आचार्य पहले वृषभ साधुओं को प्रेषित करे। यदि उनसे शान्त न हो तो वृषभों के साथ स्वयं जाए और अनुकूल वचनों के द्वारा उसे उपशान्त करने का प्रयत्न करे। यदि वह कहे कि पहले उस (कलहकारी मुनि) को देखूंगा, बाद में क्षमायाचना करूंगा तो उस साधु को भी वहां ले जाया जाए। यदि वह न जाना चाहे तो वृषभ उसे बलपूर्वक ले जाएं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४७।

२९६४. तस्संबंधि सुही वा, पगता ओयस्सिणो^१ गहितवक्का^२ ।
तस्सेव सुही सहिता, गर्मेति थेरा^३ तगं पुव्वं^४ ॥ २८४० ॥
२९६५. सो णिच्छुभती साधू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेतुं ।
नाऊण वत्थुभावं, तस्स जई णेंति गिहिसहिता^५ ॥ २८४१ ॥
२९६६. वीसुं उवस्सए वा, ठवेंति पेसंति फड्डुपतिणो वा ।
देंति सहाए सव्वे, व णेंति गिहिए अणुवसंते^६ ॥ २८४२ ॥
२९६७. अविओसितम्मि लहुगा, भिक्ख-वियारे य वसहि-गामे य ।
गणसंकमणे भण्णति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि^७ ॥ २८४३ ॥
२९६८. इह^८ वि गिही अविसहणा, ण य वोच्छिण्णा इहं तुह कसाया ।
अण्णेसिं पाऽऽयासं^९, जणइस्ससि वच्च तत्थेव^{१०} ॥ २८४४ ॥
२९६९. सिट्ठम्मि ण संगिज्जति, संकंतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।
गुरुगा अजतण-कहणे, एगतरपदोसतो जं च^{११} ॥ २८४५ ॥
२९७०. उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चामो^{१२} ।
दोसा हु अणुवसंते, ण सुज्जते तुज्ज सामइयं^{१३} ॥ २८४६ ॥
२९७१. तमतिमिरपडलभूतो^{१४}, पावं चिंतेति दीहसंसारी ।
पावं ववसितुकामो^{१५}, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥ २८४७ ॥

१. ओय त्ति तेयस्सिणो खीरासवादि लद्धिसंपण्णा (चू) ।
२. मिष्टवाक्या सव्ववहारप्रयोगवशा भर्णता गिहियवक्का भवति (चू) ।
३. थिरसभावा थेरा, परिणयवया वा थेरा (चू) ।
४. बृभा ५५७४ ।
५. बृभा ५५७५ ।
६. बृभा ५५७६ ।
७. बृभा ५५७७ ।
८. अह (भ) ।
९. पायासि (दे) ।
१०. बृभा ५५७८ ।

११. वा (भ), बृभा ५५७९ ।
१२. वच्चाहि (बृभा ५५८०) ।
१३. सामितियं (क) ।
१४. कण्हचउद्दसीए राओ भासुरदव्वाभावो तमं भण्णति, तम्मि चेव रातो जदा रयरेणुधूमधूमिगा भवति, तदा तम-तिमिरं भण्णति । जदा पुण ताए चेव रातीए रयायिया मेह दुद्धिणं च भवति, तदा तमतिमिरपडलं भण्णति.....एवं पुरिसो कसाय-उदएण तिव्व-तिव्वतरतिव्वतमेण तम-तिमिरपडलभूतो भण्णति (चू) ।
१५. °कामे (बृभा ५५८१) ।

२९६४. जो वृषभ उस गृहस्थ के सम्बन्धी हो, मित्र या परिचित हों, लोक में प्रख्यात हों, ओजस्वी एवं तेजस्वी हों, गृहीतवाक्य (मधुरभाषी एवं आदेयवचन) हों, आचार्य उन्हें गृहस्थ के अन्य सम्बन्धी गृहस्थ आदि के साथ पहले वहां भेजते हैं, फिर उस साधु को और स्थविरो को वहां भेजते हैं।

२९६५. वृषभ साधु उस गृहस्थ को जाकर कहते हैं—जिस साधु ने तुम्हारे साथ कलह किया, आचार्य उसे गण से निकाल देंगे। आचार्य हमारी बात नहीं सुनेंगे अतः तुम्हारा वहां चलना उचित रहेगा—इस प्रकार अनुकूल वाक्यों से उस गृहस्थ को आचार्य के पास ले जाकर खमत खामणा करवा दें—यह उचित है। यदि वे उस गृहस्थ को वहां न ले जा पाएं तो वस्तु-स्वभाव—गृहस्थ के क्रूर या अक्रूर भाव को जानकर^१ उसके सम्बन्धी या सुहृद् गृहस्थों के साथ उस मुनि को गृहस्थ के पास ले जाते हैं।

२९६६. यदि गृहस्थ उपर्युक्त उपायों से भी उपशान्त न हो तो जिस साधु के साथ उसका अधिकरण हुआ, उसे पृथक् उपाश्रय में स्थापित कर दिया जाता है। अथवा अन्य ग्राम में जो स्पृद्धक^२ हों, उनके स्वामी (आचार्यों) के पास उसे भेज दिया जाता है। उसको वहां प्रेषित करते समय सहायक (साथ जाने वाला मुनि) दिया जाता है। यदि मासकल्प पूर्ण हो जाए तो पूरा का पूरा गच्छ भी वहां से निर्गमन कर सकता है।

२९६७. यदि साधु गृहस्थ के साथ कलह कर उपशान्त न हो तो क्रुद्ध अवस्था में भिक्षार्थ जाए, विचार या विहारभूमि में जाए, वसति प्राप्त करने अन्य ग्राम में जाए या स्वयं की वसति से अन्य साधु की वसति में जाए, सभी स्थितियों में उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अतितीव्र कषाय वाले साधु के आगमन पर अन्यगच्छीय साधु कहते हैं—यहां भी गृहस्थों के साथ कलह न हो जाए, अतः तुम वहीं जाओ।

२९६८. वे अन्यगच्छीय मुनि उसे कहते हैं—यहां भी गृहस्थ असहिष्णु—क्रोधी हैं और तुम्हारे कषाय भी व्युच्छिन्न नहीं हुए हैं। अन्य गृहस्थों के साथ कलह पैदा न हो, इसलिए तुम वहीं अपने गण में चले जाओ।

२९६९. अनुपशान्त साधु को यदि दूसरे गण में भोजना हो तो मूल आचार्य उसके साथ साधु-संघाटक को भेजे। यदि वह उसके साथ संघाटक नहीं भेजे तो उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वहां अन्य गण में जाकर यदि वह संघाटक आचार्य या अन्य किसी को कुछ कहे तो उस गण में उस मुनि का संग्रहण नहीं किया जाता। यदि वह संघाटक बहुत से लोगों के बीच अयतना पूर्वक कहे तो उसे (संघाटक को) चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके अयतना पूर्वक कथन से वह गण उस साधु या गृहस्थ किसी के प्रति प्रद्विष्ट होकर जो कुछ करता है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी उसी संघाटक को प्राप्त होता है।

२९७०. साथ जाने वाला संघाटक पहले एकान्त में गुरु (उस गण के आचार्य) के समक्ष सारी स्थिति स्पष्ट कर देता है, फिर उस साधु को एकान्त में कहता है—गृहस्थ उपशान्त हो गया। आओ, हम भी चलें, तुम भी उससे क्षमायाचना कर लो। जो अनुपशान्त कषाय होता है, उसके बहुत से दोषों की आपत्ति होती है। जब तक उपशान्त नहीं होओगे, तुम्हारा सामायिक (चारित्र) भी शुद्ध (निर्दोष) नहीं रहेगा।

२९७१. जो व्यक्ति दीर्घ संसारी होता है, वह तीव्रतर कषाय के उदय के कारण सघन तिमिर से आच्छन्न व्यक्ति के समान^३ हित अहित कुछ भी नहीं जान पाता। वह गृहस्थ का अनिष्ट करने के लिए उद्यत हो जाता है, उसके प्रायश्चित्त के विषय में मार्गणा—पर्यालोचना इस प्रकार है—

१. वृषभ साधु देखते हैं कि उस गृहस्थ का अभिप्राय मुनि के साथ खमत-खामणा का है या उसे मारने का? यदि वह उपशम से अभिप्रेरित हो तो वे मुनि को उसके समक्ष ले जाते हैं, अन्यथा नहीं।

२. स्पृद्धक हेतु द्रष्टव्य गाथा २९४१ का पादटिप्पण।

३. कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी हो, आकाश भयंकर रजोद्घात से आच्छन्न हो और मेघपटल भी आ जाएं, वह स्थिति (द्रव्यतः) तम, तिमिर एवं तमतिमिर पटल कहलाती है। उसी प्रकार कषाय के तीव्रतम उदय से व्यक्ति तमतिमिर पटल से आच्छन्न दृष्टि वाला हो जाता है। अथवा पित्तोदय से चक्षुरिन्द्रिय का सबल दोष युक्त होना तिमिर और श्लेष्म विकार से उसका आच्छादित होना पटल कहलाता है। उससे दर्शनावरणीय कर्म का उदय होना तम तिमिर पटलभूत है।

२९७२. वच्चामि वच्चमाणे, चतुरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
पहरण मगण लद्धे, 'गहणम्मि य'^१ छल्लहू गुरुगा^२ ॥२८४८ ॥
२९७३. उग्गिण्णदिण्णऽमाये, छेदो तिसु वेगसारणे मूलं ।
दोसु य अणवट्टप्पो, तप्पभित्तिं^३ होति पारंची ॥२८४९ ॥
२९७४. तं चेव निट्टवेती, बंधण-णिच्छुभण कडगमद्दो वा ।
आयरिए गच्छम्मि य^४, कुल-गण^५-संघे य पत्थारो^६ ॥२८५० ॥
२९७५. संजयगणे गिहिगणे, गामे णगरे य देस रज्जे य ।
अहिवति रायकुलम्मि य, जा जहिं आरोवणा भणिता^७ ॥२८५१ ॥
२९७६. संजयगुरू तदहिवो, गिही तु गाम- 'पुर-देस-रज्जे'^८ वा ।
एतेसिं चिय अहवा, एगतरज्जुतो उभयतो वा ॥२८५२ ॥
२९७७. तहिं वच्चते गुरुगा, दोसु तु छल्लहूग गहण छग्गुरुगा ।
उग्गिण्ण^९ पहरण छेदो, मूलं जं जत्थ वा पंथे ॥२८५३ ॥
२९७८. एसेव गमो नियमा, गणि-आयरिए य^{१०} होति णातव्वो ।
नवरं पुण णाणत्तं, अणवट्टप्पो य पारंची^{११} ॥२८५४ ॥
२९७९. भिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।
उज्झाए^{१२} आयरिए, दोहिं गुरुगं तु णाणत्तं^{१३} ॥२८५५ ॥

१. दिट्ठम्मि य (भ) ।

२. तिसु पि (भ), बृभा (५५८२) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
उग्गिण्णम्मि य छेदो, पहरणे मूलं च जं जत्थ ।

३. तिप्पं (दे, भ) ।

४. वि (दे) ।

५. × (भ) ।

६. बृभा ५५८३ ।

७. बृभा ५५८४ ।

८. °यगणो (बृभा ५५८५) ।

९. पुरस्स सेट्ठी कोट्टवालो वा, देसस्स देसकुट्टो वा, देसव्यापृतको वा, रज्जस्स महामंत्री राजा वा (चू) ।

१०. उग्गिणि (बृभा ५५८६) ।

११. व (दे) ।

१२. बृभा ५५८७ ।

१३. उवज्झाए (मु) ।

१४. बृभा ५५८८ ।

२९७२, २९७३. गृहस्थ के अनिष्ट का चिन्तन करने वाला साधु सोचता है—जाऊँ और उस गृहस्थ को प्रान्तापित करूँ (ताड़ना दूँ)—इस प्रकार चिन्तन, संकल्प करने पर चतुर्लघु, इस चिन्तन से पदभेद करने (चलना प्रारम्भ करने) पर चतुर्गुरु, शस्त्र की मार्गणा करने पर षड्लघु और शस्त्र प्राप्त हो जाने एवं ग्रहण करने पर षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कषायाभिभूत चित्त से शस्त्र उठाने पर छेद तथा प्रहार करने पर भी मरे नहीं, तब मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि ये क्रियाएँ दो गृहस्थों के प्रति हों तो अनवस्थाप्य तथा तीन आदि के प्रति होने से प्रायश्चित्त का अवसान चरम (पारांचित) में होता है।

२९७४. यदि अनुपशान्त मुनि अकेला अन्य गण में जाता है तो वह गृहस्थ भी आवेशवश उसे मार सकता है, बांध सकता है, उपाश्रय, देश, राज्य आदि से निकाल सकता है। अथवा प्रद्विष्ट होकर वह संघ का कटकमर्दन कर सकता है (पालक राजा ने स्कन्धक आचार्य के सम्पूर्ण गच्छ को यंत्र में पीला दिया था। उस प्रकार सम्पूर्ण गच्छ या आचार्य को मार सकता है) कुल, गण या संघ का समवाय कर उसे कष्ट पहुंचा सकता है, उसका प्रस्तार (विनाश) कर सकता है।

२९७५. संयत संयतगण (बहुत से साधुओं) को लेकर जाए और गृहस्थ गृहस्थों के समूह के साथ जाए, उस अवस्था में भी जो जहां आरोपणा प्रज्ञप्त है, वह ज्ञातव्य है। इसी प्रकार वे किसी ग्राम, नगर, देश या राज्य के अधिपति अथवा किसी राजकुल की सहायता ले लें और परस्पर अनिष्ट चिन्तन पूर्वक गमन आदि करें तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९७६. संयतों का अधिप उनका गुरु होता है, उसी प्रकार गृहस्थों का अधिपति गृहस्थ भी हो सकता है अथवा कोई पाषण्डी भी हो सकता है। ग्राम का अधिपति उसका व्यापृतक, पुर का श्रेष्ठी या कोतवाल, देश का देशव्यापृतक तथा राज्य का अधिपति महामंत्री या राजा होता है। जो मुनि इनमें से किसी एक या उभय से युक्त होकर जाने का संकल्प करता है, जाता है तो उन्हें उन-उन पदों के लिए आरोपणा प्राप्त होती है।

२९७७. उपर्युक्त में से किसी के साथ मिलकर जाने में चतुर्गुरु, प्रहरण की गवेषणा एवं दर्शन में षड्लघु, ग्रहण में षड्गुण, शस्त्र उठाने में छेद तथा प्रहार करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। गृहस्थ आदि मार्ग में चलते हुए पृथिवीकाय आदि की विराधना करते हैं तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

२९७८. यही विधि नियमतः उपाध्याय एवं आचार्य के विषय में ज्ञातव्य है। नानात्व केवल इतना है कि इनमें क्रमशः पूर्व पूर्व पद का हास होने से अन्तिम प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्राप्त होगा।

२९७९. तपार्ह प्रायश्चित्तों में नानात्व यह है—भिक्षु के सभी प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से लघु होते हैं। गणवत्स^१ के तप या काल में से एक अपेक्षा से गुरु तथा उपाध्याय-आचार्य^२ के तप और काल दोनों से गुरु होते हैं।

१. निभा ३ चू. पृ. ५७—आचार्य की उपस्थिति में उपाध्याय गणवत्स कहलाता है।

२. वही—आचार्य के कालधर्म को प्राप्त होने पर अनभिषिक्त उपाध्याय आचार्य पद का अनुशीलन करता है अतः वह उपाध्याय आचार्य कहलाता है।

२९८०. कारुण अकारुण व, उवसंत उवड्डितस्स पच्छित्तं ।
सुत्तेण तु पट्टवणा, असुते रागो य^१ दोसो वा^२ ॥ २८५६ ॥
२९८१. थोवं^३ जइ आवण्णो, अतिरेगं देति^४ तस्स तं होति ।
सुत्तेण उ^५ पट्टवणा, सुत्तमणिच्छंत णिज्जुहणा^६ ॥ २८५७ ॥
२९८२. जेणऽहिगं ऊणं वा, ददाति तावतियमप्पणा^७ पावे ।
अहवण सुत्तादेसे, पावति चतुरो अणुग्घाता^८ ॥ २८५८ ॥
२९८३. बितियं उप्पाएतुं, सासणपंते 'असज्झ पंचपदा'^९ ।
आगाढे कारणम्मि^{१०}, राया^{११} संसारिए जतणा ॥ २८५९ ॥
२९८४. 'विज्जा-ओरस्सबली'^{१२}, तेयसलद्धी^{१३} सहायलद्धी^{१४} वा ।
उप्पाएतुं सासति, अतिपंतं कालगऽज्जो वा^{१५} ॥ २८६० ॥
२९८५. उग्घातमणुग्घातं^{१६}, अणुग्घातं^{१७} व^{१८} तथा 'य उग्घातं'^{१९} ।
जे भिक्खू पच्छित्तं, वएज्ज देज्जा व विवरीतं ॥ २८६१ ॥ नि ६३५ ॥
२९८६. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, अक्विवरीतं वदे दे वा ॥ २८६२ ॥ नि ६३६ ॥
२९८७. परितावमणुक्कंपा, भयं च लहुगम्मि पत्ते गुरु देंतो ।
वीसत्थया^{२०} ण सुज्झति, इतरे अलियं वदंते य ॥ २८६३ ॥

१. व (दे) ।

२. बृभा ५५८९ ।

३. थोवं (दे, पा) ।

४. देंते (भ) ।

५. व (भ) ।

६. णिज्जूं (पा), बृभा ५५९० ।

७. °मप्पणो (मु, क) ।

८. बृभा ५५९१ ।

९. असज्झे पंच वि पयाइं (बृभा ५५९२) ।

१०. °म्मी (मु, भ) ।

११. रायस्स (भ) ।

१२. जो विज्जाबलेण जुत्तो जहा, अज्ज खउडो, उरस्स जेण वा बाहुबलेण जुत्तो जहा—बाहुबली (चू) ।

१३. तेयलद्धीए वा सलद्धी जहा—बंधदत्तो पुव्वभवे संभूतो (चू) ।

१४. सहायलद्धीए वा जहा हरिएसबलो (चू) ।

१५. बृभा ५५९३ ।

१६. सूत्र १५-१८ (नव १०/१५-१८) ।

१७. वऽणुं (भ) ।

१८. वा (दे) ।

१९. अणुग्घायं (दे) ।

२०. वीसत्थिया (दे) ।

२९८०. गृहस्थ का अपकार करके अथवा किए बिना जब भिक्षु उपशान्त हो जाए तथा आलोचना पूर्वक प्रायश्चित्त हेतु उपस्थित हो जाए तो उसके प्रायश्चित्त की प्रस्थापना (निरूपण) सूत्र के अनुसार की जाए। सूत्रोपदेश के बिना प्रायश्चित्त प्रदान करने पर अल्प प्रायश्चित्त दे तो राग एवं अधिक प्रायश्चित्त दे तो द्वेष की आपत्ति आती है।

२९८१. जिस भिक्षु को कम प्रायश्चित्त प्राप्त होना है, आचार्य यदि उसे अतिरिक्त (अधिक) प्रायश्चित्त देते हैं तो जितना प्रायश्चित्त अधिक देते हैं, उतना आचार्य को प्राप्त होता है। कम के समान अधिक प्रायश्चित्त में भी यही विधि ज्ञातव्य है। अतः प्रायश्चित्त-निरूपण सूत्र के अनुसार होना चाहिए। जो सूत्र अर्थात् सूत्रोक्त प्रायश्चित्त को ग्रहण करना नहीं चाहता, उस भिक्षु का निर्यूहण (संभोज-विच्छेद) कर दिया जाता है।

२९८२. आचार्य भिक्षु को उचित प्रायश्चित्त से जितना अधिक या न्यून प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं, वे उसके प्रायश्चित्त स्वरूप स्वयं उतने प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं। अथवा न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देने के फलस्वरूप उन्हें सूत्रादेश से चार अनुद्घातिक मास (चतुर्गुरु) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९८३. आगाढ़ कारण में इसका द्वितीय पद (अपवाद) यह है—यदि कोई प्रत्यनीक अतिप्रान्त—क्रूर प्रकृति वाला हो और उसे अनुशिष्टि देने हेतु उसके साथ अधिकरण करना अनिवार्य हो जाए, मुनि अकेला उसके साथ कलह करने में समर्थ न हो तो धर्मकथा, विद्या आदि से यतनापूर्वक पांचों पदों—ग्राम, नगर, देश आदि के अधिपति को साथ लेकर उसे अधिकरणात्मक अनुशिष्टि दे अथवा राजा को सांसारिक—सहगामी, सहयोगी बनाए।

२९८४. जो भिक्षु (खपुट के समान) विशिष्ट विद्यातिवश्य सम्पन्न हो, (बाहुबलि के समान) औरसबल सम्पन्न हो (संभूत चक्रवर्ती के समान) तेजोलब्धि सम्पन्न या (हरिकेशबल के समान) सहायलब्धि सम्पन्न (यक्ष आदि किसी दिव्य शक्ति की सहायता प्राप्त) हो, वह आपवादिक रूप में अधिकरण उत्पन्न कर अतिप्रान्त प्रत्यनीक को सीख दे सकता है, जैसे कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल^१ को अनुशासित किया।

२९८५, २९८६. जो भिक्षु उद्घातिक (लघु) के स्थान पर अनुद्घातिक (गुरु) तथा अनुद्घातिक के स्थान पर उद्घातिक प्रायश्चित्त की प्ररूपणा करता है या प्रदान (आरोपणा) करता है, वह विपरीत प्रायश्चित्त देने के कारण आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—आत्म विराधना एवं संयम विराधना—इन चारों दोषों को प्राप्त होता है (चतुर्गुरु प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है) अतः अविपरीत—सूत्रविहित प्रायश्चित्त का प्ररूपण करे तथा प्रदान करे।

२९८७. किसी साधु को लघु प्रायश्चित्त प्राप्त हो और आचार्य उसे गुरु प्रायश्चित्त दें तो दोषी साधु परितापित होता है, आचार्य का उसके प्रति अननुकम्पा का भाव प्रदर्शित होता है, भय के कारण वह दूसरे दोषों की आलोचना करने में सकुचाता है। दूसरी ओर गुरु प्रायश्चित्त के स्थान पर लघु प्रायश्चित्त देने पर साधु विश्वस्त होकर पुनः प्रतिसेवना कर सकता है तथा दोष का सम्यक् विशोधन नहीं हो पाता। ये विपरीत दान के दोष हैं—विपरीत प्ररूपणा से असत्यभाषण का दोष लगता है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४८।

२९८८. अप्पच्छित्ते उ पच्छित्तं, पच्छित्ते अतिमत्तया।
धम्मस्सासायणा तिव्वा, मग्गस्स य विराधणा^१ ॥ २८६४ ॥ नि ६३७ ॥
२९८९. सुत-चरणे दुह^२ धम्मो, सुतस्स आसायणऽण्णहा दाणे।
ऊणं देत ण सुज्झति, चरणं आसायणा चरणे ॥ २८६५ ॥
२९९०. नाणादितिविधमग्गो, विराधितो होति अण्णहा दाणे।
सुतमग्गो वेगट्ठा, मग्गो य^३ सुतं चरणधम्मो^४ ॥ २८६६ ॥
२९९१. बितियं^५ गुरूवदेसा, तवबलिए उभयदुब्बले ऽबलिए।
वेयावच्च अणुग्गह, विगिंचणट्ठाएँ विवरीतं ॥ २८६७ ॥
२९९२. उग्घातियं^६ वहंते, आवण्णुग्घातहेतुगे होति।
उग्घातियं^७-संकप्पिय, सुद्धे परिहारियतवे य ॥ २८६८ ॥
२९९३. अणुग्घातियं^८ वहंते, आवण्णुग्घातहेतुगं^९ होति।
अणुग्घातियं-संकप्पिय, सुद्धे परिहारियतवे य ॥ २८६९ ॥
२९९४. को भंते! परियाओ, सुत्तथ अभिग्गहो तवोकम्मं।
'कक्खडमकक्खडेसु य'^{१०}, सुद्धतवे मंडवा दोण्णि ॥ २८७० ॥
२९९५. गीतमगीतो गीतो, अहं^{११} ति कं वत्थु 'कस्स व सि'^{१२} जोग्गो ?।
अग्गीउ^{१३} त्ति य भणिते, थिरमथिर तवे य^{१४} कतजोग्गो ॥ २८७१ ॥
२९९६. सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अण्णगणादागतं च^{१५} जं जाणे।
'परियाओ जम्म दिक्खा, अउणतीस वीसकोडी वा'^{१६} ॥ २८७२ ॥

१. बृभा ६४२२, जीभा २०४७।

२. दुहा (मु)।

३. व (दे)।

४. °धम्मस्स (दे)।

५. बितियं च (दे)।

६. सूत्र १९-३० (नव १०/१९-२४), उग्घातियं णाम
जं संतरं वहति लघुमित्यर्थः (चू)।

७. मुद्रित पुस्तक में तेवीसवां सूत्र नवसुत्ताणि का बावीसवां
सूत्र है तथा तीसवां सूत्र नवसुत्ताणि में नहीं है।

८. अणुग्घातियं णाम जं णिरंतरं वहति गुरुमित्यर्थः (चू)।

९. °णुग्घा° (दे)।

१०. °क्खडे वा (व्यभा ५३६)।

११. महं (भ, मु)।

१२. कासवसि (व्यभा ५३८)।

१३. अविगीते (व्यभा)।

१४. × (भ)।

१५. तु (व्यभा ५३७)।

१६. अण्णातं पुण पुच्छे, परिहारतवस्स जोग्गट्ठा (व्यभा)।

२९८८. जो भिक्षु अप्रायश्चित्ती को प्रायश्चित्त देता है अथवा प्रायश्चित्ती को अधिक प्रायश्चित्त देता है, वह धर्म की तीव्र आशातना करता है और मार्ग की विराधना करता है।

२९८९. धर्म के दो प्रकार हैं—श्रुत और चारित्र। अन्यथा—न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देने पर श्रुत की आशातना होती है। प्रायश्चित्त न्यून देने पर चारित्र की विशोधि नहीं होती, फलतः चारित्र धर्म की आशातना होती है।

२९९०. मार्ग के तीन प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। अन्यथा (न्यूनाधिक) प्रायश्चित्त देने पर उसकी विराधना होती है। अथवा श्रुत और मार्ग एकार्थक है अतः मार्ग का अर्थ है श्रुत और धर्म का अर्थ है चारित्र।

२९९१. अपवाद पद में विपरीत प्रायश्चित्त देने के ये कारण हैं—१. गुरुपदेश^१, २. तपबलिक^२, ३. उभय दुर्बल^३, ४. दुर्बल^४, ५. वैयावृत्य^५, तथा ६. विवेक^६।

२९९२. उद्घातित प्रायश्चित्त वहन करने वाला भिक्षु जब तक आलोचना नहीं करता, तब तक उद्घातहेतुक कहलाता है तथा आलोचना के बाद अमुक दिन तुम्हें यह प्रायश्चित्त दिया जाएगा—ऐसा निर्दिष्ट होने पर उद्घातिक-संकल्पित कहलाता है। तपः प्रायश्चित्त के प्रकार हैं—शुद्ध तप और परिहार तप।

२९९३. अनुद्घातिक तप को आपन्न (प्राप्त) भिक्षु अनुद्घातिक, अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का वहन करने वाला जब तक आलोचना नहीं करता, तब तक अनुद्घात-हेतुक तथा आलोचना के बाद अमुक दिन तुम्हें यह प्रायश्चित्त दिया जाएगा—ऐसा निर्दिष्ट होने पर अनुद्घातिक-संकल्पित कहलाता है। अनुद्घातिक तप ये दो प्रकार हैं—शुद्ध तप और परिहार तप।

२९९४. जो मुनि दूसरे गण से प्रायश्चित्त हेतु आते हैं, उन्हें पूछा जाता है—भंते! आपका पर्याय (जन्म पर्याय एवं दीक्षा पर्याय) क्या है? आपका सूत्रार्थ ज्ञान कितना है? अभिग्रह क्या है? आपके कौन-कौन सा तप किया हुआ है? शुद्ध और परिहार तप में कौन-सा तप कर्कश (दुष्कर) और कौन-सा अकर्कश है, इसे निरूपित करने हेतु दो मंडपों^७ का उदाहरण दिया जाता है।

२९९५. आचार्य आगन्तुक मुनि को पूछते हैं—आप गीतार्थ हैं या अगीतार्थ? वह कहता है—मैं गीतार्थ हूँ। पुनः आचार्य पूछते हैं—आप क्या वस्तु हैं—आप आचार्य हैं? उपाध्याय हैं, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक अथवा वृषभ कौन हैं? पुनः पूछा जाता है—आप किस तप के योग्य हैं—शुद्ध या परिहार तप? यदि वह कहता है मैं अगीतार्थ हूँ तो दूसरा प्रश्न होता है—आप तप करने में समर्थ हैं या नहीं? तीसरा प्रश्न होता है—आप तप के विषय में कृतयोगी (अभ्यस्त) हैं या नहीं?

२९९६. उपर्युक्त पृच्छाएं स्वगण में नहीं होती। अन्य गण से आया हुआ भी यदि ज्ञात (परिचित) व्यक्ति हो तो उसे यह सब नहीं पूछा जाता। पर्याय के दो प्रकार होते हैं—जन्म पर्याय और दीक्षा पर्याय। जो मुनि जन्म पर्याय से जघन्यतः उन्तीस वर्ष का तथा दीक्षा पर्याय से बीस वर्ष का हो, वह पर्याय की अपेक्षा से परिहार तप के योग्य होता है। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति है—देशोन पूर्वकोटि वर्ष।

१. गुरु परम्परा से यदि गुरु के स्थान पर लघु या लघु के स्थान पर गुरु प्रायश्चित्त चल रहा हो।

२. कोई तपबलिक (तपस्वी) साधु हो और लघु प्रायश्चित्त मिलने पर कहे—मुझे इतने प्रायश्चित्त से क्या? तो उसे गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता है।

३. कोई धृति एवं संहनन दोनों से दुर्बल हो।

४. जो धृति या संहनन में किसी एक से दुर्बल हो, उसे उसी के अनुरूप लघु या काललघु आदि प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। बलवान या गर्वोन्मत्त को लघु के स्थान पर गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता है।

५. आचार्य के वैयावृत्य में अभ्युद्यत साधु को गुरु के स्थान पर लघु अथवा अनुग्रह कृत्स्न प्रायश्चित्त दिया जाता है।

६. जिसका विवेक (गण से निष्कासन) करना हो उस मुनि को अल्प के स्थान पर बहु प्रायश्चित्त दिया जाता है ताकि वह स्वयं निर्गमन कर दे।

७. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गाथा २९९८।

२९९७. णवमस्स ततियवत्थुं^१, जहण्ण-उक्कोस-ऊणगा दस उ ।
सुत्तत्थऽभिग्गहे पुण, दव्वादि तवो रयणमादी^२ ॥२८७३॥
२९९८. जं मायति तं छुब्भति^३, सेलमए मंडवे ण एरंडे ।
उभयबलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो^४ ॥२८७४॥
२९९९. अविसिट्ठा आवत्ती, सुद्धतवे चेव तह य परिहारे ।
वत्थुं पुण आसज्जा, 'दिज्जते तत्थ एगतरो'^५ ॥२८७५॥
३०००. सुद्धतवो^६ अज्जाणं, ऽगीतत्थे दुब्बले असंघयणे ।
धितिबलिये य 'समण्णागतेसु सव्वेसु'^७ परिहारो ॥२८७६॥
३००१. विउसग्गजाणणट्ठा, ठवणाभीतेसु^८ दोसु ठवितेसु ।
अगडे णदी य राया, दिट्ठंतो भीत आसत्थे^९ ॥२८७७॥
३००२. गिरुवस्सग्गणिमित्तं^{१०}, भयजणणट्ठाय सेसगाणं तु^{११} ।
तस्सऽप्पणो य गुरुणो, य साहते होति पडिवत्ती ॥२८७८॥
३००३. कप्पट्ठिओ अहं ते, अणुपरिहारी य^{१२} एस 'ते गीतो'^{१३} ।
पुव्विं कतपरिहारो, तस्स ऽसयण्णो^{१४} वि दढदेहो ॥२८७९॥
३००४. एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा ण^{१५} आलवह ।
अत्तट्ठिचिंतगस्सा, वाघातो भे न कातव्वो^{१६} ॥२८८०॥ नि ६३८ ॥
३००५. आलावण^{१७}-पडिपुच्छण, परियट्ठट्ठाण-वंदणग मत्ते ।
पडिलेहण^{१८}-संघाडग-भत्तदाण-संभुंजणा चेव^{१९} ॥२८८१॥ नि ६३९ ॥

१. °वत्थुं (दे) ।

२. व्यभा ५४० ।

३. वुज्झइ (भ) ।

४. व्यभा ५४२ ।

५. दिज्जति इतरो व इतरो वा (व्यभा ५४३), गाथा के चौथे चरण में छंदभंग है। यहां 'तत्थ' के स्थान पर 'तत्थ उ' पाठ होना चाहिए।

६. °तवो उ (दे) ।

७. °गत सव्वेसिं पि (व्यभा ५४५), °गते य सव्वेसि (भ) ।

८. °भीए य (दे) ।

९. व्यभा ५४६ ।

१०. गिरुवस° (भ) ।

११. च (व्यभा ५४७) ।

१२. उ (दे) ।

१३. गीतो ते (जीभा २४३९) ।

१४. सतितरो (व्यभा ५४८) ।

१५. यहां 'ण' वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त है।

१६. जीभा २४४०, व्यभा ५४९, बृभा ५५९७ ।

१७. आलवणं (क) ।

१८. °हणा (दे) ।

१९. व्यभा ५५०, बृभा ५५९८, जीभा २४४२ ।

२९९७. जो जघन्यतः नवम पूर्व की तृतीय वस्तु और उत्कृष्टतः कुछ कम दस पूर्व पढ़ चुका हो, वह सूत्रार्थ की अपेक्षा से परिहार तप योग्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र आदि विषयक अभिग्रह करता हो तथा रत्नावलि, कनकावलि आदि तप से कृतयोगी हो, वह क्रमशः अभिग्रह एवं तप की दृष्टि से परिहारतप के योग्य होता है।

२९९८. शैल (पाषाण) से निर्मित मंडप में जो समा सके, सब कुछ डाला जा सकता है, वह भग्न नहीं होता। पर एरण्ड मण्डप में सब कुछ नहीं डाला जा सकता। वह सहन करे, उतना ही डाला जाता है। उसी प्रकार जो धृति एवं संहनन दोनों दृष्टि से बलवान है, उसे परिहार तप दिया जा सकता है। जो दुर्बल हो, उसे शुद्ध तप दिया जाता है।

२९९९. शुद्ध तप और परिहार तप दोनों की प्राप्ति समान होती है—दोनों में से कोई भी प्राप्त हो सकता है। किसी को परिहार तप दिया जाए या शुद्ध तप—यह वस्तु अर्थात् पुरुष (धृतिबल और संहनन सम्पन्नता या दुर्बलता) की अपेक्षा से ज्ञातव्य है। व्यक्ति के अनुसार दोनों में से एक दिया जाता है।

३०००. आर्या, अगीतार्थ मुनि, दुर्बल (धृतिरहित) तथा संहननहीन (प्रथम तीन संहननों से हीन) मुनि को शुद्धतप ही दिया जाता है। जो धृतिबल सम्पन्न एवं दृढसंहनन वाला हो, उसे सभी स्थितियों में परिहार तप दिया जाता है।

३००१. सब साधुओं को जानकारी रहे, इसलिए प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र आदि में परिहार तप स्वीकार करने वाले को कायोत्सर्ग करवाया जाता है। फिर आलापन आदि दस पदों की स्थापना की जाती है। यदि तप करने वाले के मन में भय हो तो उसे अगड़ (कूप), नदी, राजा आदि के दृष्टान्त से^१ आश्वस्त किया जाता है तथा उसके लिए कल्पस्थित एवं आनुपारिहारिक मुनियों की स्थापना (नियुक्ति) की जाती है।

३००२. परिहार तप के प्रारम्भ में कायोत्सर्ग करने के दो कारण हैं—१. निरुपसर्ग के निमित्त अर्थात् परिहारतप निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो। २. शेष साधुओं के मन में भय पैदा करने के लिए कि अमुक ने यह अपराध किया इसलिए उसे यह महाघोर परिहारतप प्राप्त हुआ है, अतः ऐसा अपराध नहीं करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने के पश्चात् परिहारतप स्वीकार करने वाले के तथा गुरु के अनुकूल शुभ तिथि आदि में परिहारतप की प्रतिपत्ति होती है।

३००३. जब तक तुम्हारा यह कल्पपरिहार समाप्त न हो, तब तक मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित हूँ।^२ यह गीतार्थ मुनि तुम्हारा आनुपारिहारिक है। (यथा अपेक्षा तुम्हारा साथ देने वाला, अनुगमन करने वाला है।) यह पहले परिहार तप कर चुका है। यदि कृतपरिहार मुनि न हो तो अन्य दृढदेह—धृतिसंहनन से युक्त गीतार्थ मुनि को भी आनुपारिहारिक स्थापित किया जा सकता है।

३००४. आचार्य समस्त संघ को एकत्रित कर कहते हैं—यह साधु परिहार तप स्वीकार कर रहा है। यह किसी के साथ आलाप नहीं करेगा लोग भी इसके साथ आलाप न करें। यह आत्मार्थ का अनुचिन्तन करने वाला है अतः आलाप, प्रतिपृच्छा आदि के द्वारा आप इसके परिहारतप, ध्यान आदि में व्याघात न करें।

३००५. प्रस्तुत दस पदों से गच्छ ने इसका परिहार किया है और इसने भी गच्छ का परिहार किया है—१. आलापन, २. प्रतिपृच्छा, ३. परिवर्तना, ४. उत्थापन, ५. वंदना, ६. मात्रक, ७. प्रतिलेखन, ८. संघाटक, ९. भक्तदान और १०. सहभोजन। अन्य भी जो कुछ करणीय है, वह आपके साथ नहीं करेगा।

१. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य—व्यभा, गा. ५४६ का पाद टिप्पण।

२. वंदन, वाचना आदि में कल्पभाव में स्थित हूँ, परिहार्य नहीं हूँ, शेष परिहार्य हैं।

३००६. संघाडगाओं 'जाव उ'^१, लहुगो मासो दसण्ह तु पदाणं^२ ।
लहुगा य भत्तदाणे, संभुंजणे 'होंतऽणुग्घाता'^३ ॥ २८८२ ॥ नि ६४० ॥
३००७. संघाडगो उ जाव^४ तु, गुरुगो मासो दसण्ह तु पदाणं ।
भत्तपदाणे^५ संभुंजणे य परिहारिगे गुरुगा^६ ॥ २८८३ ॥
३००८. कितिकम्मं च पडिच्छति, परिण्ण 'पडिपुच्छणं पि से देति'^७ ।
सो वि य गुरुमुवचिद्वृत्ति, उदंतमवि^८ पुच्छितो कहए^९ ॥ २८८४ ॥
३००९. उट्टेज्ज^{१०} णिसीएज्जा, भिक्खं गेण्हेज्ज^{११} भंडगं पेहे ।
कुवित-पिय- 'बंधवस्स व, करेति इतरो वि तुसिणीओ'^{१२} ॥ २८८५ ॥
३०१०. सुत्तणिवातो एत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधम्मि ।
'सोच्चा वा'^{१३} णच्चा वा, संभुंजंतस्स आणादी ॥ २८८६ ॥ नि ६४१ ॥
३०११. बितियपदसाधुवंदण, उभओ गेलण्ण 'थेर असती'^{१४} य ।
आलवणादी^{१५} उ पदे, जतणाए^{१६} समायरे भिक्खू ॥ २८८७ ॥

१. जो वा (भ) ।
२. गाथा का पूर्वार्ध जीभा (२४४३) में इस प्रकार है—
जा संघाडो ताव तु , लहुगो मासो तु होति गच्छस्स ।
३. होइणुं (दे), होंति णुं (मु), व्यभा ५५१,
बृभा ५५९९ ।
४. जो वा (मु), जा वा (भ) ।
५. भत्त य दाणे (क), भत्तस्स दाण (जीभा २४४४) ।
६. व्यभा ५५२ ।
७. °पुच्छ देति य गुरु से (जीभा २४४५) ।
८. उदंत इति सरीरवट्टमाणी कहेति (चू) ।
९. कहति (मु, भ), व्यभा ५५३ ।
१०. उट्टविओ जति भिक्खं हिंडिऊण सक्कति ता हिंडति अह
ण सक्केति तो अणुपरिहारिओ परिहारियभायणेहिं हिंडितु
देति । जइ ण सक्केइ भंडगं पडिलेहेउं ताहे अणुपरिहारिओ
से पडिलेहणियं करेइ । जइ ण सक्केति सण्णाकाइयभूमिं
गंतुं तत्थ परिहारिओ भणाति—काइयसण्णाभूमिं
गच्छेज्जामि ताहे से अणुपरिहारिओ मत्तए पणामेति ।
एवं जहा पियबंधुणो कुविओ बंधू जं करणीयं तं
तुसिणीयभावेण सव्वं करेति (चू) ।
११. हिंडेज्ज (दे, व्यभा ५५४, जीभा) ।
१२. °धवो वि य तुसिणी संघाडो तो कारे (जीभा २४५६) ।
१३. तं सोच्चा (मु, दे) ।
१४. थेर असतिए ति थेरा आयरिया । तेसिं वेयावच्चकरस्स
असती वेयावच्चकरवाघाए वा अण्णो य सलद्धीओ णत्थि,
ताहे परिहारिओ वि करेज्ज जयणाए, सो गुरुभायणेषु
हिंडितं अणुपरिहारियस्स पणामेति । कप्पट्टियस्स वा सो
वि आयरियाणं देति (चू) ।
१५. आलाव° (भ) ।
१६. का जयणा ? भण्णति—गच्छेल्लया परिहारियभायणेहिं
हिंडित्ता कप्पट्टियस्स पणामेति सो अणुपरिहारियस्स
पणामेति, सो वि परिहारियस्स (चू) ।.....

३००६. उपर्युक्त दस पदों में से आठवें पद संघाटक तक आलापन आदि किसी भी पद का अतिक्रमण करने पर गच्छवासी को प्रत्येक पद के लिए मासलघु प्रायश्चित्त आता है, भक्तदान पद का अतिक्रमण करने पर चतुर्लघु तथा सहभोजन पद का अतिक्रमण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३००७. यदि पारिहारिक तप करने वाला इनका अतिक्रमण करे तो आलापन से संघाटक पर्यन्त आठ पदों में प्रत्येक के लिए गुरुमास तथा शेष दो में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (ज्ञातव्य है कि कल्पस्थित एवं आनुपारिहारिक का संभोज एक होता है। वे शेष गच्छवासियों के साथ आलापन कर सकते हैं। 'वन्दना करते हैं' ऐसा कह सकते हैं, पर शेष कार्य नहीं करते।)

३००८. यदि पारिहारिक गुरु को वन्दन करता है तो गुरु भी उसे वन्दना करते हैं। उसे परिज्ञा—प्रत्याख्यान कराते हैं। यदि वह सूत्रार्थ के विषय में पूछता है तो उसका उत्तर भी देते हैं। वह पारिहारिक भी गुरु के पास बैठता है, अभ्युत्थान आदि करता है। गुरु यदि उसे शारीरिक स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं तो वह बताता है।

३००९. पारिहारिक यदि अशक्त होने के कारण स्वयं ऊठ बैठ न सके और आनुपारिहारिक से कहे तो वह (आनुपारिहारिक) उसे उठाता है, बिठाता है। आवश्यकता होने पर उसके पात्रों में लाकर भिक्षा देता है, उसके भंडक (पात्रों) की प्रत्युपेक्षा करता है। कुपित हुए प्रियबंधु के समान इतर (आनुपारिहारिक) उसकी सारी क्रियाएं मौन भाव से करता है।

३०१०. परिहार तप के दो प्रकार हैं—उद्घात और अनुद्घात। परिहार तप वहन करने के बारे में सुनकर या जानकर भी जो भिक्षु उसके साथ संभोज करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है। प्रस्तुत सूत्रषट्क का सम्बन्ध^१ भी इसी से है अतः उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०११. अपवाद में इन कारणों से संभोज करता हुआ भी साधु शुद्ध है, जैसे—१. साधुवन्दन—साधु किसी दूसरे गच्छ में गए हों और अन्य साधु उन्हें देखकर कहे—अमुक साधु को वन्दना करो। और यह पारिहारिक है—इस जानकारी के अभाव में कोई वन्दना कर ले। २. उभय-ग्लान्य—कदाचित् कल्पस्थित, पारिहारिक एवं आनुपारिहारिक—तीनों इतने बीमार हो जाएं कि भिक्षा आदि के लिए न जा सकें। या गच्छवासी सभी इतने बीमार हो जाएं कि उन्हें पारिहारिक आदि तीनों की सेवा लेनी पड़े। ३. थेर असती—स्थविर का अर्थ है—आचार्य। कदाचित् आचार्य के लिए भी वैयावृत्य करने वाला कोई साधु न हो। इन परिस्थितियों में भिक्षु—गच्छवासी तथा पारिहारिक आदि तीनों यतनापूर्वक^२ आलापन, प्रतिपृच्छा आदि दसों पदों का समाचरण कर सकते हैं।

१. सूत्रनिपात—सूत्र का सम्बन्ध।

२. यतना—यदि गच्छवासी पारिहारिक भिक्षु के लिए भिक्षा लाते हैं तो वे उसके पात्रों में भिक्षा ग्रहण कर कल्पस्थित को देते हैं, कल्पस्थित आनुपारिहारिक को तथा वह पारिहारिक को देता है। यदि पारिहारिक गच्छवासियों को भिक्षा लाकर दे तो वह उनके पात्रों में भिक्षा ग्रहण कर आनुपारिहारिक को देता है, आनुपारिहारिक कल्पस्थित को और कल्पस्थित गच्छवासियों को। इस प्रकार पारिहारिक का अनन्तर सम्बन्ध आनुपारिहारिक से तथा गच्छवासियों का कल्पस्थित से रहता है। यदि यह भी स्थिति न हो तो सभी का वैयावृत्य सभी कर सकते हैं। आचार्य के लिए यदि पारिहारिक भिक्षार्थ जाए तो वह आचार्य के पात्रों में भिक्षा ग्रहण कर पूर्वोक्त क्रम (आनुपारिहारिक—कल्पस्थित—आचार्य) से आचार्य को सौंपे।

३०१२. संथडमसंथडे^१ या^२, णिव्वितिगिच्छे तहेव वितिगिच्छे ।
काले दव्वे भावे, पच्छित्ते मग्गणा होति^३ ॥ २८८८ ॥ नि ६४२ ॥
३०१३. अणुदितमणसंकप्पे^४, 'गवेस-गहणे'^५ य भुंजणे चेव ।
उग्गत ऽणत्थमिते वा^६, अत्थंपत्ते य^७ चत्तारि ॥ २८८९ ॥ नि ६४३ ॥
३०१४. सूरे 'अणुग्गतम्मि उ'^८, अणुदित उदिते य होति संकप्पो ।
'एमेव ऽत्थमितम्मि'^९ वि, एगतरे होति संकप्पो^{१०} ॥ २८९० ॥
३०१५. अणुदितमणसंकप्पे^{११}, 'गवेस-गहणे य'^{१२} भुंजणे गुरुगा ।
अह संकितम्मि भुंजति, दोहि लहू^{१३} उग्गते सुद्धो ॥ २८९१ ॥
३०१६. अत्थंगतसंकप्पे, गवेसणे गहण-भुंजणे गुरुगा ।
अह संकितम्मि भुंजति, दोहि^{१४} लहु ऽणत्थमिते सुद्धो^{१५} ॥ २८९२ ॥
३०१७. उग्गयवित्ती^{१६} मुत्ती^{१७}, मणसंकप्पे य होंति आदेसा ।
एमेव यऽणत्थमिते, धाते^{१८} पुण^{१९} संखडी पुरतो^{२०} ॥ २८९३ ॥

- | | |
|---|---|
| १. सूत्र ३१ (नव १०/२५) । | १२. °सणे गहण (बृभा) । |
| २. वा (मु) । | १३. वि लहु (बृभा) । |
| ३. चूर्णि में इस गाथा के लिए 'इदाणिं णिज्जुत्तीए सुत्तसंगहगाहा' तथा बृहत्कल्पभाष्य ५७८५ की टीका में 'अथ निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है । | १४. दोहि वि (बृभा ५७८७) । |
| ४. °मणुसं (दे) । | १५. दे और पा प्रति में ३०१५ और ३०१६—ये दोनों गाथाएं नहीं हैं । |
| ५. गहण गवेसी (बृभा ५७९०) । | १६. उग्गए सूरिए जस्स वित्ती सो उग्गयवित्ती । आदेसंतरेण वा उग्गयमुत्ती भण्णइ (चू) । |
| ६. या (बृभा) । | १७. उग्गताए आइच्चमुत्तीए जस्स वित्ती सो उग्गयमुत्ती भण्णति अहवा, ...उग्गए आइच्चे वित्तिणिमित्तं जस्स चेद्वृत्ति, सो उग्गयमुत्ती भण्णति (चू) । |
| ७. वि (बृभा) । | १८. धायं ति वा सुभिक्खं ति वा एगट्टं (चू) । |
| ८. °तम्मिं (बृभा ५७८९), अणुट्टियम्मिं (क, पा), °म्मी (दे) । | १९. पुणसद्दग्गहणाओ अत्थमिए वा पच्छसंखडीसंभवो भवे (चू) । |
| ९. एवं अत्थं (बृभा) । | २०. बृभा ५७८८ । |
| १०. निस्संको (बृभा) । | |
| ११. अणुग्गयं (बृभा ५७८६) । | |

३०१२. इस गाथा में सूत्र चतुष्टयी (सूत्र ३१-३४) के चारों विकल्पों का वर्णन किया गया है—भिक्षु उद्गतवृत्ति अनस्तमित मनःसंकल्प होता है—सूर्योदय के पश्चात् सूर्यास्त पूर्व तक उसका आहार की गवेषणा आदि व्यापार चलता है। वह संधड—समर्थ/तृप्त तथा असंधड—असमर्थ/अतृप्त दो प्रकार का होता है तथा सूर्योदय एवं सूर्यास्त के विषय में भी उसकी दो चित्तवृत्तियां—संदेह और निश्चय संभव है। इन चारों अवस्थाओं में प्रायश्चित्त की मार्गणा करते समय काल, द्रव्य एवं भाव के आधार पर भंगनिरूपण करके विचार किया जाता है।^१

३०१३. उपर्युक्त आठ-आठ भंगों में अनुदितमनःसंकल्प के चार भंग—प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ एवं अष्टम परस्पर अविरुद्ध हैं, अतः घटित होते हैं। शेष भंगों में जहां मध्यम पदों—गवेषणा या ग्रहण में एक या दोनों में उदित है तथा अन्तिम—भोजन पद में अनुदित, वे भंग परस्पर विरोधी हैं, अतः शेष चार घटित नहीं होते। यही स्थिति क्रमशः उदितमनःसंकल्प, अस्तमित मनःसंकल्प और अनस्तमित मनःसंकल्प में ज्ञातव्य है। जहां मध्यम एक या दो पदों में अस्तमित पद है तथा अन्तिम में अनस्तमित—वे भंग परस्पर विरोधी होने से अग्राह्य हैं। (इस प्रकार चारों ही अष्टभंगियों में तीसरा, पांचवां, छठा और सातवां भंग अग्राह्य हैं।)

३०१४. सूर्य के उदित न होने पर भी साधु का संकल्प अनुदित और उदित दोनों प्रकार का हो सकता है। उसी प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर भी उसका संकल्प अस्तमित या अनस्तमित दोनों प्रकार का हो सकता है। यही स्थिति सूर्य के उदित होने पर तथा अस्त न होने पर हो सकती है। (सूर्य उदित न हो, फिर भी साधु को यह निश्चय हो जाए कि सूर्य उदित हो गया—यह अनुदित में उदितमनःसंकल्प है।)

३०१५. साधु को यह निश्चित हो कि सूर्य उदित नहीं हुआ (चाहे आकाश में सूर्योदय हो जाए) यदि वह आहार की गवेषणा, ग्रहण या भोग करता है तो प्रत्येक में उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि उसे सूर्योदय में शंका है, फिर भी आहार का भोग करता है तो तप और काल से लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सूर्य उदित हो गया—इस निश्चय के साथ आहार की गवेषणा, ग्रहण एवं भोग करने वाला साधु निर्दोष है।

३०१६. साधु को विश्वास हो कि सूर्यास्त हो गया (चाहे सूर्यास्त हो या न हो) फिर भी वह आहार की गवेषणा, ग्रहण या भोग करता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि सूर्यास्त की शंका होने पर भी वह आहार का भोग करता है तो तप और काल से लघुप्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा सूर्यास्त नहीं हुआ, इस निश्चय के साथ आहार की गवेषणा आदि करने वाला साधु निर्दोष है।

३०१७. उद्गत वृत्ति के विषय में एक अन्य आदेश उद्गतमूर्ति भी हो सकता है।^२ इसी प्रकार मनःसंकल्प एवं अनस्तमित के विषय में भी दो आदेश प्राप्त होते हैं।^३ धात का अर्थ है सुभिक्ष। सुभिक्ष होने पर पुरःसंखड़ी और पश्चात्संखड़ी संभव है—सूर्योदय से पूर्व तथा पूर्वाह्न में होने वाला जीमनवार पुरसंखड़ी तथा मध्याह्न के बाद तथा सूर्यास्त होने पर होने वाला जीमनवार पश्चात्संखड़ी है।

१. प्रस्तुत संदर्भ में भंग रचना की चतुष्पदी है—अनुदित मनः संकल्प, अनुदित गवेषा, अनुदित ग्राही और अनुदित भोजी। इसका प्रतिपक्ष है—उदितमनःसंकल्प, उदितगवेषा, उदितग्राही और उदितभोजी। इनके सांयोगिक भंग आठ हो जाते हैं। विस्तार हेतु देखें गा. ३०१८-२५ का अनुवाद।

२. उद्गत का अर्थ है—सूर्योदय के पश्चात् जिसका जीवन व्यवहार होता है वह (भिक्षु) उद्गतवृत्ति कहलाता है। मूर्ति का अर्थ है—शरीर—सूर्य की मूर्ति (सूर्यमण्डल) के उदय होने पर जिसकी वृत्तिनिमित्तक चेष्टा होती है, वह उद्गतमूर्ति कहलाता है।

३. मनःसंकल्प के विषय में भी दो आदेश प्राप्त हैं—१. सूर्योदय न हो, तब भी भिक्षु उदित मनःसंकल्प वाला हो या अनुदित मनःसंकल्प वाला हो। २. सूर्योदय होने पर भी भिक्षु उदितमनःसंकल्प या अनुदितमनःसंकल्प वाला हो। इसी प्रकार अस्तमित और अनस्तमित में भी दोनों मनःसंकल्प संभव हैं। सूर्योदय हुआ हो या नहीं, यदि भिक्षु उदितमनःसंकल्प वाला होकर आहार आदि की गवेषणा करता है, वह प्रायश्चित्तभाक् नहीं, निर्दोष है। इसी प्रकार सूर्यास्त हो गया हो या नहीं, यदि भिक्षु अनस्तमितमनःसंकल्प वाला है तो उसे आहार की गवेषणा आदि से प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता।

३०१८. अणुदितमणसंकप्पे, गवेस-गह-भोयणम्मि पढमलता ।
बितियाएँ तिसु असुद्धा, उग्गयभोई उ अंतिमगो^{११} ॥ २८९४ ॥
३०१९. ततियाएँ^२ दो असुद्धा, गहणं भोई य दोण्णि 'वी सुद्धा'^३ ।
संकप्पम्मि असुद्धा, तिसु^४ सुद्धा अंतिमलता तु ॥ २८९५ ॥
३०२०. उग्गतमणसंकप्पे, अणुदितएसी^५ य गहण भोगी य^६ ।
एमेव य बितियलता, सुद्धा आदिम्मि^७ अंते य ॥ २८९६ ॥
३०२१. 'ततियलताएँ गवेसी, होति असुद्धो उ सेसगा सुद्धा'^८ ।
'चत्तारि वि होंति पया'^९, चउत्थलतिगा उदियचित्ते^{१०} ॥ २८९७ ॥
३०२२. अत्थंगतसंकप्पे, पढमधरेंतेसि गहण-भोगी य ।
दोसंतेसु असुद्धा, बीया^{११} मज्झे हवइ^{१२} सुद्धा ॥ २८९८ ॥
३०२३. ततिया गवेसणाए, होति विसुद्धा उ तीसु अविस्सुद्धा ।
चत्तारि वि होंति पदा, चउत्थलइगाएँ अत्थमिते^{१३} ॥ २८९९ ॥
३०२४. अणत्थंगतसंकप्पे, 'पढमा एसी'^{१४} य गहण भोगी य ।
मण एसि गहणसुद्धा, बितिया अंतम्मि अविस्सुद्धा^{१५} ॥ २९०० ॥
३०२५. मणएसणाएँ सुद्धा, ततिया 'गहभोयणे य'^{१६} अविस्सुद्धा ।
संकप्पे नवरि सुद्धा, तिसु वि असुद्धा उ अंतिमगा ॥ २९०१ ॥
३०२६. पढमाए बितियाए, ततिय-चउत्थीय णवम-दसमीए^{१७} ।
एक्कारसि बारसीएँ, लताएँ चतुरो अणुग्घाता^{१८} ॥ २९०२ ॥

१. बृभा ५७९१ ।

२. °यादि (दे) ।

३. उ विसुद्धा (बृभा ५७९२) ।

४. × (भ) ।

५. °त गवेसी (बृभा ५७९३) ।

६. या (भ) ।

७. आयम्मि (भ) ।

८. ततिया गवेसणाते, होइ विसुद्धा उ तीसु अविस्सुद्धा (क) ।

९. सव्वविसुद्धा उ भवे (बृभा ५७९४) ।

१०. अत्थमिते (क) ।

११. बितिया (बृभा ५७९५) ।

१२. भवे (बृभा) ।

१३. बृभा ५७९६, गा. ३०२०-२२—ये तीनों गाथाएं दे प्रति में नहीं हैं ।

१४. पढमंतेसि (दे) ।

१५. बृभा ५७९७ ।

१६. गहणभो° (भ), °णेषु (बृभा ५७९८) ।

१७. °माए (भ) ।

१८. बृभा ५७९९ ।

३०१८-२५. प्रस्तुत आठ गाथाओं में भाष्यकार ने सोलह लताओं में अनुदितमनःसंकल्प, अनुदितगवेषी, अनुदितग्राही और अनुदितभोजी इत्यादि सोलह भंगों का निरूपण किया है—

१. अनुदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी
२. अनुदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी अनुदितग्राही उदितभोजी
३. अनुदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी
४. अनुदितमनःसंकल्प उदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी
५. उदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी
६. उदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी अनुदितग्राही उदितभोजी
७. उदितमनःसंकल्प अनुदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी
८. उदितमनःसंकल्प उदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी
९. अस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी
१०. अस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अस्तमितभोजी
११. अस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अस्तमितग्राही अस्तमितभोजी
१२. अस्तंगतमनःसंकल्प अस्तमितगवेषी अस्तमितग्राही अस्तमितभोजी
१३. अनस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी
१४. अनस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अस्तमितभोजी
१५. अनस्तंगतमनःसंकल्प अनस्तमितगवेषी अस्तमितग्राही अस्तमितभोजी
१६. अनस्तंगतमनःसंकल्प अस्तमितगवेषी अस्तमितग्राही अस्तमितभोजी

उपर्युक्त लताओं में पहली में चारों पद, दूसरी में प्रथम तीनों, तीसरी में प्रथम दोनों तथा चौथी में पहला पद अशुद्ध है। उदितमनः संकल्प वाली चार लताओं में पहली में प्रथम, दूसरी में प्रथम व अन्तिम, तीसरी में द्वितीय को छोड़कर तीनों तथा चौथी में चारों पद शुद्ध हैं। अग्रिम चार में पहली में प्रथम, दूसरी में प्रथम व अन्तिम, तीसरी में द्वितीय को छोड़कर तीनों तथा चौथी में चारों पद अशुद्ध हैं। अग्रिम चार लताओं (१३-१६) में पहली में चारों, दूसरी में प्रथम तीनों, तीसरी में प्रथम दोनों तथा चौथी में प्रथम पद शुद्ध है।

३०२६. उपर्युक्त लताओं में क्रमशः पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं तथा बारहवीं लता—ये आठ लताएं अशुद्ध हैं। इनका प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरु। अनुदितमनःसंकल्प वाली लताओं में तप और काल से विशेषित चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०२७. पंचम-छस्सत्तमिगा, अट्टमिगा तेर^१ चोदसमिया^२ य।
पण्णरस सोलसी^३ वि य, लतातो एता विसुद्धाओ ॥२९०३॥
३०२८. दोण्ह वि कतरो गुरुगो, अणुग्गतत्थमिय भुंजमाणानं।
आदेस दोण्णि काउं, अणुग्गते लहु-गुरू इतरे^४ ॥२९०४॥
३०२९. गविसण^५ गहिते आलोय^६, णमोक्कार भुंजणे य संलेहे।
सुद्धो विगिंचमाणो, अविगिंचण 'होतिमा सोधी'^७ ॥२९०५॥
३०३०. 'संलेह पण तिभागे, अवड्ड दोभाग पंच'^८ मोत्तु भिक्खुस्स।
मास चतु छच्च लहु-गुरु, अभिक्खगहणे तिसू मूलं^९ ॥२९०६॥
३०३१. एमेव गणायरिए, अणवट्टप्पो य होंति पारंची।
तम्मि वि सो चेव गमो, भावे पडिलोम वोच्छामि^{१०} ॥२९०७॥
३०३२. पणहीण^{११} तिभागद्धे, तिभागसेसे य पंच मोत्तु संलेहे।
तम्मि^{१२} वि सो चेव गमो, नातं पुण पंचहि गतेहिं ॥२९०८॥
३०३३. एमेवऽभिक्खगहणे, भावे ततियम्मि भिक्खुणो मूलं।
एमेव गणायरिए, सपया सपदं 'पदं हसति'^{१३} ॥२९०९॥

१. तेरस (भ)।

२. वा दसमि^० (क)।

३. सोलसा (बृभा ५८००)।

४. बृभा ५८०१।

५. गेण्हण (भ, बृभा ५८०२)।

६. °यण (बृभा)।

७. सोहि दव्व भावे य (बृभा)।

८. संलेहा तिण्णि लंबणा, अणुग्गते अत्थमिते वा संलेहसेसं
णाउं भुंजति, पंचलंबणसेसं वा जति भुंजति। भागो त्तितिभागो, दसलंबणा जति ते भुंजति। अवड्डं अद्धं, पण्ण-
रसलंबणा ते सव्वं जति भुंजति। दो भागं त्ति दोण्णि भागा
वीसं लंबणा। तीसाए पंच मोत्तुं सेसा पणवीसं ते जति
भुंजति (चू)।

९. बृभा ५८०३

१०. बृभा ५८०४।

११. पंचूण (बृभा ५८०५)।

१२. तिण्णि (दे)।

१३. °हुसति (क), हसति इक्कं (बृभा ५८०६)।

३०२७. शेष आठ लताएं पांचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शुद्ध लताएं हैं, इनमें प्रायश्चित्त नहीं।

३०२८. शिष्य—एक साधु अनुदितमनःसंकल्प वाला है तथा दूसरा अस्तमितमनःसंकल्प वाला—दोनों में गुरुतर प्रायश्चित्त का भागी कौन? गुरु—यहां दो अपेक्षाएं हैं—एक अपेक्षा के अनुसार अनुदित-मनःसंकल्प वाले भिक्षु से अस्तमितमनःसंकल्प वाला गुरुतर दोषभाक् है।^१ दूसरी अपेक्षा (आदेश) के अनुसार अस्तमितभोजी से अनुदितभोजी गुरुतर दोषभाक्^२ है। स्थितपक्ष के अनुसार अनुदितमनःसंकल्प वाला भिक्षु लघु प्रायश्चित्ती तथा अस्तमितमनःसंकल्प वाला भिक्षु गुरु प्रायश्चित्तभाक् है।

३०२९. साधु आहार की गवेषणा करने लगे, उस समय अनुदित या अस्तमित सूर्य का ज्ञान कर लौट जाए, तब भी शुद्ध है। इसी प्रकार वह आहार ग्रहण कर ले, गुरु के सम्मुख आलोचना कर ले, नमस्कार मंत्र पूर्वक आहार करने के लिए तैयार हो जाए, खाना प्रारम्भ कर दे और सम्पूर्ण खा लेने के बाद उसके अवशिष्ट लेप को चाटकर साफ कर ले—इनमें से किसी भी क्रिया के मध्य जहां उसे ज्ञात हो कि सूर्य उदित नहीं हुआ या अस्त हो गया, वहीं उस क्रिया से विरत हो जाए तथा जो गृहीत या भुक्तावशिष्ट हो उसका विवेक—परिष्ठापन कर दे तो वह शुद्ध है। यदि ज्ञात होने के बाद भी वह आहार का ग्रहण, भोग आदि करता है तो उसकी शोधि—प्रायश्चित्त इस प्रकार है—

३०३०. संलेह का द्रव्य परिमाण है—तीन कवल। कोई भिक्षु अनुदित सूर्य या अस्तमित सूर्य का ज्ञान होने के बाद यदि क्रमशः तीन कवल, पांच कवल, भाग— तीसरा भाग (दस कवल), अपार्द्ध—अर्ध भाग (१५ कवल), दो भाग (२० कवल), पांच रहित (२५ कवल) जितना आहार करता है, उसे क्रमशः मासलघु, मासगुरु, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु और षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अभीक्षण आसेवन—दूसरी बार मासगुरु से छेद तक तथा तीसरी बार चतुर्लघु से मूल तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०३१. यही क्रम गणी (उपाध्याय) एवं आचार्य के लिए ज्ञातव्य है। केवल उनका प्रायश्चित्त क्रमशः मासगुरु एवं चतुर्लघु से प्रारम्भ होकर अनवस्थाप्य एवं पारांचित में सम्पन्न होता है। इस प्रकार द्रव्यनिष्पन्न प्रायश्चित्त में वही विधि है, जितनी—जितनी द्रव्यवृद्धि, उतनी—उतनी प्रायश्चित्तवृद्धि। भावनिष्पन्न प्रायश्चित्त इससे प्रतिलोम होता है—द्रव्य हानि के साथ-साथ प्रायश्चित्त वृद्धि होती जाती है क्योंकि स्वल्प, स्वल्पतर के लिए वह गृह्य होता है। इसका कथन आगे करूंगा—

३०३२, ३०३३. भावनिष्पन्न प्रायश्चित्त में भी वही विधि ज्ञातव्य है, जो द्रव्यनिष्पन्न प्रायश्चित्त में है। भेद केवल इतना है कि—भिक्षु को पांच कवल खा लेने के बाद ज्ञात हो कि सूर्योदय नहीं हुआ या सूर्यास्त हो गया तो शेष पच्चीस कवल खाने पर उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार क्रमशः बचे हुए बीस कवल, पन्द्रह कवल, दस कवल, पांच कवल और संलेह (तीन कवल) खाने पर भिक्षु को मासगुरु, चतुर्लघु यावत् षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अभीक्षण आसेवन से दूसरी बार में छेद, तीसरी बार में मूल, इसी विधि से उपाध्याय को अनवस्थाप्य और आचार्य को पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, दोनों में क्रमशः एक-एक पद—मासलघु और मासगुरु का हास हो जाता है। (ये प्रायश्चित्त उन्हें प्राप्त नहीं होते।) शेष—भिक्षार्थ पदभेद (जाना प्रारम्भ करने) से लेकर भिक्षाग्रहण पर्यन्त प्रायश्चित्त विवेक है, तप नहीं।

१. अस्तमितमनःसंकल्प वाला अधिक दोषी है। इसके तीन हेतु हैं— १. संक्लिष्ट परिणाम। २. पूरे दिन आहार का भोग।

३. अविशुद्धयमान काल।

२. अनुदितभोजी अधिक दोषी है क्योंकि वह थोड़े काल के लिए भी भूख नहीं सह पाता जबकि अस्तमितभोजी के लिए पूरी रात भूख सहने का प्रश्न है।

३०३४. संथडिओ^१ संथरंतो, संततभोजी व^२ होति नातव्वो ।
पज्जत्तं अलभंतो, असंथडी छिण्णभत्तो वा ॥ २९१० ॥
३०३५. नीसंकमणुदितो^३ ऽतिच्छित्तो व सूरौ त्ति गेण्हती जो उ ।
उदित धरेंते^४ वि हु सो, लग्गति अविमुद्धपरिणामो ॥ २९११ ॥
३०३६. एमेव य उदितो त्ति य^५, धरति त्ति व सोढमुवगतं जस्स ।
स विवज्जते विमुद्धो, विमुद्धपरिणामसंजुत्तो ॥ २९१२ ॥
३०३७. समि-चिंचिणिगादीणं^६, पत्ता पुप्फा य नलिणिमादीणं ।
उदयत्थमणं रविणो, कहेति विगसंत मउलेत्ता^७ ॥ २९१३ ॥
३०३८. अब्भ-हिम-वास-महिगा, महागिरी राहु रेणु रयछण्णो ।
मूढ-दिसस्स व बुद्धी, चंदे गेहे व तेमिरिए^८ ॥ २९१४ ॥
३०३९. सुत्तं पडुच्च गहिते, नातुं^९ इहरा तु सो ण भुंजंतो^{१०} ।
जो पुण भुंजति^{११} नातुं, 'पडुच्च तं सुत्तमेतं तु'^{१२} ॥ २९१५ ॥
३०४०. सव्वस्स छडुण विगिंचणा उ मुह-हत्थ-पादछूढस्स ।
फुसण धुवणा विसोधण, स किंचि बहुसो य णाणत्तं^{१३} ॥ २९१६ ॥
३०४१. नातिक्कमते^{१४} आणं, धम्मं मेरं व रातिभत्तं^{१५} वा ।
अत्तट्टेगागी वा, सय भुंजे 'देज्ज वा इतरे'^{१६} ॥ २९१७ ॥
३०४२. एवं^{१७} वितिगिच्छे वी, दोहि लहू नवरि ते तु तवकाले ।
तस्स पुण हवंति लता, अट्ट असुद्धा न इतराओ^{१८} ॥ २९१८ ॥

१ भत्तपाणं पज्जत्तं लभंतो संथडो भण्णति (चू) ।

२. य (दे, पा) ।

३. निस्सं (दे, पा, बृभा ५८०८) ।

४. चरेंते (मु) ।

५. व (बृभा ५८०९) ।

६. णिमादीणं (बृभा ५८१०) ।

७. मउल्लंता (बृभा) ।

८. बृभा ५८११ ।

९. णातं (मु, पा) ।

१०. गेण्हंतो (बृभा) ।

११. गिण्हति (बृभा) ।

१२. तस्सेगट्टाणं वड्डे (बृभा ५८१२) ।

१३. बृभा ५८१३ ।

१४. 'मती (बृभा), 'मइ (भ) ।

१५. रातियं भत्तं (पा) ।

१६. सेस देज्जा वी (बृभा ५८१४) ।

१७. सूत्र ३२ (नव १०/२६) ।

१८. बृभा ५८१५ ।

३०३४. संस्तुत (संथड या संथडिअ) के दो अर्थ ज्ञातव्य हैं—१. पर्याप्त भक्तपान मिलने से जिसका निर्वाह आसानी से हो रहा है। २. जो सततभोजी—प्रतिदिन आहार करने वाला है। इसी प्रकार असंस्तुत—असमर्थ के भी दो अर्थ हैं—१. जिसे पर्याप्त भक्तपान की उपलब्धि न हो, २. जो छिन्नभक्त हो—उपवास आदि तपस्याओं के कारण सततभोजी न हो।

३०३५. निर्विचिकित्सित का अर्थ है—संदेह रहित। सूर्योदय होने या सूर्यास्त होने पर भी जिसके चित्त में यह स्थिर हो, स्पष्ट निर्णय हो कि सूर्योदय नहीं हुआ या सूर्यास्त हो गया तो अपने अविशुद्ध परिणाम के कारण वह प्रायश्चित्त का पात्र है।

३०३६. जिसके चित्त में यह निःसंदिग्ध^१ हो कि सूर्योदय हो गया अथवा सूर्यास्त नहीं हुआ तो वह विपरीत अवस्था में भी (सूर्योदय न हो या सूर्यास्त हो जाए तब भी) भिक्षाचर्या करता हुआ शुद्ध है क्योंकि उसके परिणाम विशुद्ध हैं।

३०३७. शमीपत्र, इमली के पत्ते आदि पत्र तथा कमल आदि के पुष्प विकसित होते हुए और मुकुलित होते हुए क्रमशः सूर्योदय एवं सूर्यास्त का कथन करते हैं—सूचित करते हैं।

३०३८. कदाचित् आकाश मेघपटली, हिमनिकर (हिमानी), वर्षा, मिहिका (ओस) आदि से आच्छादित हो, पूर्वदिशा किसी महान् पर्वत से व्यवहित हो, सूर्य का सम्पूर्ण राहूग्रास हो गया हो, आकाश धूलकणों या रजों से आच्छादित हो तो आदित्य के उदित या अस्तमित होने का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार कदाचित् कोई दिग्मूढ भिक्षु पश्चिम को पूर्व मान कर, अस्ताचल की ओर जाते सूरज को उदीयमान समझ ले, कारणवश गृह के आभ्यन्तरवर्ती भाग में दिन में सोया हो और शाम को शुभ्र ज्योत्स्ना को देख उसे सूर्योदय के प्रकाश का भ्रम हो जाए या तिमिर रोगी को सम्यक् दिखाई न दे तो उदित के विषय में अनुदित और अस्तमित के विषय में अनस्तमित मनःसंकल्प—निर्णय हो सकता है।

३०३९. जिसने सूत्रप्रामाण्य से आहार ग्रहण किया—उद्गतवृत्ति तथा अनस्तमित मनःसंकल्प वाला भिक्षु समर्थ एवं असंदिग्ध अवस्था में आहार ग्रहण करे, इसमें दोष नहीं—ऐसा जानकर आहार का भोग किया, जब अन्यथा ज्ञात हुआ—अनुदित या अस्तमित सूर्य का ज्ञान हुआ तो आहार का भोग नहीं किया—वह शुद्ध है। पर जो अन्यथा ज्ञात होने पर भी आहार का भोग करता है—प्रस्तुत सूत्र में उस भिक्षु के लिए निषेध एवं प्रायश्चित्त का विधान है।

३०४०. विवेक (विगिंचण) का अर्थ है—मुंह, हाथ और पात्र में डाले गए सम्पूर्ण आहार को स्थंडिल में छोड़ना—परिष्ठापन करना। विशोधन का अर्थ है—आहार के लेप आदि का निश्छोटन—मार्जन करना, धोना (कल्प करना)। अथवा एक बार मार्जन आदि करना विवेक और बार-बार करना विशोधन है।

३०४१. जो भिक्षु उदित सूर्य या अनस्तमित सूर्य के निश्चय पूर्वक आहार करता है, वह आज्ञा (जिनाज्ञा), श्रुतधर्म एवं चारित्रमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता तथा रात्रिभोजन विरमण व्रत का भी उल्लंघन नहीं करता। जो भिक्षु स्वलाभ का अभिग्रह रखता है या कदाचित् एकाकी हो जाता है, वह अपने आहार का अकेला भोग करता है। जो आत्मलाभ का अभिग्रह नहीं रखता एवं संघबद्ध होता है, वह अपने द्वारा लाया हुआ आहार अन्य को भी दे सकता है।

३०४२. जो भिक्षु विचिकित्स—संदिग्ध है। उसके विषय में भी समग्र विधि पूर्वसूत्रवत् ज्ञातव्य है। विशेष केवल इतना है कि उसे प्राप्त होने वाले तपः प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से लघु होते हैं। संदिग्ध अवस्था में आठ शुद्ध विकल्प (लताएं) नहीं होती, अतः केवल आठ लताएं ही होती हैं।

१. निभा ३ चू. पृ. ७४—सोढमिति निस्संदिद्धं।

३०४३. अणुदित-उदितो किह^१ णु हु, संकप्पो उभयओ^२ अदिट्टे उ।
धरति ण व त्ति च सूरु, सो पुण नियमा चउण्हेक्को ॥ २९१९ ॥
३०४४. तव-गेलण्णऽद्धाने^३, तिविधो तु^४ असंथडो^५ विहे तिविधो।
'तवऽसंथडिमीसस्स वि'^६, मासादारोवणा इणमो ॥ २९२० ॥
३०४५. एग-दुग-तिण्णि मासा, चउमासा^७ पंचमास-छम्मासा।
सव्वे वि होंति लहुगा, एगुत्तरवड्डिया जेणं ॥ २९२१ ॥
३०४६. भिक्खुस्स ततियगहणे, सट्टाणं होति दव्वणिप्फण्णे।
भावम्मि उ पडिलोमं, गणि-आयरिए वि एमेव^८ ॥ २९२२ ॥
३०४७. दुविधा उ^९ होति वुड्डी, सट्टाणे चव 'तह य'^{१०} परठाणे।
सट्टाणम्मि उ गुरुगा, परठाणे^{११} लहुग 'भयणा वा'^{१२} ॥ २९२३ ॥
३०४८. एमेव य गेलण्णे, पट्टवणा णवरि तत्थ भिण्णेणं।
चउहिं गहणेहिं सपदं, कस्स^{१३} अगीतत्थसुत्तं तु ॥ २९२४ ॥
३०४९. अद्धानासंथडिए, पवेस मज्झे तहेव उत्तिण्णे।
'मज्झम्मी दसगादी'^{१४}, पवेस उत्तिण्ण पणगादी^{१५} ॥ २९२५ ॥

१. किं (बृभा ५८१६)।

२. °यहा (बृभा), उभय त्ति उदयकाले वा अत्थमणकाले वा (चू)।

३. सूत्र ३३ ३४ (नव १०/२७, २८)।

४. × (दे)।

५. °थडी (बृभा), छट्टऽट्टमादिणा तवेण किलंतो असंथडो, गेलण्णेण वा दुब्बल-सरीरो असंथडो, दीहद्धानेण वा पज्जत्तं अलभंतो असंथडो (चू)।

६. °स्सा (बृभा ५८१७)।

७. °मास (दे)।

८. बृभा ५८१८।

९. बृभा ५८२०, ३०४६ और ३०४७—ये दोनों गाथाएं दे प्रति में नहीं हैं।

१०. य (बृभा ५८१९, पा)।

११. होइ (बृभा)।

१२. सट्टाणवुड्डी णियमा गुरू भवति। जदा मासलहू तो मासं चव सट्टाणं संकमति, तदा विसेसत्थं णियमा मासगुरू संकमति। एवं दुमासलहुतो दुमासगुरू। परट्टाणवुड्डी णाम विसरिसा संखा जहा—मासातो दुमासो, दुमासातो तिमासो एवं जाव पंचमासातो छम्मासो। परट्टाणवुड्डीए लहुतो लहु वा भवति गुरु वा। बितियवाराए दुमासाढत्तं छेदे ठायति, ततियवाराए तिमासलहुतो आढत्तं मूले ठायति.... (चू)।

१३. गुरुगा वा (बृभा)।

१४. कास (बृभा ५८२१)।

१५. °म्मि दसगवुड्डी (बृभा ५८२२)।

१६. पणएणं (बृभा)।

३०४३. उभय का अर्थ है—सूर्योदय और सूर्यास्तकाल। अभ्र आदि पूर्वप्रज्ञप्त (गा. २९१४) कारणों से जब सूर्य दिखाई नहीं देता, तब दोनों ही कालों में शंका (संदेह) संभव है—सूर्य उदय हुआ या नहीं तथा सूर्य आकाश में है या नहीं (अस्त हुआ या नहीं)। चारों विकल्पों में नियमतः एक समय में एक होता है। अतः उदय और अस्त दोनों ही विषयों में सन्देह विषयक चार विकल्पों से एक-एक अष्टभंगी बन सकती है—विचिकित्समनःसंकल्प, विचिकित्सगवेपी, विचिकित्सग्राही, विचिकित्सभोजी—इन अष्टभंगियों में पूर्वोक्त विधि से पहला, दूसरा, चौथा और आठवां—ये चार विकल्प ग्राह्य एवं शेष अग्राह्य हैं।

३०४४. असमर्थ भिक्षु के तीन प्रकार हैं—१. तप से असमर्थ, २. ग्लान्य से असमर्थ और ३. अद्धाण में असमर्थ। पुनः अद्धाण (अटवी) में असमर्थ भी तीन प्रकार का होता है^१ तप से असमर्थ एवं मिश्र—विचिकित्स (संदिग्ध) भिक्षु को यह मास, दोमास आदि आरोपणा (प्रायश्चित्त) प्राप्त होती है।^२

३०४५. जो भिक्षु विकृष्ट तप से क्लान्त होकर पारणे के समय आतुरता के कारण अनुदित या अस्त सूर्य को जानता हुआ भी शेष तीन कवल खा लेता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार शेष पांच कवल खाने पर दो मासलघु, दस, पन्द्रह और बीस कवल खाने पर क्रमशः तीन, चार और पांच मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि उसने प्रथम पांच कवल विशुद्धचित्त से खाए, शेष पच्चीस कवल अनुदित या अस्त सूर्य का ज्ञान होने के बाद खाए तो उसे छह लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार चूंकि इनमें एक-एक मास की वृद्धि प्रज्ञप्त है, अतः ये सभी लघु प्रायश्चित्त हैं, ऐसा जानना चाहिए।

३०४६. इस प्रकार द्रव्यनिष्पन्न प्रायश्चित्त में तीसरी बार में स्वस्थान वृद्धि के उपर्युक्त क्रम से भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उपाध्याय एवं आचार्य का प्रायश्चित्त भी इसी प्रकार है। (केवल एक पहले पद का हास होने से क्रमशः अनवस्थाप्य एवं पारांचित में सम्पन्न होता है।) भावप्रायश्चित्त का क्रम प्रतिलोम क्रम से वक्तव्य है। (प्रतिलोम क्रम के लिए द्रष्टव्य गा. ३०३२, ३०३३)

३०४७. वृद्धि के दो प्रकार हैं—स्वस्थान वृद्धि और परस्थान वृद्धि। स्वस्थान प्रायश्चित्त स्वस्थान में संक्रमण करता है, जैसे मासलघु से मासगुरु, दो मासलघु से दो मासगुरु इत्यादि। परस्थान वृद्धि में संख्या विसदृश होती है, जैसे—मास से दोमास, दो मास से तीन मास आदि। अतः स्वस्थान वृद्धि नियमतः गुरु होती है जबकि परस्थान वृद्धि में लघु और गुरु की भजना है—वह लघु भी हो सकती है, गुरु भी।

३०४८. ग्लान्य को असमर्थ के विषय में भी प्रायश्चित्त की प्रस्थापना इसी प्रकार करणीय है। केवल उसमें भिन्न लघुमास से प्रायश्चित्त का प्रारम्भ होता है और भिक्षु को चतुर्थ बार आसेवन में मूल, उपाध्याय को अनवस्थाप्य और आचार्य को सपद—पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शिष्य—प्रस्तुत सूत्र किसके लिए है? आचार्य—प्रस्तुत सूत्र अगीतार्थ के लिए प्रज्ञप्त है, क्योंकि वह करणीय-अकरणीय, यतना-अयतना का सम्यक् ज्ञाता नहीं होता।

३०४९. अटवी में असमर्थ के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. अटवी प्रवेश, २. अटवी मध्य और ३. अटवी उत्तीर्ण। इनमें अटवी मध्य-असमर्थ भिक्षु को प्रायश्चित्त दस रात-दिन के क्रम से तथा उपाध्याय एवं आचार्य को सातवीं बार में क्रमशः अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रवेश और उत्तीर्ण में प्रायश्चित्त पांच रात-दिन से प्रारम्भ होता है।^३

१. अद्धाण-असमर्थ के भेद गा. ३०४९ में प्रज्ञप्त हैं।
२. प्रायश्चित्त के विषय में चूर्णिकार ने पूर्ववत् अष्टभंगियों का निर्देश दिया है। यहां विस्तरभय से उनका पृथक् निरूपण नहीं किया जा रहा है।
३. प्रश्न होता है—अटवी मध्य में जो असमर्थ है, उसे प्रवेश एवं पर्यवसान की अपेक्षा प्रायश्चित्त अधिक क्यों? आचार्य कहते हैं—अटवी में प्रवेश के समय भिक्षु के मन में भय होता है कि

इस अटवी से कैसे निस्तार होगा? और पर्यवसान में वह अटवी पार करते-करते इतने लम्बे काल में भूख, तृषा आदि से पूर्णतः क्लान्त हो जाता है, अतः दोनों अवस्थाओं प्रायश्चित्त कम है। अटवी मध्य में आते-आते उसका पूर्वोक्त भय समाप्त हो जाता है तथा वह इतना अधिक क्लान्त भी नहीं होता। अतः उसे प्रायश्चित्त अधिक प्राप्त होता है।

३०५०. अद्वाण आदि-अंते, पणगादी अट्टहिं भवे चरिमं।
मज्जे दसाहि सत्तहि, भावम्मि विवज्जितो नवरं^१ ॥
३०५१. उग्गतमणुग्गते वा, गीतत्थो कारणे णऽतिक्कमती^२।
दूताऽऽहिंडविहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा^३ ॥ २९२६ ॥
३०५२. दूइज्जंता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा।
असिवादी कारणिगा, चक्के थूभादिया इतरे^४ ॥ २९२७ ॥
३०५३. उवदेस-अणुवदेसा, दुविधा आहिंडगा मुणेत्तव्वा।
विहरंता वि य दुविधा, गच्छगता णिग्गता चेव^५ ॥ २९२८ ॥
३०५४. णिक्कारणिगा ऽणुवदेसिगा य^६ 'लग्गंतऽणुदित अत्थमिते'^७।
गच्छा विणिग्गता वि हु, लग्गे जइ ते करेज्जेवं^८ ॥ २९२९ ॥
३०५५. अहवा तेसिं ततियं, अप्पत्तो ऽणुग्गतो^९ भवे सूरु।
पत्तो य^{१०} पच्छिमं पोरिसिं तु^{११} अत्थंगतो तेसिं ॥ २९३० ॥
३०५६. वितिगिच्छ अब्भसंथड, सत्थो व पधावितो भवे तुरितं।
अणुकंपाए कोई, भत्तेण णिमंतणं कुणति^{१२} ॥ २९३१ ॥
३०५७. भंगासंथडिनिव्वितिगिच्छं^{१३} सोधी तु कालणिप्फण्णा।
चतुलहुगं सव्वे वि हु, उभयगुरू एत्थ पच्छित्ता ॥ २९३२ ॥
३०५८. एमेव चरिमभंगो, णवरं एत्थं हवंति अट्टलता।
उभयलहुगे य^{१४} जाणसु, कालादी एत्थ पच्छित्तं^{१५} ॥ २९३३ ॥

१. यह गाथा मुद्रित भाष्य में प्राप्त नहीं है, लेकिन सभी हस्तप्रतियों में मिलती है अतः हमने इसको भाष्य के मूल क्रमांक के साथ जोड़ दिया है।

२. निक्खमति (दे)।

३. बृभा ५८२३।

४. बृभा ५८२४।

५. बृभा ५८२५।

६. वि (मु, भ)।

७. लग्गंति अणुदितऽत्थं (मु, भ)।

८. बृभा ५८२६।

९. अणुदितो (बृभा ५८२७)।

१०. तु (बृभा)।

११. च (बृभा)।

१२. कुज्जा (बृभा ५८२८)।

१३. मुद्रित भाष्य तथा पा प्रति में गाथा के प्रारम्भ में 'ततिय' शब्द अतिरिक्त लगा है।

१४. स (दे)।

१५. पच्छित्ता (दे)।

३०५०. अटवी के आदि और अन्त में प्रायश्चित्त क्रम पांच दिन रात से प्रारम्भ होकर आठवीं बार में पार्राचित तथा अटवीमध्य में दस दिन से प्रारम्भ होकर सातवीं बार में पार्राचित प्राप्त होता है। केवल भाव प्रायश्चित्त का क्रम इससे विपरीत होता है।

३०५१. अशिव आदि कारणों से गीतार्थ यतनापूर्वक सूर्य के उदय होने पर या उदय होने से पूर्व भी आहार आदि की गवेषणा, ग्रहण, भोग आदि करता है तो उससे आज्ञा, धर्म अथवा रात्रि भोजन की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता। अटवी प्रतिपन्न भिक्षु के तीन प्रकार होते हैं—१. परिव्रजन करने वाले, २. भ्रमण करने वाले और ३. विहरण करने वाले। प्रत्येक के प्रतिपक्ष-सहित—कारणिक एवं निष्कारणिक आदि दो-दो भेद होते हैं।

३०५२. परिव्रजन करने वाले भिक्षु दो प्रकार के होते हैं—निष्कारणिक और कारणिक। जो अशिव, अवमौदरिका आदि आपवादिक कारणों अथवा गच्छ हेतु उपधि, लेप आदि का उत्पादन करने के लिए परिव्रजन करते हैं, वे कारणिक कहलाते हैं। जो धर्मचक्र, मथुरा का देवनिर्मित स्तूप, तीर्थकरों की जन्मभूमियां आदि देखने के प्रयोजन से परिव्रजन करते हैं, वे निष्कारणिक कहलाते हैं।

३०५३. आहिंडक—देशभ्रमण करने वाले भिक्षु के दो भेद होते हैं—उपदेश आहिंडक और अनुपदेश आहिंडक। भावी आचार्य को सूत्रार्थ का ग्रहण करने के पश्चात् अनेक देशों के आचार, भाषा आदि का अध्ययन करने के लिए देशाटन करना चाहिए—इस उपदेश के आधार पर देशाटन करने वाले उपदेश आहिंडक तथा कौतुक (कुतूहल) के कारण देशाटन करने वाले अनुपदेश आहिंडक कहलाते हैं। विहरमाण भिक्षु के पुनः गच्छगत एवं गच्छनिर्गत दो प्रकार हो जाते हैं।^१

३०५४. निष्कारण दूइज्जमाण (परिव्रजन करने वाले), अनुपदेश आहिंडक और अविधि निर्गत भिक्षु यदि सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के बाद आहार का ग्रहण, भोग आदि करते हैं तो निश्चित रूप से प्रायश्चित्तभाक् होते हैं। सकारण परिव्रजन करने वाले, उपदेश आहिंडक तथा गच्छगत भिक्षु यदि कारण-विशेष से यतना पूर्वक सूर्योदय पूर्व या सूर्यास्तपश्चात् आहार ग्रहण आदि करें तो प्रायश्चित्त नहीं लगता। गच्छनिर्गत यदि अनुदित, अस्तमित सूर्य में आहार ग्रहण करें तो उन्हें प्रायश्चित्त लगता है।^१

३०५५. गच्छ से निर्गत—जिनकल्पिक भिक्षुओं के लिए यह विशेष विधान है कि जब तक सूर्य तीसरी प्रहर को प्राप्त न हो, तब तक वह अनुद्गत कहलाता है तथा पश्चिम—चौथी प्रहर को प्राप्त होने पर अस्तंगत। इस प्रकार उनका आहार तथा विहार नियमतः तीसरी प्रहर में ही होता है।

३०५६. १. आकाश बादलों से आच्छादित हो अथवा २. कोई भिक्षु अटवी में सार्थ के साथ जा रहा हो, सामने से कोई दूसरा सार्थ मिले। उस सार्थ में से किसी श्राद्ध आदि ने अनुकम्पा के कारण भक्तपान के लिए भिक्षु को निर्मन्त्रित किया। वह सार्थ सूर्योदय की वेला में प्रस्थान करने वाले हो—इन कारणों से शंका (संदेह) में आहार ग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

३०५७, ३०५८. तृतीय भंग—असमर्थ निर्विचिकित्सा युक्त (संदेह रहित) भिक्षु को कालनिष्पन्न प्रायश्चित्त के रूप में सर्वत्र चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, केवल वे तप और काल दोनों दृष्टियों से गुरु होते हैं। चौथा भंग—असमर्थ संदेहयुक्त भिक्षु का है। इसमें पूर्वोक्त विधि से आठ लताएं होती हैं। विशेष केवल इतना है कि इसमें प्राप्त होने वाला कालनिष्पन्न आदि प्रायश्चित्त उभयतः—तप और काल से लघु होता है।

१. गच्छगत भिक्षु ऋतुबद्धकाल में प्रतिमास विहरण करते हैं। गच्छनिर्गत भिक्षु के दो प्रकार हो जाते हैं—१. विधिनिर्गत—जिनकल्पिक आदि। २. अविधिनिर्गत—बहिर्भूत असहिष्णु भिक्षु।

२. विधिनिर्गत भिक्षु त्रिकालविषयक ज्ञान से युक्त होते हैं, अतः वे नियमतः सूर्योदयपूर्व एवं सूर्यास्त पश्चात् आहार का ग्रहण एवं भोग नहीं करते।

३०५९. उद्दरे^१ वमिता, आइयणे पणगवुड्ढि^२ जा तीसा।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं च भिक्खुस्स^३ ॥ २९३४ ॥ नि ६४४ ॥
३०६०. गणि-आयरिए सपदं, एगगहणे वि^४ गुरुग आणादी।
मिच्छत्तऽमच्चबडुगे, विराधणा तस्स वऽण्णस्स^५ ॥ २९३५ ॥ नि ६४५ ॥
३०६१. एवं ताव दिवसतो^६, रत्तिं^७ सिस्थे वि चतुगुरू होंति।
उद्दरगहणा पुण, अववाए कप्पते ओमे ॥ २९३६ ॥
३०६२. रातो व दिवसतो वा, उग्गाले कत्थ संभवो होज्जा ?
गिरिजण्णसंखडीए, अट्टाहिय तोसलीए वा^८ ॥ २९३७ ॥
३०६३. अद्धाने वत्थव्वा, पत्तमपत्ता 'दुहा य अद्धाने'^९।
पत्ता य संखडिं^{१०} जे, जतणमजतणाए ते दुविधा ॥ २९३८ ॥ नि ६४६ ॥
३०६४. वत्थव्वजतणपत्ता, एगगमा 'दो वि'^{११} होंति णातव्वा^{१२}।
अजतणवत्थव्वा वि य, संखडिपेही तु एगगमा ॥ २९३९ ॥
३०६५. तत्थेव गंतुकामा, वोलेउमणा व तं उवरिएणं।
पदभेद अजतणाए, पडिच्छ-उव्वत्त सुतभंगे^{१३} ॥ २९४० ॥
३०६६. संखडिमभिधारेत्ता^{१४}, दुगाउगा पत्तभूमिगा होंति।
जोयणमादी अप्पत्तभूमिगा बारस उ जाव^{१५} ॥ २९४१ ॥

१. सूत्र ३५ (नव १०/२९), दुविधा दरा—धण्णदरा पोट्टदरा य; ते उद्दं जाव भरिया, तं उद्दरं भण्णति। पर्यायवचनेन सुभिक्षमित्यर्थः (चू)।
२. °वुड्ढि (भ)।
३. बृभा ५८३०, चूर्णि में इस गाथा के लिए 'इदाणि णिज्जुत्ती' तथा बृभा की टीका में 'सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है।
४. य (क)।
५. बृभा ५८३१।
६. दिवसो (मु)।

७. रातो (बृभा ५८३२)।
८. बृभा ५८३३।
९. य जोअण दुगे य (बृभा ५८३४)।
१०. संखडी (दे)।
११. दोण्णि (क)।
१२. गेयव्वा (बृभा ५८३५)।
१३. बृभा ५८३६।
१४. °भिधारेत्ता (मु)।
१५. बृभा ५८३७।

३०५९. सुभिक्ष के समय किसी भिक्षु ने भरपेट आहार किया। उसे वमन हो गई—उद्गार के साथ निकले हुए अविनष्ट मनोज्ञ भोजन को देखकर वह उसे पुनः खा लेता है—ऐसी स्थिति में एक कवल से पांच कवल तक खाने पर उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी क्रम से पांच-पांच कवल के क्रम से तीस तक वृद्धि करनी चाहिए। कवलवृद्धि के साथ प्रायश्चित्त वृद्धि होती है—दस कवल से चतुर्गुरु, पन्द्रह से षड्लघु, बीस से षड्गुरु तथा इक्कीस से तीस कवल खाने पर भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०६०. गणी—उपाध्याय एवं आचार्य के विषय में प्रायश्चित्त क्रम क्रमशः चतुर्गुरु एवं षड्लघु से प्रारम्भ होकर स्वपद—अनवस्थाप्य एवं पारंचित तक जाता है। प्रायश्चित्त का प्रस्तुत क्रम दिवस विषयक है। यदि रात्रि में एक सिक्थ (कण) भी पुनः निगलता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोष लगते हैं तथा अमात्य एवं बटुक के दृष्टान्त के समान उसकी व अन्य की आत्म-विराधना होती है।^१

३०६१. पांच कवल निगलने पर चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त बताया गया, वह दिन के विषय में प्रज्ञप्त है। रात्रि में तो सिक्थ मात्र भी निगलने का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु होता है। निर्युक्ति गाथा (भाष्य गाथा ३०५९) में जो ऊर्द्धर्वदर—सुभिक्ष शब्द का ग्रहण हुआ है, उससे ज्ञापित होता है कि अपवाद पद में अवमकाल में उद्गार को निगलना विधिसम्मत है।

३०६२. प्रश्न है कि रात अथवा दिन में उद्गार कब संभव है? आचार्य कहते हैं—गिरियज्ञ आदि में होने वाले जीमनवार तथा तोसलीदेश में अष्टाह्निक महिमा वाले उत्सवों में अधिक मात्रा में खाया जाना संभव है, जिससे उद्गार आती है।

३०६३. संखड़ीभोजी साधु दो प्रकार के होते हैं—१. मार्ग प्रतिपन्न तथा २. वास्तव्य। वास्तव्य दो प्रकार के होते हैं—१. संखड़ी-प्रेक्षी और २. संखड़ी-अप्रेक्षी। मार्गप्रतिपन्न साधु के दो प्रकार होते हैं—१. वहीं जाने वाले और २. अन्यत्र जाने वाले। अन्यत्र जाने वालों के दो प्रकार हैं—१. प्राप्तभूमिक—जिस गांव में संखड़ी का आयोजन है, उसके पास से निकलने के इच्छुक हैं किन्तु संखड़ी का आयोजन सुनकर उसके अभिप्राय से आधे योजन दूर से आ जाते हैं। २. अप्राप्तभूमिक—जो संखड़ी के निमित्त एक, दो यावत् बारह योजन दूर से आ जाते हैं। जो वहीं—संखड़ी-ग्राम में जाने वाले हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—१. यतना प्राप्त—सूत्रार्थ पौरुषी करके आने वाले तथा २. अयतना प्राप्त—सूत्रार्थ पौरुषी की हानि करके आने वाले।

३०६४. वे वास्तव्य साधु, जो संखड़ी प्रेक्षी नहीं है तथा वे मार्गप्रतिपन्न साधु, जो वहीं जाने वाले तथा यतना प्राप्त हैं—प्रायश्चित्त चारणिका में दोनों एक गम (समान विधि) वाले होते हैं तथा वहीं जाने वाले अयतना प्राप्त एवं वास्तव्य-संखड़ी प्रेक्षी साधु एक गम वाले होते हैं (उन दोनों की विधि समान है) ऐसा ज्ञातव्य है।

३०६५. जिस गांव में संखड़ी का आयोजन है, मुनि उसी गांव में जा रहे हैं तथा उस के मध्य से गुजरने के इच्छुक होते हुए स्वाभाविक रूप से एक या दो दिन प्रतीक्षा करते हैं तथा सूत्र या अर्थ पौरुषी का भंग कर वहां पहुंचते हैं तो वे अयतना प्राप्त होते हैं। यदि वे सूत्रार्थ पौरुषी का भंग नहीं करते तो यतना प्राप्त होते हैं।

३०६६. जो साधु संखड़ी-ग्राम के पास से जाने वाले हैं और संखड़ी का अभिसंधारण कर दो गव्यूत—आधायोजन दूर रुक जाते हैं और वहां से संखड़ी में भिक्षार्थ आते हैं, वे प्राप्तभूमिक कहलाते हैं। शेष एक योजन से लेकर बारह योजन दूर से संखड़ी में भिक्षार्थ आने वाले साधु अप्राप्तभूमिक कहलाते हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ४९।

२. निभा ३ चू. पृ. ८२—उवरिण ति मञ्जेणं।

३. वोलेउ—गुजरना, अतिक्रमण करना, जाना।

३०६७. खेत्तंतो खेत्तबहिया, अप्पत्ता बाहि जोयणदुगे य ।
चत्तारि अट्ट बारस, ऽजग्ग^१ सुव विगिंचणादियणा^२ ॥ २९४२ ॥
३०६८. वत्थव्वजतणपत्ता, सुद्धा पणगं च भिण्णमासो य ।
तव-कालेसु^३ विसिट्ठा, अजतणमादीसु वि विसिट्ठा ॥ २९४३ ॥
३०६९. तिसु लहुगो गुरु एगो, तीसु य गुरुगो य चउलहू अंते ।
तिसु चतुलहुगा चउगुरु, तिसु चतुगुरु छल्लहू अंते^४ ॥ २९४४ ॥
३०७०. तिसु छल्लहुगा छग्गुरु, तिसु छग्गुरुगा य अंतिमे छेदो ।
छेदादी पारंची, बारसमादीसु^५ तु चउक्कं ॥ २९४५ ॥
३०७१. 'अद्धाणे वत्थव्वा, पत्तमपत्ता य'^६ जोयणदुवे य ।
चत्तारि अट्ट बारस, 'न जग्गसु'^७ विगिंचणादियणे ॥ २९४६ ॥
३०७२. जे पुण संखडिपेही, अजतणपत्ता य तेसि^८ इमा ।
पादोसिय वेरत्तिय, उग्गालविगिंचणातियणे^९ ॥ २९४७ ॥
३०७३. पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुगो य^{१०} पढमतो सुद्धो ।
मासो तवकालगुरू, दोहि वि लहुगो य गुरुगो य ॥ २९४८ ॥
३०७४. लहुगो गुरुगो^{११} मासो, चउरो लहुगा य होति गुरुगा य ।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च^{१२} ॥ २९४९ ॥
३०७५. जह भणित चउत्थस्सा^{१३}, तह इतरस्स पढमे मुणेत्तव्वं ।
पत्ताण होति भयणा, जा जतणा जं तु वत्थव्वे ॥ २९५० ॥

१. न जग्ग (दे) ।

२. बृभा ५८३८ ।

३. कालेहिं (बृभा ५८३९) ।

४. बृभा ५८४० ।

५. °सगादीसु (बृभा ५८४१) ।

६. खेत्तंतो खेत्तबहिया अप्पत्ता बाहि (बृभा ५८४२) ।

७. ऽजग्ग सुव (बृभा) ।

८. गाथा के पूर्वाद्ध में छंदभंग है। यदि 'तेसि' के बाद 'होति'

पाठ हो तो छंद की दृष्टि से मात्राएं ठीक बैठती हैं।

९. दे और पा प्रति में यह गाथा नहीं है। बृभा में भी यह गाथा नहीं है। मुद्रित भाष्य में यह गाथा मिलती है अतः हमने मूल गाथा के क्रमांक में जोड़ दिया है।

१०. उ (बृभा ५८४३) ।

११. × (दे) ।

१२. बृभा ५८४४ ।

१३. °स्स य (भ, बृभा ५८४५) ।

३०६७. संखड़ी का आयोजन सुनकर जो भिक्षु क्षेत्र के अन्दर से या क्षेत्र के बाहर आधे योजन तक की दूरी से आते हैं, वे सब प्राप्तभूमिक हैं। जो क्षेत्र के बाहर से—एक, दो, चार, आठ या बारह योजन से आते हैं, वे अप्राप्तभूमिक हैं। ये सभी संखड़ी में अतिप्रमाण आहार कर लेने के कारण १. प्रदोष काल में जागते नहीं हैं, २. वैरात्रिक वेला में सो जाते हैं, ३. उद्गार आने पर मुंह में आए आहारांश को थूक देते हैं या ४. उसे पुनः निगल जाते हैं—इन चार पदों की आरोपणा—प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं—

३०६८. संखड़ी-अप्रेक्षी वास्तव्य तथा यतना प्राप्त आगन्तुक यदि प्रादोषिक पौरुषी न करें और आचार्य को पूछ कर सोएं तो शुद्ध हैं। यदि वे वैरात्रिक स्वाध्याय भी नहीं करते हैं तो उन्हें तप से लघु, काल से गुरु पांच दिन-रात का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आई हुई उद्गार का परित्याग कर देते हैं तो तपगुरु काललघु भिन्नमास का तथा उसे निगल जाने पर उभयगुरु लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वास्तव्य संखड़ी-प्रेक्षी तथा अयतना प्राप्त आगन्तुक मुनियों को क्रमशः उभयलघु मासलघु, कालगुरु मासलघु, तपगुरु मासलघु तथा उभयगुरु मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०६९, ३०७०. जहां वास्तव्य संखड़ी प्रेक्षी तथा अयतना प्राप्त आगन्तुकों को तीन स्थानों में लघु तथा चतुर्थ स्थान में गुरु मास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वहां अन्यत्र जाने वाले प्राप्तभूमिक मुनियों को प्रथम तीन स्थानों में मासगुरु तथा अन्तिम स्थान में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संखड़ी निमित्त एक योजन से आने वाले अप्राप्तभूमिक मुनियों को प्रथम तीन स्थानों में चतुर्लघु तथा अन्तिम में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी क्रम से क्रमशः दो, चार, आठ एवं बारह योजन से आने वाले अप्राप्तभूमिक मुनियों को चतुर्गुरु और षड्लघु, षड्लघु और षड्गुरु, षड्गुरु और छेद, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—

३०७१-७५.

पुरुषविभाग	प्रदोषे अजागरण	वैरात्रिक स्वपन	उद्गार विवेचन	उद्गार प्रत्यवगिलन
१. यतना प्राप्त आगन्तुक, यतनाकारी वास्तव्य	शुद्ध	पंचक	भिन्न मास	लघुमास
२. अयतना प्राप्त आगन्तुक, अयतनाकारी वास्तव्य	लघुमास	लघुमास	लघुमास	गुरुमास
३. क्षेत्रान्तर्वर्ती प्राप्तभूमिक	गुरुमास	गुरुमास	गुरुमास	चतुर्लघु
४. एक योजन से आगत अप्राप्तभूमिक	चतुर्लघु	चतुर्लघु	चतुर्लघु	चतुर्गुरु
५. दो योजन से आगत अप्राप्तभूमिक	चतुर्गुरु	चतुर्गुरु	चतुर्गुरु	षड्लघु
६. चार योजन से आगत अप्राप्तभूमिक	षड्लघु	षड्लघु	षड्लघु	षड्गुरु
७. आठ योजन से आगत अप्राप्तभूमिक	षड्गुरु	षड्गुरु	षड्गुरु	छेद
८. बारह योजन से आगत अप्राप्तभूमिक	छेद	मूल	अनवस्थाप्य	पारांचित

प्रथम पंक्ति में जो प्रायश्चित्त चतुर्थ स्थान में प्रज्ञप्त है, वही अगली पंक्ति के प्रथम तीनों स्थानों में होता है, यह ज्ञातव्य है। चतुर्थ स्थान में उसका अग्रिम प्रायश्चित्त आता है। जैसे यतना प्राप्त आगन्तुक तथा यतनाकारी वास्तव्य मुनियों को चौथे स्थान में मासलघु है, वही अयतना प्राप्त आगन्तुक एवं अयतनाकारी वास्तव्य मुनियों के प्रथम तीनों स्थान में प्राप्त है। उन्हें चौथे स्थान में अग्रिम प्रायश्चित्त—मासगुरु आता है। केवल अन्तिम पंक्ति में यह क्रम—छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित (भिन्न रूप में) प्रज्ञप्त है।^१

१. भाष्य गाथा ३०७१ एवं ३०७३, ३०७४ में प्रस्तार रचना की विधि का निर्देश है कि बत्तीस घरों में आठ पुरुषों एवं चार प्रकार के प्रायश्चित्तों की स्थापना किस प्रकार करनी है। गा. ३०७२ में द्वितीय पुरुष विभाग का निर्दर्शन है पर इसका अन्तर्भाव गा. ३०७१ में हो जाने से यह अपेक्षित नहीं लगती।

३०७६. एतेण सुत्त ण कतं^१, सुत्तणिवाते इमे तु आदेसा।
लोही य ओमपुण्णा, केइ पमाणं इमं बेत्ति ॥ २९५१ ॥ नि ६४७ ॥
३०७७. तत्तऽत्थमिते गंधे, गलगपडिगते 'तहेव ऽणाभोगे'^२।
एते ण होंति दोण्णि^३ वि, मुहण्णिगत णातुमोगिलणा^४ ॥ २९५२ ॥ नि ६४८ ॥
३०७८. अतिभुत्ते उग्गालो, तेणोमं कुणसु^५ जं न उग्गिलति।
छड्डिज्जति अतिपुण्णा, तत्ता लोही ण पुण ओमा ॥ २९५३ ॥
३०७९. आह^६ जइ ऊणमेवं, तत्तकवल्ले व बिंदुमेगस्स^७।
बित्तिओ न संथरेवं, तं 'भुंजे ससूरे जं जीरे'^८ ॥ २९५४ ॥
३०८०. णिग्गंधो उग्गालो, ततिए गंधो उ एति ण तु सित्थं।
अविजाणगो^९ चउत्थे, पविसति गलगं तु जा पप्प ॥ २९५५ ॥
३०८१. पढमबितिए दिवा^{१०} वी, उग्गालो णत्थि 'किमुत रयणीए'^{११}।
गंधे य पडिगते या, 'एते पुण दो'^{१२} अणादेसा ॥ २९५६ ॥
३०८२. पडुपण्णऽणागते वा^{१३}, 'काले आवस्सगाण'^{१४} परिहाणी।
जेण ण जायति मुण्णिणो, पमाणमेतं तु आहारे^{१५} ॥ २९५७ ॥
३०८३. एवमपि तस्स णियतं, जुत्तपमाणं पि भुंजमाणस्स।
वातस्स व सिंभस्स व, उदए एज्जा तु उग्गालो^{१६} ॥ २९५८ ॥

१. णायं (क), गतं (बृभा ५८४६)।

२. तहा अणा^० (बृभा ५८४८)।

३. दोणह (मु)।

४. बृभा की टीका में इस गाथा के लिए 'संग्रहगाथा' का संकेत है।

५. भुंज (बृभा ५८४७)।

६. भणति (बृभा ५८४९)।

७. °मेत्तस्स (क), बिंदुणासणता (बृभा)।

८. भुंजसु सूरे जं जिज्जे (बृभा)।

९. °जाणंत (बृभा ५८५०)।

१०. दिया (बृभा ५८५१)।

११. किं पुण निसाए (बृभा)।

१२. ते पुण दो वी (बृभा)।

१३. या (भ)।

१४. संजमजोगाण जेण (बृभा)।

१५. बृभा (५८५२) में इस गाथाका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
ण वि जायति तं जाणसु, साहुस्स पमाणमाहारे।

१६. बृभा (५८५३) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

एवं पमाणजुत्तं, अतिरेगं वावि भुंजमाणस्स।

वायादीखोभेण व, एज्जाहि कर्हचि उग्गालो ॥

३०७६. पूर्वोक्त सारे भंग शिष्य के अनुग्रह हेतु प्रज्ञप्त हैं। यहां सूत्र घटित नहीं होता। जहां सूत्रनिपात है, वहां ये आदेश प्राप्त हैं। कढ़ाई को अवम (प्रमाण से न्यून) तथा पूर्ण भरने के दृष्टान्त से कुछ आचार्य आहार का प्रमाण इस प्रकार बताते हैं—

३०७७. पहला आदेश—जिस प्रकार तप्त तवे पर पड़ा बिन्दु तत्काल नष्ट हो जाता है, वैसे ही जो खाते ही पच जाए, उतना मात्र खाना चाहिए। दूसरा—जो सूर्यास्त होने तक पच जाए, उतना आहार करना चाहिए। तीसरा—जिससे गन्धरहित या गन्धसहित उद्गार आए, उतना खाना चाहिए। चौथा—गले तक आई हुई उद्गार अजानकारी पूर्वक पुनः चली जाए, उतना आहार किया जा सकता है। गुरु कहते हैं ये दोनों—१. दिन में भी उद्गार का निषेध करने वाला पहला व दूसरा आदेश तथा २. रात्रि में उद्गार का अनुमोदन करने वाला तीसरा व चौथा आदेश—घटित नहीं होते। सूत्रनिपात उन साधुओं के विषय में है, जो मुख में आई हुई उद्गार को जानता हुआ निगलता है।

३०७८. आचार्य कहते हैं—अतिप्रमाण खाने पर उद्गार निकलती है अतः कम खाओ, जिससे उद्गार न निकले। जैसे किसी कड़ाही में अतिप्रमाण दूध, पानी आदि उबाला जाता है तो उबाल आने पर वह इधर-उधर छलक जाता है तथा आग को भी बुझा देता है, किन्तु उसे यदि कुछ कम भरा जाए तो वह छलकती नहीं। इसी प्रकार यदि प्रमाण से कम खाया जाए तो पाचनकाल में पैदा होने वाली वायु शरीर में सुखपूर्वक विचरण कर पाती है, उद्गार नहीं निकलती।

३०७९-३०८१. गा. ३०७७ (निर्युक्ति गाथा) की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं—नैगमनय का आश्रय लेने वाले कुछ आचार्य कहते हैं—इतना कम आहार करना चाहिए कि तप्त तवे पर पड़े जल बिन्दु के समान तत्काल नष्ट हो जाए—पच जाए। दूसरा मत है—इतने कम से निर्वाह संभव नहीं, अतः इतना कम मात्रा में खाना चाहिए कि सूर्यास्त होने तक पच जाए। तृतीय मत है—इतना आहार करें कि उद्गार तो भले ही आए, गन्ध न आए। चौथा मत है—उद्गार में गन्ध भले ही आए, सिक्थ (आहार कण) न आए। (गन्धविषयक दोनों मतों को एक मानें तो चौथा मत है—) उद्गार में अन्नकण आए भले, पर वह अनाभोगपूर्वक—सहजभाव से पुनः गले में चला जाए। आचार्य कहते हैं—पहला और दूसरा मत अनादेश है क्योंकि इनमें दिन में भी उद्गार की संभावना नहीं, रात की तो बात ही क्या? गन्धादेश (गन्ध सम्बन्धी दोनों मत) तथा पुनः उद्गार निगलने वाला चौथा मत भी अनादेश है क्योंकि वे सूत्र के अभिप्राय से बहिर्भूत हैं—सूत्रानुकूल नहीं।

३०८२. जितना आहार करने पर मुनि के वर्तमानकालीन एवं भविष्यत्कालीन आवश्यक योगों (संयम योगों) की परिहाणि न हो, वह आहार प्रमाणोपेत होता है।

३०८३. इस प्रकार नियत एवं उचित परिमाण में आहार करने पर भी मुनि के वात या श्लेष्म के उदय से उद्गार आ सकती है।

३०८४. जो पुण 'तं अत्थं वा'^१, दवं च णारुण णिग्गतं गिलति ।
तहियं सुत्तणिवातो, तत्थादेसा इमे होंति ॥२९५९॥
३०८५. अच्छे ससित्थ चव्विय, मुहणिग्गत-कवल-भरियहत्थे^२ य ।
अंजलिपडिते दिट्ठे, 'मासादी जाव चरिमं तु'^३ ॥२९६०॥
३०८६. दियरातो लहु-गुरुगा, बितियं रयणसहितेण दिट्ठंतो ।
अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पधावितो तुरियं^४ ॥२९६१॥ नि ६४९ ॥
३०८७. जल-थल-'पहे य'^५ रयणाणुवज्जणं तेण अडविपज्जंते ।
णिक्खणण-फुट्ट-पत्थर, मा मे रयणे हर पलावो ॥२९६२॥
३०८८. घेत्तूण णिसि पलायण, अडवी मडदेहभावितं तिसितो ।
पिबिउं रयणाभागी^६, जातो सयणं समागम्म ॥२९६३॥
३०८९. वणिउव्व साहु-रयणा, 'महव्वया अडवि'^७ ओममादीणि^८ ।
उदगसरिसं च वंतं, तमादितुं रक्खते ताणि ॥२९६४॥
३०९०. दिवसतो^९ अण्णं गेण्हति, असति तुरंते व सत्थे^{१०} 'तं चेव'^{१०} ।
णिसि लिंगेण^{११} ऽण्णं वा, तं चेव सुगंधदव्वं वा ॥२९६५॥
३०९१. सग्गामे^{१२} सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव ।
खेत्तंतो अण्णगामे, खेत्तबहि सगच्छ-परगच्छे^{१३} ॥२९६६॥ नि ६५० ॥
३०९२. सोच्चाण परसमीवे, सयं च णारुण जो गिलाणं तु ।
ण गवेसयती^{१४} भिक्खू, सो पावति आणमादीणि^{१५} ॥२९६७॥ नि ६५१ ॥

१. सभोयणं तं (बृभा ५८५४) ।

२. हत्थभरिते (भ, मु) ।

३. मासादारोवणा चरिमं (बृभा ५८५५) ।

४. बृभा ५८५६ ।

५. पहेसु (बृभा ५८५७), पहेण (क) ।

६. पिबिउ रयणाण भागी (बृभा ५८५८) ।

७. वयाणि अडवीय (भ) ।

८. बृभा (५८५९) में इस गाथा का पूर्वार्ध इस प्रकार है—

वणियत्थाणी साहु, रतणत्थाणी वता तु पंचेव ।

९. दियरातो (बृभा ५८६०)

१०. तामेव (क) ।

११. लिंगेण (भ) ।

१२. सूत्र ३६ (नव १०/३०) ।

१३. बृभा १८७० ।

१४. °यते (दे, पा) ।

१५. × (क) ।

३०८४. जो मुनि उस अर्थ—भोजनांश या द्रव (जलीय अंश) को निकला हुआ जानकर पुनः निगलता है, सूत्र का सम्बन्ध उससे है। इस विषय में आदेश ये हैं—

३०८५. जब कोई दूसरा न देख रहा हो और मुनि मुंह में आए जल को पुनः पीता है तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा ऐसा करते हुए देख लिया जाए तो मासगुरु प्रायश्चित्त आता है। सिक्थयुक्त जल को अदृष्ट अवस्था में पीने पर मासगुरु तथा दृष्ट अवस्था में पीने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार सिक्थ को अदृष्ट अवस्था में चबाने पर चतुर्लघु और दृष्ट होने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मुंह से निकले कवल को हाथ में ले और फिर कोई न देखे, तब खाए तो चतुर्गुरु एवं देख लिया जाए तो षड्लघु प्रायश्चित्त आता है। एक हस्तपुट भरे, उतने निर्गत आहार को खाने पर क्रमशः अदृष्ट एवं दृष्ट अवस्था में क्रमशः षड्लघु एवं षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अंजलि भरे, उतने मुख-निर्गत आहार को अदृष्ट एवं दृष्ट अवस्था में खाने पर क्रमशः षड्गुरु और छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा अंजलि भरने पर नीचे गिर जाए, उतने आहार को पुनः खाने पर अदृष्ट एवं दृष्ट अवस्था में क्रमशः छेद एवं मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह आरोपणा भिक्षु के विषय में प्रज्ञप्त है। उपाध्याय एवं आचार्य का प्रायश्चित्त क्रमशः मासगुरु एवं चतुर्लघु से प्रारम्भ होता है तथा अनवस्थाप्य एवं पारांचित में परिसम्पन्न होता है।

३०८६. चाहे मुनि ससिक्थ उद्गार निगले या सिक्थरहित, चाहे उसे कोई देखे या न देखे, दिन में उसका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु तथा रात में है चतुर्गुरु। अपवाद पद में वान्त खाने पर भी प्रायश्चित्तभाक् नहीं—यह रत्नयुक्त व्यापारी के दृष्टान्त से ज्ञातव्य है। अपवाद के दो कारण हैं—१. अध्वशीर्ष—अटवी के अन्तिम छोर पर, जहां अन्य आहार की संभावना नहीं, भिक्षु वान्त मनोज्ञ आहार को निगल सकता है। २. जिस सार्थ के साथ वह अटवी में गया और तुरन्त जा रहा हो तो वान्त को भी सुगन्धित द्रव्यों से वासित कर खा सकता है। ३०८७, ३०८८. एक व्यापारी ने कहीं जलमार्ग से, कहीं स्थलमार्ग से—इस प्रकार महान् परिश्रम से रत्नों का उपार्जन किया। मार्ग में एक भयंकर अटवी थी। निर्विघ्न अटवी को पार करने हेतु निर्जन क्षेत्र में उसने रत्नों को गाड़ दिया। स्वयं पत्थर के टुकड़ों को लेकर पागल के वेश में अटवी में प्रविष्ट हुआ। चोर आदि को देख प्रलाप करने लगता—मैं सागरदत्त नाम का रत्नों का व्यापारी हूँ। मुझे मत लूटो। इस प्रकार गमनागमन करते हुए उसने अटवी के लोगों में अपने पागल होने का विश्वास पैदा कर दिया। रात के समय रत्न लेकर पलायन कर गया। अटवी के मध्य उसे जोर से प्यास लगी। वहां केवल कलेवरों से युक्त दुर्गन्धमय पानी था। उसने पानी पिया और अटवी पार की। इस प्रकार वह अपने बंधु-बांधवों से मिला और रत्नों का आभागी बना—सुख से रहने लगा।^१

३०८९. उपर्युक्त दृष्टान्त का उपनय इस प्रकार है—व्यापारी के समान हैं साधु। रत्नों के समान हैं महाव्रत। शबर, तस्कर आदि के समान हैं उपसर्ग, परीषह आदि। अटवी के समान हैं अवम, दुर्भिक्ष आदि अपवाद पद। कलेवरभावित जल के समान है वांत आहार आदि। पत्थर के टुकड़ों के समान हैं सातिचार महाव्रत। ३०९०. अटवीशीर्ष में साधु ने मनोज्ञ आहार किया। उसे वमन हो गया। यदि प्राप्त हो सके तो दिन अथवा रात में अन्य आहार ग्रहण कर लेता है। न मिले तो रात्रि में अन्य वेश में आहार ले आता है। फिर भी आहार न मिले या सार्थ शीघ्र वहां से प्रस्थान कर रहा हो तो वह उस वान्त आहार को भी चातुर्जातिक आदि सुगन्धित द्रव्यों से वासित कर खा लेता है।

३०९१, ३०९२. स्वग्राम में अपने या दूसरे के उपाश्रय में, क्षेत्र के अन्तवर्ती अन्य ग्राम या क्षेत्र से बहिर्वर्ति स्वगच्छ या अन्यगच्छ में कोई भिक्षु ग्लान है—ऐसा अन्य से सुनकर या स्वयं जानकर भी जो भिक्षु उस ग्लान भिक्षु की गवेष्णा नहीं करता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५०।

३०९३. असिवे ओमोदरिए, रायद्दुटे भए व गेलण्णे।
अद्धाण-रोहए वा, ण गवेसेज्जा य बितियपदं ॥२९६८॥
३०९४. सोऊण^१ जो^२ गिलाणं, उम्मगं गच्छे पडिपहं^३ वावि।
मग्गाओ वा मग्गं, संकमती आणमादीणि ॥२९६९॥ नि ६५२ ॥
३०९५. सोऊण वा^४ गिलाणं, पंथे गामे व^५ भिक्खवेलाए।
जइ तुरियं णागच्छति, लग्गति गुरुगे सवित्थारे^६ ॥२९७०॥
३०९६. जह भमर-महुकरि^७-गणा, निवतंती कुसुमितम्मि वणसंडे^८।
तह^९ होति णिवतियव्वं, गेलण्णे कइतवज्जेणं^{१०} ॥२९७१॥
३०९७. सुद्धे सड्डीच्छकारि^{११}, असत्त सुहिय ओमाण लुद्धे य।
अणुयत्तणा गिलाणे, चालण संकामणा^{१२} दुहतो^{१३} ॥२९७२॥ नि ६५३ ॥
३०९८. सोऊण वा^{१४} गिलाणं, जो उवयारेण आगतो सुद्धो।
जो उ उवेहं कुज्जा, लग्गति गुरुगे सवित्थारे ॥२९७३॥
३०९९. उवचरति को गिलाणं^{१५}, अहवा उवचारमेत्तगं एति।
उवचरति व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोधेति ॥२९७४॥
३१००. सोऊण या^{१६} गिलाणं, तूरंतो आगतो दवदवस्स।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्टे निउंजामि ॥२९७५॥
३१०१. पडियरिहामि गिलाणं, गेलण्णे वावडाण वा काहं।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कता हवति एवं^{१७} ॥२९७६॥

१. सूत्र ३७ (नव १०/३१)।
२. ऊ (बृभा १८७१)।
३. पडिपहं (बृभा)।
४. ऊ (बृभा १८७२)।
५. या (भ)।
६. स चउमासे (बृभा)।
७. महुयर (मु, दे)।
८. चूयवणे (बृभा १८७३)।
९. इय (बृभा, पंकभा १७६३)।

१०. ँहेण (दे)
११. सड्डी इच्छकारे (बृभा १८७४)।
१२. °मणं (क), °मणे (दे, पा)।
१३. ततो (बृभा)।
१४. ता (दे), ऊ (बृभा १८७५)।
१५. णऽतिन्नो (बृभा १८७६)।
१६. वा (मु), ऊ (बृभा १८७७)।
१७. बृभा १८७८।

३०९३. द्वितीय पद (अपवाद) में १. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी एवं ७. नगररोध—भिक्षु इन कारणों से ग्लान भिक्षु की गवेषणा न करे, तब भी शुद्ध है।
३०९४. कोई भिक्षु ग्लान है—ऐसा सुनकर भी जो भिक्षु उन्मार्ग (अटवी-मार्ग) से चला जाता है, प्रतिपथ—जिस मार्ग से आया, उसी मार्ग से लौट जाता है अथवा उस मार्ग से अन्य मार्ग में संक्रमण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
३०९५. मार्ग में चलते हुए, गांव में प्रवेश करते हुए या भिक्षा हेतु जाते हुए—इनमें से किसी भी अवस्था में कोई भिक्षु ग्लान है—यह सुनकर भी जो भिक्षु शीघ्र ही ग्लान के पास नहीं जाता, उसे विस्तारपूर्वक^१ चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
३०९६. जिस प्रकार कुसुमित वनखण्ड में भ्रमणशील मधुकर समूह स्वतः आकृष्ट होकर आते हैं, वैसे ही ग्लान के विषय में सुनकर कैतव रहित (ऋजुमना) मुनि को अपने आपको वैयावृत्य में नियुक्त कर देना चाहिए।
३०९७. प्रस्तुत प्रसंग में भाष्यकार ने निम्नलिखित दस द्वारों का निरूपण किया है—१. शुद्ध, २. श्रद्धावान, ३. इच्छाकार, ४. अशक्त (असमर्थ), ५. सुखी, ६. अवमान, ७. लुब्ध, ८. ग्लान आदि का अनुवर्तन, ९. चालना तथा १०. द्विविध संक्रामणा।^२
३०९८. ग्लान विषयक सूचना सुनकर जो भिक्षु उपचार मात्र से आ जाता है, वह शुद्ध (निर्दोष) है। किन्तु जो उसकी उपेक्षा करता है, वह सविस्तार चतुर्गुरु प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।
३०९९. उपचार (विधि)—१. आप लोगों में कौन बीमार हैं—इस प्रकार पूछकर उसकी सेवा करता है या उसे औपचारिक रूप में पूछता है। २. मात्र लोकोपचार निभाने के लिए आता है। ३. उपचार—मर्यादा है कि कोई साधु ग्लान हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए इसलिए आता है। ४. कार्यार्थी—ज्ञान आदि को प्राप्त करने के प्रयोजन से सेवा करता है। ५. प्रायश्चित्त (विशोधि)—ग्लान की उपेक्षा से प्रायश्चित्त मिलता है अतः प्रायश्चित्तभाक् न बनूँ—इस निर्जरा भाव से सेवार्थ आता है।
३१००. ग्लान है—ऐसा सुनते ही त्वरित^३ एवं शीघ्र गति से आकर जो रोगी या उसके परिचारक-आचार्य से पूछता है—आज्ञा दें क्या करूँ? किस प्रयोजन में (ग्लान वैयावृत्य विषयक कार्य में) अपने आपको नियुक्त करूँ?
३१०१. मैं ग्लान साधु की सेवा करूँ या उसकी सेवा में व्यापृत मुनियों का भक्तपान आदि लाकर सहयोग करूँ। उसके इस प्रकार पूछने से तीर्थ का अनुवर्तन^४ होता है और तीर्थ-भक्ति होती है।

१. सविस्तार—सूत्रोक्त चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के साथ ग्लान की परितापना, आगाढ़, अनागाढ़ कष्ट आदि से प्रायश्चित्त में वृद्धि को यहां सविस्तार शब्द से सूचित किया गया है।

२. विस्तार हेतु दृष्टव्य— गा. ३०९८-३२११।

३. निभा ३ चू. पृ. ९०—तुरन्तो ति श्रवणानन्तरमेव त्वरितं तत्क्षणात्।

४. पाइय.—अणुसज्जणा-अनुवर्तन, अनुसरण।

३१०२. संजोगदिट्टपाठी^१, 'उवलद्धा वावि'^२ दव्वसंजोगा ।
सत्थं व तेणऽधीतं, वेज्जो वा सो पुरा आसी ॥ २९७७ ॥
३१०३. अत्थि य सें जोगवाही, गेलण्णतिगिच्छणाएँ सो कुसलो ।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छं तेण कातव्वं^३ ॥ २९७८ ॥
३१०४. दाऊणं वा गच्छति, सीसेण व 'तेहिं वावि वायावे'^४ ।
तत्थऽण्णत्थ व काले, सोधीय समुद्दिसति^५ हट्टे ॥ २९७९ ॥
३१०५. णिग्गमणें चउभंगो, अद्धा सव्वे व^६ णेंति दोणहं पि ।
भिकखवसधीय असती, तस्साणुमते ठवेज्जा उ ॥ २९८० ॥
३१०६. अभणित्तो कोइ ण इच्छति, पत्ते थेरेहिं होउवालंभो ।
दिट्ठंत महिड्डीए, सवित्थरारोवणं कुज्जा^७ ॥ २९८१ ॥
३१०७. बहुसो पुच्छिज्जंतो^८, इच्छाकारं ण ते मम करेंति ।
पडिमुंडणा वि दुक्खं, दुक्खं^९ च सिलाहितुं अप्पा ॥ २९८२ ॥
३१०८. किं काहामि वरागो, अहं^{१०} खु ओमाणकारगो होहं ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा^{११} ॥ २९८३ ॥
३१०९. उव्वत्त^{१२}-खेल-संथार^{१३} जग्गणे पीस भाण धरणे य ।
तस्स पडिजग्गताण व, पडिलेहेतुं पि सि असत्तो^{१४} ॥ २९८४ ॥

१. संयोगाः औषधद्रव्यमीलनप्रयोगास्तद्विषयो दृष्टः पाठः—
चिकित्साशास्त्रावयवविशेषो येन स संयोगदृष्टपाठः
आर्षत्वाद् गाथायामिन्प्रत्ययः (बृभाटी) ।

२. तेणुवलद्धा व (बृभा १८७९) ।

३. बृभा १८८०, सभी हस्तप्रतियों में यह गाथा ३१०२ से
पहले है, लेकिन मुद्रितभाष्य एवं बृभा में इसी क्रम में है ।
विषय की दृष्टि से गाथाओं का यही क्रम सम्यक् प्रतीत
होता है ।

४. वायएहि वा वाए (बृभा १८८१) ।

५. सव्वुदि (बृभा) ।

६. वि (बृभा १८८२) ।

७. बृभा १८८३ ।

८. 'ज्जंते (दे), 'ज्जंता (भ, बृभा १८८४) ।

९. × (भ) ।

१०. अह (भ) ।

११. बृभा १८८५ ।

१२. 'त्तण (क, पा) ।

१३. संथारं (भ) ।

१४. बृभा १८८६ ।

३१०२. आगन्तुक मुनि के ऐसा मनोभाव प्रकट करने पर सेवार्थी मुनि यदि स्वयं समर्थ हों तो कहें— आर्य! कृपा की, अभी अपेक्षा नहीं है। पर यदि आगन्तुक मुनि—१. संयोग दृष्टपाठी^१—वैद्यक शास्त्रों के आधार पर औषध-भेषज आदि के संयोग-मात्रा आदि का ज्ञाता हो, २. उसे विविध द्रव्य-संयोगों का ज्ञान हो, ३. उसने रोग एवं चिकित्साविषयक शास्त्र पढे हों या ४. वह पहले—गृहस्थावस्था में वैद्य रह चुका हो तो उसे विसर्जित नहीं करते—उसे सेवा हेतु रख लेते हैं।

३१०३. यदि आगन्तुक मुनि योगवाही भी हो और ग्लान की चिकित्सा में भी कुशल हो तो वह अपने शिष्यों को सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी, वादकार्य में प्रेषण, वस्त्रोत्पादन आदि विविध संघोपयोगी कार्यों में यथायोग्य नियुक्त करे और स्वयं ग्लान की चिकित्सा करे।

३१०४. यदि वह चिकित्सा कुशल मुनि आगाढ़ योगवाही है और ग्लान उसके निकट है तो वह सूत्रपौरुषी एवं अर्थपौरुषी प्रदान करने के बाद चिकित्सा में प्रवृत्त हो जाए। यदि ग्लान का उपाश्रय दूर हो तो सूत्रपौरुषी प्रदान कर शिष्यों को अर्थपौरुषी में व्यापृत कर दे और स्वयं चिकित्सा में प्रवृत्त हो जाए। यदि उपाश्रय अति दूर हो, शीघ्र चिकित्सा में प्रवृत्त होना आवश्यक हो तो सूत्र और अर्थपौरुषी किसी योग्य शिष्य से प्रदान करवाए, स्वयं चिकित्सा में प्रवृत्त हो जाए। यदि स्वयं के पास पौरुषी प्रदान करने वाला कोई योग्य शिष्य न हो तो जिन आचार्य के गच्छ का वह ग्लान मुनि है, उनसे अपने शिष्यों को वाचना दिलवाए। यदि अनागाढ़योगी हो तो योगनिक्षेप किया जा सकता है। अथवा वे स्वगच्छ या अन्य गच्छ जहां स्थित हों, जितने दिन तक काल-शोधि हो, उतने दिन कालवेला का ग्रहण कर सूत्र के उद्देश, समुद्देश करें और जब वह ग्लान मुनि स्वस्थ हो जाए, तब शेष उद्देश आदि प्रदान कर दे।

३१०५. जहां भिक्षा अथवा वसति का अभाव हो, वहां निर्गमन-विषयक चतुर्भंगी करनी चाहिए—१. वास्तव्य मुनियों का निर्वाह संभव है, आगन्तुकों का नहीं। २. आगन्तुकों का निर्वाह संभव है वास्तव्यों का नहीं। ३. दोनों का ही निर्वाह संभव नहीं। ४. दोनों का ही निर्वाह संभव है। इस चतुर्भंगी में से जितने—आधे या सारे, आगन्तुक या वास्तव्य मुनियों का निर्वाह उस क्षेत्र में संभव हो, उतने रहें, शेष—जिनका निर्वाह न हो पाए, वे वहां से निर्गमन कर दें।

३१०६. इच्छाकार—कोई वैयावृत्यकुशल मुनि मानी होता है। कोई उसे वैयावृत्य के लिए न कहे तो वह स्वयं जाकर वैयावृत्य करने की इच्छा नहीं करता। ऐसी स्थिति में सामाचारी पालन के विषय में तत्पर स्थविर जब वहां आते हैं तो उसे उपालम्भ देते हैं तथा महर्द्धिक—राजा के दृष्टान्त^२ से समझाते हुए उसे सविस्तार (परितापनादि निष्पन्न प्रायश्चित्त के साथ) चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं।

३१०७. स्थविर उसे बार-बार पूछते हैं—क्या यहां सबके ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अच्छा विकास हो रहा है? क्या सभी स्वस्थ हैं? कोई ग्लान तो नहीं? इस प्रकार बार-बार पूछने पर वह कहता है—यहां एक मुनि ग्लान है। लेकिन वे स्वेच्छापूर्वक मुझे चिकित्सा या सेवा का अवसर नहीं दे रहे हैं। एक तो निषेध को सहन करना दुःख और दूसरी ओर स्वयं की प्रशंसा करना भी दुःख। वैसे मैं जैसा ग्लान वैयावृत्य करता हूँ, अन्य वैसा नहीं कर सकता तो फिर मैं अनभ्यर्थित होकर क्यों सेवा के लिए जाऊँ।

३१०८. कोई साधु सेवा के प्रसंग में कहता है—मैं वराक वहां क्या करूंगा। असमर्थ हूँ, मैं वहां अपमान-कारक होऊंगा। ऐसा कहने वाले भिक्षु को भी अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१०९. अपनी असमर्थता की आड़ लेने वाले मुनि को कहा जाता है—क्या तुम ग्लान को पार्श्वपरिवर्तन कराने, उसके श्लेष्म आदि के परिष्ठापन, उसके संस्तरक को खोलना, धूप में देना, रात्रि में उसके पास बैठना—रात्रि जागरण, औषधि को पीसना, पानी, आहार आदि के पात्रों को इधर-उधर करना, रखना, ग्लान-परिचारकों की उपधि का प्रतिलेखन करना—इन छोटे-छोटे कार्यों को करने में भी समर्थ नहीं। अर्थात् इन कार्यों में सहयोग के द्वारा भी वैयावृत्य की निर्जरा कर सकते हो।

१. जिसने द्रव्यों के अनेक संयोगों तथा तद्गत पाठों को पढ़ लिया है, वह संयोगदृष्टपाठी होता है।

२. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं.५१।

३११०. सुहिया मो त्ति य भणती, अच्छह वीसत्थगा सुहं सव्वे।
एवं तत्थ भणंते, पायच्छित्तं भवे त्तिविधं^१ ॥ २९८५ ॥
३१११. भत्तादि-संकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ ण तरामो।
काहंति^२ केत्तियाणं, तेणं चिय 'ते य'^३ अहण्णा ॥ २९८६ ॥
३११२. अम्हेहि तहि गतेहिं, ओमाणं उग्गमादिणो दोसा।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा^४ ॥ २९८७ ॥
३११३. अम्हे मों णिज्जरट्ठी, अच्छह तुब्भे वयं सि^५ काहामो।
अत्थि य अभाविता णे, ते वि य णाहंति कारुणं^६ ॥ २९८८ ॥
३११४. एवं गिलाणलक्खेण, संठिता पाहुण त्ति उक्कोसं।
मग्गंता चमढेंती^७, तेसिं चारोवणा चउहा^८ ॥ २९८९ ॥
३११५. फासुगमफासुगे वा, अचित्त-चित्ते परित्तऽणंते य।
असिणेह-सिणेहकते, अणहाराहार लहु-गुरुगा^९ ॥ २९९० ॥
३११६. लुद्धस्सऽब्भंतरओ, चाउम्मासा हवंति उग्घाता।
बहिया य अणुग्घाता, दव्वालंभे पसज्जणता^{१०} ॥ २९९१ ॥
३११७. खेत्ता जोयणवट्ठी, अद्धा दुगुणेण जाव बत्तीसा।
गुरुगा य छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^{११} ॥ २९९२ ॥
३११८. अंतो बहिं ण लब्भति, ठवणा फासुग-महत-मुच्छ-किच्छ-कालगते^{१२}।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^{१३} ॥ २९९३ ॥

१. बृभा १८८७।

२. गाहंति (भ)।

३. ते उ (दे), तेसु (बृभा १८८८)।

४. बृभा १८८९।

५. से (मु, बृभा)।

६. काउण (बृभा १८९०)।

७. ँहंति (मु), ँहंती (बृभा)।

८. बृभा १८९१।

९. बृभा १८९२।

१०. बृभा १८९३।

११. बृभा (१८९४) में यह गाथा इस प्रकार मिलती है—

खेत्त बहि अद्धजोयण, वुट्ठी दुगुणेण जाव बत्तीसा।

चउगुरुगादी चरिमं, खेत्ते काले इमं होइ ॥

१२. गाथा के द्वितीय चरण में मात्रा अधिक है।

१३. बृभा १८९५।

३११०. सुखी—मासकल्प के लिए स्थित साधुओं को पता चलता है कि कोई मुनि यहां बीमार है तो वे कहते हैं—हम सुखी हैं। आप सभी लोग भी विश्वस्त होकर आराम से रहें। क्यों वैयावृत्य के लिए जाकर अपने आपको कष्ट दें, दुःखी बनाएं।—ऐसा कहने वाले मुनि आदि के लिए त्रिविध प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है—मुनि के लिए मासगुरु, उपाध्याय के लिए चतुर्लघु तथा आचार्य के लिए चतुर्गुरु।

३१११. अवमान—हम ग्लान की सेवा में जा रहे हैं—अन्य मुनियों से ऐसा सुनकर कुछ मुनि कहते हैं—वहां पर अन्य बहुत से मुनि वैयावृत्य के लिए पहुंच चुके हैं। आहार पानी की वहां पहले से ही क्लिष्टता—कमी है। हम भी वहां गए थे, पर वहां इतने मुनियों का एक साथ निर्वाह संभव नहीं। फिर जो परिचर्या में लगे हैं, वे किन-किन का आतिथ्य करेंगे? वे पहले से ही ग्लान के कारण विषण्ण हो रहे हैं।

३११२. हमने वहां जाने पर देखा, इतने अधिक मुनियों का समागम होने से वहां अवमान—आहार आदि की अल्पता स्वाभाविक है, फलतः उद्गम आदि दोषों को टालना मुश्किल है—जो इस प्रकार कहकर वैयावृत्य से बचते हैं, उन्हें गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त (सविस्तार) प्राप्त होता है।

३११३. कोई क्षेत्र आहार, विहार, वस्त्र आदि हर दृष्टि से अनुकूल है। वहां कोई अन्य मुनि ग्लान मुनि के साथ रह रहे हैं। अन्य मुनि सोचते हैं—केवल ग्लान वैयावृत्य के बहाने से ही वह क्षेत्र प्राप्त हो सकता है। ऐसा सोचकर वे उस क्षेत्र में आते हैं तथा वास्तव्य मुनियों से कहते हैं—हम निर्जरार्थी हैं। हम ग्लान मुनि की सेवा करेंगे, इस बहाने हमारे पास जो अभावित शैक्ष हैं, वे भी सीखेंगे कि सेवा किस प्रकार करनी चाहिए।

३११४. इस प्रकार ग्लान के लक्ष्य से वे वहां रह जाते हैं। अतिथि मुनि हैं—ऐसा सोचकर गृहस्थ उन्हें उत्कृष्ट द्रव्य देते हैं अथवा वे भी ग्लान आदि के बहाने से मांग लेते हैं। इस प्रकार कुछ ही दिनों में वे उस क्षेत्र को मर्दित (विनष्ट) कर देते हैं, फलतः ग्लान प्रायोग्य द्रव्य आदि भी वहां उपलब्ध नहीं होते। ऐसे लुब्ध मुनियों को चतुर्विध—द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव प्रत्ययिक आरोपणा प्राप्त होती है।

३११५. क्षेत्र के मर्दित हो जाने से जब ग्लान प्रायोग्य द्रव्य भी अवभाषण—याचना पूर्वक लेना पड़ता है तो प्रासुक (एषणीय) अचित्त, परित्त कायिक स्नेहरहित (रुक्ष) और अनाहारिम आहार मांगने पर उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि वह अनेषणीय, सचित्त, अनन्तकायिक, स्नेहयुक्त और आहारिम द्रव्य मांग कर ले तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह द्रव्य निष्पन्न आरोपणा है।

३११६. उस चमद्वित क्षेत्र के अन्तर्गत यदि उस लोभी मुनि को ग्लान प्रायोग्य वस्तु न मिले तो उसे उद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और यदि क्षेत्र के बाहर भी प्रायोग्य द्रव्य न मिले तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। क्षेत्र से बाहर द्रव्य की उपलब्धि न होने पर प्रायश्चित्त का विस्तार हो जाता है। यह अनिष्टापत्ति है।

३११७. क्षेत्र से बाहर आधे योजन से द्विगुणित वृद्धि करते हुए बत्तीस योजन तक वृद्धि करनी चाहिए तथा उनमें चतुर्गुरु, षड्लघु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य यावत् पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जैसे क्षेत्र के बाहर आधे योजन से कोई द्रव्य लाए तो चतुर्गुरु, एक योजन से लाए तो षड्लघु यावत् बत्तीस योजन से लाए तो पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३११८. अथवा अनिष्टापत्ति इस प्रकार है—क्षेत्र के बाहर और भीतर—ग्लान प्रायोग्य द्रव्य समय पर न मिलने पर वे मुनि प्रासुक द्रव्य को बासी रखें तो चतुर्लघु तथा अप्रासुक द्रव्य बासी रखें तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि बासी द्रव्य को खाने से ग्लान को अत्यधिक अनागाढ परितापना हो तो चतुर्लघु एवं महती आगाढ परितापना हो तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह अत्यधिक दुःखी हो तो षड्लघु, मूर्च्छित हो तो षड्गुरु, जीना दूभर हो जाए तो छेद, श्वासोच्छ्वास में कठिनाई हो तो मूल, मारणांतिक समवघात होने लगे तो अनवस्थाप्य एवं कालगत हो जाए तो सेवार्थी मुनियों को पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है क्योंकि उपर्युक्त स्थितियों का कारण उनके द्वारा की गई क्षेत्र की चमद्वणा है।

३११९. पढमं राति^१ ठवेते, गुरुगा बितियादि^२-सत्तहिं चरिमं ।
परितावणादि भावे, अप्पत्तिय कूवणादीया^३ ॥ २९९४ ॥
३१२०. अंतो बहिं ण लब्भति, परितावण-महत-मुच्छ-किच्छ-कालगते ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^४ ॥ २९९५ ॥
३१२१. अंतो बहिं ण लब्भति, संथारग-महत-मुच्छ-किच्छ-कालगते ।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^५ ॥ २९९६ ॥
३१२२. अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्टा खलु तहेव वेज्जट्टा ।
असतीए अण्णत्तो^६, आणेउं दोहि वी^७ करणं^८ ॥ २९९७ ॥
३१२३. जायंते तु^९ अपत्थं, भणंति जायामो तं ण लब्भति णे ।
विणियट्टणा अकाले, जा वेल ण बेति तु ण देमो^{१०} ॥ २९९८ ॥
३१२४. तत्थेव अण्णगामे, वुत्थंतर^{११} ऽसंथरंत जतणाए ।
असंथरेसणमादी^{१२}, छण्णं कडजोगि गीतत्थे^{१३} ॥ २९९९ ॥
३१२५. पडिलेहपोरिसीओ^{१४}, वि अकाउं मग्गणा तु सग्गामे ।
खेत्तंतो तद्विवसं, असति विणासे व तत्थ वसे ॥ ३००० ॥
३१२६. खेत्तबहिया व आणे, विसोधिकोडिं वऽतिच्छित्तो काढे ।
पतिदिणमल्लभमाणे^{१५}, कम्मं समतिच्छित्तो ठवए ॥ ३००१ ॥

१. राई (मु, दे) ।

२. बीयाइ (दे) ।

३. बृभा १८९६ ।

४. बृभा १८९७ ।

५. बृभा १८९८ ।

६. अन्नओ वा (बृभा १९००) ।

७. वि (दे), विं (पा) ।

८. कुज्जा (बृभा) ।

९. × (दे) ।

१०. बृभा १९०१ ।

११. वत्थंतर (दे) ।

१२. °थरणेसण° (मु, दे), °थर एसण° (भ) ।

१३. बृभा १९०२ ।

१४. °पोरुसीओ (बृभा १९०३) ।

१५. पइदिवसमल्लभते (बृभा १९०४) ।

३११९. जो सेवार्थी मुनि ग्लान साधु के लिए एक रात परिवासित आहार आदि रखता है, उसे कालनिष्पन्न प्रायश्चित्त के रूप में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दो रात से सात रात तक परिवासित रखने पर क्रमशः षड्लघु से चरम—पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। रुग्ण मुनि को अपेक्षित आहार, औषध आदि न मिलने पर उसका सेवार्थी मुनियों के प्रति अविश्वास होता है, वह बड़बड़ाता है या परितापना आदि को प्राप्त होता है, उसके कारण प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त भावनिष्पन्न प्रायश्चित्त है।

३१२०. विवक्षित क्षेत्र के अन्दर या बाहर अपेक्षित आहार, औषध आदि के अभाव में यदि ग्लान को अप्रतीति हो तो चतुर्लघु तथा बड़बड़ाकर उड्डाह करे तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह गाढ़ परितापना को प्राप्त हो, अत्यधिक दुःखी हो, मूर्च्छित हो जाए, जीना दूभर हो जाए, श्वासोच्छ्वास में कठिनाई हो, मारणांतिक समवघात होने लगे या कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो सेवार्थी मुनियों को क्रमशः चतुर्गुरु, षड्लघु, छेद, मूल तथा द्विक—अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१२१. क्षेत्र के अतिचमद्वित होने के कारण रुग्ण मुनि के अनुकूल संस्तारक आदि न मिले, उसके कारण उसे आगाढ़ परितापना, अत्यन्त दुःख, मूर्च्छा, जीने में कठिनाई, श्वास में कठिनाई, मारणांतिक समवघात तथा कालधर्म की प्राप्ति होने से सेवार्थी मुनि को उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त के रूप में चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१२२. ग्लान की अनुवर्तना के दो प्रकार हैं—द्रव्यार्थ—अनुवर्तना (ग्लान के लिए पथ्य आदि लाकर देना) तथा वैद्यार्थ अनुवर्तना (वैद्य और उसके लिए अपेक्षित सामग्री का उत्पादन)। पथ्य और वैद्य दोनों ही यदि स्वग्राम में न मिलें तो अन्यतः लाकर ग्लान की अपेक्षित चिकित्सा करना अनुवर्तना है।

३१२३. ग्लान को पथ्य लाकर देना ग्लानानुवर्तना है, वैसे ही अपथ्य मांगने पर उसे कहना—ठीक है, हम गवेषणा कर रहे हैं। अभी तक अमुक द्रव्य मिला नहीं। अथवा पात्र लेकर उस द्रव्य के लिए चले जाएं और रास्ते से लौट के आ जाएं कि अमुक द्रव्य मिला नहीं। अथवा अभी तक वेला नहीं हुई आदि। इस प्रकार अपथ्य द्रव्य से रोगी को बचाना भी उसकी अनुवर्तना है। सेवार्थी मुनि उसे 'नहीं देंगे'—ऐसा नहीं कहते।

३१२४. जिस क्षेत्र में ग्लान एवं परिचारक रहे, यदि पथ्य आदि वहां मिल जाएं तो वहां से लाए, अन्यथा अन्य ग्राम—एक योजन दूरी से भी लाया जा सकता है। यदि दूरी अधिक हो तो रात्रि में मध्य में रहकर सुबह उस स्थान से पथ्य लाकर दे। यदि पथ्य एषणीय न हो तो अनिर्वाह की स्थिति में पंचक हानि की यतना से अनेषणीय भी लिया जा सकता है। अनेषणीय पथ्य भी प्रतिदिन न मिले और अनिर्वाह की स्थिति हो तो गीतार्थ मुनि प्रच्छन्न प्रदेश में परिवासित पथ्य के द्वारा भी ग्लान मुनि की चिकित्सा कर सकता है।

३१२५, ३१२६. यदि पथ्य उस क्षेत्र में सुलभ हो तो मुनि प्रतिलेखना एवं सूत्रार्थ पौरुषी के पश्चात् उसकी मार्गणा करे। यदि ऐसा संभव न हो तो स्वग्राम में भी क्रमशः अर्थपौरुषी, सूत्रपौरुषी तथा प्रतिलेखना से पूर्व पथ्य की मार्गणा की जा सकती है। यदि क्षेत्र बहिर्वर्ती या अन्तर्वर्ती अन्य ग्राम में पथ्य द्रव्य की गवेषणा करनी हो तो उसी दिन प्रतिलेखना तथा सूत्रार्थ पौरुषी करते हुए या पूर्वोक्त क्रम से न करते हुए उसकी मार्गणा करे, अवभाषण न करे। यदि अन्य क्षेत्र से विनाशी द्रव्य—दूध आदि लाने हों और वेलातिक्रमण करने से पर्याप्त उष्ण आदि न मिलें तो अपराह्न में वहां चला जाए या किसी मध्यवर्ती स्थान में रुक जाए और सूर्योदय होने पर पथ्य लेकर आ जाए। इस प्रकार स्वग्राम एवं अन्यग्राम में उसी दिन पथ्य की एषणा करनी चाहिए। यदि इस विधि से एषणीय पथ्य न मिले तो पंचक हानि से भी विशोधिकोटिक—क्रीत आदि पथ्य लिया जा सकता है। विशोधिकोटिक अनेषणीय पथ्य के अभाव में अल्पबहुत्व (लाभ—हानि) की सम्यक् जांच करके परिचारक मुनि अविशोधिकोटिक पथ्य भी ला सकता है। यदि आधाकर्म दोषयुक्त पथ्य भी प्रतिदिन न मिले तो अनिवार्यता में उस दुर्लभ पथ्य द्रव्य को स्थापित कर भी लिया जा सकता है।

३१२७. उव्वरगस्स तु असती, चिलिमिलि उभयं च तं जह ण^१ पासे ।
तस्सऽसति पुराणादिसु, ठवेति तद्विवसपडिलेहा^२ ॥ ३००२ ॥
३१२८. फासुगमफासुगेण व, 'सच्चित्त इतरे'^३ 'परित्त ऽणंते य'^४ ।
आहारतद्विणेतर, सिणेह इतरेण वा करणं ॥ ३००३ ॥
३१२९. वेज्जं ण चेव पुच्छह, जाणंता 'बेंति तस्स'^५ उवदेसो ।
डक्कपिलगादिगेसु^६ य, अजाणगा पुच्छते वेज्जं ॥ ३००४ ॥
३१३०. किह उप्पण्ण गिलाणो, अट्टमउण्होदगादिया वड्डी^७ ।
किंचि बहुभागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंतो ॥ ३००५ ॥
३१३१. जाव ण मुक्को तावऽणसणं तु 'असहुस्स अट्ट छट्टं वा'^८ ।
'मुक्के वि अभत्तट्टो'^९, णारुण रुयं तु^{१०} जं जोगं^{११} ॥ ३००६ ॥
३१३२. एवं पि कीरमाणे, वेज्जं पुच्छंत^{१२} ऽटायमाणम्मि^{१३} ।
'वेज्जाण अट्टगं'^{१४} ते^{१५}, अणिड्ढि इड्ढी अणिड्ढितरे ॥ ३००७ ॥
३१३३. संविग्गमसंविग्गे^{१६}, लिंगी तह सावए अहाभदे ।
अणभिग्गहमिच्छेतर, अट्टमगे अण्णतित्थी य ॥ ३००८ ॥
३१३४. संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे^{१७} लिंगि^{१८} सावए सण्णी ।
अस्सण्णि इड्ढि गतिरागती य कुसलेण तेगिच्छं^{१९} ॥ ३००९ ॥

१. व (दे, क) ।

२. बृभा १९०५ ।

३. सच्चित्त° (दे), अच्चित्तेतर (बृभा १९०६) ।

४. °णंतेणं (बृभा) ।

५. तस्स बेंति (मु) ।

६. दट्टपि° (बृभा १९०७) ।

७. वुड्डी (मु, बृभा १९०८) ।

८. मुक्के वि ऊ अभत्तट्टो (बृभा) ।

९. असहुस्स अट्ट छट्टं (बृभा १९०९) ।

१०. पि (क), व (भ, बृभा) ।

११. जोगं (भ, बृभा) ।

१२. पुच्छे (बृभा १९१०) ।

१३. °माणे वा (मु) ।

१४. °णं अट्टयं (मु), °ण अट्टते (पा) ।

१५. दो (बृभा, पा) ।

१६. °ग्गासंवि° (मु), बृभा (१९१२) में इसके स्थान पर यह गाथा मिलती है—

संविग्गेतर लिंगी, वइ अवइ अणागाढ आगाढे ।

परउत्थिय अट्टमए, इड्ढी गइरागई कुसले ॥

१७. दिट्ठत्थग्गहणातो गीयत्थो गहितो (चू) ।

१८. लिंगं (भ) ।

१९. बृभा (१९११) ।

३१२७. जो अनिवार्य पथ्य प्रतिदिन दुर्लभ हो, उसे एक साथ लाकर कृतयोगी एवं गीतार्थ मुनि किसी अन्य गृह के तलघर में प्रच्छन्न रूप से रख देते हैं। यदि ऐसा कोई तलघर आदि उपलब्ध न हो तो अपने उपाश्रय में ही ऐसा कोना खोजे, जो प्रायः काम में न लिया जाता हो। उसके आगे पर्दा लगा दे ताकि उभय—ग्लान एवं अगीतार्थ की वहां दृष्टि न पड़े। यदि उपाश्रय में ऐसा प्रच्छन्न स्थान न हो तो किसी पुराने घर—प्राचीन श्रावक, भावित कुल आदि में उसे स्थापित करे तथा प्रतिदिन दोनों काल में उसकी प्रतिलेखना करे।

३१२८. ग्लान की चिकित्सा के लिए पथ्य विषयक यह विधि प्रासुक और अप्रासुक, सचित्त एवं अचित्त, परित्तकायिक एवं अनन्तकायिक, आहारिम एवं अनाहारिम तथा स्नेहरहित एवं स्नेहयुक्त दोनों प्रकार के पथ्य के विषय में ज्ञातव्य है। सर्वत्र अल्पदोष और बहुगुण की अनुप्रेक्षा पूर्वक चिकित्सा करणीय है।

३१२९. यदि ग्लान भिक्षु कहे—वैद्य को मत पूछो। तो चिकित्सा जानने वाले परिचारक भिक्षु कहते हैं—हम उसके (वैद्य के) उपदेश से ही चिकित्सा कर रहे हैं। सर्पदष्ट, फोड़े आदि की चिकित्सा में यह विधि है। जो चिकित्साविधि को नहीं जानते, वे सब विषयों में वैद्य को पूछकर ही चिकित्सा करते हैं।

३१३०, ३१३१. ग्लान्य किस रोग से पैदा हुआ—इसका निदान करना चाहिए। यदि अजीर्ण आदि का असाध्य रोग हो तो जब तक रोगी सर्वथा रोग मुक्त न हो जाए, तब तक उसे अनशन करवाए तथा रोगमुक्ति के बाद भी यथासंभव कुछ दिन तपस्या करवाए—यह विधि तपःक्षम मुनि के लिए प्रज्ञप्त है। जो तपस्या न कर सके, उसे अष्टम तप (तेला) करवाए तथा उष्णोदक में अन्न के अंश की क्रमशः वृद्धि की जाए—तेले या बेले के पारणे में प्रथम सात दिन तक पानी में थोड़ा सा मधुर उल्लण (छाछ में गीला किया हुआ ओदन) डाल कर दिया जाए। अग्रिम सात दिनों में उल्लण की मात्रा बढ़ा दे। फिर क्रमशः त्रिभाग, अर्धभाग, दो तिहाई भाग और तीन चौथाई भाग (किंचित् न्यून) मधुर उल्लण या कूरसिक्थ से युक्त उष्ण जल सात-सात दिन के बाद दिए जाएं। अथवा रोग को जानकर जो उसके योग्य पथ्य हो—घृतपान, घेवर आदि भी दिए जा सकते हैं। इस क्रम को अपेक्षानुसार आम्ल गोरस के द्वारा भी किया जा सकता है।

३१३२. इस प्रकार चिकित्सा किए जाने पर भी यदि रोग उपशान्त न हो तो वैद्य को पूछना चाहिए। वैद्य के आठ प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जिनमें प्रथम दो नियमतः ऋद्धिरहित (अकिंचन) होते हैं। शेष छह ऋद्धिरहित भी हो सकते हैं और ऋद्धिमान् भी।

३१३३. वैद्य के आठ प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. संविग्न, २. असंविग्न, ३. लिंगस्थ, ४. श्रावक, ५. यथाभद्रक, ६. अनाभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि, ७. आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि तथा ८. अन्यतीर्थिक।

३१३४. संविग्न और असंविग्न की दृष्टार्थ (गीतार्थ) के साथ चतुर्भंगी कर लेनी चाहिए—१. संविग्न गीतार्थ, २. संविग्न अगीतार्थ, ३. असंविग्न गीतार्थ और ४. असंविग्न अगीतार्थ। सर्वप्रथम पहला भंग ग्राह्य है—यदि वैद्य संविग्न एवं गीतार्थ हो तो उसी से चिकित्सा करवानी चाहिए। अन्यथा यथाक्रम से द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ विकल्प का प्रयोग किया जा सकता है। शेष छह—लिंगस्थ, श्रावक आदि वैद्यों के ऋद्धिसहित एवं ऋद्धिरहित तथा कुशल और अकुशल चार-चार विकल्प हो जाते हैं। इनमें सभी जगह पहले कुशल का तथा ऋद्धिरहित का विकल्प ग्राह्य है। ऋद्धिरहित कुशल लिंगस्थ वैद्य न हो तो ऋद्धिमान् कुशल लिंगस्थ से चिकित्सा करवाए। श्रावक पद से अणुव्रती श्रावक तथा संज्ञी पद से अविरत सम्यग् दृष्टि एवं यथाभद्रक ग्राह्य है। अनाभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि आदि तीनों को असंज्ञी पद से ग्रहण किया गया है। एक, दो या बहुत वैद्य हो, वहां सर्वत्र कुशल से चिकित्सा कराई जाए—इनमें गति-आगति (किसको लाना, ले जाना सुकर है इत्यादि) यथाभिहित विधान (भेद-क्रम) से ज्ञातव्य है।

३१३५. वोच्चत्थे चतुलहुगा, अगीतत्थ चउरों मासऽणुग्घाता।
चउरो य अणुग्घाता, अकुसलकुसलेण करणं तु^१ ॥३०१०॥
३१३६. चोदगपुच्छा गमणे, पमाण उवकरण सउण वावारे।
संगारो य गिहीणं, उवदेसो चेव तुलणा य^२ ॥३०११॥ नि ६५४॥
३१३७. पाहुडिय त्ति य एगे, णेतव्व गिलाणगो उ वेज्जघरं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा^३ ॥३०१२॥
३१३८. लिंगत्थमादियाणं, छण्हं वेज्जाण णिज्जतो^४ मूलं।
संविग्गमसंविग्गे, उवसग्गं चेव आणेज्जा ॥३०१३॥
३१३९. रह-हत्थि-जाण-तुरगे, अणुरंगादीहि^५ एतं^६ कायवधो।
'आयमण-मट्टि'^७-उदगे, कुरुकुय सघरे तु परजोगे ॥३०१४॥
३१४०. वातातवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किं सुसाणकुडी।
सच्चेव य पाहुडिया, उवस्सए फासुगा सा तु^८ ॥३०१५॥
३१४१. उग्गधारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे।
कालण्णू देसण्णू तस्साणुमते य पेसेज्जा^९ ॥३०१६॥
३१४२. एयगुणविप्पमुक्के, पेसंतस्स चउरो अणुग्घाता।
गीतत्थेहि य गमणं, गुरुगा य इमेहिं ठाणेहिं^{१०} ॥३०१७॥
३१४३. एक्कं^{११} दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव णीहारी।
किण्हे नीले मइले^{१२}, चोल-रय-णिसेज्ज-मुहपोत्ती ॥३०१८॥

१. बृभा १९१३।

२. बृभा १९१४।

३. बृभा १९१५।

४. गम्मऊ (बृभा १९१७)।

५. अणुरंगा गड्डी (चू)।

६. एति (दे), एते (भ), इति (बृभा १९१६)।

७. आसण मट्टिय (बृभा)।

८. बृभा १९१८।

९. बृभा १९१९।

१०. बृभा १९२०।

११. एक्कग (बृभा १९२१)।

१२. मलिणे (मु)।

३१३५. यदि संविग्न गीतार्थ को छोड़कर असंविग्न गीतार्थ से चिकित्सा करवाई जाए तो विपर्यास के लिए चार मास का उद्घातिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुशल और अकुशल विकल्पविषयक विपर्यास करने पर अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—गीतार्थ कुशल को छोड़कर अगीतार्थ कुशल से तथा कुशल को छोड़कर अकुशल से चिकित्सा करवाने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१३६. ग्लान मुनि को वैद्य को दिखाना हो, उसके विषय में नौ द्वार प्रज्ञप्त हैं—१. प्रेरक का प्रश्न, २. गमन ३. प्रमाण, ४. उपकरण, ५. शकुन, ६. व्यापार, ७. गृहस्थों को संगार (संकेत), ८. उपदेश और ९. तुलना।^१
३१३७. प्रेरक (प्रश्नकर्ता) पूछता है—ग्लान को वैद्य के पास ले जाना चाहिए या वैद्य को ग्लान के पास लाना चाहिए? इसके उत्तर में कुछ आचार्य कहते हैं—वैद्य को ग्लान के पास लाने से प्राभृतिकादोष—हिंसा आदि की संभावना रहती है अतः ग्लान को ही वैद्य के घर ले जाना चाहिए। आचार्य कहते हैं—जो ऐसा कहते हैं, उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१३८, ३१३९. प्रेरक का मत है कि लिंगस्थ, श्रावक आदि छह वैद्यों के पास ग्लान को लेकर जाना चाहिए। संविग्न और असंविग्न को उपाश्रय में बुलाया जाए, क्योंकि लिंगस्थ, श्रावक आदि को यदि उपाश्रय में बुलाया जाएगा तो वे रथ, हाथी, यान (शिविका) आदि, घोड़े, गाड़ी आदि के द्वारा जाएंगे तो मुनि के निमित्त पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि की हिंसा हो जाएगी। वह आने पर पैर धोएगा, हाथ आदि से रोगी का स्पर्श कर हाथ धोएगा, आचमन, पादप्रक्षालन आदि क्रियाएं करेगा तो अप्काय आदि का वध होगा अतः उन्हें उपाश्रय में नहीं बुलाना चाहिए। यदि वह अपने घर में ये सब क्रियाएं करेगा तो उसके पर—मुनि के योग से हिंसा आदि नहीं होंगे।

३१४०. आचार्य कहते हैं—यदि ग्लान को वैद्य के घर ले जाया जाए तो मार्ग में हवा (ठंडी हवा या गर्म लू आदि) तथा धूप आदि के कारण ग्लान को परितापना हो सकती है। कदाचित् आगाढ़ रोगी बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, मूर्च्छित हो सकता है। कदाचित् बीच में मर जाए और परिचारक मुनियों को पता न चले तो जैसे ही वैद्य उसका मुंह अनावृत करे तो देखते ही कहेगा—क्या मेरा घर श्मशानगृह है, जो मरे हुए को यहां लाए हो। यदि वैद्य सचेत हो तो मृत को छू लेने के कारण स्नान करेगा, छूत उतारने के लिए सर्वत्र गोबरयुक्त पानी के छींटे देगा। इस प्रकार ग्लान को वैद्य के घर ले जाने से सब कुछ प्राभृतिका ही होगा। इसके स्थान पर यदि वैद्य को उपाश्रय में लाया जाए तो उपर्युक्त परिस्थितियों की संभावना नहीं रहेगी।

३१४१. १. जो वैद्य के उपदेश को सम्यक् ग्रहण करने एवं धारण (याद) करने में समर्थ हो, २. कुशल हो, ३. दक्ष हो, ४. परिणामक (अपवाद में सम्यक् श्रद्धा रखने वाला) हो, ५. प्रियधर्मा हो, ६. कालज्ञ, ७. देशज्ञ तथा ८. ग्लान मुनि के अनुमत हो, उसे वैद्य के पास भेजना चाहिए।

३१४२. यदि आचार्य इन उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि को वैद्य के समीप भेजे तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह भी इन गुणों से युक्त दो गीतार्थ मुनियों के साथ वैद्य के समीप जाए, अन्यथा उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१४३. वैद्य के पास तीन या पांच मुनियों को भेजा जाए, क्योंकि वह एक को देखकर यम-दंड, दो को यमदूत एवं चार को देखकर ये निर्हारी (अर्थी उठाने वाले) आए हैं—इस प्रकार की अशुभ प्रतिपत्ति करके द्विष्ट हो सकता है। वैद्य को लेने के लिए जाएं, उन मुनियों के उपकरण—चोलपट्टा, रजोहरण, निषद्या, मुखवस्त्रिका आदि काले, नीले या मैले नहीं होने चाहिए। इसलिए वे शुक्ल वर्ण वाले उज्ज्वल उपकरणों से युक्त होकर जाएं। प्रमाण एवं उपकरण दोनों के विपर्यास में प्रत्येक में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गाथा ३१३७-५४।

३१४४. मइल-कुचेले अब्भंगियल्लए साण^१ खुज्ज वडभे य।
‘कासायवत्थकुच्चंधरा’^२ य कज्जं न साहेति ॥ ३०१९ ॥
३१४५. नंदीतूरं पुण्णस्स, दंसणं संख-पडहसद्धो य।
भिंंगार-छत्त-चामर, एवमादी पसत्थाइं^३ ॥ ३०२० ॥
३१४६. आवडणमादिगेसुं^४, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाता।
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इमे भवे दोसा^५ ॥ ३०२१ ॥
३१४७. साडऽब्भंगण उव्वलण, लोयछारुक्कुरुडे य छिंद भिंदंते।
सुह-आसण रोगविधी^६, उवदेसो वावि आगमणं ॥ ३०२२ ॥
३१४८. पच्छाकडे^७ य सण्णी^८, दंसणऽहाभददाणसद्धे^९ य।
मिच्छादिट्ठी संबंधिए य परतित्थिगे चेव^{१०} ॥ ३०२३ ॥
३१४९. वाहि-णिदाण^{११}-विकारं^{१२}, देसं कालं वयं च धाउं च।
आहार-अग्गि धितिबल, समुइं ‘वा तस्स साहंति’^{१३} ॥ ३०२४ ॥
३१५०. कलमोदणो य खीरं, ससक्करं तूलियादिया^{१४} दव्वे^{१५}।
भूमिघरेट्टग^{१६} खेत्ते, काले अमुगीइ वेलाए ॥ ३०२५ ॥
३१५१. इच्छाणुलोमभावे, ण य तस्स ऽहिया^{१७} ‘ऽहवा जहिं’^{१८} विसया।
‘अहवा खित्तादीसू’^{१९}, पडिलोमा जा जहिं किरिया ॥ ३०२६ ॥

१. साणे त्ति मंदपादो शुक्लपादो वा (चू)।

२. °त्थ उद्धूलिया (बृभा १९२२)।

३. बृभा १९२३।

४. °मादीसू (दे), °मादिएसु (मु, भ)।

५. बृभा १९२४।

६. °विहिं (बृभा १९२५)।

७. पुराणो पच्छाकडो (चू)।

८. गिहीयाणुव्वतो सावगो सण्णी (चू)

९. दंसणविरहितो अरहंतेसु तस्सासणे साधू उभयभदसीलो अहाभदो भण्णति (चू)।

१०. बृभा १९२६।

११. णिदाणं रोगुत्थाणकारणं (चू)।

१२. प्रवर्धमानरोगविशेषो विगारः (चू)।

१३. च कहिंति जा जस्स (बृभा १९२७)।

१४. °याइयं (बृभा १९२८), सस्सदेहअत्थरणं तूली (चू)।

१५. दव्वम्मि (पा)।

१६. °रेट्टिग (पा)।

१७. वहिया (दे)।

१८. जहिं भवे (बृभा १९२९)।

१९. अहवण दित्तादीसुं (बृभा), °दीसुं (दे, पा)।

३१४४. वैद्य के पास जाते समय मलिन और कुत्सित (जीर्ण) वस्त्र पहने हुए व्यक्ति का मिलना, घी आदि से चुपड़े हुए शरीर वाले^१ व्यक्ति का मिलना, कुत्ते का वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व में जाना,^२ कुब्ज, वामन का सामने मिलना, गेरु वस्त्र वाले अथवा कूर्चन्धर (दाढ़ी-मूँछ वाले) व्यक्ति का सामने मिलना—ये सारे अप्रशस्त शकुन कार्यसिद्धि में बाधक होते हैं।

३१४५. नन्दी तूर्य (विविध वाद्यों का एक साथ बजना), पूर्ण कलश का दर्शन, शंख एवं पटह की ध्वनि का श्रवण, भृंगार, छत्र या चामर आदि (सिंहासन, दही आदि) को देखना—ये सारे प्रशस्त शकुन हैं।

३१४६. वैद्य के पास जाते समय यदि किसी उदुम्बर वृक्ष आदि से टकरा जाए, स्खलित हो जाए, गिर जाए या कोई दंडिक पुरुष आदि पूछ ले कि कहां जा रहे हो, कोई छींक दे—इत्यादि अप्रशस्त शकुन हो जाए, तब भी कोई मुनि वैद्य के पास जाता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वैद्य के घर पहुंचने पर ये कुछ दोष हैं जो परिहर्तव्य हैं—

३१४७. यदि वैद्य एक शाटक में हो, तैल मालिश कर रहा हो, उबटन लगाए हुए हो, लोच—शिरोमुंडन या हजामत आदि बना रहा हो, राख या कूड़े के ढेर के पास बैठा हो या कोई छेदन-भेदन का कार्य कर रहा हो तो उसका परिहार करे। उसे रोगी या रोग के विषय में न पूछे।^३ यदि वैद्य सुखासन में (आराम से) बैठा हो, वह रोग-विधि या चिकित्सा-विधि विषयक ग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहा हो तो उसे रोग के विषय में पूछना चाहिए। ऐसी स्थिति में पूछने पर वह रोगी के विषय में कुछ आवश्यक निर्देश दे देता है अथवा स्वयं रोगी के पास आ जाता है।

३१४८. मुनि वैद्य को बुलाने जाए, उससे पूर्व पच्छाकड^४ व्रतीश्रावक, दर्शनश्रावक, यथाभद्रक, दानश्राद्ध, मिथ्यादृष्टि^५, रुग्ण मुनि के ज्ञातिजन तथा शैव आदि परतीर्थिकों को संकेत दे दे कि जब वैद्य को लाएं, तब आप लोग यहां रहें और जो वह कहे, उसे सम्यक् ग्रहण करें।

३१४९. जो मुनि वैद्य के पास जाएं, वे वैद्य को रोगी के रोग, रोगोत्पत्ति का कारण, रोग के प्रवर्धमान विकार, रोगोत्पत्ति विषयक क्षेत्र एवं काल, रोगी की उम्र आदि सारा बता दें तथा यह भी बता दें कि उसके वात, पित्त आदि में से किस धातु की प्रबलता है, आहार कितना चलता है, उसका शारीरिक बल एवं धृतिबल कितना है? ताकि वैद्य उसकी सम्यक् चिकित्सा कर सके।

३१५०. रोगी के विषय में सारी बात सुनने पर वैद्य उसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का निर्देश देता है, जैसे—उसे कलम—शालि चावल दिए जाएं या शर्करायुक्त दूध दिया जाए, उसे रूई आदि के बिस्तर पर सुलाया जाए। क्षेत्रतः यथा भूमिधर या अट्टलिका में रखा जाए आदि। कालतः यथा अमुक द्रव्य इसे अमुक समय दिया जाए आदि।

३१५१. भावतः उसे जैसा अनुकूल लगे, वह द्रव्य दिया जाए या अमुक विषय (गन्ध, रस आदि) उसके लिए अहितकर है, अतः न दिया जाए। अथवा क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त आदि जैसा रोगी हो, उसके अनुसार अपमान आदि प्रतिकूल या अनुकूल क्रिया का निर्देश दे देता है।

१. अब्भंगिएल्लए—घी आदि से चुपड़े हुए शरीर वाला।

२. बृभा १५४७, वृ. पृ. ४५६—श्वेता वामपार्श्वद् दक्षिणपार्श्वगामी।

३. यदि रोगी के छेदन-भेदन विषयक बात हो तो उस अप्रशस्त योगकाल में भी पूछी जा सकती है।

४. साधुत्व को छोड़कर पुनः गृहस्थवास में प्रविष्ट।

५. अन्य मतावलम्बी—बौद्ध आदि।

३१५२. णियगेहि ओसधेहि य, कोइ भणेज्जा करेमऽहं किरियं ।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं^१ भावं च अणुमण्णे^२ ॥३०२७॥
३१५३. जारिसगं गेलण्णं, जा य अवत्था तु वट्टते^३ तस्स ।
अद्दट्टण ण सक्का, वोत्तुं 'तो गच्छिमो'^४ तत्थ ॥३०२८॥
३१५४. अपडिहणंता सोउं, कतजोगाऽलंभे तस्स किं देमो ?
जहविभवा तेगिच्छा, जा लाभो^५ ताव जूहं ति ॥३०२९॥
३१५५. एगो संघाडो वा, पुव्वं गंतूणुवस्सयम्मि करे ।
लिंपण-सम्मज्जणयं, गिलाणजोगं च आणेति ॥३०३०॥
३१५६. वेज्जस्स य पुप्फादी, विरइत्ता आसणे य दोण्णि तहिं ।
वाइत्ता^६ य गिलाणं, पगासें ठवइत्तु अच्छंति ॥३०३१॥
३१५७. अब्भुट्टाणे आसण, दावण^७-भदे^८ भती य आहारे ।
गिलाणस्स^९ आहारे, णेतव्वो आणुपुव्वीए ॥३०३२॥ नि ६५५ ॥
३१५८. अब्भुट्टाणे गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो^{१०} भवे दोसा ।
मिच्छत्त-रायमादी, विराधणा कुल-गणे संघे^{११} ॥३०३३॥ नि ६५६ ॥
३१५९. अणभुट्टाणे गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो भवे दोसा ।
मिच्छत्त सो वि^{१२} अन्नो, गिलाणमादी विराधणया ॥३०३४॥
३१६०. गीतत्थे आणयणं, पुव्वं उट्टित्तु होति^{१३} अभिलावो ।
गिलाणस्स दायण^{१४}-सोहणं^{१५} च चुण्णादिगंधे य ॥३०३५॥

१. नायं (दे) ।

२. बृभा १९३१, ३१५२, ३१५३—ये दोनों गाथाएं भ प्रति में
३१५४ के बाद हैं ।

३. वट्टती (दे) ।

४. तं वच्चिमो (बृभा १९३२) ।

५. लंभो (बृभा १९३०) ।

६. सातिया (दे) ।

७. दायण (दे) ।

८. भत्ते (दे, मु) ।

९. °स्स य (क, बृभा १९३३) ।

१०. °दिया (मु) ।

११. बृभा १९३४ ।

१२. व (बृभा १९३५) ।

१३. होंति (दे) ।

१४. दावणं (बृभा १९३६), दायणं (मु) ।

१५. धोवणं (बृभा) ।

३१५२. यदि ग्लान का कोई ज्ञातिजन कहे—मैं अपनी औषध, पथ्य आदि के द्वारा इसकी चिकित्सा करूंगा तो आचार्य पहले उसके (संज्ञातक के) भाव जाने कि यह निर्जरा के लिए कह रहा है या उन्निष्क्रान्त करने के लिए? तथा उस मुनि का भाव जाने कि उसकी संयम में कितनी धृति एवं स्थाम (दृढ़ता) है। दोनों के क्रमशः भाव एवं स्थाम (बल) का ज्ञान कर उसे चिकित्सा की अनुज्ञा दे।

३१५३. आपने जैसा रोग बताया तथा रोगी की जो अवस्था बताई, उस स्थिति में मैं उसे देखे बिना इलाज नहीं कर सकता, उसके लिए आवश्यक औषध या पथ्य का निर्देश नहीं दे सकता, अतः मैं स्वयं वहां चलता हूँ—ऐसा कहता हुआ वैद्य स्वयं आ जाता है।

३१५४. तुलना—रोगी के विषय में पूरी जानकारी करके जब वैद्य उन्हें द्रव्य, क्षेत्र आदि विषयक जो निर्देश दे, मुनि उसे समग्रता से सुने, बीच में न बोले। साथ में स्वयं की तुलना करे कि जो द्रव्य, जिस पथ्य एवं काल में रोगी को दातव्य है, क्या उनके लाभ की संभावना निश्चित है? यदि उस द्रव्य की उस काल में प्राप्ति की संभावना कम हो या न हो तो वैद्य के पूरी बात कहने के बाद पूछे कि यदि प्रयत्न करने पर भी अमुक द्रव्य न मिले तो क्या दें? वैद्यशास्त्र में जो चिकित्सा-विषयक विकल्प बताए गए हैं, उनको पूछें। विकल्प विषयक प्रश्न तब तक करें, जब तक ध्रुवलाभ (लाभ का निश्चित विश्वास) हो, वह कांजी के पानी या मूंगजूस तक का अन्तिम विकल्प ज्ञात कर ले।

३१५५, ३१५६. यदि रोगी को देखने के लिए वैद्य उपाश्रय में आए तो जो उन्हें बुलाने जाए वे यदि तीन मुनि हों तो एक, और पांच हों तो दो (संघाटक) मुनि पहले उपाश्रय में जाकर गुरु को सूचित करें कि वैद्य आ रहा है। ताकि वैद्य के आने से पूर्व उपाश्रय का लिंपन, सम्मार्जन (साफ-सफाई) किया जा सके और ग्लान प्रायोग्य द्रव्य आदि लाया जा सके। यदि रोग विशेष के कारण दुर्गंध आदि हो तो गन्ध द्रव्य (पुष्पचूर्ण) आदि की विरचना (प्रक्षेप) करे तथा वैद्य एवं गुरु दोनों के लिए दो आसन बिछा दे। ग्लानमुनि के शरीर, उपकरण आदि को शुचि बनाकर उसको प्रकाश में बिठा दे।

३१५७. वैद्य जब उपाश्रय में आए, तब जिस विधि का आचरण किया जाता है, वह क्रमशः इस प्रकार ज्ञातव्य है—१. अभ्युत्थान, २. आसन, ३. दर्शन, ४. भद्रक, ५. भृति, ६. आहार और ७. ग्लान का आहार।^१

३१५८. यदि वैद्य के आने पर आचार्य अभ्युत्थान दे—उठकर स्वागत करे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है। राजा आदि मिथ्या प्रतिपत्ति^२ करते हैं, फलतः राजद्वेष से कुल, गण एवं संघ का प्रस्तार (विनाश) भी हो सकता है।

३१५९. यदि आचार्य वैद्य को अभ्युत्थान न दे, तब भी आज्ञाभंग आदि दोष तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ये आचार्य अहंकारी हैं—इत्यादि सोचकर वैद्य या अन्य व्यक्ति मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं—मिथ्या प्रतिपत्ति करते हैं तथा ग्लान की चिकित्सा सम्यक् प्रकार से नहीं करते, फलतः उसकी विराधना होती है।

३१६०. जब गीतार्थ मुनि वैद्य को लायें, उससे पूर्व ही आचार्य चंक्रमण आदि के बहाने से उठ जाएं। वैद्य के बोलने से पूर्व स्वयं आचार्य वार्ता प्रारम्भ करें। जिसकी चिकित्सा करवानी हो, वैद्य को दिखाने से पूर्व उस ग्लान मुनि के शरीर और उपकरण की साफ-सफाई कर दें। स्थान में यदि दुर्गंध आती हो तो पटवास आदि सुगंधित चूर्ण से उसका अपनयन कर दें। यदि ग्लान के किसी फोड़े आदि की चिकित्सा करनी हो तो वैद्य को हाथ धोने के लिए गर्म जल, मिट्टी आदि दे दें।

१. प्रस्तुत अर्थविषयक द्वारगाथा में बृथा १९३३ में दर्शन के बाद भद्र आया है।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. ३१५८-३१६७।

३. कोई राजा, अमात्य या अन्य राज्याधिकारी को ज्ञात हो कि आचार्य ने उसको अभ्युत्थान दिया तो वे सोचते हैं—देखो! हमें अभ्युत्थान नहीं देते और हमारे भृत्य तुल्य लोगों को देते हैं, अतः ये दुदृष्टधर्मा हैं।

३१६१. चतुपादा तेगिच्छा, को भेसज्जादि दाहिती तुब्भं?
तहियं तु^१ पुव्वपत्ता, भणंति पच्छाकडादम्हे ॥ ३०३६ ॥ नि ६५७ ॥
३१६२. कोई मज्जणगविधी, सयणं आहार-उवधि केवडिए^२।
गीतत्थेहि य^३ जतणा, अजतण गुरुगा य आणादी^४ ॥ ३०३७ ॥ नि ६५८ ॥
३१६३. एतस्स णाम दाहिह, को मज्जणगादि दाहिती मज्झं?
ते चेव णं भणंती, जं इच्छसि 'तं वयं'^५ सव्वं ॥ ३०३८ ॥
३१६४. जं एत्थ 'सव्व अम्हे'^६, पडिसेधे गुरुग दोस आणादी।
'पच्छाकडा य असती'^७, पडिसेधे गुरुग आणादी ॥ ३०३९ ॥ नि ६५९ ॥
३१६५. जुत्तं सयं ण दाउं, अण्णे देंते वि णं^८ णिवारेंति।
ण करेज्ज गिलाणस्सा^९, अवप्पयोगं च से कुज्जा^{१०} ॥ ३०४० ॥
३१६६. दाहामो त्ति व गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो भवे दोसा।
संका व सूयगेहिं, हित-णट्टे तेणगे वावि^{११} ॥ ३०४१ ॥
३१६७. 'पडिसेधे ऽजतणाए'^{१२}, दोसा जतणा इमेहि ठाणेहिं।
भिक्खण इड्डी 'बितियं, रहिते'^{१३} जं भणिहिसी जुत्तं ॥ ३०४२ ॥
३१६८. अहिरण्णगत्थ भगवं, सक्खी ठावेह 'देंति जे पउणं'^{१४}।
धंतं^{१५} पि दुद्धकंखी, ण लहति दुद्धं अधेणूतो^{१६} ॥ ३०४३ ॥
३१६९. पच्छाकडादि जतणा, दावणकज्जेण जा भणित पुव्विं।
सड्ढा^{१७} विभवविहूणा, तेच्चिय इच्छंतगा सक्खी ॥ ३०४४ ॥

१. च (बृभा १९३७)।

२. केवडियं ति केवगा (चू)।

३. × (दे)।

४. इस गाथा के लिए बृहत्कल्पभाष्य (१९३८) की टीका में 'निर्युक्तिगाथा' का उल्लेख है।

५. अम्हे तं (बृभा १९३९)।

६. अम्हे सव्वं (बृभा १९४०)।

७. एएसिं असईए (बृभा)।

८. ऊ (बृभा १९४१)।

९. तस्स किरियं (बृभा)।

१०. दिज्जा (बृभा, भ)।

११. बृभा १९४२।

१२. 'सेह अज' (भ, बृभा १९४३)।

१३. बिइयपदरहिय (बृभा)।

१४. जे मम देंति (बृभा १९४४)।

१५. धंतं पि त्ति देशीवचनत्वाद् अतिशयेनापि दुग्धकांक्षी (बृभाटी)

१६. अधेणू विसुक्खली वज्झा (चू)।

१७. सड्ढा (बृभा १९४५)।

३१६१. वैद्य कहता है—चिकित्सा चतुष्पाद होती है।^१ आपको भैषज्य कौन देगा? वैद्य के ऐसा पूछने पर पूर्व संकेतित पश्चात्कृत, यथाभद्रक आदि कहते हैं—हम देंगे—भैषज्य आदि की सब व्यवस्था हम करेंगे।

३१६२. कोई वैद्य कहे—इसके लिए विविध उपचारविधियों से युक्त स्नान की अपेक्षा है, सोने के लिए पलंग, विशिष्ट पथ्ययुक्त आहार एवं अमुक-अमुक उपधि की अपेक्षा है। तो वहां उपस्थित पश्चात्कृत, श्रावक आदि कहते हैं—ठीक है, ये व्यवस्थाएं हो जाएंगी। यदि पश्चात्कृत, श्रावक, दानश्राद्ध आदि कोई वहां न हो तो गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक वैद्य की सारी शर्तों को स्वीकार करे। यदि वे अयतना पूर्वक स्वीकार करते हैं अथवा उसका प्रतिषेध करते हैं तो उन्हें आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों की प्राप्ति होती है तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१६३. ठीक है, ग्लानमुनि के लिए आप सब कुछ देंगे, पर मेरे स्नान, शयन आदि की क्या व्यवस्था करेंगे—मुझे कौन देगा? वैद्य के कहने पर पश्चात्कृत आदि उसी प्रकार उसे कहते हैं—जो जो आप चाहेंगे, वह, हम सब कुछ आपको देंगे।

३१६४. चिकित्सा के विषय में जो-जो अपेक्षित होगा, वह सब कुछ हम देंगे—ऐसा कहने वाले पश्चात्कृत आदि को अधिकरण भय से जो मुनि प्रतिषेध करते हैं, उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। पश्चात्कृत आदि के अभाव में जो मुनि वैद्य को किसी अपेक्षित वस्तु का प्रतिषेध करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं।

३१६५. पश्चात्कृत, श्रावक आदि यदि वैद्य को वेतन, भोजन आदि कुछ दें और मुनि उसे निषेध करें तो वैद्य सोचेगा—मुनि अपरिग्रही होते हैं अतः ये न दें, यहां तक तो ठीक है। पर जो दे रहे हैं, उन्हें ये क्यों रोकें? इस प्रकार उनके निषेध से प्रद्विष्ट होकर वह ग्लान की चिकित्सा नहीं करता अथवा उस पर कोई अपप्रयोग—गलत औषध आदि का प्रयोग कर देता है, अतः मुनि उन्हें निषेध न करें।

३१६६. 'हम तुम्हें भोजन या वेतन देंगे।' इस प्रकार अयतनापूर्वक बोलने वाले मुनि के आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष लगते हैं, चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ये अकिंचन मुझे कहां से देंगे—इत्यादि शंका हो सकती है, किसी का धन चोरी चला जाए, नष्ट हो जाए या चोर ले जाए तो शंका हो सकती है कि वैद्य को देने के लिए ले लिया होगा। कोई चुगलखोर राजकुल में जाकर सूचना भी दे सकता है, अतः अयतनापूर्वक भोजन आदि की स्वीकृति नहीं देनी चाहिए।

३१६७. पश्चात्कृत आदि के अभाव में मुनि के अयतनापूर्वक भोजन, वेतन आदि का निषेध करने पर उपर्युक्त दोषों की संभावना रहती है, अतः वह कहे—जो आप कहेंगे, यथाशक्ति हम आपको सब कुछ देंगे। हम भिक्षा के द्वारा लाकर या किसी ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति की दीक्षा^२ से प्राप्त कर अथवा अपवाद पद में अन्य किसी विधि से—इनमें से किसी भी प्रकार से आपकी व्यवस्था करेंगे।

३१६८. कदाचित् कोई वैद्य कहे—भगवन्! आपका गच्छ अहिरण्य—अकिंचन है। अतः आप किसी को साक्षी रूप में स्थापित करें ताकि ग्लान मुनि के स्वस्थ होने पर वे कुछ दें, क्योंकि कितना भी कोई दुग्ध का आकांक्षी हो, अधेनु (वन्ध्या गाय) से दूध नहीं मिलता।

३१६९. वैद्य के ऐसा कहने पर मुनि उन पश्चात्कृत आदि को साक्षी बनाए, जिन्हें दानकार्य के विषय में पहले ही यतनापूर्वक कहा जा चुका है। जो श्रावक वैभवरहित होने पर भी श्रद्धालु हों, उन्हें स्वेच्छापूर्वक साक्षी बनाकर कहे—हम भिक्षा के द्वारा जैसा मिलेगा तथा जैसा, जितना उचित होगा वैसा, उतना इन्हें देंगे।

१. उसके चार अंग प्रज्ञप्त हैं—१. ग्लान, २. प्रतिचारक, ३. वैद्य एवं ४. भैषज्य।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, गाथा ३१७०।

३१७०. पंचसतदाणगहणे, पलालखेलाण छडुणं च जहा।
सहसं च सतसहस्सं, कोडी रज्जं च अमुगं वा^१ ॥ ३०४५ ॥
३१७१. एवं ता गिहवासे, 'आसी य इदाणि'^२ किं भणीहामो।
जं तुज्झ ऽम्ह य जुत्तं, 'ओगाढे तं'^३ करीहामो ॥ ३०४६ ॥
३१७२. परसक्खियं णिबंधति, धम्मावणि तत्थ कइयदिट्ठतो।
पासादे कूवादी, वत्थुकुरुडे ठितो दाई^४ ॥ ३०४७ ॥
३१७३. अंतो पर-सक्खीयं^५, धम्मादाणं पुणो वि णेच्छंते।
सच्चेव होति जतणा, अरहितरहितम्मि जा भणिता ॥ ३०४८ ॥
३१७४. पाहिज्जे णाणत्तं, बाहिं तु भतीय एस चेव गमो।
पच्छाकडादिगेसुं, अरहितरहिते य जो भणितो^६ ॥ ३०४९ ॥
३१७५. मज्जणगादिच्छंते^७, बाहिं अब्भंतरे व अणुसट्ठी।
धम्मकह-विज्ज-मंते, निमित्त तस्सट्ठ अण्णो वा^८ ॥ ३०५० ॥
३१७६. तह से कहेंति जह होति, संजतो सण्णि-दाणसट्ठो वा।
बहिया तु अणहायंते, करंति खुड्डा सिमं^९ अंतो^{१०} ॥ ३०५१ ॥
३१७७. उसिणे संसट्ठे वा^{११}, भूमी-फलगादि-भिकख-चड्डी।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्ज-णिमित्ते य अंत बहिं^{१२} ॥ ३०५२ ॥
३१७८. तेल्लुव्वट्टण णहावण, खुड्डाऽसति वसभ^{१३}-अण्णलिंणेणं^{१४}।
पट्टदुगादी^{१५} भूमी, अणिच्छि जा तूलि पल्लंके^{१६} ॥ ३०५३ ॥

१. बृभा १९४६।

२. आसि इदाणीं (दे)।

३. तं उग्गाढम्मि (बृभा १९४७), उवसंते किं (दे, पा),
उवसंते तं (भ)।

४. धाती (क)।

५. सक्खियं (भ)।

६. बृभा १९४८, दे प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है।

७. मज्जणं स्नानं, आदिसद्दातो अब्भंगुव्वट्टणादि,
आहारसयणादि वा (चू)।

८. बृभा १९४९।

९. इमं से (चू)।

१०. बृभा १९५०।

११. या (दे), य (भ)।

१२. बृभा १९५१, बृभाटी में इस गाथा के लिए निर्युक्ति-
गाथासमासार्थः का उल्लेख है।१३. गच्छस्स सुभासुभकारणेसु भारुव्वहणसमत्था वसभा
भण्णंति (चू)।

१४. वण्णं (भ)।

१५. °दुवादी (दे)।

१६. बृभा १९५२।

३१७०. (यदि वे साक्षी बनना न चाहें तो कोई प्रव्रजित धनी मुनि यह कहे) देखो, हम जब गृहवास में थे, तब जैसे पलाल (एक प्रकार की घास) एवं श्लेषम को फेंका जाता है, वैसे ही पांच सौ रुपयों का दान देना और पांच सौ रुपयों का अर्जन करना हमारे लिए साधारण काम था। इसी प्रकार हजार, लाख, करोड़, राज्य अथवा अमुक—अनिर्दिष्ट संख्या तक द्रव्य का दान देना और कमाना हमारे लिए सामान्य था, क्योंकि गृहवास में हमारे पास इतना वैभव था।

३१७१. इस प्रकार गृहवास में तो हम ऋद्धिमान् थे, लेकिन अब श्रमण हैं, अकिंचन हैं अतः क्या कहें। फिर भी आगाढ़ ग्लान्य का प्रसंग है अतः जो हमारे लिए युक्त होगा, हम आपके लिए करेंगे।

३१७२. इतना कहने पर भी यदि वैद्य परसाक्षी का आग्रह करे तो उसे खरीददार के दृष्टान्त^१ से समझाए। यदि प्रज्ञापित करने पर भी यदि वह न माने तो अवधिज्ञान आदि के द्वारा जानकर किसी शून्य प्रासाद, वास्तु अथवा काष्ठ आदि के ढेर आदि में जहां कहीं कोई धन आदि मिले उसे लाकर दे, पर प्रतिषेध न करे।

३१७३. परसाक्षी अन्तिम विकल्प है। अनागन्तुक—तत्रस्थ वैद्य को भी आगन्तुक वैद्य के समान ही धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा देनी चाहिए। यदि वह भी धर्म ग्रहण करना नहीं चाहे तो उसे भी पहले पश्चात्कृत, श्रावक आदि हों तो उनसे द्रव्य आदि दिलवाए और वे न हों तो पूर्वोक्त यतनापूर्वक वे ही सारे विकल्प क्रमशः अपनाए।

३१७४. आगन्तुक और तत्रस्थ वैद्य विषयक विधि में केवल पाथेय की भिन्नता है क्योंकि उसका कथन केवल बाह्य—आगन्तुक वैद्य के विषय में प्रज्ञप्त है। शेष—पश्चात्कृत आदि के होने पर तथा न होने पर समान ही विधि है।

३१७५. बाह्य—आगन्तुक वैद्य हो या आभ्यन्तर—तत्रस्थ, यदि वे स्नान, उद्वर्तन आदि की इच्छा करें तो उन्हें अनुशिष्टि (शिक्षा) प्रदान करनी चाहिए—मुनि ऐसी व्यवस्थाएं नहीं कर सकते। यदि वे सामान्य अनुशिष्टि से न समझें तो समझाने के लिए उन्हें धर्मकथा कहे, विद्या या मंत्र के द्वारा उसे आवर्जित करे—उसे समझाए, निमित्त कथन या अन्य किसी प्रकार से आकृष्ट करे।

३१७६. वैद्य को इस प्रकार की धर्मकथा कहे कि उसे वैराग्य हो जाए और वह संयती, श्रावक या दानश्राद्ध गृहस्थ हो जाए और ग्लानमुनि की मुफ्त चिकित्सा कर दे। धर्मकथा की ऐसी लब्धि न हो, विद्या आदि भी न हो और पश्चात्कृत, श्रावक आदि भी कोई वहां न हो तो उसे कहे कि बाहर कूप, तालाब आदि में (स्नान हेतु) जा सकता है। यदि वह स्वयं जाकर बाहर स्नान करना न चाहे और उपाश्रय में कोई अन्य गृहस्थ आदि न हो तो उपाश्रय के भीतर क्षुल्लक उसे स्नान करवाए।

३१७७. १. उपाश्रय के भीतर स्नान करने वाले वैद्य को उष्णोदक दिया जाए। यदि उष्णोदक न हो तो संसृष्ट (छाछ मिश्रित जल) या अन्य प्रासुक जल दे। २. उसके शयन की व्यवस्था भूमि या फलक पर करे। ३. भिक्षा में प्राप्त द्रव्यों से उसे काष्ठपात्र आदि में भोजन करवाए। ४. यदि वास्तव्य या आगन्तुक वैद्य^२ रुपये आदि मांगें तो अनुशिष्टि, धर्मकथा, विद्या अथवा निमित्त का प्रयोग करे।^३

३१७८. क्षुल्लक मुनि उस वैद्य का तैलाभ्यंगन एवं उद्वर्तन कर उसे प्रासुक जल से स्नान कराए। यदि क्षुल्लक मुनि न हों या वे न करा सकें तो वृषभ साधु^४ मुनिवेश का त्याग कर अन्यलिंग (गृहस्थ आदि के वेश) में उसे स्नान करवाए। वैद्य को सोने के लिए पट्टद्विक—संस्तारकपट्ट एवं उत्तरपट्ट दिया जाए। यदि वह भूमि पर न सोए तो उसे फलक यावत् गादी एवं पलंग भी दिया जा सकता है।

१. जिस प्रकार खरीददार (ग्राहक) सोने की दुकान पर जाकर सोना, गंधी की दुकान पर इत्र आदि तथा हलवाई की दुकान पर मोदक आदि खरीदता है, वैसे ही आप धर्म की दुकान धर्म ग्रहण करे।

२. निभा ३ चू. पृ. ११०—अंत इति स वास्तव्यो वेज्जो, बहिरिति आगंतुग।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ३१७८-३१८५।

४. निभा ३ चू. पृ. १०७—गच्छ के शुभाशुभ कार्यों में विविध दायित्वों का निर्वहन करने में समर्थ भिक्षु।

३१७९. समुदाणि^१ ओदणो मत्तगो य^२ णेच्छंत वीसु तवणा वा ।
एवं पऽणिच्छमाणे^३, होति अलंभे इमा जतणा^४ ॥ ३०५४ ॥
३१८०. तिगसंवच्छर तिग-दुग, एगमणेगे य जोणिघाते य ।
संसट्टमसंसट्टे, फासुगमप्फासुगे जतणा^५ ॥ ३०५५ ॥
३१८१. वक्कंतजोणि तिच्छड, दु-एक्कछडणे वि 'एस चेव'^६ गमो ।
एमेव जोणिघाते, तिगादि इतरेण रहिते वा^७ ॥ ३०५६ ॥
३१८२. पुव्वाउत्ते^८ अवचुल्लि^९-चुल्लि सुक्खघणमञ्जुसिरमविद्धे^{१०} ।
पुव्वकत असति दाणे, ठवणा लिंगे य कल्लाणे^{११} ॥ ३०५७ ॥
३१८३. हत्थद्धमेत्तदारुग^{१२}, निच्छल्लियमघुणिता^{१३} अहाकडगा ।
असतीय^{१४} सयंकरणं, अघट्टणोवक्खडमहाउं ॥ ३०५८ ॥
३१८४. कंजिय^{१५} चाउलउदगे, उसिणे संसट्टमेतरे चेव ।
णहाणपियणादि पाणग, पायासति चीर^{१६} दहरगे ॥ ३०५९ ॥

१. समुदानं नाम उच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणम् तत्र लब्धः
सामुदानिकः (बृभाटी)
२. वि (दे) ।
३. तणि° (दे) ।
४. बृभा १९५३ ।
५. बृभा १९५४, बृभाटी में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा'
का संकेत है ।
६. होइ एस (बृभा १९५५) ।
७. व (क) ।
८. पुव्वं पढमं गिहिहिं दारुयपक्खेवण समाउत्ता पुव्वाउत्ता
भण्णति (चू) ।

९. चुल्लीए समीवे अवचुल्ली (चू) ।
१०. घना—न पोल्ला वंशवत्, अञ्जुसिरा—न स्फुटिता, त्वचा
युक्ता वा (चू) ।
११. बृभा १९५६ ।
१२. हत्थद्धं बारसंगुलदीहा (चू) ।
१३. °ल्लिय अघु° (बृभा) ।
१४. असईइ (बृभा १९५७) ।
१५. कंजियं—अवश्रावणं (चू) ।
१६. वार (भ, बृभा १९५८) ।

३१७९. मुनि को भिक्षा में जो सामुदानिक ओदन प्राप्त हो, उसमें से पहले वैद्य को देना चाहिए। यदि वह उस पात्र में ग्रहण करना न चाहे तो उसके लिए अन्य पात्र रखा जाए और उसमें दिया जाए। वह भी न चाहे तो उसे ओदन और व्यंजन अलग-अलग भी लाकर दिया जा सकता है। यह ठंडा है—ऐसा कहकर इन्कार करे तो उसे यतनापूर्वक गर्म करके दिया जाए। वह भी न चाहे या अपेक्षित द्रव्य न मिले तो यह यतना है—
३१८०, ३१८१. तीन वार्षिक तंदुल वे होते हैं, जिनकी योनि तीन वर्षों में स्वतः ध्वस्त हो जाती है, वे अभीज हो जाते हैं। यदि वे त्रिवार्षिक धान्य त्रिच्छटित,^१ द्विच्छटित और एकच्छटित मिल जाए तो उन्हें ग्रहण किया जा सकता है। जिनकी योनि अनेकवार्षिक होती है, उनको भी क्रमशः त्रिच्छटित, द्विच्छटित आदि लिया जा सकता है। यदि त्रिवार्षिक धान्य न मिलें। विध्वस्त योनि वाले धान्य के अभाव में अन्य धान्यों को विध्वस्तयोनि बनाकर लिया जाता है। योनिघात करके लिए जाने वाले धान्य के विषय में भी यही विधि है—उन्हें भी त्रिच्छटित ले, वे न मिलें तो क्रमशः द्विच्छटित और एकच्छटित अविध्वस्तयोनि धानों को अन्य व्यक्ति से ब्रीहि आदि का छिलका आदि अलग करवा कर ले।^२ अन्य व्यक्ति न हो तो स्वयं ही अन्य वेश में एकान्त में^३ उन ब्रीहि आदि का छिलका अलग करके लाए। धान्य को पकाने के लिए पानी भी दही आदि से संसृष्ट ले। यदि संसृष्ट धोवण जल न मिले तो असंसृष्ट प्रासुक जल (तंदुल धोवण आदि) ले। वह भी न मिले तो त्रसरहित अप्रासुक जल भी यतनापूर्वक लिया जाए।

३१८२. धान्यों की उपस्कार विधि—जो अवचुल्ली—छोटा चूल्हा^४ गृहस्थों द्वारा पूर्व प्रयुक्त हो, उस पर उस धान्य का उपस्कार किया जाए। अवचुल्ली के अभाव में चूल्हे पर भी उपस्कार किया जा सकता है। पूर्व प्रयुक्त अवचुल्ली के अभाव में शुष्क, सघन, अशुषिर तथा अविद्ध (घुणों द्वारा अखादित) इंधन का प्रक्षेप भी करना पड़ सकता है। वह इंधन पूर्वकृत एवं प्रमाणोपेत होना चाहिए। यदि वैद्य वेतन मांगे तो रुपये कैसे दें? इसके दो विकल्प हैं—१. शैक्ष मुनि ने प्रव्रजित होते समय जो धन निकुंज आदि में कहीं स्थापित कर दिया हो, उसे लाकर दे।^५ २. जिस देश में जो अर्चित (पूज्य) वेश है, उसमें अर्थोपार्जन करे और फिर दे।^६ ग्लान मुनि के स्वस्थ हो जाने पर दोनों को कल्याणक (प्रायश्चित्त) दिया जाए।^७

३१८३. इंधन का परिमाण—वह लकड़ी आधा हाथ—बारह अंगुल लम्बी, छालरहित, घुणों से अविद्ध तथा यथाकृत होनी चाहिए। यदि यथाकृत इंधन न मिले तो मुनि स्वयं उसे प्रमाणोपेत एवं छालरहित बनाए। ओदन आदि का उपस्कार करते समय अधजली लकड़ियों का घट्टन (संचालन) न करे ताकि वे अग्नि जीव अपनी आयु भोगकर स्वयं समाप्त हो जाएंगे—अग्नि स्वतः बुझ जाएगी।

३१८४. वैद्य को पीने एवं नहाने के लिए कांजी का अवश्रावण, चावल धोया हुआ पानी, गर्म पानी या संसृष्ट जल (दही आदि का धोवण) दे। ये या अन्य प्रकार के प्रासुक पानक न हों या वह नहाने आदि में उसे न लेना चाहे तो अप्रासुक जल को कपूर से वासित कर दिया जाए। वैद्य को दिया जाने वाला जल पहले से ही पात्र में रख दिया जाए। यदि पात्र का जल न लेना चाहे या पात्र न हो तो जल को घड़े में डालकर सघन वस्त्र से आच्छादित^८ कर रख दिया जाए।

१. त्रिच्छटित का अभिप्राय है—ऊंखल आदि में तीन बार कूटे हुए अथवा सूप आदि से तीन बार छंटे हुए, फटके हुए धान।

२. पाइय.—कंड-ब्रीहि वगैरह का छिलका अलग करना।

३. निभा ३ चू. पृ. १०८—रहित—असागारिए ठाणे।

४. उवचुल्ल—छोटा चूल्हा।

५. विस्तार हेतु द्रष्टव्य निभा ३ चूर्ण पृ. १११

६. विस्तार हेतु द्रष्टव्य वही पृ. ११२।

७. विस्तार हेतु द्रष्टव्य वही।

८. दहरय—आच्छादन।

३१८५. चड्डुग सराव कंसिय, तंब-रयए सुवण्ण-मणि-सेले।
भोतुं स एव धोवति, अणिच्छ किट्ठि^१ खुड्डु-वसभा वा^२ ॥ ३०६० ॥
३१८६. पूयादीणि वि मग्गति, जह वेज्जो आतुरस्स भोगत्थी^३।
तह वेज्जपडिक्कम्मं, करेति वसभा वि मोक्खट्ठा ॥ ३०६१ ॥
३१८७. तेगिच्छिगस्स^४ इच्छाऽणुलोमणं जो न कुज्ज सति लाभे।
अस्संजमस्स भीतो, अलस पमादी च गुरुगा से^५ ॥ ३०६२ ॥
३१८८. लोगविरुद्धं 'दुपरिच्चयो य'^६ कतपडिकिती जिणाणा य।
अतरंतकारणेते, तदट्ट ते चेव वेज्जम्मि ॥ ३०६३ ॥
३१८९. एसेव 'गमो णियमा'^७, होति गिलाणे वि^८ मज्जणादीओ।
सविसेसो कातव्वो, लिंगविवेगेण^९ परिहीणो ॥ ३०६४ ॥
३१९०. को वोच्छति गेलण्णे, दुविधं अणुयत्तणं निरवसेसं।
जह जायति सो णिरुओ, तह कुज्जा एस संखेवो^{१०} ॥ ३०६५ ॥
३१९१. आगंतु पउण जायण, धम्मावण तत्थ कइयदिट्ठतो।
पासादे कूवादी, वत्थुक्कुरुडे तहा ओही^{११} ॥ ३०६६ ॥
३१९२. वत्थव्व पउण जायण, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते।
स च्चेव होति जतणा, रहिते पासादमादीया^{१२} ॥ ३०६७ ॥
३१९३. उवधिम्मि पडग^{१३} साडग, संवरणं^{१४} वावि अत्थरणं^{१५} वा।
'दुगभेदादाहिंडण, अणुसट्ठादि परलिंग'^{१६} हंसादी ॥ ३०६८ ॥

१. किट्ठी—स्थविरश्राविका (बृभाटी)।

२. बृभा १९५९।

३. भोगट्ठी (बृभा १९६०)।

४. चिकित्सया चरति जीवति वा चैकित्सिकः—वैद्यः
(बृभाटी)।

५. बृभा १९६१।

६. दुप्परिचओ उ (बृभा १९६२)।

७. णियमो (दे, भ)।

८. गिलाणम्मि वि गमो उ खलु होइ (बृभा १९६३)।

९. °वियोगेण (भ)।

१०. बृभा १९६४।

११. बृभा १९६५।

१२. बृभा १९६६।

१३. पडगग्गहणाओ पाउरणं मग्गति (चू)।

१४. संवरणग्रहणात् प्रच्छादनपडं णवतगच्छइ वा (चू)।

१५. °रगणं (दे, भ), अत्थरणग्गहणातो पत्थरणं तूलिं
वा (चू)।

१६. °डणऽणुसट्ठि परलिंग (बृभा १९६७)।

३१८५. वैद्य को भोजन करने हेतु काष्ठपात्र दिया जाए। यदि वह उसमें भोजन न करे तो उसे क्रमशः शराव, कांस्यपात्र, ताम्रपात्र, रजतपात्र, स्वर्णपात्र या मणिशैलमय पात्र भी दिया जा सकता है। आहार के बाद वह स्वयं ही उसे धोए। यदि वह न धोना चाहे तो कोई वृद्ध श्राविका उसे धोए। वह भी न हो तो क्रमशः क्षुल्लक या वृषभमुनि उन पात्रों को धोए—साफ करे।

३१८६. जैसे भोग (भौतिक सुखों) की आकांक्षा वाला वैद्य रोगी के मवाद आदि का अपनयन करता है, वैसे ही मोक्षार्थी वृषभमुनि भी वैद्य का परिकर्म करते हैं।

३१८७. चिकित्सा से लाभ होने पर भी जो मुनि असंयम से भयभीत होकर अथवा आलस्य या प्रमाद से चिकित्सक की इच्छा के अनुसार उसका प्रतिकर्म नहीं करता, उसे चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३१८८. वैयावृत्य के कारण—१. ग्लान मुनि का वैयावृत्य न करना लोकविरुद्ध प्रवृत्ति है। २. मुनियों का परस्पर लोकोत्तर सम्बन्ध है (सांसारिक नहीं) जो दुस्त्याज्य होता है। ३. वैयावृत्य करना कृतप्रत्युपकार के समान है। (निर्जरा के द्वारा हम उस या अन्य मुनि से प्राप्त सहयोग का बदला चुकाते हैं।) ४. जिनाज्ञा का पालन होता है। (ये कारण ग्लान के वैयावृत्य करने के विषय में प्रज्ञप्त हैं, वैद्य का वैयावृत्य भी ग्लान के प्रयोजन से किया जाता है, अतः उसके भी ये ही कारण ज्ञातव्य हैं।)

३१८९. ग्लान के मज्जन आदि के विषय में भी वही विधि ज्ञातव्य है, जो वैद्य के विषय में प्रज्ञप्त है। ग्लान को स्नान आदि करवाते समय लिंग-विवेक नहीं किया जाता तथा उसके प्रति भक्ति एवं बहुमान का भाव विशेष होता है।

३१९०. रोग के विषय में जो दो प्रकार की अनुवर्तना (ग्लान-अनुवर्तना और वैद्य-अनुवर्तना) प्रज्ञप्त है, उसकी सम्पूर्ण अवगति कौन दे सकता है क्योंकि वह बहुत विस्तृत है। अतः संक्षेप में यही ज्ञातव्य है कि जिस विधि से ग्लान नीरोग हो, उस विधि को अपनाया जाए।

३१९१. ग्लान के स्वस्थ हो जाने पर यदि आगन्तुक वैद्य वेतन मांगे तो उसे शिक्षा दे कि साधुओं की मुफ्त चिकित्सा करने पर बहुत लाभ होता है। उसे पूर्वोक्त क्रयिक दृष्टान्त से समझाए कि हमारी धर्मापण—धर्म की दुकान से धर्म ग्राह्य है, धन नहीं। फिर भी वह अर्थ हेतु आग्रह करे तो अवधिज्ञानी आदि से पूछकर किसी प्रासाद, कूप अथवा वास्तु-उत्कुरुटक—खंडहर या उद्वसित नगर में कोई धन गड़ा हो, जिसका कोई मालिक न हो, उसे लाकर वैद्य को दे दे।

३१९२. वास्तव्य वैद्य भी यदि रोगी के स्वस्थ होने पर वेतन मांगे तो उसके लिए भी यही विधि प्रज्ञप्त है। उसे भी धर्मग्रहण करने के लिए प्रेरणा दे। यदि वह धर्म ग्रहण करना न चाहे तो पश्चात्कृत आदि के अभाव में पूर्वप्रज्ञप्त यतनापूर्वक प्रासाद, कूप आदि से अर्थ लाकर उसे दे।

३१९३. यदि वैद्य मुनियों से उपकरणों में—प्रावरण, परिधान (शाटक), प्रच्छादन पट या नवतय (बिना पिंजी रूई से बना आस्तरण या रूई का बिछौना) आदि मांगे तो मुनि उसे शिक्षा दे। यदि समझाने पर भी न माने तो दो आदि (संघाटक आदि) के साथ घूमकर वस्त्र प्राप्त करे। यदि स्वलिंग में वस्त्रोपलब्धि न हो तो परलिंग में हंस^१ (चोर) की भांति या हंसतैल आदि दुर्लभ द्रव्यों को प्राप्त करने की विधि से वस्त्र प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

१. निभा १९९१ चूर्णि—हंसो तेणगो। विशेष हेतु द्रष्टव्य गा. २११७ के अनुवाद का पादटिप्पण।

३१९४. बितियपदे कालगते, देसुट्टाणे व बोहिगादीसु।
असिवादी असतीए^१, ववहारऽपमाण अदसाइं^२ ॥ ३०६९ ॥
३१९५. कवडगमादी तंबे, रुप्पे पीते^३ तहेव केवडिए^४।
हिंडण अणुसट्टादी, पूइयलिंगे तिविधभेदो ॥ ३०७० ॥
३१९६. बितियपदे कालगते, देसुट्टाणेसु बोहिगादीसु।
असिवादी असतीइ व, ववहारऽहिरण्णगा समणा^५ ॥ ३०७१ ॥
३१९७. पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जति कल्लाणगं दुवेण्हं पि।
वूढे पायच्छित्ते, 'विसंति ते'^६ मंडलिं दो वि^७ ॥ ३०७२ ॥
३१९८. अणुयत्तणा तु एसा, दव्वे वेज्जे य वण्णिता दुविधा।
एत्तो चालणदारं, वोच्छं संकामणं वुभए^८ ॥ ३०७३ ॥
३१९९. वेज्जस्स व दव्वस्स व^९, अट्टा इच्छंति^{१०} होति उक्खेवो।
पंथो व पुव्वदिट्ठो, आरक्खिय पुव्वभणितो य^{११} ॥ ३०७४ ॥
३२००. चतुपादा तेगिच्छा, इह वेज्जा णत्थि ण वि य दव्वाइं।
अमुगत्थ^{१२} अत्थि दोण्णि वि, जइ इच्छसि तत्थ वच्चामो^{१३} ॥ ३०७५ ॥
३२०१. किं काहिति मे वेज्जो, भत्तादिअकारगं इहं मज्झं।
तुब्भे वि किलेसेमी, अमुगत्थ ममं हरह खिप्पं^{१४} ॥ ३०७६ ॥
३२०२. साणुप्पगभिक्खट्ठा, खीणा दुद्धाइगाण वा अट्टा।
अब्भिंतरेतरा पुण, गोरस सिंभुदय तित्तट्ठा^{१५} ॥ ३०७७ ॥

१. असईइ व (बृभा १९६८)।

२. अदिसाई (दे), °साति (क)।

३. पीय त्ति सुवन्नं, जहा पुव्वदेसे दीणारो (चू)।

४. केवडिको नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो
नाणकविशेषः (बृभा १९६९ टी)।

५. बृभा १९७०, भ प्रति में यह गाथा नहीं है।

६. पविसंती (बृभा १९७१)।

७. आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पञ्चकल्याणकं मंतव्यम्
(बृभाटी)।

८. चुभओ (बृभा १९७२)।

९. × (दे)।

१०. इच्छंते (दे, बृभा)।

११. उ (बृभा १९७३) बृभाटी में इस गाथा के लिए
'निर्युक्तिगाथा' का उल्लेख हुआ है।

१२. °गस्स (क)।

१३. बृभा १९७४।

१४. बृभा १९७५।

१५. पित्तट्ठा (बृभा १९७६)।

३१९४. अपवाद में इन कारणों से वस्त्र न दे—१. वैद्य या ग्लान में से कोई कालगत हो जाए। २. वह देश उजड़ जाए। ३. बोधिक (म्लेच्छ) भय से सब पलायन कर जाए और ४. अशिव आदि के कारण वस्त्र न मिले। यदि वस्त्र न देने पर वैद्य उसे न्यायालय में ले जाए तो मुनि उसे पराजित करने के बाद वस्त्र न दे। यदि न्यायालय से वस्त्र देने का आदेश हो तो वह उसे प्रमाणहीन एवं दशिकाविहीन (बिना किनारी वाले) वस्त्र दे और कहे—हमारे पास ये ही हैं, अन्य नहीं।

३१९५. यदि वैद्य रुपये मांगे तो मुनि उसे कौड़ियों के सिक्के, तांबे के सिक्के, चांदी की काकिणी या सोने के दीनार या केतर नामक रुपये जो जहां प्रचलित हों, उन्हें याचना करके लाकर दे। इसके लिए वह संघाटक में घूमे। यदि याचना करने पर भी न मिले तो अनुशिष्टि का प्रयोग करे। जो लिंग जिस देश में अर्चित हो, उसे धारण कर अर्थोत्पादन का प्रयत्न करे। लिंग के तीन प्रकार हैं—१. स्वलिंग, २. गृहलिंग और ३. कुलिंग (अन्यतीर्थिक का वेश)।

३१९६. अपवाद पद में इन कारणों से वैद्य को रुपये न दे—१. वैद्य या ग्लान कालधर्म को प्राप्त हो जाए, २. वह देश उजड़ जाए, ३. बोधिक (म्लेच्छ) आदि के भय से सब पलायन कर जाए और ४. अशिव आदि के कारण रुपये न मिले। रुपये न देने पर यदि वैद्य व्यवहार करे (न्यायालय में जाए) तो मुनि वहां स्पष्ट कह दे—मुनि अहिरण्यक—निष्कंचन होते हैं।

३१९७. ग्लान मुनि के स्वस्थ हो जाने पर दोनों को कल्याणक—ग्लान को पांच तथा प्रतिचारकों को एक-एक कल्याणक का प्रायश्चित्त दिया जाता है। जब वे उसे वहन कर लेते हैं, तब मुनियों की भोजन आदि की मंडली में प्रविष्ट हो जाते हैं।

३१९८. दो प्रकार—द्रव्यविषयक एवं वैद्य विषयक अनुवर्तना का वर्णन किया जा चुका है। अब मैं इन दोनों के विषय में चालना एवं संक्रामणा—इन दो द्वारों का कथन करूंगा।

३१९९. ग्लान यदि वैद्य अथवा औषध आदि द्रव्य के लिए अन्य ग्राम में जाना चाहे तो उसका उत्क्षेप—चालना (स्थानान्तरण) किया जाता है। यदि उसे रात्रि में अन्यत्र ले जाना हो तो मार्ग पहले ही देख लिया जाए तथा आरक्षकों को भी पहले बता देना चाहिए ताकि वे उन्हें चोर आदि की आशंका से न पकड़ें।

३२००. प्रतिचारक—चिकित्सा चतुष्पाद होती है। यहां वैद्य भी नहीं हैं और औषध, पथ्य आदि द्रव्य भी नहीं हैं। (रोगी और प्रतिचारक—दो अंग हैं।) अमुक गांव या नगर में ये दोनों—वैद्य एवं द्रव्य भी हैं। अतः यदि आप चाहें तो हम वहां चलें।

३२०१. ग्लान—वैद्य मेरे लिए क्या करेगा? यहां तो मेरे लिए भोजन भी अकारक है। इसलिए मैं आप सबको भी कष्ट दे रहा हूँ। मुझे शीघ्र ही आप अमुक नगर/गांव में ले जाएं, जहां मेरे लिए भोजन आदि कारक (पथ्य) हों।

३२०२. नगर में सानुप्रगभिक्षा—प्रत्यूषवेला में भिक्षा नहीं मिलती या नगर में दूध आदि क्षीण हो गए हों—उनकी उपलब्धि कम हो तो आभ्यन्तर—नगर में रहने वाले ग्लान को ग्राम ले जाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामवासी ग्लान को गोरस (दूध, दही) खाने से श्लेष्म का प्रकोप हो जाए या उसे नगर में सुलभ होने वाले तिक्त, कटु आदि पदार्थों की अपेक्षा हो तो उसे नगर में ले जाया जाता है।

३२०३. परिहीणं तं दव्वं, चमद्विज्जंतं तु अण्णमण्णेहिं ।
कालातिक्कंतेण य, वाही परिवड्ढितो तस्स^१ ॥ ३०७८ ॥
३२०४. उक्खिप्पऊ^२ गिलाणो, अण्णं गामं^३ वयं तु णेहामो ।
णेऊण अण्णगामं, सव्वपयत्तेण कातव्वं^४ ॥ ३०७९ ॥
३२०५. सो णिज्जती^५ गिलाणो, अंतरसम्मेलणाएँ संछोभो^६ ।
नेऊण अण्णगामं, सव्वपयत्तेण कातव्वं^७ ॥ ३०८० ॥
३२०६. जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मोत्तूण ते ण^८ लब्धिहिह ।
इतरे वि भणंतेवं, णियत्तिमो^९ णेह अतरंते^{१०} ॥ ३०८१ ॥
३२०७. देवा हु णे^{११} पसण्णा, जं मुक्का तस्स णं^{१२} करयंतस्स^{१३} ।
सो हु अतितिक्खरोसो, अहिगं वावारणासीलो ॥ ३०८२ ॥
३२०८. तेणेव साइया^{१४} मो, एतस्स वि जीवितम्मि संदेहो ।
पउणो वि ण एसऽम्हं, ते वि करेज्जा ण व करेज्जा ॥ ३०८३ ॥
३२०९. जो तु उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं ।
आरोवणा तु तस्सा, कायव्वा पुव्वणिहिट्ठा^{१५} ॥ ३०८४ ॥
३२१०. उवेहऽप्पत्तिय-परितावणं^{१६} महय मुच्छ किच्छ कालगते ।
चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^{१७} ॥ ३०८५ ॥

१. बृभा १९७७ ।

२. °प्पत्त (मु), °प्पउ (क) ।

३. णगरातो अण्णं णगरं, णगरातो अण्णं गामं, गामाओ वा णगरं, गामाओ वा अण्णं गामं । इह चतुर्थविकल्पो गृहीतः (चू) ।

४. बृभा १९७८ ।

५. णिज्जंते (दे, भ) ।

६. संथोभो (मु) ।

७. बृभा १९७९ ।

८. × (भ) ।

९. नियत्तमो (भ) ।

१०. बृभा १९८० ।

११. णे आत्मनिर्देशः (चू) ।

१२. णे (मु, बृभा १९८१) ।

१३. कृतान्तः—यमस्तत्तुल्यत्वादसावपि कृतान्तः ।
इह कृतान्तशब्देन कृतं निष्पादितं बह्वपि कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्न उच्यते (बृभाटी) ।

१४. सादिताः—खेदं प्रापिता (१९८२, बृभाटी) ।

१५. बृभा १९८३ ।

१६. °अप्प° (क) ।

१७. बृभा १९८४ ।

३२०३, ३२०४. १. यदि नगर में ग्लान प्रायोग्य द्रव्य परिक्षीण हो जाएं, २. अन्यान्य ग्लान संघाटकों के कारण वहां के स्थापनाकुल चमडित—विनष्ट/कदर्धित हो जाएं अथवा ३. ग्लान को दिया जाने वाला पथ्य कालातिक्रान्त होने से (समय पर न मिलने से) उसकी व्याधि बढ़ रही हो तो परिचारक मुनि परस्पर विमर्श करते हैं कि हम ग्लान को उठाकर (स्थानान्तरित कर) अन्य ग्राम में ले जाएं और अन्य ग्राम में ले जाकर सर्वप्रयत्नपूर्वक उसकी चिकित्सा/वैयावृत्य करें।

३२०५. एक ग्लान को अन्य ग्राम ले जाया जा रहा है, उसी दिशा से यदि अन्य ग्लान को उस दिशा में लाया जा रहा है तो उनका बीच में सम्मिलन हो जाता है। वे परस्पर सुखपृच्छा आदि के बाद ग्लान के संक्रमण का कारण जानते हैं और नगरवासी ग्राम्यग्लान को और ग्रामवासी नागरग्लान को ले जाते हैं। ऐसा करके उन्हें सर्वप्रयत्नपूर्वक उनकी परिचर्या करनी चाहिए।

३२०६. वे परिचारक परस्पर कहते हैं—जिस प्रकार के द्रव्य आपको चाहिए—तिक्त, कटु आदि वैसे द्रव्य हमारे (नगरवासियों के) बिना नहीं मिलेंगे। ग्रामवासी कहते हैं, आपको हमारे बिना दूध, दही आदि नहीं मिलेंगे। तब वे परस्पर कहते हैं—यदि ऐसा है तो हम निवर्तित होते हैं—अपने ग्लान को आपको सौंपते हैं ताकि दोनों ही ग्लान मुनियों को अपेक्षित द्रव्य मिल सकेंगे।

३२०७. वे अपने ग्लान को संक्रमण करते समय यह चिन्तन न करे—अच्छा हुआ, लगता है देवता हम पर प्रसन्न हैं जो हम इस कृतान्त^१ रूप ग्लान से मुक्त हो गए। यह तो अत्यन्त तीव्र क्रोध करता था या हमें अत्यधिक सेवा कार्य में योजित रखता था।

३२०८. दूसरे ग्लान को प्राप्त कर भी ऐसा न कहे—हम तो उसकी सेवा करते-करते ही खिन्न हो गए, अब इसकी कैसे कर पाएंगे? अथवा इसके जीवित रहने में ही संदेह है। यदि स्वस्थ भी हो जाए, तब भी यह हमारा नहीं होगा—हमारी परिचर्या नहीं करेगा। वे लोग पता नहीं, हमारे ग्लान की सेवा करेंगे या नहीं करेंगे, फिर हम क्यों करें?

३२०९. जो आचार्य किसी भी प्रकार के प्रमाद से ग्लान की उपेक्षा करता है, उसे पूर्वनिर्दिष्ट (लुब्ध द्वार में प्रज्ञप्त)^२ आरोपणा प्राप्त होती है।

३२१०. ग्लान की उपेक्षा करने पर आचार्य आदि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उस ग्लान के मन में अप्रीति उत्पन्न होती है, उसका प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरु। इसी प्रकार वैयावृत्य के अभाव में उसे अनागाढ़ परितापना हो, आगाढ़ परितापना हो, महान् दुःख हो, मूर्च्छा आ जाए, कृच्छ्रप्राण—जीने में कठिनाई हो जाए, श्वास में कठिनाई हो, मारणांतिक समवघात तथा कालधर्म की प्राप्ति होने पर उन्हें क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. निभा ३ चू. पृ. ११४—कृतस्य अन्तकारित्वात् कृतान्तः, कृतघ्नत्वात्तुल्येत्यर्थः।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गाथा ३२१०।

३२११. उवेहोभासण परितावण महत मुच्छ किच्छ कालगते ।
चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^१ ॥ ३०८६ ॥
३२१२. उवेहोभासण ठवणा^२, परितावण महत मुच्छ किच्छ कालगते ।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^३ ॥ ३०८७ ॥
३२१३. उवेहोभासण वारण^४, परितावण महत मुच्छ किच्छ कालगते ।
चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ३०८८ ॥
३२१४. उवेहोभासण करणे, परितावण महत मुच्छ किच्छ कालगते ।
चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^५ ॥ ३०८९ ॥
३२१५. वेहाणस ओहाणे, सलिंगपडिसेवणं णिवारेंते ।
गुरुगा अणिवारेंते, चरिमं मूलं च जं जत्थ^६ ॥ ३०९० ॥
३२१६. संविग्गा गीतत्था ऽसंविग्गा^७ खलु तहेव गीतत्था ।
संविग्गमसंविग्गा, णवरं पुण ते अगीतत्था^८ ॥ ३०९१ ॥
३२१७. संविग्गसंजतीओ, गीतत्था^९ खलु तहेव ऽगीतत्था ।
गीतत्थमगीतत्था^{१०}, णवरं पुण ता असंविग्गा ॥ ३०९२ ॥
३२१८. चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्टप्पो य पारंची^{११} ॥ ३०९३ ॥
३२१९. संविग्ग-णितियवासी^{१२}, कुसील-ओसण्ण तह य पासत्था ।
संसत्ता 'वेटा वा'^{१३}, अहछंदा चेव अट्टमगा ॥ ३०९४ ॥

१. बृभा १९८५ ।

२. ठवणे (बृभा १९८६), वारण (भ)

३. ३२११-१३—ये तीनों गाथाएं दे प्रति में नहीं हैं। भ प्रति में पहले ३२१३ तथा बाद में ३२१२ वाली गाथा है।

४. ठवणा (भ), यह गाथा बृभा में नहीं है।

५. बृभा १९८७ ।

६. बृभा १९८८ ।

७. असं (मु) ।

८. बृभा १९८९ ।

९. ंत्था उ (भ) ।

१०. गीयत्थ अगीयं (बृभा १९९०) ।

११. भ प्रति में यह गाथा नहीं है, बृभा १९९१ ।

१२. नीयं (भ, बृभा १९९२) ।

१३. विंठाया (बृभा) ।

३२११. वह उपेक्षित ग्लान स्वयं जाकर गृहस्थों के पास अवभाषण करे, निन्दा करे तो शीत, आतप आदि में परिश्रम के कारण उसे परितापना प्राप्त होती है, महान् दुःख होता है तथा क्रमशः उन्हीं मूर्च्छा, कृच्छ्रप्राण, कृच्छ्रश्वास, समवघात एवं कालधर्म की प्राप्ति—इन पदों की संभावना रहती है, इनमें क्रमशः पूर्वोक्त क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२१२. वह उपेक्षित ग्लान अपने लिए औषध, पथ्य आदि स्थापित कर ले और उन्हें खाने से यदि परितापना, महद्दुःख, मूर्च्छा, कृच्छ्रप्राण, कृच्छ्रश्वास, समवघात एवं कालधर्म की प्राप्ति हो तो पूर्वोक्त क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२१३. यदि उस उपेक्षित ग्लान को अवभाषण करने या औषध आदि को स्थापित करने से कोई मुनि रोके और उसके कारण उसे परितापना, महद्दुःख, मूर्च्छा, कृच्छ्रप्राण, कृच्छ्रश्वास, समवघात तथा कालधर्म की प्राप्ति हो तो पूर्वोक्त क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२१४. यदि वह उपेक्षित ग्लान गृहस्थों के द्वारा अवभाषण करवाए और अज्ञ गृहस्थों के द्वारा अवभाषण पूर्वक चिकित्सा करवाए, जिसके कारण उसे परितापना, महद्दुःख, मूर्च्छा, कृच्छ्रप्राण, कृच्छ्रश्वास, समवघात एवं कालधर्म की प्राप्ति हो तो पूर्वोक्त क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद मूल अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२१५. सम्यग् देखभाल के अभाव में निर्विण्ण हुआ ग्लान यदि वैहायस मरण को प्राप्त हो तो परिचारकों को पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह अवधावन करे—पुनः गृहवास में प्रविष्ट हो जाए तो मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह स्वलिंग में रहता हुआ अकल्प्य का सेवन करे और कोई उसे निवारित करे तो भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परितापना आदि विषयक जो प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है, वह उसी प्रकार ज्ञातव्य है।

३२१६-३२१८. संयतों के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. संविग्न गीतार्थ, २. असंविग्न गीतार्थ, ३. संविग्न अगीतार्थ तथा ४. असंविग्न अगीतार्थ। संयतियों के भी चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. संविग्न गीतार्थ, २. असंविग्न गीतार्थ, ३. संविग्न अगीतार्थ एवं ४. असंविग्न अगीतार्थ। इन आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने वाले परिचारकों को क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२१९. अथवा संयतों के आठ प्रकार ये हैं—१. संविग्न, २. नित्यवासी, ३. कुशील, ४. अवसन्न, ५. पार्श्वस्थ, ६. संसक्त, ७. वेंट-वैष्टक^१ और ८. यथाच्छन्द।

१. वेंट—साधु का एक प्रकार।

३२२०. चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग-गुरुगा य।
छेदो मूलं च तथा, अणवट्टप्पो य पारंची^१ ॥३०९५॥
३२२१. संविग्गो^२ सेज्जातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे।
दाणे सङ्घी परतित्थिगा य परितित्थिगी चेव ॥३०९६॥
३२२२. चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग-गुरुगा य।
छेदो मूलं च तथा, अणवट्टप्पो य पारंची^३ ॥३०९७॥
३२२३. उवसय णिवेसण साही, गाममज्जे य गामदारे य।
उज्जाणे सीमाए, सीममतिककामइत्ताणं^४ ॥३०९८॥
३२२४. चत्तारि छच्च लघु-गुरु, उवस्सया जाव सीमतिककंते।
छेदो मूलं च तथा, अणवट्टप्पो य पारंची^५ ॥३०९९॥
३२२५. छम्मासे आयरिओ, 'गिलाण परियट्टती'^६ पयत्तेणं।
जाहे ण संथरेज्जा, कुलस्स तु णिवेदणं कुज्जा^७ ॥३१००॥
३२२६. संवच्छराणि तिण्णि उ^८, कुलं पि परियट्टती पयत्तेणं।
जाहे ण संथरेज्जा, गणस्स तु निवेदणं कुज्जा ॥३१०१॥
३२२७. संवच्छरं गणो वी^९, गिलाण सारक्खती^{१०} पयत्तेणं।
जाहे ण संथरेज्जा, संघस्स^{११} णिवेदणं कुज्जा ॥३१०२॥
३२२८. छम्मासा आयरिओ, कुलं पि^{१२} संवच्छराणि तिण्णि भवे।
संवच्छरं गणो वी, जावज्जीवाइ संघो वि ॥३१०३॥
३२२९. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे^{१३} भए व गेलण्णे।
एतेहिं कारणेहिं, अहवा वि^{१४} कुले गणे संघे^{१५} ॥३१०४॥

१. दे प्रति में इस गाथा का केवल संकेत मात्र है, बृभा १९९३।
२. संविग्गा (बृभा १९९४)।
३. दे प्रति में इस गाथा का संकेत मात्र है, बृभा १९९५।
४. बृभा १९९६।
५. तु. बृभा (१९९७)।
६. °लाणं सारक्खती (भ)।
७. बृभा १९९८।

८. य (बृभा १९९९)।
९. वा (मु. क)।
१०. परियट्टई (बृभा २०००)।
११. गणस्स तु (दे)।
१२. तु (बृभा २००१)।
१३. रायहुट्टे (भ)।
१४. वी (दे)।
१५. बृभा २००२।

३२२०. इन आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने का प्रायश्चित्त क्रमशः इस प्रकार है—१. चतुर्लघु, २. चतुर्गुरु, ३. षड्लघु, ४. षड्गुरु, ५. छेद, ६. मूल, ७. अनवस्थाप्य एवं ८. पारांचित।

३२२१. अथवा आठ स्थान ये हैं—१. संविग्न, २. शय्यातर, ३. श्रावक (व्रती), ४. दर्शनश्रावक, ५. यथाभद्रक, ६. दानश्राद्ध, ७. परतीर्थिक पुरुष और ८. परतीर्थिक स्त्री।

३२२२. इन आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने का प्रायश्चित्त क्रमशः इस प्रकार है—१. चतुर्लघु, २. चतुर्गुरु, ३. षड्लघु, ४. षड्गुरु, ५. छेद, ६. मूल, ७. अनवस्थाप्य और ८. पारांचित।

३२२३. ग्रामान्तर (स्थानान्तर) आदि में जाते समय ग्लान को छोड़ने के आठ स्थान ये हैं—१. उपाश्रय में, २. निवेशन में, ३. गली में, ४. ग्राम मध्य में, ५. ग्राम द्वार तक, ६. उद्यान तक, ७. स्वग्राम की सीमा के अन्त में और ८. स्वग्राम की सीमा की आदि में।

३२२४. इन आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने का प्रायश्चित्त क्रमशः इस प्रकार है—१. चतुर्लघु, २. चतुर्गुरु, ३. षड्लघु, ४. षड्गुरु, ५. छेद, ६. मूल, ७. अनवस्थाप्य एवं ८. पारांचित।

३२२५. आचार्य छह मास तक प्रयत्न पूर्वक ग्लान की परिचर्या करे। इसके बाद यदि आचार्य अन्य व्यस्तताओं के कारण उसकी परिचर्या न कर पाए या वह स्वस्थ न हो रहा हो तो कुल को निवेदन कर उसे सौंप दे।

३२२६. कुल (क्रम विन्यास कर) तीन वर्ष तक ग्लान की प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करे। उसके बाद यदि वह परिचर्या न कर सके या ग्लान स्वस्थ न हो तो गण को निवेदन करे।

३२२७. गण संवत्सरपर्यन्त ग्लान की प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करे और बाद में निर्वाह न कर पाए तो उसे संघ को सौंप दे।

३२२८. इस प्रकार आचार्य छह मास तक, कुल तीन वर्षों तक, गण एक वर्ष तक तथा संघ यावज्जीवन ग्लान की परिचर्या करे—यह विधान है।

३२२९. अथवा १. अशिव, २. अवमौदरिका (दुर्भिक्ष) ३. राजद्वेष, ४. स्तेन आदि का भय तथा ५. ग्लान्य (सम्पूर्ण गच्छ की रुग्णावस्था)—इन पांच आगाढ़ कारणों से आचार्य आदि ग्लान मुनि की परिचर्या न करे या उक्त काल से पूर्व उसे कुल, गण या संघ को सौंप दे, तब प्रायश्चित्त का भागी नहीं।

३२३०. खंतिखमं^१ मद्दवियं, असढमलोलं^२ च लद्धिसंपण्णं ।
दक्खं^३ सुभरमसुविरं^४, हिययग्गाहिं^५ अपरितंतं^६ ॥ ३१०५ ॥ नि ६६० ॥
३२३१. सुत्तथअपडिबद्धं, णिज्जरपेहिं^७ जितिंदियं^८ दंतं^९ ।
कोउहलविप्पमुक्कं, अणाणुकित्तिं^{१०} सउच्छाहं^{११} ॥ ३१०६ ॥ नि ६६१ ॥
३२३२. आगाढमणागाढे, सद्दहगणिसेवगं च सट्टाणे ।
आउरवेयावच्चे, एरिसगं तू णिउंजेज्जा ॥ ३१०७ ॥ नि ६६२ ॥
३२३३. एयगुणविप्पहूणं, वेयावच्चम्मि जो उ ठावेज्जा ।
आयरिओं गिलाणस्स य, सो पावति आणमादीणि ॥ ३१०८ ॥ नि ६६३ ॥
३२३४. एतेसि परूवणता, तप्पडिवक्खे य पेसवेतस्स ।
पच्छित्तविभासणता, विराधणा चेव जा जत्थं^{१२} ॥ ३१०९ ॥
३२३५. गव्वित कोधे विसएसु, दोसु लहुगा उ माइणो गुरुगो ।
लोभिंदियाण रागे, चउगुरु सेसेसु लघु भयणा ॥ ३११० ॥
३२३६. एवं ता पच्छित्तं, तेसिं 'जो पुण'^{१३} ठवेज्ज ते^{१४} उ गणे ।
आयरियगिलाणट्टा, गुरुगा सेसाण तिविधं तु ॥ ३१११ ॥
३२३७. इहलोइगाण परलोइगाण लद्धीण फेडितो होति^{१५} ।
जह आउगपरिहीणा, देवा लवसत्तमा चेव ॥ ३११२ ॥
३२३८. एयगुणसमग्गस्स तु, असतीएँ ठवेज्ज अप्पदोसतरं ।
वेयालणा उ एत्थं, गुणदोसाणं^{१६} बहुविगप्पा ॥ ३११३ ॥

१. सूत्र ३८ (नव १०/३२) ।

२. मायाणिग्गहकारी असढो । इंदियविसयणिग्गहकारी अलोलो ।
उक्कोसं वा दट्टं जो एसणं ण पेल्लेति सो वा अलोलो
अलुद्धेत्यर्थः (चू) ।

३. गिलाणातियं सिग्घं करेति दक्खे (चू) ।

४. अप्पेण अंतपतेहिं वा जावेति त्ति वा सुभरो कुव्वाससह
इत्यर्थः (चू) ।

५. गिलाणस्स जो चित्तमणुयत्तति अपत्थं च ण करेति, सो
हिययग्गाहि (चू) ।

६. गिलाणस्स वा अणुतप्पितो जो सुचिरं पि गिलाणस्स करेत्तो
जो ण भज्जति, सो अपरितंतो (चू) ।

७. 'पेही (भ), णिज्जरापेही णो कय-पडिकितीए करेति (चू) ।

८. जियंदिंयं (भ), जितिंदितो जो इट्टण्णिट्टेहिं विसएहिं रागदोसे

ण जाति (चू) ।

९. सुकर-दुक्करेसु महप्पकारणेसु य जो अविकारेण भरं
उव्वहति, सो दंतो (चू) ।

१०. काउं जो थिरत्तणेण णो विकत्थति—“को अण्णो एवं
काउं समत्थो” त्ति, 'तुज्झ वा एरिसं तारिसं मए कयं' त्ति,
जो एवं ण कथयति, सो अणाणुकित्ती (चू) ।

११. अलब्भमाणे वि जो अविसण्णो मग्गति, सो सउच्छाहो
(चू) ।

१२. जस्स (भ) ।

१३. पुण जो (क) ।

१४. हि (भ) ।

१५. होंति (दे) ।

१६. गुरुदो (दे) ।

३२३०-३२. ग्लान मुनि की वैयावृत्य में आचार्य उस मुनि को नियुक्त करे, जो—१. क्षांतिक्षम (क्रोध निग्रह में समर्थ), २. मार्दवसम्पन्न, ३. अमायावी, ४. अलोलुप (विषय निग्रह में समर्थ), ५. लब्धिसम्पन्न, ६. दक्ष, ७. सुभर (अन्तप्रान्त से तृप्त होने वाला), ८. अनिद्रालु, ९. हृदयग्राही (रोगी का चित्तानुवर्ती), १०. अपरिश्रान्त, ११. सूत्र और अर्थ में अप्रतिबद्ध, १२. निर्जराप्रेक्षी, १३. जितेन्द्रिय, १४. दान्त, १५. कुतूहल रहित (अनुत्सुक), १६. अनानुकीर्ति (स्वयं की प्रशंसा न करने वाला), १७. उत्साही, १८. आगाढ़ एवं अनागाढ़ रोग विषयक विधियों का ज्ञाता, १९. उत्सर्ग एवं अपवाद सूत्रों में विश्वास रखने वाला तथा, २०. उनका सम्यक् आसेवन करने वाला हो।

३२३३. जो आचार्य इन उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि को ग्लान की वैयावृत्य में स्थापित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३२३४. इन (सेवार्थी के उपर्युक्त गुणों) की यथार्थ प्ररूपणा करनी चाहिए तथा इनसे विपरीत गुणों वाले—क्रोधी, मानी आदि को भेजने (सेवा में नियुक्त करने) से जो ग्लान आदि की विराधना होती है, उसके विषय में प्रायश्चित्त की विभाषा (व्याख्या) करनी चाहिए।

३२३५. मानकषायी, क्रोधी, अजितेन्द्रिय—विषयों में द्वेषकारी मुनि को चतुर्लघु, मायावी को मासगुरु, लोभी तथा अजितेन्द्रिय—विषयों में रागकारी को चतुर्गुरु तथा शेष पदों में लघुमास की भजना—योजना^१ करनी चाहिए।

३२३६. इस प्रकार यह प्रायश्चित्त उन-उन सेवार्थी मुनियों के लिए प्रज्ञप्त है, जो क्रोधी, मानी आदि होते हैं। जो आचार्य ग्लान की वैयावृत्य में ऐसे मुनियों को नियुक्त करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष—उपाध्याय, गीतार्थ भिक्षु एवं अगीतार्थ भिक्षु यदि ग्लान वैयावृत्य में प्रतिपक्ष गुण वाले मुनि को नियुक्त करते हैं तो उन्हें त्रिविध प्रायश्चित्त—क्रमशः चतुर्लघु, मासगुरु और मासलघु प्राप्त होता है।

३२३७. जिस प्रकार आयुष्य से परिहीण होने से—सात लव जितनी आयु कम रह जाने से कोई भव्य जीव सिद्धत्व को प्राप्त नहीं कर पाता और लवसत्तम—अनुत्तर विमानवासी देव बनता है, उसी प्रकार ग्लान असमाधि एवं आर्त्तध्यान के कारण और उसके सेवार्थी भावतः सेवा नहीं करने से ऐहलौकिक लब्धियों—आमोसही, खेलोसही आदि तथा पारलौकिक लब्धियों—स्वर्ग, मोक्ष (सुगतिलाभ) से वंचित रह जाते हैं।

३२३८. यदि कोई भी मुनि इन समग्र गुणों से युक्त न हो तो आचार्य उसे वैयावृत्य में नियुक्त करे, जिसमें दोष अल्पतर हों। गुण और दोषों की विचारणा में बहुत विकल्प होते हैं, जैसे—क्रोध में मान हो भी सकता है और नहीं भी, पर मान में क्रोध नियमतः होता है अतः क्रोधी से मानी को बहुतरदोषी माना गया है। यदि दोनों में से एक का चुनाव करना हो तो क्रोधी को वैयावृत्य में नियुक्त किया जाए, मानी को नहीं। इसी प्रकार सभी पदों में विचारणा की जाए।

१. भजना का वैकल्पिक अर्थ चतुर्लघु किया है। एक अन्य अपेक्षा यह है कि कोई यदि अंतराय के उदय से अलब्धिमान् हो तो वह शुद्ध है वैसे ही अन्य पदों अदक्ष, दुभर आदि के विषय में उपयुज्य है।

३२३९. जे भिक्खू गिलाणस्स, वेयावच्चेण वावडं भिक्खुं^१।
लाभेण ऽप्पणएणं^२, असंथरं तं ण पडितप्पे ॥३११४॥ नि ६६४॥
३२४०. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, तं पडितप्पे पयत्तेणं ॥३११५॥ नि ६६५॥
३२४१. बितियपदं अणवट्ठो, परिहारतवं तहेव य वहंतो^३।
अत्तट्ठियलाभी वा, सव्वहा वा अलब्भंते^४ ॥३११६॥
३२४२. आउरपाउग्गम्मी^५, दव्वे अलभंत वावडे तत्थ।
जो भिक्खू णातिक्खति, सो पावति आणमादीणि ॥३११७॥ नि ६६६॥
३२४३. जायग्गहणा^६ फासुं, रोगे वा जस्स जं तु^७ पाउग्गं।
तं पत्थभोयणं वा, ओसध-संथार-वत्थादी ॥३११८॥
३२४४. परितावमहादुक्खे, पुच्छामुच्छे य किच्छपाणे य।
किच्छुस्सासे य तथा, समोहए चेव कालगते ॥३११९॥
३२४५. चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तथा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥३१२०॥
३२४६. तम्हा आलोएज्जा, संभोइय असति अण्णसंभोए।
जइऊण च ओसण्णे, सच्चेव उ लद्धिहाणिधरा ॥३१२१॥
३२४७. बितियपदं दोच्चे वा, अण्णग्गामे व संभमेगतरे।
तस्स व अपत्थदव्वे, जायंते वा अकालम्मि ॥३१२२॥
३२४८. विधिसुत्ते^८ जो उ गमो, पढमुद्देसम्मि आदिओ सुत्ते।
सो चेव णिरवसेसो, दसमुद्देसम्मि वासासुं ॥३१२३॥ नि ६६७॥

१. भिक्खू (भ)।

२. एण (दे)।

३. वहेंति (भ)।

४. गाथा के चौथे चरण में छंदभंग है।

५. सूत्र ३९ (नव १०/३३), म्मिं (पा)।

६. हणे (भ, मु)।

७. च (मु)।

८. सूत्र ४०, ४१ (नव १०/३४, ३५)।

९. इस गाथा के लिए चूर्णिकार ने 'इयाणिं णिज्जुत्ति' का उल्लेख किया है।

३२३९, ३२४०. जो भिक्षु ग्लान के वैयावृत्य में व्यापृत भिक्षु को अथवा ग्लान को अपने भोजन आदि के लाभ से तृप्त नहीं करता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः भिक्षु प्रयत्नपूर्वक अपने लाभ से उन्हें तृप्त करे।

३२४१. अपवाद में इन कारणों से मुनि ग्लान या परिचारकों को अपने लाभ से परितृप्त नहीं करता—१. वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वहन कर रहा हो। २. वह पारिहारिक तप का वहन कर रहा हो। ३. जो आत्मलाभ के अभिग्रह से युक्त हो तथा ४. कदाचित् उसे कुछ भी न मिले।

३२४२. ग्लान-वैयावृत्य में व्यापृत भिक्षु को यदि ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य न मिले और वह अन्य मुनियों से नहीं कहता तो वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३२४३. प्रस्तुत सूत्र में द्रव्यजात शब्द का ग्रहण किया गया है, जिसका अर्थ है—वह प्रासुक द्रव्य, जो उस रोग में प्रायोग्य हो। उसके अनेक प्रकार हो सकते हैं, यथा—पथ्यभोजन, औषध, संस्तारक, वस्त्र आदि।

३२४४, ३२४५. आतुरप्रायोग्य द्रव्य न मिले, तब भी परिचारक यदि अन्य भिक्षुओं से न कहे तथा उस द्रव्य के अभाव में यदि ग्लान मुनि को अनागाढ़ परितापना हो तो परिचारकों को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि आगाढ़ परितापना हो तो चतुर्गुरु। इसी क्रम से यदि उसे महान् दुःखानुभूति हो, समवघात हो या कालगत हो जाए तो परिचारकों को क्रमशः षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३२४६. इसलिए प्रायोग्य द्रव्य के अलाभ के विषय में परिचारक अपने गच्छ के सांभोजिक साधुओं को कहे, यदि स्वगच्छीय सांभोजिक साधु न हों तो अन्य गच्छ के, वे न हों तो अन्यसांभोजिक साधुओं को कहे। यदि वे भी न हों तो पंचक परिहाणिक के क्रम से यतनापूर्वक अवसन्न साधुओं को कहे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पूर्वोक्त प्रकार से ऐहलौकिक एवं पारलौकिक लब्धियों से वंचित रहता है।

३२४७. अपवाद में वह इन कारणों से अन्य मुनियों को नहीं कहता—१. वहां रोगी और परिचारक—केवल दो ही व्यक्ति हों तो किसे कहे? २. अन्य मुनि किसी अन्य ग्राम में हों। ३. वहां जल, अग्नि, हाथी आदि में से किसी प्रकार का संभ्रम होने से सब इधर-उधर पलायन कर रहे हों। ४. अकाल में किसी द्रव्य की याचना करे। अथवा ६. गर्हित विगय (मद्य आदि) की याचना करे तथा अन्य मुनि अपरिणत हों तो उन्हें न कहे।

३२४८. विधिसूत्र—आचारांग (आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध) के तृतीय—ईर्या नामक अध्ययन के प्रथम उद्देशक में आदि सूत्रों में प्रथम प्रावृत् विषयक जो विधि प्रज्ञप्त है, वही सम्पूर्ण दसवें उद्देशक के प्रस्तुत प्रसंग में ज्ञातव्य है।

३२४९. वासावासविहारे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाता ।
आणादिणो य दोसा, विराधणा संजमायाए^१ ॥३१२४॥ नि ६६८ ॥
३२५०. छक्कायाण विराधण, आवडणं विसम-खाणु-कंटेसु ।
वुञ्जण^२ अभिहण-रुक्खोल्ल सावए तेण उवचरते^३ ॥३१२५॥
३२५१. अक्खुण्णेषु पहेसुं^४, पुढवी उदगं च होति दुविधं तु ।
उल्लपयावण अगणी^५, इहरा पणगो हरित कुंथू^६ ॥३१२६॥
३२५२. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^७ भए व गेलण्णे ।
आबाहादीएसु^८ वं, पंचसु ठाणेसु रीएज्जा^९ ॥३१२७॥
- ३२५२/१. आबाहे दुब्बिक्खे, भए दओहंसि वा महं तेसिं ।
परिभवण तालणं वा, जया परो वा करेज्जासि ॥
३२५३. एवं तु पाउसम्मी, भणितं वासासु णवरि चउलहुगा ।
ते चेव तत्थ दोसा, बितियपदं तं चिमं चन्^{११} ॥३१२८॥
३२५४. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे भए व गेलण्णे ।
नाणादितिगस्सट्ठा, वीसुंभण-पेसणेणं वा^{१२} ॥३१२९॥
३२५५. आऊ तेऊ वाऊ, दुब्बलसंकामिते व ओमाणे^{१३} ।
पाणादि सप्प कुंथू उट्टण तह थंडिलस्स ऽसती^{१४} ॥३१३०॥
३२५६. मूलगामे तिण्ण उं^{१५}, 'पडिवसभेसु वि य'^{१६} तिण्ण वसधीओ^{१७} ।
ठायंते पडिलेहा, वियारवाघातमातट्ठा ॥३१३१॥

१. बृभा २७३५ ।

२. वुब्भण (बृभा) ।

३. गिलाणे य (बृभा २७३६) ।

४. पहेसु (दे), पहेसू (मु) ।

५. वगणी (दे) ।

६. बृभा २७३७ ।

७. रायदुट्टे (भ) ।

८. सरीरवज्जा पीडा आबाहं (चू) ।

९. तु (मु) ।

१०. बृभा २७३८, इस गाथा के बाद पा प्रति में यह गाथा और मिलती है। इस गाथा की व्याख्या चूर्णि में प्राप्त है अतः संदर्भ की सुविधा हेतु इसे ऊपर मूल गाथा के

साथ रखा है, लेकिन मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है। बृभा (२७३९) में इसकी संवादी निम्न गाथा मिलती है—

आबाहे व भये वा, दुब्बिक्खे वाह वा दओहंसि ।
पव्वहणे व परेहिं, पंचहिं ठाणेहिं रीइज्जा ॥

११. वऽन्नं (बृभा २७४०) ।

१२. बृभा २७४१ ।

१३. उवमाणे (दे) ।

१४. बृभा २७४२ ।

१५. व (दे) ।

१६. °भेसुं पि (बृभा २७४३) ।

१७. °धीसु (दे) ।

३२४९. जो भिक्षु वर्षावास में विहार करता है, उसे चार मास का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं संयम और आत्मविराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

३२५०. वर्षावास में विहार करने पर षट्काय के जीवों की विराधना संभव है। विषम स्थान, स्थाणु, काटे आदि से पतन, जलप्रवाह में बहने तथा वृक्ष आदि से अभिघात की संभावना रहती है। गीले कपड़ों को पहनने से अजीर्ण आदि रोग तथा मार्ग में श्वापद, स्तेन आदि का भय, गुप्तचर होने की शंका से बन्धन आदि के कारण आत्मविराधना की संभावना रहती है।

३२५१. षट्काय विराधना—वर्षाकाल में आवागमन कम होता है अतः अक्षुण्ण मार्ग पर चलने से पृथिवीकाय की विराधना होती है। दोनों प्रकार के जल—वर्षा का जल तथा भूमौदक सचित्त होता है, उसमें गमनागमन से अप्काय की विराधना होती है। गीले कपड़ों को अग्नि से सुखाने पर अग्निकाय एवं वायुकाय की विराधना होती है। कपड़े, उपधि आदि अधिक समय गीले रहें तो उनमें काई, कुंथु आदि जीवों की उत्पत्ति हो सकती है, फलतः वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय की विराधना होती है।

३२५२. अपवाद पद में—१. अशिव, २. अवमौदर्य, ३. राजद्वेष, ४. भय और ५. ग्लान्य—इन पांच आबाधा^१ स्थानों में वर्षावास में विहार कर सकता है।

३२५३. जो विधि प्रावृत् के विषय में प्रज्ञप्त है, वही वर्षाकाल में भी ज्ञातव्य है। उसमें भी वे ही दोष आते हैं तथा वे ही उसके लिए अपवाद पद हैं। केवल उसमें विहार करने का प्रायश्चित्त है—चतुर्लघु—उद्घातित चार मास।

३२५४. वर्षाकाल में विहार के अपवाद हैं—१. उस क्षेत्र में अशिव (महामारी)। २. दुर्भिक्ष ३. राजद्वेष ४. प्रत्यनीक, म्लेच्छ आदि का भय हो। ५. किसी ग्लान मुनि की सेवा हेतु अन्यत्र जाना अनिवार्य हो। ६-८. ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि।^२ ९. विष्वग्भवन (मरण)^३ और १०. किसी की वैयावृत्य या अन्य किसी आकस्मिक प्रयोजन से आचार्य प्रेषित करें।

३२५५. वर्षाकाल में विहार के अन्य कारण—१. जलप्रवाह (बाढ़), २. अग्नि, ३. भयंकर चक्रवात, ४. वसति का अत्यधिक दुर्बल हो जाना, ५. ग्राम का अन्यत्र संक्रमण, ६. अवमान, ७. उपाश्रय का संसक्त होना, ८. सर्प का उपद्रव, ९. कुंथु आदि की उत्पत्ति, १०. ग्राम का उजड़ना और ११. स्थंडिल का अभाव।^४

३२५६. उपर्युक्त व्याघातों की संभावना से बचने हेतु भिक्षु वर्षावास से पूर्व मूल ग्राम—जिसमें प्रवास करना हो, वहां तीन उपाश्रय ग्रहण की प्रतिलेखना करते हैं। प्रतिवृषभ ग्रामों^५ में भी तीन-तीन वसति एवं विचारभूमि की प्रतिलेखना करते हैं ताकि मूल ग्राम में वसति आदि का व्याघात हो जाए तो वहां रह सकें।

१. आबाधा का अर्थ है—शारीरिक पीड़ा के अलावा अन्य समस्या। इनमें आबाधा के साथ दुर्भिक्ष, भय, दकौध (जल प्रवाह) तथा परिभव का ग्रहण किया गया है।

२. किसी पूर्व, श्रुतस्कन्ध आदि के धारक या किसी विशिष्ट दर्शन प्रभावक ग्रन्थ के धारक आचार्य अनशन के अभिलाषी हों तो उनसे उसे ग्रहण करने, एषणादोष या स्त्रीदोष से संभावित किसी चारित्रिकता को रोकने हेतु अन्यत्र जाना पड़े।

३. किसी आचार्य के कालगत होने पर उस अनाथ संघ को अन्यत्र किसी आचार्य के पास जाना हो।

४. इन अन्य कारणों से भी भिक्षु को अन्यत्र वसति या ग्राम में जाना पड़ता है—१. जलप्रवाह, बाढ़ आदि में उपाश्रय प्लावित हो जाए। २. अग्निकाय से वसति या ग्राम जल जाए। ३. भयंकर चक्रवात आदि से उपाश्रय भग्न हो जाए। ४. वर्षा आदि से उपाश्रय दुर्बल हो जाए, अतः उसके गिरने की संभावना होने से वहां से संक्रमण करना हो। ५. वह गांव किसी प्रत्यनीक को दे दिया गया हो या उसमें कोई अन्य आकर रहने लगे। ६. इन्द्रमहोत्सव आदि किसी विशेष उत्सव आदि के कारण वहां शैव आदि संन्यासियों की वृद्धि हो जाए तथा अवमान भिक्षा की संभावना हो। ७. प्राण, बीज, श्वापद आदि से उपाश्रय संसक्त हो जाए। ८. किसी सर्प का उपद्रव हो जाए, ९. कुंथु आदि जीव पैदा हो जाए, १०. ग्राम उद्वसित हो जाए और ११. स्थंडिल भूमि, स्वाध्याय भूमि आदि का अभाव हो जाए।

५. प्रतिवृषभग्राम—वे निकटवर्ती गांव, जहां पावसकाल में भिक्षाचर्या आदि के लिए जाते हैं।

३२५७. उदगागणिवातादिसु^१, अण्णस्स ऽसतीय थंभणुद्दवणा^२ ।
संकामितम्मि भयणा, उट्टण थंडिल्ल अण्णत्थ^३ ॥३१३२॥
३२५८. 'इंदमहादी य^४ समागतेसु परतित्थिगोसु^५ य जतंति ।
पडिवसभेसु सखेत्ते, 'दुब्बलसेज्जायए थूणा^६ ॥३१३३॥
३२५९. दोण्णि उ पमज्जणाओ, उदुम्मि^७ वासासु ततियमज्झण्हे ।
वसहि बहुसो पमज्जण^८, 'अतिसंघट्ट ऽन्निहिं^९ गच्छे ॥३१३४॥
३२६०. एतेहि कारणेहिं, एग^{१०}-दुगंतर-तिगंतरं वावि ।
संकममाणो खेतं, पुट्टो वि जतो णऽतिक्कमति ॥३१३५॥
३२६१. उत्तण^{११}-ससावयाणि य, गंभीराणि य जलाणि वज्जेत्ता ।
तलियारहिता दिवसं^{१२}, अब्भासतरे वए^{१३} खेत्ते ॥३१३६॥
३२६२. पज्जोसवणाकाले^{१४}, पत्ते जे भिक्खु णोसवेज्जाहि ।
अप्पत्तमतीते वा, सो पावति आणमादीणि ॥३१३७॥ नि ६६९॥
३२६३. पज्जोसवणाए^{१५} अक्खराइं होंति उ इमाइं गोण्णाइं ।
परियायवत्थवणा, पज्जोसवणा^{१६} य पागइया^{१७} ॥३१३८॥ नि ६७०॥
३२६४. परिवसणा^{१८} पज्जुसणा^{१९}, पज्जोसवणा य वासवासो य ।
पढमसमोसरणं^{२०} ति य, ठवणा^{२१} जेट्ठोग्गहेगट्ठा^{२२} ॥३१३९॥ नि ६७१॥

१. °दिति (दे) ।
२. °वणं (दे, पा), °वणे (बृभा) ।
३. बृभा २७४४ ।
४. °दीसु (मु) ।
५. परउत्थि° (बृभा २७४५) ।
६. °सेज्जाए देसूणं (बृभा) ।
७. उदुम्मि (बृभा २७४६) ।
८. °ज्जति (मु) ।
९. °ट्टं तहिं (मु, भ) ।
१०. एक्क (बृभा २७५७) ।
११. उद्धत्तणा उत्तणा दीर्घा तिणा (चू) ।
१२. °सओ (बृभा २७४७) ।
१३. च जे (मु) ।
१४. सूत्र ४२, ४३ (नव १०/३७, ३६) ।
१५. °समणाए (दश्रुनि ५३) ।

१६. अण्णे य दव्वादिया वरिसकालपायोग्गा घेतुं आयस्ज्जतिं,
तम्हा पज्जोसवणा भण्णति (चू) ।
१७. चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'इमा णिज्जुती' का उल्लेख
किया है ।
१८. जम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा परिवसंतीति, तम्हा परिवसणा
भण्णति (चू) ।
१९. उदुबद्धिया वाससमीवातो जम्हा पगरिसेण ओसंति
सव्वदिसासु परिमाणपरिच्छिन्नं, तम्हा पज्जुस्सणा भण्णति
(चू) ।
२०. प्रथमं आद्यं बहूण समवातो समोसरणं.....जतो
पज्जोसवणातो वरिसं आढप्पति अतो पढमं समोसरणं
भण्णति । (चू) ।
२१. वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेरा ठविज्जति तम्हा
ठवणा भण्णति (चू) ।
२२. दश्रुनि ५४ ।

३२५७. मूल वसति में यदि जल, अग्नि, वायु (चक्रवात) आदि के कारण व्याघात उत्पन्न हो तो भिक्षु अन्य वसति में चले जाएं। यदि अन्य वसति न हो तो विद्या आदि के द्वारा जल आदि को स्तंभित कर दे। यदि सर्प का व्याघात हो तो उसे विद्या के द्वारा अन्यत्र भी ले जाया जा सकता है।^१ यदि ग्राम किसी अन्य ग्रामस्वामी को संक्रामित कर दिया गया हो और वह नवीन ग्रामस्वामी भद्र प्रकृति हो तो वहां रहे अन्यथा अन्यत्र चला जाए—यह संक्रामणा विषयक भजना है। ग्राम उद्वसित हो जाए या स्थंडिल का अभाव हो तो भिक्षु अन्यत्र चला जाए।

३२५८. इन्द्रमहोत्सव आदि में बहुत से परतीर्थिकों का आगमन हो जाए, जिससे निर्वाह दुःशक्य हो जाए तो भिक्षु स्वक्षेत्र में रहते हुए प्रतिवृषभ ग्रामों में भिक्षा आदि की एषणा करे। यदि तब भी निर्वाह संभव न हो तो अन्यत्र चले जाएं। यदि वसति कहीं से दुर्बल हो जाए तो उसे खम्भा या खूंटी^२ लगाकर मजबूत कर ले।

३२५९. वसति संसक्त न हो, तब भी भिक्षु ऋतुबद्ध काल में प्रतिदिन दो बार—पूर्वाह्न एवं अपराह्न तथा वर्षावास में तीन बार—पूर्वाह्न, मध्याह्न एवं अपराह्न में उसका प्रमार्जन करे। यदि वह कुंथु आदि प्राणियों से संसक्त हो जाए तो अपेक्षानुसार बहुत बार भी प्रमार्जन किया जा सकता है। यदि बार-बार प्रमार्जन करने पर जीवों का अत्यधिक संघट्टन हो तो अन्यत्र चला जाए।

३२६०. उपर्युक्त कारणों से यदि भिक्षु एक, दो, तीन या बहुत से अन्य ग्रामों में संक्रमण करे और संक्रमण से होने वाले दोषों से स्पृष्ट हो, तब भी वह मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।

३२६१. मार्ग विषयक यतना—जिस मार्ग में ऊँची-ऊँची घास हो, सिंह, बाघ आदि श्वापद हों, उस मार्ग से न जाए। जिस जल में मगर आदि जलचर हों, जहां अथाह (गंभीर) जल हो, उसका वर्जन करे। स्वग्राम के निकटतर ग्राम में, दिन के समय तथा तलिकारहित—पदत्राण रहित परिव्रजन करे।

३२६२. जो भिक्षु पर्युषणा काल आने पर भी पर्युषणा—एकत्र प्रवास नहीं करता अथवा पर्युषणा काल से पूर्व या पर्युषणा काल के समतिक्रान्त होने पर पर्युषणा करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३२६३, ३२६४. पर्युषणा के ये आठ गौण—गुणनिष्पन्न एकार्थक अक्षर (नाम) होते हैं—१. पर्यायव्यवस्थापना, २. पर्योवसना, ३. परिवसना, ४. पर्युपशमना, ५. वर्षावास, ६. प्रथम समवसरण, ७. स्थापना और ८. ज्येष्ठावग्रह^३ पर्योवसना की लोकप्रसिद्ध प्राकृत अभिधा है—पज्जोसवणा।

१. निभा ३ चू. पृ. १२४—उद्वरणं गाम सप्पो अन्यत्र नीयते इत्यर्थः।

२. थूणा-खंभा, खूंटी।

३. १. पर्यायव्यवस्थापना—पर्युषणा के दिन प्रव्रज्या पर्याय की संख्या का व्यपदेश किया जाता है, अतः इसे पर्याय व्यवस्थापन कहा जाता है। २. पर्योवसना—इसमें ऋतुबद्ध काल के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर्यायों का परित्याग एवं वर्षाकल्प योग्य द्रव्य आदि का ग्रहण होता है। ३. परिवसना—मुनि सब दिशाओं में परिभ्रमण का निषेध कर एक स्थान पर रहते हैं। ४. पर्युपशमना—इसमें कषायों का उपशमन किया जाता है। ५. वर्षावास—वर्षाकाल में एक स्थान पर निवास। ६. प्रथम समवसरण—कोई व्याघात न हो तो प्रथम प्रावृट्—आषाढ में ही वर्षावासयोग्य स्थान में समवसृत होते हैं। ७. स्थापना—वर्षावास-समाचारी की स्थापना की जाती है तथा ८. ज्येष्ठावग्रह—ऋतुबद्ध काल की अपेक्षा इसका अवग्रह (चार मास) बड़ा है, अतः इसका नाम है ज्येष्ठावग्रह।

३२६५. ठवणाए णिक्खेवो, छक्को दव्वं^१ च दव्वणिक्खेवो।
खेत्तं^२ तु जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जो तु^३ ॥३१४०॥
३२६६. ओदइयादीयाणं, भावाणं जा जहिं भवे ठवणा।
भावेण जेण य पुणो, ठविज्जते भावठवणा^४ तु^५ ॥३१४१॥
३२६७. सामित्ते करणम्मि य, अधिकरणे चेव^६ होंति छब्भेदा।
एगत्त-पुहुत्तेहिं, दव्वे खेत्तऽद्ध^७ भावे य^८ ॥३१४२॥
३२६८. कालो^९ समयादीओ^{१०}, पगतं कालम्मि^{११} तं परूवेस्सं।
णिक्खमणे य पवेसे, पाउस-सरए 'य वोच्छामि'^{१२} ॥३१४३॥
३२६९. ऊणातिरित्तमासे^{१३}, अट्ट विहरिऊण गिम्ह-हेमंते।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहासमाधीए^{१४} ॥३१४४॥
३२७०. कारुण मासकप्पं, तत्थेव उवागताण ऊणा तु^{१५}।
चिक्खल्लवासरोहेण वावि 'तीए ठिता'^{१६} पूणं^{१७} ॥३१४५॥

१. दव्वपरिमाणेन स्थाप्यमाना दव्वट्टवणा भण्णति (चू).....
दव्वस्स ठवणा दव्वाण वा ठवणा दव्वठवणा। तत्थ
दव्वस्स ठवणा जहा कोइ साहू एगसंथाराभिग्गहणं ठवेति—
गृण्हातीत्यर्थः (चू)।
२. क्षेत्रं यत् परिभोगेन परित्यागेन वा स्थाप्यते, जम्मि वा खेत्ते
ठवणा ठविज्जति, सा खेत्तठवणा (चू)।
३. दश्रुनि ५५।
४. खओवसमिए भावे सुद्धातो भावातो सुद्धतरं भावं संकमंतस्स
भावेसु ठवणा भवति (चू)।
५. दश्रुनि ५६।
६. × (भ)।
७. खेत्ते य (मु)।
८. दश्रुनि ५७।

९. कलनं कालः कलिज्जतीति वा कालः कालसमूहो वा
कालः (चू)।
१०. समयो पट्ट साडियाफाडणादिट्टंतेणं सुत्ताएसेणं परूवेयव्वो
आतिग्गहणातो आवलिया मुहुत्तो पक्खो मासो उदू अयणं
संवच्छरो जुगं एवमाइ (चू)।
११. समयम्मि (दश्रुनि ५८)।
१२. × (दे)।
१३. चत्तारि हेमंतिया मासा, चत्तारि गिम्हिया मासा, एते अट्ट
ऊणातिरित्ता (चू)।
१४. दश्रुनि ५९।
१५. तं (दे), ते (दश्रुनि)।
१६. तेण ट्टिया (दश्रुनि ६०)।
१७. ऊणा (दश्रुनि)।

३२६५. स्थापना के छह निक्षेप होते हैं—१. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. काल और ६. भाव। द्रव्य निक्षेप में द्रव्य की स्थापना की जाती है। जिस क्षेत्र में स्थापना की जाती है उसका अथवा जिसे परित्याग या भोग के लिए स्थापित किया जाए, वह क्षेत्र स्थापना है। वह काल, जिसमें स्थापना की जाए अथवा जिसे स्थापित किया जाए, वह काल स्थापना है।

३२६६. औदयिक आदि भावों का परित्याग करना अथवा क्रोध, मान आदि भावों का परित्याग करना भावस्थापना है। अथवा जिस निर्जरा आदि भावों से मुनि एक स्थान पर निवास करते हैं, परिव्रजन नहीं करते, उसका विचार भावस्थापना है।

३२६७. द्रव्य, क्षेत्र और भाव निक्षेप में स्वामित्व, करण एवं अधिकरण—इन तीन का एकत्व एवं पृथक्त्व (बहुत्व) से विचार करने पर छह-छह भेद हो जाते हैं।^१

३२६८. काल का अर्थ है—समय, आवलिका आदि व्यावहारिक काल। प्रस्तुत प्रसंग में जिस समय का अधिकार है, उसकी प्ररूपणा करूंगा। मुनि प्रावृत् काल में मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र से निष्क्रमण कर वर्षाक्षेत्र में (वर्षावासयोग्य क्षेत्र में) प्रवेश करते हैं अथवा वर्षावास योग्य क्षेत्र से शरदकाल में निष्क्रमण कर ऋतुबद्ध काल में मासकल्पयोग्य क्षेत्र में प्रवेश करते हैं—इसका कथन करूंगा।

३२६९. स्थविरकल्पिक तथा जिनकल्पिक मुनि नवकल्पविहारी होते हैं। वे ग्रीष्म एवं हेमन्त ऋतु में न्यून या अतिरिक्त आठ मास विहरण कर यथासमाधि—जैसे ज्ञान, दर्शन चारित्र की समाधि हो वैसे, वर्षावास प्रायोग्य क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। प्रतिमाधारी मुनि ऋतुबद्ध काल में एक दिन तथा यथालंघिक मुनि पांच दिन का उत्कृष्ट प्रवास करते हैं।

३२७०. यदि किसी मुनि ने जिस क्षेत्र में आषाढ मास में मासकल्प किया, उसी क्षेत्र में उसे वर्षावास करना हो तो उसके विहरणकाल सात हो जाते हैं। इसी प्रकार जहां वर्षावास किया, वहां से निष्क्रमण का मार्ग कीचड़युक्त हो गया, वर्षा अविरत बरसने लगी, नगररोध या अशिव आदि आपवादिक परिस्थितियां पैदा हो गईं और मुनि वहां से मृगशिर मास में भी प्रस्थान न कर सके तो विहरणकाल—सात हो जाते हैं।

१. द्रव्यस्थापना—स्वामित्व, जैसे कोई साधु एक संस्तारक के अभिग्रह की स्थापना करता है—अभिग्रह ग्रहण करता है। २. जैसे कोई साधु एक संस्तारक और तीन पटावतार का अभिग्रहण करता है। करण—१. कोई साधु एक आचाम्ल द्रव्य से पूरा चातुर्मास बिताने का अभिग्रह लेता है। २. कोई साधु कूर, कुसण आदि अनेक द्रव्यों से चातुर्मास बिताने का अभिग्रहण ग्रहण करता है। अधिकरण—१. कोई साधु स्थापना करता है कि मुझे केवल एक एकांगिक फलक पर सोना है। २. कोई साधु स्थापना करता है कि मुझे अनेकांगिक संस्तारक पर सोना है। क्षेत्रस्थापना—स्वामित्व—१. जैसे—मैं केवल एक ग्राम का परिभोग करूंगा। २. स्वग्राम के अतिरिक्त प्रतिवृषभ ग्रामों तथा अन्तरपल्लियों का परिभोग करूंगा—भिक्षा आदि के लिए जाऊंगा। क्षेत्रस्थापना में करणविषयक दोनों भेद विवक्षित नहीं हैं। अधिकरण—१. मुझे अर्धयोजन क्षेत्र की मर्यादा तक जाकर लौट आना है। २. कारणविशेष में अनेक अर्धयोजन—दो योजन तक भी जा सकता हूँ। भावस्थापना—स्वामित्व—१. औदयिक भाव की स्थापना। २. क्रोध, मान आदि भावों की स्थापना अथवा १. ज्ञान आदि का ग्रहण, २. क्षायिक भाव में संक्रान्त होते हुए अन्य भावों का वर्जन। करण—१. निर्जरा से एक क्षेत्र में स्थित होना, २. संग्रह, उपग्रह, निर्जरा आदि अनेक निमित्तों से स्थित होना। अधिकरण—१. क्षायोपशमिक या क्षायिक एक भाव में स्थित होना। २. क्षायोपशमिक भाव से क्षायिक भाव में जाते हुए भावों में स्थापना। चूर्णिकार ने क्षेत्र आदि के समान काल के भी छह भेद बताए हैं।

३२७१. वासाखेत्तालंभे, 'अद्धाणादीसु पत्तमहिगा तु'^१।
साधग^२ वाघातेण व, अपडिक्कमितुं^३ जइ वयंति ॥ ३१४६ ॥
३२७२. पडिमापडिवण्णाणं, एगाहं पंच होंत^४ऽहालंदो।
'जिण-सुद्धाणं'^५ मासो, णिक्कारणतो य थेराणं^६ ॥ ३१४७ ॥
३२७३. ऊणातिरित्तमासा, एवं थेराण अट्ट णातव्वा।
'इतरेसु अट्ट रियितुं'^७, णियमा चत्तारि अच्छंति ॥ ३१४८ ॥
३२७४. आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होति^८ ठायव्वं।
मग्गसिरबहुलदसमी, तो^९ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि^{१०} ॥ ३१४९ ॥
३२७५. बाहिट्टिता^{११} वसभेहिं, खेतं गाहेतु वासपाउगं।
कप्पं कहेतु ठवणा, सावणबहुलस्स^{१२} पंचाहे^{१३} ॥ ३१५० ॥
३२७६. एत्थं^{१४} तु अणभिग्गहितं, वीसतिराइं^{१५} सवीसतिं^{१६} मासं।
तेण परमभिग्गहितं, गिहिणातं कत्तिओ^{१७} जाव ॥ ३१५१ ॥

१. °णादि वि पवण्णमधिगा उ (दे)।

२. सावग (भ)।

३. °मित्तु (दश्रुनि ६१)।

४. होति (दे, भ), होत (मु)।

५. जिण त्ति जिणकप्पिया, सुद्धाणं ति सुद्धपरिहारियाणं (चू)।

६. दश्रुनि ६२।

७. इतरे अट्ट विहरिउं (दे, दश्रुनि ६३), इतरे णाम पडिमा-
पडिवण्णा आहालंदिया विसुद्धपरिहारिया जिणकप्पिया य
जहाविहारेण अट्ट रीइतुं वासारत्तिया चउरो मासा सव्वे
णियमा अच्छंति (चू)।

८. होंति (दे, भ)।

९. 'तो' शब्द छंद की दृष्टि से अतिरिक्त प्रतीत होता है।

१०. दश्रुनि ६४।

११. बाहिं ठिता (दश्रुनि ६५)।

१२. °णऽसुद्धस्स (दश्रुनि)।

१३. आसाढपुण्णिमाए पविट्ठा पडिवयाओ आरब्भ पंचदिणाइं
संधारग-तण-डगलच्छार-मल्लादीयं गेणहंति। तम्मि चेव
पणगरातीए पज्जोसवणाकप्पं कहेति ताहे सावणबहुल-
पंचमीए वासकालसामायारिं ठवेति (चू)।

१४. एत्थं ति एत्थ आसाढपुण्णिमाए सावणबहुलपंचमीए
वासपज्जोसविए वि अप्पणो अणभिग्गहियं (चू)।

१५. °रातं (भ)।

१६. °सती (दश्रुनि ६६)।

१७. कित्तिओ (दे)।

३२७१. यथासमय वर्षावास योग्य क्षेत्र की अप्राप्ति^१ अथवा अटवी^२ प्रतिपन्न अवस्था में विहरण काल आठ से अधिक हो जाते हैं। वर्षावास पूर्ण होने के बाद साधक नक्षत्र का अभाव^३ नगररोध आदि व्याघात^४ एवं वसति व्याघात^५ के कारण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से पूर्व विहार करने पर भी विहरणकाल आठ से अधिक हो जाते हैं।

३२७२. प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि का एक दिवसीय विहार होता है—ऋतुबद्ध काल में वे एक स्थान पर एक दिन प्रवास करते हैं। यथालंदक मुनि ऋतुबद्ध काल में एक स्थान पर पांच दिन रह सकते हैं। जिनकल्पिक तथा शुद्धपारिहारिक मुनि ऋतुबद्ध काल में एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं। स्थविरकल्पिक मुनि भी व्याघात के अलावा (कोई विशेष आपवादिक परिस्थिति न हो तो) मासकल्प से विहार करते हैं।

३२७३. स्थविरकल्पिक मुनियों का विहरणकाल न्यून व अतिरिक्त के विकल्प से युक्त आठ मास हैं^६ इतर—शेष जिनकल्पिक, शुद्धपारिहारिक, यथालंदक आदि आठ मास तक अपने-अपने कल्प के अनुसार विहरण करते हैं। वर्षारात्र के चार मास में नियमतः वे एक स्थान पर प्रवास करते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।

३२७४. आषाढ पूर्णिमा तक वर्षावास में प्रविष्ट हो जाना चाहिए—मुनि को पर्युषणा कर लेनी चाहिए और उत्सर्गतः कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त वहीं रहना चाहिए। अपवाद में मृगशिर कृष्ण दसमी तक मुनि एक क्षेत्र में रह सकते हैं।^७

३२७५. जहां वर्षावास करना है, उस क्षेत्र से बाहर रहते हुए आचार्य वृषभ साधुओं के द्वारा वर्षावास प्रायोग्य क्षेत्र को भावित करवाते हैं। आषाढ पूर्णिमा के दिन उस क्षेत्र में प्रविष्ट होकर अग्रिम पांच दिनों में संस्तारक, तृण, क्षार आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रहण करते हैं तथा पर्युषणाकल्प का कथन करते हैं। फिर श्रावण कृष्ण पंचमी के दिन पर्युषणा—वर्षावास की स्थापना करते हैं।

३२७६. श्रावण कृष्णा पंचमी तक वर्षावास की स्थापना करने पर भी बीस रात या एक महीना बीस रात तक अनभिगृहीत कथन करना चाहिए—गृहस्थों के पूछने पर निश्चित रूप से नहीं कहना चाहिए कि हमने यहां वर्षावास का निर्णय किया है। उसके पश्चात् वर्षावास का निश्चय बता देना चाहिए और गृहस्थों को भी कार्तिक पर्यन्त रहने का निश्चय ज्ञात हो जाना चाहिए।

१. वर्षाक्षेत्र की अप्राप्ति—आषाढ मास की चातुर्मासिक पक्खी तक वर्षावास प्रायोग्य क्षेत्र न मिले और उसकी गवेषणा करते-करते श्रावण कृष्ण पंचमी, दसमी यावत् भाद्रवशुक्ला पंचमी तिथि आ जाए।
२. अटवी—अद्वाणप्रतिपन्न मुनियों को सार्थ के साथ चलना होता है, अतः कदाचित् आषाढी पूर्णिमा तक वे वर्षा प्रायोग्य क्षेत्र में न पहुंच पाएं।
३. कार्तिक पूर्णिमा के बाद आचार्य के लिए कोई ऐसा कार्य साधक नक्षत्र नहीं आ रहा हो तो उन्हें चौमासी पक्खी से पूर्व विहार करना पड़ता है।
४. वर्षावास की सम्पन्नता होने के साथ ही नगररोध आदि किसी व्याघात की संभावना हो, बाद में विहार करना अशक्य प्रतीत हो तो चातुर्मासिक पक्खी से पूर्व विहार करना पड़ता है।
५. वसति व्याघात—बाढ़, अग्नि आदि के कारण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से पूर्व विहार करना पड़े तो विहरणकाल आठ से अधिक हो जाते हैं।
६. विहरण कालों की न्यूनाधिकता हेतु द्रष्टव्य गाथा ३२७०, ३२७१।
७. दस रात के ग्रहण से अपवाद का प्रदर्शन किया गया है। चूर्णिकार के अनुसार इससे दो अन्य दस रात भी गृहीत हो जाते हैं अर्थात् अपवाद में पूरे मृगशिर मास तक भी स्थविरकल्पिक मुनि एक स्थान (चातुर्मासिक स्थान) पर रह सकते हैं।
८. अभिवर्धित वर्ष की अपेक्षा से बीस रात तथा चन्द्रवर्ष की अपेक्षा से एक मास बीस रात का अनभिगृहीत कथन किया जाता है।

३२७७. असिवादिकारणेहिं, अहवा^१ वासं न सुद्दु आरद्धं ।
अहिवड्डियम्मि^२ वीसा, इतरेसु सवीसतीमासो^३ ॥ ३१५२ ॥
३२७८. एत्थ तु पणगं पणगं, कारणियं जा^४ सवीसतीमासो ।
सुद्धदसमीठिताण व, आसाढीपुण्णिमोसवणा^५ ॥ ३१५३ ॥
३२७९. इय सत्तरी जहण्णा, असीति^६ नउती 'दसुत्तरसतं च'^७ ।
जइ वासति मग्गसिरे, दसराया^८ तिन्नि उक्कोसा^९ ॥ ३१५४ ॥
३२८०. पण्णासा पाडिज्जति, चउण्हे^{१०} मासाण मज्झओ ।
ततो उ सत्तरी होति, जहण्णो वासुवग्गहो ॥ ३१५५ ॥
३२८१. कारुण मासकप्पं, तत्थेव ठिताण ऽतीतमग्गसिरे ।
सालंबणाण छम्मासिगो उ जेट्ठोग्गहो भणितो^{११} ॥ ३१५६ ॥
३२८२. जइ अत्थि पदविहारो, चउपाडिवयम्मि होति णिग्गमणं^{१२} ।
अहवावि अणितस्सा, आरोवण पुव्वनिद्धिटा ॥ ३१५७ ॥
३२८३. काइयभूमी^{१३} संथारगे य संसत्त दुल्लभे भिक्खे ।
एतेहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होति णिग्गमणं^{१४} ॥ ३१५८ ॥
३२८४. राया 'कुंथू सप्पे'^{१५}, अगणिगिलाणे य थंडिलस्सऽसती^{१६} ।
एतेहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होति णिग्गमणं^{१७} ॥ ३१५९ ॥

१. अहव णं (क) ।

२. जत्थ अधिकमासो पडति वरिसे, तं अभिवड्डियवरिसं
भण्णति (चू) ।

३. वि वीसं (दे), दश्रुनि ६७ ।

४. जाव (मु) ।

५. 'सरणं (दश्रुनि ६८) ।

६. असीती (दे) ।

७. 'त्तरं च सतं (दे) ।

८. 'रायं (मु) ।

९. दश्रुनि ६९ ।

१०. छंद की दृष्टि से यहां 'चउ' पाठ होना चाहिए। गाथा के
प्रथम चरण में आर्या तथा शेष तीन चरणों में अनुष्टुप् है ।

११. होइ (भ), होति (दश्रुनि ७०), दे प्रति में यह गाथा नहीं
है ।

१२. गंतव्वं (दश्रुनि ७१) ।

१३. 'भूमि (दे) ।

१४. दश्रुनि ७२ ।

१५. सप्पे कुंथू (दश्रुनि ७३) ।

१६. थंडिल्लं (भ) ।

१७. हस्तप्रतियों में ३२८३ और ३२८४—इन दोनों गाथाओं
में क्रम व्यत्यय है। दश्रुनि में भी पहले ३२८४ तथा बाद
में ३२८३ वीं गाथा है। हमने हस्तप्रतियों का क्रम स्वीकृत
किया है ।

३२७७. कदाचित् उस क्षेत्र में अशिव, राजद्वेष आदि कोई आपवादिक परिस्थिति पैदा हो जाए अथवा वर्षा सम्यक् रूप से प्रारम्भ न हो और आचार्य (मुनि) वर्षावास निश्चित कह दें तो आज्ञाभंग आदि दोष को प्राप्त होते हैं। यदि विहार करना पड़े तो लोगों में जिनशासन की अपभ्राजना का प्रसंग बनता है। अतः अभिवर्धित वर्ष में बीस रात तथा इतर—चन्द्रवर्षों में एक महीना, बीस रात के बाद वर्षावास का निश्चय गृहस्थों को ज्ञात होना चाहिए। शिष्य—अभिवर्धित वर्ष में बीस रात और चन्द्र वर्षों में एक महीना बीस रात—ऐसा क्यों? आचार्य—अभिवर्धित वर्ष में अधिक मास युग के अन्त में हो तो दो आषाढ़ होते हैं और युग के मध्य में हो तो दो पोष। इस प्रकार अभिवर्धित वर्ष में ग्रीष्म काल में ही एक महीना अतिक्रान्त हो जाता है अतः उसका अनभिगृहीत काल बीस रात का प्रज्ञप्त है और शेष तीनों चन्द्रवर्षों में एक महीना बीस रात।

३२७८. वर्षावास योग्य क्षेत्र में आषाढ़ पूर्णिमा के दिन प्रविष्ट हों तो पांच दिन तक संस्तारक, तृण, क्षार आदि ग्रहण करने के बाद श्रावणकृष्ण पंचमी के दिन पर्युषणा की स्थापना होती है। यदि किसी कारणवश पंचमी के दिन पर्युषणा न हो सके तो पांच दिन की वृद्धि की जाए—इस प्रकार पांच-पांच दिन की वृद्धि तब तक की जा सकती है, जब तक एक महीना बीस दिन पूर्ण न हो—भाद्रवशुक्ला पंचमी का अतिक्रमण नहीं किया जाता। यदि वर्षावास के लिए आषाढ़ शुक्ला दसमी के दिन प्रविष्ट हो जाएं या उसी क्षेत्र में आषाढ़ का मासकल्प किया हो तो आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन पर्युषणा की जाए—ऐसी विधि है।

३२७९. इस प्रकार पांच-पांच दिन की परिहानि से वर्षाकाल का जघन्य अवग्रह सत्तर दिन का होता है। मध्यम अवग्रह—अस्सी दिन, नब्बे दिन यावत् एक सौ दस दिन का होता है। ज्येष्ठावग्रह एक सौ बीस दिन का होता है, पर यदि मृगशिर महीने में अनवरत वर्षा आती रहे, मार्ग पंकबहुल या तृणबहुल हो और विहार न हो सके तो मृगशिर के दसरात्र की वृद्धि^१ करते-करते पांच महीने का उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह हो जाता है।

३२८०. उत्सर्गतः ज्येष्ठावग्रह (वर्षावास) का काल है—चार महीना=एक सौ बीस दिन। उसमें से पचास दिन (पूरा श्रावण तथा भाद्रव के बीस दिन) निकाल दिये जाएं, तब जघन्य वर्षावास सत्तर दिन का होता है।

३२८१. वर्षावास जहां करना है, यदि आषाढ़ का मासकल्प भी वहीं किया गया है तथा मृगशिर महीने में पुनः अनवरत वर्षा आदि के कारण विहार न हो तो सालम्बन—विशेष अपवाद के आलम्बन से उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह छह मास का हो जाता है।

३२८२. मुनि को वर्षावास के चार महीने एक क्षेत्र में निवास करने के बाद निर्विघ्न अवस्था में मृगशिर कृष्णा एकम (प्रतिपदा) को निर्गमन करना चाहिए—यह चतुष्प्रतिपदा है। यदि पदविहार हो—कीचड़, वर्षा आदि के कारण पदविहार में बाधा न हो तो मुनि को चतुष्प्रतिपदा में अनिवार्यतः निर्गमन करना होता है। यदि वह निर्गमन नहीं करता है तो उसे पूर्वनिर्दिष्ट—नैतिक सूत्र एवं संभोग सूत्र में प्रज्ञप्त आरोपणा प्राप्त होती है। अथवा कारण (आपवादिक परिस्थिति) में चतुष्प्रतिपदा के प्राप्त न होने पर तथा अतिक्रान्त होने पर भी निर्गमन निर्दोष है।

३२८३, ३२८४. चतुष्प्रतिपदा से पूर्व निर्गमन के कारण—१. राजद्वेष, २. कुंथु आदि छोटे प्राणियों से वसति का संसक्त होना, ३. वसति में सर्प का उपद्रव, ४. वसति का अग्नि आदि से नष्ट हो जाना, ५. ग्लान मुनि की सेवा या औषध लाने के लिए जाना हो, ६. स्थंडिल भूमि का अभाव, ७. कायिकी (प्रस्रवण) भूमि प्राणियों से संसक्त हो जाए, ८. संस्तारक सूक्ष्मप्राणियों से संसक्त हो जाए, ९. भिक्षा दुर्लभ हो जाए।^२ इन कारणों से मुनि चतुष्प्रतिपदा के प्राप्त न होने पर (चतुष्प्रतिपदा से पूर्व) विहार (निर्गमन) कर सकता है।

१. यदि कार्तिक पूर्णिमा के बाद वर्षाकाल के क्षेत्र से निर्गमन संभव न हो तो दसरात्र की वृद्धि की जाती है। पुनः मृगशिर दसमी तक निर्गमन न हो सके तो दस रात्र—इस क्रम से तीन बार दसरात्र की वृद्धि से एक महीना अतिक्रान्त हो जाता है।

२. आत्म-पर समुत्थ दोषों से मोहोदय हो जाए या अशिव आदि उत्पन्न हो जाए।

३२८५. वासं व न उवरमती, पंथा वा दुग्गमा सच्चिक्खल्ला^१ ।
एतेहिं कारणेहिं, अइकंते होति णिग्गमणं ॥ ३१६० ॥
३२८६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
एतेहिं कारणेहिं, अइक्कंते होतऽनिग्गमणं^२ ॥ ३१६१ ॥
३२८७. उभओ^३ वि अद्धजोयण, सअद्धकोसं च तं^४ हवति खेत्तं ।
होति सकोसं जोयण, मोत्तूणं कारणज्जाते^५ ॥ ३१६२ ॥
३२८८. उड्डमहे तिरियम्मि य, 'सक्कोसं हवति सव्वतो'^६ खेत्तं ।
इंदपदमादिगेसू^७, छद्दिसि सेसेसु चउ-पंच ॥ ३१६३ ॥
३२८९. तिण्णि दुवे एक्का^८ वा, वाघातेणं दिसा हवति खेत्तं ।
उज्जाणाउ परेणं, छिण्णमडंबं तु अक्खेत्तं^९ ॥ ३१६४ ॥
३२९०. दगघट्ट^{१०} तिण्णि सत्त व, उडुवासासु ण हणंति तं खेत्तं ।
चउरट्टाति हणंती, जंघद्धेक्को वि तु परेण^{११} ॥ ३१६५ ॥
३२९१. दव्वट्टवणाहारे, विगती संथार मत्तगे लोए ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, वोसिरणं गहणधरणादी^{१२} ॥ ३१६६ ॥
३२९२. पुव्वाहारोसवणं, जोगविवट्टी य सत्तिउग्गहणं ।
संचइयमसंचइए, दव्वविवट्टी पसत्थाओ^{१३} ॥ ३१६७ ॥
३२९३. विगतिं^{१४} विगतीभीतो, विगतिगतं जो तु भुंजते भिक्खू^{१५} ।
विगती विगतसहावा^{१६}, विगती विगतिं बला नेति ॥ ३१६८ ॥

१. 'क्खिल्ला (मु, दश्रुनि ७४) ।

२. भ प्रति में इस गाथा का संकेत मात्र है, दश्रुनि ७५ ।

३. उभओ ति पुव्वावरेण दक्खिणुत्तरेण वा (चू) ।

४. तह (भ, दे) ।

५. दश्रुनि ७६ ।

६. सकोसयं सव्वतो हवति (दश्रुनि ७७) ।

७. 'एसुं (दश्रुनि) इंदपयपव्वतो गयग्गपव्वतो भण्णति (चू) ।

८. एगा (दश्रुनि) ।

९. दश्रुनि ७८ ।

१०. दगघट्टो णाम जत्थ अद्धजंघा जाव उदगं (चू) ।

११. दश्रुनि ७९ ।

१२. दश्रुनि ८० ।

१३. दश्रुनि ८१ ।

१४. विभत्सा विकृता वा गती विगती (चू) ।

१५. साधू (दे, पा) ।

१६. °भावं (दश्रुनि ८२) ।

३२८५. यदि वर्षा नहीं रुक रही हो, कीचड़ की बहुलता या सूक्ष्म प्राणियों की प्रचुरता के कारण मार्ग दुर्गम हो जाए तो चतुष्प्रतिपदा (मृगशिर प्रतिपदा) के अतिक्रान्त होने पर भी निर्गमन नहीं होता।

३२८६. यदि वर्षावास किया उस क्षेत्र से बाहर १, २ अशिव (महामारी) या दुर्भिक्ष उत्पन्न हो जाए, ३. कोई भयंकर राजद्वेष की स्थिति हो जाए, ४. म्लेच्छ आदि का आगाढ़ भय हो अथवा ५. कोई आगाढ़ ग्लान्य उत्पन्न हो जाए—इन कारणों से चतुष्प्रतिपदा का अतिक्रमण होने पर भी निर्गमन नहीं होता।

३२८७. क्षेत्रावग्रह—वर्षावास में दोनों तरफ—पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में (अथवा चारों ओर) आधा कोस, आधा योजन का क्षेत्र ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार विशेष कारणों (कारणजात) को छोड़कर गमनागमन का क्षेत्र मिलाने से एक कोस एक योजन का क्षेत्र स्थापित किया जाता है।

३२८८. इन्द्रपद पर्वत की मध्यश्रेणी में स्थित आदि मुनियों के लिए ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् सब दिशाओं में ग्राम होने से छहों दिशाओं में क्षेत्र है तो वर्षावास में मुनि छहों दिशाओं में सकोस (एक कोस सहित) एक योजन क्षेत्र का अवग्रह ग्रहण करते हैं। अन्यत्र जहां छहों दिशाओं में ग्राम नहीं होते वहां पांच^१ या चार दिशाओं का क्षेत्रावग्रह होता है।

३२८९. समतल भू-भाग पर सामान्यतः चार दिशाओं में क्षेत्र होता है पर यदि एक, दो या तीन दिशा में व्याघात—भयंकर अटवी, पर्वत आदि विषम स्थल, समुद्र आदि हों तो तीन, दो और एक दिशा में क्षेत्र होता है। जिस दिशा में व्याघात हो, उस दिशा में ग्राम, नगर आदि में उद्यान तक का क्षेत्र होता है। उससे परे तथा छिन्नमंडब^२ के चारों ओर अक्षेत्र होता है—ग्राम, गोकुल आदि क्षेत्र नहीं होता।

३२९०. जहां पर अर्द्ध जंघा यावत् जल होता है, वह दगसंघट्ट कहलाता है। तीन दग घट्ट ऋतुबद्ध काल में तथा सात वर्षावास में उस क्षेत्र का उपहनन नहीं करते।^३ इससे अधिक क्रमशः चार और आठ दगघट्ट वाला क्षेत्र क्रमशः ऋतुबद्ध काल तथा वर्षावास में प्रवास प्रयोग्य नहीं होता। दगसंघट्ट से अधिक जल (लेप आदि) उसकी उस अर्हता का उपहनन कर देते हैं।

३२९१. वर्षावास प्रायोग्य आहार, विगय, संस्तारक, मात्रक आदि का ग्रहण करना, पूर्व गृहीत को धारण करना तथा अनुपयोगी द्रव्यों का विसर्जन करना द्रव्य स्थापना है। इस विषय को सात द्वारों से व्याख्यायित किया गया है—१. आहार, २. विगय, ३. संस्तारक, ४. मात्रक, ५. लोच, ६. सचित्त और ७. अचित्त।

३२९२. ऋतुबद्ध काल में जो आहार लिया जाता रहा, उसका वर्षावास में परित्याग किया जाता है।^४ साथ ही वह यथाशक्ति योगवृद्धि^५ करे। विगय के दो प्रकार हैं—१. संचयिक (घृत, गुड़ आदि) और २. असंचयिक (दूध, दही आदि) कारण में प्रशस्त विगय—दूध आदि का ग्रहण करने पर द्रव्यवृद्धि होती है।

३२९३. दुर्गति से डरने वाला भिक्षु यदि विकृति (विगय) अथवा विकृतिगत (दूध, दही आदि से बने पदार्थ) का आहार करता है तो वह विकृति खाने से विकृत स्वभाव वाला हो जाता है तथा वह विकृति (विगय) उसे बलात् विगति—नरक आदि दुर्गति में ले जाता है।

१. इन्द्रपद पर्वत के यदि कोई ऊर्ध्ववर्ती ग्राम या अधोवर्ती ग्राम में वर्षावास करे तो उसकी वह एक दिशा बन्द होने पर पांच दिशाओं का ही क्षेत्र अवशेष रहेगा। यही बात अन्य पर्वतों एवं समभूभागवर्ती क्षेत्रों में पांच या चार दिशा के लिए ज्ञेय है।

२. छिन्नमंडब वह ग्राम या नगर होता है, जिसके अवग्रह में किसी भी दिशा में कोई अन्य ग्राम, गोकुल आदि नहीं होता।

३. गोचरी आदि के लिए आते-जाते समय छह बार अर्धजंघा पर्यन्त जल का स्पर्श हो, वह ऋतुबद्ध काल में तथा जहां चौदह बार उतने जल का स्पर्श हो, वह वर्षावास में प्रवास-प्रायोग्य माना गया है।

४. यदि आवश्यक-परिहाण न हो तो मुनि चारों महीने उपवासी रहे। यदि इतना करने में सक्षम न हो तो एक दिन न्यून यावत् प्रतिदिन भी आहार कर सकता है।

५. योगवृद्धि—जो नवकारसी सहजता से कर सके, वह प्रहर करने का प्रयत्न करे। जो प्रहर करता हो, वह पुरिमार्ध करे—इस प्रकार योग वृद्धि करे, जिससे आवश्यक योगों में हानि न हो।

३२९४. 'विगतीए गहणम्मि वि'^१, गरहितविगतिग्गहो^२ व^३ कज्जम्मि ।
गरहा लाभपमाणे, पच्चयपावप्पडीघातो ॥३१७० ॥
३२९५. पसत्थविगतिग्गहणं, तत्थ वि य असंचइय उ^४ जा उत्ता ।
संचतिय ण गेणहंती, गिलाणमादीण कज्जट्टा^५ ॥३१६९ ॥
३२९६. कारण^६ उडुगहिते उज्झिरुण गेणहंति अण्णपरिसाडिं^७ ।
दाउं गुरुस्स तिण्णि उ, सेसा गेणहंति एक्केक्कं^८ ॥३१७१ ॥
३२९७. उच्चार-पासवण-खेलमत्तगे तिण्णि तिण्णि गेणहंति ।
संजयआदेसट्टा^९, भुंजेज्जवसेस उज्झंति^{१०} ॥३१७२ ॥
३२९८. धुवलोओ उ^{११} जिणाणं, णिच्चं थेराण वासवासासु ।
असहू गिलाणगस्स^{१२} व, 'तं रयणिं तू णातिक्कामे'^{१३} ॥३१७३ ॥
३२९९. मोत्तुं पुराण-भावितसङ्गे सच्चित्त सेसपडिसेधो ।
मा होहिति णिद्धम्मो, भोयणमोए य उडुहो^{१४} ॥३१७४ ॥
३३००. डगलच्छारे^{१५} लेवे, छडुण गहणे तहेव धरणे य ।
पुंछण-गिलाण-मत्तग, भायणभंगादिहेतू से^{१६} ॥३१७५ ॥
३३०१. इरिएसण भासाणं, मण-वयसा कायए^{१७} य दुच्चरिते ।
अधिकरणकसायाणं, संवच्छरिए विओसवणं^{१८} ॥३१७६ ॥

१. पसत्थविगतिग्गहणं (दश्रुनि) ।

२. °गतीगहो (भ) ।

३. य (दश्रुनि ८३) ।

४. × (भ) ।

५. दश्रुनि ८२/१ ।

६. कारणओ (दश्रुनि), कारणे (मु) ।

७. °साडी (दे, दश्रुनि ८४) ।

८. सभी हस्तप्रतियों में पहले विगतीए (३२९४) तथा उसके बाद पसत्थ.....(३२९५) गाथा है। विषय की क्रमबद्धता और हस्तप्रतियों को प्रमाण मानकर हमने भी यही क्रम स्वीकृत किया है।

९. संजम° (मु) ।

१०. दश्रुनि ८५ ।

११. य (मु, दे) ।

१२. °णस्स (भ) ।

१३. नातिक्कामेज्ज तं रयणिं (दश्रुनि ८६) ।

१४. दश्रुनि ८७ ।

१५. °लगछारे (भ) ।

१६. दश्रुनि ८८ ।

१७. कारिते (क), काइए (दश्रुनि ८९) ।

१८. °समणं (भ) ।

३२९४. विगय ग्रहण के विषय में भी यह ध्यातव्य है कि गर्हित—अप्रशस्त विगय का ग्रहण मात्र आगाढ़ प्रयोजन में ही किया जाए। गर्हित विगय—मधु, मद्य आदि को ग्रहण करते समय भी गर्हा का प्रदर्शन करे—क्या करें? अमुक मुनि के अमुक प्रकार का रोग है, वह अन्यथा स्वस्थ नहीं हो सकेगा, आदि। गर्हित विगय प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो तो भी परिमित मात्रा में ही ग्रहण करे, ताकि गृहस्थों का विश्वास बना रहे तथा स्वयं के भीतर पैदा होने वाली कुत्सित आकांक्षा का भी प्रतिघात हो जाए।

३२९५. मुनि आवश्यक होने पर प्रशस्त विगय का ग्रहण करे। यदि श्राद्ध (श्रावक) ज्यादा आग्रह करे तो जो असंचयिक प्रशस्त विगय—दूध, दही आदि बताई गई हैं, उनका ग्रहण करे। संचयिक विगय—घी, खाद्य (मिठाई) आदि आग्रह करने पर भी न ले, उन्हें बताए कि जब ग्लान आदि के लिए प्रयोजन होगा तभी इन्हें लेंगे, अभी नहीं।

३२९६. ऋतुबद्ध काल में यदि कारणवश संस्तारक ग्रहण किए हों तो वर्षावास में उनका परित्याग कर मुनि अन्य अपरिशाटी संस्तारक ग्रहण करे। उनमें से पहले गुरु के प्रायोग्य तीन संस्तारक उन्हें प्रदान करे, फिर प्रत्येक मुनि शेष में से एक-एक ले ले।

३२९७. मुनि वर्षाकाल में नौ मात्रक रख सकते हैं—तीन उच्चार मात्रक, तीन प्रस्रवण मात्रक और तीन क्ष्वेड मात्रक (कफ परिष्ठापन पात्र)। इसके मुख्यतः तीन कारण हैं—१. संयमनिमित्त^१ २. आदेशार्थ^२ ३. कदाचित् कोई एक या दो मात्रक टूट जाए तो अन्य का उपयोग किया जा सकता है। शेष—ऋतुबद्ध काल में गृहीत मात्रकों का परित्याग कर दिया जाता है।

३२९८. चाहे ऋतुबद्ध काल हो या वर्षावास, जिनकल्पिक मुनियों के लिए ध्रुवलोच—प्रतिदिन लोच का विधान है। स्थविरकल्पिक मुनियों के लिए वर्षावास में ध्रुवलोच का विधान है। पर जो ग्लान हों या असहिष्णु हों, वे मुनि भी पर्युषणा रात्रि का अतिक्रमण नहीं करते अर्थात् उससे पूर्व उन्हें भी अनिवार्यतः केशलोच कर लेना चाहिए।

३२९९. पुराने या भावितश्राद्ध को छोड़कर वर्षावास में पर्युषणा की स्थापना करने के बाद शेष सचित्त का प्रतिषेध है—साधु अथवा साध्वी के रूप में प्रव्रजित करने का प्रतिषेध है। अभावित शैक्ष कहीं निर्धर्मा (धर्म से विपरिणत) न हो जाए और एक ही काष्ठपात्र आदि में अनेकों को एक साथ आहार करते तथा मात्रक में प्रस्रवण करते देखकर उड्डाह न करे।^३

३३००. ढेले, राख, मल्लक, लेप आदि जो वस्तुएं ऋतुबद्ध काल में ग्रहण की गई हों और उपयोगी न हों, तो वर्षाकाल में उन्हें परिष्ठापित कर दिया जाता है। जो उपयोगी हो, उन्हें धारण किया जाता है तथा कुछ जो मुनियों के पास न हों तो वे उन्हें वर्षावास की स्थापना से पूर्व ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार वर्षावास प्रायोग्य पादप्रोच्छन, ग्लानादि कार्य के लिए राख आदि उच्चारदि के लिए अतिरिक्त मात्रक एवं भाजन को भंग (विराधना) से बचाने के लिए लेप आदि वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है।

३३०१. भावस्थापना—पर्युषणा कल्प की भावस्थापना के दस द्वार हैं—१-८ ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियां—पांच तथा मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग अर्थात् तीन गुप्तियां। ९, १०. अधिकरण (कलह) और कषाय का विसर्जन (परित्याग)। पूरे वर्ष में पांच समितियों व तीन गुप्तियों में दोष लगा हो तो उसकी आलोचना तथा कलह और कषाय का परित्याग पर्युषणा में अनिवार्यतः करणीय है।

१. यदि एक पात्र प्रयुक्त हो चुका और वर्षा बरस रही है, दूसरे मुनि को आवश्यकता है तो वह क्या लेगा? ऐसी स्थिति में तीन रखना उपयोगी होता है।

२. अतिथि के लिए—अशिव आदि विशेष अपवादों से कोई प्राघुर्णक मुनि आए तो समय पर उसे भी उच्चार आदि के लिए मात्रक दिया जा सके।

३. वह वर्षावास की समाचारी से भावित नहीं होता, फलतः वर्षा में विचारभूमि जाते देखकर, पादलेखनिका से पैरों का कीचड़ उतारते देखकर या इसी प्रकार की किसी अन्य विधि से विपरिणाम को प्राप्त हो सकता है, उन्निष्क्रान्त भी हो सकता है।

३३०२. कामं तु सव्वकालं, पंचसु समितीसु होति जइयव्वं ।
वासासु अहीकारो, बहुपाणा मेदिणी जेणं ॥ ३१७७ ॥
३३०३. भासणें संपातिवधो, दुण्णेओ णेहछेदु ततियाए ।
इरियचरिमासु दोसु य^१, अपेह अपमज्जणे पाणा ॥ ३१७८ ॥
३३०४. मण-वयण-कायगुत्तो^३, दुच्चरियाइं^४ व णिच्चमालोए ।
'अधिकरणे तु'^५ दुरूवग^६, पज्जोते चेव दमगे य ॥ ३१७९ ॥
३३०५. 'एगबइल्लं भंडिं'^७, पासह तुब्भे वि^८ डज्झं^९ खलहाणे ।
हरणे ज्झामण 'भाणग, घोसणता'^{१०} मल्लजुद्धेसु ॥ ३१८० ॥
३३०६. अप्पिणह तं बइल्लं, दुरूवगा^{११} तस्स कुंभकारस्स ।
मा भे डहीहि^{१२} धण्णं, अण्णाणि वि सत्तवरिसाणि^{१३} ॥ ३१८१ ॥
३३०७. चंपा अणंगसेणो^{१४}, पंच ऽच्छर थेर नयण दुम ऽवलए ।
विह पास णयण सावग, इंगिणि उववात णंदिवरे^{१५} ॥ ३१८२ ॥
३३०८. बोहण पडिमोद्दायण, पभावउप्पाय देवदत्तदे ।
मरणुववाते तावस, नयणं तह भीसणा समणा^{१६} ॥ ३१८३ ॥
३३०९. गंधारगिरी देवत, पडिमा गुलिया गिलाणपडियरणं ।
पज्जोतहरण पुक्खर, रणगहणे णाम^{१७} ओसवणा^{१८} ॥ ३१८४ ॥
३३१०. दासो दासीवतिओ, छत्तट्टी जो धरे य वत्तव्वो ।
आणं कोवेमाणे^{१९}, हंतव्वो बंधियव्वो य^{२०} ॥ ३१८५ ॥

१. दश्रुनि ९० ।
२. वि (दश्रुनि ९१) ।
३. गुत्ता (दे) ।
४. रित्ताणि (भ) ।
५. रणम्मि (दश्रुनि ९२) ।
६. दुरूवता (दे) ।
७. एगबइल्ला भंडी (दश्रुनि ९३) ।
८. × (दे) ।
९. डज्झंत (मु, भ) ।
१०. जत्ता भाणगमल्लेण घोसणया (दश्रुनि) ।

११. दुरूतगा (दश्रुनि ९४), तगो (भ) ।
१२. डइहिति (मु) ।
१३. वासाणि (दश्रुनि) ।
१४. कुमारनंदी (भ, दश्रुनि ९५) ।
१५. णंदिसरे (दश्रुनि), इंदि (क) ।
१६. दश्रुनि ९६ ।
१७. मेऽज्ज (दश्रुनि ९७) ।
१८. ओवसणा (भ) ।
१९. कोधेमाणो (भ) ।
२०. दश्रुनि ९८ ।

३३०२. प्रश्नकर्ता—मुनियों को ऋतुबद्ध काल में क्या असमित होना चाहिए, जो आप वर्षावास में समित होना चाहिए—ऐसा कहते हैं? आचार्य—यह सही है कि मुनि को सदा पांच समितियों से समित ही होना चाहिए, फिर भी वर्षाकाल में पृथ्वी प्राणी-बहुल होती है अतः उस समय समितियुक्त होना ज्यादा अपेक्षित है अतः उसका अधिकार है।

३३०३. यदि मुनि भाषा समिति में अनुपयुक्त होता है तो वर्षाकाल में संपातिम जीवों के मुंह में प्रविष्ट हो जाने से उनके वध आदि की संभावना रहती है। तृतीय—एषणा समिति में उपयुक्त न हो तो सचित्त जल से गीले या पुरःकर्म आदि से युक्त हाथ या पात्र का जल पूर्णतः गलित होकर सूखा या नहीं—यह जानना मुश्किल होगा। जो मुनि ईर्या समिति में अनुपयुक्त होता है, वह वर्षाकाल में छहों ही काय की विराधना में प्रवृत्त हो सकता है। अन्तिम दोनों—आदान-निक्षेप और परिष्ठापनिका समिति में अनुपयुक्त मुनि भलीभांति प्रतिलेखन-प्रमार्जन नहीं करेगा। फलतः छह जीवनिकायों की विराधना की संभावना रहेगी।

३३०४. मुनि वर्षावास में सदा मन, वचन और काया से गुप्त रहे—तीनों गुप्तियों का सम्यक् पालन करे। ऋतुबद्ध काल में या वर्षा आदि में यदि मूलगुणों, समिति आदि में कोई दुश्चरित हुआ हो—स्खलना हुई हो तो उसकी शीघ्र ही आलोचना करनी चाहिए। इसी प्रकार किसी के साथ कलह हो गया हो, कषाययुक्त व्यवहार हो गया हो और खमतखामना न किया हो तो पर्युषणा में अवश्य ही उसका क्षमायाचना पूर्वक विसर्जन कर देना चाहिए। इस विषय में दुरुतक^१ प्रद्योत एवं द्रमक—ये तीन उदाहरण ज्ञातव्य हैं।

३३०५, ३३०६. एक कुंभकार शकट में मिट्टी के बर्तन भरकर बेचने के लिए दुरुतक नामक प्रत्यन्तग्राम में पहुंचा। वहां के लोगों ने एक बैल को ठगने की इच्छा से कहा—देखो! आश्चर्य है, एक बैल से गाड़ी चल रही है। कुंभकार ने कहा—तुम्हारे खलिहान जल रहे हैं। अवसर देख गांव वालों ने एक बैल चुरा लिया। कुंभकार ने भी सारे खलिहान जला दिए। उसने जलाने का क्रम सात वर्षों तक जारी रखा। हार मानकर आठवें वर्ष गांव वालों ने मल्लयुद्ध महोत्सव में घोषणा करवाई—हमने जिसका अपराध किया है, वह हमें क्षमा करे। हम उसका बैल लौटा देंगे। दुरुतकों ने कुम्भकार का बैल लौटा दिया और कहा—अग्रिम सात वर्षों में अब हमारे खलिहान न जलाएं, हमें क्षमा करें। इस प्रकार विग्रह शान्त हो गया।^२

३३०७-३३१०. चंपा नगरी में अनंगसेन नामक स्वर्णकार अत्यन्त स्त्री लोलुप था। जिस किसी रूपवती कन्या को देखता उसी से शादी कर लेता। इस प्रकार उसके पांच सौ पत्नियां हो गईं। इधर पंचशैल द्वीप में विद्युत्माली की अग्रमहिषियां—हासा और प्रहासा अनाथ हो गईं। उन्हें पाने हेतु स्वर्णकार पंचशैल के लिए रवाना हुआ। नाविक उसे वटशाखा पकड़ने का कहकर जलावर्त के साथ चला गया और वह अटवी में पहुंच गया। नागिल श्रावक के समझाने पर इंगिनिरण अनशन से मरकर विद्युत्माली बना। नंदीश्वर द्वीप में बोधि प्राप्त करने हेतु नागिल देव ने उसे प्रतिमा के अपहरण का निर्देश दिया। रानी प्रभावती के द्वारा वर्धमान की प्रतिमा प्रकट हुई। उत्पात, मंदिर में दासी की मृत्यु, प्रभावती का पंडितमरण, राजा को प्रतिबोध देने हेतु देवता का तापसवेश में आकर राजा को भयभीत करना, राजा द्वारा श्रमणधर्म का स्वीकार, गंधार जनपद और वैताद्वय गिरि में देवाराधना से श्रावक द्वारा गुटिकाओं की प्राप्ति, ग्लान परिचर्या से दासी द्वारा उन गुटिकाओं की प्राप्ति, स्वर्णगुटिका के रूप पर मुग्ध प्रद्योत द्वारा उसका अपहरण, पुष्कर तीर्थ का प्रवर्तन, संग्राम में उद्रायण की विजय और पर्युषणा की सम्यक् आराधना हेतु प्रद्योत को बंधनमुक्त करना—इस प्रकार प्रद्योत का समग्र कथानक ज्ञातव्य है।^३

१. निभा ३ चू. पृ. १३९—दुरुतक—एक प्रत्यन्तग्राम।)

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५३।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५२।

३३११. खद्धाऽऽदाणिय गेहे, पायस 'दमचेडरूवगा दट्टु'^१।
पितरोभासण खीरे, जाइय रद्धेण^२ तेणा^३ तु ॥ ३१८६ ॥
३३१२. पायसहरणं छेत्ता, पच्चागत 'दमग असियए सीसं'^४।
भाउग सेणाहिव खिंसणाहिं^५ सरणागतो जत्थ ॥ ३१८७ ॥
३३१३. वाओदएण^६ राई, नासति कालेण सिगतपुढवीणं।
णासति 'उदगस्स सतिं'^७, पव्वतराई तु जा सेलो ॥ ३१८८ ॥
३३१४. उदगसरिच्छा पक्खेण, ऽवेति^८ चतुमासिगेण सिगतसमा।
वरिसेण पुढविराई, आमरणगती यं^९ पडिलोमा ॥ ३१८९ ॥
३३१५. एमेव थंभकेयण^{१०}, वत्थेसु परूवणा गतीओ य।
मरुग अचंकारिय पंडरज्ज-मंगू य आहरणा^{११} ॥ ३१९० ॥
३३१६. सेलऽट्ठि-थंभ-दारुग-लता य वंसे^{१२} य मेंढ गोमुत्ती^{१३}।
'अवलेहणि'^{१४}-किमि-कद्धम-कुसुंभरागे हलिदा य' ॥ ३१९१ ॥
३३१७. चउसु कसाएसु गती, नरय-तिरिय-माणुसे य देवगती।
उवसमह^{१५} णिच्चकालं, सोग्गतिमग्गं वियाणंता^{१६} ॥ ३१९२ ॥
३३१८. अवहंत गोण मरुए, चउण्ह वप्पाण उक्करो उवरिं।
'छूढो मओ उवट्ठा, अतिकोवे'^{१७} ण देमु पच्छित्तं ॥ ३१९३ ॥
३३१९. धणधूयमचंकारियभट्टा^{१८} अट्टसुतमग्गतो जाता।
वरगपडिसेह सचिवे, अणुयत्तीहं^{१९} पदाणं च ॥ ३१९४ ॥

१. दट्टु दमचेडरूवाइं (दश्रुनि १९)।

२. रद्धे य (मु)।

३. सेणा (दश्रुनि)।

४. असियएण सीसं तु (मु, भ)।

५. णा य (भ, दश्रुनि १००)।

६. एहि (भ, मु)।

७. दगस्स राई (दश्रुनि १०१)।

८. ऽवेति (दे)।

९. उ (दश्रुनि १०२)।

१०. केयणं ते छज्जयालेवणगंडो केयणं ति भण्णति, ...अहवा यत् कृतकं तं पाययसेलीए केयणं भण्णइ, कृतकं च माया (चू)।

११. दश्रुनि १०४।

१२. वंसी (दश्रुनि)।

१३. गोमुत्ता (दे), गोमुत्तं (दश्रुनि)।

१४. °हण (दे), दश्रुनि (१०३) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—°णिया किमिराग कद्धम कुसुंभय हलिदा।

१५. °समाहि (दे)।

१६. दश्रुनि १०४/१, ३३१६, ३३१७—ये दो गाथाएं भ प्रति में नहीं हैं।

१७. छोढुं मए मुवट्ठाऽतिकोवे (दश्रुनि १०५)।

१८. वणिधूयाऽचं (दश्रुनि १०६)।

१९. °त्तीहि (मु, दे), °त्तीह (दश्रुनि)।

३३११, ३३१२. धनाह्य लोगों के घर^१ खीर का भोजन देखकर एक दरिद्र^३ ब्राह्मण के बच्चे ने पिता से खीर की मांग की। पिता ने दूसरों से दूध आदि की याचना कर खीर बनाई। चोरों का आगमन हुआ और खीर चोर ले गए। द्रमक ने चोरों का पीछा किया और चोरों के सेनापति का सिरच्छेद कर दिया। चोरों ने उस सेनापति के छोटे भाई को सेनापति बना दिया। तुम्हें धिक्कार है, जो तुम अपने भाई के शत्रु से बदला लिए बिना सेनापति बन गए। परिजनों के व्यंग्य से क्रोधित चोर सेनापति ने ब्राह्मण को जीवित पकड़ लिया और बोला—तू मेरे भाई का हत्यारा है, बोल, तुझे कहां मारूं। वह बोला—जहां शरणागत मारे जाते हैं, वहां मुझे मारो। शरणागत अवध्य होता है, ऐसा सोच उसने उसे माफ कर दिया।^३

३३१३. बालू तथा पृथ्वी पर बनी हुई रेखा स्वल्प काल में ही क्रमशः वायु और जल से नष्ट हो जाती है। जल में बनी रेखा तत्काल ही नष्ट हो जाती है और पर्वत की रेखा तब तक बनी रहती है, जब तक पर्वत रहता है।

३३१४. जो उसी दिन शान्त हो जाता है यावत् पाक्षिक प्रतिक्रमण तक चला जाता है—उपशान्त हो जाता है, वह क्रोध जल की रेखा के समान, जो चातुर्मासिक पक्खी तक उपशान्त हो और वर्ष भर में उपशान्त हो, वह (क्रोध) क्रमशः बालू तथा पृथ्वी की रेखा के समान कहलाता है। क्रोध मरण पर्यन्त बना रहता है, वह क्रोध पर्वत की रेखा के समान होता है। इनकी गति के विषय में प्रतिलोम प्ररूपणा करनी चाहिए—उदक—राजि क्रोध—देवगति, सिकता राजि—मनुष्य गति, पृथ्वीराजि—तिर्यच गति, पर्वतराजि—नरक गति और अकषाय—मोक्षगति।

३३१५. इसी प्रकार मान, माया और लोभ की प्ररूपणा क्रमशः स्तम्भ, केतन—वक्रवस्तु तथा वस्त्र के द्वारा करनी चाहिए तथा गति के विषय में क्रोध की भांति प्रतिलोम प्ररूपणा ज्ञातव्य है। क्रोध आदि के विषय में क्रमशः मरुक (ब्राह्मण), अचंकारी भट्टा (अत्वंकारी भट्टा), पंडरज्जा (पांडुरा आर्या) तथा आर्यमंगु के दृष्टान्त ज्ञातव्य हैं।

३३१६. अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि मानचतुष्क को पत्थर के स्तम्भ, अस्थिस्तम्भ, काष्ठस्तम्भ एवं लता के स्तम्भ से उपमित किया जाता है। अनन्तानुबन्धी आदि मायाचतुष्क क्रमशः बांस की जड़, मेंढे का सींग, गोमूत्रिका तथा छिलते हुए बांस की छाल की वक्रता से ज्ञातव्य है। अनन्तानुबन्धी आदि लोभचतुष्क क्रमशः कृमिराग, कर्दमराग, कुसुंभराग तथा हरिद्राराग से रंजित वस्त्र की भांति ज्ञातव्य है।

३३१७. चारों कषायों—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि में आयुष्य बंध होने पर क्रमशः नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव गति प्राप्त होती है। अतः सुगति के मार्ग को जानने वालों को नित्य उपशान्त रहना चाहिए।

३३१८. एक ब्राह्मण का बैल थक कर गिर गया। ब्राह्मण ने उसे हल जोतता न देख चाबुक से पीटा। चाबुक टूट गया, तब ढेले से पीटा। पीटते-पीटते चार क्यारियों के ढेलों का उस पर ढेर लग गया। अन्ततः बैल मर गया। गौ अवध्य है अतः वह बैल मारने का प्रायश्चित्त लेने के लिए विद्वान् ब्राह्मणों के पास पहुंचा। उन्होंने कहा—तुम अत्यन्त क्रोधी हो, प्रायश्चित्त से तुम्हारी शोधि संभव नहीं। हम तुम्हें प्रायश्चित्त नहीं देंगे। वह ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत होकर अपयश का भागी बना।^४

३३१९. धनश्रेष्ठी के आठ पुत्रों के बाद एक कन्या का जन्म हुआ। श्रेष्ठी ने अपने परिजनों से कहा—यह कुछ भी करे, इसे कोई चूं तक न कहे, अतः उसका नाम अचंकारी—अत्वंकारी भट्टा हो गया। अनेक व्यक्ति उससे विवाह करना चाहते। तब पिता ने कहा—जो इसकी आज्ञा में रहेगा, अपराध होने पर भी इसे कुछ नहीं कहेगा, वही इसे वरण करेगा। मंत्री सुबुद्धि ने उसके साथ विवाह कर लिया।

१. निभा ३ चू. पृ. १४७—खड्गादाणीयगिहा—ईश्वरगृहा इत्यर्थः।

२. वही, दमगो दरिद्रो।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५४।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५५।

३३२०. णिवचिंतं विकालपडिच्छणा य दारं ण देमि णिवकहणा^१।
खिंसा णिसिणिगमणं, चोरा सेणावतीगहणं^२ ॥ ३१९५ ॥
३३२१. नेच्छति जलूगवेज्जग^३, गहणं तं पि य अणिच्छमाणी^४ तु।
गेण्हावे^५ जलूगवणा^६ 'भाउगदूए कहण मोए'^७ ॥ ३१९६ ॥
३३२२. सयगुणसहस्सपागं, वणभेसज्जं जतिस्स जायणता।
तिक्खुत्त दासिभिंदण, ण य कोहो^८ सयं पदाणं^९ च ॥ ३१९७ ॥
३३२३. पासत्थि पंडरज्जा, परिण्ण-गुरुमूल-णातअभिओगा।
पुच्छा^{१०} तिपडिक्कमणे, पुव्वब्भासा चउत्थम्मि^{११} ॥ ३१९८ ॥
३३२४. अपडिक्कमसोधम्मि, अभिउग्गा देवसक्कओसरणे।
हत्थिणि वाउस्सग्गे^{१२}, गोतम-पुच्छा तु वागरणा^{१३} ॥ ३१९९ ॥
३३२५. महुरा मंगू आगम, बहुसुत वेरग्ग सड्ढुपूया य।
सातादि^{१४}-लोभ णितिए, मरणे 'जीहा य'^{१५} णिद्धमणे ॥ ३२०० ॥
३३२६. अब्भुवगतगतवेरा, णातुं गिहिणो वि मा हु अधिगरणं।
कुज्जाहि^{१६} कसाए वा, अविगडितफलं व सिं सोउं ॥ ३२०१ ॥
३३२७. पच्छित्तं बहुपाणा, कालो बलिओ चिरं च^{१७} ठातव्वं।
सज्झाय^{१८}-संजम-तवे, धणियं अप्पा णियोतव्वो ॥ ३२०२ ॥

१. °हणं (मु, दे)।

२. दश्रुनि १०७।

३. °वेज्जे (मु, क)।

४. °माण (भ)।

५. गिण्हावेइ (दश्रुनि)।

६. जलूगावणा (दे)।

७. धणभाउग कहण मोयणया (दश्रुनि १०८)।

८. कोव (दश्रुनि १०९)।

९. च दाणं (मु, भ)।

१०. पच्छा (दे)।

११. °त्थं पि (मु, भ), दश्रुनि ११०।

१२. वाउणिसग्गो (दे), वायणि° (दश्रुनि)।

१३. °रणं (दश्रुनि १११)।

१४. साता य (दे)।

१५. जीहाइ (मु), दश्रुनि ११२।

१६. कुज्जा हु (दश्रुनि ११३)।

१७. तु (दश्रुनि ११४)।

१८. अज्झाय (भ)।

३३२०-२२. मंत्री देरी से आता तो वह उसकी अवहेलना करती। अतः वह जल्दी आने लगा। एक दिन राजा ने सोचा—आजकल मंत्री जल्दी घर क्यों जाता है? पूछने पर अन्य लोगों ने बताया—यह अपनी पत्नी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। एक दिन वह विलम्ब से घर पहुंचा। भट्टा ने द्वार नहीं खोला, निष्ठुरतापूर्वक उसकी अवहेलना की। मंत्री के प्रतिकार से क्रुद्ध होकर भट्टा ने द्वार खोला और पीहर जाने लगी। मार्ग में चोर मिले। उन्होंने उसके अलंकार लेकर उसे अपने सेनापति को सौंप दिया। चोर सेनापति ने उससे भोगों की प्रार्थना की। उसने जलौक वैद्य के हाथों बेच दिया। वैद्य ने उससे जलौक पकड़वाने का कार्य करवाया। दूतकार्य से समागत भाई ने बहिन को पहचान लिया और उसे मुक्त कराकर अपने घर ले आया। अमात्य ने पुनः उसे गृहस्वामिनी बना दिया। भट्टा ने क्रोधपूर्वक मान करने का कटु विपाक जाना और संकल्प किया—अब मैं क्रोध और मान नहीं करूंगी। भट्टा के घर लक्षपाक तैल था। एक मुनि ने व्रण संरोहण हेतु तैल की याचना की। दासी से लक्षपाक तैल के तीन घट फूट जाने पर भी भट्टा को क्रोध नहीं आया। चौथी बार वह स्वयं उठकर आई और मुनि को लक्षपाक तैल का दान दिया।^१

३३२३, ३३२४. पांडुरा आर्या शिथिलाचारिणी थी। उसने गुरु के पास अनशन स्वीकार किया। वह विद्या, मंत्र, वशीकरण आदि में कुशल थी। वह मंत्र आदि का प्रयोग करती। गुरु ने उसे समझाया, उसने आलोचना, प्रतिक्रमण किया। इस प्रकार उसने तीन बार आलोचना की। चौथी बार फिर मंत्र शक्ति का प्रयोग किया। गुरु के पूछने पर कहने लगी—पूर्वाभ्यास के कारण लोग आते हैं। इस प्रकार दोष स्वीकार नहीं किया। आलोचना-प्रतिक्रमण के अभाव में मरकर वह सौधर्म देवलोक में ऐरावण हाथी की अग्रमहिषी बनी। जब वह हथिनी के रूप में भगवान महावीर के समवसरण में आई तो धर्मकथा के पश्चात् भगवान महावीर के सामने जोर-जोर से वातनिसर्ग—अपान वायु का निसर्ग करने लगी। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने उसका पूर्वभव बताकर माया न करने की प्रेरणा दी।^२

३३२५. आर्य मंगु एक बहुश्रुत, वैरागी एवं उद्यतविहारी आचार्य थे। वैरागी हैं—ऐसा सोच लोग उनका पूजा-सत्कार करते। आचार्य सुख साता में प्रतिबद्ध होकर नैतिक हो गए। श्रामण्य की विराधना कर वे यक्ष के रूप में उपपन्न हुए। वे यक्षप्रतिमा में प्रवेश कर लंबी जीभ निकालने लगते। साधुओं के पूछने पर उन्होंने कहा—मैं अधर्मी अपनी लोलुपता के कारण व्यंतर बना हूँ।^३

३३२६. अनालोचित कषाय के परिणाम को सुनकर, समझकर तथा जानकर गृहस्थ भी अपगतवैर हो जाते हैं—वैर का त्याग कर देते हैं। ऐसी स्थिति में भिक्षु कलह और कषाय न करे—यह पर्युषणा का संदेश है।

३३२७. वह प्रायश्चित्त, जो ऋतुबद्धकाल में प्राप्त हुआ, पर जिसका वहन नहीं किया गया उसे वर्षावास में वहन किया जाता है क्योंकि १. वर्षावास में वातावरण प्राणी बहुल होता है।^४ २. वर्षावास में काल बलवान होता है।^५ ३. वर्षावास में एक स्थान पर चिरकाल तक रहना होता है, विहार सम्बन्धी कठिनाइयां नहीं होती।^६ ४. अपनी आत्मा को स्वाध्याय, तप एवं संयम में विशेषतः नियुक्त करना चाहिए।^७

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५६।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५७।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५८।

४. भिक्षा आदि के लिए वर्षाकाल में जितना गमनागमन किया जाता है, उतनी ही अधिक उनकी विराधना संभव है।

५. शीतानुभाव के कारण तपस्या आदि की दृष्टि से काल उपयुक्त होता है।

६. वर्षावास में शीतलानुभाव के कारण इन्द्रियां बलवान होती हैं, अतः इन्द्रिय निरोध के लिए तप करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को पंचविध स्वाध्याय, सत्रहविध संयम तथा बारह प्रकार के तप में विशेष प्रकार से नियुक्त करना चाहिए।

७. निभा ३ चू. पृ. १५३—धणियं सुद्धु।

३३२८. पुरिम-चरिमाण^१ कप्पो, 'तु मंगलं'^२ वद्धमाणतित्थम्मि ।
तो परिकहिता जिणपरिकहाहि^३ थेरावल्लिचरित्तं^४ ॥३२०३॥
३३२९. सुत्ते जहा निबंघो, वग्घारितभत्तपाणमग्गहणं ।
णाणट्ठि^५ तवस्सी अणहियासि^६ वग्घारिते गहणं^७ ॥३२०४॥
३३३०. संजमखेत्तचुताणं, णाणट्ठि-तवस्सि-अणहियासाणं^८ ।
आसज्ज भिक्खकालं, उत्तरकरणेण जइयव्वं^९ ॥३२०५॥
३३३१. उण्णियवासाकप्पो, लाउयपायं च लब्भती^{१०} जत्थ ।
सज्झा-एसणसोधी, वरिसति काले य तं खेत्तं^{११} ॥३२०६॥
३३३२. पुव्वाधीतं णासति, णवं च छातो 'ण पच्चलो'^{१२} घेत्तुं ।
खमगस्स य पारणगे, वरिसति असहू य बालादी ॥३२०७॥
३३३३. बाले सुत्ते सूई, कुडसीसग-छत्तगे य पच्छिमए^{१३} ।
णाणट्ठि तवस्सी अणहियासि अह उत्तरविसेसो ॥३२०८॥
३३३४. असिवे ओमोदरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, दोसु वि सुत्तेसु अप्पबहुं ॥३२०९॥
३३३५. पज्जोसवणा^{१४} केसे, गावीलोमप्पमाणमेत्ते वी^{१५} ।
जे भिक्खूवातिणवति^{१६}, सो पावति आणमादीणि ॥३२१०॥ नि ६७२ ॥

१. चरमाण (दे) ।

२. मंगल्लं (दश्रुनि ११५) ।

३. जिणगणधरा य (दे, भ), जिणगणहराइ (दश्रुनि) ।

४. °वली° (दे) ।

५. णाणट्ठि (दे) ।

६. यऽण° (मु) ।

७. दश्रुनि ११६ ।

८. °यासी य (भ) ।

९. दश्रुनि ११७ ।

१०. लब्भए (दश्रुनि ११८) ।

११. दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

१२. अपच्चलो (दश्रुनि ११९) ।

१३. पंचमए (दश्रुनि १२०) ।

१४. सूत्र ४४ (नव १०/३८) ।

१५. वि (दे) ।

१६. छंद की दृष्टि से यहां 'णावति' के स्थान पर 'णवति' पाठ स्वीकृत किया है ।

३३२८. प्रथम—ऋषभ भगवान तथा चरम—भगवान महावीर के शिष्यों की यह मर्यादा है कि चाहे वर्षा हो या न हो, वर्षावास के चार महीनों में उन्हें पर्युषणा करनी चाहिए। मध्यम तीर्थकरों के साधुओं के लिए पर्युषणा कल्प अनिवार्य नहीं। भगवान महावीर के तीर्थ में मंगल की परम्परा है, इसलिए पर्युषणा काल में जिन भगवान, गणधरों तथा स्थविरावलि का चरित्र कहना चाहिए।

३३२९. सूत्र में ऐसा निबद्ध है कि वगधारित—प्रलम्बित^१ वर्षा में—जब वर्षा हो रही हो, उस समय भक्तपान का ग्रहण मुनि के लिए विधिसम्मत नहीं है। १. ज्ञानार्थी, २. तपस्वी तथा ३. असहिष्णु—वर्षा बरस रही हो, उस समय भी भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

३३३०. जो भिक्षु किसी कारण संयम क्षेत्र से च्युत हो गए हैं—अशिव आदि कारणों से संयम निर्वाह योग्य क्षेत्र से बाहर हैं, ज्ञानार्थी, तपस्वी या असहिष्णु हैं, उन्हें भिक्षाकाल में यथापेक्ष उत्तरकरण के द्वारा भिक्षा ग्रहण में यतना करनी चाहिए।

३३३१. वह क्षेत्र संयम क्षेत्र है, जहां—१. और्णिक वर्षाकल्प—पछेवड़ी, कम्बल आदि प्राप्त हों। २. जहां तुम्बे, पात्र आदि प्राप्त हों। ३. जहां चारों काल में स्वाध्यायी रहे। ४. जहां भक्त, पान आदि की शुद्ध एषणा हो सके। ५. जो कालवर्षी हो—जहां रात्रि में वर्षा हो, दिन में नहीं अथवा जहां भिक्षा वेला, संज्ञा भूमि गमन वेला आदि में वर्षा न हो।

३३३२. ज्ञानार्थी—जो क्षुधाभिभूत होने के कारण परिवर्तना आदि न करने से पूर्वाधीत श्रुत को नष्ट कर देता है अथवा नवीन ग्रहण करने में असमर्थ होता है। तपस्वी—जिसने तपस्या का पारणा किया है, अतः भूख सहने में समर्थ नहीं। असहिष्णु—बाल, वृद्ध आदि। ये वर्षा में भी उपवास नहीं कर पाते, अतः उत्तरकरण के साथ यतनापूर्वक भिक्षा करना कल्पता है।

३३३३. ज्ञानार्थी, तपस्वी और असहिष्णु भिक्षु बालमय—और्णिक वर्षाकल्प ओढ़कर भिक्षार्थ जाए। और्णिक न हो तो औष्ट्रिक या कौतव (मूषक रोम से निर्मित) वस्त्र और वह न हो तो सघन, स्थिर, सूती वस्त्र ओढ़कर भिक्षार्थ जाए। यदि सौत्रिक वस्त्र न हो तो कुटशीर्ष को सिर के ऊपर छत्र की भांति धारण करके भिक्षार्थ जाए। वह भी न हो तो पलाशपत्र से छत्र बनाकर या बिल्व पत्र से छत्र बनाकर भिक्षार्थ जाए—ये उत्तरकरण के प्रकार हैं।

३३३४. १. अशिव, २. अवमौदरिका (दुर्भिक्ष), ३. राजद्वेष, ४. भय (म्लेच्छ आदि का भय), ५. ग्लान्य, ६. अटवी (मार्ग) और ७. नगररोध—इन आपवादिक परिस्थितियों की संभावना होने पर पर्युषणा काल में भी पर्युषणा नहीं करते अथवा अपर्युषणा में (पर्युषणा से पूर्व) भी पर्युषणा करते हैं। पर्युषणा एवं अपर्युषणा—इन दोनों सूत्रों में उपर्युक्त अपवाद मार्ग का सेवन करने से पूर्व अल्पबहुत्व—दोषाल्पता एवं गुणबहुलता ज्ञातव्य है।

३३३५. जो भिक्षु पर्युषणा (संवत्सरी के दिन) में गाय के लोम प्रमाण मात्र भी केश रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. निभा ३ चू. पृ. १५४।

३३३६. ण वि सिंग-पुंछ-बाला, 'ण अत्थि पुंछे'^१ ण वत्थिया बाला ।
सुजवसणीरोगाए, सेसं गुरु हाणि-हाणीए ॥३२११॥
३३३७. णिसुढंते आउवधो, उल्लेसु य छप्पदाउ मुच्छंति ।
ता 'कंडूय विराहे'^२, कुज्जा व खयं तु आयाए ॥३२१२॥
३३३८. धुवलोओ उ जिणाणं, वरिसासु य होंति गच्छवासीणं ।
उडु तरुणे चउमासो, खुर-कत्तरि^३ छल्लहू गुरुगा ॥३२१३॥
३३३९. पक्खिय-मासिग-छम्मासिगे य थेराण तू भवे कप्पे ।
कत्तरि छुर-लोए वा, बितियं असहू गिलाणे य ॥३२१४॥
३३४०. इत्तरियं^४ पाहारं^५, पज्जोसवणाएँ जो तु आहारे ।
तयभूइ^६-बिंदुमादी^७, सो पावति आणमादीणि ॥३२१५॥ नि ६७३ ॥
३३४१. उत्तरकरणं एगगया य आलोयचेइवंदणया ।
मंगलधम्मकहा वि य, पव्वेसुं तवगुणा होंति ॥३२१६॥
३३४२. अट्टम-छट्ट-चउत्थं, संवच्छर-चाउमास^८-पक्खे य ।
पोसहियतवे भणिते, बितियं असहू गिलाणे य ॥३२१७॥
३३४३. पज्जोसवणाकप्पं^९, पज्जोसवणाएँ जो तु कड्डेज्जा ।
गिहि-अण्णतित्थि ओसण्ण संजतीणं च आणादी ॥३२१८॥ नि ६७४ ॥

१. अत्थिपुंछे (दे) ।

२. कंडूयं विराहति (भ, दे) ।

३. कित्ति (भ) ।

४. सूत्र ४५ (नव १०/३९), इत्ति^० (दे) इत्तरियं
णाम थोवं एगसिस्थमवि अद्धलंबणादि वा (चू) ।

५. पि आ^० (मु) ।

६. तये त्ति तिलतुसतिभागमेत्तं, भूतिरिति यत्

प्रमाणमंगुष्ठप्रदेशनीसंदंसेकेन भस्म गृह्यते (चू) ।

७. आदिग्गहणातो खातिमं पि थोवं जो आहारेति पज्जोसवणाए
सो आणादिया दोसा पावति चउगुरुं च पच्छित्तं (चू) ।

८. चाउम्मास (भ), ^०मासि (क) ।

९. सूत्र ४६ (नव १०/४०) ।

३३३६. पर्युषणा के समय सींग एवं पूंछ के बाल जितने लम्बे बाल नहीं होने चाहिए। पुच्छभाग (पक्षी के पंखशीर्ष) जितने तथा वस्ति प्रदेशवर्ती बाल जितने लम्बे बाल भी नहीं होने चाहिए। वृषण पर सूजन के रोग में इसका अपवाद है। शेष परिस्थितियों में हानि-अपवाद सेवन करने पर गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१

३३३७. वर्षावास में बड़े-बड़े बाल हों और वर्षा का पानी उन पर गिरे तो अफ्काय जीवों की हिंसा हो सकती है। गीले बालों में जूओं का सम्मूर्च्छन सम्भव है। भिक्षु मस्तक आदि में खुजली करते हुए जूओं की विराधना कर सकता है। ज्यादा खुजली करने पर घाव हो सकते हैं—फलतः आत्मविराधना भी हो जाती है।

३३३८. जिनकल्पिक मुनियों के ऋतुबद्धकाल एवं वर्षाकाल में ध्रुवलोच—निरन्तर केशलोच की मर्यादा है। गच्छवासी मुनियों के वर्षावास में निरन्तर केशलोच की मर्यादा है।^२ स्थविरकल्पिक तरुणमुनि ऋतुबद्धकाल में उत्कर्षतः चार महीने में तथा स्थविरमुनि उत्कर्षतः छह महीने में लोच अवश्य करवाए। क्षुर अथवा कैंची से लोच करने वाले मुनि को क्रमशः षड्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^३ कुछ आचार्यों के मतानुसार क्षुरमुंडन से मासलघु तथा कैंची से करवाने पर मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३३९. द्वितीय पद में यदि कोई मुनि असमर्थ हो—शिरोरोग, चक्षुमंदता आदि के कारण केशलोच को सहन न कर सके, ग्लान्य—बीमारी की अवस्था के कारण लोच न करवा सके या लोच करने से बीमार हो जाए—इत्यादि कारणों से कैंची से प्रति पक्ष (पन्द्रह दिनों से) और क्षुर से प्रतिमाह लोच करवाए।^४ स्थविरकल्पिक तरुण अपवाद में छह महीने से भी लोच कर सकता है।

३३४०. जो भिक्षु पर्युषणा—संवत्सरी के दिन स्वल्प मात्र भी आहार करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है। स्वल्पमात्र का अर्थ है—एक सिक्थमात्र या अर्धकवल मात्र। अथवा तिल के तुस का तीसरा हिस्सा, भूति—अंगुष्ठ एवं प्रदेशिनी अंगुली के संदशक (चिमटी) में समा सके इतनी राख जितना खाद्य या एक बूंद पानी जितना पेय पदार्थ।

३३४१. पर्व दिनों (पर्युषणा आदि) में तपस्या करने के ये गुण-लाभ हैं—१. उत्तरकरण—उत्तरगुणों की आराधना, २. एकाग्रता की साधना, ३. आलोचना—वार्षिक आलोचना में प्राप्त होने वाले तप की परिपूर्णता, ४. चैत्यवन्दना—अर्हत् (ज्ञान) की आराधना, ५. मंगल—वर्षाकाल का आदिमंगल तथा ६. धर्मकथा—धर्मकथा आदि के लिए समय मिल जाता है।

३३४२. उपर्युक्त लाभों को दृष्टिगत रखते हुए सांवत्सरिक, चातुर्मासिक एवं पाक्षिक पर्वतिथियों में क्रमशः तेला, बेला तथा उपवास सहित पौषध्व्रत का प्ररूपण किया गया है। द्वितीय पद में पर्वतिथियों में तप न करने के दो हेतु हैं—१. असमर्थता—जो उपवास आदि तपस्या करने में असमर्थ हैं। २. ग्लान्य—१. जो बीमार है अथवा २. रोगी का परिचारक यदि उपवास और परिचर्या दोनों का एक साथ निर्वाह न कर सके।

३३४३. जो भिक्षु पर्युषणाकाल में गृहस्थ, अन्यतीर्थिक, अवसन्न तथा साध्वियों को पर्युषित करता है—उनके समक्ष पर्युषणा कल्प का पठन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. प्रस्तुत गाथा का पाठ एवं अनुवाद दोनों विमर्षनीय हैं।
(अभि. राजे. ५ पृ. २४८) में उद्धृत पाठ—

ण वि सिंगपुंछवालो, ण अत्थि पुच्छेण वत्थिया वाला।
सुजवसणीरोगाए, सेस गुरु होति हाणीए ॥

२. स्थविरकल्पिक मुनि यदि ध्रुवलोच में असमर्थ हो तो पर्युषणा (संवत्सरी की रात्रि) का अतिक्रमण न करे—उससे पूर्व अवश्य ही लोच करवा ले।

३. क्षुरमुंडन आदि आपवादिक केशलोच में षट्पदिका की

विराधना, पश्चात्कर्म आदि दोष भी संभव हैं।

४. वह भी शक्य न हो तो अपवाद में तरुण मुनि छह महीने से तथा स्थविर मुनि बारह महीनों से अवश्य ही लोच करवाए—यह मर्यादा है। हाथ से लोच न करवा सकने की स्थिति में कैंची एवं क्षुरमुंडन की मर्यादा यह है कि पूर्वोक्त विधि से पक्ष, मास आदि के बाद जब भी लोच करवाए, लोच करने वाले को हाथ धोने के लिए मधुरोदक दे, ताकि वह पश्चात्कर्म दोष से बच सके।

३३४४. गिहि-अण्णतित्थि-ओसण्ण, दुगं^१ ते गुणेहणुववेता।
सम्मीसवास-संकादिणो य दोसा समणिवग्गे ॥३२१९॥
३३४५. दिवसतो ण चेव कप्पति, खेतं पडुच्च^२ सुणेज्ज मण्णेसिं^३।
असती य व इतरेसिं, दंडिगमाभत्थितो^४ कड्ढे ॥३२२०॥
३३४६. बितियं गिहि ओसण्णा, कड्ढिज्जे तम्मि रत्ति एज्जाहि।
असती य संजतीणं, जतणाए दिवसतो कड्ढे^५ ॥३२२१॥
३३४७. पढमम्मि^६ समोसरणे, वत्थं पायं च जो^७ पडिग्गाहे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥३२२२॥ नि ६७५ ॥
३३४८. पढमोसरणे उवधी, ण कप्पती पुव्वगहित अतिरित्ते।
'अप्पत्ताण उ'^८ गहणं, उवधिस्सा सातिरेगस्स ॥३२२३॥
३३४९. दोण्हं^९ जइ एक्कस्सा, णिप्फज्जति वासजोग्गमेत्तुवधी।
वासाजोग्गं दुगुणं, अगेण्हतो गुरुग-आणादी^{१०} ॥३२२४॥ नि ६७६ ॥
३३५०. दव्वोवक्खर-णेहादियाण^{११} तह खार^{१२}-कडुय-भंडाणं।
वासावास^{१३} कुडुंबी, अतिरेगं संचयं कुणति ॥३२२५॥
३३५१. वणिया ण संचरंती^{१४}, हट्टा ण वहंति कम्मपरिहाणी।
गेलण्णादेसेसु व, किं काहिति अगहिते पुव्वं^{१५} ॥३२२६॥

१. गिहत्था गिहत्थीणीओ एयं दुगं। अहवा अण्णतित्थिगा अण्णतित्थिणीतो। अहवा ओसण्णा ओसण्णीओ, गाथा के उत्तरार्ध में छंदभंग है।
२. °च्चा (भ), व पडु° (पा)।
३. मंतेसि (भ)।
४. °माहत्थि° (क), °मादत्थि° (दे)।
५. कप्पे (भ)।
६. सूत्र ४७ (नव १०/४१), बितियं समोसरणं उडुबद्धं, तं पडुच्च वासावासोग्गहो पढमसमोसरणं भण्णति (चू)।
७. जे (भ)।

८. °त्ताणं (भ)।
९. दोण्ह (दे)।
१०. तु. बृभा ४२४९।
११. द्रव्यमिति हिरण्यं, उवक्खरो सूर्पादिकः, स्नेहो घृतं तैलं वा आदिसद्दातो वासा (चू)।
१२. खारो वत्थुल्लादिगो लोणं वा (चू)।
१३. वासारत्त (बृभा ४२५०)।
१४. °रती (क)।
१५. पुव्विं (बृभा ४२५१)।

३३४४. ये तीन संयम गुणों से रहित होते हैं—१. गृहस्थ और गृहस्थस्त्री, २. अन्यतीर्थिक और अन्यतीर्थिक स्त्री तथा ३. अवसन्न भिक्षु और अवसन्न भिक्षुणी। इनके तथा संयम गुणों से युक्त (संविग्न) साध्वियों के समक्ष पर्युषणाकल्प का पठन (प्ररूपण) करने से सम्मिश्रवास—संवास के दोषों की संभावना रहती है तथा स्त्रियों के साथ संवास से शंका आदि दोषों की संभावना रहती है।

३३४५. दिन के समय पर्युषणा कल्प का पठन विधि सम्मत नहीं है। क्षेत्र की अपेक्षा से आनंदपुर आदि में जहां मूल चैत्यगृह में सर्वजन समक्ष पर्युषणाकल्प का पठन आवश्यक हो, वहां साधु उसका पठन न करे। पार्श्वस्थ के द्वारा साधु पर्युषणाकल्प सुने। यदि पार्श्वस्थ पाठक न हो तो दंडिक पुरुष द्वारा या श्रावकों द्वारा अभ्यर्थित होने पर भिक्षु उसका पठन करे।

३३४६. द्वितीय पद में रात्रि में जब पर्युषणाकल्प का पठन किया जाए, उस समय कोई गृहस्थ, अवसन्न अथवा शय्यातरस्त्री वहां आ जाए तो पठन को न रोका जाए। यदि सांभोजिक साध्वियों में कोई पर्युषणाकल्प पठन योग्य साध्वी न हो तो प्रधान कुलों के निकटवर्ती किसी प्रतिद्वार आदि में साधु-साध्वियों के मध्य यवनिका (चिलिमिली) डालकर यतना पूर्वक दिन में ही पर्युषणाकल्प का पठन किया जा सकता है।

३३४७. जो भिक्षु प्रथम समवसरण (वर्षावास) में वस्त्र और पात्र का ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

३३४८. प्रथम समवसरण में उपधि का ग्रहण करना नहीं कल्पता। पूर्वगृहीत अतिरिक्त उपधि का उपयोग किया जा सकता है। अप्राप्त क्षेत्र और काल^१ में अतिरिक्त उपधि ग्रहण की जा सकती है।

३३४९. वर्षावास में प्रत्येक साधु अढ़ाई गुना पटावतार (कल्प आदि उपकरण, सामग्री) ग्रहण करता है। यदि किसी कारणवश कोई मार्ग प्रपन्न भिक्षु आ जाए, जिसके वस्त्र आदि चोरों द्वारा हरण कर लिये गए हों तो दो साधु मिलकर उसे एक पूरा पट दे देते हैं तथा देने के बाद भी उनके स्वयं के पास अपने लिए वस्त्र बच जाते हैं। इसी प्रकार दो अन्य साधु मिलकर एक अन्य भिक्षु को दे सके। इस प्रकार वर्षायोग्य दुगुना वस्त्र आदि उपधि न ग्रहण करने वाले भिक्षु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है तथा वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३३५०. कुटुम्बी जन (सामान्य गृहस्थ) भी वर्षावास में द्रव्य (हिरण्य), उपस्कर (सूर्प आदि), स्नेह (घी, तैल आदि), क्षार (लवण आदि), कटुक द्रव्य (सौंठ आदि) तथा भांड (पात्र आदि) का अतिरिक्त संचय करते हैं।

३३५१. वर्षाकाल में कक्षपुडिक (बगल में विक्रेय द्रव्य की पोटली दबाकर फेरी लगाने वाले) व्यापारी संचरण नहीं करते, पट्टणों में हाट नहीं लगती, अतः आवश्यक द्रव्यों का संचय करना जरूरी है। वर्षाकाल से पूर्व द्रव्य, उपस्कर आदि का अतिरिक्त ग्रहण न करने से प्रयोजन उपस्थित होने पर उन्हें खरीदने के लिए ज्यादा समय एवं पुरुषार्थ करना पड़ता है, फलतः तत्कालीन कृषिकर्म आदि की हानि होती है। रोगी आदि के लिए आवश्यक द्रव्य न मिलने पर कालक्षेप और अतिथि के आतिथ्य में विघ्न पैदा होता है।

१. सातिरेक उपधि के ग्रहण के विषय में क्षेत्र और काल में प्राप्त और अप्राप्त के संयोग से चार विकल्प बन जाते हैं— १. क्षेत्रतः प्राप्त, कालतः अप्राप्त—जहां ऋतुबद्धकाल का अन्तिम मासकल्प किया, वहीं चातुर्मास करना हो। २. कालतः प्राप्त, क्षेत्रतः अप्राप्त—मार्गप्रपन्न भिक्षु जो आषाढ-पूर्णिमा तक वर्षावास योग्य क्षेत्र में न पहुंचे हों। ३. क्षेत्रतः प्राप्त, कालतः प्राप्त—जो आषाढ पूर्णिमा तक वर्षावास योग्य क्षेत्र में पहुंच गए हों। ४. क्षेत्रतः अप्राप्त, कालतः अप्राप्त—मार्ग प्रपन्न मुनि जब तक आषाढ पूर्णिमा न आए, तब तक उभय अप्राप्त हैं।

३३५२. तह अण्णत्तिथिगादी^१, जो जारिसो तस्स संचयं कुणति ।
इह पुण छण्ह विराधण, पढमम्मि य जे भणित दोसा ॥ ३२२७ ॥
३३५३. रयहरणेणोल्लेणं, पमज्जणे^२ फरुसगेह^३ पुढविवधो ।
'गामंतरे पगलणे'^४, पुढवी उदगं च दुविधं तु ॥ ३२२८ ॥
३३५४. अहवा अंबीभूते, उदगं पणगो पतावणे अगणी ।
उल्लंडगबंध^५ तसा, ठाणादी^६ केण व पमज्जे ॥ ३२२९ ॥
३३५५. एमेव सेसगम्मि वि, संजमदोसा तु^७ भिक्खणिज्जोए ।
'चोल-णिसेज्जा'^८ उल्ले, अजीरगेलण्णमायाए ॥ ३२३० ॥
३३५६. अद्धाणणिग्गतादी, परिता वा अहव णट्टुगहणम्मि ।
जं च समोसरणम्मी^९, अगिण्हणे जं च परिभोगे ॥ ३२३१ ॥
३३५७. अद्धाणणिग्गतादीणमदेंते होति उवधिणिप्फण्णं ।
जं ते तणेसणग्गिं^{१०}, सेवे देंत ऽप्पणा जं च ॥ ३२३२ ॥
३३५८. अत्तट्टु परट्टा वा, ओसरणे 'गेण्हणे य'^{११} पण्णरस ।
दाउ परिभोग छप्पति, डउरे^{१२} उल्ले य गेलण्णं ॥ ३२३३ ॥
३३५९. तम्हा उ गिण्हितव्वं, बितियपदम्मिं जहा^{१३} ण गेण्हेज्जा ।
अद्धाणे गेलण्णे, अहवावि हवेज्ज असतीए^{१४} ॥ ३२३४ ॥

१. °गा वि य (बृभा ४२५२) ।

२. °ज्जणा (दे) ।

३. फरुस इति कुंभकारसालाए (चू), °ससाल (बृभा ४२५३) ।

४. गामंतरित गलणे (बृभा ४२५३) ।

५. उल्लुंडण° (भ), उल्लंतिग° (क) ।

६. ठाणाइसु (बृभा ४२५४) ।

७. य (दे, पा) ।

८. चोलिणि° (भ), चोलनिसि° (बृभा ४२५५) ।

९. °म्मि (बृभा ४२५६) ।

१०. अणे° (बृभा ४२५७) ।

११. गेण्हमाणे (बृभा ४२५८) ।

१२. छप्पदादिसु यन्नादिपडियखद्धासु दगोदरं भवति—
जलोदरमित्यर्थः (चू) ।

१३. जह (भ) ।

१४. बृभा ४२५९ ।

३३५२. अन्यतीर्थिक भी अपने-अपने वेश के अनुसार क्षार, मृत्तिका, अर्जुन छाल आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। जिनशासन में दीक्षित मुनि यदि वर्षावास के पूर्व आवश्यक उपधि का संग्रहण न करें तो छह जीवनिकाय की विराधना संभव है तथा प्रथम समवसरण (वर्षावास) में उपधि ग्रहण के जो दोष पहले बताए जा चुके हैं, उनकी भी संभावना रहती है।

३३५३, ३३५४. भिक्षु के पास एक ही रजोहरण हो और वह वर्षा से गीला हो जाए तो षट्काय विराधना संभव है जैसे—गीला रजोहरण लेकर कुंभकार शाला आदि में प्रविष्ट होने पर अथवा मार्ग में लेकर चलते हुए उससे टपकने वाले जलबिन्दुओं से भी मार्गवर्ती सचित मिट्टी की विराधना संभव है। इसी प्रकार मलिन रजोहरण से दोनों प्रकार के वर्षाजल तथा भौम जल के जीवों की भी विराधना संभव है। यदि गीले रजोहरण को सूखने के लिए अलग रखा जाए तो वह आत्मावग्रह से दूर हो जाता है। यदि उसे सुखाया न जाए तो वह अम्ल हो जाता है^१ फलतः अप्कायिक जीवों की विराधना होती है। गीले रजोहरण में काई आने की संभावना रहती है, सुखाने के लिए अग्नि में तापित किया जाए तो अग्नि एवं वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है। यदि गीले रजोहरण से प्रमार्जन किया जाता है तो रजोहरण के किनारों पर मिट्टी के गोले बन जाते हैं, उससे प्रमार्जन करने पर त्रस प्राणियों की घात होती है। विराधना आदि के भय से प्रमार्जन न करे तो संयमविराधना होती है। यदि अतिरिक्त रजोहरण न हो तो बैठने, आदाननिक्षेप आदि के समय किससे प्रमार्जन करेगा ?

३३५५. इसी प्रकार शेष उपकरणों के विषय में ज्ञातव्य है। यदि भिक्षानिर्योग—पात्र परिकर (पटल आदि) दुगुने न हों तो वर्षाकाल में उसी प्रकार संयमदोषों की संभावना है जिस प्रकार रजोहरण के विषय में (गाथा ३३५३, ३३५४में) प्रज्ञप्त है। चोलपट्ट, निषद्या आदि उपकरण दुगुने न हों तो भिक्षा आदि में मुनि उन्हें गीला ही धारण करेगा फलतः अजीर्ण आदि दोषों से ग्लान्य एवं आत्मविराधना आदि का प्रसंग आएगा।

३३५६. यदि वर्षावास से पूर्व मुनि स्वयं के लिए अपेक्षित उपकरणों से अढ़ाई गुना अधिक उपकरण न रखें और उनके पास कोई अटवीनिर्गत, अशिव आदि कारणों से मार्गनिर्गत या हतोपकरण, नष्टोपकरण मुनि आ जाएं तो वे उन्हें उपकरण नहीं दे पाएंगे और आगन्तुक मुनियों को वर्षावास में उपधि ग्रहण करना पड़ेगा, जिससे पूर्वोक्त दोष आएंगे। यदि वर्षावास में उपधिग्रहण को सदोष जानकर वे तृण आदि का परिभोग करेंगे, उपधिग्रहण नहीं करेंगे तो तृण आदि से सम्बद्ध शुषिर, अशुषिर आदि विषयक दोष आएंगे।

३३५७. वर्षावास में वास्तव्य मुनि अतिरिक्त उपकरण नहीं रखते हैं और अटवी-निर्गत मुनियों को अपेक्षा होने पर नहीं देते हैं तो उन्हें उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त^२ प्राप्त होता है और यदि देते हैं तो स्वयं की हानि होती है। वस्त्र आदि उपकरणों के अभाव में वे मार्गनिर्गत मुनि तृण या अन्य अनेषणीय वस्तुओं का सेवन करते हैं, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी अतिरिक्त उपधि न रखने वाले वास्तव्य मुनियों को प्राप्त होता है।

३३५८. वर्षावास में जो भिक्षु स्वयं या दूसरे के लिए वस्त्र आदि उपकरण ग्रहण करता है, उसके आधाकर्म आदि पन्द्रह उद्गम दोष लगते हैं। परिभोग—मार्गनिर्गत मुनियों को अपने उपकरण देकर यदि स्वयं नित्य एक ही वस्त्र को धारण करे तो उनमें जूएँ उत्पन्न हो सकती हैं। आहार आदि में षट्पदिका गिर जाए तो जलोदर हो जाता है। नित्य गीले वस्त्र धारण करने से अजीर्ण आदि रोगों की संभावना रहती है।

३३५९. इसलिए वर्षावास से पूर्व भिक्षु को स्वयं के लिए अपेक्षित वस्त्र आदि से द्विगुणित वस्त्र आदि उपधि को ग्रहण करना चाहिए। १. मार्ग, २. ग्लान्य और ३. अभाव आदि अपवाद पद में अतिरिक्त उपधि ग्रहण न करे, तब भी दोष नहीं।

१. बृभा. गा. ४२५४ वृ. पृ. २१५४—अथ न शोष्यते ततो अम्लीभवति। एवमम्लीभूते तस्मिन्नुदकं विराध्यते।

२. जघन्य उपधि के लिए पनक, मध्यम के लिए मासलघु और उत्कृष्ट के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३६०. कालेणेवतिएणं, 'पाविस्सामंतरे उ'^१ वाघाते ।
गेलण्णातपरे वा, दुविधा पुण होति असती तु ॥ ३२३५ ॥
३३६१. गहिते व अगहिते वा, अप्पत्ताणं तु होति अतिगमणं ।
उवधी-संधारग-पादपुंछणादीण गहणट्ठा^२ ॥ ३२३६ ॥
३३६२. कालेण अपत्ताणं, पत्ताऽपत्ताण खेत्ततो गहणं ।
वासाजोग्गोवधिणो, खेत्तम्मि उ डगलमादीणि^३ ॥ ३२३७ ॥
३३६३. डगलग-सरक्ख-कुडमुह-मत्तग-तिग-लेव-पायलेहणिया ।
'संधार-फलग-पीढग'^४, णिज्जोगो चव दुगुणो तु ॥ ३२३८ ॥
३३६४. चत्तारि समोसरणे, मासा किं कप्पती ण कप्पति वा ।
कारणिग पंचरत्ता, सव्वेसिं मल्लगादीणं^५ ॥ ३२३९ ॥
३३६५. तेसिं तत्थ ठिताणं, पडिलेहोच्छुद्धं^६ चारणादीसु ।
लेवादीण अगहणे, लहुगा पुव्वं अगहिते वा^७ ॥ ३२४० ॥
३३६६. वासाण एस कप्पो, ठायंता चव जाव तु सकोसं ।
परिभुत्त विप्पइण्णं, वाघातट्ठा णिरिक्खंति^८ ॥ ३२४१ ॥
३३६७. अद्धाणणिग्गतट्ठा, ज्ञामित सेहे व तेण पडिणीए ।
आगंतु बाहि पुव्वं, दिट्ठं अस्सण्णि-सण्णीहिं^९ ॥ ३२४२ ॥ नि ६७७ ॥
३३६८. तालायरे य धारे, वाणिय खंधार^{१०} सेण^{११} संवट्टे^{१२} ।
लाउलिग^{१३}-वइग-सेवग, जामाउग पंथिगादीसु ॥ ३२४३ ॥

१. ०रेण (बृभा ४२६०) ।

२. बृभा ४२६१ ।

३. बृभा ४२६२ ।

४. ०र-पीढ-फलगा (बृभा ४२६३) ।

५. बृभा ४२६४ ।

६. ०होसुद्ध (भ) ।

७. बृभा ४२६५ ।

८. बृभा ४२६६ ।

९. तु. बृभा ४२६७ ।

१०. रायबिंबसहियं सचक्कं परचक्कं वा खंधावारो (चू) ।

११. रायबिंबरहिया सेणा (चू) ।

१२. चोरधाडिभएण बहू गामा एगट्ठिता णागयाहिट्ठिता य संवट्टो
भण्णति (चू) ।

१३. लाउलिगा डुंगरपेच्छणयं (चू) ।

३३६०. मार्ग—ग्रीष्म काल में निर्गत मुनि सोचते हैं—आषाढ़ पूर्णिमा से पूर्व हम वर्षावास प्रायोग्य क्षेत्र में पहुंच जाएंगे, किन्तु नदी आदि व्याघातों के कारण समय पर नहीं पहुंच पाते, फलतः अतिरिक्त उपधि ग्रहण का काल नहीं बचता। ग्लान्य—वस्त्र आदि उत्पादन करने वाले मुनि स्वयं ग्लान हों, ग्लान वैयावृत्य में व्यापृत हों तो अतिरिक्त उपधिग्रहण का अवकाश नहीं रहता। ३. अभाव—उपयुक्त वस्त्र आदि उपलब्ध न हों या अनेषणीय उपलब्ध हों—इस दोनों प्रकार की भाव-अभाव की स्थिति में अतिरिक्त उपधि उत्पादन का अवकाश नहीं रहता। केवल एक मुनि कल्पिक हो तो इतनी अतिरिक्त उपधि ग्रहण नहीं कर पाता।

३३६१. उपधि, संस्तारक, पादप्रोज्छन आदि वस्तुओं का ग्रहण करने के लिए भिक्षु को आषाढ़ी पूर्णिमा से पूर्व ही वर्षावास प्रायोग्य क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए, चाहे अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण कर चुके हों या न किए हों।

३३६२. कालतः अप्राप्त और क्षेत्रतः प्राप्त तथा उभयतः अप्राप्त—इन दो भागों में पटलक, पात्रबंध आदि वर्षायोग्य उपधि का ग्रहण किया जाता है। उभयतः प्राप्त तथा क्षेत्रतः अप्राप्त—इन दो भागों में डगलग (ढेले) सरजस्क (राख) आदि का ग्रहण किया जाता है।

३३६३. वर्षावास से पूर्व भिक्षु डगलग, सरजस्क (राख) कुटमुख (घड़े का गलबा), क्ष्वेड, कायिकी, संज्ञा आदि के तीन पात्र, लेप (पात्र सुरक्षार्थ वार्निश), पादलेखनिका (कीचड़ उतारने का काष्ठ खण्ड), संस्तारक, फलक, पीठ और पात्रनिर्योग (पटलक आदि) उपधि द्विगुणित मात्रा में ग्रहण करे।

३३६४. ढेले आदि आवश्यक उपधि का ग्रहण करके भिक्षु आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा के चार मास तक एक स्थान पर समवसृत रहे। प्रश्न—पर्युषणाकाल में डगलग आदि का ग्रहण करना कल्पता है अथवा नहीं। समाधान—सामान्यतः मुनि को वर्षाकाल से पूर्व इनका ग्रहण करना चाहिए। कारणिक—आपवादिक रूप में यदि आषाढ़ पूर्णिमा तक वर्षावास के क्षेत्र में न पहुंच पाएं तो अग्रिम पांच रात पर्यन्त मल्लक आदि सब वस्तुओं का ग्रहण कर ले। क्षेत्र में पहुंचने पर अग्रिम पांच रात के क्रम से भाद्रवशुक्ल पंचमी तक अवश्य ही पर्युषित हो जाना चाहिए।

३३६५. वहां—वर्षावास में स्थित मुनियों की यह सामाचारी है—उस क्षेत्र में सभा, प्रपा, शून्यगृह आदि में किसी पथिक आदि का कोई वस्त्र गिर गया हो तो उसकी प्रतिलेखना कर ले ताकि किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न होने पर उसे ग्रहण किया जा सके। ऐसा वस्त्र न हो तो आपवादिक स्थितियों चारण आदि से भी वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है। लेप, वस्त्र, पात्र आदि यदि वर्षावास में ग्रहण करे अथवा वर्षावास से पूर्व ग्रहण न करे तो उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३६६. वस्त्रों के विषय में यह मर्यादा है कि वर्षावास में रहते हुए उस क्षेत्र के सकोश योजन (एक योजन, एक कोश) प्रमित क्षेत्र में यदि कार्पटिकों के द्वारा परिभुक्त कोई वस्त्र विप्रकीर्ण (गिरा हुआ) हो तो वे व्याघात की अपेक्षा से उसका निरीक्षण कर लेते हैं ताकि अपेक्षा होने पर उसे ग्रहण किया जा सके।

३३६७, ३३६८. कोई भिक्षु मार्गनिर्गत हो, किसी भिक्षु की उपधि जल गई हो, कोई शैक्ष उपस्थापना/प्रव्रज्या के लिए उपस्थित हो अथवा कोई स्तेन, प्रत्यनीक आदि उपधि का हरण कर ले तो बाह्य ग्रामों से आगन्तुकों, बाह्यग्रामों में चारण आदि से तथा असंज्ञी (श्रावकेतर व्यक्तियों) और संज्ञी (श्रावकों से) पूर्वदृष्ट वस्त्र आदि उपकरणों की मार्गणा की जा सकती है। आगन्तुकों में—तालाचर, देव-छत्रधारक, व्यापारी, स्कंधावार, सेना,^१ संवर्त, लाउलिंग, (डंगर जाति के लोग) गोकुल, सेवक—शूरपुरुष, जामातृक और पथिकों से भी वस्त्र की मार्गणा की जा सकती है।

१. राजा सहित सेना स्कन्धावार है और राजा रहित सेना।

३३६९. आगंतुगेषु पुव्वं, गवेसती चारणादिसू^१ बाहिं ।
पच्छा जे सग्गामे, तालायरमादिणो होंति^२ ॥ ३२४४ ॥
३३७०. लद्धूण णवे इतरे, समणाणं देज्ज से व जामादी ।
चारण-धार-वणीणं, पडंति 'सव्वे वि सद्धितरा'^३ ॥ ३२४५ ॥
३३७१. बहि अंत ऽसन्निसन्निसु, जं दिट्ठं तेषु चेष जमदिट्ठं ।
केइ दुहओ वऽसन्निसु, गहिते^४ सण्णीसु दिट्ठितरे^५ ॥ ३२४६ ॥
३३७२. कोई तत्थ भणेज्जा, बाहिं खेत्तस्स कप्पती गहणं ।
गंतुं ता पडिसिद्धं, कारणगमणे बहुगुणं तु^६ ॥ ३२४७ ॥
३३७३. एवं णामं कप्पति, जं दूरे तेण बाहि गेण्हंतु ।
'एव भणंते'^७ गुरुगा, गमणे गुरुगा व लहुगा वा ॥ ३२४८ ॥
३३७४. संबद्धभावितेसुं^८, कप्पति जा पंचजोयणे कज्जे ।
जुण्णं व वासकप्पं, गेण्हति जं बहुगुणं चऽण्णं ॥ ३२४९ ॥
३३७५. आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजाते य ।
ठवणा पाहुडियाए, पाओतर कीत पामिच्चे^९ ॥ ३२५० ॥
३३७६. परियट्ठिए अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे ति^{१०} य ।
अच्छेज्जे अणिसट्ठे^{११}, 'धोते रत्ते य घट्टे य'^{१२} ॥ ३२५१ ॥

१. °दीसू (भ) ।

२. बृभा ४२६९ ।

३. इयरे उ सद्धितगा (बृभा ४२७०) ।

४. गिहिसु (मु), गहीय (भ) ।

५. बृभा ४२७१ ।

६. बृभा ४२७२ ।

७. एवं भणति (बृभा ४२७३) ।

८. °तेसू (दे), °विएसू (बृभा ४२७४) ।

९. बृभा ४२७५, पिनि ५८ ।

१०. इ (बृभा ४२७६) ।

११. अणिसिट्ठे (बृभा) ।

१२. अज्झोयरए य सोलसमे (पिनि ५९) ।

३३६९. भिक्षु पहले अपने प्रतिवृषभ ग्रामों—अंतर पल्लियों तथा एक योजन एक कोस की दूरी में स्थित ग्रामों में बाहर से आगन्तुक चारणों आदि के पास वस्त्र आदि की गवेषणा करे। यदि उनके पास उपयोगी उपधि उपलब्ध न हो तो स्वग्राम में आगन्तुक तालाचर आदि के पास उपधि की गवेषणा करे।

३३७०. जामातृक आदि लोग राजा आदि से नए वस्त्र प्राप्त करके पुराने वस्त्र साधुओं को दे सकते हैं। चारण, देवछत्र धारक तथा कपड़े के व्यापारियों^१ के लौटते समय वस्त्र गिर जाते हैं या वे स्वेच्छापूर्वक साधुओं को दे देते हैं। ये जामातृक, चारण आदि श्रावक भी हो सकते हैं, और श्रावकेतर भी। इस प्रकार इनसे साधुओं को वस्त्र मिल सकते हैं।

३३७१. बहिर्गाम और स्वग्राम में चारण आदि के पास वस्त्र न मिलने पर इस विधि से वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है। बाहर के आभ्यन्तरवर्ती प्रतिवृषभ ग्रामों में असंज्ञी व्यक्तियों से पूर्वदृष्ट और उसके अभाव में संज्ञी व्यक्तियों से पूर्वदृष्ट वस्त्र की याचना करे। यदि इनके पास पूर्वदृष्ट^२ वस्त्र न मिले तो इसी क्रम से इन दोनों के पास पूर्व अदृष्ट वस्त्र की याचना करे। यदि उनके पास वस्त्र न मिले तो आभ्यन्तरवर्ती मूलवृषभग्राम में भी इसी के क्रम से असंज्ञी एवं संज्ञी से पूर्वदृष्ट एवं पूर्व अदृष्ट वस्त्र की गवेषणा करे। कुछ आचार्यों के अनुसार यह क्रम कुछ भिन्न है, यथा—१, २. बहिर्गाम में असंज्ञी से दृष्ट और अदृष्ट, ३, ४. मूलवृषभग्राम में असंज्ञी से दृष्ट, अदृष्ट पुनः इसी क्रम से, ५-८. संज्ञी से पूर्वदृष्ट एवं अदृष्ट।

३३७२. इस विषय में कोई (प्रेरक) कहे—आपके पूर्वोक्त व्याख्यान के अनुसार दूरतर क्षेत्र से गवेषित वस्त्र का ग्रहण कल्पनीय है तो मूल वृषभग्राम से बाहर जाकर वस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए। आचार्य—वर्षावास में क्षेत्र से बाहर जाना ही प्रतिषिद्ध है, वस्त्र आदि ग्रहण की तो बात ही क्या? हां, कारण—अपवाद में बाहर जाना हो तो संयम में बहुगुणकारक वस्त्र को लिया जा सकता है।

३३७३, ३३७४. आचार्य—यदि दूर जाकर वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है तो क्षेत्र से बाहर जाकर वस्त्र ग्रहण करें—इस गलत प्ररूपणा के कारण तुम्हें चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होगा। नवप्रावृट् में वस्त्र हेतु क्षेत्र से बाहर जाने पर चतुर्गुरु तथा शेष वर्षाकाल में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होगा। जो क्षेत्र साधर्मिक संबंधों से परस्पर गमनागमन से भावित हों, उनमें आचार्य अथवा गच्छ के विशिष्ट प्रयोजन से पांच योजन पर्यन्त जाना विधि सम्मत है। इन क्षेत्रों में कदाचित् वर्षाकाल में भिक्षु जाए और किसी प्राचीन मंदिर आदि में कोई श्रावक पुराने वर्षाकल्प अथवा नवीन वस्त्र के लिए मुनि को निमंत्रित करे तो वर्षाकाल में यह बहुत उपयोगी हो सकेगा—ऐसा जानता हुआ भिक्षु उसे ग्रहण कर सकता है, इसी आधार पर पटलक, पात्र केसरिका आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है।

३३७५, ३३७६. (वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने से) आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात,^३ स्थापना, प्राभृतिका,^४ प्रादुष्करण,^५ क्रीत, प्रामित्य,^६ परिवर्त, अभिहत, उद्भिन्न, मालापहत,^७ आच्छेद्य, अनिसृष्ट, धौत, रक्त और घृष्ट^८—ये सारे दोष संभव हैं।^९

१. दे.श.को.—वालंजक—कपड़े का व्यापारी।

२. पूर्वदृष्ट वस्त्र लेने में आधाकर्म, उत्क्षेप—निक्षेपण आदि दोषों की संभावना नहीं रहती अतः पूर्वदृष्ट का ग्रहण पहले अनुज्ञात है, उसके अभाव में अदृष्ट का।

३. पूतिकर्म एवं मिश्रजात दोष के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—दसवे., ५/१/५५ का टिप्पण।

४. पि.नि. वृ. प. ३५—प्राभृतिका—साधु को उपहार स्वरूप विशिष्टवस्तु देना। (विस्तार हेतु द्रष्टव्य—भि. आ.को.—१, पृ. १५९)

५. पि.नि. २९८—प्रादुष्करण—देय वस्तु को प्रकाशित स्थान में रखना अथवा अंधकार युक्त स्थान को प्रकाशित करने के लिए दीपक आदि जलाना।

६. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—दसवे. ४/१/५५ का टिप्पण।

७. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—दसवे. ५/१/६९।

८. बृभा. ४२७६ वृ. पृ. ११५९—मसृणपाषाणादिनोत्तेजितम्। (चिकने पत्थर से घिस कर चमकीला किया हुआ।)

९. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—भि.आ.को.—१—एषणा समिति।

३३७७. एते सब्बे दोसा, पढमोसरणेण वज्जिता होंति।
‘जिणदिट्ठे अगहिते’^१, जो गेण्हति तेहि सो पुट्ठो ॥ ३२५२ ॥
३३७८. पढमम्मि समोसरणे, जावतियं पत्त-चीवरं गहितं।
सब्बं वोसरितव्वं, पायच्छित्तं च वोढव्वं^२ ॥ ३२५३ ॥
३३७९. अद्धाणणिग्गता वा, झामित सेहे य^३ तेण पडिणीए।
आगंतु बाहि पुव्वं, दिट्ठं अस्सण्णि-सण्णीसु^४ ॥ ३२५४ ॥
३३८०. तालायरे य धारे, वाणिय खंधार सेण संवट्टे।
लाउलिय वइग सेवग, जामाउग-पंथिगादीसु^५ ॥ ३२५५ ॥
३३८१. सज्झायट्ठा दप्पेण, वावि जाणंतगे वि पच्छित्तं।
कारणगहितं तु विदू, धरंतऽगीतेसु उज्झंति^६ ॥ ३२५६ ॥
३३८२. अह अत्थिपदवियारो, चतुपाडिवयम्मि होति णिग्गमणं।
अहवावि अणेंतस्सा^७, आरोवण पुव्वणिदिट्ठा ॥ ३२५७ ॥
३३८३. पुण्णम्मि णिग्गताणं, साहम्मिय खेत्तवज्जिते गहणं।
संविग्गाण सकोसं, इतरे गहितम्मि गेण्हंति^८ ॥ ३२५८ ॥
३३८४. वासासु वि गेण्हंती, णेव य णियमेण इतरें विहरंती।
तेहिं^९ सुद्धमसुद्धे, गहिते जं सेसगं कप्पे ॥ ३२५९ ॥
३३८५. सक्खेत्ते परखेत्ते, दो मासे^{१०} परिहरित्तु गेण्हंति।
जं कारणं ण णिग्गत , तं पि बहिं झोसितं जाणे ॥ ३२६० ॥

१. °ट्टेहिं अगहिते (बृभा ४२७७) ।

२. बृभा ४२७८ ।

३. व (भ) ।

४. पुनरुक्त होने के कारण दे प्रति में ३३७९, ३३८०—इन दोनों गाथाओं का केवल संकेत मात्र है, द्र. ३३६७, ३३६८ ।

५. पंथिमा° (भ, मु) ।

६. बृभा ४२७९ ।

७. अणित्ताणं (बृभा ४२८७) ।

८. बृभा ४२८८ ।

९. तहिइं (बृभा ४२८९), तेहि तु (भ) ।

१०. मासा (बृभा ४२९०) ।

३३७७. प्रथम वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने पर ये वर्जित नहीं होते। प्रथम समवसरण से पूर्व यदि भिक्षु दर्प के कारण वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करता तो वह जिन भगवान के द्वारा देखे गए कर्मबन्धन के निमित्तभूत दोषों से स्पृष्ट हो जाता है। अथवा कारण में वर्षावास से पूर्व उपकरण ग्रहण न कर पाए और प्रथम समवसरण में ग्रहण करे, उसमें जो गुण देखे गए हैं, वह भिक्षु उन गुणों को स्पर्श नहीं कर पाता।

३३७८. भिक्षु ने यदि प्रथम समवसरण में दर्प से अथवा निष्कारण वस्त्र या पात्र ग्रहण किया हो तो उस सम्पूर्ण वस्त्र, पात्र का विसर्जन कर देना चाहिए तथा दोषविशुद्धि हेतु प्रायश्चित्त का वहन करना चाहिए।

३३७९, ३३८०. कोई भिक्षु मार्गनिर्गत हो, किसी भिक्षु की उपधि जल गई हो, कोई शैक्ष उपस्थापना—प्रव्रज्या के लिए उपस्थित हो अथवा कोई स्तेन, प्रत्यनीक आदि उपधि का हरण कर ले तो बाह्यग्रामों से आगन्तुकों से, बाह्यग्रामों में चारण आदि से तथा असंज्ञी व्यक्तियों और संज्ञी श्रावकों से क्रमशः पूर्वदृष्ट वस्त्र आदि उपकरणों की मार्गणा की जा सकती है। आगन्तुकों में—तालाचर, देवच्छत्र धारक, कपड़े के व्यापारी, स्कंधावार, सेना, संवर्त, लाउलिंग (डंगर जाति के लोग), गोकुल, सेवक (शूरपुरुष), जामातृक (राजजामाता आदि) और यात्रियों—से वस्त्र की मार्गणा की जा सकती है।^१

३३८१. यदि ज्ञायक—गीतार्थ मुनि भी अद्धानिर्गत आदि कारणों से निरपेक्ष होकर (निष्कारण), अथवा तालाचर, देवच्छत्रधारक आदि के दृष्ट-अदृष्ट विषयक पूर्वोक्त क्रम का उल्लंघन करता हुआ वस्त्र ग्रहण करता है अथवा स्वाध्याय के लिए दर्पवश प्रथम समवसरण में उपधि ग्रहण करता है तो उसे भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो सामान्य मुनि की तो बात ही क्या? पूर्वप्रज्ञप्त कारणों में विधिपूर्वक गीतार्थ मुनि प्रथम समवसरण में वस्त्र आदि उपधि ग्रहण करे और यदि सहवर्ती भी सारे गीतार्थ हों तो वह उपधि वर्षावास के बाद भी धारण की जा सकती है। यदि सहवर्ती सारे मुनि गीतार्थ न हों, अपरिणामक या अतिपरिणामक हों तो वर्षावास सम्पन्न होने पर अन्य वस्त्र उपलब्ध हो जाएं तो कारण में पूर्वगृहीत वस्त्रों का परिष्ठापन कर दें।

३३८२. मुनि को वर्षावास के चार महीने एक क्षेत्र में निवास करने के बाद निर्विघ्न अवस्था में मृगशिर कृष्णा एकम को निर्गमन करना चाहिए—यह चतुष्प्रतिपदा है। यदि पदविहार हो—कीचड़, वर्षा आदि के कारण पदविहार में बाधा न हो तो मुनि चतुष्प्रतिपदा में अनिवार्यतः निर्गमन करे। यदि वह निर्गमन नहीं करता है तो उसे पूर्वनिर्दिष्ट—नैतिक सूत्र एवं संभोगसूत्र में प्रज्ञप्त आरोपणा प्राप्त होती है। अथवा आपवादिक परिस्थिति में चतुष्प्रतिपदा के प्राप्त न होने पर तथा अतिक्रान्त होने पर भी निर्गमन निर्दोष है।

३३८३. वर्षावास के पूर्ण हो जाने पर विहार करते हुए मुनि साधर्मिकों के क्षेत्रों का वर्जन करते हुए उपकरणों का ग्रहण करें। जिन क्षेत्रों में सांभोजिक संविग्न मुनियों ने वर्षावास किया है, उस एक कोश, एक योजन (सकोशयोजन) क्षेत्र का वर्जन करें—वहां उपधि का ग्रहण—ग्राहण न करें। जहां पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि ने पर्युषणा की, उस क्षेत्र में वे वस्त्र आदि का ग्रहण करें, उसके बाद वस्त्र आदि को ग्रहण करें।

३३८४. पार्श्वस्थ भिक्षु वर्षावास में भी वस्त्र ग्रहण कर लेते हैं तथा वे वर्षावास पूर्ण करके भी नियमतः/ अनिवार्यतः विहार नहीं करते, अतः उनके द्वारा शुद्ध या अशुद्ध उपकरण ग्रहण कर लिए जाने पर यदि श्रावकों के पास मुनि के प्रायोग्य वस्त्र बचे हों और वे देना चाहें तो मुनि उन्हें ग्रहण कर सकते हैं, कालक्षेप करना अपेक्षित नहीं।

३३८५. अन्य क्षेत्रों—चाहे वे स्वक्षेत्र हों या परक्षेत्र, मुनि दो मास का परिहार करके तृतीय मास में ही उपधि ग्रहण करे। यदि किसी आपवादिक कारण से चातुर्मासिक प्रतिपदा के बाद विहार न कर पाए तो उपकरण के लिए जितने काल तक रहें, उस काल को भी क्षेत्र से बाहर बिताया हुआ ही मानें।

१. विशेष हेतु द्रष्टव्य निभा गा. ३३६७, ३३६८ का अनुवाद व पादटिप्पण।

३३८६. चिक्खल्ल वास असिवादिगेसु जहि कारणेसु^१ गेण्हंति^२ ।
 देंते पडिसेधेत्ता, गेण्हंति तु दोसु पुण्णेसु ॥ ३२६१ ॥
३३८७. भावो तु 'णिग्गते सिं'^३, वोच्छिज्जति देंति वावि अण्णस्स ।
 अत्तट्ठं ति व ताइं, एमेव य कारणमणितं^४ ॥ ३२६२ ॥
३३८८. बालऽसहु-वुड्ढ-अतरंत-खमग-सेहाउलम्मि गच्छम्मि ।
 सीतं अविस्सहमाणे, गेण्हंति इमाएँ जतणाएँ ॥ ३२६३ ॥
३३८९. पंचूणे दोमासे, दसदिवसूणे 'दिवड्ढमासं वा'^५ ।
 दसपंचऽधिगं मासं, पणवीसदिणे^६ व वीसं वा ॥ ३२६४ ॥
३३९०. पण्णरस दस व पंच व, दिणाणि परिहरिय गेण्ह एक्कं वा ।
 अहवा एक्केक्कदिणं, अउणट्ठि 'दिणाणि आरब्भ'^७ ॥ ३२६५ ॥
३३९१. 'बितिए वि'^८ समोसरणे, मासा उक्कोसगा दुवे होंति ।
 ओमंथगपरिहाणीयं^९ पंच पंचेग य जहण्णे ॥ ३२६६ ॥
३३९२. अपरिहरंतस्सेते, दोसा ते चेव कारणे गहणं ।
 बाल-वुड्ढाउल्ले गच्छे^{१०}, असती दस पंच एक्को वा^{११} ॥ ३२६७ ॥
३३९३. करणाणुपालगाणं, भगवतो आणं पडिच्छमाणाणं ।
 जो अंतरा उ गेण्हति, तट्ठाणारोवणमदत्तं^{१२} ॥ ३२६८ ॥
३३९४. उवरिं पंच अपुण्णे, गहणमदत्तं गत त्ति गेण्हंति ।
 'अणपुच्छा दुप्पुच्छा'^{१३}, तं पुण्णे गत त्ति गेण्हंति ॥ ३२६९ ॥

१. °णसू (भ) ।

२. उ ण णितं (बृभा ४२९१) ।

३. °तेहिं (बृभा ४२९२) ।

४. बृभा (४२९३) में इस गाथा के बाद एक अतिरिक्त गाथा
 और मिलती है—

गच्छे सबालवुड्ढे, असती परिहर दिवड्ढमासं तु ।

पणतीसा पणुवीसा, पण्णरस दसेव एक्कं च ॥

५. बृभा ४२९४ ।

६. °मासे या (दे) ।

७. पणु° (भ, बृभा ४२९५) ।

८. °णाण आरंभ (दे), बृभा ४२९६ ।

९. बिइयम्मि (बृभा ४२९७) ।

१०. ओमत्थ° (बृभा) ।

११. गाथा के तृतीय चरण में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है ।

१२. य (मु), बृभा ४२९८ ।

१३. बृभा ४२९९ ।

१४. °दुपु° (भ), °पुच्छ (मु), अणपुच्छ दुपुच्छा
 वा (बृभा ४३००) ।

३३८६. यदि मार्ग कीचड़ परिपूर्ण हों, वर्षा नहीं रुक रही हो, बाहर अशिव, दुर्भिक्ष आदि परिस्थितियां हों जिनके कारण चातुर्मास के बाद विहार न हो पाए तो जब तक दो मास पूर्ण न हों, तब तक कोई श्रावक उन्हें वस्त्र के लिए उपनिमंत्रित करे तो मुनि उसे प्रतिषेध कर दे। दो मास पूर्ण होने पर वे वहां भी उपधि ग्रहण कर सकते हैं।

३३८७. जो मुनि वर्षावास में यहां रहे हैं, हम उन्हें यह वस्त्र देंगे—वर्षावास पूर्ण होने पर मुनि चले जाएं तो उनका वह भाव व्यवच्छिन्न हो जाता है अथवा साधु के लिए जिन वस्त्रों का संकल्प किया था, वे अन्य साधुओं या पार्श्वस्थ आदि को दे दिए जाते हैं अथवा स्वयं के परिभोग में आ जाते हैं। इसी प्रकार कारण में वर्षावास पूर्ण होने के बाद विहार न करें, वहीं रहें, लेकिन वस्त्र ग्रहण न करें तो भाव-व्यवच्छेद हो जाता है। अतः दो मास बाद वर्षावास वाले क्षेत्र में भी वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है।

३३८८. गच्छ में अनेक बाल, अशक्त, वृद्ध, ग्लान^१, क्षपक और शैक्ष होते हैं, कदाचित् वर्षावास पूर्ण होते ही असह्य शीत पड़ने लगे और वे उसे सहन न कर सकें तो इस यतना से वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं।

३३८९, ३३९०. जहां पर वर्षावास किया, उत्सर्गतः वहां माघ कृष्णा प्रतिपदा के दिन या उसके बाद वस्त्र ग्रहण किया जाए। आगाढ़ या अनागाढ़ कारण की अपेक्षा से अवमस्तक परिहानि से पांच-पांच दिन कम करते हुए वस्त्र ग्रहण करें—पांच दिन कम दो मास से वस्त्र ग्रहण करें। उससे काम न चले तो दस दिन कम दो मास, डेढ़ मास, एक मास दस दिन, एक मास पांच दिन, एक मास, पच्चीस दिन, बीस दिन, पन्द्रह दिन, दस दिन और पांच दिन का परिहार कर ग्रहण करें। अथवा एक दिन का परिहार कर वस्त्र ग्रहण करे। अथवा एक-एक दिन का परिहार करते हुए उनसठ, अड़सठ यावत् एक दिन बाद वस्त्र ग्रहण करे।—यह विधि उस क्षेत्र के लिए है, जहां मुनियों ने वर्षावास किया है।

३३९१. जहां ऋतुबद्ध काल में मासकल्प किया हो, वहां भी उपधिग्रहण की दृष्टि से उत्कर्षतः दो मास परिहरणीय होते हैं। यदि कारण में दो मास से पूर्व वस्त्र ग्रहण करना पड़े तो पूर्वोक्त अवमस्तक परिहानि से पांच-पांच दिनों या जघन्यतः एक दिन का परिहार कर वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है।

३३९२. ऋतुबद्ध काल में मासकल्प किया हो, उस क्षेत्र में भी दो मास का परिहार किए बिना उपधि ग्रहण करने पर वे ही दोष आते हैं, जो वर्षावास क्षेत्र के विषय में प्रज्ञप्त हैं। उसमें भी कारण में यतनापूर्वक उपधि ग्रहण की जा सकती है। बाल-वृद्ध आदि से व्याप्त गच्छ में भयंकर शीत आदि कारणों से जघन्यतः दस दिन, पांच दिन या एक दिन का परिहार करके भी वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है।

३३९३. करण का अर्थ है—क्रिया। (पिंडविशोधि, समिति आदि करण) पूर्व ऋषियों द्वारा पालित क्रिया की अनुपालना करने वाले तथा भगवान की आज्ञा को स्वीकार करने वाले मुनियों के मध्य रहता हुआ जो मुनि वर्षावास या मासकल्प में वस्त्र ग्रहण करता है, उसे उस स्थान की आरोपणा प्राप्त होती है। भगवान के द्वारा अननुज्ञात का ग्रहण करने के कारण उसे अदत्तादान का दोष लगता है।

३३९४. परक्षेत्र में यदि दो मास से पांच दिन अधिक अर्थात् पैंसठ दिन से पूर्व उपधि ग्रहण की जाती है तो ग्रहणकर्त्ता को अदत्त का दोष लगता है तथा उसे उस स्थान का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह निःसन्दिग्ध रूप से यह जानता हो कि क्षेत्रस्वामी दूर विदेश आदि में जा चुके हैं तो वे बिना पूछताछ किए—कि मुनियों ने वस्त्रग्रहण किया या नहीं अथवा अविधि पृच्छा पूर्वक भी वहां वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार दो मास पांच दिन पूर्ण होने पर भी जहां क्षेत्रस्वामी जा चुके हैं, वहां उपधि ग्रहण की जा सकती है।

१. निभा. ३ चू. पृ. १६७—अतरंतो—गिलाणो।

३३९५. गोवालवच्छवाला, कासग-आदेस बाल-वुड्ढा य।
अविधी विधी उ सावग, महतरधुवकम्मि लिंगत्था^१ ॥३२७० ॥
३३९६. उप्पणकारणे^२ गंतु, पुच्छिउं^३ तेहि दिण्ण गेण्हंति।
तेसाऽऽगतेसु सुद्धेसु^४, जत्तियं सेस अग्गहणं ॥३२७१ ॥
३३९७. पडिजग्गंति गिलाणं, ओसधहेतूहि अहव कज्जेहिं।
एतेहि होंति सुद्धा^५, अह संखडिमादि तह चेव^६ ॥३२७२ ॥
३३९८. तेणभय-सावयभया, 'वास णदीए य वावि रुद्धाणं'^७।
दातव्वमदेताणं, चतुगुरु तिविधं व णवमं वा ॥३२७३ ॥
३३९९. परदेसगते णातुं, सगं व सेज्जातरे व पुच्छित्तु।
गेण्हंति असढभावा, पुण्णेसुं^८ दोसु मासेसु ॥३२७४ ॥
३४००. बितियपदमणाभोगे, सुद्धा देता अदेत 'गुरुगा उ'^९।
आउट्टिया गिलाणादि जत्तियं सेस अग्गहणं ॥३२७५ ॥

दसमो उद्देशो समत्तो

३४०१. वुत्तं वत्थग्गहणं, दसमे 'एगारसे उ'^{१०} पायस्स।
कालस्स व पडिसेहो, वुत्तो इणमो उ भावस्स ॥३२७६ ॥
३४०२. अयमादी^{११} पाया खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते।
तब्बंधणबद्धा वा, ताणि^{१२} धरेतम्मि आणादी ॥३२७७ ॥ नि ६७८ ॥
३४०३. तिण्हट्टारसवीसा, सतमड्ढाइज्ज पंच य सयाणि।
सहसं^{१३} च दससहस्सा, पण्णास तहा सयसहस्सं ॥३२७८ ॥
३४०४. मासो लहुगो गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥३२७९ ॥

१. बृभा ४३०१।

२. ँरणा (भ, बृभा ४३०३)।

३. पुच्छिज्जं (भ)।

४. सुद्धे (दे)।

५. सिद्धा (दे)।

६. बृभा ४३०४।

७. वासेण णदीय वा निरुद्धाणं (बृभा ४३०५)।

८. पुण्णेसु तु (दे, बृभा ४३०६)।

९. ते च्चेव (बृभा ४३०७)।

१०. ँरसमे (भ)।

११. सूत्र १-६ (नव ११/१-६)।

१२. ताण (भ)।

१३. सहस्सं (भ)।

३३९५. गोपालक, वत्सपालक, कृषक आदि जो प्रातःकाल घर से निकलते हैं और शाम को घर पहुंचते हैं, अथवा अतिथि, बाल या वृद्ध व्यक्तियों को पूछना कि श्रमणों ने वस्त्र ग्रहण किए थे या नहीं—अविधिपृच्छा है। श्रावक, महत्तर (मुखिया), ध्रुवकर्मी^१ तथा लिंगस्थ—वेशधारी—इनको पूछकर जानकारी करना कि क्षेत्रीय मुनियों ने वस्त्र ग्रहण किया या नहीं—विधिपृच्छा है।

३३९६. गच्छ में अनेक बाल, वृद्ध एवं असहू मुनि होते हैं। अत्यधिक शीत आदि कारणों के उत्पन्न होने पर यदि स्वक्षेत्र में प्रायोग्य वस्त्र न मिलें तो वस्त्र ग्रहण के लिए अन्य क्षेत्र में जाकर क्षेत्रस्वामी से पूछे तथा (उसकी अनुज्ञा प्राप्त कर) जैसा, जितना वस्त्र वह दे, वह उतना वस्त्र ग्रहण करे, अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण न करे। विधिपृच्छापूर्वक शुद्धभाव से शुद्ध वस्त्र ग्रहण किया, उसी समय यदि पूर्वक्षेत्रीय शुद्ध मुनि आ जाएं तो गृहीत वस्त्र उन्हें समर्पित कर दे और शेष का ग्रहण न करे।

३३९७. १. किसी ग्लान मुनि की सेवा में संलग्न हों, २. ग्लान की औषध आदि के लिए इधर-उधर गए हुए हों, या ३. कुल, गण आदि के विशेष कार्य में लगे हुए हों—इत्यादि कारणों से यदि क्षेत्रीय मुनि दो मास पूर्ण होने के बाद भी न आ पाएं, तब भी शुद्ध है। यदि पूर्वक्षेत्रीय मुनि जीमनवार आदि के लिए कहीं रुक गए हों, ब्रजिका आदि में जाते हुए आए हों तो जो क्षेत्रीय मुनि ग्रहण करे, वह उपधि उन की गृहीत ही मानी जाएगी। उसे पूर्वक्षेत्रीय मुनि को देना और शेष उपधि न लेना—ये विधान लागू नहीं होंगे।

३३९८. यदि पूर्वक्षेत्रीय मुनि स्तेनभय, श्वापदभय, वर्षा, नदी का आगमन तथा नगररोध—इन कारणों से न आ पाएं तो उन्हें उपधि क्षेत्रीय मुनियों को देनी चाहिए। यदि क्षेत्रीय मुनि उन्हें उपधि नहीं देते तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अथवा उपधि निष्पन्न तीन प्रकार का प्रायश्चित्त—उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य उपधि के अनुसार उत्कृष्ट आदि अथवा नवम—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३९९. किसी से पूछे बिना अथवा शय्यातर से पूछकर मुनि यह जान ले कि पूर्वक्षेत्रीय मुनि परदेश चले गए हैं तो दो मास की अवधि पूर्ण होने के पांच दिन बाद अशठभाव से शुद्ध उपधि का ग्रहण कर सकते हैं।

३४००. अपवाद पद में यदि भिक्षु को यह ज्ञात न हो कि यहां कोई अन्य भिक्षु रहे थे और अनाभोगपूर्वक परक्षेत्र में वस्त्र ग्रहण करले तो ज्ञात होने के बाद उन क्षेत्रीय भिक्षुओं को गृहीत वस्त्र दे दे। अनाभोग में गृहीत वस्त्र उन्हें देने पर वे शुद्ध हैं। यदि बाद में भी वस्त्र क्षेत्रीय भिक्षुओं को न दे तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ग्लान आदि में व्यापृत हो, उसको जितना आवश्यक हो, उतना ग्रहण करे, शेष ग्रहण न करे।

दसवां उद्देशक समाप्त

३४०१. दसवें उद्देशक में वस्त्रग्रहण का प्रज्ञापन किया गया, ग्यारहवें उद्देशक में पात्रग्रहण का प्रज्ञापन किया जा रहा है। अथवा दसवें उद्देशक में काल का प्रतिषेध प्रज्ञप्त था। ग्यारहवें में भावनिषेध का प्रज्ञापन किया जा रहा है।

३४०२. सूत्र में लोहे, तांबे आदि से निर्मित जिन-जिन पात्रों का कथन किया गया है, उन पात्रों या उन-उन बंधनों से बांधे हुए पात्रों का जो भिक्षु निर्माण करता (उपयोगी बनाता) है अथवा जो उन्हें धारण करता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४०३, ३४०४. तीन कार्षापण मूल्य वाले पात्रों को धारण करने वाले भिक्षु को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार अठारह कार्षापण, बीस कार्षापण, सौ कार्षापण, ढाई सौ कार्षापण, पचास हजार कार्षापण और लाख कार्षापण पर्यन्त मूल्य वाले पात्र को धारण करने वाले भिक्षु को क्रमशः मासगुरु, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. लोहार, रथकार, कुंभकार एवं तंतुकार (जुलाहा)—ये ध्रुवकर्मी कहलाते हैं।

३४०५. भारोभयपरितावण, मारण-अधिकरण-अहियकसिणम्मि ।
पडिलेहाणालोवो, मणसंतावो तुवादाणं ॥३२८० ॥
३४०६. बितियपदं गेलण्णे, 'असतीएँ अभाविते'^१ य^२ गच्छम्मि ।
असिवादी परलिंगे, परिक्खणट्टा विवेगो वा^३ ॥३२८१ ॥
३४०७. अगदोसधसंजोगो, तं चिय रजतादि अहव वेज्जट्टा ।
मल्लगमभावितम्मी, पतिदिणदुलभे व रयतादी ॥३२८२ ॥
३४०८. गच्छे व करोडादी, पतावणट्टा गिलाणमादीणं ।
असिवे सपक्खपंते, रायहुट्टे व^४ परलिंगे ॥३२८३ ॥
३४०९. भुंजति ण व त्ति सेहो, परिक्खणट्टा व गेण्ह कंसादी ।
विसरिसवेसनिमित्तं, होज्ज व पंडादिपव्वइतो ॥३२८४ ॥
३४१०. परमद्धजोयणातो^५, संथरमाणेसु णवसु खेत्तेसु ।
जे भिक्खू पायं खलु, गवेसती आणमादीणि ॥३२८५ ॥ नि ६७९ ॥
३४११. भिक्खुवसहीसु जह चेव, णवसु तह चेव पायवत्थादी ।
जोयणमद्धे चतुगुरु, अद्धुट्टेहिं भवे चरिमं ॥३२८६ ॥
३४१२. अंतरपल्ली लहुगा, परतो खलु अद्धजोयणा^६ गुरुगा ।
ततियाएँ गवेसेज्जा, इतराहिं अट्टहिं सपदं ॥३२८७ ॥
३४१३. बितियपदं गेलण्णे, वसही भिक्खमंतरे^७ ।
सज्झायगुरूजोगे, सुणणा वत्तणा गणे^८ ॥३२८८ ॥

१. 'तीए मभा' (दे) ।

२. व (भ) ।

३. दे प्रति में यह गाथा ३४०८ के बाद है ।

४. य (दे) ।

५. सूत्र ७ (नव ११/७) ।

६. 'यणे (दे, मु) ।

७. भिक्खु (दे) ।

८. गाथा के दूसरे और चौथे चरण में अनुष्टुप् छंद है ।

३४०५. लोहे, तांबे आदि के भारी एवं बहुमूल्य पात्रों को धारण करने से मुख्यतः ये दोष प्राप्त होते हैं—१. भार २. भय ३. परिताप ४. मारण ५. कलह ६. प्रतिलेखना ७. आज्ञालोप ८. मनःसंताप और ९. उपादान।^१

३४०६. अपवाद में जिन कारणों से लोहे, रजत आदि के पात्र लिए जा सकते हैं वे हैं—१. ग्लान्य २. अभाव ३. अभावित शैक्ष ४. गच्छ ५. अशिव आदि ६. परलिंग ७. परीक्षार्थ और ८. विवेक।

३४०७. किसी रोग विशेष में ग्लान साधु के लिए अगद, औषध का संयोग करना (मिलाना) हो अथवा वैद्य के लिए किसी प्रयोजन से रजत आदि का पात्र अपेक्षित हो तो अपवाद में उन्हें रखा जा सकता है। कोई राजा, अमात्य आदि दीक्षित हों और वे स्वर्ण पात्रों में खाने के अभ्यस्त हों, अन्य पात्रों में खाने से वमन आदि रोगों की संभावना हो तो उन अभावित मुनियों के लिए विशेष पात्र लिए जा सकते हैं। तुम्बे आदि पात्रों के अभाव में मल्लग (शराव) आदि का ग्रहण किया जा सकता है। गच्छ में अभावित शैक्ष के लिए मूल्यवान् पात्र प्रतिदिन मिलने दुर्लभ हों तो कुछ समय के लिए रजत आदि के पात्र रखे जा सकते हैं।

३४०८. गच्छ के उपग्रह (उपकार) हेतु, ग्लान आदि के लिए औषध आदि को तपाने हेतु धातु के पात्र रखे जा सकते हैं। अशिव आदि परिस्थितियों में तथा स्वपक्ष प्रान्त^२ या राजद्वेष में परलिंग (अन्यतीर्थिक संन्यासी आदि का वेश) करना हो तो धातु के पात्र रखना अपवाद है।

३४०९. शैक्ष की परीक्षा के लिए कि यह धातु के पात्र में आहार करता है या नहीं—कांस्य आदि के पात्र ग्रहण करना कल्पता है। इसी प्रकार किसी आपवादिक कारण में नपुंसक आदि अप्रव्राजनीय की दीक्षा हो जाए तो उसका विसदृश वेश रखने के लिए भी धातु के पात्र ग्रहण किए जा सकते हैं।

३४१०. जो भिक्षु निर्वाह (संस्तरण) की अवस्था में नौ क्षेत्रों^३ से अर्धयोजन के आगे से (बाहर) पात्र की गवेषणा करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४११. नौ क्षेत्रों में तथा उपाश्रय में भिक्षु जिस प्रकार भक्तपान की गवेषणा करता है, वैसे ही वस्त्र, पात्र आदि की भी गवेषणा करता है। उनसे बाहर आधे योजन की मर्यादा तक पात्र आदि की गवेषणा करने पर चतुर्गुरु तथा साढे तीन योजन तक पात्र गवेषणा करने पर चरम प्रायश्चित्त—पारांचित प्राप्त होता है।

३४१२. संस्तरण की स्थिति में भी यदि अंतरपल्ली में पात्र की गवेषणा करे तो भिक्षु को चतुर्लघु तथा अन्तरपल्ली से बाहर आधे योजन की सीमा में पात्र गवेषणा करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^४ प्रवास क्षेत्र में पात्र की गवेषणा करने वाला भिक्षु तृतीय प्रहर में पात्र गवेषणा करे। अन्य काल में पात्र गवेषणा करने वाले को चतुर्लघु तथा बार-बार गवेषणा करने पर आठवीं बार में पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४१३. द्वितीय पद में इन कारणों से अन्य क्षेत्रों से पात्र लेकर आना हो या पात्र मंगवाया जाए तो दोष नहीं—१. ग्लान्य २. वसति ३. भिक्षा ४. अन्तर ५. स्वाध्याय ६. गुरु ७. योग ८. श्रवण ९. वर्तना (परिवर्तना) और १०. गण।

१. परिताप—मूल्यवान् पात्र देखकर चोर आदि परितापना देते हैं। मारण—पात्र को हरण करने के लिए चोर साधु को मार देते हैं। अधिकरण—चोरों द्वारा पात्र हरण करने पर चोरों के साथ मुनि के अधिकरण का प्रसंग आता है अथवा अनुपयोगी उपकरण स्वयं ही अधिकरण है। प्रतिलेखना—बहुमूल्य पात्रों की प्रतिलेखना करने से स्तेन बाधा और गणनातिरिक्त पात्रों की प्रतिलेखना से सूत्रार्थ हानि का दोष आता है। दोषभय से प्रतिलेखना न करें तो संयमविराधना व उपधि निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२. साधुओं के लिए रुक्ष व्यवहार करने वाले आरक्षिक पुरुष आदि के कारण।

३. ऋतुबद्धकाल के आठ महीनों के आठ मासकल्पिक क्षेत्र तथा एक वर्षावास का क्षेत्र—ये कुल नौ क्षेत्र होते हैं।

४. चूर्णिकार के अनुसार इसी क्रम से बढ़ते-बढ़ते अन्तरपल्ली से बाहर साढे तीन योजन तक पात्र गवेषणा करने पर पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४१४. 'दुहओ गेलणम्मि'^१, वसही भिक्खं च दुल्लभं उभए^२ ।
अंतरविगिट्टसज्जाओ^३ णत्थि गुरुणं च पाउगं ॥३२८९॥
३४१५. अणुओगो^३ पट्टविओ, अहिणवगहितं च ते उ वत्तेत्ति ।
अप्पा वा ते खेत्ता, गच्छस्स व णत्थि पाओग्गं^४ ॥३२९०॥
३४१६. एतेहिं कारणेहिं, गच्छं आसज्ज^५ तिण्णि चतुरो वा ।
गच्छंति निब्भयं भाणभूमिं^६ वसभादिगेषु सुहं ॥३२९१॥
३४१७. आलंबणे विसुद्धे, 'दुगुणो तिगुणो चउग्गुणो'^७ वावि ।
खेत्ते कालादीओ, समणुण्णातो 'व' कप्पम्मि^८ ॥३२९२॥
३४१८. परमद्धजोयणातो^९, सपच्चवायम्मि अभिहडाणीतं ।
जे भिक्खू पायं खलु, पडिच्छते आणमादीणि ॥३२९३॥ नि ६८० ॥
३४१९. सावयतेणा दुविधा, सव्वालजला महानदी पुण्णा ।
वणहत्थि दुट्टसप्पा, पडिणीया चेव तु अवाया ॥३२९४॥
३४२०. तेणादिसु^{१०} जं पावे, ते^{११} वा पावेत्ति अंतरा काया ।
बद्धहितमारिते वा, उड्डाहपदोसवोच्छेदो ॥३२९५॥
३४२१. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे भए व गेलण्णे ।
सेहे चरित्त-सावय, भए य जतणा इमा तत्थ ॥३२९६॥

१. दुहतो गेलन्नं अप्पणो परस्स अहवा अणागाढं गाढं ति (चू) ।
२. उभए गिलाणस्स गच्छस्स य (चू) ।
३. अणि° (दे) ।
४. यह गाथा भ प्रति में नहीं मिलती है ।
५. आसेज्ज (दे) ।
६. भाणि° (भ) ।

७. दुगुणं तिगुणं चउग्गुणं (भ) ।
८. य (दे) ।
९. पक° (पंकभा २००९) ।
१०. सूत्र ८ (नव ११/८), °णाई (दे) ।
११. आदिसद्दातो सिंहवग्घादियाण वा समीवातो (चू) ।
१२. तं (दे, मु) ।

३४१४, ३४१५. ग्लान्य दो प्रकार का होता है—आगाढ़ और अनागाढ़ या स्वकीय और परकीय। किसी प्रकार के रोग के कारण अथवा ग्लान की वैयावृत्य में व्यापृत होने के कारण यदि उस क्षेत्र में, जहाँ पात्र बनते हैं, मुनि न जा सके तो दूर से, अन्तरपल्ली आदि से या तृतीय पौरुषी से भिन्न काल में भी पात्र मंगवाए या ग्रहण किए जा सकते हैं। **वसति और भिक्षा**—भाजन देश (जहाँ पात्र हों, बनते हों उस क्षेत्र) में वसति अथवा भिक्षा या दोनों दुर्लभ हों। **अन्तर**—भाजन देश अत्यधिक दूर हो अथवा वहाँ से अन्य ग्राम दूर हों। बाल, वृद्ध आदि से समाकुल गच्छ वहाँ सुविधापूर्वक न जा सके। **स्वाध्याय**—भाजनदेश में स्वाध्याय शुद्धि न हो—अस्वाध्यायी हो। **गुरु**—भाजन देश में गुरु के प्रायोग्य वसति या भक्तपान न मिले। **योग**—अनेक मुनि आगाढ़ योग का वहन करने वाले हों, अतः अन्य क्षेत्र में जाकर पात्र लाने में समर्थ न हों। **श्रवण**—गण में कोई अनुयोग प्रवर्तमान हो, जिसमें सभी मुनि अर्थ-श्रवण करते हों। **वर्तमान**—अभिनवगृहीत सूत्रार्थ की परिवर्तना के कारण भाजन-भूमि में जाने का अवकाश न हो। **गण**—भाजन भूमि में मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र अल्प हों और वह गच्छ के लिए आधारभूत न हों या वहाँ बाल, वृद्ध आदि से समाकुल गच्छ के लिए वस्त्र आदि प्रायोग्य न मिलते हों।

३४१६. इन उपर्युक्त कारणों से गच्छ की अपेक्षा के अनुसार तीन या चार मुनि निर्भय होकर भाजन भूमि में जाते हैं। जाने वाले मुनि वृषभ, गीतार्थ होते हैं तथा अल्प संख्या वाले होने के कारण उन्हें भक्त, पान, वसति आदि भी आसानी से मिल जाते हैं।

३४१७. प्रकल्प-गच्छवास में प्रकल्प (निशीथ अध्ययन) में विशुद्ध आलम्बन होने पर दुगुना, तिगुना और चौगुना पात्र पटावतार (पात्र-सामग्री) रखना अनुज्ञात है। इसी प्रकार क्षेत्रातिक्रान्त (अर्धयोजन से परे) और कालातिक्रान्त (वर्षावास में या दो मास पूर्ण होने से पूर्व) भी पात्र आदि ग्रहण करना कल्पता है।

३४१८. जहाँ मार्ग सप्रत्यपाय हो, वहाँ आधे योजन से अधिक दूरी से सामने से कोई गृहस्थ पात्र लाकर दे, उसे जो भिक्षु ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४१९. मार्ग में ये विघ्न हो सकते हैं—१. श्वापद (सिंह आदि) २. द्विविध स्तेन (शरीर स्तेन और उपकरण स्तेन) ३. ग्राह, मकर आदि जन्तुओं से युक्त नदी ४. अगाध जल से परिपूर्ण महानदी ५. वनहस्ती ६. दुष्टसर्प तथा ७. प्रत्यनीक।

३४२०. सप्रत्यपाय मार्ग से पात्र लेकर आते हुए गृहस्थ को चोर आदि चोट पहुँचा सकते हैं, श्वापद आदि मार सकते हैं अथवा वह गृहस्थ क्रुद्ध होकर चोर, श्वापद आदि की घात कर सकता है। मार्ग में वर्तमान पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के जीवों की हिंसा कर सकता है। कोई उसे बंदी बना सकता है या चोर आदि उससे पात्र आदि का हरण कर सकते हैं। यदि वह रास्ते में मारा जाए तो उसके स्वजन आदि उड्डाह कर सकते हैं कि साधुओं के लिए पात्र ले जाता हुआ बेचारा मारा गया। वे साधुओं के प्रति प्रद्विष्ट होकर उनके लिए तद्द्रव्य (पात्र आदि) तथा अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद कर सकते हैं। इन सब दोषों की संभावना के कारण भिक्षु गृहस्थ द्वारा अभिहत पात्र आदि ग्रहण न करे, स्वयं जाकर गवेषणा करे।

३४२१. इन आपवादिक कारणों से गृहस्थ द्वारा आनीत पात्र का ग्रहण करना भी अनुज्ञात है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. शैक्ष ७. चारित्रदोष^१ और ८. श्वापद। जहाँ पर श्वापद भय के कारण भिक्षु का जाना संभव न हो, वहाँ यह यतना करणीय है।

१. पात्रभूमि की ओर जाने वाले मार्ग आदि में म्लेच्छ, श्वापद, स्तेन आदि का भय हो। पात्रकल्पिक मुनि ग्लान हो या ग्लान-वैयावृत्य में व्यापृत हो। वहाँ जाने पर शैक्षापहार आदि की संभावना हो। अनेषणीय आदि या अन्य स्त्री आदि से सम्बद्ध चारित्रदोषों के कारण वहाँ जाना संभव न हो।

३४२२. अप्पाहेति पुराणाइगाण सत्थेण आणयहं पायं।
तेहि य सयमाणीते, गहणं गीतेतरे जतणा ॥३२९७॥
३४२३. एसेव गमो नियमा, आहारे सेसए य उवकरणे^१।
पुव्वे अवरे य पदे, सपच्चवाएतरे लहुगा ॥३२९८॥
३४२४. दुविधो य होति धम्मो, सुतधम्मो^२ खलु चरित्तधम्मो य।
सुतधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥३२९९॥ नि ६८१॥
३४२५. सुतधम्मो खलु दुविधो, सुत्ते अत्थे य होति णातव्वो।
दुविधो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ॥३३००॥ नि ६८२॥
३४२६. दुविधो^३ तस्स अवण्णो^४, देसे सव्वे य होति णातव्वो।
सुत्तणिवातो देसे, तं सेवंतम्मि आणादी ॥३३०१॥ नि ६८३॥
३४२७. मूलगुण-उत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो तु।
सामाइयमादी तु, सुतधम्मो जाव पुव्वगतं ॥३३०२॥
३४२८. सामाइयमादीए^५, एक्कारसमाउ जाव अंगाओ।
अह देसो एत्थ लहुगा, सुत्ते अत्थम्मि गुरुगादी^६ ॥३३०३॥
३४२९. सव्वम्मि तु सुतणाणे, भूतावाए य भिक्खुणो मूलं।
गणि-आयरिए सपदं, दाणं आवज्जणा चरिमं ॥३३०४॥
३४३०. गिहिणं मूलगुणेसुं^७, देसे गुरुगा तु सव्वहिं मूलं।
उत्तरगुणेसु देसे, लहुगा गुरुगा तु^८ सव्वेसिं^९ ॥३३०५॥
३४३१. मूलगुण उत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि होति साधूणं।
सव्वम्मि होति मूलं, अवण्णवादं वयंतस्स ॥३३०६॥

१. आहणय (पा)।

२. °रणा (दे)।

३. °धम्मो य (भ)।

४. सूत्र ९ (नव ११/९)।

५. अवण्णो णाम अयसो अकीर्तिरित्यर्थः (चू)।

६. °माइयं (भ)।

७. °गातो (दे)।

८. °णेसू (भ, मु)।

९. य (दे)।

१०. सव्वेसु (दे)।

३४२२. मार्ग में श्वापद आदि के भय से यदि भिक्षु स्वयं न जा सकें तो किसी पुराने श्रावक, अणुव्रती श्रावक या सम्यग् दृष्टि को कह देते हैं कि सार्थ के साथ पात्र लेकर आए। जब वह लेकर आए, तब यदि मंगवाने वाले सभी गीतार्थ हों तो उसे ग्रहण कर ले और यदि सारे गीतार्थ न हों तो यतना करे—पहले उसे निषेध कर दे और जब उसका पात्र के प्रति भाव व्यवच्छिन्न हो जाए, तब उसे ग्रहण कर ले।

३४२३. जो विधि सप्रत्यपाय मार्ग से अभिहत पात्र के विषय में प्रज्ञप्त है, वही विधि आहार तथा शेष उपकरणों के विषय में ज्ञातव्य है। उनके विषय में भी पूर्वपद—उत्सर्ग एवं अपरपद—अपवाद विषयक यही विधि है। निष्प्रत्यपाय मार्ग से अभिहत पात्र को लेने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष विधि दोनों में समान है।

३४२४. धर्म के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. श्रुतधर्म और २. चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है स्वाध्याय और चारित्र धर्म का अर्थ है श्रमणधर्म।

३४२५. श्रुतधर्म के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. सूत्र और २. अर्थ। चारित्रधर्म के भी दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. अगारधर्म और २. अनगार धर्म। (अगार और अनगारधर्म दोनों के पुनः दो-दो भेद हो जाते हैं—मूलगुण और उत्तरगुण।)

३४२६. धर्म के अवर्णवाद^१ के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. देश और २. सर्व। प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध देश अवर्णवाद^२ से है। जो भिक्षु देश अवर्णवाद का सेवन करता है, वह भी आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४२७. चरणधर्म मूलगुण और उत्तरगुण—दो प्रकार का होता है और उसका अवर्णवाद भी देश और सर्व दोनों प्रकार का होता है। सामायिक अध्ययन (आचारांग) से लेकर पूर्वगत पर्यन्त सारे सूत्र श्रुतधर्म हैं।

३४२८. सामायिक से लेकर ग्यारह अंग पर्यन्त प्रत्येक सूत्र श्रुतधर्म का देश है। श्रुतधर्म के देश अवर्णवाद से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अर्थ के देश अवर्णवाद से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४२९. सर्वश्रुतज्ञान—दृष्टिवाद सहित समग्र श्रुतधर्म के सर्वअवर्णवाद से भिक्षु को मूल, अभिषेक को अनवस्थाप्य तथा आचार्य को पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह दान प्रायश्चित्त है। आवर्जना^३ (आपन्न) प्रायश्चित्त से सूत्र और अर्थ दोनों के ही सर्वअवर्णवाद से तीनों को पारांचित प्रायश्चित्त ही प्राप्त होते हैं, कम या अधिक नहीं।

३४३०. गृहस्थों के मूलगुणों के प्रति देश अवर्णवाद से चतुर्गुरु एवं सर्व अवर्णवाद से मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। गृहस्थों के उत्तरगुणों के प्रति देश अवर्णवाद से चतुर्लघु तथा सर्व अवर्णवाद से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त होता है।

३४३१. साधुओं के मूलगुणों अथवा उत्तरगुणों के प्रति देश अवर्णवाद बोलने से चतुर्गुरु तथा उनके प्रति सर्व अवर्णवाद बोलने वाले को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. अवर्ण—अपयश, अकीर्ति का कथन करना अवर्णवाद है।

२. अर्थ विषयक देश अवर्णवाद, अगारधर्म के मूलगुणों के देश अवर्णवाद तथा अनगार धर्म के उत्तरगुणों के देश अवर्णवाद से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—प्रस्तुत उद्देशक के सभी सूत्र चतुर्गुरु प्रायश्चित्त से सम्बद्ध होने के कारण सूत्रनिपात इसी में है।

३. आपन्न प्रायश्चित्त—प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त।

३४३२. जीवरहिते व^१ पेहा, जीवाउलमुग्गदंडगा मोयं।
को दोसो य परकडे, चरणे एमादिया देसे ॥३३०७॥
३४३३. काया वया य तेच्चिय, ते चेव पमाद-अप्पमादा य।
जोतिस-जोणि-णिमित्तेहिं किंच^२ वेरग्गपरयाणं ॥ ३३०८ ॥
३४३४. बितियपदमणप्पज्जे, वदेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, भयसा तव्वादिसू चेव ॥३३०९॥
३४३५. एसेव^३ गमो नियमा, वोच्चत्थे होति तू अहम्मे वि।
देसे सव्वे य^४ तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥३३१०॥
३४३६. इहरह वि ताव लोगे, मिच्छत्तं दिप्पते सभावेणं।
किं पुण जइ^५ उववूहति, साधू अजताण मज्झम्मि ॥३३११॥
३४३७. पादप्पमज्जणादी^६, सीसदुवारादि जे करेज्जाहि।
गिहि-अण्णतित्थियाण व, जो पावति आणमादीणि ॥३३१२॥ नि ६८४॥
३४३८. बितियपदमणप्पज्जे, करेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, परलिंगे सेहमादीसु ॥३३१३॥
३४३९. 'दिव्व-मणुय-तेरिच्छं'^७, भयं च^८ आकम्हिकं^९ च^{१०} गातव्वं।
एक्केक्कं पि य दुविधं, संतमसंतं^{११} च गातव्वं ॥३३१४॥ नि ६८५॥

१. वि (दे)।

२. किंचि (दे)।

३. सूत्र १० (नव ११/१०)।

४. वि (दे)।

५. यदीत्यभ्युपगमे (चू)।

६. सूत्र ११-६३ (नव ११/११-६४), मुद्रित भाष्य का ४१ वां सूत्र नवसुत्ताणि में नहीं है तथा नवसुत्ताणि का ५२ वां सूत्र मुद्रित भाष्य में नहीं है। कुछ सूत्रों में क्रमव्यत्यय भी है।

७. सूत्र ६४, ६५ (नव ११/६५, ६६), पिसायादिएहिंतो

दिव्वं, तेणादिएहिंतो माणुस्सं, आउ-तेउ-वाउ-
वणस्सइयाइएहिंतो य तेरिच्छं (चू)।

८. तु (भ)।

९. निर्हेतुकं चउत्थं अकस्माद्भयं भवति.....अकस्माद्भयं
भयकारण सकल्पिताभिप्रायोत्पन्नं (चू)।

१०. तु (मु)।

११. पिसाय-तेण-सिंघाइएसु दिट्ठेसु जं भयं उप्पज्जति, तं
संतं अदिट्ठेसु असंतं, अकस्माद्भयं संतं, आत्मसमुत्थं
मोहनीयभयप्रकृत्युदयादुद्भवति असंतं (चू)।

३४३२. चारित्र सम्बन्धी किसी नियम विशेष का अवर्णवाद उसका देश अवर्णवाद है, जैसे—जो वस्त्र आदि जीवरहित है, उनकी प्रतिलेखना करना निरर्थक है। यह सारा लोक जीवों से व्याप्त है, फिर चक्रमण आदि क्रिया करते हुए साधु निर्दोष कैसे रह सकता है। पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों की विराधना मात्र से लघुमासिक प्रायश्चित्त देना अत्यन्त उग्रदंडता है। अपवाद में मोक (प्रस्रवण) का आचमन करने का विधान अनुचित है। दूसरे (गृहस्थ) द्वारा किए गए आधाकर्म आहार आदि में क्या दोष है? आदि। सारा यम—नियम रूप चारित्र कुशल परिकल्पित है—(इस प्रकार व्यंग्यवचन बोलना) यह सर्व अवर्णवाद है।

३४३३. श्रुतधर्म का देश अवर्णवाद—उन्हीं छहकाय और पांच महाव्रतों का बार-बार वर्णन करना, उन्हीं प्रमाद और अप्रमाद की बार-बार चर्चा करना अयुक्त है। अथवा मुनि वैरागी होते हैं, उन्हें ज्योतिष (सूर्यप्रज्ञप्ति आदि), योनिप्राभृत, निमित्तशास्त्र आदि के ज्ञान से क्या प्रयोजन? सारा श्रुतज्ञान प्राकृत भाषा में निबद्ध है। (भगवान् सर्वज्ञ थे तो उन्होंने संस्कृत भाषा में सूत्र क्यों नहीं कहे?)—इत्यादि व्यंग्यवचन बोलना यह श्रुतधर्म का सर्व अवर्णवाद है।

३४३४. अपवाद में भिक्षु इन परिस्थितियों में धर्म का अवर्णवाद बोलता है—१. क्षिप्तचित्त आदि के कारण अनात्मवश (परवश) हो। २. आत्मवश होने पर भी अकोविद—अवर्णवाद के दोषों को न जानने वाला हो। ३. धर्म का अवर्णवाद बोलने वाला राजा आदि बलवान व्यक्ति हो और उससे डर के कारण जानकार को भी उसके पक्ष में बोलना पड़े।

३४३५. अधर्म के विपर्यय—वर्णवाद के विषय में भी पूर्व (उत्सर्ग) पद एवं अपवाद पद में देश और सर्व के विषय में नियमतः यही विधि है।

३४३६. अन्यथा (उपबृंहण के बिना) भी, स्वभावतः ही लोक में मिथ्यात्व प्रदीप्त है (प्रज्वलित है) यदि साधु असंयतों के मध्य उसका उपबृंहण करने लगे तो फिर बात ही क्या? अर्थात् फिर तो निश्चित रूप से उनका मिथ्यात्व स्थिरतर (दृढतर) हो जाएगा।

३४३७. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक के पादप्रमार्जन आदि करता है, यावत् ग्रामानुग्राम प्रव्रजन करता हुआ उनका सिर ढंकता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है। (इससे शैक्ष भिक्षुओं के वहाँ गमन, प्रवचन की अपभ्रान्तता आदि की संभावना रहती है, अतः भिक्षु उनका वैयावृत्य न करे।)

३४३८. द्वितीय पद—अपवाद में १. अनात्मवश मुनि क्षिप्तचित्त आदि अवस्थाओं में गृहस्थ आदि का पादप्रमार्जन आदि कर सकता है। २. आत्मवश अवस्था में भी अकोविद (अज्ञ) मुनि उपर्युक्त क्रियाएँ कर सकता है। ३. कारण में किसी ने परलिंग (अन्यतीर्थिक) का वेश स्वीकार किया हो, वह ज्ञानी मुनि भी उपर्युक्त क्रियाएँ कर सकता है। ४. कोई शैक्ष अयोग्य हो, उसे पृथक् करना हो तो उसके समक्ष वैसा प्ररूपण करने के लिए या द्रव्यलिंग से परिश्रान्त रूप में आए हुए शिष्य की विश्रामणा आदि के लिए यतनापूर्वक उसकी पादप्रमार्जन आदि क्रियाएँ की जा सकती हैं।

३४३९. भय मुख्यतः चार प्रकार का ज्ञातव्य है—१. दिव्य २. मानुष ३. तैरिश्च तथा ४. आकस्मिक। प्रत्येक के पुनः दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. सत् और २. असत्।

३४४०. कामं सत्तविकल्पं, भयं समासेण तं पुणो चउहा।
तत्थादाणं समणे, ण होज्ज अहवा वि देहुवधी ॥३३१५ ॥
३४४१. एगेसिं जं भणितं, महब्भयं एतदेव विधिसुत्ते।
तेणादाणं देहो, मुच्छासहितं च उवकरणं ॥३३१६ ॥
३४४२. रक्खस-पिसाय-तेणादिगोसु उदयगि-जडुमादीसु।
तव्विवरीतमकम्हा, जो तेण परं च अप्पाणं ॥३३१७ ॥
३४४३. बीहावेती भिक्खू, संते लहुगा य गुरुमसंतम्मि।
आणादी मिच्छत्तं, विराधणा होति सा दुविधा ॥३३१८ ॥ नि ६८६ ॥
३४४४. नावेक्खति अप्पाणं, ण इव परं खेत्तमादिणो दोसा।
भूतेहि व घेप्पेज्जा, भेसेज्ज परं च जं चऽण्णं ॥३३१९ ॥
३४४५. जह मोहप्पगडीणं, कोधादीणं विवज्जणा सेया।
तह^१ चउकारणमुदयं, भयं पि न हु सेवितुं^२ सेयं ॥३३२० ॥
३४४६. भयउत्तरपगडीए^३, सेसा मोहस्स सूइया पगडी।
मोहपगडीय सेसा, तु सूइता मूलपगडीओ ॥३३२१ ॥
३४४७. ता जेहि पगारेहिं, बज्झंती^४ णाणणिणहवादीहिं।
णिक्कारणम्मि तेसू, वट्टंते होति पच्छत्तं ॥३३२२ ॥
३४४८. कामं आउगवज्जा, णिच्चं बज्झंति सव्वपगडीओ।
जा^५ बादरो सरागो, तिव्वासू^६ तासु पच्छत्तं ॥३३२३ ॥
३४४९. अहिकिच्च उ असुभातो, उत्तरपगडीतौ होति पच्छत्तं।
अनियाणेण सुभासू, न होति सट्टाणपच्छत्तं ॥३३२४ ॥

१. ता (भ)।
२. सेवितं (भ, मु)।
३. °डी तु (भ)।

४. बज्झंते (दे)।
५. जो (मु)।
६. तिव्वासु (मु, भ)।

३४४०. प्रश्नकर्ता—स्थानांग आदि में सात प्रकार के भय बताए गए हैं, फिर आपने उनके चार प्रकार ही क्यों किए? आचार्य—ठीक है, भय के सात प्रकार होते हैं, किन्तु संक्षेप में वह चार प्रकार का होता है। (सात का अन्तर्भाव चार में हो जाता है।) भय के सात प्रकारों में श्रमण के आदान भय नहीं होता। अथवा श्रमण भी देह और उपधि सहित होता है, अतः उसके भी आदान भय होता है।

३४४१. विधिसूत्र का अर्थ है—आचारांग सूत्र। उसमें कहा गया है कि कुछ अविरत लोगों के लिए यह शरीर ही महान् भय का हेतु है, अतः देह और उपकरण भी मूर्च्छा सहित हो तो आदान भय है।

३४४२, ३४४३. राक्षस, पिशाच आदि से उत्पन्न भय (दिव्य), स्तेन आदि से उत्पन्न भय (मानुष), जल, अग्नि, हाथी आदि से उत्पन्न भय (तैरिश्च) तथा इनसे विपरीत अर्थात् अकस्मात् भय—इनमें से किसी भय से जो भिक्षु स्वयं को, दूसरे को अथवा दोनों को भयभीत करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं दो प्रकार की विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

३४४४. स्वयं को अथवा दूसरे को भयभीत करता हुआ व्यक्ति स्वयं या पर की अपेक्षा नहीं करता। (जिसको भयभीत किया जाता है, उससे निरपेक्ष हो जाता है।) भयभीत करता हुआ या भयभीत होता हुआ क्षिप्तचित्त आदि हो सकता है। भूत आदि से ग्रस्त हो सकता है तथा जो स्वयं या दूसरे को भयभीत करता है, वह भय की अवस्था में पलायन आदि करता हुआ षट्काय की विराधना करता है या स्वयं की विराधना करता है, उसे तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है—भय से इतने दोषों की उत्पत्ति होती है अतः मुनि न भयभीत हो और न भयभीत करे।

३४४५. जिस प्रकार क्रोध आदि मोहनीय-प्रकृतियों का विवर्जन श्रेयस्कर है, उसी प्रकार चार कारणों—दिव्य आदि से उत्पन्न होने वाला भय भी मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृति है (नोकषाय मोहनीय है) अतः उसका भी सेवन न करना ही श्रेयस्कर है।

३४४६. भय मोहनीय की उत्तरप्रकृति है, उसका ग्रहण करने से मोहनीय की शेष प्रकृतियों का ग्रहण हो जाता है तथा मोह की सब प्रकृतियों का ग्रहण करने से शेष कर्मों की मूल प्रकृतियों का सूचन भी स्वतः हो जाता है।^१

३४४७. कर्म की मूल आठ प्रकृतियां ज्ञानावरण आदि हैं तथा उसकी उत्तर प्रकृतियां पंचानवे हैं। वे ज्ञानावरण आदि प्रकृतियां ज्ञाननिहव, ज्ञान प्रत्यनीकता आदि जिन-जिन प्रकारों से बंधती हैं, जो भिक्षु निष्कारण उन योगों में प्रवृत्त होता है, उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४४८. प्रश्नकर्ता—जब तक बादर कषाय है, तब तक आयुष्य को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियां नित्यकाल बंधती रहती हैं, तब साधु अप्रायश्चित्ती कभी नहीं रह पाएगा? आचार्य—यह ठीक है कि जब तक बादर राग (कषाय) से युक्त है, तब तक हर जीव के सभी प्रकृतियां निरन्तर बंधती हैं, पर प्रायश्चित्त का कथन केवल उस मुनि के लिए किया गया है, जो तीव्र प्रकृतियों के बन्ध हेतुओं में वर्तन करता है।

३४४९. उत्तर प्रकृतियों में जो अशुभ प्रकृतियां हैं, प्रायश्चित्त का कथन उनकी अपेक्षा से है। जो शुभ प्रकृतियां हैं, यदि उनका निदान रहित बन्धन हो तो उन हेतुओं में वर्तन करने वाले मुनि को स्वस्थान प्रायश्चित्त^३ प्राप्त नहीं होता।

१. दृष्ट पिशाच, स्तेन तथा सिंह आदि से उत्पन्न भय क्रमशः सत् दिव्य, मानुष और तैरिश्च भय हैं। यदि अदृष्ट होने पर भी इनसे भय पैदा हो तो वह असत् भय है। स्वकल्पित अभिप्राय से उत्पन्न, विद्यमान परिस्थिति से भय सत् आकस्मिक भय है तथा निमित्त के बिना, भयमोहनीय से पैदा होने वाला आत्मसमुत्थ भय असत् आकस्मिक भय है।

२. अर्थात् सभी कर्म प्रकृतियों का विवर्जन श्रेयस्कर है—यह इस सूत्रद्वयी का भावार्थ है।

३. जिस प्रवृत्ति के लिए जो प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है, वह उसका स्वस्थान प्रायश्चित्त है। द्रष्टव्य गा. ३४५०-३४५२ आदि।

३४५०. देसपदोसादीसुं^१, साते लोभे य असरिसे फासे ।
लहुगो^२ लहुगा पुण हास-अरतिनिदाचउक्कम्मि ॥ ३३२५ ॥
३४५१. सव्वे णाणपदोसादिगेसु थीणे य होति चरिमं तु ।
निरयाउ कुणिमवज्जे^३, मिच्छे वेदे य मूलं तु ॥ ३३२६ ॥
३४५२. तिरियाउ असुभनामस्स चेव हेतूसु मासिगं गुरुगं ।
सेसासु अप्पसत्थासु, होंति सव्वासु चतुलहुगा ॥ ३३२७ ॥
३४५३. सक्का अपसत्थाणं, तु हेतवो परिहरित्तु पगडीणं ।
सायादिपसत्थाणं, कहां णु^४ हेतू^५ परिहरेज्जा ॥ ३३२८ ॥
३४५४. जइ वा बज्झति सातं, अणुकंपादीसु तो कहां साधू ।
परमणुकंपाजुत्तो, वच्चति मोक्खं सुह^६णुबंधी^६ ॥ ३३२९ ॥
३४५५. सुहमवि आवेदंतो^७, अवस्समसुभं पुणो समादियति^८ ।
एवं तु णत्थि मोक्खो, कहां च जतणा भवति एत्थं ॥ ३३३० ॥
३४५६. अहवा ण चेव बज्झति, पुण्णं नावि असुभोदयं पावं ।
सव्वअणिट्ठियकम्मो, उववज्जति केण देवेसु ॥ ३३३१ ॥
३४५७. पुव्वतव-संजमा^९ होंति, रागिणो पच्छिमा^९ अरागस्स ।
रागो^{११} संगो^{१२} वुत्तो, संगो कम्मं भवे तेणं^{१३} ॥ ३३३२ ॥

१. °पदेसा° (क) ।

२. गुरुगा (भ) ।

३. कुणिमाहारे रागे गुरुगा, दोसे लहुगा (चू) ।

४. ण (दे) ।

५. हेउं (क) ।

६. °णिबंधी (दे) ।

७. अवेदयंतो (भ) ।

८. °दयति (भ) ।

९. यत्र तपः तत्र नियमात् संयमः, यत्र संयमः तत्रापि नियमात् तपः (चू) ।

१०. पश्चिमा तव-संजमा अरागिणो भवति । तं च अहाख्यातचारित्रं इत्यर्थः (चू) ।

११. कम्मजणितो जीवभावो रागो (चू) ।

१२. कम्मणा सह संजोययंतो स एव संगो वुत्तो (चू) ।

१३. भ प्रति में यह गाथा ३४६० के बाद है ।

३४५०. जो मुनि ज्ञान के एक देश में प्रद्वेष करता है, प्रत्यनीकता, अन्तराय या मात्सर्य आदि करता है, निदानपूर्वक या अशुभ अध्यवसाय पूर्वक सातवेदनीय कर्म बन्धन के हेतुओं में वर्तन करता है अथवा लोभकषाय बन्धन के हेतुओं में वर्तन करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। असदृश स्पर्श^१ के बन्धहेतुओं में वर्तन करने वाले को चतुर्लघु तथा हास्य, अरति और निद्राचतुष्क (निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला और प्रचलाप्रचला)—इन छह प्रकृतियों के बन्धहेतुओं में वर्तन करने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४५१. जो मुनि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रति प्रद्वेष करता है, प्रत्यनीकता, अन्तराय या मात्सर्य आदि करता है, स्यानर्द्धि के हेतुओं में वर्तन करता है, उसे पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मांसाहार के अतिरिक्त नरकायुष्य के शेष हेतुओं—महाआरम्भ, महापरिग्रह आदि में वर्तन करता है, मिथ्यात्व के तथा त्रिविध वेद के बन्ध हेतुओं में वर्तन करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मांसाहार में राग करने वाले मुनि को चतुर्गुरु तथा द्वेष करने वाले को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४५२. जो मुनि तिर्यच आयुष्य अथवा अशुभ नामकर्म के बन्ध हेतुओं में वर्तन करता है, उसे मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष सभी अप्रशस्त प्रकृतियों^२ के बन्धहेतुओं में वर्तन करने वाले मुनि को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४५३-३४५६. प्रश्नकर्ता—१. अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों के हेतुओं (अशुभ अध्यवसाय आदि) का परिहार (वर्जना) करना शक्य है किन्तु सातवेदनीय आदि प्रशस्त (शुभ) कर्म प्रकृतियों के हेतुओं—शुभ अध्यवसाय आदि का वर्जन कैसे किया जाए? (नित्य शुभ अध्यवसाय में रहने वाले मुनि के लिए उसका परिहार शक्य नहीं।) २. यदि अनुकम्पा (प्राणियों के प्रति दया), व्रतसम्पन्नता, संयम योगों में उद्यम आदि से सातवेदनीय आदि शुभप्रकृतियों का बन्धन होता है तो नित्य अनुकम्पा, व्रत आदि में लीन मुनि (पुण्य बांधता हुआ) मोक्ष कैसे जाएगा? (क्योंकि पुण्य बन्धन है, मोक्षगमन में विघ्न है।) ३. शुभ का आवेदन (आकांक्षा) करने वाला व्यक्ति अवश्य ही अशुभ को प्राप्त करता है। शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) का अर्थ है संसार तो फिर साधु का भी मोक्ष कैसे होगा? इस विषय में साधु को यतना कैसे करनी चाहिए? ४. यदि कहें कि अनुकम्पा आदि से न पुण्य बन्धन होता है और न अशुभ उदय में आए, ऐसा पाप तो सर्वतः निष्ठित कर्मा (कर्म रहित) मुनि देवलोकों में कैसे पैदा होगा?

३४५७. आचार्य कहते हैं—अनशन आदि पूर्व तप तथा सामायिक, छेदोपस्थाप्य आदि पूर्व संयम सरागी के होते हैं। पश्चिम तप—सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति और व्यवच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति (शुक्लध्यान के अन्तिम दोनों भेद) तथा पश्चिम संयम—यथाख्यात चारित्र वीतराग के होते हैं।^३ राग को ही संग—कर्मबन्धन का कारण कहा गया है। राग युक्त संयम और तप में आयुष्य बन्धन करने वाला (मरने वाला) देव में उत्पन्न होता है। क्योंकि राग से संग, संग से कर्म तथा कर्म से भव (पुनर्जन्म) होता है।

१. पुरुष के लिए स्त्री और नपुसंक का, स्त्री के लिए पुरुष और नपुसंक का तथा नपुसंक के लिए स्त्री एवं पुरुष का स्पर्श असदृश स्पर्श है।

२. शेष अप्रशस्त प्रकृतियां—चक्षु आदि चार दर्शनावरणीय प्रकृतियां, लोभ के अलावा पन्द्रह कषाय, रति, भय, शोक और जुगुप्सा, नीच गोत्र एवं अन्तराय की पांच प्रकृतियां।

३. तप और संयम को नियत अव्यभिचारी माना जाए तो पूर्व तप संयम का अर्थ होगा—सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहार विशुद्धि एवं सूक्ष्मसंपराय—ये चारों चारित्र।

३४५८. भण्णति जहा तु कोई, महल्लपल्ले^१ तु सोधयति पत्थं ।
पक्खिवति कुंभ तस्स उ, णत्थि खतो होति एवं तु ॥३३३३॥
३४५९. अन्नो पुण पल्लातो, कुंभ सोहयति^२ पक्खिवे पत्थं^३ ।
तस्स खओ भवतेव^४, इय जे तु असंजता जीवा ॥३३३४^५ ॥
३४६०. तेसिं अप्पा णिज्जर, बहु^६ बज्झति पाव तेण णत्थि खओ ।
अप्प बंधो जताणं, बहुणिज्जर तेण मोक्खो तु^७ ॥३३३५ ॥
३४६१. बितियपदमणप्पज्जे, 'बीभे अप्पज्ज'^८ हीणसत्ते वा ।
खित्तं दित्तं च परं, पवाइ^९-पडिणीय-तेणं वा ॥३३३६ ॥
३४६२. विम्हावणा^{१०} तु दुविधा, अभूतपुव्वा य भूतपुव्वा य ।
विज्ज-तव-इंदजालिय-णिमित्तवयणादिसुं चेव ॥३३३७ ॥ नि ६८७ ॥
३४६३. जो जेण अकतपुव्वो, अस्सुतपुव्वो अदिट्ठपुव्वो वा ।
सो होतऽभूतपुव्वो, तव्विवरीतो भवे भूतो^{११} ॥३३३८ ॥ नि ६८८ ॥
३४६४. दिव्वं अच्छेरं विम्हओ य^{१२} अतिसाहसं अतिसओ य ।
कत्तो से णाउं जे, किं णाहिति^{१३} किं सुहं णातुं ॥३३३९ ॥ नि ६८९ ॥
३४६५. एत्तो एगतरेणं, 'विम्हयकरणेण संतऽसंतेणं'^{१४} ।
अप्पपरं विम्हावे, सो पावति आणमादीणि ॥३३४० ॥ नि ६९० ॥
३४६६. उम्मादं पावेज्जा^{१५}, तदट्ठजायण अदाण पडिणीए ।
खित्तं व परं कुज्जा, तवणिव्वहणं^{१६} च माया य ॥३३४१ ॥

१. पल्लापल्ले (दे) ।

२. सोहेइ (दे) ।

३. एत्थ (क) ।

४. भवइ एवं (दे) ।

५. मुद्रित भाष्य में ३३३३ का क्रमांक नहीं है । ३३३४ का क्रमांक दो बार आया है ।

६. × (भ) ।

७. × (दे) ।

८. × (दे) ।

९. परवादि के स्थान पर छंद की दृष्टि से 'पवाइ' पाठ मिलता है ।

१०. सूत्र ६६, ६७ (नव ११/६७, ६८) ।

११. भ प्रति में पूरी गाथा स्त्रीलिंग में है, जैसे अकतपुव्वा..... भूता ।

१२. × (क) ।

१३. णाही (दे) ।

१४. संतमसंतेण विम्हकरणेण (दे, पा) ।

१५. °ज्ज व (दे) ।

१६. °निज्जाहणं (क) ।

३४५८-६०. उदाहरण के लिए—एक बड़ा धान्य-पल्य है। एक (कोई) व्यक्ति उसमें से एक प्रस्थ अन्न निकालता है (शोधन करता है) और पुनः उसमें एक कुंभ जितना अनाज डाल देता है। इस क्रिया से पल्य के धान्य का क्षय नहीं होता। अन्य व्यक्ति उसी प्रकार के बड़े पल्य से कुंभप्रमाण अन्न निकालता है और उसमें प्रस्थप्रमाण अन्न पुनः डाल देता है। इस क्रिया के पुनरावर्तन से अल्पता होते-होते एक दिन पल्य का अनाज क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार जो असंयती जीव हैं, उनके निर्जरा अल्प होती है, पापबन्धन अधिक, फलतः उनका संसार क्षीण नहीं होता। जो संयती हैं, उनके अल्पबन्धन व बहुनिर्जरा होती है। फलतः क्रमशः वे शुक्लध्यान को तथा यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

३४६१. द्वितीय पद में अनात्मवश मुनि स्वयं भयभीत हो सकता है या अन्य को भयाक्रान्त कर सकता है। आत्मवश मुनि भी कमजोर हो तो भयभीत हो सकता है। परप्रवादी, क्षिप्त या दृप्तचित्त, अनुपशान्त प्रत्यनीक तथा शरीरस्तेन एवं उपकरणस्तेन को प्रयोजन वश भयभीत करता हुआ भी मुनि निर्दोष है।

३४६२. विद्या, तपःशुद्धि, इन्द्रजाल तथा अतीत या अनागत के निमित्त का कथन कर दूसरे को आश्चर्य चकित करना या इनसे स्वयं विस्मित होना—विस्मापना है। वह दो प्रकार की होती है—१. अभूतपूर्व और २. भूतपूर्व।

३४६३. वह मंत्र, विद्या या इन्द्रजाल, जिसका प्रयोग व्यक्ति ने स्वयं पहले न किया हो, न किसी से सुना हो और न किसी को करते देखा हो, वह उसके लिए अभूतपूर्व होता है, शेष जो इसके विपरीत कृत, दृष्ट या श्रुत हो, वह भूतपूर्व होता है।

३४६४. असद्भूत निमित्तकथन का उदाहरण—दो मुनि कृत्तिका आदि सात नक्षत्रों का नाम-संकेत कर लेते हैं—दिव्य, आश्चर्य, विस्मय, अतिसाहस, अतिशय, कहां से जाना जाए, क्या जानोगे और कैसे जानना सुकर है। इसी प्रकार मघा आदि सात, अनुराधा आदि सात तथा घनिष्ठा आदि सात नक्षत्रों का नाम भी इन्हीं संकेतों के साथ बिठा लेते हैं। इस प्रकार २८ नक्षत्रों के नाम-संकेतों को भलीभांति स्थापित कर लोगों के सामने इस प्रकार घोषणा करते हैं—अट्टाईस नक्षत्रों में से कोई किसी भी नक्षत्र का नाम ग्रहण करे, मैं उसे जान लेता हूँ। भीड़ में से एक व्यक्ति आकर उस वक्ता मुनि के परोक्ष में कृत्तिका नक्षत्र का ग्रहण करता है, तब दूसरा मुनि पूर्वाभिमुख होकर 'अहो दिव्य ज्ञान' ऐसा कह देता है। फलतः वक्ता मुनि समझ लेता है कि उस व्यक्ति ने कृत्तिका नक्षत्र का ग्रहण किया है और वह उसकी घोषणा कर देता है। यदि अज्ञात व्यक्ति मघा नक्षत्र का ग्रहण करता है तो दूसरा मुनि पश्चिम की ओर मुँह कर 'अहो दिव्य ज्ञान' कहता है और वक्ता मुनि को ज्ञात हो जाता है कि उसका संकेत मघा नक्षत्र की ओर है।

३४६५. अभूतपूर्व या भूतपूर्व, सद्भूत या असद्भूत—इनमें से किसी भी विस्मयकरण (विद्या, मंत्र, निमित्त आदि) से जो मुनि स्वयं को या दूसरे को विस्मित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४६६. विस्मयकरण के अन्य दोष—१. मैंने इतने लोगों को विस्मित कर दिया—इस भावना से वह स्वयं दृप्तचित्त होकर उन्मत्त हो जाता है। २. मैं भी अमुक व्यक्ति को विस्मित करूँ—ऐसा सोच वह अन्य व्यक्ति से ऐसे उपायों की याचना करता है। उपाय का ज्ञान दिये जाने (मिलने) पर अधिकरण होता है। ३. जिस व्यक्ति से विद्या आदि मांगे और वह न दे तो मांगने वाला उसका प्रत्यनीक हो सकता है। ४. दूसरे को विस्मित कर उसे क्षिप्तचित्त आदि बनाया जा सकता है। ५. विद्या आदि से आजीविका करने पर तप विकल हो जाता है।^१ ६. असद्भूत मंत्र, निमित्त कथन आदि से माया, मृषा आदि दोष लगते हैं।

१. सामान्यतः नक्षत्र सत्ताईस होते हैं, अभिजित् नक्षत्र को मिलाने पर उनकी संख्या अट्टाईस हो जाती है।

२. निभा ३ चू. पृ. १९२—तवो णिव्वहती-विकलीभवतीत्यर्थः।

३४६७. असिवे ओमोदरिए, रायहुडे भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोहए वा, जतणाए विम्हयावेज्जा ॥३३४२ ॥
३४६८. दव्वे^१ खेत्ते काले, भावे य चउव्विधो विवच्चासो।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥३३४३ ॥ नि ६९१ ॥
३४६९. दव्वम्मि दाडिमंबाडगेसु खेत्ते दुणाममादीसु।
काले^२ गेलण्णोवधि, भावम्मि य णिव्वुयादीसु ॥३३४४ ॥ नि ६९२ ॥
३४७०. जो जेण पगारेणं, भावो णियतो तमण्णहा जो तु।
मण्णति करेति वदति व^३, विप्परियासो भवे^४ एसो ॥३३४५ ॥ नि ६९३ ॥
३४७१. चेतणमचेतणं वा, वएज्ज कुज्जा व चेतणमच्चित्तं।
वेसग्गहणादीसु वि, थी-पुरिसं अण्णहा दव्वे ॥३३४६ ॥ नि ६९४ ॥
३४७२. साएता णाऽयोज्झा, अहवा ओज्झातो ऽहं ण साएता।
वत्थव्वमवत्थव्वो, ण^५ मालवो मागधो वाऽहं ॥३३४७ ॥ नि ६९५ ॥
३४७३. वरिसा णिसासु रीयति, इतरेसु ण^६ रीयते वदति मण्णे।
वयपरिमाणं^७ च वए, परियायं वा विवच्चासं ॥३३४८ ॥ नि ६९६ ॥
३४७४. अतवस्सिणं तवस्सिं, देहगिलाणो मि सो वि हु ण तिण्णो।
सारिक्खे सो वि अहं, न व^८ त्ति सर-वण्णभेदं वा ॥३३४९ ॥ नि ६९७ ॥
३४७५. एतेसिं कारणाणं, एयतरागेण जो विवच्चासे।
अप्पाणं च परं वा, सो पावति आणमादीणि ॥३३५० ॥ नि ६९८ ॥
३४७६. दव्वादिविवच्चासं, अहवा वी भिक्खुणो वदेत्तस्स।
अधिगरणादि परेहिं, मायामोसं अदत्तं च ॥३३५१ ॥

१. सूत्र ६८, ६९ (नव ११/६९, ७०)।

२. कालेणं (दे)।

३. × (भ)।

४. भवति (दे)।

५. × (भ)।

६. ण य (भ)।

७. वयपरिणामं वा विवरीयं करेति वदति वा जहा—नडो थेरो तरुणवेसं करेति, तरुणो वा थेरं करेति (चू)।

८. वि (मु)।

३४६७. १. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य में वैद्य को आकर्षित करने या औषध प्राप्त करने हेतु ६. अटवी और नगररोध आदि आपवादिक परिस्थितियों में निर्वाह दुष्कर हो तो मुनि यतना पूर्वक^१ दूसरे (राजा, वैद्य आदि) को विस्मित कर सकता है।

३४६८. विपर्यास (विपरीत प्ररूपण) के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य २. क्षेत्र ३. काल और ४. भाव। इनका नानात्व मैं क्रमशः कहूँगा।

३४६९. दाडिम को आम्रातक बताना द्रव्य विषयक विपर्यास है। दो नाम से वाच्य क्षेत्रों में विपर्यास—आनन्दपुर को अर्कस्थली कहना क्षेत्रविषयक विपर्यास है। ग्लान्य, उपधि आदि के विषय में विपर्यास काल विपर्यास है तथा अशान्त, क्रुद्ध आदि होने पर भी स्वयं या दूसरे को शान्त बताना भावविषयक विपर्यास है।

३४७०. द्रव्य आदि जो भाव (पदार्थ) जिस रूप में नियत (स्थित) हैं, कोई उनको अन्यथा जानता है, प्ररूपणा करता है अथवा चिन्तन करता है—यह विपर्यास कहलाता है।

३४७१. कोई व्यक्ति सचित्त पृथिवीकाय, अप्काय आदि को अचित्त बताता है अथवा अचित्त राख आदि पदार्थों को इन्द्रजाल आदि से सचित्त करता (बनाता) है, स्त्री को पुरुषवेश पहनाता है या पुरुष को स्त्रीनेपथ्य पहनाता है या पुरुष को स्त्री कहता है—यह सारा द्रव्य का अन्यथाकरण / द्रव्य विपर्यास है।

३४७२. कोई साधु अयोध्या से आया। वहाँ किसी वास्तव्य साधु ने पूछा—अयोध्या से आए हो? वह कहता है—नहीं, मैं साकेत से आया हूँ। अथवा जो अयोध्या नाम नहीं जानता और पूछता है—क्या साकेत से आए हो? उत्तर देता है—नहीं, मैं अयोध्या से आया हूँ। इसी प्रकार वास्तव्य (निवासी) होने पर भी अवास्तव्य बताना, 'मालव हो' पूछने पर 'मागध हूँ' कहना आदि क्षेत्र विपर्यास हैं।

३४७३. कोई कहे—भिक्षु वर्षाकाल में विहरण करते हैं, ऋतुबद्धकाल में नहीं। रात्रि में विहरण करते हैं, दिन में नहीं। अथवा यह माने कि वर्षा या रात्रि में विहरण श्रेयस्कर है। कोई स्थविर तरुण वेश बनाए या तरुण अपने को स्थविर बताए, पर्याय—जन्मपर्याय (अवस्था) तथा दीक्षापर्याय को कम या अधिक बताए—यह कालतः विपर्यास है।

३४७४. कोई स्वभावतः कृशशरीरी साधु तपस्वी न होने पर भी स्वयं को तपस्वी अथवा ग्लान न होने पर भी ग्लान बताए। या दूसरे स्वस्थ कृश साधु की ओर इशारा कर कहे कि यह बीमार है, अभी तक स्वस्थ नहीं हो रहा है, अतः दूध, दही आदि चाहिए—यह भाव विपर्यास है। कोई चिर प्रवासी स्वजन समानता के आधार पर कहे—आप अमुक मुनि जैसे लगते हैं तो वह स्वयं को वह मुनि बता देता है—मैं ही वह हूँ। अथवा कोई पहचान जाए तो गुटिका आदि से स्वर या वर्ण का विपर्यास कर कहे नहीं, मैं अमुक (क) मुनि नहीं हूँ, मैं तो अमुक (ख) मुनि हूँ—यह भावतः विपर्यास है।

३४७५, ३४७६. इन (विगयलाभ, सत्कार आदि) कारणों से जो भिक्षु इन द्रव्य, क्षेत्र आदि में से किसी प्रकार से स्वयं का विपर्यास करता है अथवा दूसरे का विपर्यास करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है। द्रव्य आदि के विपरीत कथन से भिक्षु को बादरमृषावाद तथा माया का दोष लगता है फलतः संयम विराधना होती है। श्रावक जन ग्लान, तपस्वी आदि के लिए द्रव्य—विगय आदि देते हैं, उसे वह स्वयं को ग्लान, तपस्वी आदि बताकर ग्रहण कर लेता है—यह भावतः अदत्तादान है। जो व्यक्ति उसके विपर्यास को जान जाते हैं और कहते हैं—ऐसे अपलाप क्यों करते हो तो सहन न कर पाने के कारण वह उनके साथ कलह कर बैठता है। इस प्रकार विपर्यासकरण में अनेक दोषों की संभावना रहती है।

१. यतना—पहले सद्भूत विद्या आदि से, बाद में असद्भूत विद्या, मंत्र आदि से, फिर पनक आदि की यतना से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त हो, तब तक विद्या आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

३४७७. बितियपदं गेलण्णे, खेतसतीए व अपरिणामेसु^१ ।
अण्णस्सट्ठा दुलभे^२, पत्तेयं चउसु वि पदेसु ॥३३५२॥
३४७८. कुत्तित्थ^३-कुसत्थेसू, कुधम्म-कुव्वय-कुदाणमादीसु^४ ।
जे^५ मुहवण्णं कुज्जा, उम्मग्गे आणमादीणि ॥३३५३॥ नि ६९९ ॥
३४७९. गंगादी^६ सक्कमया^७, गणधम्मादी^८ य गोव्वयादीया^९ ।
भोमादी दाणा खलु^{१०}, तिण्णि तिसट्ठा उ उम्मग्गा ॥३३५४॥
३४८०. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे^{११} भए व गेलण्णे ।
एतेहि कारणेहिं, जतणाए कप्पती काउं ॥३३५५॥
३४८१. पण्णवणे च^{१२} उवेहं, पुट्ठो बंभादि वा धरेत्तेते ।
आगाढे 'व अपुट्ठो'^{१३}, भणेज्ज लट्ठो^{१४} तहा^{१५} धम्मो ॥३३५६॥
३४८२. जे जे सरिसा धम्मा, सव्वाहिं सादिएहि उ^{१६} पसंसे ।
एतेसिं पि हु आता, अत्थि हु^{१७} णिच्चो कुणति व त्ति ॥३३५७॥
३४८३. एवं ता सव्वादिसु^{१८}, भणेज्ज वइतूलिकेसिमं^{१९} बूया ।
अम्ह वि ण संति भावा, इतरेतरभावतो^{२०} सव्वे ॥३३५८॥

१. °मेसुं (दे) ।

२. दुल्लभे (भ) ।

३. सूत्र ७० (नव ११/७१) ।

४. भूमिदानं गोदानं आस-हत्थि सुवण्णादिया य सव्वे कुदाणा (चू) ।

५. जो (दे) ।

६. आदिग्गहणातो पहास-प्रयाग-अवक्खंड-सिरिमाल केयारादिया एते सव्वे कुत्तित्था (चू) ।

७. शाक्यमतं कपिलमतं ईसरमतादिया सव्वे कुसत्था (चू) ।

८. मल्लगणधम्मो सारस्सयगणधम्मो कूयसभादिया सव्वे कुधम्मा (चू) ।

९. गोव्वयादिया दिसापोकखया पंचग्गितावया पंचगव्वासणिया

एवमादिया सव्वे कुव्वया (चू) ।

१०. कुत्तिसतार्थाभिधारणे खलु शब्दः (चू) ।

११. रायादुट्ठे (दे) ।

१२. उ (क) ।

१३. वा पुट्ठो (दे) ।

१४. लट्ठो (क) ।

१५. अवधि (दे) ।

१६. य (दे, पा) ।

१७. य (भ) ।

१८. सत् शोभनो वादी सट्ठादी आत्मास्तित्ववादीत्यर्थः (चू) ।

१९. विगयतुल्लभावे वेतुलिया—नास्तित्ववादिन इत्यर्थः (चू) ।

२०. °भावितो (दे) ।

३४७७. द्रव्य आदि चारों पदों में ग्लान्य^१ क्षेत्राभाव^२, अपरिणामक^३ और अन्यार्थ या दुर्लभ^४—ये प्रत्येक के अपवाद पद हैं।

३४७८. जो भिक्षु कुतीर्थ, कुशास्त्र, कुधर्म, कुव्रत, कुदान आदि तथा उन्मार्ग की प्रशंसा करता है^५, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४७९. १. कुतीर्थ—गंगा, प्रयाग आदि। २. कुशास्त्र—शाक्यमत (बौद्ध), सांख्य आदि। ३. कुधर्म—मल्लगणधर्म, सारस्वतगणधर्म, कूपधर्म आदि। ४. कुव्रत—गौव्रत, दिशाप्रोक्षण (एक प्रकार का वानप्रस्थ), पंचाग्निताप आदि। ५. कुदान—भूमिदान, गौदान, अश्वदान आदि। ६. उन्मार्ग—तीन सौ तरेसठ कुप्रावचनिक। इनकी प्रशंसा करना (मुखवर्ण) निषिद्ध है।

३४८०. अपवाद में १. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय और ५. ग्लान्य^६—इन कारणों से यतनापूर्वक^७ कुतीर्थ, उन्मार्ग आदि की प्रशंसा करना कल्पता है।

३४८१. अशिव आदि कारणों में मुनि चरक आदि से भावित क्षेत्रों में रहता है, वहाँ वे बहुत से लोगों के मध्य अपने मत का प्ररूपण कर रहे हों तो मुनि उनकी उपेक्षा करे, विरोध न करे। उनसे भावित लोग पूछे-क्या चरक आदि धर्मों में व्रत या नियम है? तो वह उत्तर दे-हाँ, ये भी ब्रह्मव्रत का पालन करते हैं आदि। आगाढ़ ग्लान्य आदि की स्थिति में कहे—दयालुता, सेवा आदि की दृष्टि से यह धर्म भी अच्छा है।

३४८२. अन्यतीर्थिकों की जैनधर्म के साथ जो-जो सदृशधर्मता है, उन सर्व अहिंसा, सत्यव्रत, अचौर्य आदि धर्मों से उनकी प्रशंसा करे। आत्मवाद आदि के विषय में भी जो सदृशधर्मता हो, उसी का प्रज्ञापन करे। यथा ये भी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं—द्रव्यतः आत्मा को नित्य मानते हैं, सुख और दुःख का कर्ता मानते हैं, जैन दर्शन भी ऐसा ही मानता है।

३४८३. जो-जो सद्विद्वादी (आत्मास्तित्ववादी) दार्शनिक हैं, पूर्वोक्त विधि से उनके सदृश धर्मों की प्रशंसा करे तथा जो वैतुलिक (नास्तित्ववादी) दर्शन हैं, उनसे कहे—हमारे दर्शन में भी सभी पदार्थ परस्पर भाव की दृष्टि से नहीं हैं—जैसे नित्यत्व में अनित्यत्व नहीं है, अनात्मा में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, कर्तृत्व में अकर्तृत्व का अभाव है, अमूर्त पदार्थों में मूर्तत्व धर्म का अभाव है, इस प्रकार परस्पराभाव की दृष्टि से हम भी (आपके समान) नास्तित्ववादी हैं।

१. ग्लान्य—ग्लान के लिए लाए गए सचित्त फल आदि को अचित्त बताना या अचित्त प्रलम्ब आदि अपथ्य होने के कारण सचित्त बताना।

२. क्षेत्राभाव—मासकल्प या वर्षावास योग्य अन्य क्षेत्र का अभाव होने पर अपरिणामक साधुओं के समक्ष अयोध्या से आने पर साकेत बताना आदि ताकि उन्हें यह न लगे कि गीतार्थ मुनि नैतिक वास कर रहे हैं।

३. अपरिणामक—विशेष आपवादिक कारण से अपरिणामक मुनियों के समक्ष सूर्योदय होने पर भी सूर्योदय नहीं हुआ कहना आदि।

४. अन्यार्थ या दुर्लभ—ग्लान आदि के लिए प्रायोग्य दुर्लभ हो तो स्वयं या अन्य को ग्लान या तपस्वी बताकर अमुक द्रव्य उसके लिए ले जा रहा हूँ इत्यादि विपर्यस्त कथन

करना या वेशग्रहण करना आदि।

५. (क) मुँह का अर्थ है प्रवेश। तीन सौ तरेसठ मत-मतान्तरों को भावमुख कहा गया है, उनका (गुण ग्रहण करना-भावमुहस्स वण्णं अणतीति वन्नं आदत्ते गृह्णाति, मुखवर्ण कहलाता है। (ख) पाइय।

६. स्वपक्षभावित क्षेत्रों में अशिव आदि कारण उपस्थित होने पर स्वपक्ष-प्रान्त अन्यतीर्थिक भावित क्षेत्रों में जाना पड़े, परतीर्थिक वेश बनाना पड़े, द्विष्ट राजा को प्रशान्त करने हेतु अथवा बोधिक (म्लेच्छ) आदि के भय से परतीर्थिक-भक्त राजा की शरण स्वीकार करने हेतु आदि स्थितियों में संस्तरण आदि के लिए कुतीर्थ आदि की प्रशंसा अपवाद मार्ग है।

७. यतना के लिए द्रष्टव्य गा. ३४८१-३४८३।

३४८४. नामं^१ ठवणा दविए^२, खेत्ते काले य भाववेरे य ।
तं महिस-वसभ-वग्घा, सीहा णरगेषु सिञ्जणया^३ ॥३३५९॥ नि ७०० ॥
३४८५. वेरं जत्थ उ रज्जे, वेरं जातं व 'रज्जति व वेरं'^४ ।
जं च विरज्जति रज्जं, रज्जेणं विगतारायं वा ॥३३६०॥ नि ७०१ ॥
३४८६. सज्जग्गहणातीतं^५, अणागतं चेव वारितं वेरं ।
पण्णवग-पडुच्च-गतं, होज्जा ऽऽगमणं च उभयं वा^६ ॥३३६१॥ नि ७०२ ॥
३४८७. 'अणराया जुगराया'^७, तत्तो वेरज्जे य दोरज्जे^८ ।
एत्तो एक्केक्कम्मि उ, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥३३६२॥ नि ७०३ ॥
३४८८. अणरायं^९ निवमरणे, जुवराया^{१०} जाव दोच्च ऽणभिसित्तो ।
वेरज्जं^{११} तु परबलं, दाइयकलहो तु वेरज्जं^{१२} ॥३३६३॥
३४८९. अविरुद्धा वाणियगा, गमणागमणं च होति अविरुद्धं ।
निस्संचारनिरुद्धे^{१३}, न कप्पती बंधणादीया ॥३३६४॥
३४९०. अत्ताणं^{१४} चोर मेया^{१५}, वग्गुर^{१६} सोणियं^{१७} पलाइणो^{१८} पहिगा^{१९} ।
पडिचरगा^{२०} य 'अहिमरादिय पंथे दिट्ठदिट्ठादी'^{२१} ॥३३६५॥ नि ७०४ ॥

१. सूत्र ७१(नव ११/७२) ।

२. विरोधिदव्वाण वा जोगो दव्ववेरं, जहा अंबखीराणं (चू) ।

३. बृभा २७६२ ।

४. वेररज्जं वा (बृभा २७६०) ।

५. °हणे तीतं (दे, भ) ।

६. बृभा २७६१ ।

७. °राए जुवराए (बृभा २७६३) ।

८. वेरं (भ, बृभा) ।

९. मते रायाणे जाव मूलराया जुवराया य एते दो वि अणभिसित्ता ताव अणरायं भवति (चू) ।

१०. पुव्वराइणो जो जुवराया अभिसित्तो तेण अधिद्वियं रज्जं जाव सो दोच्चं जुवरायाणं णाभिसिंचति ताव तं जुवरज्जं भण्णति (चू) ।

११. परचक्केणागतं जं रज्जं विल्लोलितं, तं वेरज्जं (चू) ।

१२. बृभा २७६४ ।

१३. °रविरुद्धे (बृभा २७६५) ।

१४. अत्ताण ति अत्राणा नाम—स्कन्धन्यस्तलगुडद्वितीया ये देशान्तरं गच्छंति कार्पटिका वा (बृभाटी) ।

१५. चावग्गहितग्गहत्थादिया रातो य जीवघायणपरा मेता (चू) ।

१६. पासियवज्जप्पयोगेण मयघातया वग्गुरा (चू) ।

१७. शौनिकाः शुनिकाद्वितीया लुब्धकाः (बृभा २७६६ टी) ।

१८. जे भडादिया रण्णो अणापुच्छते सपुत्तदारधणादिया अन्नरज्जं गंतुकामा, ते पलादिणो (चू) ।

१९. णाणाविधगाम-णगर-देसाहिंडगा पहपडिवण्णगा पहिया (चू) ।

२०. गाम-णगर सेणादियाण भंडिया पडिचरगा (चू), प्रतिचरका नाम ये परराष्ट्रस्वरूपं प्रच्छन्नचारितया गवेषयन्ति (बृभाटी) ।

२१. सहाया गमणागमणम्मि नायव्वा (बृभा) ।

३४८४. वैर शब्द के छह निक्षेप प्रज्ञप्त हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल^१ और ६. भाव। भाव वैर में ग्राममहत्तर एवं चोर सेनापति का दृष्टान्त प्रज्ञप्त है, जो गायों के निमित्त से वैर का बन्धन करते हुए नरक, महिषवृषभ (महिष यूथाधिपति), नरक, व्याघ्र, पुनः नरक, सिंह, पुनः नरक और वहाँ से मनुष्य में उत्पन्न होते हैं और अन्ततः निर्वैर की साधना कर सिद्धि को प्राप्त करते हैं।^२

३४८५. जहाँ पूर्वपुरुषों (पूर्वजों) से परम्परागत वैर चल रहा हो, जहाँ वर्तमान में राजाओं में वैर का भाव उत्पन्न हो गया है, जो अन्य राजाओं के राज्य में ग्राम-दाह आदि से वैर उत्पन्न करने में रुचि रखते हैं, वह वैराज्य है। जिसमें प्रजाजन राजा से विरक्त हो गए हों, जिसका राजा प्रवास में हो या कालधर्म को प्राप्त हो गया हो, वह राज्य राजाविहीन होने से वैराज्य कहलाता है।

३४८६. सद्यः शब्द से वर्तमान काल का ग्रहण होता है। उससे अतीत वैर और अनागत वैर वाले राज्य में गमनागमन का भी प्रतिषेध ज्ञातव्य है। गमन का अर्थ प्रज्ञापक-सापेक्ष है। अर्थात् जहाँ प्रज्ञापक है, उस राज्य से जाना—गमन, अन्य राज्य से वहाँ आना—आगमन एवं जाकर आना—गमनागमन कहलाता है।

३४८७. अराजक, यौवराज्य, वैराज्य और द्वैराज्य—जो भिक्षु इनमें से प्रत्येक (किसी) में सद्य गमनागमन करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४८८. अराजक—जिसका मूल राजा कालधर्म को प्राप्त हो गया हो, अब किसी को राजा और युवराज रूप में अभिषिक्त नहीं किया गया हो। यौवराज्य—राजा के मरने और युवराज के राज्याभिषेक हो जाने पर भी जब तक दूसरे युवराज की नियुक्ति न हुई हो। वैराज्य—जहाँ शत्रु सेना ने आक्रमण कर लूट लिया हो। द्वैराज्य—जहाँ राज्य के हिस्सेदारों में ससैन्य कलह शुरू हो जाए।

३४८९. जहाँ पर व्यापारीवर्ग का गमनागमन निषिद्ध न हो तथा शेष जनपदवासी लोगों का गमनागमन भी विरुद्ध न हो। वहाँ साधु को भी गमनागमन करना कल्पता है। किन्तु वह विरुद्धराज्य, जहाँ व्यापारीवर्ग एवं अन्य जानपदों का निस्संचार निरोध—गमनागमन का सर्वथा प्रतिषेध हो, वहाँ बन्धन, गौल्मिक पुरुषों के द्वारा ग्रहण, प्रवचनोपघात आदि दोष होते हैं, अतः वहाँ साधु का गमनागमन निषिद्ध है।

३४९०. वैराज्य में जाने वाला भिक्षु इन आठ में से किसी के साथ मार्ग या उन्मार्ग से गौल्मिक आदि के देखते हुए या उनसे छिपकर (अदृष्ट) जाता है—१. अत्राण (कार्पटिक आदि) २. चौर ३. चाण्डाल ४. पारधि (मृगजाल से जीविका कमाने वाले) और शौनिकिक (कुत्ते से शिकार करने वाले) ५. पलायनकारी (राजा आदि से अननुज्ञात परिवार सहित गाँव छोड़ने वाले) ६. पथिक ७. जासूस और ८. अहिमरक (धन आदि के लोभ से हिंसा करने वाले)।

१. द्रव्यवैर यावत् कालवैर-विरोधी द्रव्यों के संयोग अथवा द्रव्यनिमित्तक वैर को द्रव्य वैर कहते हैं। क्षेत्रनिमित्तक वैर, जिस क्षेत्र में वैर उत्पन्न हो या वैर का वर्णन किया जाए, वह क्षेत्र वैर तथा इसी विधि से कालनिमित्तक आदि को काल वैर जानना चाहिए।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ५९।

३४९१. अत्ताणमादिगोसू, दिय पह दिट्ठे य अट्टिया^१ भयणा ।
एत्तो एगत्तेरणं, गमणागमणम्मि आणादी^२ ॥३३६६ ॥ नि ७०५ ॥
३४९२. अत्ताणमादिगोसुं, दिय पह 'दिट्ठे य'^३ चउलहू होंति ।
रातो य पहमदिट्ठे, चउगुरुगाऽतिक्कमे मूलं ॥३३६७ ॥
३४९३. अत्ताणमादियाणं, अट्टण्हऽट्टहि पदेहि भइयाणं ।
चउसट्टीय पदाणं, विराधणा होतिमा दुविधा^४ ॥३३६८ ॥
३४९४. छक्काय-गहण-कड्डण, पंथं^५ भेत्तूण चेव अतिगमणं ।
सुण्णम्मि य अतिगमणे, विराधणा दोण्ह वग्गाणं^६ ॥३३६९ ॥
३४९५. छक्कायचउसु लहुगा, परित्त-लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टण-परितावण, लहु-गुरुगऽतिवायणे मूलं^७ ॥३३७० ॥
३४९६. संजत-गिहि-तदुभयभद्दगा य तह तदुभयस्स वि य पंता ।
चतुभंगो गोम्मिएसु^८, संजतभद्दा विसज्जेति ॥३३७१ ॥
३४९७. संजतभद्दगमुक्के, बितिया^९ घेतुं गिही वि^{१०} गेण्हंति ।
जे पुण संजतपंता, गेण्हंति जई^{११} गिही मोत्तुं ॥३३७२ ॥
३४९८. पढम-ततियमुक्काणं, रज्जे दिट्ठाण दोण्ह वि विणासो ।
पररज्जपवेसेवं, जतो य^{१२} णेंती तहिं चेंवं ॥३३७३ ॥

१. अट्टहिया (भ) ।

२. बृभा २७६७ ।

३. दिट्ठेसु (बृभा २७६८) ।

४. बृभा २७६९ ।

५. पंथे (भ) ।

६. बृभा २७७० ।

७. बृभा २७७१ ।

८. गोमिं (भ), एसू (दे), एहिं (बृभा २७७२) ।

९. बीया (बृभा २७७३) ।

१०. व (दे, मु) ।

११. जति (मु), × (दे) ।

१२. वि (बृभा २७७४), न (मु, भ) ।

३४९१. दिन-रात, पथ-उत्पथ तथा दृष्ट और अदृष्ट के सांयोगिक भंगों की दृष्टि से अत्राण आदि आठों व्यक्तियों के प्रत्येक के आठ-आठ भंग हो जाते हैं^१, जैसे—१. कोई भिक्षु अत्राण (कार्पटिक) के साथ दिन में, पथ से, गौल्मिक आदि राजपुरुषों के देखते हुए जाता है। २. कोई भिक्षु पूर्वोक्त प्रकार से उनके न देखते हुए (छिपकर) जाता है। इन (चौसठ) भंगों में से किसी भी विकल्प से जो भिक्षु वैराज्य में गमन, आगमन या उभय करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३४९२. अत्राण आदि के साथ दिन में, पथ से, दृष्ट अवस्था में जाने-आने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है^२ तथा रात्रि में उत्पथ (अपथ) से अदृष्ट अवस्था में जाने-आने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त और राज्य से प्रधावित होकर अतिक्रमण करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३४९३. अत्राण, चौर आदि आठ पदों के दिवसतः, पथ से आदि के संयोगजन्य आठ विकल्पों से गुणन करने पर कुल चौसठ भंग हो जाते हैं। इन चौसठ भंगों से गमनागमन करने वाले भिक्षु के यह द्विविध विराधना (संयमविराधना और आत्मविराधना) होती है।

३४९४. संयमविराधना—कार्पटिक, चौर आदि के साथ अशस्त्रोपहत पृथ्वी या ओस आदि पर चलने, नदी संस्तरण, वनद्व, प्रलम्ब आसेवन आदि के कारण षट्काय-विराधना की संभावना रहती है। आत्मविराधना—मार्गभेद कर उन्मार्ग से चौर आदि के साथ गमनागमन करने पर भिक्षु को स्थानीय पुरुष पकड़ लेते हैं, पुलिस आदि उन्हें कर्षित करते (खींचते) हैं। यदि स्थानपालकों, गौल्मिकों आदि के सोने पर गमनागमन करें, तब भी दोनों वर्गों (संयत और गृहस्थ वर्ग) की विराधना संभव है।

३४९५. छह जीवनिकायों में चार—पृथिवी, अप, तेजस् और वायुकाय के संघट्टन में लघुमास, परितापन में गुरुमास और अपद्रावण में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रत्येक वनस्पतिकाय के विषय में भी यही क्रम है। साधारण वनस्पति काय के संघट्टन आदि में क्रमशः गुरुमास, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पञ्चेन्द्रिय के संघट्टन आदि में क्रमशः षड्गुरु, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^३

३४९६. स्थानीय गौल्मिक के चार विकल्प हैं—१. संयतभद्र २. गृहीभद्र ३. उभयभद्र और ४. उभयप्रान्त (अनुभय भद्र)। इनमें से जो संयतभद्र (प्रथम और तृतीय विकल्प) होते हैं। वे साधुओं को विसर्जित कर देते हैं—बन्दी नहीं बनाते।

३४९७. पहली पुलिस चौकी पर गौल्मिक संयतभद्र थे। उन्होंने साधुओं को छोड़ दिया। लेकिन दूसरी (अगली) पुलिस चौकी के स्थानपालक संयतप्रान्त गृहीभद्र हैं तो वे साधुओं को पकड़ लेते हैं और गृहस्थों को छोड़ देते हैं। अथवा किसने इन साधुओं को छोड़ दिया—ऐसा सोचते हुए उन पहली चौकी के स्थानपालकों को भी पकड़ लेते हैं।

३४९८. पहले और तीसरे विकल्प वाले स्थानपालक संयतभद्र होते हैं, अतः साधुओं को छोड़ देते हैं और साधु चलते हुए परराज्य की सीमा में प्रविष्ट हो जाते हैं। परराज्य की सीमा के स्थानपालक उन्हें देख लेते हैं। वे पूछते हैं—आप आए कैसे? वे कहते हैं—हम उत्पथ से आ गए तो उत्पथगामी हैं—अतः दोषी हैं। यदि पथ से आए और स्थानपालकों ने छोड़ दिया तो साधुओं और स्थानपालकों—दोनों का विनाश संभव है। इस प्रकार दूसरे राज्य में भी तथा जहाँ से गमन करते हैं, उस राज्य में भी ग्रहण, कर्षण आदि दोष संभव हैं।

१. दिन के शेष (तीसरा व चौथा) भंग—३. दिवसतः, उत्पथ से, दृष्ट। ४. दिवसतः, उत्पथ से, अदृष्ट। इसी प्रकार रात्रि सम्बन्धी भी—रात्रि में, पथ से, दृष्ट आदि चार भंग कर लेने चाहिए।

२. चूर्णिकार के मतानुसार प्रथम चारों दिवस सम्बन्धी विकल्पों में तप और काल से विशिष्ट चतुर्लघु तथा अन्तिम चारों रात्रि सम्बन्धी विकल्पों में तप और काल से विशिष्ट चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के संघट्टन, परितापन एवं अपद्रावण विषयक प्रायश्चित्त का क्रम चतुर्लघु और षड्लघु से प्रारम्भ होता है—ये एक बार प्रतिसेवना के प्रायश्चित्त हैं।

३४९९. रक्खिज्जति वा पंथो, जइ तं भेत्तूण जणवदमतिंति ।
गाढतरं अवराधो, सुत्ते सुण्णे व दोण्हं पिं ॥ ३३७४ ॥
३५००. गेण्हण गुरुगा छम्मास कड्डुणे छेदो होति ववहारे ।
पच्छाकडम्मिं^१ मूलं, उड्डुह^२-विरुंगणे^३ णवमं ॥ ३३७५ ॥
३५०१. उद्दावण णिव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची ।
अणवट्टप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होति^४ ॥ ३३७६ ॥
३५०२. एमेव सेसगेसु^५ वि, चोरादीहि समगं तु वच्चंते ।
सविसेसतरा दोसा, पत्थारो^६ जाव भंसणता ॥ ३३७७ ॥
३५०३. तेणट्टम्मि पसज्जण, णिस्संकित मूलमभिमरे^७ चरिमं ।
जइ ताव होंति भद्दग, दोसा ते तं चिमं अण्णं^८ ॥ ३३७८ ॥
३५०४. आयरिय-उवज्जाए^९, कुल-गण-संघो य चेइयाइं च ।
सव्वे वि परिच्चत्ता, वेरज्जं संकमंतेणं ॥ ३३७९ ॥
३५०५. किं आगतऽत्थ ते बेंति, संति णे एत्थ आयरियमादी ।
उग्घाएमो रुक्खे, मा एतु फलत्थिणो सउणा^{१०} ॥ ३३८० ॥
३५०६. एयारिसे विहारो, न कप्पती समणसुविहितानं तु ।
दो सीमेऽतिक्कमती, जिणसीमं^{११} रायसीमं च^{१२} ॥ ३३८१ ॥
३५०७. बंधं^{१३} वधं^{१४} च घोरं^{१५}, आवज्जति एरिसे विहरमाणो ।
तम्हा तु विवज्जेज्जा, वेरज्ज-विरुद्ध-संकमणं^{१६} ॥ ३३८२ ॥

१. बृभा २७७५ ।

२. °कडे य (बृभा २७७६) ।

३. उड्डुहण (बृभा) ।

४. विभंगं (भ) ।

५. बृभा २७७७ ।

६. सेसएहि (बृभा २७७८) ।

७. पत्थारो सविस्तरमित्यर्थः (चू) ।

८. मूल अहिं (क, बृभा २७७९) ।

९. वण्णं (दे), चऽण्णं (बृभा) ।

१०. °ज्जाया (दे, बृभा २७८०) ।

११. × (दे, बृभा २७८१) ।

१२. जणं (मु, दे), जिनसीमा नाम न कल्पते वैराज्यसंक्रमणं कर्तुं इति लक्षणा भगवतामाज्ञा (बृभाटीटि) ।

१३. बृभा २७८२ ।

१४. णिगडादितो बंधो (चू) ।

१५. कसघातादितो वहो (चू) ।

१६. घोरमिति भयानको अतीव वधबंधौ इत्यर्थः (चू) ।

१७. बृभा २७८३ ।

३४९९. जहां चोर, जासूस आदि के भय से मार्ग की सुरक्षा की व्यवस्था होती है या राजा अथवा जनपद की कोई मर्यादा बनाई हुई होती है, वहाँ यदि भिक्षु उसका भंग कर कार्पटिक आदि के साथ अन्य राज्य में प्रविष्ट होता है तो उसका अपराध प्रगाढ़ हो जाता है। यदि वह (साधु) स्थानपालकों के सोने या न होने पर राज्यसीमा का अतिक्रमण करता है तो दोनों पक्षों (साधु और स्थानपालक) का दोष होता है।

३५००. परराज्य में प्रवेश करता हुआ मुनि यदि स्थानपालकों द्वारा पकड़ा जाता है तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वे उसे हाथ (बाहु) पकड़ कर खींचते हैं तो षड्लघु, कर्षण-विकर्षण किए जाने पर षड्गुरु और न्यायालय तक बात पहुँच जाए तो छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। न्याय में मुकद्दमा हार जाने पर^१ मूल तथा जनापवाद एवं कान, नाक आदि अवयवच्छेद किए जाने पर नवम (अनवस्थाप्य) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५०१. यदि प्रद्विष्ट राजा एक या अनेक साधुओं को उपद्रुत करे या उन्हें देश-निकाला दे (निर्विषय करे) तो पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त दो पदों—उड्डाह एवं अंगच्छेद में अनवस्थाप्य एवं अग्रिम दो पदों—अपद्रावण और निर्विषय में पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५०२. यदि वह चोर, जासूस आदि के साथ व्रजन करता हुआ पकड़ा जाए तो पूर्वोक्त दोष प्रस्तार सहित (विस्तृततर) हो जाते हैं। शेष पदों के विषय में भी यही ज्ञातव्य है। प्रस्तार के रूप में उस एक साधु के स्थान पर अन्य तद्गच्छीय अथवा अन्यगच्छीय साधुओं गण, संघ आदि के जीवन या चरित्रभ्रंश का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

३५०३. जो साधु स्तेन आदि के साथ गमनागमन करता है, उसके कृत, कारित आदि की दृष्टि से स्तेनार्थता का प्रसंग आता है। यदि साधु के प्रति 'स्तैन्य करता है'—यह शंका पैदा हो तो चतुर्गुरु तथा यह निश्शंक हो जाए कि 'उसने चोरी की' तो मूल प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार अहिमरत्व की शंका होने पर मूल और निश्चय हो जाने पर पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि स्वराज्य के स्थानपालक भद्र हो और साधु को छोड़ दे, तब भी परराज्य में प्रविष्ट होने पर इन दोषों की संभावना रहती है तथा अन्य दोष भी आते हैं।

३५०४. जो भिक्षु वैराज्य में संक्रमण—गमनागमन करता है, उससे आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, संघ और चैत्य—ये सब परित्यक्त होते हैं (उपेक्षित होते हैं)।

३५०५. वैराज्यगामी साधुओं को वहाँ के राजपुरुष पूछते हैं—आप यहाँ क्यों आए? वे कहते हैं—यहाँ हमारे आचार्य आदि हैं। राजपुरुष—हम वृक्ष को ही उखाड़ देते हैं ताकि फलेच्छु पक्षी यहाँ न आएँ। इस दृष्टान्त वचन के साथ वे आचार्य आदि के व्यापादन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

३५०६. वैराज्य में गमनागमन करने वाला दो सीमाओं—जनसीमा और राज्यसीमा (मर्यादा) का अतिक्रमण करता है अतः सुविहित श्रमणों को इस प्रकार का विहार करना नहीं कल्पता।

३५०७. जो भिक्षु राज्यसीमा का अतिक्रमण करता है, वह बन्धन तथा चाबुक आदि के भयंकर प्रहारों (वध) को प्राप्त करता है, अतः भिक्षु वैराज्य एवं विरुद्ध राज्य में संक्रमण का विवर्जन करे।

१. निभा ३ चू. पृ. २००—पच्छाकडे त्ति णिज्जितेसु ववहारे मूलं।

३५०८. दंसणणाणे माता, भक्तविसोधी गिलाणमायरिए।
अधिकरण-वाद-रायकुलसंगते कप्पते^१ गंतुं ॥३३८३॥ नि ७०६ ॥
३५०९. सुत्तत्थतदुभयविसारदम्मि पडिवण्ण उत्तिमट्टम्मि।
एतारिसम्मि कप्पति, वेरज्जविरुद्ध-संकमणं^२ ॥३३८४॥
३५१०. आपुच्छित आरक्खिय, सेट्ठी सेणावती^३ अमच्चरायाणं^४।
अभिगमणे^५ निग्गमणे, एस विधी होति णातव्वो ॥३३८५॥
३५११. आरक्खितो विसज्जति, अहव भणेज्जा तु पुच्छह तु सेट्ठिं^६।
जाव णिवे ता णेयं, मुद्दा पुरिसो व दूतेणं^७ ॥३३८६॥
३५१२. जत्थ वि य गंतुकामा, तत्थ वि कारेंति तेसि णातं^८ तु।
'आरक्खिगा वि'^९ ते विय, तेणेव कमेण पुच्छंति ॥३३८७॥
३५१३. राईण दोण्ह भंडण, आयरिए आसियावणं होति।
कतकरणे करणं वा, णिवेद जतणाएँ संकमणं^{१०} ॥३३८८॥
३५१४. अब्भरहितस्स हरणे^{११}, उज्जाणादिट्ठियस्स^{१२} गुरुणो उ।
उव्वट्टणासमत्थे, दूरगते वावि सवि^{१३} बोलं ॥३३८९॥
३५१५. पेसवितम्मि अदेत्ते, रण्णा जइ ते^{१४} विसज्जिता सीसा।
गुरुणो णिवेदितम्मी, हारेंतगराइणो पुव्वं^{१५} ॥३३९०॥
३५१६. दियरातो^{१६} भोयणस्सा, अवण्णवण्णं च जो वदे भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे^{१७} ॥३३९१॥ नि ७०७ ॥

१. कप्पई (बृभा २७८४)।
२. बृभा २७८५।
३. °वति (भ)।
४. °राईणं (बृभा २७८६)।
५. अइगं (बृभा)।
६. सेट्ठी (दे)।
७. बृभा २७८७।
८. णाणं (दे)।
९. °क्खियाइ (बृभा २७८८)।

१०. बृभा २७८९।
११. हरणा (दे)।
१२. °णाईठि° (बृभा २७९०)।
१३. सवि त्ति सर्वेऽपि (बृभाटी)।
१४. वि उ (बृभा २७९१)।
१५. पुव्वि (बृभा)।
१६. सूत्र ७२, ७३ (नव ११/७३, ७४)
१७. ३५१८, ३५१९—ये दोनों गाथाएं भ प्रति में नहीं हैं।

३५०८. भिक्षु को इन कारणों से वैराज्य में संक्रमण करना कल्पता है—१. दर्शन २. ज्ञान^१ ३. माता ४. भक्तप्रत्याख्यान ५. विशोधि ६. ग्लान ७. आचार्य ८. अधिकरण ९. वाद १०. राजा और ११. कुलसंगत।^२

३५०९. कोई आचार्य या भिक्षु दर्शनप्रभावक ग्रन्थों या विशिष्ट श्रुत के सूत्र, अर्थ या तदुभय में विशारद है, उसने अनशन स्वीकार कर लिया या करने वाला है^३ तो उस विशिष्ट श्रुत आदि को ग्रहण करने के लिए मुनि को वैराज्य या विरुद्ध राज्य में संक्रमण करना कल्पता है, ताकि वह विशिष्ट सूत्रार्थ व्यवच्छिन्न न हो।

३५१०. वैराज्य या विरुद्ध राज्य में प्रवेश या निष्क्रमण करते समय भिक्षु आरक्षक, श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य अथवा राजा से पूछकर अनुज्ञा प्राप्त करे—यह विधि ज्ञातव्य है।

३५११. आरक्षक पुरुष से भिक्षु प्रवेश या निष्क्रमण की आज्ञा ले और वह दे दे तो ठीक। यदि कहे कि आप श्रेष्ठी से पूछें, मैं नहीं जानता। तो मुनि श्रेष्ठी से पूछे। इसी क्रम से वह जब तक पूर्ण स्वीकृति न मिले, तब तक पूछे यावत् राजा से पूछ ले—यह विधि है। अमात्य, राजा आदि से आज्ञा मिलने पर वह मुद्रापुरुष (दण्डधर आदि) या दूत को साथ लेकर अपने राज्य से निष्क्रमण करे।

३५१२. जहाँ वे जाना चाहते हैं, वहाँ भी संदेशवाहक के द्वारा यह ज्ञात करवा दे कि हम वहाँ आ रहे हैं, ताकि तत्रस्थ व्यक्ति आरक्षक, श्रेष्ठी यावत् राजा आदि से क्रमशः उसी प्रकार पूछकर आज्ञा प्राप्त कर ले।

३५१३. दो राजाओं में एक दूसरे के साथ कलह चल रहा है। विरोधी राजा अपने किसी वीर पुरुष से उनका अपहरण करवा लेता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई कृतकरण^४ मुनि युद्ध कर आचार्य के अपहरण को रोक देता है, अन्यथा अपहरण के पश्चात् आचार्य को निवेदन कर यतनापूर्वक मुनिगण (आचार्य की वैयावृत्य आदि के लिए) विरुद्ध राज्य में संक्रमण करते हैं।

३५१४, ३५१५. विरोधी राजा के अभ्यर्हित प्रिय आचार्य उसके राज्य में उद्यान आदि में स्थित हैं।^५ आचार्य का अपहरण होता देखे तो उनके साधुओं का कर्तव्य यह है—कोई कृतकरण मुनि हो या मोहनी, स्तम्भनी आदि विद्याओं का ज्ञाता हो तो उसका सामना करे। यदि उन्हें लौटा लाने में समर्थ न हो तो थोड़ी देर वे चुप रहें। आचार्य को कुछ दूर ले जाने के बाद शोर मचाए—दौड़ो-दौड़ो, आचार्य का हरण हो गया। साधुओं के कहने पर राजा उस राजा के पास दूत भेजे कि हमारे आचार्य को भेजें। यदि वह आचार्य को विसर्जित करने के लिए तैयार न हो तो वे (शिष्य) राजा से विरुद्धराज्य में जाने की अनुमति लेकर आचार्य को निवेदन करें कि हम आपके पास आ रहे हैं। आचार्य हरण करवाने वाले राजा से सारी बात कहकर अनुज्ञा प्राप्त कर ले, फिर पूर्वोक्त विधि से शिष्य विरुद्धराज्य में संक्रमण करे।

३५१६. जो भिक्षु दैवसिक भोजन का अवर्णवाद और रात्रिभोजन का वर्णवाद करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त करता है।

१. दर्शन और ज्ञान के लिए द्रष्टव्य गा. ३५०९।

२. किसी के माता, पिता आदि निष्क्रमण के इच्छुक हों, वे उस राज्य में हों। कोई साधु भक्तप्रत्याख्यान का इच्छुक हो, उसे आलोचना देने, उसकी सेवा करने या ग्लान भिक्षु की सेवा करने या औषध हेतु वहाँ जाना अपेक्षित हो या आचार्य ने वहाँ अनशन किया हो, किसी साधु का गृहस्थ के साथ कलह हो जाए और उस गृहस्थ को उपशान्त करने हेतु, किसी लब्धमान् साधु को वहाँ जाना पड़े, परप्रवादी का निग्रह करने, प्रद्विष्ट राजा को उपशान्त करने तथा कुलसंगत—कुल गण आदि के विशेष प्रयोजन के

लिए विवक्ष्यमाण विधि से वैराज्य में संक्रमण करना अनुज्ञात है।

३. वह विशिष्ट श्रुतधर मुनि / आचार्य यदि विरुद्धराज्य में हो या जहाँ हो, वहाँ पहुँचने के लिए विरुद्धराज्य से होकर जाना पड़े, तब यह विधि है।

४. निभा ३ चू. पृ. २०३—धणुवेदादिएसु सत्थेसु जेण सिकखा-करणं कयं गिहिभावट्टितेणं सो साहू कयकरणो भण्णति।

५. दूसरा राजा अपनी सभा में कहता है—कौन व्यक्ति उनको अपने राज्य में ला सकता है। इसे सुनकर कोई वीरपुरुष उनके अपहरण हेतु उद्यत होता है।

३५१७. अबलकरं चक्खुहत्तं, अप्पुट्टिकरं च होति दियभत्तं।
विवरीतं राईए, दो वि वदंतस्स चतुगुरुगा ॥३३९२ ॥
३५१८. दियभत्तस्स अवण्णं, जे तु वदे राइभोयणे वण्णं।
चतुगुरु आणादीया, कह ति अवण्णं व वण्णं वा ॥३३९३ ॥
३५१९. वायातवेहि सूसति, ओयो^१ हीरति य दिट्ठिदिट्ठस्स^२।
मच्छियमादिणिवातो, बलहाणी चेव चंकमणे ॥३३९४ ॥
३५२०. आउं बलं च वड्ढति, पीणेति य इंदियाइ णिसिभत्तं।
णेव य जिज्जति देहो, गुणदोसविवज्जओ चेव ॥३३९५ ॥
३५२१. बितियपदमणप्पज्जे, वदेज्ज अविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, कारणजाते वदेज्जा तु ॥३३९६ ॥
३५२२. 'चउविह^३ रातीभोयण, तु पढमम्मि^४ चोलपट्टमतिरेगे।
परियावण्ण-विगिंचण, दर-गुलिया-रुक्ख-सुण्णघरे^५ ॥ ३३९७ ॥ नि ७०८ ॥
३५२३. खमणं मोहतिगिच्छा, पच्छित्तमजीरमाण खमगो वा।
गच्छति सचोलपट्टो, 'पुच्छा ठवणं^६ पढमभंगो ॥३३९८ ॥
३५२४. कारणगहिउव्वरितं^७, आवलियविधीय पुच्छिरुणं^८ गतो।
भोक्खं सुए दरादिसु, ठवेति साभिग्गहऽण्णो^९ वा^{१०} ॥३३९९ ॥

१. ओयो तेयो भण्णति (चू)।

२. °दिट्ठिस्स (भ), दिट्ठिणा दिट्ठं दिट्ठिदिट्ठं (चू)।

३. सूत्र ७४-७७ (नव ११/७५-७८), चउभंगो (मु, दे)।

४. तं पि य चउव्विहं राइभोयणं (बृभा २८४९)।

५. बृहत्कल्प की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा-समासार्थः' का उल्लेख है।

६. पुच्छट्टं (बृभा २८५०)।

७. कारणिगं (दे)।

८. पुच्छियम्मि (दे)।

९. साभिग्रहो नाम यत् किञ्चिदाहारोपकरणादिकं परिष्ठापना-योग्यं भवति, तत् सर्वं मया परिष्ठापयितव्यम् इत्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहः (बृभाटी)।

१०. बृभा २८५१।

३५१७. दिवा भोजन बलकारक नहीं होता, दूसरों के दृष्टिदोष से उपहत हो जाता है तथा पुष्टिकारक नहीं होता, रात्रिभोजन इन तीनों दोषों से मुक्त होता है—ऐसा कहने वाले मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५१८. जो भिक्षु दिवसभक्त का अवर्ण और रात्रिभोजन का वर्ण बोलता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है। प्रश्न है—अवर्णवाद या वर्णवाद कैसे होता है ?

३५१९. दैवसिक भोजन का अवर्णवाद—दिन में भोज्यपदार्थों के पोषक तत्त्व वायु एवं धूप से सूख जाते हैं। परदृष्टि (नजर लगने) से उसका ओजतत्त्व उपहत हो जाता है। दिन में भोजन करते समय मक्खी आदि जीवों के गिरने की, फलतः उल्टी आदि से वल्युलिका व्याधि होने की संभावना रहती है। भोजन करते ही दैवसिक कर्मों में संलग्न होने से चंक्रमण आदि से प्रस्वेद ज्यादा निकलता है, बार-बार अधिक मात्रा में पानी पीना पड़ता है अतः वह भोजन बल—पुष्टि का निमित्त नहीं बनता, प्रत्युत् बलहानि होती है।

३५२०. रात्रिभोजन का वर्णवाद—रात्रिभोजन के बाद व्यक्ति कर्म में व्यापृत नहीं होता। अतः स्वस्थेन्द्रिय व्यक्ति के रात्रिभोजन से शुभपुद्गलों का उपचय होता है, जिससे रसायन सेवन के समान आयुष्य एवं बल में वृद्धि होती है। उससे इन्द्रियां पुष्ट होती हैं। शरीर क्षीण नहीं होता, अतः बुढ़ापा जल्दी नहीं आता। रात्रिभोजन में ये गुण हैं, जबकि दिवसभोजन इनसे रहित होने से दोषयुक्त है।

३५२१. प्रस्तुत सूत्रद्वयी के अपवादपद हैं—१. क्षिप्तचित्त आदि अनात्मवश मुनि दिवसभोजन का अवर्णवाद या रात्रिभोजन का वर्णवाद कर सकता है। २. अगीतार्थ मुनि अज्ञान के कारण आत्मवश होने पर भी उपर्युक्त कथन कर देता है। ३. अशिव, अवम आदि आपवादिक कारणों में गीतार्थ भी गुणवृद्धि के लिए अवर्णवाद या वर्णवाद कर सकता है।

३५२२. रात्रिभोजन विषयक चार विकल्प होते हैं।^१ उनमें प्रथम विकल्प है—दिन में ग्रहण कर (रात्रि में रखकर) दिन में खाना। उसकी संभावना के तीन हेतु हैं—१. चोलपट्ट २. अतिरेक और ३. पर्यापन्न-विवेक। अतिरिक्त गृहीत आहार को गुटिका आदि बनाकर गड़े, वृक्षकोटर या शून्यगृह में स्थापित कर दूसरे दिन खाना प्रथम भंगवर्ती रात्रिभोजन है।

३५२३. कोई मुनि मोहचिकित्सा, अजीर्ण आदि शारीरिक कारणों से उपवासी है। संयोगवश उसी दिन उसके किसी स्वजन के यहाँ जीमनवार का आयोजन है। वह मुनि सोचता है—मैं अन्य मुनियों को आहार दिलवा दूँ, ताकि मेरे स्वजनों को पता चल जाए कि आज मेरे उपवास है। वह पात्र आदि लिए बिना, अकेला वहाँ पहुँचता है। स्वजनों को उसके उपवास का पता चल जाता है तो वे सारा संविभाग उसको बिना कहे ही स्थापित कर देते हैं—उस स्थापित आहार को अगले दिन ग्रहण, भोग करने से प्रथम भंग (दिन में ग्रहण कर, दिन में भोग करना) की उत्पत्ति होती है।

३५२४. अतिरेक और पर्यापन्न-विवेक—कारणवश अतिरिक्त प्रमाण में आहार आ जाए, यथा—सहसा अधिक उपलब्ध हो जाए या अनेक संघाटक गुरु, ग्लान आदि के लिए प्रायोग्य द्रव्य लेकर आ जाए। उपर्युक्त मात्रा में आहार लाया गया, लेकिन उपवास आदि की आवलिका के कारण अनेक मुनि उपवासी हो जाँएँ और वह आहार बच जाए—ऐसी या इसी प्रकार की अन्य परिस्थिति में सब साधर्मिकों से पूछकर उस बचे हुए आहार को परिष्ठापन करने के लिए गया हुआ मुनि सोचता है—यह उत्कृष्ट द्रव्य अविनाशी है, परिष्ठापन से इसका अपव्यय होगा। अतः मैं इसे किसी गड़े में रख देता हूँ या गोली बनाकर कोटर में या किसी शून्यगृह में रख देता हूँ अथवा कल खा लूँगा, इस अभिग्रहण के साथ या अन्य भावना से किसी वृद्ध के घर उसे स्थापित कर देता है। (वह स्थापित आहार परिवासित होने के कारण रात्रिभोजन है)

१. चार विकल्प—१. दिन में ग्रहण, दिन में भोग, २. दिन में ग्रहण, रात्रि में भोग, ३. रात्रि में ग्रहण, दिन में भोग और ४. रात्रि में ग्रहण, रात्रि में भोग।

३५२५. थेरीय दुण्णिकिखत्ते^१, पाहुणगे साण-गोणखइते वा ।
आरोवण कातव्वा, बंधस्स परूवणा चेव ॥३४००॥
३५२६. 'बिले मूलं'^२ गुरुगा वा, अणंत गुरु सेस लहुग जं चऽण्णं ।
कुल-णामऽट्टिगमाउं, मंसाजिण्णं ण जाऽऽउट्टे^३ ॥३४०१॥
३५२७. संखडिगमणे बितिओ, वीयारगतस्स ततियओ होति ।
सण्णातगमे^४ चरिमो, तस्स इमे वण्णिता भेदा^५ ॥३४०२॥ नि ७०९ ॥
३५२८. गिरिजण्णगमादीसु^६ व, संखडिउक्कोसलंभ बितिओ उ ।
अग्गिट्टि-मंगलट्टी, पंथिग-वतिगाइसू ततिओ ॥३४०३॥
३५२९. छंदिय सइं गताण व, सण्णातगसंखडीय वीसरणं ।
'दिण्णग कते'^७ संभरणं, भोयणकल्लं^८ ण एण्हं ति ॥३४०४॥
३५३०. जोण्हा-मणी-पदीवा, उदित्त जहण्णगाइ ठाणाइं ।
चतुगुरुगा छग्गुरुगा, छेदो मूलं जहण्णम्मि^९ ॥३४०५॥
३५३१. संसत्ताइ न सुज्झति, णणु जोण्हा अवि य दो वि उसिणाइं ।
कालेऽब्भंतरगे^{१०} वा, 'मणिदीवुदित्तए बेति'^{११} ॥३४०६॥

१. उ निक्खित्ते (क) ।

२. मूलं बिले (पा) ।

३. ३५२७, ३५२८—इन दोनों गाथाओं के स्थान पर बृभा (२८५२, २८५३) में निम्न दो गाथाएं मिलती हैं—
बिले मूलं गुरुगा वा, अणंतं गुरुलहुग सेस जं चऽण्णं ।
थेरीय उ निक्खित्ते, पाहुण-साणाइखइए वा ॥

आरोवणा उ तस्सा, बंधस्स परूवणा य कायव्वा ।

कुल नामऽट्टिगमाउं, मंसाऽजिण्णं न जाऽऽउट्टो ॥

४. °यगमण (बृभा २८५४) ।

५. इस गाथा के लिए बृभाटी में 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख है ।

६. गिरियज्जो नाम कोंकणादिदेशेषु सायाहकालभावी प्रकरणविशेषः (बृभा २८५५ टी.) ।

७. दिवसें गते (बृभा २८५६) ।

८. खामणकं (बृभा) ।

९. बृभा २८५८ ।

१०. काले अब्भंतरे (दे) ।

११. °वुद्धीविए बिंति (मु), बृभा २८५७ ।

३५२५. कदाचित् उस वृद्ध ने आहार को सम्यक् प्रकार से नहीं रखा, अतिथि आया और उसने खा लिया अथवा किसी कुत्ते, गाय आदि के द्वारा वह आहार खा लिया गया—इसमें आरोपणा (प्रायश्चित्त) और प्रतिसमय होने वाले कर्मबंध की प्ररूपणा करणीय है।

३५२६. चूहे आदि से युक्त बिल में आहार स्थापित किया जाए तो मूल और सूने बिल में स्थापित करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अनन्तवनस्पतिकाय के कोटर में आहार स्थापित करने पर चतुर्गुरु तथा शेष—प्रत्येक वनस्पति के कोटर, शून्यगृह आदि में गुटिका बनाकर आहार के सम्यक् निक्षेप से चतुर्लघु प्रायश्चित्त एवं तत्प्रत्ययिक आत्मविराधना आदि से प्राप्त अन्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कर्मबन्ध—अतिथि, कुत्ते आदि के द्वारा आहार खा लिए जाने पर कर्म बन्धन विषयक अनेक विकल्प हैं—१. जहाँ तक उस व्यक्ति की सातवीं पीढ़ी रहे। २. जहाँ तक उसकी नाम-परम्परा चले। ३. जहाँ तक उसकी अस्थियां रहें। ४. जहाँ तक वह आयुष्य धारण करे। ५. जहाँ तक उस आहार से होने वाला मांसोपचय रहे। ६. जब तक वह भोजन न पचे-तब तक साधु के कर्म बन्धन होता है। आचार्य कहते हैं—ये सब अनादेश हैं। मुनि के तद्विषयक कर्म बन्धन तब तक होता है, जब तक वह उसका प्रतिक्रमण नहीं करता, भावतः उससे प्रतिक्रान्त हो जाने के बाद वह आलोचना करे या न करे, उसका बंध व्यवच्छिन्न हो जाता है।

३५२७. अपराहकालीन संखड़ी में जाने से द्वितीय भंग—दिवा गृहीत, रात्रिभुक्त की उत्पत्ति होती है। कोई साधु सूर्योदय से पूर्व बाहर विचारभूमि में जाए और मार्ग में कोई गृहस्थ उसे देवपूजा, भेंट आदि के द्रव्यों से उपनिमंत्रित करे तो तृतीय भंग—रात्रिगृहीत, दिवा भुक्त की उत्पत्ति होती है। कोई साधु संज्ञातक कुल में गया हुआ हो, वहाँ ज्ञातिजनों के आग्रह आदि से रात्रि में आहार आदि ग्रहण कर रात्रि में ही खा ले तो चतुर्थ भंग की उत्पत्ति होती है, उसके ज्योत्सना, प्रदीप आदि भेदों का वर्णन आगे (भा ३५३०) किया जा रहा है।

३५२८. गिरियज्ञ, कूपयज्ञ, नाग, यक्ष आदि के निमित्त होने वाली संखड़ी अपराह्न में देर से होती है। उसमें उत्कृष्ट द्रव्य लेकर आते-आते साधु के सूर्यास्त की संभावना रहती है, तब द्वितीय भंग की उत्पत्ति होती है। दक्षिणापथ में आठ कुडव आटे का एक महत्प्रमाण रोटा बनाया जाता है, उसे घी एवं गुड़ से परिपूर्ण कर अरुणोदय बेला में जिस धूलिजंघ को दिया जाए, वह अग्रस्थित ब्राह्मण कहलाता है। उसे ग्रहण करने वाले मुनि के तृतीय भंग संभव है। इसी प्रकार प्रातः जल्दी जाने वाला श्रावक सूर्योदय से पूर्व अपने मंगल के लिए साधु को दान दे या विचारभूमि की ओर जाते हुए साधु को कोई पथिक या ब्रजिकागत श्रावक आहार आदि के लिए उपनिमंत्रित करे, तब भी तृतीय भंग संभव है।

३५२९, ३५३०. किसी साधु के ज्ञातिजनों के संखड़ी का आयोजन है। उन्होंने उसे आमंत्रित किया अथवा वह साधु स्वयं उधर गया तो उसे आहार हेतु आमंत्रित कर दिया। उसने कहा—आज भिक्षा का विश्राम है। अन्य लोगों को भोजन परोसते समय गृहस्थ उन्हें भूल गए। बाद में उन्हें याद आया तो वे पुनः मुनि को आमंत्रित करने आए। मुनि बोला—कल ले लूँगा, अभी तो रात है। मुनि के इस कथन पर वे प्रकाश हेतु ज्योत्सना, मणि, प्रदीप या अन्य उद्दिस वस्तु से देय को प्रकाशित कर आहार हेतु उसे निमंत्रित करे तो जघन्यस्थानों के प्रस्तुत क्रम से जघन्यतः चतुर्गुरु, षड्गुरु, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५३१. मुनि कहता है—रात्रि में भक्तपान को ग्रहण करना नहीं कल्पता, क्योंकि अन्धकार में भोजन पानी जीव युक्त हों तो पता नहीं चलता। अंधेरे में दाता का गमनागमन तथा पात्र आदि का उत्क्षेप-निक्षेप भी दिखाई नहीं देता। गृहस्थ कहते हैं—अभी शुक्ल पक्ष है, चांदनी में रात में भी दिन जैसा प्रकाश है, सब दिखाई दे रहा है। अथवा यदि उस समय कृष्ण पक्ष हो या चंद्रमा बादलों से आच्छादित हो तो वे प्रकाश के लिए मणि या दीप आदि को उद्योतित करने का कथन करते हैं। अथवा कहते हैं—भक्तपान दोनों अत्युष्ण हैं अतः संसक्तदोष की संभावना नहीं है। इस प्रकार रात्रि में आहार ग्रहण कर रात्रि में ही चांदनी के प्रकाश में खाए तो मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मणि से प्रकाशित आहार खाने पर षड्गुरु, दीपक के प्रकाश में खाने पर छेद और अन्य उद्दिस वस्तु को प्रकाश में आहार करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५३२. भोत्तूण य आगमणं, गुरुहि वसभेहि कुल-गणे संघे।
आरोवण कातव्वा, बितिया^१ वि^२ अभिक्खगहणेणं ॥३४०७॥
३५३३. तिहि थेरेहि कतं जं, सट्टाणे 'तं तिगं'^३ ण वोलेति।
हेट्टिल्ला वि उवरिमे, उवरिमथेरा तु भइयव्वा^४ ॥३४०८॥
३५३४. चंदुज्जोएँ कों दोसो, अप्पप्पाणे य फासुगे दव्वे।
भिक्खू वसभा ऽऽयरिए, गच्छम्मी^५ अट्ट संघाडा ॥३४०९॥ नि ७१० ॥
३५३५. सण्णातग आगमणे, संखडि राओ य भोयणे मूलं।
बितिए अणवट्टप्पो, 'ततियम्मि य'^६ होति पारंची^७ ॥३४१०॥
३५३६. जइ वि य फासुगदव्वं, 'कुंथूपणगादि तह'^८ वि दुप्पस्सा।
पच्चक्खणाणिणो वि हु, रातीभत्तं परिहरंति^९ ॥३४११॥
३५३७. जइ वि य पिवीलिगादी, दीसंति पदीव-जोतिउज्जोए।
तह वि खलु अणाइण्णं, मूलवतविराधणा जेणं^{१०} ॥३४१२॥
३५३८. गच्छग्गहणे^{११} गच्छो, भणाति अहवा कुलादिओ^{१२} गच्छो।
गच्छग्गहणे व कते, गहणं पुण गच्छवासीणं ॥३४१३॥
३५३९. बितियादेसे भिक्खू, भणंति दुट्ठु^{१३} भें कतं ति बोलेति^{१४}।
छल्लहु वसभे छग्गुरु, छेदो मूलादि जा चरिमं ॥३४१४॥

१. बीया (दे)।

२. य (बृभा २८५९)।

३. तत्तियं (मु, भ)।

४. भणियं (दे, भ), बृभा २८६०।

५. ंम्मि य (बृभा २८६१, मु)।

६. बितियम्मि उ (दे)।

७. बृभा २८६२।

८. ंणगा तहा (दे)।

९. बृभा २८६३।

१०. बृभा २८६४।

११. ंहणेण (बृभा २८६५)।

१२. कुलातीओ (भ)।

१३. दुट्ठु (दे)।

१४. बोलेते (दे)।

३५३२. रात्रि में ज्योत्स्ना आदि के प्रकाश में भोजन कर मुनि गुरु के पास आए। गुरु ने उन्हें कहा— रात्रिभोजन करना उचित नहीं। यदि वे इसे स्वीकार कर लेते हैं तो चतुर्गुरु^१, स्वीकार न करने पर षड्गुरु प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार वृषभ के कहने पर सम्यक् स्वीकार करने पर षड्गुरु, स्वीकार न करने पर छेद, इसी क्रम से कुल, गण और संघ का कथन स्वीकार करने या न करने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार दाहिनी ओर गुरु, वृषभ आदि के वचनों के अतिक्रमण तथा बाईं ओर से अभीक्षण आसेवन के आधार पर प्रायश्चित्त वृद्धि करनी चाहिए।

३५३३. कुल, गण और संघ—इन तीन स्थविरों द्वारा जो कार्य किया गया—निर्णय लिया गया, वह स्वस्थान में उचित है। अतः वे तीनों परस्पर व्यतिक्रम नहीं करते। इन तीनों में जो ऊपर वाला स्थविर करता है उसका उल्लंघन नीचे वाले स्थविर नहीं करते अर्थात् कुलस्थविर अपने ऊपर वाले स्थविर गणस्थविर और संघस्थविर का उल्लंघन नहीं करते। ऊपर वाले स्थविरों के लिए भजना है—नीचे वाले (कुलस्थविर) के द्वारा अरक्तद्विष्ट (माध्यस्थ भाव) से की गई स्थापना, आरोपणा का गणस्थविर और संघस्थविर उल्लंघन नहीं करते, किन्तु राग, द्वेष या अज्ञान (अनागमेन) किए हुए को प्रमाण भी नहीं मानते।

३५३४. ज्योत्स्ना के प्रकाश में रात्रिभक्त का आसेवन करने वाले भिक्षुओं को अन्य भिक्षु ऐसा न करने के लिए कहते हैं तो वे कहते हैं—चांदनी रात में प्रासुक आहार लेने में क्या दोष है? इस प्रकार कहने पर प्रायश्चित्त आता है और वृषभ, आचार्य और कुलस्थविर, गणस्थविर आदि के कहने पर स्वीकार या अस्वीकार करने पर क्रमशः प्रायश्चित्त बढ़ता जाता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त के आठ संघाटक होते हैं।^२

३५३५. ज्ञातिकुल में आकर या अन्यत्र संखडी आदि में जो भिक्षु रात्रिभोजन करता है, उसके रात्रि भोजन नामक मूलव्रत की विराधना होती है, अतः प्रथम बार में उसे मूल प्रायश्चित्त, द्वितीय बार में अनवस्थाप्य और तृतीय बार में पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५३६. यद्यपि अशन—ओदन आदि प्रासुक द्रव्य होते हैं, पर उनमें आगन्तुक कुन्थु आदि सूक्ष्म त्रस जीव तथा पनक आदि तदुत्थ जीव रात्रि में दुर्दर्श होते (मुश्किल से दिखाई देते) हैं। दूसरी बात—प्रत्यक्ष ज्ञानी अन्नपान को विशुद्ध जानकर भी रात्रिभोजन का परिहार करते हैं तो परोक्षज्ञानियों की तो बात ही क्या?

३५३७. यद्यपि ऊपर से गिरे हुए चींटी आदि जीव प्रदीप, ज्योति आदि से उद्योतित भक्तपान में उन सभी से देखे जा सकते हैं तथापि यह तीर्थकरों आदि के द्वारा अनाचीर्ण है तथा इससे प्राणातिपात आदि मूलगुणों की विराधना का प्रसंग आता है, अतः मुनि रात्रि में न खाए।

३५३८. गाथा ३५३४ में गृहीत गच्छ शब्द का अभिप्राय है—साधु समुदाय। अथवा गच्छ अर्थात् कुल आदि (कुल, गण और संघ)। अथवा गच्छ का अर्थ है—गच्छवासी अर्थात् यह सारा प्ररूपण गच्छवासी मुनियों के लिए है, जिनकल्पिक मुनियों के लिए नहीं।

३५३९. द्वितीय आदेश का तात्पर्य है नावा संस्थित प्रायश्चित्त का द्वितीय प्रकार। निशिभक्त सेवी मुनियों को जब भिक्षु कहते हैं—आपने यह उचित नहीं किया। तब यदि वे उसे सम्यक् स्वीकार नहीं करते तो उन्हें षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी क्रम से वृषभ के वचन का अतिक्रमण करने पर षड्गुरु, आचार्य, कुलस्थविर, गणस्थविर और संघस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने पर क्रमशः छेद, मूल, अनवस्थाप्य यावत् चरम (पारांचित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. चूर्णिकार ने यहाँ षड्गुरु का उल्लेख किया है किन्तु क्रमशः वृद्धि की दृष्टि से चतुर्गुरु होना चाहिए। द्रष्टव्य बृहत्कल्पभाष्य २८५९ की वृत्ति।

२. प्रस्तुत सन्दर्भ में चूर्णिकार ने नावासंस्थित प्रायश्चित्त का कथन प्राप्त है, जिसमें दाहिनी ओर पुरुष विभाग से ज्योत्स्ना, प्रदीप आदि के आधार पर तथा बाईं ओर से अभीक्षण आसेवन के आधार पर प्रायश्चित्त वृद्धि की प्ररूपणा की गई है।

३५४०. ततियादेसे भोतूण, आगता णेव कस्सइ^१ कहेति ।
तेसऽण्णतो व सोच्चा, खिसंतऽह भिक्खुणो 'ते उ'^२ ॥३४१५ ॥
३५४१. भिक्खुणो^३ अतिक्कमंते, 'छल्लहु वसभेसु'^४ होंति छग्गुरुगा ।
गुरु-कुल-गण-संघातिक्कमे य छेदादि जा चरिमं ॥३४१६ ॥
३५४२. 'आयरिया भिक्खूण य, वसभाण गणस्स'^५ कुल गणे संघे ।
गुरुगादतिक्कमंते^६, जा सपद चउत्थ आदेसो ॥३४१७ ॥
३५४३. पेच्छह तु अणायारं, रत्तिं भोतुं ण कस्सइ कहेति ।
एवं एक्केक्क-निवेदणेण^७ वुड्डी^८ उ पच्छित्ते^९ ॥३४१८ ॥
३५४४. को दोसो को दोसो, त्ति भणंते लग्गती बितियठाणं ।
'अहवा अभिक्खगहणे'^{१०} अहवा वत्थुस्स अतियारो^{११} ॥३४१९ ॥
३५४५. बितियपदं गेलण्णे, पढमे बितिए य अणहियासम्मि ।
फिट्टति चंदगवेज्जं, समाधिमरणं च अद्धाने^{१२} ॥३४२० ॥ नि ७११ ॥
३५४६. पतिदिवसमलब्भंते, विसोधि वोलीणें पढमभंगो उ ।
अद्धानादिसु जुगलोदयम्मि सूलादिया^{१३} बितिओ^{१४} ॥३४२१ ॥
३५४७. एमेव ततियभंगो, आदि तमो अंतए पगासो उ ।
दुहओ पि अप्पगासो, 'अद्धानसूलादिसु चउत्थो'^{१५} ॥३४२२ ॥

१. कस्स व (दे) ।

२. तेसु (मु), बृभा २८६७ ।

३. भिक्खू (दे, भ) ।

४. छल्लहुगा वसभे (बृभा २८६८) ।

५. भिक्खू वसभायरिए वयणं गच्छस्स (बृभा २८६९) ।

६. 'गादि ति' (दे) ।

७. 'दणे उ (भ) ।

८. वड्डी (दे) ।

९. बृभा २८७० ।

१०. 'वाभिक्खग' (मु) ।

११. बृभा २८७१ ।

१२. बृभा २८७२ ।

१३. 'दि वा (दे) ।

१४. बृभा (२८७३) में कुछ अंतर के साथ निम्न गाथा मिलती हैं—

पइदिणमलब्भमाणे, विसोहि समइच्छिउं पढमभंगो ।

दुल्लभ दिवसंते वा, अहि-सूलरुयाइसुं बिइओ ॥

१५. एमेव य अंतिमो भंगो (बृभा २८७४), अंतिम चरण में

छंदभंग है ।

३५४०. तृतीय आदेश (तीसरी नौका) में रात्रि में गृहस्थ के घर आहार करके आने वाले साधु किसी से स्वयं नहीं कहते, किन्तु उनके परस्पर संलाप को सुनकर अथवा अन्य—वृषभसाधुओं या गृहस्थों से सुनकर भिक्षु उन्हें खिंसा वचन से प्रेरणा देते हैं।

३५४१. अन्य भिक्षुओं के खिंसावचन का अतिक्रमण करने पर उन रात्रिभोजन करने वाले भिक्षुओं को षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी क्रम से वे यदि वृषभसाधुओं, गुरु (आचार्य), कुल, गण और संघ का अतिक्रमण करते हैं तो उन्हें क्रमशः षड्गुरु, छेद यावत् चरम (पारांचित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५४२. चतुर्थ आदेश—भिक्षु के वचन का अतिक्रमण करने पर चतुर्गुरु, इसी क्रम से वृषभ, आचार्य, गच्छस्थविर, कुलस्थविर, गणस्थविर और संघस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने पर षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५४३. भिक्षु कहते हैं—देखो! इन मुनियों का अनाचार। रात्रि में भोजन कर किसी को नहीं कहते। उनके ऐसा करने पर जब वे स्वीकार नहीं करते तो भिक्षु वृषभों से कहते हैं। वृषभ गुरु से, गुरु कुल से, इस क्रम में एक-एक को कहने पर प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है।

३५४४. क्या दोष है? रात्रिभोजन में क्या दोष है?—ऐसा कहने वाले (उत्तर प्रत्युत्तर करने वाले) रात्रिभोजन प्रतिसेवकों को द्वितीय प्रायश्चित्त स्थान प्राप्त होता है। प्रायश्चित्त वृद्धि का दूसरा हेतु है—अभीक्षण ग्रहण—पुनः-पुनः रात्रिभोजन का आसेवन। उसका तीसरा हेतु है—वस्तु का अतिचार अर्थात् आचार्य आदि के वचन का अतिक्रमण रूप अतिचार अथवा भिक्षा आदि वस्तु का व्यतिक्रम।

३५४५. अपवादपद में रात्रिभोजन के भिन्न-भिन्न विकल्पों का ग्रहण इन कारणों से अनुज्ञात है—१. ग्लान्य २. पहले व दूसरे (क्षुधा और विपासा) परीषह में असहिष्णुता ३. चन्द्रकवेध^१ के समान अनशन का निर्वाह न कर पाना ४. समाधिमरण और ५. अध्वगमन (अटवी)।^२

३५४६. ग्लान के लिए प्रतिदिन प्रायोग्य द्रव्य की प्राप्ति न होने पर विशोधिकोटिक दोषयुक्त आहार आदि प्रतिदिन लाकर दिया जा सकता है। यदि वह भी अतिक्रान्त हो जाता है तो रात्रिभोजन के प्रथम भंग—रात्रि में ग्रहण, दिन में भोग (से प्रयोग्य) द्रव्य का ग्रहण किया जा सकता है। अटवी आदि में प्रपन्न बाल, वृद्ध आदि के युगल (भूख और प्यास) परीषह के उदय होने पर अथवा शूलरोग आदि की उत्पत्ति होने पर द्वितीय भंग (दिन में ग्रहण, रात्रि में भोग) की प्राप्ति होती है।

३५४७. इसी प्रकार (इन्हीं कारणों में) रात्रिभोजन का तीसरा भंग होता है, केवल उसमें आदि (ग्रहण) में अंधकार (रात्रि) और अंत (भोग) में प्रकाश (दिन) होता है। अटवीप्रपन्न, शूल आदि आगाढ़ रोग में चतुर्थ भंग से आहार, औषध आदि लिया जाता है। इसमें दोनों (ग्रहण और भोग) में अप्रकाश (रात्रि) होता है।

१. आठ चक्रों के बीच की पुत्तलिका की दाँई आंख को बींधना चन्द्रकवेध कहलाता है।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. ३५४६-३५५०।

३५४८. 'पढमबितियातुरस्स य'^१, असहुस्स हवेज्ज अहव जुयलस्स ।
कालम्मि दुरधियासे, भंगचउक्केण गहणं तु ॥३४२३ ॥
३५४९. एमेव उत्तिमट्टे, चंदगवेज्जसरिसे^२ भवे भंगा^३ ।
उभयपगासो पढमे, आदीयंते य सव्वतमो^४ ॥३४२४ ॥
३५५०. अद्धाणम्मि व^५ होज्जतु^६, भंगा चतुरो तु तं न कप्पति तु^७ ।
दुविधा य होंति उ दरा, पोटे तह धण्णभाणा य ॥३४२५ ॥
३५५१. उद्दहरे सुभिव्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेणं ।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जती जत्थ^८ ॥३४२६ ॥ नि ७१२ ॥
३५५२. णाणट्ट दंसणट्टा, चरित्तट्ट एवमादि गंतव्वं ।
उवगरणपुव्वपडिलेहितेण सत्थेण जतणाए^९ ॥३४२७ ॥ नि ७१३ ॥
३५५३. सगुरु कुल सदेसे वा, णाणे गहिते सती य सामत्थे ।
वच्चति उ अण्णदेसं, दंसणजुत्तादिअत्थो वा^{१०} ॥३४२८ ॥
३५५४. पडिकुट्ट देस कारण, गता उ तदुपरम णिंति चरणट्टा ।
असिवादी व भविस्सति, भूते व^{११} वयंति परदेसं^{१२} ॥३४२९ ॥
३५५५. चम्मादिलोहगहणं^{१३}, णंदीभाणे य घम्मकरगे य ।
परत्तिथिग उवगरणे, गुलियातो^{१४} खोलमादीणि^{१५} ॥३४३० ॥ नि ७१४ ॥
३५५६. तलिंग पुडग वद्धेया, कोसग^{१६} कत्ती^{१७} य सिक्कगे काए ।
पिप्पलग सूइ आरिय, नक्खच्चण^{१८} सत्थकोसे य ॥३४३१ ॥

१. °स्सा (बृभा २८७५) ।

२. चन्द्रको नाम चक्राष्टकोपरिवर्तिन्याः पुत्तलिकाया
वामाक्षिगोलकः (बृभाटी) ।

३. अंगा (भ) ।

४. बृभा २८७६ ।

५. वि (दे) ।

६. होज्जा (बृभा २८७७) ।

७. उ (दे, बृभा) ।

८. तत्थ (मु, बृभा २८७८, २९७२) ।

९. गंतव्वं (बृभा २८७९), बृहत्कल्पभाष्य की टीका में इस

गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख है ।

१०. बृभा २८८० ।

११. वि (दे) ।

१२. बृभा २८८१ ।

१३. चर्मशब्देन चर्ममयं तलिकाद्युपकरणं गृह्यते (बृभाटी) ।

१४. गुलिका नाम तुवरवृक्षचूर्णगुटिकाः (बृभाटी) ।

१५. खोलाः गोरसभावितानि पोतानि (बृभाटी), बृभा २८८२ ।

१६. कोशकः— नखभंगरक्षार्थं यत्राङ्गुल्यः प्रक्षिप्यन्ते (बृभाटी) ।

१७. कत्ति (भ) ।

१८. °च्चणि (बृभा २८८३) ।

३५४८. दुःसह काल—अवमौदर्य आदि में प्रथम और द्वितीय परीषह से आतुर बने श्रमण, अक्षम श्रमण^१ एवं युगल (बाल एवं वृद्ध) असहिष्णु श्रमण के लिए चारों भंगों से रात्रिभोजन का प्रतिसेवन भी द्वितीयपद है।

३५४९. इसी प्रकार चन्द्रकवेध के समान दुराराध्य (दुष्कर) अनशन करने वाले मुनि के कदाचिद् असमाधि उत्पन्न हो जाए तो समाधि के निमित्त चारों भंग विहित हैं। इनमें प्रथम भंग उभयतः (ग्रहण और भोग के) प्रकाशवान तथा अन्तिम भंग सर्वतः अन्धकारमय (रात्रि में ग्रहण, रात्रि में भोग) होता है।

३५५०. अध्वनिर्गत मुनियों के लिए चारों भंग होते हैं। पर जो मुनि ऊर्ध्वदर में अध्वगमन करते हैं, उनके लिए नहीं कल्पता। दर दो प्रकार के हैं—पोट्टदर और धान्यभाजन दर।^२ वे दर ऊर्ध्व अर्थात् जहाँ भरे रहते हैं वह है ऊर्ध्वदर।

३५५१. ऊर्ध्वदर और सुभिक्ष^३ के चार भंग होते हैं^४। इनमें प्रथम और तृतीय भंग में यदि दर्प से कोई अध्वगमन करता है तो शुद्धपद—कोई दोष न लगे, तब भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा संयमविराधना आदि होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३५५२. प्रथम और तृतीय भंग में इन कारणों से अध्वगमन विहित है—१. ज्ञान के लिए २. दर्शन के लिए ३. चारित्र (शुद्धि) के लिए। अध्वगमन से पूर्व अपने उपकरणों की प्रतिलेखना कर, उचित उपकरणों का ग्रहण करे। तथा विशुद्धसार्थ^५ के साथ यतनापूर्वक गमन करे।

३५५३. अपने गुरु के पास जो ज्ञान (श्रुतज्ञान) हो उसे ग्रहण करने के बाद भी यदि श्रुतग्रहण विषयक सामर्थ्य हो तो पहले वह स्वदेशस्थित अपने कुल के आचार्य आदि से अन्य श्रुत ग्रहण करे। यदि अपने देश में स्वकुल के बहुश्रुत आचार्य न हों तो परकुल के एक (समान) वाचना वाले आचार्य से अनधिगत श्रुत का ग्रहण करे। स्वदेश में ऐसे बहुश्रुत आचार्य न हों तो अन्यदेश में जाकर श्रुत का ग्रहण करे। यही विधि दर्शन विशोधिकारक ग्रन्थों—गोविन्दनिर्युक्ति आदि को ग्रहण करने के विषय में ज्ञातव्य है।

३५५४. चारित्रहेतुक अध्वगमन के दो प्रकार हैं—१. अशिव आदि कारणों से मुनि प्रतिक्रुष्ट (संयम विरोधी सिन्धु आदि) देशों में विहरण कर रहे हों तो कारणनिवृत्ति के पश्चात् वे पुनः संयम क्षेत्र में आते हैं। २. संयमक्षेत्र में रहते हुए यदि उन्हें निमित्त बल आदि से जानकारी हो जाए कि यहाँ अशिव आदि होने वाले हैं या अशिव आदि उत्पन्न हो जाएँ तो अध्वगमन करना पड़ता है।

३५५५. अध्वगमन के समय मुनि के लिए आवश्यक (उपयोगी) उपकरण—१. चर्म आदि २. लोहग्रहण ३. नंदीभाजन ४. धर्मकरक ५. परतीर्थक के उपकरण ६. गुटिका और ७. खोल (गोरस से भावित वस्त्र)।

३५५६. मुनि अध्वगमन के समय तलिका (पदत्राण) पुटक (खल्लक) वर्ध, कोशक (अंगुलित्राण), कृत्ति (बिछाने का चर्म), सिक्कक, कापोतिका, पिप्पलक, सूई, आरिका, नखार्चनी (नेलकटर) और शस्त्रकोश साथ में ले।

१. स्थूलभद्र के अनुज श्रीयक के समान।

२. पोट्ट का अर्थ है उदर, तद्रूप दर होता है पोट्टदर। कट, पल्य आदि धान्यभाजन दर हैं।

३. सुभिक्ष—जहाँ भिक्षा सुलभ हो।

४. चार भंग—१. ऊर्ध्वदर भी हो, सुभिक्ष भी। २. ऊर्ध्वदर हो, सुभिक्ष नहीं। ३. ऊर्ध्वदर न हो, सुभिक्ष हो और ४. ऊर्ध्वदर भी न हो, सुभिक्ष भी न हो।

५. पूर्व प्रत्युपेक्षित शब्द को डमरुकमणि न्याय से उपकरण और सार्थ दोनों के साथ लगाया जा सकता है। चूर्ण में विशुद्धसार्थ के सन्दर्भ में भंडी आदि का उल्लेख हुआ है।

३५५७. तलिगा तु रत्तिगमणे, कंटुप्पह तेण सावए असहू।
पुडगविवच्ची^१ सीते, बज्झो पुण छिण्णसंधट्ठा ॥३४३२॥
३५५८. कोसग णहरक्खट्ठा, हिमादिकंटादिसू तु खपुसादी।
कत्ती तु^२ विकरणट्ठा, विवित्त^३ पुढवादिरक्खट्ठा ॥३४३३॥
३५५९. तहि सिक्कगेहि हिंडति, जत्थ विवित्ता व पल्लिगमणं वा।
परलिंगगहणम्मि व, णिक्खवणट्ठा व अन्नत्थ^४ ॥३४३४॥
३५६०. जे चेव कारणा सिक्कगस्स ते चेव होंति काए^५ वि।
कप्पुवधी बालादि व, वहंति तेहिं पलंबे वा^६ ॥३४३५॥
३५६१. पिप्पलग विकरणट्ठा, विवित्त जुण्णे व^७ संधणं सूई।
आरिग^८ तलि-संधणट्ठा, णक्खच्चण^९-णक्ख-कंटादी^{१०} ॥३४३६॥
३५६२. कोसाऽहि-सल्ल-कंटग, अगदोसधमादियं^{११} तु चग्गहणा।
अहवा खेत्ते काले, गच्छे पुरिसे य जं जोग्गं^{१२} ॥३४३७॥
३५६३. एक्कं भरेमि भाणं, अणुकंपा णंदिभाण दरिसंती।
णेंति व तं वइगादिसु, गालेंति दवं तु करगेणं^{१३} ॥३४३८॥
३५६४. परत्तिथगउवगरणं^{१४}, खेत्ते काले य जं तु अविरुद्धं।
तं रयणि पलंबट्ठा, पडिणीएँ दिया व कोट्टादी ॥३४३९॥
३५६५. गोरसभावितपोत्ते^{१५}, पुव्वकत दवस्स संभमे धोवे।
असतीय तु^{१६} गुलित मिगे, सुण्णे णवरंगदतियाओ^{१७} ॥३४४०॥

१. पुडगा विवच्चि (बृभा २८८४)।

२. वि (बृभा २८८५)।

३. विवत्त (भ)।

४. बृभा २८८६।

५. काए त्ति कवोडी (चू)।

६. बृभा २८८७।

७. य (दे, मु)।

८. तुट्टोवाणहसिक्खणट्ठा आरा (चू)।

९. नखार्चनं—नखहरणिका सा नखच्छेदनार्थं

कण्टकादिशल्योद्धरणार्थं वा गृह्यते (बृभाटी)।

१०. बृभा २८८८।

११. अणेगदव्वेहिं अगदो, एगंगितं ओसढं (चू)।

१२. बृभा २८८९।

१३. बृभा २८९०।

१४. परउत्थि^{१४} (बृभा २८९१)।

१५. गोरसभावितानि पोतानि वस्त्राणि खोलानि भण्यन्ते
(बृभाटी)।

१६. × (दे)।

१७. °यादी (बृभा २८९२)।

३५५७. मार्ग में तलिका बांधने के चार कारण हैं—१. (सार्थवशात्) रात्रि में गमन २. उत्पथ में चलते समय कांटों से सुरक्षा ३. स्तेन, श्वापद आदि के भय से त्वरित गमन तथा ४. सुकुमार पैरों वाला मुनि नंगे पैर चलने में अक्षम हो। शीतकाल में बिवाई फटने पर पुटक (खल्लक) पहने जाते हैं। त्रुटित तलिकाओं के संधान के लिए वर्ध्र की आवश्यकता पड़ती है।

३५५८. नखों की रक्षा के लिए कोशक तथा शीत, सर्प, कांटों आदि से पैरों की रक्षा के लिए खपुस, वगुरि, अर्धजंघा आदि की आवश्यकता पड़ती है। प्रलंब आदि का विकरण करने पर वे धूल में न गिर जाएँ, चोर आदि के द्वारा उपकरणों का अपहरण हो जाने पर परिभोग के लिए तथा पृथ्वीकाय आदि से रक्षा के लिए आहार करते समय कृत्ति (बिछाने का चर्म) बिछाई जाती है तथा मार्ग में उस पर कायोत्सर्ग आदि भी किया जाता है।

३५५९. यदि मुनि विविक्त—लूटे जा चुके हैं अथवा चोर पल्ली में भिक्षार्थ जाना हो तो सिक्कक की आवश्यकता पड़ती है। परतीर्थिक का वेश बनाना हो, अध्वकल्प आदि का निक्षेपण करना हो या प्रलंब आदि किसी वृद्ध के घर में रखना हो, तब भी सिक्कक (छींके) का उपयोग किया जाता है।

३५६०. सिक्कक के उपयोग में जो कारण प्रज्ञप्त हैं, वे ही कापोतिका के विषय में ज्ञातव्य हैं। अध्वकल्प, आचार्य तथा अन्य मुनियों की उपधि, बाल, वृद्ध या अक्षम मुनियों तथा प्रलंब आदि को वहन करने में भी कापोतिका का उपयोग होता है।

३५६१. मार्ग में प्रलम्ब को काटने के लिए पिप्पलक (कैंची), मुषितशेष (लूटने के बाद बचे हुए) जीर्ण वस्त्रों को सीने के लिए सूई, तलिका का संधान करने के लिए आरिका, नख काटने, कांटे आदि शल्य का उद्धार (को निकालने) के लिए नखार्चनी (नेलकटर) की आवश्यकता पड़ती है।

३५६२. सांप के द्वारा उसे डसे हुए (सर्पदष्ट) अंग को काटने, शल्य, कांटे आदि को निकालने के लिए शस्त्र कोश^१ की आवश्यकता पड़ती है। गाथा ३५५६ में प्रयुक्त चकार से अगद (अनेकांगिक औषध) और औषध (एकांगिक औषध) का ग्रहण किया जा सकता है। अथवा च शब्द से क्षेत्र और काल में दुर्लभ तथा गच्छ एवं पुरुष (आचार्य) आदि के लिए प्रायोग्य वस्तुओं का ग्रहण होता है। इस प्रकार अध्वगमन के समय मुनि वे वस्तुएँ भी साथ ले जाएँ, जो गच्छ में किसी के लिए अपेक्षित हो सकती हैं।

३५६३. कोई श्रावक अध्वगत मुनियों को अनुकम्पावश कहता है—मैं प्रतिदिन आपका एक भाजन भर दूँगा। तब मुनि उसको नन्दीभाजन दिखाते हैं। अथवा उस नन्दीभाजन को ब्रजिका आदि में ले जाते हैं। इसी प्रकार द्रव (पानक) को गालने (छानने) के लिए धर्मकरक की आवश्यकता पड़ती है।

३५६४. अन्यतीर्थिक के जो उपकरण जिस क्षेत्र और काल में अविरोद्ध हों, उनके उपयोग के ये (तीन) कारण हैं—१. रात्रि में प्रलंब लाने के लिए २. प्रत्यनीक भावित क्षेत्र में परतीर्थिक का वेश बनाने के लिए और ३. दिन में भी म्लेच्छकोट्ट (म्लेच्छपल्ली) में अकल्प्य, अग्राह्य का ग्रहण करने के लिए।

३५६५. खोल का अर्थ है गोरस से भावित वस्त्र। अध्वगत मुनि पूर्वकृत खोल साथ में लेते हैं तथा जब प्रासुक द्रव की प्राप्ति नहीं होती, तब वे उन वस्त्रों को धोकर प्रासुक पानी प्राप्त कर लेते हैं। खोल के अभाव में वे गुटिका (तुवर वृक्ष के चूर्ण से निर्मित गोली) से शून्यग्राम आदि में पानी को प्रासुक बना लेते हैं तथा अगीतार्थ मुनियों को प्रत्यायित करने के लिए कहते हैं—यह जल नवरंगदृतिका से गृहीत है, प्रासुक है।

१. निभा ३ चू. पृ. २१४—इमो सत्थकोसो-पत्थणसत्थयं, अंगुलिसत्थयं, सिरावेहसत्थयं, कप्पणसत्थयं, लोहकंटिया संडासओ, अणुवेहसलागा, वीहिमुहं, सूइमुहं।

३५६६. एमादि अणागतदोसरक्खणट्ठा अगेणहणे गुरुगा ।
अणुकूले णिग्गमओ, पत्ता सत्थस्स सउणेणं^१ ॥ ३४४१ ॥
३५६७. अप्पत्ताण णिमित्तं, पत्ता सत्थम्मि तिण्णिण परिसाओ ।
सुद्धे त्ति पत्थियाणं, अद्धाणे भिक्खपडिसेहो^२ ॥ ३४४२ ॥
३५६८. 'कडजोगि'^३ सीहपरिसा, गीतत्थ थिरा य^४ वसभपरिसा^५ उ ।
सुत्तकडमगीतत्था, मिगपरिसा^६ होति नातव्वा^७ ॥ ३४४३ ॥
३५६९. सिद्धत्थगपुप्फे वा, एवं वोत्तुं पि णिच्छुभति पंतो ।
भत्तं वा पडिसिद्धं^८, तिण्हऽणुसत्थादिं^९ तत्थ इमा ॥ ३४४४ ॥
३५७०. अणुसट्ठी^{१०} धम्मकहा, विज्जणिमित्ते पभुत्तकरणं^{११} वा ।
परतित्थिगा^{१२} व वसभा, सयं व थेरी य चउभंगो^{१३} ॥ ३४४५ ॥
३५७१. पडिसेह अलंभे वा, गीतत्थेसु सयमेव चतुभंगो ।
थेरिसगासं^{१४} तु मिगे, पेसे तत्तो य आणीतं^{१५} ॥ ३४४६ ॥
३५७२. 'कत्तो ति पल्लगादी'^{१६}, सट्ठा थेरि पडिसत्थिगाओ वा ।
णातम्मि य पण्णवणा, ण हु असरीरो भवइ^{१७} धम्मो ॥ ३४४७ ॥
३५७३. पुरतो वच्चंति मिगा, मज्झे वसभा उ मग्गतो सीहा ।
पिट्ठत्तो वसभऽण्णेसिं, पडिता^{१८} ऽसहुरक्खगा^{१९} दोण्हं^{२०} ॥ ३४४८ ॥

१. बृभा २८९४।

२. बृभाटी में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख हुआ है, बृभा २८९५।

३. कृतयोगिनो नाम गीतार्थाः परं न तथा समर्थास्ते सिंहपर्षदुच्यते (बृभाटी)।

४. उ (दे)।

५. ये तु गीतार्था अपरं च स्थिराः बलवन्तस्ते वृषभपर्षद् (बृभाटी)।

६. मिगपुं (दे), ये तु कृतसूत्राः सूत्रेऽधीतिनः परमगीतार्थास्ते मृगपर्षद् (बृभाटी)।

७. बृभा २८९६।

८. पडिसेहइ (बृभा २८९७)।

९. °सट्ठाइ (बृभा)।

१०. इहलोगअववायदरिसणत्थं अणुसट्ठी (चू)।

११. पभुस्स कं (मु, भ)।

१२. परउत्थिं (बृभा)।

१३. बृभा २८९८।

१४. थेरसं (दे)।

१५. बृभा २८९९।

१६. कुओ एयं पल्लीओ (बृभा २९००)।

१७. भवे (भ)।

१८. चूर्णि में 'पीडिता' शब्द की व्याख्या है।

१९. °क्खणा (मु, भ)।

२०. बृभा २९०१।

३५६६. इस प्रकार अनागत दोषों की रक्षा के लिए चर्म आदि उपकरणों का ग्रहण किया जाता है। यदि निर्गमनकर्ता मुनि इन उपकरणों का ग्रहण न करे तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मुनि जब तक सार्थ प्राप्त न हो, तब तक अपने अनुकूल शकुन चन्द्रबल, ताराबल आदि के अनुसार प्रस्थान करे। सार्थ मिलने के बाद सार्थ के शकुन से प्रस्थान करे, अलग से शकुन न देखे।

३५६७. सार्थ के प्राप्त होने तक स्वयं का निमित्त अर्थात् शकुन होता है। सार्थ प्राप्त होने के बाद सार्थ का शकुन काम आता है। सार्थ को प्राप्त करने के बाद मुनि तीन परिषद् करते हैं—१. सिंहपरिषद् (पर्षद्) २. वृषभपरिषद् और ३. मृगपरिषद्। सार्थ को शुद्ध समझकर मुनियों ने उनके साथ प्रस्थान किया। मार्ग में उसने भिक्षा का प्रतिषेध कर दिया।^१

३५६८. जो कृतयोगी—गीतार्थ है वे सिंहपर्षद्, जो गीतार्थ और स्थिर हैं, वे वृषभपर्षद् और जो अगीतार्थ और कृतसूत्र (सूत्र पढ़ने वाले) हैं, वे मुनि मृगपर्षद् होते हैं।

३५६९. मुनियों ने सार्थवाह से पूछा—हम आपके साथ प्रस्थान करना चाहते हैं। क्या आप हमारा योगक्षेम वहन करेंगे? सार्थवाह ने कहा—सिर पर डाले हुए सरसों के दाने और चम्पक पुष्प कोई पीड़ा नहीं करते, वैसे ही आप भी हमारे लिए कोई भार नहीं है। इस प्रकार कहने के पश्चात् भी यदि कोई प्रान्त सार्थवाह अटवी के मध्य मुनियों को निष्कासित करे अथवा भक्तपान का प्रतिषेध करे तो वहाँ मुनि यतनापूर्वक तीनों—सार्थ, सार्थवाह तथा आयत्तिक (व्यवस्थापक) को अनुशिष्टि दे, धर्मकथा आदि के द्वारा स्थिति को अनुकूल बनाए।

३५७०. मुनि सर्वप्रथम उन तीनों को अनुशिष्टि^२ और धर्मकथा^३ के द्वारा वश में करे। मंत्रविद् मुनि विद्या, मंत्र आदि के द्वारा उन्हें वश में करे। यदि कोई सहस्रयोधी, बलवान् मुनि हो तो बलप्रयोग पूर्वक सार्थ पर प्रभुत्व स्थापित करे। यह निष्कासन विषयक विधि है। भक्तपान विषयक विधि—सर्वथा अनिर्वाह की स्थिति हो तो वृषभ मुनि परतीर्थिक के वेश में भक्तपान का उत्पादन करे या स्वलिंग से रात्रिभक्त विषयक चतुर्भंगी से प्रयत्न करे अथवा स्थविरा श्राविका से प्राप्त करे।

३५७१. भक्तपान का प्रतिषेध करने पर या उसका लाभ न होने पर गीतार्थ मुनि स्वयं रात्रिभक्त विषयक चतुर्भंगी की यतनापूर्वक प्रतिसेवना करे। यदि मुनि गीतार्थमिश्र हों तो सार्थ में स्थविरा श्राविका के पास उस भोजन का निक्षेप कर दे। फिर मृगतुल्य शैक्ष मुनियों को भेजकर वह आहार-पानी मंगवा ले और कहे—यह भक्तपान स्थविरा के पास से लाया गया है।

३५७२. शैक्ष मुनि पूछें कि यह भक्तपान कहाँ से आया? वृषभ मुनि कहें—पल्ली से लाए अथवा कहे दानश्राद्ध ने, स्थविरा ने या प्रतिसार्थिकों ने दिया। इतने पर भी यदि उन शिष्यों को यथार्थ ज्ञात हो जाए तो उन्हें प्रज्ञापना दी जाए—शरीर के बिना धर्म नहीं होता, अतः सर्वप्रयत्न से शरीर की रक्षा करनी चाहिए। बाद में इस तथा अन्य सभी अतिचारों का विशोधन करेंगे।

३५७३. मार्ग गमन में क्रम यह है—आगे मृगपर्षद्, मध्य में वृषभपर्षद् तथा पीछे सिंहपर्षद्। अन्य आचार्यों के मतानुसार वृषभपर्षद् पीछे चले, क्योंकि क्षुधा पिपासा से पीड़ित और अक्षम होने पर दोनों—मृग और सिंह परिषद् के रक्षक वे ही होते हैं अतः वे पीछे चलते हैं।

१. तब मुनि के लिए क्या करणीय है, इसके लिए दृष्टव्य गा. ३५७०-३५७२।

२. अनुशिष्टि—ऐहलौकिक अपायदर्शन के द्वारा समझाना।

३. धर्मकथा—कर्मविपाक बताकर समझाना।

३५७४. पुरतो य पासतो पिट्टतो य वसभा हवंति^१ अद्वाणे^२ ।
गणपतिपासे वसभा, 'मिगाण मज्झम्मि'^३ वसभेगो ॥ ३४४९ ॥
३५७५. वसभा सीहेसु मिगेसु, चेव थामावहारविजडा तु ।
जो जत्थ होति असहू, तस्स तह उग्गहं कुज्जा^४ ॥ ३४५० ॥
३५७६. भत्ते पाणे विस्सामणे य उवगरण-देहवहणे य ।
थामावहारविजडा, तिण्णि वि उवगेण्हते वसभा^५ ॥ ३४५१ ॥
३५७७. जो सो उवगरणगणो, पविसंताणं अणागतं भणितो ।
सट्ठाणे सट्ठाणे, तस्सुवओगो इहं कमसो^६ ॥ ३४५२ ॥
३५७८. असतीय गम्ममाणे, पडिसत्थे तेण-सुण्णगामे वा ।
रुक्खादीण पलोयण, असती णंदी दुविधदव्वे^७ ॥ ३४५३ ॥ नि ७१५ ॥
३५७९. भत्तेण व पाणेण व, णिमंतएऽणुगगते व अत्थमिते ।
आदिच्चो उदितो त्ति य, गहणं गीतत्थसंविग्गे^८ ॥ ३४५४ ॥
३५८०. गीतत्थग्गहणेणं, सामाए^९ गेण्हतो भवे गीतो ।
संविग्गग्गहणेणं, तं गेण्हंतो वि संविग्गे^{१०} ॥ ३४५५ ॥
३५८१. 'पोग्गल बेदियमादी'^{११}, संथरणे चतुलहू तु^{१२} सविसेसा ।
ते चेव असंथरणे, विवरीतसभाव साहारे ॥ ३४५६ ॥
३५८२. जत्थ विसेसं 'जाणंति, तत्थ लिंगेण'^{१३} चतुलहू पिसिते ।
'अण्णातेण उ गहणं'^{१४}, सत्थम्मि वि होति एमेव^{१५} ॥ ३४५७ ॥

१. वंहंति (मु) ।

२. अण्णट्ठा (क) ।

३. मिगमज्झे नियम (बृभा २९०२) ।

४. कुणंति (बृभा २९०३) ।

५. बृभा २९०४ ।

६. बृभा २९०५ ।

७. बृभा २९०६, बृभाटी में इस गाथा के लिए

'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख है ।

८. बृभा २९०७ ।

९. सण्णातो (क) ।

१०. बृभा २९०८ ।

११. बेइंदियमाईणं (बृभा २९०९) ।

१२. य (दे) ।

१३. जाणं तत्थ सल्लिं (दे) ।

१४. अण्णाते उग्गहणं (मु) ।

१५. बृभा २९१० ।

३५७४-३५७६. (अथवा यह विधि है—) मार्ग में चलते समय वृषभ आगे भी रहें, मध्य में और पीछे भी रहें। गणपति के पास भी नियमतः वृषभ रहे और मृगमुनियों के पास भी एक वृषभ अवश्य रहे। वृषभ मुनि अवसर पर अपने बल और वीर्य का गोपन नहीं करते और सिंह या मृग, जो जहाँ अक्षम होता है, उसका यथायोग्य उपग्रह (सहयोग) करते हैं। क्षुधार्त को आहार और तृषार्त को पानी लाकर देते हैं। परिश्रान्त हो जाए तो विश्रामणा की व्यवस्था करते हैं। जो चल नहीं सकते उनका तथा उनके उपकरणों का वहन करते हैं। इस प्रकार शक्ति का गोपन न करते हुए वृषभ मुनि तीनों—मृग, सिंह और वृषभ के उपकारी होते हैं, उनका सहयोग करते हैं।

३५७७. अध्वनिर्गत—अटवीप्रविष्ट मुनि के लिए अनागत दोषों की रक्षा हेतु जिन-जिन उपकरणों का प्ररूपण किया गया है, उसे क्रमशः उनका अपने-अपने प्रयोजनीय स्थान पर उपयोग करना चाहिए।

३५७८. सार्थ के साथ जाते हुए मुनि को यदि सार्थ में भक्तपान उपलब्ध न हो तो वह प्रतिसार्थ, स्तेन पल्ली या शून्यग्राम में उसकी एषणा करे। प्रलंब आदि के लिए वृक्ष का अवलोकन करे। निर्वाह के अभाव में दो प्रकार के द्रव्यों—परीत और अनन्त में से जिस द्रव्य से नन्दी अर्थात् हर्ष हो, वैसा करे।

३५७९. अध्वनिर्गत मुनियों को यदि सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् प्रतिसार्थ का कोई श्रावक भक्तपान के लिए निमंत्रण दे तो यदि सब गीतार्थ हों तो उसे ग्रहण कर ले। यदि गीतार्थ मिश्र हों तो अगीतार्थ मुनियों को प्रस्थान करवाकर गीतार्थ संविग्न मुनि पीछे से आहार आदि ग्रहण करे। सार्थ के पड़ाव पर पहुँच कर सभी मुनियों को सुनाते हुए यह कहे—आदित्य उदित है, ऐसा ज्ञातकर हमने भक्तपान ग्रहण किया है। गीतार्थ संविग्न मुनि इस प्रकार यतना करे।

३५८०. गीतार्थ का ग्रहण इसलिए किया गया है कि गीतार्थ मुनि ही रात्रि में भक्तपान ले सकता है, अगीतार्थ नहीं। संविग्न का ग्रहण इसलिए किया गया है कि रात्रिभोजन का प्रतिसेवन करता हुआ (ग्रहण और भोग करने पर) भी वह संविग्न (मोक्षाभिलाषी) ही है।

३५८१. भक्तपान से निर्वाह होता हो, तब भी द्वीन्द्रिय आदि का पुद्गल (मांस) लेने वाले को तप और काल से विशेषित चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। त्रीन्द्रिय आदि का पुद्गल लेने पर क्रमशः कालगुरु, तपगुरु एवं उभयगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अपवाद में—निर्वाह न हो सके तो द्वीन्द्रिय आदि क्रम से पुद्गल ग्रहण किया जा सकता है। व्युत्क्रम से ग्रहण करने पर वही चतुर्गुरु आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (इस अपवाद का अपवाद यह है कि द्वीन्द्रिय का मांसबल अधिक इन्द्रिय वाले प्राणी के मांसबल की अपेक्षा अल्पतर बल वाला होता है अतः) मुनि स्वभावतः जो साधारण हो (निर्वाहक्षम हो), उसे भी उत्क्रम से ग्रहण कर सकता है।

३५८२. जिस गाँव या सार्थ में लोग विशेष रूप से यह जानते हों कि श्रमण मांस नहीं खाते, वहाँ यदि स्वलिंग से मांस ग्रहण करे तो मुनि को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जहाँ यह ज्ञात न हो, वहाँ स्वलिंग से मांसग्रहण विहित है। (परलिंग से ग्रहण करने पर मूल प्रायश्चित्त आता है।) सार्थ में भी^१ यही विधि ज्ञातव्य है।

१. अपि शब्द से प्रतिसार्थ में, रात्रि में भिक्षाग्रहण एवं रात्रिभोजन आदि का ग्रहण होता है।

३५८३. कप्पडियादीहि समं, 'तेणगपल्लिं तु'^१ सिक्कगे घेत्तुं।
गहणं सति 'लाभम्मि य'^२, उवक्खडे अण्णलिंणेण ॥ ३४५८ ॥
३५८४. अद्धाणासंथरणे, सुण्णे दव्वम्मि कप्पती गहणं।
लहुगो लहुगा गुरुगा, जहण्णगे मज्झिमुक्कोसे^३ ॥ ३४५९ ॥
३५८५. उक्कोसं विगतीओ, मज्झिमगं होति कूरमादीणि।
दोसीणादि जहण्णं, गेण्हंते^४ आयरियमादी^५ ॥ ३४६० ॥
३५८६. अद्धाणे संथरणे, सुण्णे गामम्मि जो तु गिण्हेज्जा।
छेदादी आरोवण, णेतव्वा^६ जाव 'मासो उ'^७ ॥ ३४६१ ॥
३५८७. छेदो छग्गुरु छल्लहु, चउगुरु चउलहु गुरु लहूमासो।
'आयरिय-वसभ भिक्खू'^८, उक्कोसे मज्झिम जहण्णे^९ ॥ ३४६२ ॥
३५८८. उदूढसेस^{१०} बाहिं, अंतो वा पंत 'गेण्हति अदिट्टं'^{११}।
बहि अंत ततो दिट्टं, एवं मज्झे तहुक्कोसं ॥ ३४६३ ॥
३५८९. तुल्लम्मि अदत्तम्मी, तं गेण्हसु जेण आवइं तरसि।
तुल्लो तत्थ अवाओ, तुच्छफलं वज्जते तेणं^{१२} ॥ ३४६४ ॥
३५९०. विलओलए^{१३} य जायति, अहवा कडवालए^{१४} अणुणवए।
इतरेण व सत्थभया, अण्णभया वुट्टिए कोट्टे^{१५} ॥ ३४६५ ॥

१. °ल्लीओ (दे)।

२. °भम्मी (दे)।

३. बृभा २९११।

४. गेण्हंती (मु, भ)।

५. बृभा २९१२।

६. नायव्वा (बृभा २९१३)।

७. मासलहू (बृभा), ३५८६-८९—ये चार गाथाएं भ प्रति में ३५९० के बाद हैं।

८. भिक्खू वसभायरिए (मु)।

९. बृभा २९१४।

१०. उदूढं ति देशीवचनत्वाद् मुषितम् (बृभाटी)।

११. गिण्हमदिट्टं (बृभा २९१६)।

१२. बृभा २९१७।

१३. विलओलग ति देशीपदत्वाद् लुण्टाकाः (बृभा २९१५ टी)।

१४. कटयालकाः—ये तत्र वृद्धादयोऽजंगमा गृहपालकाः स्थिता न नष्टा (बृभाटी)।

१५. कोट्टं वा जं अटविमज्जे भिल्ल-पुलिंद-चाउव्वन्न जणवयमिस्सं दुग्गं वसति, वणिया य जत्थ ववहरंति तं कोट्टं भण्णति (चू), यह गाथा भ प्रति में ३५९५ के बाद है।

३५८३. कार्पटिक सार्थ के साथ अध्वगमन करते हुए मुनि स्तेन पत्नी में भिक्षार्थ जाए तो सिक्कक लेकर जाए। वहाँ भक्तपान का लाभ हो तो ग्रहण करे, अन्यथा अन्यलिंग से खाद्य (फल आदि) का उपस्कार करे।

३५८४. अध्वप्रतिपन्न (अटवी प्रपन्न) मुनि यदि प्राप्त भक्तपान से निर्वाह न कर पाएँ तो शून्यग्राम (भय आदि से उजड़े हुए गाँव) में अदत्त द्रव्य भी ग्रहण कर सकते हैं। यदि निर्वाह होने पर भी अदत्त ग्रहण करते हैं तो जघन्य द्रव्य का ग्रहण करने पर मासलघु, मध्यम और उत्कृष्ट का ग्रहण करने पर क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५८५. उत्कृष्ट द्रव्य हैं—दूध, घी आदि विगय। मध्यमद्रव्य हैं—कूर (ओदन), कुसण (मूंग की दाल का पानी या कढी)^१ आदि। तथा जघन्य द्रव्य है—बासी चावल आदि। इनको ग्रहण करने पर आचार्य, वृषभ आदि के आज्ञाभंग का दोष होता है।

३५८६. मार्ग (अटवी) में संस्तरण होने पर भी शून्यग्राम में आचार्य आदि विकृति (विगय आदि उत्कृष्ट द्रव्य) को ग्रहण करे और उन्हें कोई देख ले तो छेद यावत् मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५८७. उत्कृष्ट द्रव्य ग्राम के अन्दर और बाहर दृष्ट और अदृष्ट अवस्था में लेने पर आचार्य को क्रमशः छेद, षड्गुरु, षड्गुरु और षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५८८. असंस्तरण में शून्यग्राम में शून्यद्रव्य^२ को ग्रहण करने की विधि यह है—सर्वप्रथम मुनि उद्दृशेष^३ (लुटेरों के खाने के बाद बचा हुआ) जघन्य द्रव्य को गांव के बाहर जब कोई न देखे, तब ले। यदि ग्राम के बाहर न मिले तो अदृष्ट उद्दृशेष को ग्राम के अन्दर ले। उसके अभाव में इसी क्रम से दृष्ट जघन्य द्रव्य ले। फिर इसी क्रम से मध्यम द्रव्य और उत्कृष्ट द्रव्य को अदृष्ट एवं दृष्ट अवस्था में ग्रहण करे।

३५८९. जघन्य, मध्यम आदि सभी द्रव्यों में अदत्तादान का दोष समान है तथा संयमविराधना, आत्मविराधना आदि अपाय भी समान हों तो उसी द्रव्य का ग्रहण करे, जिससे असंस्तरण की आपदा दूर हो सके। इसलिए उस स्थिति में मुनि तुच्छबल वाले (जघन्य) आहार का वर्जन करे।

३५९०. शून्यग्राम (उजड़ी हुई बस्ती) आदि में अशून्य द्रव्य को ग्रहण करने की विधि यह है—वहाँ यदि लूटेरे^४ हों तो उससे उस द्रव्य की याचना करे। उनके अभाव में वहाँ विद्यमान कटपालक—वृद्ध और अजंगम गृहपालकों से आज्ञा प्राप्त कर ले। यह विधि उस कोट्ट (भिल्लदुर्ग) के विषय में प्रज्ञप्त है, जो सार्थभय, चोरभय, परचक्रभय आदि के कारण उजड़ गया हो।

१. कुसण—पानक, मूंग की दाल आदि का पानी।

२. शून्य द्रव्य—जिसका कोई मालिक न हो, ऐसे ही पड़ा हो।

३. निभा ३ चू. पृ. २१९ उड्डसेसं नाम जं लुंटागेहिं अप्पणट्टा बाहिं णीतं, तं भोत्तुं सेसं छड्डियं।

४. विलओलग-लुण्टाका: (लुटेरा)।

३५९१. णंदंति जेण तव-संजमेसु णेव य 'दर त्ति खिज्जंति'^१।
जायंति 'न दीणा वा'^२, 'नंदी^३ खलु समयसण्णा वा'^४ ॥३४६६ ॥
३५९२. फासुगजोणिपरित्ते, एगट्ठि-अबद्ध भिण्णऽभिण्णे य।
बद्धट्ठिगे वि एवं, एमेव य होंति बहुबीए^५ ॥३४६७ ॥
३५९३. एमेव होंति उवरिं, बद्धट्ठिग^६ तह य होंति बहुबीए।
साहारणं सभावा, आदीए बहुगुणं जं च ॥३४६८ ॥
३५९४. परिणिट्ठितजीवजढं^७, जलयं थलयं सचित्तमितरं^८ वा।
'एतं तु दुविधदव्वं, पाणगजतणा इमा होति'^९ ॥३४६९ ॥
३५९५. तुवरे फले य पत्ते, रुक्ख-सिला-तुप्प^{१०}-मदणादीसु।
पासंदणे पवाते, आतवतत्ते वहे^{११} अवहे^{१२} ॥३४७० ॥
३५९६. जड्डे खग्गे महिसे, गोणे गवए य सूयर मिगे य।
दुप्परिवाडीगहणे^{१३}, चाउम्मासा भवे लहुगा ॥३४७१ ॥
३५९७. जे^{१४} भिक्खू असणादी, रातों अणागाढ^{१५} णिक्खिवेज्जाहि।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे^{१६} ॥३४७२ ॥ नि ७१६ ॥
३५९८. अद्धाणे ओमे वा, गेलण्ण परिण्ण दुल्लभे दव्वे।
आगाढं णातव्वं, सुत्तं पुण होतऽणागाढे ॥३४७३ ॥
३५९९. सम्मुच्छंति तहिं वा, अण्णे आगंतुगा व लग्गेति।
तक्केत परंपरतो, परिगलमाणे^{१७} वि एमेव ॥३४७४ ॥

१. दूंसंति दिज्जंति (क, पा)।

२. णंदिया वा (पा), नंदिया वा (बृभाटी)।

३. येनाभ्यवहतेन न द्रुतं पप्पति स नंदी (चू)।

४. नंदि अतो समयतो सन्ना (बृभा २९२०), दे और पा प्रति में यह गाथा ३५९५ के बाद मिलती है, इसलिए हमने प्रति के आधार पर गाथाओं में क्रमव्यत्यय किया है।

५. बृभा २९१८।

६. एगट्ठिय (बृभा २९१९)।

७. परिनिष्ठितं नाम यत् परार्थमचित्तीकृतम् (बृभाटी)।

८. अचिं (बृभा २९२१)।

९. परित्तेतरं च दुविहं पाणगजयणं अतो वोच्छं (बृभा)।

१०. तुप्प त्ति मृतक-कडेवरवशा घृतादिभिः परिणामितम् (बृभाटी)।

११. गाथायां बन्धानुलोम्याद् वहपदस्य पूर्वं पाठः (बृभाटी)।

१२. बृभा २९२२।

१३. उप्परिं (पा, बृभा २९२३)।

१४. सूत्र ७८ (नव ११/७९)।

१५. अणागाढे (मु, भ)।

१६. इस गाथा के लिए चूर्णि में 'इमा णिज्जुत्ती' का संकेत है।

१७. परगं (दे, भ)।

३५९१. नंदी सामयिक (आगमिक) संज्ञा है। जिस भोजन से मुनि तप और संयम में समाधि का अनुभव करते हैं, जिसके उपभोग से शीघ्र कृशता नहीं आती तथा जिसके योग से मुनि दीन नहीं बनते, उस संस्तरणयोग्य द्रव्य का नाम है नंदी।

३५९२, ३५९३. वृक्ष के नीचे पड़े हुए फल प्रासुक, परीत्तयोनिक, एकास्थिक, अबद्धास्थिक, भिन्न (विदारित) और अभिन्न आदि के भेद (सांयोगिक विकल्पों) से अनेक प्रकार के होते हैं। पुनः उनके बहुबीज, बद्धास्थिक आदि के साथ भी अनेक विकल्प हो जाते हैं। इसी प्रकार वृक्षस्थ फल के भी एकास्थिक, बहुबीज आदि के सांयोगिक भंग अनेक बन जाते हैं।^१ इनमें जो फल स्वभावतः साधारण हो (सुलभ एवं शरीरोपष्टंभकारक हो), मुनि वही ग्रहण करे, वही उसके लिए बहुगुण—बहुत उपकारी होता है।

३५९४. द्रव्य के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. परिनिष्ठित-दूसरों के लिए अचित्त किया हुआ और २. जीवविप्रमुक्त-मुनियों के लिए अचित्त किया हुआ (आधाकर्म)। अथवा १. जलज और २. स्थलज अथवा द्रव्य के दो प्रकार हैं—१. सचित्त और २. अचित्त (आयुक्षय होने से स्वयं अचित्त बना हुआ)। प्रस्तुत प्रसंग में पानक विषयक यतना यह (निम्नलिखित) है—

३५९५. अध्वनिर्गत मुनि को यदि कांजिक आदि प्रासुक पानी प्राप्त न हो तो वह निम्न पानक—एक के अभाव में दूसरा, दूसरे के अभाव में तीसरा, क्रमशः ले सकता है—१. तुवर फल—हरीतकी आदि तथा तुवरपत्र—पलाशपत्र आदि से परिणामित पानी २. वृक्ष के कोटर में कटुकफल या पत्र से परिणामित पानी ३. सिलाजित से भावित पानी ४. मर्दन—हाथी आदि से आक्रान्त पानी ५. प्रस्यंदन—निर्झर का पानी प्रपातोदक ६. आतप से तप्त पानी ७. अवहमान—जो बहता नहीं है वह पानी और ८. वहमान।^२

३५९६. आक्रान्त पानी को लेने का क्रम इस प्रकार है—हाथी, गेंडा, महिष, गाय, गवय, शूकर और मृग। आक्रान्त पानक के विषय में जो इस क्रम का उल्लंघन करता है^३, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३५९७. जो भिक्षु अनागाढ़ परिस्थिति में रात्रि में अशन, पान आदि का निक्षेप करता है—परिवासित रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

३५९८. संक्षेप में आगाढ़ के चार प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. क्षेत्रागाढ़—अटवी-प्रपन्न (अध्वनिर्गत) २. कालागाढ़—अवम, दुर्भिक्ष। ३. भावागाढ़—ग्लान और अनशनप्रपन्न (ग्लान प्रायोग्य द्रव्य न मिले या अनशनस्थ मुनि को असमाधि उत्पन्न होने पर दिन या रात में जो द्रव्य देना पड़े) ४. द्रव्यागाढ़—शतपाक, सहस्रपाक आदि दुर्लभ द्रव्य। प्रस्तुत सूत्र अनागाढ़ विषयक है।

३५९९. अशन आदि को परिवासित रखने से उनमें कृमि आदि रसज प्राणी उत्पन्न हो सकते हैं तथा उन पर मक्खी, मच्छर, मकोड़े, चींटियां आदि अन्य आगन्तुक प्राणी भी लग सकते हैं। उन आगन्तुक प्राणियों पर चूहे, छिपकली आदि ताकते रहते हैं, उन पर बिल्ली, बिल्ली पर कुत्ता। इस प्रकार ताकने की परम्परा से अन्यान्य दोषों की उत्पत्ति होती है। अशन, पान आदि भाजन से परिगलित होने पर भी ये सारे दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

१. द्रष्टव्य पीठिका गा. २५६।

२. द्रष्टव्य पीठिका गा. २०१।

३. द्रष्टव्य पीठिका गा. २०२—पूर्ववर्ती का लाभ होने पर भी अग्रिम का ग्रहण करता है।

३६००. लाला तया विसो वा, उंदरपिंडी व पडण मुक्कं वा ।
घरकोइलादिमुत्तण, पिवीलिगा मरण णाणाया ॥३४७५ ॥
३६०१. बितियपदं गेलण्णे, अद्धाणोमे य 'उत्तिमट्टे य'^१ ।
एतेहिं कारणेहिं, जतणाए णिक्खवे भिक्खू ॥३४७६ ॥
३६०२. सबेंट अप्पमुहे वा, ददर मयणादि^२ अपरिभुंजंते ।
उंदरभए सरावं, कंटियउवरिं अहे भूती ॥३४७७ ॥
३६०३. ईसिं भूमिमपत्तं, आसण्णं वावि छिण्णरक्खट्टा ।
पडिलेह उभयकालं, अगीत अतरंत अण्णत्थ ॥३४७८ ॥
३६०४. मंसादि^३ पगरणा खलु, जत्तियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
सेज्जातरेतराण व, जे तत्थासागते भिक्खू^४ ॥३४७९ ॥ नि ७१७ ॥
३६०५. तं रयणिं अण्णत्था, उवाइणा एतरेसु वा तत्थ ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥३४८० ॥ नि ७१८ ॥
३६०६. मंसाण व मच्छाण व, गच्छंता पारियम्मि वयगादी ।
'आणेंति संखडिं'^५ पुण, खलगा जहियं तु^६ सोसंति ॥३४८१ ॥
३६०७. आहेणं दारगतित्तिगाण वधुइत्तगाण व पहेणं ।
वरइत्तादि 'वहेणं, पहेणं'^७ णेंति अण्णत्थ ॥३४८२ ॥
३६०८. सम्मेलो^८ घडा भोज्जं, जं वा अत्थारिगाण पकरेंति ।
हिंगोलं^९ जं हिज्जति, सिवढोढसिवादि करडं वा ॥३४८३ ॥

१. °मट्टेहिं (दे) ।

२. मइलणा (दे), मइलणादि (क) ।

३. सूत्र ७९, ८० (नव ११/८०, ८१) ।

४. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णि में 'इदाणिं णिज्जुत्ती' का संकेत है ।

५. × (दे) ।

६. व (भ) ।

७. जमन्नगिहातो आणिज्जति, तं आहेणं, जमन्नगिहं णिज्जति, तं पहेणं (चू) ।

८. वीवाहभत्तं सम्मेलो । अहवा सम्मेलो गोट्टी तिए भत्तं सम्मेलं भण्णति (चू) कम्मरंभेसु णहासिता जे ते सम्मेलो तेसि जं भत्तं, तं सम्मेलं (चू) ।

९. जं मतभत्तं करडुगादियं, तं हिंगोलं (चू) ।

३६००. परिवासित अशन, पान को कोई सांप सूंघ ले, उसकी विषमिश्रित लार या विषैली त्वचा से वह विषभाषित हो सकता है। कोई चूहे आदि गिर जाए या संवासगत चूहे आदि का बीजनिर्गम हो जाए और अशन आदि में गिर जाए, छिपकली आदि जन्तु प्रस्रवण आदि कर दे। छिपकली के अवयवों से मिश्रित अन्न पेट में जाने से छिपकली सम्मूर्च्छित हो सकती है। विषमिश्रित अन्न आदि से मरण तथा चींटी पेट में जाने से मेधा की हानि हो जाती है, फलतः ज्ञानविराधना संभव है। इस प्रकार परिवासित अशन आदि खाने से संयम विराधना और आत्मविराधना—दोनों की संभावना रहती है।

३६०१. द्वितीय पद में—१. ग्लान्य २. अटवी ३. अवम (दुर्भिक्ष) और ४. उत्तमार्थ—इन कारणों से (असंस्तरण में और समाधि के लिए) यतनापूर्वक भिक्षु अशन आदि का निक्षेप कर सकता है।

३६०२. निक्षेप्य आहार आदि को वृत्तयुक्त तुम्बे या छोटे मुँह वाले घड़े आदि में रखकर उसे चर्म या सघन वस्त्र से ढक दिया जाए और कोई ढक्कन न हो तो शराव आदि का ढक्कन लगा दे। संधिभागों को मोम से अच्छी तरह बन्द कर अपरिभुक्त कोने आदि में रख दिया जाए। यदि चूहों का भय हो तो छींके में लटका दिया जाए। यदि डोरी के सहारे चूहे नीचे उतरते हों तो बीच में एक शराव (सिकोरे) को स्थापित कर दे। अथवा कर्दम में ऊर्ध्वमुख कांटे खड़े कर उनके ऊपर पात्र को स्थापित करे और मुँह पर पुनः कंटिका करे। अथवा ऊपर नीचे दोनों तरफ राख का लेप कर सुरक्षित कर दे।

३६०३. यदि भूमि पर चींटियों का भय हो या चूहों के द्वारा रस्सी कुतर कर भाजन गिराने का भय हो, वहाँ पात्र को रस्सी से बांधकर ईषद् अप्राप्त भूमि पर लटकाए—भूमि से थोड़ा सा ऊपर रखे ताकि यदि चूहे रस्सी काटें, तब भी पात्र टूट कर आहार बिखरे नहीं। उभयकाल (दोनों संध्या में) उसकी प्रतिलेखना करे। आहार को वहाँ स्थापित करे, जहाँ अगीतार्थ और ग्लान न हों अथवा उन्हें अन्यत्र भेज दिया जाए।

३६०४, ३६०५. सूत्र में मांसादि, मत्स्यादि जितने प्रकार के प्रकरणों (भोजों) का उल्लेख हुआ है, वे चाहे शय्यातर द्वारा दिए जाएँ या अन्य किसी के द्वारा, उनमें अशन, पान आदि प्राप्त करने की आशा से जो भिक्षु भोज की पूर्व रात्रि को अन्यत्र बिताता है अथवा अन्य लोगों के द्वारा कृत भोज में वहाँ जाकर बिताता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

३६०६. कुछ लोग मांस अथवा मत्स्य लाने के लिए जाते समय संखड़ी (भोज) का आयोजन करते हैं। कुछ लोग कार्तिकमास आदि में अमांसभक्षण व्रत ग्रहण करते हैं तो उसकी सम्पूर्ति में पारणे में मांसादि, मत्स्यादि भोज देते हैं। कुछ लोग जब मांस लाते हैं तो सर्वप्रथम भोज देकर फिर उसका भोग करते हैं—ये सारे भोज जिनमें मांस पहले दिया जाए, वह मांसादि तथा मत्स्य पहले दिया जाए, वह मत्स्यादि भोज कहलाता है। जिस स्थान पर मांस, मत्स्य आदि सुखाए जाएँ, वह मांसखलक, मत्स्यखलक कहलाता है।

३६०७. जो दारक (वर) गृह में ले जाया जाता है, वह आहेणक तथा वधू गृह में ले जाया जाता है, वह प्रहेणक कहलाता है। अथवा वर और वधू के घर से जो परस्पर एक दूसरे के घर ले जाया जाए, वह सारा भोज्यपदार्थ आहेणक कहलाता है और जो अन्यत्र ले जाया जाए, वह सारा भोज्यपदार्थ प्रहेणक कहलाता है।

३६०८. सम्मेल का अर्थ है गोष्ठी भोज, जो गांवप्रधान और अनुप्रधान द्वारा गांव के बाहर दिया जाता है,^१ यह सहायता करने वाले के लिए किया जाता है।^२ हिंगोल शिव, डोढशिव आदि से सम्बन्धित एक प्रकार का श्राद्धविशेष है, जो गाँव के बाहर जाकर दिया जाता है।^३

१. घडाभोज-गांवप्रधान और अनुप्रधान द्वारा गांव के बाहर दिया जाने वाला भोज।

२. वही-अत्थार-सहायता, सहयोग। (अत्थारक-सहायक)

३. (क) निसू ८० की चू. पृ. २२३—सव्वाण मंसादियाणं जं हिज्जति-णिज्जति त्ति तं हिंगोलं, हुज्जति वा तं हिंगोलं।
(ख) दे.श.को.—करड-श्राद्धविशेष।

३६०९. हीरंतं णिज्जंतं, कीरंतं वावि दिस्स तु तयासा।
अण्णत्थ वसति गंतुं, उवस्सओ होति तुवदेसो ॥३४८४॥
३६१०. सेज्जातरस्स पिंडो, मा होहिति तेण अण्णहिं वसति।
इतरेसु परिजयट्ठा, अणागतं वसति गंतूणं ॥३४८५॥
३६११. दुण्णीय^१ दुण्णिविट्ठा, मत्तुम्मत्ता य तत्थ इत्थीओ।
दट्ठुं भुत्ताभुत्ते, कोउगसरणेहि गमणादी ॥३४८६॥
३६१२. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोहए वा, अप्परिणामेसु जतणाए ॥३४८७॥
३६१३. परिणामएसु अच्छति, आउलछम्मेण जाइ इतरेसु।
जे दोसा पुव्वुत्ता, सा इतरे कारणे जतणा ॥३४८८॥
३६१४. सव्वाणमादियाणं^२, दुविधो^३ पिंडो निवेदणाए उ।
'णिस्साएऽणिस्साए'^४, णिस्साए आणमादीणि ॥३४८९॥ नि ७१९॥
३६१५. चरुगं करेमि इहरा, समणा णेच्छंतुवक्खडं भोत्तुं।
सद्धाकतं ठवेति व, णिस्सापिंडम्मि सुत्तं तु ॥३४९०॥
३६१६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाण-रोधए वा, जतणागहणं तु गीतत्थे ॥३४९१॥
३६१७. उस्सुत्तमणुवदिट्ठं^५, सच्छंदविगप्पितं अणणुवादी^६।
परतत्ति^७-पवत्ते^८ तित्तिणे^९ य इणमो अहाछंदो^{१०} ॥३४९२॥ नि ७२०॥

१. दुण्णिय (भ)।

२. सूत्र ८१ (नव ११/८२)।

३. जो दु° (दे)।

४. णिस्सित्ते अण्णिस्साते (क)

५. सूत्र ८२, ८३ (नव ११/८३, ८४), उस्सुत्तं णाम सुत्तादवेतं, अणुवदिट्ठं णाम जं णो आयरियपरंपरागतं, मुक्ताव्याकरणवत् (चू)।

६. न क्वचित् सूत्रे अर्थे उभए वा अनुपाती भवति, ईदृशं प्ररूपयति (चू)।

७. °त्तित्ति (दे)।

८. °पवित्ते (व्यभा ८६१)।

९. भावे तित्तिणो आहारोवहि-सेज्जाओ इट्ठातो अलभमाणो सोयति जूरति तिप्पति (चू)।

१०. अहाछंदे त्ति जकारव्यञ्जनलोपे कृते स्वरे व्यवस्थिते भवति अहाछंदः, यथा स्वाभिप्रेतं तथा प्रज्ञापयन् अहाछंदो भवति (चू)।

३६०९. मांसादि या सम्मेल आदि भोज के लिए भोज्य सामग्री को घर से उद्यान आदि की तरफ ले जाते हुए देख कर अथवा निर्मिमीयमाण भोज्य पदार्थों को देख कर उन्हें प्राप्त करने की आशा से उपाश्रय से अन्यत्र जाकर रहता है या रहने का उपदेश देता है, उसका प्रतिषेध प्रस्तुत सूत्र का वाच्यार्थ है।

३६१०. इस उपाश्रय में रहने से 'यह भोज शय्यातर पिंड न हो जाए'—ऐसा सोचकर जो भिक्षु अन्यत्र जाकर रहता है अथवा अन्य किसी के द्वारा भोज का आयोजन हो रहा हो, उसमें उनसे परिचय के लिए भोज से पूर्व ही वहां जाकर रहता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३६११. वहां भोजस्थलों में स्त्रियां अप्रावृत या अल्पप्रावृत हो सकती हैं, विह्वल, मत्त या उन्मत्त अवस्था में होती हैं, जिन्हें देखकर भुक्तभोगी श्रमण को स्मृति तथा अभुक्तभोगी श्रमणों को कौतुक (कुतूहल) हो सकता है, फलतः प्रतिगमन (उत्प्रव्रजन) आदि की संभावना रहती है।

३६१२. १. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध—इन सात कारणों से गीतार्थ एवं परिणामक अगीतार्थ श्रमण पंचक परिहाणि से तत्रस्थ संखड़ी में आहार आदि ग्रहण कर सकते हैं और अपरिणामक श्रमणों के विषय में यतना का प्रयोग करते हैं।

३६१३. अगीतार्थ भिक्षु यदि सभी परिणामक हों तो वही रहते हैं। यदि उनमें कुछ भिक्षु अपरिणामक हों तो उन्हें कहते हैं—कल यहाँ भीड़ हो जाएगी, अतः हम अन्यत्र जाकर रह जाएँ—इस प्रकार भीड़ के बहाने (आकुल छद्म)से उन्हें अन्यत्र ले जाएँ। अशय्यातर संखड़ी में अन्य कारणों से उन्हें यतनापूर्वक वहाँ ले जाएँ तथा पूर्वोक्त स्मृति आदि दोषों के विषय में भी यतना का प्रयोग करे।

३६१४. अर्हत्पाक्षिक पुण्यभद्र, मणिभद्र यक्षों के लिए अर्पित किए जाने वाले निवेदना पिंड-नैवेद्य के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. निश्राकृत और २. अनिश्राकृत। जो भिक्षु निश्राकृत नैवेद्य पिण्ड को ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३६१५. गृहस्थ सोचता है—मैं इस आहार को निवेदना (नैवेद्य) के नाम^१ से स्थापित कर दूँ अन्यथा श्रमण स्वयं के लिए उपस्कृत इस आहार को नहीं लेंगे (लेना नहीं चाहेंगे) ऐसा सोच वह आधाकर्म आहार को स्थापित कर देता है, श्रद्धाकृत आहार को स्थापित कर देता है, जब साधु आएँगे, तब दूँगा—ऐसा सोच मिश्र, स्थापित आदि दोष करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में साधु की निश्रा से किए गए नैवेद्य पिण्ड को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। अनिश्राकृत आहार वह होता है, जो चाहे साधु हो या न हो, देवता के लिए पहले से ही उपहृत कर दिया गया, सहज ही साधु आ जाएँ और उन्हें दे दिया जाए—यह कल्पनीय है।

३६१६. १. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध—इन सात आपवादिक कारणों में गीतार्थ यतनापूर्वक^२ निश्राकृत आहार ग्रहण कर सकते हैं।

३६१७. जो भिक्षु उत्सूत्र और अनुपदिष्ट का प्ररूपण करता है, अपने अभिप्राय के अनुसार परिकल्पित अर्थ का कथन करता है, जो सूत्र और अर्थ दोनों दृष्टियों से अननुपाती हो, उसका कथन करता है, जो गृहस्थ-व्यापार (प्रवृत्ति) का संपादक, परचिन्ता (गृहस्थ की चिन्ता) का संवाहक और द्रव्य एवं भाव से तित्तिण वृत्ति होता है, वह यथाच्छन्द कहलाता है।

१. चरुग-नाम, आख्या।

२. पंचक परिहाणि पूर्वक अथवा जैसे अगीतार्थ अपरिणामक न जान सकें, वैसे ग्रहण करे।

३६१८. पडिलेहण-मुहपोत्ती^१, रयहरण-णिसेज्ज-पात^२-मत्तगे पट्टे^३ ।
पडलादि चोल उण्णादसिया पडिलेहणा पोत्ते ॥ ३४९३ ॥
३६१९. दंतच्छिण्णमलित्तं, हरितटिय पमज्जणा य णित्तस्स ।
अणुवादि अणुवादी, परूवण 'चरण-गतीसुं च'^४ ॥ ३४९४ ॥
३६२०. सागारियादिपलियंकणिसेज्जासेवणा य गिहिमत्ते ।
णिग्गंथिचिट्टणादी, पडिसेधो मासकप्पस्स^५ ॥ ३४९५ ॥
३६२१. सेज्जातर-रायपिंडे, उग्गमसुद्धादि को भवे दोसो ।
पडिवत्ति दुविधधम्मो, निसेज्ज नवगे य पलियंके ॥ ३४९६ ॥
३६२२. अणुड्डाहो गिहिमत्ते, निग्गंथीचिट्टणे च सव्वत्थ ।
दोसविमुक्के अच्छे, मासऽधिगं ऊण चरणेवं^६ ॥ ३४९७ ॥
३६२३. चारे वेरज्जे^७ वा^८, पढमसमोसरण तह य 'णित्ति ए य'^९ ।
सुण्णे अकप्पिते वा, अण्णाउंछे य संभोए ॥ ३४९८ ॥
३६२४. खेत्तं गतो य^{१०} अडविं, एक्को संचिक्खते^{११} तहिं चेव ।
तित्थकरो त्ति य पितरो, खेत्तं तू^{१२} भावतो सिद्धी ॥ ३४९९ ॥

१. 'पोत्तिय (व्यभा ८६४) ।

२. छंद की दृष्टि से 'पात' पाठ अतिरिक्त है । व्यभा में यह नहीं है ।

३. पट्टे त्ति उत्तरपट्टो, सो रातो अत्थुरणं कज्जति, भिक्खग्गह-काले तं चेव पडलं कज्जति (चू) ।

४. चारण गतिसुं (दे), 'णमादीसु (व्यभा ८६५) ।

५. व्यभा ८६७ ।

६. व्यभा (८६८/२) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—

गिहिमत्तेणुड्डाहो, निग्गंथीचिट्टणादि को दोसो ।

जस्स तु तधियं दोसो, होही तस्सण्णठाणेसु ॥

७. विगतरायं वेरज्जं (चू) ।

८. या (व्यभा ८६८) ।

९. 'एसु (व्यभा), 'ए उ (दे) ।

१०. उ (व्यभा ८७१) ।

११. 'खती (क, व्यभा) ।

१२. पुण (व्यभा) ।

३६१८, ३६१९. पात्र प्रतिलेखनिका एवं मुखवस्त्रिका, रजोहरणपट्टक एवं बाह्यनिषद्या, पात्र एवं मात्रक, उत्तरपट्ट एवं पटलक, चोलपट्ट, और्णिक-दशिका, वस्त्र प्रतिलेखना, दांतों से नखच्छेदन, अलिप्त पात्र, हरियाली पर स्थित ढेले का ग्रहण तथा अनुपाती, अननुपाती^१—इन विषयों में यथाच्छंद अपने अभिप्राय के आधार पर उत्सूत्र प्ररूपणा करता है। इसी प्रकार चारित्र एवं गति के विषय में भी उसकी प्रतिपत्तियां भिन्न हैं।

३६२०. यथाच्छंद की चरणविषयक प्रतिपत्तियां—१. शय्यातर पिण्ड २. पर्यकनिषद्या ३. गृही-अमत्र का आसेवन ४. निर्ग्रन्थी-उपाश्रय में बैठना तथा ५. मासकल्प का प्रतिषेध।

३६२१, ३६२२. १. उद्गम आदि दोषों से शुद्ध हो तो शय्यातर पिण्ड या राजपिण्ड ग्रहण करने में क्या दोष हैं? २. गृहस्थ के यहां बैठकर मुनि धर्मकथा करेंगे तो गृहस्थ आगार और अनगार धर्म को स्वीकार करेंगे। ३. खटमल आदि जीवों से रहित नए पलंग पर बैठने में क्या दोष है? ४. गृहस्थ-पात्र में आहार करे तो मुनि सहज ही उड्डाह आदि दोषों से बच जाएगा। ५. कुशलचित्त वाला मुनि निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बैठे—इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं। अकुशलचित्त वाले का बैठना तो सर्वत्र ही दोषपूर्ण है। ६. यदि दोष न हो तो मासकल्प से विहार क्यों और दोष हो तो मास से कम ही रहे। अतः मासकल्प विधान का कोई प्रयोजन नहीं।

३६२३. वैराज्य में विचरण, प्रथम समवसरण, नैतिकवास, शून्यवसति, अकल्पिक, अज्ञातउच्छ एवं संभोज के विषय में यथाच्छंद उत्सूत्र प्ररूपणा करता है।^२

३६२४. एक खेत गया, दूसरा जंगल में। तीसरा गांव में रह गया और चौथा घर पर ही।^३ तीर्थकर हमारे पिता तुल्य हैं।^४ भावतः सिद्धि खेत के समान है।

१. यथाच्छन्द की प्ररूपणाविषयक प्रतिपत्तियां—यथा—१. पात्रप्रतिलेखनिका और मुखवस्त्रिका दोनों में से एक ही रखना चाहिए, उसी से स्वकाय तथा भाजन का प्रतिलेखन किया जाए, ताकि सहज में ही एक उपकरण कम हो जाए। २. रजोहरणपट्टक और बाह्यनिषद्या में से एक के द्वारा ही दोनों कार्य किए जा सकते हैं। ३. तरुण को मात्रक और पात्र दो नहीं, केवल पात्र रखना चाहिए। ४. उत्तरपट्ट को रात्रि में बिछाया जा सकता है और भिक्षा ग्रहण के समय वही पटलक के काम आ सकता है, अतः ये अलग-अलग न रखे जाएँ। ५. रात्रि में जो उत्तरपट्ट होता है, दिन में उसी को चोलपट्ट बना लें। ६. रजोहरण की किनारी ऊनी के स्थान पर सूती रखी जाए। ७. यदि प्रतिलेखना का प्रयोजन जीवदया है तो एक ही वस्त्र पर सारी प्रतिलेखना कर, उस वस्त्र की शीतल प्रदेश में प्रतिलेखना करनी चाहिए। ८. नखहरणी की क्या जरूरत है, नख दांतों से ही काट लें। ९. पात्रलेप से आत्म व संयम विराधना संभव है, अतः अलिप्त पात्र रखें। १०. साधु को हरियाली पर पड़े ढेले आदि लेने चाहिए, ताकि उनका (हरियाली के जीवों का) भार हल्का हो। ऐसा न करना अदयालुता है। ११. जीवदया के लिए जैसे बाहर से आते हुए प्रमार्जन किया जाता है, वैसे बाद में भी किया जाए। १२. अगीतार्थ के लिए सारे पद अनुपाती प्रतीत होते हैं, केवल गीतार्थ के लिए ही वे अनभिहित होने से अननुपाती हैं, सदोष हैं।
२. यथाच्छन्द कहता है—१. निर्ग्रन्थों को वैराज्य में गमनागमन का निषेध किया गया है, वह अयुक्त है क्योंकि वैराज्य में जाने से उन्हें सहज रूप से परीषह और उपसर्ग सहन करने का अवसर मिलेगा। २. यदि निर्ममत्व की साधना सध जाए तो प्रथम समवसरण—वर्षावास में उद्गम आदि दोषों से रहित वस्त्र, पात्र लेने में क्या दोष है? ३. नैतिक वास में क्या दोष है प्रत्युत् विहार करने से शीत, उष्ण आदि परीषहों की संभावना है। ४. यदि कोई प्रत्यपाय न हो तो शून्यवसति में क्या दोष है? ५. अकल्पिक के द्वारा आनीत शुद्ध वस्त्र, आहार आदि को ग्रहण करने में क्या दोष है? ६. अज्ञातउच्छ की भिक्षा में क्षुधा, परिश्रम आदि अनेक दोष हैं, अतः श्राद्धकुलों में ही भिक्षार्थ जाना चाहिए। ७. असांभोजिक यदि शुद्ध चारित्र का पालन करता है तो उसके साथ संभोज करने में क्या दोष है? अर्थात् कोई दोष नहीं।
३. यथाच्छन्द गति के विषय में दृष्टान्त देता है—एक किसान ने अपने पुत्रों को खेत में कृषि कार्य करने का निर्देश दिया। पहले पुत्र ने यथोक्त विधि से खेत में कृषि कर्म किया। दूसरा गाँव से निकला, जंगल में जाकर शीतल छाया में बैठ गया। तीसरा पुत्र घर से गया और देवकुल में द्यूत आदि में प्रमत्त हो गया। चौथा घर पर ही रहा। कुछ दिनों बाद पिता चल बसा। जब बंटवारा हुआ तो सारे धन, फल आदि का समविभाग सभी पुत्रों को मिला।
४. हम चार पुत्र हैं—मासकल्प विहारी उद्युक्त साधु, नैतिक वासी, पार्श्वस्थ और गृहस्थ श्रावक। काम करे या घर रहें, पिता के धन-ज्ञान, दर्शन चारित्र में सभी का समान अधिकार है।

३६२५. वेरगितो विवित्तो 'य, भासते'^१ य सहेतुगं।
सासणे भत्तिमं वादी, एवमादी^२ पसंसणा ॥ ३५०० ॥ नि ७२१ ॥
३६२६. एवं तु अहाछंदे, जे भिक्खु पसंसते अहव वंदे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ३५०१ ॥ नि ७२२ ॥
३६२७. बितियपदमणप्पज्जे, पसंस अविकोविते व अप्पज्जे।
जाणंते वावि पुणो, भयसा तव्वादि गच्छट्टा ॥ ३५०२ ॥
३६२८. साधुं^३ उवासमाणो, उवासगो सो वती व अवती वा।
सो पुण णायग इतरो, एवऽणुवासे वि दो भंगा ॥ ३५०३ ॥ नि ७२३ ॥
३६२९. कामं खलु अलसद्धो, तिविधो पज्जत्तए तहिं पगतं।
अणलो अपच्चलो त्ति य, होति अजोगो य^४ एगट्टा ॥ ३५०४ ॥ नि ७२४ ॥
३६३०. अट्टारसपुरिसेसुं, वीसं^५ इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणा अणरिहा, इति अणला एत्तिया भणिता ॥ ३५०५ ॥ नि ७२५ ॥
३६३१. बाले वुड्ढे णपुंसे य, 'जड्ढे कीवे'^६ य^७ वाहिए।
तेणे रायाऽवकारी य, उम्मत्ते य अदंसणे^८ ॥ ३५०६ ॥ नि ७२६ ॥
३६३२. दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिते इय।
उब्बद्धगे^९ य भयए, सेहणिप्फेडियाइ य ॥ ३५०७ ॥ नि ७२७ ॥
३६३३. गुव्विणि बालवच्छा य, पव्वावेउं ण कप्पती^{१०}।
एतेसिं तु परूवण, कातव्वा दुपदसंजुत्ता^{११} ॥ ३५०८ ॥
३६३४. कारणमकारणे वा, कारण जतणेतरा पुणो दुविधा।
एस परूवण दुविधा, 'पगतं दप्पेणिमं सुत्तं'^{१२} ॥ ३५०९ ॥

१. पभासते (क)।

२. एमादी उ (दे)।

३. सूत्र ८४ (नव ११/८५), चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'इमा णिज्जुत्ती' का उल्लेख किया है।

४. त्ति (दे)।

५. × (दे)।

६. कीवे जड्ढे (प्रसा ७९०)।

७. व (मु)।

८. पंकभा २००।

९. ओबद्धगे (पंकभा २०१), प्रसा ७९१।

१०. कप्पए (पंकभा)।

११. पंकभा (२०२) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एसि परूवण दुविधा, उस्सग्गऽववायसंजुत्ता।

१२. एत्तो बालादि वोच्छामि (पंकभा २०३)।

३६२५. यह भी वैरागी है, मूलगुण और उत्तरगुणों के विवेक से सम्पन्न है, सहेतुक कथन करता है, जिन शासन के प्रति भक्तिमान है, जिनप्रवचन का वर्णवाद करता है—(इत्यादि) यह कहना उसकी प्रशंसा है।

३६२६. जो भिक्षु यथाच्छन्द की उपर्युक्त प्रकार से प्रशंसा करता है, अथवा उसको वन्दना करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है। (इससे यथाच्छन्दत्व का अनुमोदन होता है, शैक्ष में गलत संस्कार आते हैं।)

३६२७. द्वितीय पद (अपवाद) है १. कोई अनात्मवश मुनि अथवा अविकोविद आत्मवश मुनि यथाच्छन्द की प्रशंसा कर सकता है। ज्ञान होने पर भी आत्मवश मुनि इन कारणों से यथाच्छन्द की प्रशंसा कर सकता है—१. भय—यथाच्छन्द राजाश्रित या राजवल्लभ हो तो भयवशात् उसकी प्रशंसा करता है। २. किसी परवादी को निरस्त करने के लिए उसकी प्रशंसा या वन्दना करता है और ३. गच्छार्थ—अशिव, अवम आदि में कोई यथाच्छन्द गच्छ की रक्षा करेगा या किसी ने की, अतः उसकी प्रशंसा करता है।

३६२८. साधु की उपासना करने वाला उपासक कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं—व्रती और अव्रती। पुनः उनके दो-दो प्रकार हो जाते हैं—१. ज्ञातक (स्वजन या परिचित) और २. अज्ञातक (अस्वजन या अपरिचित)। इसी प्रकार अनुपासक के भी ये ही दो-दो प्रकार हो सकते हैं।

३६२९. प्रश्नकर्ता—अलं शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—१. पर्याप्त २. भूषण और ३. वारण (निषेध)। आचार्य—ठीक है, अलं शब्द तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह पर्याप्त अर्थ में प्रकृत है। अतः अनल, अप्रत्यल (अपर्याप्त) और अयोग्य—ये एकार्थक हैं।

३६३०. पुरुषों में अठारह, स्त्रियों में बीस और नपुंसकों में दस प्रव्रज्या के अनर्ह होते हैं, अतः इतने व्यक्तियों को अनल कहा गया है।

३६३१, ३६३२. अठारह पुरुष प्रव्रज्या के अनर्ह होते हैं—१. बाल २. वृद्ध ३. नपुंसक ४. जडु (असमर्थ)^१ ५. क्लीब ६. व्याधित ७. स्तेन ८. राजा का अपकारी ९. उन्मत्त १०. अदर्शन (अन्ध) ११. दास १२. दुष्ट (द्विष्ट) १३. मूढ़ १४. ऋणार्त (कर्जदार) १५. जुंगित १६. उद्बद्ध (शिल्प आदि में शर्त प्रतिबद्ध) १७. भृतक और १८. अपहृत या निष्कासित शैक्ष (शैक्ष निस्फेटिक)^२

३६३३. गर्भवती एवं छोटे बच्चे की मां को दीक्षा देना नहीं कल्पता।^३ इनकी प्ररूपणा द्विपद संयुक्त—दो पदों से युक्त करनी चाहिए अर्थात् कारण-अकारण, यतना-अयतना—इन दो पदों से इनकी प्ररूपणा की जाती है।

३६३४. गर्भवती आदि स्त्रियों की प्रव्रज्या विषयक द्विविध प्ररूपणा यह है—किसी कारण विशेष से उन्हें प्रव्रज्या देना या कारण के बिना दर्पवशात्। कारण में भी यतनापूर्वक प्रव्रज्या देना या यतना रहित। प्रस्तुत सूत्र दर्पविषय में अधिकृत है। (दर्प से अनर्ह को दीक्षा देने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

१. जडु—अशक्त, असमर्थ।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—गा. ३६३३-३७५०।

३. पुरुषों के अठारह भेदों के साथ दो और मिलाने पर दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के बीस प्रकार हो जाते हैं।

३६३५. तिविधो य 'होति बालो'^१, उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य ।
एतेसिं 'पत्तेयं, तिण्हं पि'^२ परूवणं वोच्छं ॥३५१० ॥ नि ७२८ ॥
३६३६. सत्तट्टगमुक्कोसो, छप्पणमज्झो 'तु जाव तु'^३ जहण्णो ।
एवं वयणिप्फण्णं, 'भावो वि वयाणुवत्ती वा'^४ ॥३५११ ॥ नि ७२९ ॥
३६३७. उक्कोसो दट्टूणं, मज्झिमगो ठाति वारितो संतो ।
जो पुण जहण्णबालो, हत्थे गहितो वि ण वि ठाति^५ ॥३५१२ ॥
३६३८. छिंदंतमछिंदंता, तिण्णि वि हरितादि वारिता संता ।
'उक्कोसो जइ छिंदति, ताणि पुणो ठाति तो दिट्ठो'^६ ॥३५१३ ॥
३६३९. मंडलगम्मि वि धरितो, एवं वा दिट्ठ चिट्ठति तहेव ।
मज्झिमगो मा छिंदसु, ठायति ठाणं णहिं^७ चिट्ठे ॥३५१४ ॥
३६४०. दाहिणकरम्मि^८ गहितो, वामकरेणं स छिंदति तणाणि ।
न य ठाति तहिं ठाणे, अह रुज्झति विस्सरं रुवति^९ ॥३५१५ ॥
३६४१. जह भणितो तह चिट्ठति^{१०}, पढमो बितिएण^{११} फेडितं ठाणं ।
ततितो ण ठाति ठाणे, 'एस विधी होति तिण्हं पि'^{१२} ॥३५१६ ॥
३६४२. एगुणतीस^{१३} वीसा, 'एगुणवीसा य'^{१४} तिविधबालम्मि ।
पढमे तवो बितिए मीसो, ततिए छेदो व मूलं वा^{१५} ॥३५१७ ॥

१. होंति बाला (दे) ।

२. तिण्हं पी पत्तेय (पंकभा २०४) ।

३. य चतु-तिय (पंकभा २०५) ।

४. सभावओ होंति णवभेदा (पंकभा) ।

५. पंकभा २०८ ।

६. पंकभा (२०७) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पुणरवि य छिंदमाणा, जइ दिट्ठ गुरूण वऽण्णेणं ।

७. तहिं (क) ।

८. °करे वि (दे) ।

९. तु. पंकभा २०९ ।

१०. तु ठितो (भ, पंकभा) ।

११. बीएण (पंकभा) ।

१२. अह रुब्भति विस्सरं रुयति (पंकभा २१०) ।

१३. एककूणं (क), अउणत्तीसा (पंकभा २१२) ।

१४. इगुवीसा चेव (पंकभा) ।

१५. इस गाथा का उत्तरार्ध पंकभा (२१२) में इस प्रकार है—

तव-छेद वीसु पढमे, बिति मिस्सा ततिय छेदाइं ।

३६३५. बाल के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. उत्कृष्ट २. मध्यम और ३. जघन्य। इन तीनों में प्रत्येक की प्ररूपणा करूंगा।

३६३६. जन्म से सात, आठ वर्ष का बच्चा उत्कृष्ट बाल, छह और पाँच वर्ष का मध्यम और उससे छोटा यावत् चार वर्ष तक का बच्चा जघन्य बाल है। यह व्रतनिष्पन्न (दीक्षा की अपेक्षा से बालत्व) है, क्योंकि भाव प्रायः व्रतानुवर्ती होता है या भाव प्रायः अवस्थानुरूप (वयानुवर्ती) होता है।

३६३७. उत्कृष्ट बाल यदि किसी सावद्य योग में प्रवृत्त होता है तो गुरु आदि के देख लेने मात्र से रुक जाता है। मध्यम बाल को निषेध कर दिया जाए तो रुक जाता है, किन्तु जघन्य बाल का हाथ भी पकड़ लिया जाए तो नहीं रुक पाता।

३६३८. तीनों प्रकार के बाल को हरित आदि के छेदन से रोका जाए तो उनकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है जैसे—उत्कृष्ट बाल यदि छेदन आदि क्रियाएं करता है तो जैसे ही गुरु आदि देखें तो वह रुक जाएगा, एक बार छेदन से निवृत्त हो जाएगा।

३६३९. मंडल का आलेखन कर उन्हें कहा जाए—इस सीमा में ही रहना है तो उत्कृष्ट बाल जब तक गुरु आदि देखेंगे, तब तक वहीं शान्त बैठा रहेगा। मध्यम बाल भी 'मत काटो' कहकर रोकने पर छेदन से रुक जाएगा। मंडल की मर्यादा को लांघकर पास में बैठा रहेगा।

३६४०. जघन्य बाल को दायां हाथ पकड़कर तृण-छेदन से रोका जाए तो वह बायें हाथ से छेदन करने लगेगा। मंडल बनाकर रोकने पर रुकेगा नहीं। अपितु पैरों से उस रेखा को ही तोड़ देगा। यदि जबरदस्ती रोकना चाहें तो विस्वर में रोने लगेगा।

३६४१. इस प्रकार तीन प्रकार के बाल की लक्षण या स्वरूप विधि यह है—पहला जैसे कहा जाए, वैसे रह जाता है। दूसरा उस स्थान से स्फिडित (च्युत) हो जाता है, पर पास जाकर या वारित होने पर रुक जाता है। तीसरा स्थान पर नहीं रहता है। (मनमर्जी करता है / बाल हठ करता है।)

३६४२. उपर्युक्त तीन प्रकार के बाल को प्रव्रजित करने के बाद शिक्षा देने और न देने पर क्रमशः उन्नीस, बीस और उनतीस दिनों से प्रायश्चित्त वृद्धि होती है। प्रथम—उत्कृष्ट बाल को शिक्षा देने आदि पर तप प्रायश्चित्त, दूसरे को शिक्षा देने, न देने पर मिश्र (तप और छेद) तथा तीसरे के विषय में छेद व मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३६४३. एगूणतीस^१ दिवसे, सिक्खावेंतस्स मासिगं लहुगं।
उक्कोसगम्मि बाले, ते चेव असिक्खणे गुरुगो ॥ ३५१८ ॥
३६४४. अण्णे अउणत्तीसं, गुरुगो सिक्खेअसिक्खे^२ चतुलहुगा।
पुणरवि अउणत्तीसं, 'लहुगा सिक्खेतरे गुरुगा'^३ ॥ ३५१९ ॥
३६४५. अण्णे वि^४ अउणत्तीसं, 'गुरुगा सिक्खे असिक्ख छल्लहुगा'^५।
छल्लहुगा सिक्खम्मी, असिक्ख गुरुगा अउणत्तीसं ॥ ३५२० ॥
३६४६. एमेव य छेदादी, लहुगा गुरुगा य होंति^६ मासादी^७।
सिक्खावेंतमसिक्खे^८, मूलेक्कदुगं तहेक्केक्कं ॥ ३५२१ ॥
३६४७. अहवा एसेव^९ गमो, दिणेहि सिक्खेतरवज्जितो होति।
मासादी तवछेदा, मूलादीगे दिणेक्केक्कं^{१०} ॥ ३५२२ ॥
३६४८. अहवा एसेव^{११} तवो, छेदो पणगादिओ लहू गुरुगो।
जा छम्मासे णेओ, ततो मूलं दुगं चेव^{१२} ॥ ३५२३ ॥
३६४९. मज्झिम वीसं लहुगो, सिक्खमसिक्खस्स मासिगो छेदो।
अण्णे वीसं सिक्खे, लहुगो छेदितर मासगुरु ॥ ३५२४ ॥
३६५०. अण्णे वीसं सिक्खे, मासगुरु तवो असिक्खे सो छेदो।
पुणरवि सिक्खे छेदो, गुरुगो^{१३} ऽसिक्खम्मि चउलहुगा ॥ ३५२५ ॥
३६५१. एवं अड्डोक्कंती, नेतव्वं जाव छग्गुरु छेदो।
तेण परं मूलेक्कं, दुगं च एक्केक्कं जाण ॥ ३५२६ ॥
३६५२. अहवा सिक्खासिक्खे, तव-छेदा मासिगादि जा लहुगा।
एवं जा छम्मासा, मूलेक्कदुगं तहेक्केक्कं ॥ ३५२७ ॥

१. °त्तीसं (भ), अउणत्तीसं (पंकभा २१३)।

२. सिक्खमसि° (पा)।

३. गुरुगा सिक्खे य छल्लहुगा (पंकभा २१४)।

४. × (दे, पंकभा)।

५. सिक्खाविंतस्स होति पच्छत्तं (पंकभा २१५)।

६. होंति छेद (दे)।

७. गाथा का पूर्वाद्धं पंकभा (२१७) में इस प्रकार है—
अहवा सो चेव तवो, छेदादी मासमादिया होंति।

८. सिक्खविंतमसि° (पा)।

९. सो चेव (पंकभा २२०)।

१०. यह गाथा दे प्रति में नहीं है।

११. एमेव (दे)।

१२. पंकभा (२१८) में यह गाथा इस प्रकार है—
अहवा सो चेव तवो, छेदो पणगादि जाव छम्मासा।
सिक्खाविंतमसिक्खे, लहु-गुरु एक्केक्क इगुतीसा ॥

१३. गुरुगं (दे)।

३६४३-४६. उत्कृष्ट बाल को प्रव्रजित कर उनतीस दिनों तक शिक्षा दी जाए तो मासलघु और शिक्षा न दी जाए तो मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अग्रिम (अन्य) उनतीस दिनों तक शिक्षा देने पर मासगुरु और न देने पर चतुर्लघु, उससे अग्रिम उनतीस दिनों तक पुनः उसी क्रम से चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पुनः अग्रिम उनतीस दिनों तक शिक्षा और अशिक्षा से क्रमशः चतुर्गुरु और षड्लघु तथा इसी क्रम से षड्लघु और षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आगे इसी क्रम से षड्गुरु और मासलघु छेद, मासलघु छेद और मासगुरु छेद यावत् षड्गुरु छेद पर्यन्त ज्ञातव्य है। इसके पश्चात् शिक्षा और अशिक्षा से इसी प्रकार क्रमशः एक दिन का मूल, एक दिन का अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३६४७. अथवा उत्कृष्ट बाल को प्रव्रजित कर शिक्षा देने और न देने पर इसी विधि से लघुमास तप से प्रायश्चित्त प्रारम्भ कर षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, लघु, गुरु पनक छेद से यावत् छह मास छेद प्रायश्चित्त और मूल आदि एक-एक दिन के ज्ञातव्य हैं।

३६४८. अथवा उत्कृष्ट बाल को प्रव्रजित करने के उनतीस दिन बाद तक मासलघु तप, मासगुरु तप और छेद पनक आदि से छहमास पर्यन्त ज्ञातव्य है और इसके पश्चात् मूल और द्विक-अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त एक-एक दिन के ज्ञातव्य हैं। इसमें शिक्षा और अशिक्षा का विकल्प नहीं होता—यह ज्ञातव्य है।

३६४९-३६५१. मध्यम बाल को प्रव्रजित कर बीस दिनों तक शिक्षा दी जाए तो मासलघु और शिक्षा न दी जाए तो मासलघु छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अग्रिम बीस दिनों तक शिक्षा देने या न देने पर क्रमशः मासलघु छेद और मासगुरुतप, पुनः अग्रिम बीस दिनों में मासगुरु तप और चतुर्लघु छेद यावत् इसी क्रम से अर्धापक्रान्ति^१ के आधार पर षड्गुरु छेद तक प्रायश्चित्त वृद्धि ज्ञातव्य है। उसके पश्चात् इसी क्रम से क्रमशः एक-एक दिन का मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३६५२. अथवा मध्यम बाल को शिक्षा देने और न देने पर क्रमशः बीस-बीस दिन के क्रम से मासलघु तप, मासलघु छेद, मासलघु छेद और मासगुरु तप यावत् षड्गुरु छेद और उसके बाद एक-एक दिन का मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।

१. अर्धापक्रान्ति का अर्थ है आधा अपक्रमण (पीछे लौटना)। प्रायश्चित्त के प्रसंग में जहां प्रत्येक पद में दो प्रायश्चित्त हों, वहां अग्रिम पद में एक प्रायश्चित्त पीछे लौटता है, जैसे—प्रथम बीस दिन के प्रायश्चित्त हैं मासलघु और मासलघु छेद तो अग्रिम पद का प्रायश्चित्त है मासलघु छेद और मासगुरु तप।

३६५३. दो लहुगा दो गुरुगा, तव-छेदा जाव होंति छग्गुरुगा ।
तेण परं मूलेक्कं, दुगं च एक्केक्कगं जाणे ॥ ३५२८ ॥
३६५४. एगुणवीसजहण्णे^१, सिक्खावेतस्स मासिगो छेदो ।
सो च्चिय असिक्ख^२ गुरुगो, एवऽड्ढोक्कंति जा चरिमं ॥ ३५२९ ॥
३६५५. अहवा पढमे छेदो, 'तद्विसं चव हवति'^३ मूलं वा ।
एमेव होति^४ बितिए, ततिए पुण होति मूलं तु ॥ ३५३० ॥
३६५६. बंभस्स वतस्स फलं, अयगोले चव होंति छक्काया ।
'राईभत्ते चारग, अयसंऽतराएँ'^५ य पडिबंधो ॥ ३५३१ ॥
३६५७. ऊणट्ठे णत्थि चरणं, पव्वावेतो वि भस्सते^६ चरणा ।
मूलावरोधिणी खलु, णारभती वाणिओ चेट्ठं ॥ ३५३२ ॥
३६५८. उग्घातमणुग्घातं, णारुणं छव्विधं तवोकम्मं ।
तवगुणलक्खणमेतं^७, जिणचोद्दसपुव्विए^८ दिक्खा ॥ ३५३३ ॥
३६५९. उग्घातमणुग्घातो, मासो चउ छच्च छव्विह तवो उ ।
एमेव छव्विहो वी^९, छेदो सेसाण एक्केक्कं ॥ ३५३४ ॥
३६६०. पव्वावेति जिणा खलु, चोद्दसपुव्वी य जो य अतिसेसी ।
एते अव्ववहारी, गच्छगते इच्छिमो णाउं ॥ ३५३५ ॥
३६६१. सत्थाए अतिमुत्तो, मणगो सेज्जंभवेण पुव्वविदा ।
पव्वावितो^{१०} य वइरो, छम्मासो सीहगिरिणा वि ॥ ३५३६ ॥

१. एगूणं (दे), अउणावीसं (पंकभा २२५) ।

२. सिक्खे (भ) ।

३. °वसं होंति चव (दे) ।

४. हवति (क) ।

५. णिसिभत्तमंतराए, चारग अजसो (पंकभा २२९) ।

६. भस्सती (दे, पंकभा २३४) ।

७. एमेव छेदछव्विह (पंकभा २३५) ।

८. °णचउदसं (मु) ।

९. च्चिय (पंकभा २३६), व्वि (पा) ।

१०. अतिसेसिणा (पंकभा २३९) ।

३६५३. इस प्रकार इस क्रम में दो लघु-मासलघु तप, मासलघु छेद, फिर दो गुरु यावत् षड्गुरु छेद पर्यन्त प्रायश्चित्त के बाद एक-एक दिन का मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।

३६५४, ३६५५. जघन्य बाल को प्रव्रजित कर उन्नीस दिनों तक शिक्षा देने और न देने पर क्रमशः मासलघु छेद और मासगुरु छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन्नीस-उन्नीस दिनों से अर्धापक्रान्ति के क्रम से चरम (पारांचित) प्रायश्चित्त पर्यन्त ज्ञातव्य है। अथवा प्रथम (उत्कृष्ट) और द्वितीय (मध्यम) बाल को प्रव्रजित करने पर उसी दिन छेद या मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तृतीय (जघन्य) बाल को दीक्षा देने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१

३६५६. १. बाल साधु को देखकर गृहस्थ व्यंग्य पूर्वक कहते हैं—अहो! इन श्रमणों को इसी भव में ब्रह्मव्रत का फल मिल गया है। २. छोटा बच्चा (बालमुनि) सुतस अयोगोलक के समान षट्काय का उपघातक होता है। ३. वह अज्ञतावश रात्रि में भक्तपान मांगे और दिया जाए तो संयमविराधना और न दिया जाए तो परिताप होता है। ४. बेचारे को बचपन में ही कैद में डाल दिया, देखो! इन्हें जरा भी दया नहीं आती—इत्यादि अपयश होता है। ५. बच्चे को बार-बार रोकने पर अन्तराय तथा ६. उसके प्रतिबंध से विहार न करने पर नैतिक वास संबंधी दोष होते हैं।

३६५७. आठ वर्ष से छोटे बच्चे में चारित्र नहीं होता, प्रत्युत् जो उसे दीक्षा देता है, वह भी चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोई भी वणिक् मूल पूंजी का हास करने वाला व्यापार नहीं करता, उसी प्रकार मुनि भी उसे प्रव्रजित न करे, जिससे उसके स्वयं के चारित्र का हास हो।

३६५८. उद्घात (लघु) और अनुद्घात (गुरु) के भेद से षड्विध तपःकर्म तथा बाल को दीक्षा देना तपोगुण लक्षण वाला है—मासिक आदि प्रायश्चित्त योग्य कर्म है—ऐसा जानकर बाल को दीक्षा न दे। तीर्थकर और चतुर्दशपूर्वी मुनि बाल को दीक्षा दे सकते हैं। यह अपवाद है।

३६५९. तप प्रायश्चित्त के छह प्रकार हैं—१. मासिक उद्घातिक, २. मासिक अनुद्घातिक, ३. चातुर्मासिक उद्घातिक, ४. चातुर्मासिक अनुद्घातिक, ५. षण्मासिक उद्घातिक और ६. षण्मासिक अनुद्घातिक। इसी प्रकार छेद प्रायश्चित्त के भी मासलघु आदि छह प्रकार हो जाते हैं। शेष—मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित के एक-एक प्रकार होते हैं।

३६६०. तीर्थकर, चतुर्दशपूर्वी और अतिशेषी—अतिशय निमित्त ज्ञानी आदि बाल को दीक्षा दे सकते हैं। किन्तु ये अव्यवहारी (व्यावहारिक मर्यादाओं से अतीत) होते हैं। अतः हम गच्छवासी मुनि की एतद् विषयक विधि जानना चाहते हैं।

३६६१. शास्ता—तीर्थकर महावीर ने अतिमुक्तक कुमार को, पूर्ववित् आचार्य शय्यंभव ने मनक तथा अवितथ निमित्तज्ञ आर्य सिंहगिरि ने छहमास के बालक वज्र को प्रव्रजित किया।

१. प्रश्नकर्ता—उत्कृष्ट और मध्यम बाल को दीक्षा देने से छेद या मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है जबकि जघन्य बाल को दीक्षा देने पर मूल, ऐसा क्यों? आचार्य—यदि चारित्र संभव हो तो छेद और चारित्र न हो तो मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जघन्य बाल को दीक्षा देने पर चारित्राभाव हो जाता है अतः केवल मूल प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है।

३६६२. उवसंते व^१ महकुले, णातीवग्गे व^२ सण्णि-सेज्जतरे ।
अज्जाकारणजाते, 'अणुणाता बालपव्वज्जा'^३ ॥ ३५३७ ॥
३६६३. विपुलकुल्ले अत्थि बाला, णातीवग्गे व सेवगादिमते^४ ।
जणवायरक्खगो सारवेति आसण्णबालाई^५ ॥ ३५३८ ॥
३६६४. एवं सण्णितराण^६ वि, अज्जाय व डिंडिबंध^७ पडिणीए ।
कज्जं करेमि सचिवो, जइ मे पव्वावयह बालं ॥ ३५३९ ॥
३६६५. भत्ते पाणे धोवण^८, 'सारण तह'^९ वारणा णिउंजणता ।
चरण-करण-सज्जायं, गाहेतव्वो पयत्तेणं ॥ ३५४० ॥
३६६६. णिद्धमधुरेहि आउं, पुस्सति देहिंदिपाडवं मेहा ।
अच्छंति जत्थ णज्जति, सड्ढादिसु पीहगादीया^{१०} ॥ ३५४१ ॥
३६६७. तिविधो य होति वुड्ढो, उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य ।
एतेसिं 'पत्तेयं, परूवणा होति तिण्हं पि'^{११} ॥ ३५४२ ॥ नि ७३० ॥
३६६८. दस आउविपागदसा^{१२}, अट्टमवरिसादि 'दिक्ख पढमाए'^{१३} ।
सेसासु छसु वि दिक्खा, पब्भारादीसु सा ण भवे ॥ ३५४३ ॥
३६६९. अट्टमि दस उक्कोसो, मज्झो णवमीइ जहण्ण दसमीए ।
जं तुवरिं तं हेट्ठा, भयणा व बलं समासज्ज ॥ ३५४४ ॥ नि ७३१ ॥

१, २. वि (मु) ।

३. बाले पव्वज्जऽणुण्णाता (पंकभा २४१) ।

४. पंकभा (२४३) में इसका पूर्वाद्धं इस प्रकार है—
णातीवग्गे य तहा, थेरगमादीमयम्मि संतम्मि ।

५. °बालादी (दे) ।

६. तरो त्ति सेज्जातरो (चू) ।

७. डिंडिबंधो जातो गर्भसंभव इत्यर्थः (चू) ।

८. धोवण त्ति अब्भंगणुवट्टणहणं च से फासुएण कीरति

कप्पकरणेण य तेयस्सी भवति (चू) ।

९. सारणया (पंकभा २४६) ।

१०. पंकभा २४७ ।

११. तिण्हं पी पत्तेय परूवणं वोच्छं (पंकभा २५०) ।

१२. तहियं पढमदसाए (पंकभा २५३), जं जम्मि काले आउयं
उक्कोसं दसधा विभत्तं दस आउविपागदसा भवति

अनुभागेन युक्तो विभागो दशा उच्यते (चू) ।

१३. होति दिक्खा तु (पंकभा) ।

३६६२. गच्छवासी के लिए बाल प्रव्रज्या अनुज्ञात है, उसके कारण हैं—१. महाकुल की उपशान्ति, २. ज्ञातिवर्ग, ३. श्रावक, ४. शय्यातर, ५. आर्या और ६. कारणजात (अन्य कारण)।^१

३६६३. १. कोई बहुत बड़ा कुल (कुटुम्ब) दीक्षा लेना चाहता है, उसका आग्रह हो कि हमारे इस बच्चे को दीक्षा दें तो हम सब प्रव्रजित हो जाएं, उसे कहना चाहिए—अपने बच्चे को किसी ज्ञातिजन के पास छोड़ कर प्रव्रजित हो जाओ। यदि वे किसी के पास न रखना चाहें या कोई बच्चे को न रखना चाहे तो उन सब को प्रव्रजित कर दे, पर एक के लिए सबको न रोके। २. किसी साधु के सारे ज्ञातिजन अशिव आदि में कालकवलित हो गए। केवल एक बच्चा बचा। जिसका कोई संरक्षक नहीं, तब जनापवाद (अपयश) न हो इसलिए उस आसन्न ज्ञातिजन (पुत्र, भाई आदि) को बचपन में प्रव्रजित करना कल्पता है।

३६६४. ३. श्रावक और ४. शय्यातर का भी कोई अनाथ बालक हो तो उपर्युक्त स्थिति में संरक्षण हेतु प्रव्रजित किया जा सकता है। ५. कोई प्रत्यनीक या कामातुर बलात् किसी आर्या का प्रतिसेवन कर ले और दुर्भाग्यवश उसके डिंडिबंध गर्भ ठहर जाए। यदि वह आर्या संयमार्थी है तो उसका परित्याग नहीं किया जाता। जब प्रसव हो जाता है तो बच्चे को दीक्षित कर दिया जाता है, जैसे सत्यकि। ६. कुल, गण अथवा संघ का कोई विशिष्ट प्रयोजन उपस्थित हो जाए या अशिव, अटवी आदि कोई आगाढ़ परिस्थिति हो, उस समय कोई सचिव (मंत्री) कहे—यदि आप मेरे इस बच्चे को दीक्षा दें तो मैं आपका यह कार्य कर दूंगा—इत्यादि कारणों में गच्छवासी मुनि के लिए भी बाल को दीक्षा देना अनुज्ञात है।

३६६५. यदि आपवादिक कारणों से बाल को प्रव्रजित किया जाए तो स्निग्ध, मधुर एवं ऋतु के अनुकूल भक्तपान से उसका वर्धापन किया जाए, अपेक्षानुसार प्रासुक द्रव्य से अभ्यंगन, कल्पकरण आदि किया जाए, पूर्वप्रज्ञप्त प्रतिलेखना आदि कार्यों की स्मृति, हरियाली-छेदन-क्रीड़ा आदि से निषेध और चरण-करण में उसका नियोजन करना चाहिए तथा प्रयत्नपूर्वक उसको स्वाध्याय में अवगाहन करवाना चाहिए।

३६६६. स्निग्ध एवं मधुर आहार से आयुष्य दीर्घ होता है, शरीर एवं इन्द्रियपाटव को पुष्टि प्राप्त होती है। क्षीर आदि से मेधा का विकास होता है, अतः बाल साधु को स्निग्ध, मधुर आहार करवाना चाहिए। जहां श्रावकों को यह ज्ञात हो कि यह अमुक का पुत्र है, वहां रहना चाहिए ताकि श्राद्धकुलों में सहज रूप से ही पीठक (बच्चों के सोने का पीढ़ा) आदि वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हैं।

३६६७. वृद्ध के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. उत्कृष्ट, २. मध्यम और ३. जघन्य। इन तीनों में प्रत्येक की प्ररूपणा की जाती है।

३६६८. आयु विपाक के आधार पर मनुष्य की दस अवस्थाएं प्रज्ञप्त हैं। प्रथम अवस्था में आठ वर्ष के बाद (गर्भ सहित आठवें वर्ष में भी) दीक्षा दी जा सकती है। शेष (अग्रिम) छह अवस्थाओं में भी दीक्षा की अनुज्ञा है। प्राग्भारा आदि तीन दशाओं में दीक्षा नहीं होती।

३६६९. आठवीं दशा वाला उत्कृष्ट, नवमी दशा वाला मध्यम और दसवीं दशा वाला मनुष्य जघन्य वृद्ध होता है अथवा जो ऊपर के लिए कहा गया है, उसे नीचे की ओर किया जाए तो आठवीं दशा वाला उत्कृष्ट, नवीं दशा वाला मध्यम तथा दसवीं दशा वाला जघन्य वृद्ध होता है—यह गुणवत्ता की दृष्टि से है। अथवा इन तीनों दशाओं में बल की अपेक्षा से विकल्प करने चाहिए—जो जघन्य बल वाला है, भिक्षा, प्रतिलेखना आदि की दृष्टि से अशक्तप्रायः है, वह जघन्य, मध्यम बल वाला मध्यम तथा अधिक (उत्कृष्ट) बल वाला उत्कृष्ट वृद्ध है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ३६२३, ३६६४।

३६७०. बाला 'मंदा किड्डा'^१, पबला पण्णा य हायणी।
पवंचा पब्भारा या, मुम्मही सायणी तहा^२ ॥ ३५४५ ॥
३६७१. केसिंचि एववादी, वुड्डो उक्कोसगो उ जा सयरी।
'अट्टमदसा वि'^३ मज्झो, नवमी-दसमीसु तु जहन्नो ॥ ३५४६ ॥
३६७२. उक्कोसो दट्टुणं, मज्झिमगो ठाति वारितो संतो।
जो पुण जहण्णवुड्डो, हत्थे गहितो नवरि ठाति^४ ॥ ३५४७ ॥
३६७३. जह भणितो तह उट्टितो, पढमो बितिण्ण^५ फेडितं^६ ठाणं।
ततितो न ठाति ठाणे, एस विधी होति तिण्हं पि^७ ॥ ३५४८ ॥
३६७४. एगुणतीस वीसा, एगुणवीसा^८ य तिविध वुड्डम्मि।
पढमे तवो बितीए, मीसो छेदो मूलं^९ च ततियम्मि^{१०} ॥ ३५४९ ॥
३६७५. आवासग^{११} छक्काया, कुसत्थ सोए य भिक्ख पलिमंथो।
थंडिल्लअपडिलेहा^{१२}, ऽपमज्ज पाढे करणज्जो ॥ ३५५० ॥
३६७६. थंडिल्लं न वि पासति, दुब्बलगहणी य गंतु ण चएति।
'अण्णस्स वि'^{१३} वक्खेवो, चोदण इहरा विराधणता^{१४} ॥ ३५५१ ॥
३६७७. उट्टेंत निवेसंते, चंकम्मंते अवाउडियदोसा।
पडिलेह-भिक्खगहणे^{१५}, पायवधो उवधिवीसरणं^{१६} ॥ ३५५२ ॥

१. किड्डा मंदा (दे, पंकभा, दशनि ९/१, स्था १०/१५४/१)। ९. मुद्रित पुस्तक में छेदो मूलं पाठ है, लेकिन यहां मूल पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है।
२. तु. पंकभा २५२, दश्रुनि ३। १०. पंकभा (२५९) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पत्तेयं तव-छेदा, पढमे बिति-मीस-तव-छेदा।
३. अट्टमदसाए (पंकभा २५५)। ११. आवस्सग (पंकभा २६१)।
४. पंकभा २५७। १२. थंडिल अप्पडिं (पंकभा)।
५. बीएण (क)। १३. °स्सा (दे)।
६. फोडियं (दे)। १४. पंकभा २६५।
७. पंकभा (२५८) में यह गाथा इस प्रकार मिलती है—
ठाणे य चिट्टसु ती, जह भणितो तह ठितो भवे पढमो।
बीएण फेडितं तं, ततितो ण वि ठायती ठाणे ॥ १५. × (दे)।
८. एगुणं (भ, दे), अउणावीसा (पंकभा)। १६. तु. पंकभा २६८।

३६७०. दस अवस्थाएं प्रज्ञप्त हैं—१. बाला, २. मंदा, ३. क्रीड़ा, ४. प्रबला, ५. प्रज्ञा, ६. हायनी, ७. प्रपञ्चा, ८. प्राग्भारा, ९. मुन्मुखी और १०. शायनी या स्वापनी।

३६७१. कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—सत्तर वर्ष तक उत्कृष्ट वृद्ध होता है, आठवीं दशा को प्राप्त मध्यम वृद्ध तथा नवीं और दसवीं दशा वाला जघन्य वृद्ध होता है।

३६७२. उत्कृष्ट वृद्ध यदि किसी सावद्ययोग में प्रवृत्त होता है तो गुरु आदि के देख लेने मात्र से रुक जाता है। मध्यम वृद्ध को निषेध कर दिया जाए तो रुक जाता है किन्तु जघन्य वृद्ध का हाथ भी पकड़ लिया जाए, तब भी नहीं रुकता।

३६७३. प्रथम (उत्कृष्ट) को जैसे ही कहा जाए उठ जाता है/उत्थित हो जाता है। द्वितीय (मध्यम) वृद्ध उस स्थान को ही विनष्ट कर देता है (मर्यादा को भंग कर देता है) और जघन्य वृद्ध स्थान में रहता ही नहीं—यह इन तीनों की सामान्य विधि है।

३६७४. दसवीं दशा में स्थित वृद्ध को प्रव्रजित करने पर उनतीस, नवीं दशा वाले वृद्ध को प्रव्रजित करने पर बीस एवं आठवीं दशा वाले वृद्ध को प्रव्रजित करने पर उन्तीस दिन का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रथम में तप, द्वितीय में मिश्र—तप और छेद तथा तृतीय में मूल इत्यादि सारी प्रायश्चित्त चारणिका बाल-प्रव्रज्यावत् ज्ञेय है।

३६७५. वृद्ध को दीक्षित करने से अनेक दोष आते हैं—आवश्यक, षट्काय, कुशास्त्र भावित मति, शौचवाद, भिक्षा में पलिमन्थु, स्थंडिल-प्रतिलेखना का अभाव, प्रमार्जन एवं पाठ ग्रहण में कठिनाई और करणजाड्य।^१

३६७६. वृद्ध दुर्बलचक्षु होने के कारण स्थंडिल नहीं देख पाता अथवा दुर्बलग्रहणी होने (मल-मूत्र का वेग धारण न करने) के कारण स्थंडिल तक जा नहीं पाता। प्रतिलेखना, पाठ आदि में बार-बार भूल करता है, तब प्रेरणा भी बार-बार देनी पड़ती है, जिससे दूसरों के भी विक्षेप पैदा होता है और प्रेरणा न दी जाए तो संयमविराधना व आत्मविराधना होती है।

३६७७. उठते, बैठते और चंक्रमण करते समय वह चोलपट्ट आदि वस्त्रों को ठीक से नहीं रख पाता, फलतः अप्रावृत हो जाता है तथा उपहास, उड्डाह आदि दोष पैदा होते हैं। प्रतिलेखन, भिक्षाग्रहण आदि के समय दुर्बलता, कम्पन आदि के कारण पात्रभंग आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। विस्मृति आदि के कारण रास्ते में या विश्राम आदि करते समय वहीं उपकरणों को छोड़ देता है।

१. वृद्ध मुनि अपने वृद्धत्व के कारण आवश्यक आदि का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाता, लौकिक कुश्रुतियों से भावित होने के कारण षट्काय पर सम्यक् श्रद्धा नहीं कर पाता अथवा उनका यथावत् परिहार/परित्याग नहीं कर पाता। वह पूर्वजीवन में कुशास्त्रों से इतना भावित हो जाता है कि जिनप्रज्ञप्त तत्त्वों को सम्यक्तया ग्रहण नहीं कर पाता। शौचवाद के कारण आचमन आदि में अधिक जल, मिट्टी आदि का प्रयोग करता है। शारीरिक अक्षमता के कारण भिक्षा आदि में नहीं जा पाता, जाता है तो एषणा का शोधन नहीं कर पाता अथवा मंद गति के कारण साथ जाने वाले के लिए परिमन्थु बनता है। स्थंडिल आदि का प्रतिलेखन, प्रमार्जन भली प्रकार से नहीं कर पाता। स्मृति हास, अल्पमेधा आदि के कारण पाठ ग्रहण नहीं कर पाता, करण जड़ता के कारण सम्यक् क्रियानुष्ठान नहीं कर पाता।

३६७८. 'लौयस्सऽणुग्गहकरा'^१, चिरपोराण^२ त्ति वण्णिमो^३ अम्हे ।
चरण-करण-सज्झाए, दुक्खं बुद्धो ठवेउं जे ॥ ३५५३ ॥
३६७९. उग्घातमणुग्घातं, 'नाऊणं छव्विधं तवोकम्मं'^४ ।
तवगुणलक्खणमेतं^५, जिणचोद्दसपुव्विए दिक्खा ॥ ३५५४ ॥
३६८०. पव्वावेति जिणा खलु, चउदसपुव्वी^६ य जे य अतिसेसी ।
'एते अव्ववहारी, गच्छगते इच्छिमो नाउं'^७ ॥ ३५५५ ॥
३६८१. सत्थाए पुव्वपिता, चोद्दसपुव्वीण जंबु नाम पिता ।
तं मज्जेणं^८ जणगो, दिक्खितो रक्खियऽज्जेहिं^९ ॥ ३५५६ ॥
३६८२. उवसंते व^{१०} महकुले, णातीवग्गे व सण्णिसेज्जासु^{११} ।
अज्जाकारणजाते, 'अणुणाता बुद्धपव्वज्जा'^{१२} ॥ ३५५७ ॥
३६८३. भत्ते पाणे सयणासणे य उवधी तहेव वंदणगे ।
चरण-करण-सज्झायं, अणुयट्टणया^{१३} य गाहणता ॥ ३५५८ ॥
३६८४. उवजुंजिउं णिमित्ते, दोण्हं पि तु^{१४} कारणे दुवग्गाणं ।
होहिंति जुगप्पवरा^{१५}, दोण्ह वि अट्ठा दुवग्गाणं ॥ ३५५९ ॥
३६८५. ओधिमणा उवउंजिय, परोक्खणाणी णिमित्त घेतूणं ।
जइ पारगता दिक्खा, जुगप्पहाणा व होहिंति ॥ ३५६० ॥

१. लोए अणुं (दे) ।

२. पोराण त्ति जस्स पपोत्तादिभावो अत्थि, स पोराणो (चू) ।

३. भन्निमो (क) ।

४. छव्विध पच्छित्त कारणे तेणं (पंकभा २६९) ।

५. तम्हा बुद्ध ण दिक्खे (पंकभा) ।

६. चोद्दं (दे, पंकभा) ।

७. जिणमादीहिं तेहिं, कतरे ते दिक्खिता बुद्धा (पंकभा २७०) ।

८. मग्गेणं (दे) ।

९. °ज्जेणं (दे, भ, पंकभा २७१) ।

१०. वि (मु) ।

११. °सेज्जतरे (पंकभा) ।

१२. बुद्धस्सेवं भवे दिक्खा (पंकभा २७३) ।

१३. °ट्टमाण (मु), °त्तणया (पंकभा २७७) ।

१४. य (पंकभा २८१) ।

१५. जुगपहाणा (दे) ।

३६७८. लोकप्रवाद है कि शतायुष्क (वृद्ध) को देखने से पापक्षय होता है, इसलिए हम तो लोक के लिए अनुग्रहकारी हैं, हम चिर पोरण हैं। तुम लोग तो हमारे प्रपोत्र के समकक्ष हो, हमें क्या सिखाओगे—इस प्रकार कहने वाले अवमरालिक वृद्धशैक्ष को चरण-करण तथा स्वाध्याय में स्थापित करना (नियुक्त करना) दुष्कर है।

३६७९. उद्घात (लघु) और अनुद्घात (गुरु) के भेद से षड्विध तपःकर्म तथा वृद्ध को दीक्षा देना तपोगुण लक्षण वाला है—मासिक आदि प्रायश्चित्त योग्य कर्म है—ऐसा जानकर वृद्ध को दीक्षा न दे। तीर्थकर और चतुर्दशपूर्वी मुनि वृद्ध को दीक्षा दे सकते हैं—यह अपवाद है।

३६८०. तीर्थकर, चतुर्दशपूर्वी और अतिशेषी—अतिशय निमित्त ज्ञानी आदि वृद्ध को दीक्षा दे सकते हैं। किन्तु ये अव्यवहारी (व्यावहारिक मर्यादाओं से अतीत) होते हैं। अतः हम गच्छवासी मुनि की एतद् विषयक विधि जानना चाहते हैं।

३६८१. शास्ता (तीर्थकर महावीर) ने पूर्व पिता—ब्राह्मण कुण्डग्राम निवासी सोमिल ब्राह्मण को, चतुर्दश पूर्वधर जम्बू स्वामी ने अपने पिता ऋषभदत्त को तथा मध्य—नवपूर्वी आर्यरक्षित ने अपने पिता सोमदेव को वृद्धावस्था में प्रव्रजित किया।

३६८२. गच्छवासी के लिए वृद्धप्रव्रज्या अनुज्ञात है, उसके कारण हैं—१. महाकुल की उपशान्ति, २. ज्ञातिवर्ग, ३. श्रावक, ४. शय्यातर, ५. आर्या^१ और ६. कारणजात (अन्य कारण)।

३६८३. यदि उपर्युक्त आपवादिक कारणों में वृद्ध को दीक्षा दी जाए तो उसे समाधिकारक भक्तपान दिया जाए, सोने के लिए समभूमि तथा मृदु संस्तारक दिया जाए, बैठने, रहने आदि के लिए ऊंचा स्थान दिया जाए, उसके लिए अपेक्षानुसार पीठे (चौकी), पादप्रोज्जन आदि की व्यवस्था की जाए, शीतकाल में उसे अपेक्षित उपधि दी जाए, मार्ग आदि में उसकी उपधि का वहन अन्य तरुण मुनि करे, उसे उठने-बैठने में कष्ट हो तो बारम्बार वन्दना आदि न करवाई जाए, उस प्रयत्नपूर्वक धैर्य से चरण-करण में नियुक्त करे, स्वाध्याय करवाए तथा कुशास्त्र एवं शौचवाद आदि से भावित हो तो धीरे-धीरे मृदुता एवं अनुकूल व्यवहार के साथ उसे स्वसमय (जैन शास्त्रानुकूल आचारविधि) में अवगाहित किया जाए।

३६८४. परोक्षज्ञानी आचार्य अतिशायी अविगत निमित्त आदि ज्ञान का उपयोग लगाकर देखे कि ये दोनों वर्गों (सूत्र और अर्थ अथवा कालिक श्रुत एवं पूर्वगत दोनों) के लिए उपयोगी होंगे, युगप्रवर-युगप्रधान होंगे तो दोनों—बालक और वृद्ध को दीक्षा दी जा सकती है अथवा वे दोनों श्रमण-श्रमणीवर्ग के लिए आधारभूत होंगे तो दोनों स्त्री और पुरुष, बाल और वृद्ध की दीक्षा अनुज्ञात है।

३६८५. अवधिज्ञानी एवं मनःपर्यवज्ञानी अपने प्रत्यक्षज्ञान का उपयोग लगाकर तथा परोक्षज्ञानी अपने निमित्तज्ञान से ग्रहण कर देखते हैं, यदि वे दीक्षा के पारगामी होते हैं—अच्छा संयम पाल सकते हैं तथा युगप्रधान होने वाले होते हैं तो उन्हें दीक्षा देते हैं, अन्यथा नहीं।

१. वृद्धप्रव्रज्या के आपवादिक कारणों की व्याख्या बाल-प्रव्रज्या के आपवादिक कारणों के समान है। केवल साध्वियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने में वृद्ध का प्रयोग शंकारहित होता है, यह 'आर्या' इस पद की व्याख्या है।

३६८६. पंडगे वातिए कीबे, कुंभी^१ इस्सालुए^२ ति य।
सउणी^३ तक्कम्मसेवी^४ य, पक्खियापक्खिते^५ ति य^६ ॥३५६१॥ नि ७३२॥
३६८७. सोगंधिए^७ य आसित्ते^८, वद्धिए^९ चिप्पिते^{१०} ति य।
'मंतोसधीउवहते'^{११}, इसिसत्ते देवसत्ते य ॥३५६२॥ नि ७३३॥
३६८८. 'पव्वावण गीतत्थे'^{१२}, गीतत्थे अपुच्छिऊण चतुगुरुगा।
तम्हा गीतत्थस्सा, कप्पति पव्वावणा पुच्छा ॥३५६३॥
३६८९. सयमेव कोइ साहिति, मेत्तेहि व पुच्छितो उवाएणं।
अहवा वि लक्खणेहिं, इमेहि णाउं परिहरेज्जा^{१३} ॥३५६४॥
३६९०. णज्जंतमणज्जंते, णिव्वेदमसड्ड पढमतो पुच्छे।
अण्णातो पुण भण्णति, पंडादि ण कप्पते^{१४} अम्हं ॥३५६५॥
३६९१. नातो मि ति पणासति, णिव्वेदं पुच्छिता व से मित्ता।
साहेंति एस पंडो, सयं च पंडो ति निव्वेदं^{१५} ॥३५६६॥
३६९२. महिलासभावो सरवण्णभेदो, मेंढं महंतं मउया उ वाणी^{१६}।
ससद्दगं मुत्तमफेणगं च, एताणि छप्पंडगलक्खणाणि^{१७} ॥३५६७॥

१. वेदकुम्भी नाम यस्योत्कटमोहतया प्रतिसेवनामलभमानस्य मेहनं वृषणद्वयं वा शूयते स एकान्तेन निषिद्धः (बृभाटी)।
२. ईर्ष्यालुर्नाम यस्य प्रतिसेव्यमानं दृष्ट्वा ईर्ष्या—
मैथुनाभिलाष उत्पद्यते सोऽपि निरुद्धवेदः कालान्तरेण त्रैराशिको भवति (बृभाटी)।
३. शकुनी वेदोत्कटतया गृहचटक इवाऽभीक्षणं प्रतिसेवनां करोति (बृभाटी)।
४. तत्कर्मसेवी नाम यदा प्रतिसेविते बीजनिसर्गो भवति, तदा श्वान इव तदेव जिह्वया लेढि (बृभाटी)।
५. पाक्षिकापाक्षिकस्तु स उच्यते यस्यैकस्मिन् शुक्ले कृष्णे वा पक्षेऽतीव मोहोदयो भवति, द्वितीयपक्षे तु स स्वल्पो भवति (बृभाटी)।
६. बृभा ५१६६, गा. ३६८६, ३६८७ की तुलना हेतु देखें पंकभा गा. २९९-३०१।
७. सौगन्धिको नाम सागारिकस्य गन्धं शुभं मन्यते, स

- च सागारिकं जिघ्रति मलयित्वा वा हस्तं जिघ्रति (बृभाटी)।
८. आसित्तो नाम स्त्रीशरीरासक्तः, स मोहोत्कटतया योनौ मेहनमनुप्रविश्य नित्यमास्ते (बृभाटी)।
९. वद्धितो नाम यस्य बालस्यैव च्छेदं दत्त्वा द्वौ भ्रातरावपनीतौ (बृभाटी)।
१०. 'चिप्पितस्तु' यस्य जातमात्रस्यैवाङ्गुष्ठ-प्रदेशिनी-मध्यमाभिर्मलयित्वा वृषणद्वयं गालितम् (बृभाटी)।
११. 'सहिओव' (बृभा ५१६७)।
१२. गीयत्थे पव्वावण (बृभा ५१४०)।
१३. बृभा ५१४१।
१४. कप्पती (दे), कप्पई (बृभा ५१४२)।
१५. बृभा ५१४३।
१६. वाया (बृभा ५१४४)।
१७. पंकभा २८९।

३६८६, ३६८७. नपुंसक के सोलह भेद प्रज्ञस हैं—१. पंडक, २. वातिक, ३. क्लीब, ४. कुंभी, ५. ईर्ष्यालु, ६. शकुनि, ७. तत्कर्मसेवी, ८. पाक्षिकापाक्षिक, ९. सौगन्धिक, १०. आसिक्त, ११. वर्धित, १२. चिप्पित, १३. मंत्रोपहत, १४. औषध्युपहत, १५. ऋषिशस और १६. देवशस ।^१

३६८८. प्रब्रज्या देने का अधिकारी गीतार्थ होता है। गीतार्थ भी यदि पूछताछ के बिना दीक्षा देता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है इसलिए गीतार्थ को भी पृच्छापूर्वक प्रब्रजित करना कल्पता है।

३६८९. १. कोई व्यक्ति स्वयं कह दे। २. मित्रों से उपायपूर्वक पूछने से ज्ञात हो जाए अथवा ३. अथवा अन्य विशिष्ट लक्षणों से जान ले कि यह नपुंसक है तो उस की दीक्षा का परिहार (परित्याग) करना चाहिए।

३६९०. जो श्रावक नहीं है, वह चाहे ज्ञात—परिचित हो या अज्ञात, सर्वप्रथम उसके निर्वेद-वैराग्य के विषय में पूछें। बातचीत करने पर वेदविषयक जानकारी न हो सके तो सामान्यतः कहें—हमें पंडक आदि को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३६९१. उपर्युक्त बात सुनकर पंडक सोचता है—मैं इनके द्वारा जान लिया गया और वह चला जाता है। अथवा उसके मित्रों से जब उसके निर्वेद के विषय में पूछा जाता है तो वे कह देते हैं कि यह पंडक है अथवा पूछताछ के दौरान वह स्वयं कह देता है कि मैं पंडक हूँ अतः मुझे संसार से विरक्ति हो गई।

३६९२. पंडक के छह लक्षण प्रज्ञस हैं—१. महिला स्वभाव, २. स्वर और वर्णादि की भिन्नता, ३. स्थूल अंगादान (शिश्न), ४. मृदु वाणी, ५. सशब्द मूत्र और ६. अफेन (झागरहित) प्रस्रवण ।^२

१. (क) विविध प्रकार के नपुंसकों की विशेष जानकारी हेतु द्रष्टव्य गा. ३६९२, ३६९३, ३७१४, ३७१६, ३७१८-३७२५ तथा इनकी चूर्णि।

(ख) नपुंसक—१. पंडक—स्त्री स्वभाव वाला या स्त्री-पुरुष दोनों में आसक्त, २. वातिक—वायुदोष से स्तब्ध वस्ति वाला, ३. क्लीब—कामेच्छा से विकृत सागारिक वाला, ४. कुंभी—वायुदोष से शोथयुक्त वस्ति वाला, ५. ईर्ष्यालु—प्रतिसेवना करते देख उत्पन्न कामेच्छा वाला, ६. शकुनि—गृहचटक की भांति अभीक्षण प्रतिसेवना प्रसक्त, ७. तत्कर्मसेवी—निसृष्ट बीज को श्वान की भांति चाटने वाला, ८. पाक्षिकापाक्षिक—एक पक्ष (कृष्ण या शुक्ल) में उत्कट और दूसरे में अल्प मोहोदय वाला, ९. सौगन्धिक—सागारिक गंध को सुगन्ध मानने वाला १०. आसिक्त—स्त्री-शरीर में अत्यन्त आसक्त, ११. वर्धित—जिसका अंडकोश छेदकर गला दिया गया हो, १२. चिप्पित—जन्म के साथ ही जिसके वृषणद्वय को अंगुठे और प्रदेशिनी से मसल दिया गया हो। १३, १४. मंत्र और औषधि से उपहत वेदोदय वाला तथा १५, १६. ऋषि और देव से प्राप्त शाप से जिसका पुरुषत्व नष्ट हो गया हो, नपुंसकत्व को प्राप्त हो गया हो।

२. नपुंसक स्त्री और पुरुष से विलक्षण होता है, अतः उसे लक्षणों के द्वारा भी जाना जा सकता है।

३६९३. गती भवे पच्चवलोइयं च, मिदुत्तया सीतलगत्तया य ।
धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जो^१, संकारपच्चंतरिओ ढकारो^२ ॥ ३५६८ ॥
३६९४. गति-भास^३-‘अंग-कडि-पट्टि-बाहु-भमुहा^४’ य केस ऽलंकारे ।
पच्छण्णमज्जणाणि^५ य, पच्छण्णतरं च नीहारो ॥ ३५६९ ॥
३६९५. पुरिसेसु भीरु महिलासु, संकरो पमदकम्मकरणो य ।
तिविधम्मि वि वेयम्मी, तिगभंगो होति णातव्वो^६ ॥ ३५७० ॥
३६९६. उस्सगलक्खणं खलु, ‘फुंफुग तह वणदवे णगरदाहे^७’ ।
अववादतो तु भइओ, एक्केक्को दोसु ठाणेसु^८ ॥ ३५७१ ॥
३६९७. दुविधो य पंडगो खलु, दूसिय^९-उवघात-पंडगो चेव ।
उवघाते वि य दुविधो, वेदे य तहेव उवगरणे ॥ ३५७२ ॥
३६९८. दूसियवेदो दूसी^{१०}, दोसु व वेदेसु सज्जते दूसी ।
‘दो सेवति वा वेदो^{११}, ‘थीपुंस व दूसते^{१२} दूसी ॥ ३५७३ ॥
३६९९. आसित्तो ऊसित्तो, दुविधो दूसी उ होति णातव्वो ।
‘ऊसित्तो अणवच्चो, सावच्चो होति आसित्तो^{१३} ॥ ३५७४ ॥
३७००. जह हेमो तु कुमारो, इंदमहे णगरबालिगणिमित्तं^{१४} ।
मुच्छित्त गढिओ^{१५} ‘उ मतो, वेदो वि य उवहतो तस्स^{१६} ॥ ३५७५ ॥

१. °धेओ (मु, पंकभा २९०) ।

२. बृभा ५१४५ ।

३. °हत्थ° (पंकभा २९१) ।

४. °भुमया (दे), °भमया (भ), वत्थ हत्थे कडि पट्टि भुमा
(बृभा ५१४६), °वच्छ-कडि-भुमय-भास-दिट्ठि (पंकभा) ।

५. °ज्जणं पि (मु, भ) ।

६. कायव्वो (बृभा ५१४७), पंकभा (२९५) में इस गाथा
का उत्तरार्ध इस प्रकार है—एयं बाहिरलक्खण, णपुंसवेदो
भवे अंतो ।

७. फुंफुगमादि सरिसं तु वेदानं (पा, मु) ।

८. बृभा ५१४८ ।

९. दूसी (बृभा ५१४९) ।

१०. दूसिय (बृभा ५१५०) ।

११. दूसेति सेसए वा (बृभा) ।

१२. दोहि व सेविज्जए (बृभा), दोसु व दूसिज्जती
(पंकभा ३०३), दोसु व दूसते (भ) ।

१३. बृभा (५१५१) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ।

१४. भूणियानिमित्तेणं (बृभा ५१५३),
बालियाणिमित्तेणं (पंकभा ३०७) ।

१५. गिद्धो (बृभा, पंकभा) ।

१६. अतिसेवणेण वेदोवघातमतो (पंकभा) ।

३६९३. महिला स्वभाव—१. वह पीछे देखता हुआ सशंक और मंद गति से मुड़कर दोनों ओर देखता हुआ चलता है, २. उसकी त्वचा मृदु होती है, ३. उसके शरीर का स्पर्श शीत होता है। ऐसे स्वभाव वाला पुरुषाकृति व्यक्ति निश्चित रूप से दो अक्षर के नाम वाला षंड (षंकार प्रत्यंतरित ढकार) होता है।

३६९४. षंड (नपुंसक), गति (चाल), भाषा, अंग, कटि, पीठ, बाहु, भौंहें, केशविन्यास एवं अलंकाररुचि— इनमें महिला के समान स्वभाव^१ वाला होता है। वह स्त्रियों के समान स्नान एवं मल-मूत्र का उत्सर्ग भी प्रच्छन्नतर स्थान में करता है।

३६९५. वह पुरुषों के बीच बैठते हुए डरता है और स्त्रियों में आराम से बैठता है।^२ उसे प्रमदाकर्म-स्त्रियोचित कार्य—चुनना, बीनना, सफाई, पानी लाना आदि अच्छे लगते हैं। तीनों वेदों में प्रत्येक में तीन-तीन भंग होते हैं, ऐसा ज्ञातव्य है।^३

३६९६. तीनों वेदों का यह उत्सर्ग (सामान्य) लक्षण है, जैसे स्त्री वेद फुफुक (करीष) की अग्नि, पुरुषवेद दवाग्नि तथा नपुंसकवेद नगरदाह के समान होता है। अपवाद में तीनों वेद परस्पर विकल्पित हैं—प्रत्येक वेद अपने-अपने स्थान को छोड़कर शेष दो वेदों में भी वर्तन करता है। जैसे कोई स्त्री स्त्रीवेद के समान, पुरुषवेद और नपुंसक वेद का भी अनुभव करती है, इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में ज्ञातव्य है।

३६९७. पंडक के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. दूषित और २. उपघात। उपघात पंडक के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. वेदोपघात और २. उपकरणोपघात पंडक।

३६९८. जिसका वेद (अब्रह्म की इच्छा) दूषित होता है, जो स्त्री और पुरुष दोनों में आसक्त होता है, दोनों वेदों का सेवन करता है अथवा स्त्री और पुरुष दोनों वेदों को दूषित करता है, वह दूसी (दूषित नपुंसक) कहलाता है।

३६९९. दूषित नपुंसक के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. आसिक्त और २. उपसिक्त। उपसिक्त अनपत्य-संतान रहित होता है, निर्बीज होता है। आसिक्त सापत्य-संतान पैदा करने में समर्थ, सबीज होता है।

३७००. वेदोपघात—राजकुमार हेमकुमार इन्द्र महोत्सव में गया। वहां उसने पांच सौ नगर कन्याओं को देखा। वह उन पर मुग्ध हो गया। उसने उनके साथ विवाह कर लिया। उनमें अत्यन्त मूर्च्छित एवं ग्रथित होने से उसका सम्पूर्ण वीर्यक्षरण हो गया, वेद उपहत हो गया और वह मर गया।^४

१. दाहिनी कोहनी को बाएं हाथ पर रख, उस पर मुंह टिकाकर बोलना, बार-बार कमर पर हाथ लगाना, शरीर का बार-बार मर्दन करना, भ्रूविक्षेप करते हुए बोलना, वस्त्राभाव होने पर बाहु से वक्ष प्रावृत करना, स्त्री के समान वेशभूषा, केशविन्यास, स्त्रियों के अलंकार प्रिय होना आदि सब महिला-स्वभाव हैं।

२. पाइय.—संकर-सुख करने (मानने) वाला।

३. पुरुष पुरुषवेद का वेदन करता है, स्त्रीवेद अथवा नपुंसक वेद का वेदन करता है। इसी प्रकार स्त्री एवं नपुंसक के विषय में वक्तव्य है।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ६०।

३७०१. उवहत-उवकरणम्मी^१, सेज्जातर भूणियानिमित्तेणं ।
तो कविलगस्स वेदो, ततिओ जातो दुरहियासो ॥ ३५७६ ॥
३७०२. पुव्विं दुच्चरिताणं^२, कम्माणं असुभफलविवागेणं ।
तो उवहम्मति वेदो, जीवाणं मंदपुण्णाणं^३ ॥ ३५७७ ॥
३७०३. जह पढमपाउसम्मी, गोणो धातो तु^४ हरितगतणस्स ।
अणुसज्जति^५ कोट्टिंबिं, वावण्णं दुब्धिगंधीयं^६ ॥ ३५७८ ॥
३७०४. एवं तु केइ पुरिसा, भोत्तूणं^७ भोयणं पतिविसिट्ठं ।
ताव ण भवंति तुट्ठा, जाव ण पडिसेवितो पोसे^८ ॥ ३५७९ ॥
३७०५. लक्खणदूसिं^९ उवघातपंडगं तिविधमेव जो दिक्खे ।
पच्छित्त तिसु वि मूलं, 'इमे य अण्णे भवे दोसा'^{१०} ॥ ३५८० ॥
३७०६. गहणं च संजतस्सा, आयरियाणं च खिप्पमालोए ।
बहिया व णिगतस्सा, 'चरित्तसंभेदणिं च कहा'^{११} ॥ ३५८१ ॥
३७०७. छंदिय-गहिय^{१२}-गुरूणं, जो ण 'कहेति कहितम्मि'^{१३} च उवेहं^{१४} ।
परपक्ख-सपक्खे वा, जं काहिति सो तमावज्जे ॥ ३५८२ ॥
३७०८. इत्थिकहाओ कहेति^{१५}, तासि अवण्णं पुणो पगासेति ।
समलं सावि दुगंधिं^{१६}, खेदो य ण एतरे ताणि ॥ ३५८३ ॥

१. ँम्मि (पा, बृभा ५१५४) ।
२. दुच्चिण्णाणं (बृभा ५१५२) ।
३. पावकम्माणं (पंकभा ३०६, बृभा) ।
४. वि (भ) ।
५. अणुमज्जति (मु, पा) ।
६. बृभा ५१५५, पंकभा ३१७ ।
७. ँण वि (बृभा ५१५६) ।
८. वेदो (पंकभा ३१८), भावो (भ, बृभा) ।

९. ँणदूसिय (पंकभा ३१९), दूसि (दे) ।
१०. दोसा तहियं इमे होंति (पंकभा) ।
११. संभेयणी विकहा (बृभा ५१५७) ।
१२. कहिय (पंकभा ३२४) ।
१३. कहिते वि (पंकभा) ।
१४. कहे जो व सिट्ठवेहेज्जा (बृभा ५१५८) ।
१५. कहित्ता (बृभा ५१५९) ।
१६. अगंधं (भ), अगंधिं (बृभा), दुगंधा (मु) ।

३७०१. सुस्थित आचार्य का शिष्य था कपिल। शय्यातरपुत्री के साथ बलात् प्रतिसेवना के निमित्त से उसके उपकरण (लिंग) का उपहनन हो गया। फलतः कपिल के असह्य तृतीयवेद (नपुंसक वेद) का उदय हो गया।^१

३७०२. मंदपुण्य (पुण्यहीन) जीवों के पूर्व दुश्चरित कर्मों के अशुभ फलविपाक से वेद का उपहनन होता है। (वेदोपहत या करणोपहत होने के कारण नपुंसक वेद का उदय होता है, जिसका निरोध उनके लिए अशक्यप्रायः होता है।)

३७०३. जिस प्रकार प्रथम प्रावृष में बलिवर्द (सांड) हरी घास खाकर दृप्त हो जाता है और दुरभिगंध वाली मरियल गाय^२ से समागम करता है।

३७०४. इसी प्रकार कुछ पुरुष प्रतिविशिष्ट भोजन का भोग कर (खाकर) भी तब तक सन्तुष्ट नहीं होते, जब तक आस्य-पोषक भाव का प्रतिसेवन नहीं करते।

३७०५. जो भिक्षु लक्षणपंडक, दूषी पंडक और उपघात पंडक—इन तीनों को दीक्षा देता है, उसको मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा इन अन्य दोषों की संभावना रहती है।

३७०६. यदि अज्ञानवशात् वह प्रव्रजित हो गया हो और किसी संयत को प्रतिसेवना के अभिप्राय से पकड़ ले या उपाश्रय में एकान्त न मिलने से विचारभूमि आदि के लिए बाहर गए हुए भिक्षु से चारित्र संभेदनी (चारित्रोपघाती) कथा (वार्ता) कहे तो वह भिक्षु शीघ्र आचार्य के पास उसकी आलोचना करे। (आलोचना न करे तो भिक्षु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

३७०७. यदि कोई साधु वेशधारी नपुंसक किसी मुनि को प्रतिसेवना के लिए निमंत्रित करे अथवा पकड़े तो मुनि तत्काल आचार्य से निवेदन करे। यदि मुनि तत्काल ऐसा न करे तो उसे अथवा कहने पर भी आचार्य उसकी उपेक्षा करे तो आचार्य को प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा नपुंसक प्रतिसेवना आदि के द्वारा स्वपक्ष या परपक्ष का जो अहित करता है, उड्डाह आदि का निमित्त बनता है। उसका प्रायश्चित्त भी न कहने वाले मुनि या उपेक्षा करने वाले आचार्य को प्राप्त होता है।

३७०८. वह (नपुंसक) विचारभूमि आदि में गए हुए मुनियों के समक्ष स्त्री कथा करता है—स्त्रीप्रतिसेवना के प्रकार या उसके द्वारा सुख का कथन करता है। पुनः स्त्री-प्रतिसेवना का अवर्णवाद करता है—स्त्रियों की योनि मलिन, मलस्रावी तथा दुर्गन्धयुक्त होती है, उसका भोग करने वाला पुरुष खेद की अनुभूति करता है। हमारे आस्य में ये दोष नहीं, अतः उसकी प्रतिसेवना खेदरहित है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ६१।

२. (क) कोट्टिंब का अर्थ नाव नहीं, प्रस्तुत प्रसंग में गाय होना चाहिए, द्रष्टव्य देशी शब्दकोश।

(ख) बृभा ५१५५, वृ. पृ. १३७२—कोट्टिम्बिनीं गाम्।

३७०९. सागारियं णिरिक्खति, तं च मलेऊण जिंघते हत्थं ।
पुच्छति सेविमसेवी, अतिसुहं^१ अहं चिय दुहावि ॥ ३५८४ ॥
३७१०. सो समणसुविहितेहिं^२, पवियारं कत्थई अलभमाणो ।
तो सेवितुमाढत्तो^३, गिहिणो 'य परप्पवादी'^४ य ॥ ३५८५ ॥
३७११. अयसो^५ य अकित्ती^६ या, तम्मूलागं तहिं पवयणस्स ।
तेसिं पि^७ होति संका, सव्वे एतारिसा मण्णे^८ ॥ ३५८६ ॥
३७१२. एरिससेवी 'एतारिसा व एतारिसो चरति सद्दो'^९ ।
सो एसो ण वि अण्णो, असंखडं^{१०} घोडमादीहिं ॥ ३५८७ ॥
३७१३. कीबस्स^{११} गोण्णणामं, 'कम्मदएणं तु जायते'^{१२} ततिओ ।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्गअववादे ॥ ३५८८ ॥
३७१४. उदएण वातिगस्सा^{१३}, सविकारं 'ताव जा असंपत्ती'^{१४} ।
तच्चवण्णिय ऽसंबुडिते, दिट्ठंतो 'होतऽलब्भते'^{१५} ॥ ३५८९ ॥
३७१५. सागारियणिस्साए, अलंभतो वातिओ अणायारं ।
कालंतरेण सो वि हु, णपुंसगत्ताएँ परिणमति ॥ ३५९० ॥
३७१६. दुविधो य होति कुंभी, जातीकुंभी य वेदकुंभी य ।
जातीकुंभी^{१६} 'भइतो, पडिसिद्धो वेदकुंभीओ'^{१७} ॥ ३५९१ ॥

१. अती° (दे), अतिवसुहं (बृभा ५१६०) ।

२. °हिएवं (दे), °तेसु (बृभा) ॥

३. °उमारद्धो (बृभा ५१६१), सेवितुं पवत्तो (पंकभा ३२५) ।

४. तह अण्णतित्थी (बृभा, पंकभा ३२५) ।

५. अजसो (पंकभा ३२६), वायाघाओ अयसो (चू) ।

६. अवण्णवायभासणं अकित्ती (चू) ।

७. व (दे) ।

८. बृभा ५१६२, पंकभा ३२६ ।

९. सव्वे वि एरिसा, एरिसो व पासंडो (बृभा ५१६३) ।

१०. असंथडं (क), अस्सं (पंकभा ३२७) ।

११. क्लिद्यते इति क्लीबः (चू) ।

१२. °दयनिरोहे जायती (बृभा ५१६४) ।

१३. वाइतो णाम जाहे सो मोहकम्मोदएणं सागारियं कसाइयं भवति, ताहे सो ण सक्केति धरेतुं, ण य सभावत्थं ताव भवति जाव न कयं जं न कायव्वं (चू) ।

१४. जा ण होति संपत्ती (बृभा ५१६५, पंकभा ३३१) ।

१५. होइ अलभते (बृभा), तत्थिमो होति (पंकभा ३३१) ।

१६. वायदोसेण जस्स सागारियं वसणं वा सुज्झति, सो जाइकुंभी (चू) ।

१७. वार्यडिओ हु सो भइय दिक्खाए (पंकभा ३३४), जस्स पुण मोहुक्कडयाए सागारियं वसणा वा आसेवतो सुज्झति, स वेदकुंभी (चू) ।

३७०९. नपुंसक स्वयं के और दूसरों के अंगादान को देखता रहता है, उनको हाथ से मलकर सूंघता है, भुक्तभोगी मुनि से पूछता है कि क्या आपने कभी नपुंसक के साथ प्रतिसेवना की है? उसकी प्रतिसेवना में अतीव सुख होता है। मैंने भी आस्य और पोस—दोनों प्रकार से प्रतिसेवना की है। इस प्रकार की वार्ता से कुछ मुनि विस्त्रोतसिका में चले जाते हैं, उन्निष्क्रमण आदि कर लेते हैं।

३७१०. यदि सभी श्रमण सुविहित—वैरागी एवं चारित्रनिष्ठ हों, स्वाध्याय ध्यान में रत हों तो नपुंसक को कहीं प्रविचार का अवसर नहीं मिलता फलतः वह उत्कट वेदोदय के कारण गृहस्थ या परप्रवादी के साथ प्रतिसेवना करने लगता है।

३७११. उन नपुंसकों की कुचेष्टाओं, प्रतिसेवना आदि के निमित्त से प्रवचन (जिनशासन) का अपयश होता है, अकीर्ति (अवर्णवाद) होती है, जो भिक्षु आदि उनके साथ प्रतिसेवना करते हैं, उनके प्रति भी शंका होती है। अथवा नपुंसकों को शंका होती है कि लगता है, ये भी हमारे समान तृतीयवेदी हैं।

३७१२. बहुत जनों के समक्ष लोग कहते हैं—देखो! ये श्रमण इसकी प्रतिसेवना करते हैं या ये ऐसे हैं—इस प्रकार उनका अपयश और अकीर्ति का शब्द चलता है—अपयश आदि का प्रकाशन होता है। जब वे भिक्षा आदि के लिए जाते हैं तो उसे देख युवक आदि कहते हैं—अरे! देखो यही है वह। दूसरा कहता है—नहीं, यह दूसरा है। इस प्रकार के उपहासपूर्ण वचनों को सुनकर वह उन धूर्तों आदि^१ के साथ कलह करता है। कलह के परिणामस्वरूप अन्य—उन्निष्क्रमण, निष्कासन, चिताप्रवेश आदि दोष पैदा हो सकते हैं।

३७१३. क्लीब गुणनिष्पन्न नाम है। महामोह कर्म के उदय से मैथुन के अभिप्राय मात्र से जिसका अंगादान विकृत हो जाता है, वीर्यक्षरण होने लगता है, वह क्लीब कहलाता है।^२ वीर्यनिरोध करने से कालान्तर में उसके तृतीयवेद का उदय हो जाता है अतः उसकी प्रव्रज्या के विषय में भी उत्सर्गतः वे ही दोष एवं प्रायश्चित्त है, वही विधि है जो नपुंसक के विषय में प्रज्ञप्त है। अपवाद में उसे प्रव्रजित किया जा सकता है।

३७१४. वातिक नपुंसक वह होता है, जिसके तीव्र वेदमोह का उदय होने पर लिंग विकृत हो जाता है तथा वह तब तक स्वभावस्थ नहीं हो पाता, जब तक उसकी (प्रतिसेवमान की) संप्राप्ति न हो। (कृत्य न कर ले।) यहां एक बौद्ध भिक्षु का दृष्टान्त ज्ञातव्य है, जो एकान्त न मिलने पर भी तीव्र मोहोदय के कारण असंवृत (अप्रावृत) नारी का प्रतिसेवन करने लगा।^३

३७१५. वातिक नपुंसक का लिंग बार-बार मोह की उत्कटता के कारण स्तब्ध होता रहता है और वह उसकी निश्चा (उस निमित्त) से बार-बार अनाचार सेवन करता है, अवसर न मिलने से कालान्तर में वह भी नपुंसकत्व में परिणत होता है, अतः उसे प्रव्रजित करने में वे ही दोष और वही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७१६. कुंभी नपुंसक के दो प्रकार होते हैं—१. जातिकुंभी और २. वेदकुंभी।^४ प्रव्रज्या के विषय में जातिकुंभी की भजना है^५ और वेदकुंभी सर्वथा प्रतिषिद्ध है।

१. घोट—धूर्त, आदि शब्द से माली, मेंठ, गोपाल आदि का ग्रहण किया गया है।

२. क्लीब के दृष्टिक्लीब, शब्दक्लीब, आदिगुण क्लीब और निमंत्रणा क्लीब ये चार भेद होते हैं। (द्रष्टव्य बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५१६४)।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ६२।

४. वायुप्रकोप से जन्मजात जिसके अण्डकोष आदि महत्प्रमाण हों, वह जातिकुंभी (रोगी) तथा मोह की उत्कटता के कारण जिसके अण्डकोष महत्प्रमाण हुए हों, वह वेदकुंभी होता है।

५. जातिकुंभी के अंडकोष अत्यन्त महत्प्रमाण हों तो उसे प्रव्रजित न किया जाए, ईषत् न्यून हो तो प्रव्रजित किया जा सकता है।

३७१७. वत्थिणरोधे अभिवङ्कमाणे^१ सागारिए भवे कुंभी^२ ।
सो वि य णिरुद्धवत्थी, णपुंसगत्ताएँ परिणमति ॥ ३५९२ ॥
३७१८. 'इस्सालुए वि^३ वेदुक्कडाएँ^४ बंभव्वतं धरेमाणो ।
सो वि य णिरुद्धवत्थी, णपुंसगत्ताएँ परिणमती^५ ॥ ३५९३ ॥
३७१९. सउणी उक्कडवेदो, अभिक्खपडिसेवणाणुपगईओ^६ ।
सो वि य णिरुद्धवत्थी, णपुंसगत्ताएँ परिणमति ॥ ३५९४ ॥
३७२०. तक्कम्मसेवि जो ऊ^७, सेवित तं चेव लिहति साणोव्व ।
सो वि य अपडिचरंतो, णपुंसगत्ताएँ परिणमती^८ ॥ ३५९५ ॥
३७२१. पडिचरती^९ आचरती, डज्झंतो उक्कडेण वेदेण ।
सो वि य अपडिचरंतो^{१०}, णपुंसगत्ताएँ परिणमती ॥ ३५९६ ॥
३७२२. 'पक्खे पक्खे भावो^{११}, होति अपक्खम्मि^{१२} जस्स अप्पो उ ।
'सो पक्खपक्खिओ ऊ, सो वि णिरुद्धो भवे अपुमं^{१३} ॥ ३५९७ ॥
३७२३. सागारियस्स गंधं, जिंघति 'सोगंधिओ^{१४} भवे स खलु^{१५} ।
कालंतरेण सो वि 'हु, णपुंसगत्ताएँ परिणमती^{१६} ॥ ३५९८ ॥
३७२४. विग्गहमणुप्पवेसिय, अच्छति सागारियंसि आसित्तो ।
सो वि^{१७} य णिरुद्धवत्थी, 'होती वेदुक्कडो वसणी^{१८} ॥ ३५९९ ॥

१. अतिवङ्कमाणे (क) ।

२. पंकभा (३३५) में इस गाथा का पूर्वार्ध इस प्रकार है—
होति पुण वेदकुंभी, असेवगो सुज्जते स सागरियं ।

३. °लुओ व (दे), यस्येर्ष्या उत्पद्यते अभिलाषेत्यर्थः, सो ईसालू
भण्णइ (चू) ।

४. °डयाए (मु) ।

५. पंकभा (३३६) यह गाथा इस प्रकार है—
वेदुक्कडता ईसालुगो हु सेविज्जमाण दट्टुणं ।
ण चएती धारेडं, णिरुब्भमाणो भवे ततिओ ॥

६. °गइओ (भ), चडउव्व अभिक्ख सेवए जो
उ (पंकभा ३३७) ।

७. खलु (पंकभा ३३८) ।

८. पा प्रति में यह गाथा नहीं है ।

९. परिच° (भ) ।

१०. अप्पडियरणो (क) ।

११. °उदओ (भ) ।

१२. °क्खे य (दे, पा), एगे पक्खे वुदओ एगे पक्खम्मि
(पंकभा ३३९) ।

१३. सो वि य णिरुद्धवत्थी, णपुंसगत्ताएँ परिणमति (दे, पा) ।

१४. सुभं सागारियस्स गंधं मण्णतीति सोगंधी (चू) ।

१५. सागारियस्स गंधाए (मु) ।

१६. अलभंतो परिणमे अपुमं (पंकभा ३४०) ।

१७. व (दे) ।

१८. णपुंसगत्ताए परिणमति (दे), पंकभा (३४१) में गाथा
का पूर्वार्ध इस प्रकार है—
ण य से भावोवसमो, अलभंतो सो वि अपुम भवे ।

३७१७. वेदकुंभी वेदोदय होने पर भी यदि प्रतिसेवना न करे, वस्तिनिरोध करे तो उसके अण्डकोष (वृषण) एवं लिंग बढ़ जाते हैं फलतः वे कुंभ सदृश अतिप्रमाण हो जाते हैं तथा वस्तिनिरोध करते-करते कालान्तर में वह नपुंसक रूप में परिणत हो जाता है। उसे प्रव्रजित करने पर वे ही दोष एवं वही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७१८. दूसरे को प्रतिसेवना करते देख जिसके मन में ईर्ष्या (कामेच्छा) पैदा होती है तथा उत्कट वेदोदय के कारण स्त्री प्राप्त न होने पर यदि ब्रह्मव्रत को धारण करे तो कालान्तर में वस्तिनिरोध करते हुए जो नपुंसकत्व में परिणत हो जाता है, वह ईर्ष्यालु नपुंसक होता है।

३७१९. जो वेद के उत्कट उदय के कारण गृहचटक की भांति बार-बार प्रतिसेवना करता है, निरन्तर उसमें प्रसक्त रहता है तथा असंप्राप्ति के कारण वस्तिनिरोध करे तो कालान्तर में नपुंसक रूप में परिणत हो जाता है, वह शकुनि नपुंसक कहलाता है।

३७२०, ३७२१. तत्कर्मसेवी—जो मैथुन का आसेवन करता है, जब बीजनिसर्ग हो जाता है तो उसे श्वानवत् जीभ से चाटने लगता है, उत्कट वेदोदय के कारण वह अन्दर ही अन्दर जलता हुआ उसमें सुखानुभूति करता है। यदि कदाचित् वह प्रतिसेवना नहीं करे, वस्तिनिरोध भी करे, तब भी कालान्तर में नपुंसक रूप में परिणत होता है, वह तत्कर्मसेवी कहलाता है।

३७२२. जिसके कृष्ण या शुक्ल किसी एक पक्ष में मोह का प्रबल उदय रहता है और अपक्ष—उससे भिन्न पक्ष में मोह का उदय अल्प होता है, जैसे शुक्ल पक्ष में प्रबल और कृष्ण पक्ष में अल्प उदय रहता है, प्रबल मोहोदय के समय वस्तिनिरोध करे तो नपुंसकत्व में परिणत हो जाता है, वह व्यक्ति पाक्षिकापाक्षिक नपुंसक कहलाता है।

३७२३. प्रबल वेद के उदय के कारण जो लिंग की गंध को शुभ मानता है, उसे सूंघता रहता है, उस गंध के अभ्यास से वह उसे जिह्वा से चाटता है, परिभोग का लाभ न हो तो कालान्तर में नपुंसक रूप में परिणत हो जाता है, वह सौगंधिक नपुंसक कहलाता है।

३७२४. जो अपने अंगादान को स्त्री-अंगादान में अनुप्रविष्ट कर चिरकाल तक रखता है, उत्कट मोहोदय के कारण तीव्र व्यसनी होता है तथा अलाभ के कारण वस्तिनिरोध करे तो कालान्तर में नपुंसक रूप में परिणत हो जाता है, वह आसिक्त नपुंसक होता है।

३७२५. बद्धिय^१ चिप्पित^२ अवि ते, मंतोसधिउवहते वि य तहेव ।
इसिसत्त देवसत्ता, अक्वसणि णपुंसगा भज्जा^३ ॥ ३६०० ॥
३७२६. दससु वि मूलायरिए, वदमाणस्स वि हवंति चतुगुरुगा ।
सेसाणं छण्हं पी, आयरिए वदंत^४ चतुगुरुगा^५ ॥ ३६०१ ॥
३७२७. थीपुरिसा जह उदयं, धरेंति झाणोववासणियमेहिं^६ ।
एवमपुमं पि उदयं, धरेज्ज जइ को तहिं दोसो^७ ॥ ३६०२ ॥
३७२८. अहवा ततिए दोसो, जायति इतरेसु 'किं न सो भवति'^८ ।
एवं खु णत्थि दिक्खा, सवेदगाणं न वा तित्थं^९ ॥ ३६०३ ॥
३७२९. थीपुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहितेसु ठाणेसु ।
संवास-फास-दिट्ठी, इतरे ऽपत्थंबदिट्ठंतो^{१०} ॥ ३६०४ ॥
३७३०. असिवे ओमोदरिए^{११}, रायहुट्टे भए व आगाढे ।
गेलण्ण-उत्तिमट्टे^{१२}, नाणे तह दंसण-चरित्ते^{१३} ॥ ३६०५ ॥
३७३१. रायहुट्टुभएसु^{१४}, ताणट्टि^{१५} णिवस्स चव गमणट्टा ।
वेज्जो व सयं तस्स व, तप्पिस्सति वा गिलाणस्स^{१६} ॥ ३६०६ ॥

१. बद्धिओ णाम जस्स बालस्सेव छेज्जं दातुं वसणा गालिया (चू) ।

२. चिप्पितो णाम जस्स जायमेत्तस्सेव अंगुट्टपदेसिणी-मज्झियाहिं चट्ठिज्जंति जावकृताः (चू) ।

३. पंकभा में इस गाथा के स्थान पर दो गाथाएं हैं । द्र. पंकभा ३४२, ३४३ ।

४. वदते (भ), वदंते (दे), वदंति (बृभा ५१६८) ।

५. पंकभा (३४५) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—

आदिल्लेसु दसस्सु वि, पक्वावेंतो हु पावए मूलं ।

जो पुण पक्वावेहा, वदतेवं तस्स चतुगुरुगा ॥

६. °मेणं (भ, दे) ।

७. बृभा ५१६९ ।

८. सो ण संभवति (भ, मु) ।

९. बृभा ५१७०, पंकभा ३४८ ।

१०. बृभा ५१७१, तु. पंकभा ३४९, ३५० ।

११. ओमोय° (बृभा) ।

१२. उत्त° (मु) ।

१३. बृभा ५१७२ ।

१४. °एसू (मु, भ) ।

१५. ताणट्टि (दे) ।

१६. बृभा ५१७३, पंकभा ३५५ ।

३७२५. वर्धित,^१ चिम्पित,^२ मंत्रोपहत, औषध्योपहत,^३ ऋषिशप्त और देवशप्त^४—ये छह नपुंसक भाज्य हैं—यदि अव्यसनी हों तो प्रब्रज्याह हैं, अन्यथा नहीं।

३७२६. पूर्वोक्त सोलह प्रकार के नपुंसकों में से जो आचार्य प्रथम दस प्रकार—पंडक, क्लीब आदि नपुंसकों को प्रब्रजित करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त तथा जो उन्हें प्रब्रजित करने का कहता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष छह—वर्धित, चिम्पित आदि को प्रब्रजित करने वाले आचार्य को चतुर्गुरु और प्रब्रजित करने का कहने वाले को भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७२७, ३७२८. शिष्य—स्त्री और पुरुष के यदि वेद का उदय होता है तो ध्यान, उपवास आदि नियमों में उपयुक्त होकर वे उस वेग को धारण करते हैं। उसी प्रकार नपुंसक भी यदि वेद के उदय को धारण करे तो उनको प्रब्रजित करने में क्या दोष है? अथवा यदि आपका अभिप्राय यह है कि नपुंसक के वेदोदय होने पर चारित्रभंग का दोष उत्पन्न होता है तो इतर—स्त्री और पुरुष में यदि वेदोदय हो जाए तो क्या दोष नहीं होता अर्थात् वेदोदय होने पर चारित्रभंग का दोष नपुंसक के समान उनमें भी संभव है। जब तक व्यक्ति का मोह क्षीण न हो, तब तक सभी सवेदी हैं। वेद से होने वाले दोषों से डरकर दीक्षा न लें तो फिर न तीर्थ चलेगा और न तीर्थ की परम्परा।

३७२९. आचार्य—स्त्री को दीक्षा दी जाए, वह साध्वियों के पास और पुरुष को दीक्षा दी जाए तो वह साधुओं के पास रह जाता है—इस प्रकार वे दोनों दोषरहित स्थानों में रहते हैं। पर नपुंसक को दीक्षा दी जाए तो वह कहां रहे? साधु अथवा साध्वी—दोनों ही स्थान उसके लिए निर्दोष नहीं। उसके साथ संवास, उसके स्पर्श एवं दर्शन से दोषोत्पत्ति की संभावना को वत्स एवं आम के दृष्टान्त से जानना चाहिए।^५

३७३०. १. अशिव, २. अवमौदरिका^६, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उत्तमार्थ (अनशन), ७. ज्ञान, ८. दर्शन और ९. चारित्र—इन आगाढ़ कारणों में आपवादिक रूप में सभी प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा दी जा सकती है।

३७३१. राजद्वेष तथा सात प्रकार के भय में यदि कोई नपुंसक त्राण का हेतु हो, राजवल्लभ हो या राजा के पास जाने के लिए अपेक्षित हो, कृतकरण होने से म्लेच्छ आदि के भय में त्राणदाता हो, उसे राजद्वेष और भय में दीक्षित किया जा सकता है। कोई नपुंसक स्वयं वैद्य हो या वैद्य को तृप्त करने वाला हो तो आगाढ़ ग्लान्य में उसे दीक्षित किया जा सकता है। कोई अनशन का इच्छुक है लेकिन कोई उसका सहायक न हो या अच्छा सहायक न हो तो उसमें सुसहायक नपुंसक को दीक्षित किया जा सकता है।

१. बाल्यावस्था में ही जिसके अण्डकोष काट दिए जाएं—समाप्त कर दिए जाएं, वह वर्धित नपुंसक होता है, वह निर्बीज होता है।
२. जन्म से ही जिसके अण्डकोषों को अंगुष्ठ एवं प्रदेशिनी अंगुली के मध्य मसलकर चपटा कर दिया जाता है, वह चिम्पित नपुंसक भी निर्बीज होता है।
३. जिसका वेद किसी मंत्र विशेष और औषधि विशेष से उपहत कर दिया जाए, पुरुषत्व विलीन कर दिया जाए, वे क्रमशः मंत्रोपहत और औषध्योपहत नपुंसक होते हैं। जब तक उस मंत्र या औषधि का प्रभाव समाप्त न कर दिया जाए—ये दोनों ही निर्बीज होते हैं।
४. रुष्ट ऋषि और रुष्ट देव के द्वारा अभिशास व्यक्ति—‘मेरे तपःप्रभाव या वचनप्रभाव के कारण तुझमें पुरुषत्व नहीं रहेगा’ क्रमशः ऋषिशप्त और देवशप्त नपुंसक कहलाता है।
५. जैसे वत्स (पुत्र) को देखकर माता में दुग्धपान एवं पुत्र में स्तनाभिलाषा पैदा होती है, जैसे किसी को आम खाते देखकर अन्य के मुंह में भी पानी आने लगता है, वैसे ही नपुंसक के संवास, स्पर्श आदि से अभुक्तभोगी साधुओं में कौतुक तथा भुक्तभोगी साधुओं में स्मृति आदि से दोषोत्पत्ति की संभावना अधिक रहती है अतः नपुंसक को दीक्षा न दी जाए।
६. कोई नपुंसक अशिव को उपशान्त करने वाला या अशिवगृहीत साधुओं के लिए अत्यन्त उपकारी हो, दुर्भिक्ष (अवम) आदि में गण के लिए भक्तपान आदि के दान से उपग्रहकारी हो तो आगाढ़ अशिव एवं अवम में दीक्षा दी जा सकती है।

३७३२. गुरुणो व अप्पणो वा, णाणादी गेणहमाण तप्पिहिती ।
‘अचरणदेसा णेते’^{१९}, तप्पे ओमासिवेहिं वा^{२०} ॥ ३६०७ ॥
३७३३. एतेहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे^{२१} ।
पंडादी सोलसगं, ‘कते तु कज्जे विगिंचणता’^{२२} ॥ ३६०८ ॥
३७३४. दुविधो जाणिमजाणी^{२३}, अजाणगं पण्णवेति तु इमेहिं ।
‘जणपच्चयट्टया वा’^{२४}, नज्जंतमणज्जमाणे^{२५} वि ॥ ३६०९ ॥
३७३५. ‘कडिपट्टगे य छिहली, कत्तरिगा भंडु’ लोय पाढे य’^{२६} ।
धम्मकह-सण्णि-राउल, ‘ववहारविगिंचणं कुज्जा’^{२७} ॥ ३६१० ॥
३७३६. कडिपट्टगो अभिणवे, कीरति छिहली य अम्ह चेवासी ।
कत्तरिया भंडु^{२८} वा, अणिच्छ एक्केक्कपरिहाणी ॥ ३६११ ॥
३७३७. छिहलिं तु अणिच्छंते, ‘भिक्खुगमादीमतं पऽणिच्छंते’^{२९} ।
परत्तिथिग^{३०} वत्तव्वं^{३१}, उक्कमदाणं ससमए वि ॥ ३६१२ ॥
३७३८. वीयार-गोयरे थेरसंजुतो रत्तिदूरे तरुणाणं ।
गाहेह ममं पि ततो, थेरा ‘गाहेतिऽजत्तेण’^{३२} ॥ ३६१३ ॥
३७३९. वेरग्गकहा विसयाण णिंदणा^{३३} उट्टुनिसिदणे^{३४} गुत्ता ।
‘चुक्कखलिते य’^{३५} बहुसो, सरोसमिव चोदते^{३६} तरुणा ॥ ३६१४ ॥

१. चरणे देसावक्कमि (बृभा ५१७४) ।

२. पंकभा ३५७ ।

३. णिक्खामे (पंकभा ३५८) ।

४. कतकज्ज विगिंचणट्टाए (पंकभा), बृभा ५१७५ ।

५. जाणमं (मु, दे, बृभा) ।

६. °ट्टयाए (बृभा ५१७६) ।

७. °माणा (भ) ।

८. भंड (भ) ।

९. कडिपट्ट-भंड-छिहली, कत्तरि खुर लोय परमतं पाढे (पंकभा ३६२) ।

१०. °चणा विहिणा (बृभा ५१७७) ।

११. भंडं (बृभा ५१७८), भंडु (दे) ।

१२. भिक्खूमादीमयं पि णेच्छंति (मु, भ) ।

१३. परत्तिथि° (बृभा ५१७९) ।

१४. णेत्त° (भ) ।

१५. जत्तेण गाहेति (पंकभा ३६७), बृभा ५१८० ।

१६. णिंदया (मु, दे) ।

१७. उट्टि° (भ) ।

१८. °लिएसु (बृभा ५१८१), °लितम्मि (पंकभा ३६८) ।

१९. तज्जते (पंकभा) ।

३७३२. ज्ञान ग्रहण करते समय स्वयं को या गुरु को जो आहार, वस्त्र आदि का साहाय्य करेगा—तृप्त करेगा या दर्शनविशोधिपरक ग्रन्थ को पढ़ते हुए उनको आहार आदि से तृप्त करेगा अथवा जिस देश में चारित्र का सम्यक् परिपालन शक्य न हो, चारित्रदोष उत्पन्न हो रहे हों, अशिव, अवम आदि के कारण उस क्षेत्र से बाहर जाना हो तो उस क्षेत्र के निर्गमन में सहायक बने, तृप्त करे, उस नपुंसक को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के लिए दीक्षित किया जा सकता है।

३७३३. इन आगाढ़ कारणों से जो सोलह प्रकार में से किसी नपुंसक को प्रव्रजित करे, उसे चाहिए कि कार्य के सम्पन्न हो जाने पर उस नपुंसक मुनि का विवेक (पृथक्करण) कर दे।

३७३४. नपुंसक के दो प्रकार हैं—ज्ञायक और अज्ञायक। जो यह जानता है कि साधुओं को नपुंसक को प्रव्रज्या देना नहीं कल्पता, वह है ज्ञायक और जो यह नहीं जानता, वह है अज्ञायक। दीक्षा के लिए उपस्थित दोनों प्रकार के नपुंसकों को आचार्य प्रज्ञापना देते हैं—तुम दीक्षा के लिए अयोग्य हो, अतः श्रावकधर्म का पालन करो आदि। ऐसा न चाहने पर ज्ञायक और अज्ञायक दोनों को आचार्य लोक विश्वास के लिए कटिपट्टक की प्रज्ञापना देते हैं, धारण करने के लिए कहते हैं।

३७३५. नपुंसक को दीक्षा दी जाए तो उसे कटिपट्टक एवं शिखा (चोटी) धारण करवाई जाए। उसका कैंची या क्षुर से मुंडन किया जाए अथवा लोच किया जाए। उसे परतीर्थियों के सिद्धान्त पढ़ाए जाएं। कार्य समाप्ति के बाद धर्मकथा से उसे समझाकर लिंगविवेक करवाए। यदि वह सहज में लिंग न छोड़े तो श्रावकों से कहे या राजकुल में जाकर व्यवहार (न्याय) के लिए कहे। इस प्रकार विधिपूर्वक उसकी विगिंचणा करे—संघ से बहिष्कृत करे।

३७३६. अभिनव दीक्षित नपुंसक को कटिपट्टक धारण करवाया जाता है और सिर पर चोटी रखी जाती है। यदि वह पूछे कि पूरा मुंडन क्यों नहीं किया? तो कहे—हमारे भी पहले ऐसा ही किया था। मुंडन कैंची से करे। वह न चाहे तो क्षुरमुंडन करे। यदि क्षुरमुंडन भी न करवाए तो लोच करे, लेकिन चोटी अवश्य रखे। इस प्रकार एक-एक की परिहानि की जाती है।

३७३७. यदि वह शिखा न रखना चाहे तो सर्वमुंडन कर दे। आसेवन शिक्षा में उसे क्रियाकलाप न सिखाए। ग्रहणशिक्षा में भिक्षुक—बौद्धमत, कपिलमत आदि का अध्ययन करवाए। यदि वह न पढ़ना चाहे तो श्रृंगार काव्य पढ़ाए, वह न पढ़ना चाहे तो द्वादशांग में जो परतीर्थिक वक्तव्यता निबद्ध जो सूत्र हैं, उनको पढ़ाए। उनको भी न पढ़ना चाहे तो स्वसमय की वक्तव्यता को उत्क्रम से खण्ड-खण्ड में पढ़ाए।

३७३८. विचारभूमि तथा गोचरभूमि में उसे स्थविर मुनि के साथ भेजा जाए। रात्रि में तरुण साधुओं से दूर रखा जाए। तरुण साधु उसे न पढ़ाए और वह कहे कि मुझे भी पाठ दें तो स्थविर मुनि अयत्नपूर्वक—पढ़ाए यत्नपूर्वक न पढ़ाए।

३७३९. जो सूत्र वैराग्य कथाओं में तथा विषय की निन्दा में निबद्ध हों, उन्हें उनको पढ़ाए। उनके समक्ष उठते-बैठते समय मुनि पूर्ण गुप्त होकर बैठे, रहे। यदि नपुंसक मुनि समाचारी में कहीं भूल करें, स्वलना या प्रमाद करें तो तरुण मुनि उन्हें बहुत बार (बार-बार) और रोषपूर्वक टोके, ताकि नपुंसक उनके प्रति अनुरक्त न बन सकें।

३७४०. 'धम्मकहा पाढेंति य', कतकज्जा वा सें धम्ममक्खेंति'^१।
मा हण परं पि लोगं, अणुव्वता 'तुज्झ नो दिक्खा'^२ ॥३६१५ ॥
३७४१. सण्णि-खरकम्मिओ वा, भेसेति कतो इहेस कंचिक्को'^३।
निवसिट्ठे वा दिक्खितो, एतेहि अणात पडिसेधो'^४ ॥३६१६ ॥
३७४२. अज्झावितो मि एतेहि, चेव पडिसेधो किं वऽधीतं ते।
छलिगकहादी'^५ कड्ढति, कत्थ जती कत्थ छलियाइं'^६ ॥३६१७ ॥
३७४३. पुव्वावरसंजुत्तं, वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं'^७।
पोराणमद्धमागहभासाणियतं हवति सुत्तं'^८ ॥३६१८ ॥
३७४४. जे 'सुत्तगुणा वुत्ता'^९, तव्विवरीताणि गाहते'^{१०} पुव्वं।
'णिच्छण्णकारणाणं, सच्चेव'^{११} विगिंचणे'^{१२} जतणा'^{१३} ॥३६१९ ॥
- ३७४४/१. निद्धोसं सारवंतं च, हेतूकारणचोइयं'^{१४}।
उवणीतं सोवयारं च, मितं मधुरमेव च ॥३६२० ॥
- ३७४४/२. अप्पग्गंथ महत्थं च, बत्तीसदोसवज्जितं।
अच्छोभणमवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासितं'^{१५} ॥३६२१ ॥
३७४५. कावालिण्ण सरक्खे, तच्चवणियवसभलिंगरूवेणं।
वडुंबगपव्वइते, कातव्व विधीएँ वोसिरणं'^{१६} ॥३६२२ ॥

१. व (दे)।

२. कतकज्जा से धम्मं, कहेंति मुंचाहि लिंगमेतं ति
(पंकभा ३६९)।

३. दिक्ख नो तुज्झं (बृभा ५१८२)।

४. कंचिक्को (मु, पंकभा)।

५. बृभा ५१८३, पंकभा (३७१) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
ते सासति रायकुले, जदि सो ववहार मग्गेज्जा।

६. छलियातिकहं (बृभा ५१८४)।

७. °यादी (दे), पंकभा ३७३।

८. °त अवि (मु, भ)।

९. बृभा ५१८५, पंकभा ३७४।

१०. °णा भणिया (बृभा ५१८६), °णाभिहिता
(पंकभा ३७५)।

११. गाहितो (पंकभा)।

१२. सा चेव (मु, भ)।

१३. °चणा (भ)।

१४. तेहिं चेव विवेगो, जह एरिसगं भवति सुत्तं (पंकभा)।

१५. हेउजुत्तमलंकिंयं (ठाणं ७/४८/८ अनुद्दा ३०७/९,
आवनि ५६५/२०, बृभा २८२, व्यभा ३०२३)।

१६. ३६२०, ३६२१—ये दोनों गाथाएं किसी भी हस्तप्रति में नहीं मिलती हैं। विषय की दृष्टि से भी ये यहां अतिरिक्त प्रतीत होती हैं। संभव है ये बाद में जोड़ी गई हैं।

१७. बृभा ५१८७, तु पंकभा ३७९।

३७४०. नपुंसक मुनि को धर्मकथा पढ़ाई जाती है। जिस प्रयोजन से उन्हें दीक्षा दी गई, उसके पूर्ण होने पर उनके समक्ष इस प्रकार धर्म का आख्यान करें कि वह स्वयं लिंग छोड़ दे। उन्हें कहे—तुम रजोहरण आदि लिंग को धारण करते हुए परभव में बोधि के उपघात करने के लिए प्रयत्न कर रहे हो। इसलिए तुम परलोक का विनाश मत करो। तुम लिंग को छोड़ो और अणुव्रतों को धारण करो। तुम्हारे लिए दीक्षा उपयुक्त नहीं।

३७४१, ३७४२. उपर्युक्त विधि से समझाने पर भी यदि वह लिंग (साधुवेश) न छोड़े तो जो खरकर्म (आरक्षक) श्रावक हो उसे कहे—हमने इस नपुंसक को प्रयोजनवश दीक्षित किया था, अब यह लिंग छोड़ना नहीं चाहता, तुम इसे समझाओ। तब वह आरक्षक उन साधुओं के द्वारा बताये गए चिह्नों से पहचान कर उसे सबके सामने डराते हुए कहता है—आप लोगों के बीच यह कहां से आया? अभी निकल यहां से, अन्यथा मार डालूंगा। यदि कोई आरक्षक श्रावक न हो तो जाकर राजा से न्याय हेतु कहें। यदि नपुंसक कहे—इन्होंने मुझे दीक्षा दी है, अब मुझे छोड़ रहे हैं। तो साधु कहें—यह जनता से अज्ञात रहकर दीक्षित हुआ है, हमने इसे दीक्षा नहीं दी। वह कहे—इन्होंने मुझे पढ़ाया है। तब उसका प्रतिषेध करते हुए साधु कहे—हमने क्या पढ़ाया? तुमने क्या पढ़ा? यदि वह छलितकथा, काव्य आदि की बात कहे तो मुनि कहें—कहां तो संयमी मुनि और कहां छल आदि की कथा? न हम शृंगार पढ़ते हैं और न पढ़ते हैं।

३७४३. जो पूर्वापर संयुक्त हैं, वैराग्यकारक, अपने सिद्धान्त से अविरोध, पोरण पूर्वपुरुषों (तीर्थकरों) द्वारा प्रज्ञप्त तथा अर्धमागधी भाषा में निबद्ध (नियत) सूत्र हैं, हम उनकी वाचना देते हैं।

३७४४. सूत्र के जो गुण बताये गए हैं, नपुंसक को पहले उससे विपरीत गुणों वाले ग्रन्थ—शृंगार काव्य आदि पढ़ाए जाते हैं ताकि प्रयोजन निच्छिन्न (समाप्त) होने पर उसी आधार से उनकी विगिंचणा की जा सके। इस प्रकार व्यवहार (न्याय) के द्वारा जीतकर यदि उनकी विगिंचणा न की जा सके, उनके लिए यह यतना करणीय है।^१

३७४४/१, ३७४४/२. सर्वज्ञ भाषित सूत्र वह होता है, जो १. निर्दोष, २. सारयुक्त तथा ३. हेतु एवं कारणों से युक्त हो। ४. उपनय युक्त, ५. उपकारयुक्त/उपचार (लक्षण शक्ति) युक्त, ६. मित (परिमित अक्षर वाला) और मधुर हो, ७. अल्पग्रन्थ और ८. महार्थ हो, ९. बत्तीस दोषों से रहित हो, १०. अस्तोभ (उत, वै, हा आदि अकारण प्रक्षिप्ताक्षरों से रहित) और ११. अनवद्य हो।^२

३७४५. व्यवहार से जीतकर जिसका पृथक्करण शक्य न हो और बहुकुटुम्ब—बड़े परिवार से दीक्षित हो, उस नपुंसक मुनि को अविकारी गीतार्थ मुनि (वृषभ) कापालिक, सरजस्क (शैव) या बौद्ध भिक्षु का वेश बनाकर विधिपूर्वक विसर्जित करे—छोड़कर आए।

१. यतना हेतु द्रष्टव्य ३७४५-३७४७।

२. सूत्र के लक्षण गुण एवं दोष के लिए द्रष्टव्य—बृभा. गा. २८७ पृ. ८६, ८७।

३७४६. णिवल्लभबहुपक्खम्मि वावि तरुणवसभा मिथो^१ बेति ।
 भिण्णकहाओभट्टा, न घडति इह वच्च परतिथिं^२ ॥३६२३॥
३७४७. तुमए समगं आमं, ति निग्गतो भिक्खमादिलक्खेणं ।
 नासति भिक्खुगमादी^३, छोढूण ततो 'च्चिय पलाति'^४ ॥३६२४॥
३७४८. तिविधो य होति^५ जड्डो, 'सरीर-भासाए'^६ करणजड्डो उ^७ ।
 भासाजड्डो तिविधो^८, जल-'मम्मण-एलमूगो य'^९ ॥३६२५॥ नि ७३४ ॥
३७४९. जलमूग-एलमूगो, सरीरजड्डे य करणजड्डे य ।
 एतेसिं^{१०} चतुगुरुगा, सेसकजड्डुम्मि^{११} मासलहू ॥३६२६॥
३७५०. दंसण-णाण-चरित्ते, तवे य समितीसु करणजोगे य ।
 उवदिट्ठं पि ण गेण्हति, जलमूगो एलमूगो^{१२} य^{१३} ॥३६२७॥
३७५१. णाणादऽट्टा^{१४} दिक्खा, भासाजड्डो अपच्चलो तस्स ।
 सो य बहिरो व^{१५} णियमा, गाहणउड्डाह अधिकरणं^{१६} ॥३६२८॥
३७५२. तिविधो सरीरजड्डो, पंथे भिक्खे य होति वंदणगे ।
 एतेहि कारणेहिं, 'जड्डुस्स ण दिज्जती'^{१७} दिक्खा^{१८} ॥३६२९॥
३७५३. अद्धाणे पलिमंथो, भिक्खायरियाएँ अपडिहत्थो य ।
 दोसा सरीरजड्डे^{१९}, गच्छे पुण सो अणुण्णातो^{२०} ॥३६३०॥

१. मिणं (बृभा ५१८८) ।

२. °त्थी (दे) ।

३. °मादिसु (बृभा ५१८९) ।

४. वि विप° (मु, भ), तु. पंकभा ३७८ ।

५. होंति (दे) ।

६. भास-सरीरे य (पंकभा ३८०) ।

७. य (दे) ।

८. चउहा (पंकभा) ।

९. एलग मम्मण दुमेहो (पंकभा) ।

१०. एएसु (मु, भ) ।

११. मम्मणजड्डुम्मि (भ) ।

१२. × (दे) ।

१३. पंकभा ३८३ ।

१४. णाणादिट्टा (भ) ।

१५. वि (मु), य (पंकभा) ।

१६. पंकभा ३८४ ।

१७. कप्पती (भ) ।

१८. सरीरजड्डुं ण दिक्खेज्जा (पंकभा ३८५) ।

१९. अन्ने भणंति—नातिसरीरजड्डुस्स महल्लगच्छे पव्वज्जा
 अणुण्णाता (चू) ।

२०. तु. पंकभा ३८६ ।

३७४६. जो नृपवल्लभ है, बहुपाक्षिक (अनेक मित्र एवं स्वजनों वाला) है, उसकी विगिंचणा विधि यह है कि जब वह तरुण मुनियों से एकान्त में प्रतिसेवना का अवभाषण (मांग) करे, भिन्न—चारित्रभग्न करने वाली वार्ता करे, तब तरुण भिक्षु (गीतार्थ) कहे—यहां मुनियों के बीच ऐसा करना उचित नहीं। यदि तुम ऐसा करना चाहते हो तो परतीर्थियों में चले जाओ।

३७४७. यदि नपुंसक तरुण वृषभ मुनि से कहे—मैं तुम्हारे साथ वहां जाऊंगा या तुम मुझे वहां छोड़कर आओ। तो वह कहे—हां, आओ चलें। वह भिक्षुक आदि परतीर्थियों के वेश में उसके साथ जाकर उसे वहां छोड़ आए। यदि वह वहां भी उस तरुण वृषभ को न छोड़े तो रात्रि में उसे सोता हुआ छोड़कर आ जाए या भिक्षा आदि के व्याज से बाहर निकल जाए।

३७४८. जडु (असमर्थ) के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. शरीरजडु, २. करणजडु और ३. भाषाजडु। भाषा-जडु पुनः तीन प्रकार का हो जाता है—१. जलमूक, २. मन्मनमूक और ३. एडमूक। च शब्द से दुर्मेधजडु को भी इसी के अन्तर्गत जानना चाहिए।^१

३७४९. जो भिक्षु जलमूक, एडमूक, शरीरजडु एवं करणजडु—इनको दीक्षित करता है, उसे चतुर्गुरु तथा शेष—मन्मनमूक, दुर्मेधजडु आदि को दीक्षित करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७५०. प्रशस्तदर्शन या दर्शन प्रभावक ग्रन्थों, ज्ञान, चारित्र, तप, पांच समिति, तीन करण और तीन योग—इनके विषय में बार-बार उपदेश दिए जाने पर भी जलमूक और एडमूक इन्हें सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते, अतः ये प्रव्रज्यार्ह नहीं।

३७५१. दीक्षा का प्रयोजन है ज्ञान। भाषाजडु (जलमूक एवं एडमूक) ज्ञानग्रहण करने में असमर्थ होता है। वह नियमतः बधिर भी होता है। फलतः जोर से बोलकर उसे कुछ बताया जाए तो उड्डाह आदि दोष होते हैं। वह न समझ पाए, ग्रहण न करे तो कोप, कलह आदि दोष होते हैं।

३७५२. शरीरजडु तीन प्रकार का होता है—१. पंथजडु, २. भिक्षाजडु और ३. वन्दनजडु।^१ इन (विवक्षित) कारणों से शरीर जडु को दीक्षा नहीं दी जाती।

३७५३. वह (शरीरजडु) मार्ग में छूट जाता है, अटवी आदि में पीछे रह जाए तो श्वापद, स्तेन आदि का भय रहता है, भिक्षाचरिका आदि में अत्यधिक मंदगति होने से अन्य भिक्षुओं के लिए पल्लिमन्थु होता है, वंदना आदि में अपरिहृत्थ (अदक्ष/अपरिपूर्ण) होता है—इन दोषों के कारण शरीरजडु को प्रव्रजित नहीं किया जाता। यदि दीक्षा से पूर्व वह कृशकाय हो, गच्छ में आने के बाद शरीरजडु हो जाए तो उसकी परियट्टणा (निर्वाह) अनुज्ञात है—उसका परित्याग नहीं किया जाता।

१. जल निमग्न व्यक्ति की भांति बुडबुड—अव्यक्त वचन बोलने वाला जलमूक, भेड़ या बकरे की भांति बू-बू की आवाज निकालने वाला एडमूक, जिसकी वाणी बीच-बीच में खलित हो, वह अस्पष्टभाषी तथा बार-बार घोष करने पर भी जिसमें ग्रंथ (ज्ञान) नहीं ठहरता, वह माषतुष सदृश व्यक्ति दुर्मेध कहलाता है।

२. शरीरजडु के भेद शरीर के आधार पर नहीं, क्रियाभेद के आधार पर हैं।

३७५४. उड्डुस्सास अपरक्कमो य गिलाण-ऽलाघव-अग्गि-अहि-उदए।
जडुस्स य आगाढे, गेलण्ण ऽसमाधिमरणं वा ॥३६३१ ॥
३७५५. सेएण कक्खमादी, कुच्छण-धुवणुप्पिलावणे^१ पाणा^२।
णत्थि 'गलिओ य'^३ चोरो, णिंदियमुंडा य जणवादो ॥३६३२ ॥
३७५६. इरियासमिती भासेसणा य आदाणसमितिगुत्तीसु।
न वि ठाति चरणकरणे^४, कम्मदएणं करणजडु ॥३६३३ ॥
३७५७. मोत्तुं गिलाणकिच्चं, दुम्मेहं पाढे जाव छम्मासा।
एक्केक्के^५ छम्मासा, जस्स य दुट्ठं विगिंचणया ॥३६३४ ॥
३७५८. छम्मासकरणजडुं, परियट्टति दोण्णि^६ जावजीवाए।
अन्ने दो आयरिया, तेसिं दट्ठं विवेगो य^७ ॥३६३५ ॥
३७५९. जो पुण करणे जडु, उक्कोसं तस्स होंति छम्मासा।
कुल-गण-संघ-णिवेदण, एतं तु विधिं तहिं कुज्जा ॥ ३६३६ ॥
३७६०. तिविधो^८ य होति कीबो, अभिभूतो णिमंतणा अणभिभूतो।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, ततिए मूलं तु बोधव्वं ॥३६३७ ॥ नि ७३५ ॥
३७६१. दुविधो य होति^९ कीबो, अभिभूतो चेव अणभिभूतो य।
अभिभूतो वि य दुविधो, 'णिमंतणाऽऽलिद्धकीबो य'^{१०} ॥३६३८ ॥
३७६२. दुविधो य अणभिभूतो, सद्दे रूवे य होति णातव्वो^{११}।
अभिभूतो गच्छगतो, सेसा कीबा तु पडिकुट्टा ॥३६३९ ॥
३७६३. संफासमणुप्पत्तो, पडती जो सो उ होति अभिभूतो।
णिवतति य इत्थीणिमंतणेण एसो वि^{१२} अभिभूतो ॥३६४० ॥

१. °णुप्पलीवणे (दे)।

२. दोसा (पंकभा ३८८)।

३. गलभोय (पंकभा)।

४. करणचरणे (दे)।

५. °क्कं (भ)।

६. दो वि (मु)।

७. वा (दे)।

८. दुविधो (दे, पा)।

९. होंति (दे)।

१०. आलिद्धनिमंतणाकीबो (पंकभा ३९६)।

११. होयव्वं (भ)।

१२. व (भ)।

३७५४. शरीरजडु के चलते-चलते ऊर्ध्वश्वास हो जाता है (सांस फूल जाती है), खल (खलिहान) आदि का अतिक्रमण करने में वह अल्पपराक्रम होता है। वह बार-बार ग्लानत्व को प्राप्त होता है। अग्नि, सांप, जलप्रवाह आदि विपत्तियों में उसमें अलाघव (शारीरिक दक्षता का अभाव) होता है। आगाढ़ रोग आदि के साथ उपचित शरीर में दाह, ज्वर आदि होने से वह असमाधिमरण को प्राप्त होता है।

३७५५. उपचित शरीर में ग्रीष्म ऋतु में स्वेद अधिक आता है। फलतः उसके कक्षा, ऊरु आदि अवयव कुथित हो जाते हैं। यदि उन्हें धोया न जाए तो व्रण हो जाते हैं। धोने पर उत्प्लावन आदि दोष होते हैं। लोगों में उड्डाहपूर्ण बातें होती हैं—लगता है ये गले पर्यन्त प्रकार एवं प्रणीत भोजन करते हैं, ये चोर हैं, इन्द्रियमुंड (जितेन्द्रिय) नहीं।

३७५६. करणजडु ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप आदि समितियों, गुप्तियों, चरणसप्तति और करण-सप्तति आदि संयमानुष्ठानों में स्थित नहीं हो पाता, बार-बार उपदेश देने पर भी चारित्रावरणीय कर्म के उदय विशेष से स्वखलित होता रहता है, अतः दीक्षार्ह नहीं।

३७५७. यदि ग्लानकृत्य (ग्लान की सेवा आदि) के लिए दुर्मेधजडु को प्रव्रजित करे तो ग्लान कृत्य पर्यन्त उसकी परियट्टणा की जाती है, निर्वाह किया जाता है। यदि ग्लानकृत्य के अलावा अज्ञानता आदि में प्रव्रज्या दी जाए तो छह मास तक उसका निर्वाह किया जाता है। इसी प्रकार अन्य दो आचार्य भी प्रत्येक छह-छह मास तक उसका निर्वाह करते हैं। इस अवधि में यदि वह नमस्कारमंत्र, सामायिकसूत्र आदि ग्रहण कर ले तो ठीक, अन्यथा (अठारह महीनों के बाद भी) दोष युक्त रहे तो उसकी विगिंचणा कर दी जाती है। (जिस आचार्य को देखकर वह दुर्मेधत्व दोष से मुक्त हो, उसी आचार्य के पास वह रह जाता है।)

३७५८. करणजडु की परियट्टणा विधि भी दुर्मेध के समान छह-छह मास है। मूल आचार्य के बाद अन्य दो आचार्य भी उसका छह-छह महीने निर्वाह करते हैं। मन्मन और सामान्य शरीरजडु (नाति शरीरजडु) — इन दो का यावज्जीवन निर्वाह किया जाता है। जिन्हें देखे जड़ता-मुक्त हों, उनके पास उन्हें रखा जाता है, अन्यथा करणजडु का अठारह मास के बाद विगिंचण कर दिया जाता है।

३७५९. करणजडु की मूल आचार्य छह मास तक परियट्टणा करते हैं, उसके बाद कोई अन्य आचार्य उसे न रखना चाहे या अन्य आचार्य न हो तो वहां यह विधि अपनाए—कुल, गण, संघ आदि का समवाय कर उसे निवेदन करे—आप में से जो चाहें, वे इसे ग्रहण करें—इस प्रकार उसकी विगिंचना करे।

३७६०. क्लीब के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. अभिभूत, २. निमंत्रणा और ३. अनभिभूत। इनको दीक्षित करने पर क्रमशः चतुर्गुरु, षड्गुरु एवं मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७६१. अथवा क्लीब के दो प्रकार हैं—१. अभिभूत और २. अनभिभूत। अभिभूत क्लीब के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. निमंत्रणा क्लीब और २. आदिग्ध क्लीब।

३७६२. अनभिभूतक्लीब के दो प्रकार हैं—१. शब्द क्लीब और २. रूप क्लीब। अभिभूत क्लीब गच्छगत हो सकता है—गच्छ में रह सकता है, शेष तीन की प्रव्रज्या प्रतिक्रुष्ट है।

३७६३. जो संस्पर्श को प्राप्त कर गिर जाता है, च्युत हो जाता है, वह अभिभूत क्लीब (आदिग्ध क्लीब) कहलाता है।^१ जो स्त्री द्वारा भोगों के लिए निमन्त्रण पाकर गिर जाए, वह भी अभिभूत (निमंत्रणा क्लीब) होता है।

१. चूर्णिकार ने आदिग्ध क्लीब के लिए जतुघट (मोम के घड़े) का उदाहरण दिया है।

३७६४. 'ददूण दुण्णिविट्'^१, णिगिणमणायारसेविणं वावि ।
सदं व सोउ ततिओ, सज्जं मरणं व ओहाणं ॥३६४१ ॥
३७६५. साहम्मि अण्णधम्मिय, गारत्थियइत्थियाउ ददूणं ।
तो उप्पज्जति वेदो, कीबस्स ण कप्पती दिक्खा^२ ॥३६४२ ॥
३७६६. संघाडगाणुबद्धा^३, जावज्जीवाएँ णियमितचरित्ते ।
दो कीबे परियट्ठति, ततियं पुण उत्तिमट्ठम्मि ॥३६४३ ॥
३७६७. अभिभूतो पुण भइतो^४, गच्छे सबित्तिज्जगो उ सव्वत्थ ।
इतरे पुण पडिसिद्धा, सद्दे रूवे य जे कीबा ॥३६४४ ॥
३७६८. रोगेण व वाहीण व, अभिभूतो जो तु अभिलसे दिक्खं ।
सोलसविधो उ रोगो, वाही^५ पुण होति अट्ठविधो^६ ॥३६४५ ॥ नि ७३६ ॥
- ३७६८/१. वेवगि पंगु वडभं, णिम्मणिमलसं च सक्करपमेहं ।
बहिरंधकुंठवडभं, गंडी कोडीक्खते सूई^७ ॥३६४६ ॥
- ३७६८/२. जर-सास-कास डाहे, अतिसार भगंदरे य सूले य ।
तत्तो अजीरघातग, आसु विरेचा हि रोगविधी ॥३६४७ ॥
३७६९. छक्कायसमारंभो, नाणचरित्ताण होति^८ परिहाणी ।
घंसण-पीसण-पयणं, दोसा एवंविधा होंति ॥३६४८ ॥
३७७०. जाता अणाहसाला^९, समणा वि य दुक्खिता पडियरंता^{१०} ।
ते वि य पउणा संता, होज्ज व समणा ण वा होज्जा ॥३६४९ ॥

१. दुव्वियड दुण्णिसण्णं (तु. पंकभा ३९९) ।

२. तु. पंकभा ४०० ।

३. °बद्धो (दे) ।

४. भरेति (क) ।

५. आशुघातित्वाद् व्याधिः, चिरघातित्वाद् रोगः (चू) ।

६. तु. पंकभा ४०६ ।

७. ३७६८/१, २—ये दोनों गाथाएं हस्तप्रतियों में नहीं मिलती हैं । यहां प्रसंगवश लिपिकार या बाद में आचार्यों के द्वारा

जोड़ दी गई हैं, ऐसा प्रतीत होता है । चूर्णिकार ने भी इनकी व्याख्या नहीं की है । इस प्रसंग में पंचकल्पभाष्य में भी ये गाथाएं अनुपलब्ध हैं । हमने इनको गाथाओं के मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है ।

८. चेव (भ, पंकभा ४०८) ।

९. अणाहसाल त्ति आरोगसाला (चू) ।

१०. तिगिच्छंता (पंकभा ४०९) ।

३७६४. जो परपक्ष (स्त्री) को असंवृत या अप्रावृत देखकर, दुर्निविष्ट देखकर या नग्न अनाचार सेवी को देखकर क्षुब्ध हो जाए, वह दृष्टिक्लीब/रूपक्लीब होता है। जो स्त्रियों के भाषा, आभूषण या परिचारणा शब्दों को सुनकर क्षुब्ध होता है, वह शब्दक्लीब है। ये वेद निरोध करने पर तृतीय वेद—नपुंसकत्व को प्राप्त हो जाते हैं। वीर्यक्षरण से इनका शीघ्रमरण या अवधावन भी संभव है।

३७६६. दृष्टिक्लीब के साधर्मिक, अन्यधार्मिक (परतीर्थिक) या गृहस्थ—इन तीनों में से किसी भी स्त्री को देखने मात्र से वेदमोह का उदय हो जाता है। प्रबल वेदोदय के कारण ये स्त्री को पकड़ लेते हैं। फलतः उड्डाह आदि दोषों की संभावना रहती है, अतः क्लीब को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३७६६. यदि अज्ञानवश क्लीब को प्रव्रजित कर लिया गया हो तो उन्हें यावज्जीवन संघाटक—अनुबद्ध रखें—अकेला न छोड़ें। इस प्रकार नियंत्रित रखकर दोनों अभिभूत क्लीबों की परियट्टणा की जाए तो वे चारित्र पालन कर सकते हैं। तृतीय—अनभिभूत क्लीब को उत्तमार्थ—अनशन में प्रव्रजित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

३७६७. दोनों प्रकार के अभिभूत क्लीब के विषय में भजना यह है—यदि गच्छ में दूसरे साधु हों तो उन्हें प्रव्रजित किया जाए। वे गच्छ में सर्वत्र सद्वितीय जा सकते हैं। अन्य—शब्द एवं दृष्टि क्लीब हैं, उनके लिए दीक्षा प्रतिषिद्ध है, अनशन में उनकी भी दीक्षा हो सकती है।

३७६८. रोग और व्याधि से अभिभूत जो व्यक्ति दीक्षा की अभिलाषा करता है, जो उसे दीक्षा देता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है। रोग सोलह प्रकार का तथा व्याधि आठ प्रकार की होती है।

३७६८/१, २. रोग के सोलह प्रकार हैं—१. कंपन, २. अग्निक (भस्मक), ३. पंगु, ४. वडभ (वामन), ५. णिम्मणि,^१ ६. अलसक (विसूचिका/सूजन), ७. शर्करा (डायबिटीज), ८. प्रमेह (बहुमूत्रता), ९. बहरापन, १०. अंधत्व, ११. कुंठत्व (लूलापन), १२. वडभ (कुब्ज), १३. गंडमाला, १४. कुष्ठ, १५. क्षय (टीबी) और १६. शोथ/श्लीपद।^२ व्याधि के आठ प्रकार हैं—१. ज्वर, २. श्वास, ३. खांसी, ४. दाह, ५. अतिसार, ६. भगंदर, ७. शूल और ८. घातक अजीर्ण।^३

३७६९. रोगी एवं व्याधिग्रस्त को दीक्षा दी जाए तो उनकी चिकित्सा आवश्यक हो जाती है। चिकित्सा में षट्काय के जीवों की विराधना संभव है। दिन भर ग्लान वैयावृत्य में लगे रहने से अन्य साधुओं के ज्ञान (सूत्रार्थ पौरुषी) की हानि, दर्शन एवं चारित्र की हानि होती है। चन्दन घिसना, छाल आदि पीसना, घी आदि तपाना—इत्यादि सेवाकार्य में व्यापृत रहने से अन्य श्रमणोचित क्रियाओं में बाधा आती है। यदि चिकित्सा न करवाएं तो तन्निष्पन्न असमाधि आदि दोषों की संभावना तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अतः रोगी एवं व्याधिग्रस्त को दीक्षा न दी जाए।

३७७०. अनेक व्यक्ति रुग्ण हों तो गच्छवास अनाथशाला—आरोग्यालय प्रतीत होने लगेगा। फिर स्वस्थ साधु भी वमन, विरेचन आदि कार्यों में नियुक्त रहते-रहते दुःखी हो जाएंगे। क्या पता जिन्हें रुग्णावस्था में दीक्षा दी गई, वे प्रगुण होने के बाद श्रमण रहें या न रहें।

१. णिम्मणि शब्द के दो रूप हो सकते हैं—१. निर्मणि—लिंग संबंधी रोग, २. निर्वणि—नेत्र रोग। विशेष हेतु द्रष्टव्य—भि. आ.को.-२, पृ. २१४।

२. सूई—शोथ या श्लीपद—दोनों अर्थों में विमर्शनीय है।

३. प्रस्तुत गाथा में आसुविरेचा शब्द विमर्शनीय है। यदि इसे व्याधि का ही एक प्रकार माना जाए तो व्याधि की संख्या नौ हो जाती है।

३७७१. अक्कंतितो^१ य तेणो, पागतिओ^२ गाम-देस-अद्धाने ।
तक्कर-खाणगतेणो^३, परूवणा 'होति कातव्वा'^४ ॥३६५०॥ नि ७३७ ॥
३७७२. दव्वे खेत्ते काले, भावे या^५ तेणगम्मि^६ णिक्खेवो ।
एतेसिं तु चउण्हं, पत्तेय परूवणं वोच्छं^७ ॥३६५१॥ नि ७३८ ॥
३७७३. सच्चित्ते अच्चित्ते, य^८ मीसगे होति दव्वतेणो उ ।
साधम्मि अण्णधम्मिय, गारत्थीहिं च नातव्वो ॥३६५२॥ नि ७३९ ॥
३७७४. सगदेस परविदेसे, अंतरतेणे^९ य होति खेत्तम्मी ।
राइंदिया व काले, भावम्मि य 'नाणतेणो तु'^{१०} ॥३६५३॥ नि ७४० ॥
३७७५. हय-गयलंचिक्काइं^{११}, तेणेतो तेणगो उ उक्कोसो ।
खेत्तखण कणहवण्णिय^{१२}, गोणीतेणो उ^{१३} मज्झिमगो ॥३६५४॥
३७७६. गंठीछेदग^{१४} पहियजणदव्वहारी जहण्णतेणो उ ।
'एक्केक्कस्स य एत्तो'^{१५}, पडिच्छगपडिच्छगो चेव ॥३६५५॥
३७७७. गोविंदऽज्जो णाणे, दंसणसत्थट्ठहेतुगट्ठा^{१६} वा ।
पावादिय^{१७} उवचरगा^{१८}, उदायिवधगादिया चरणे ॥३६५६॥
३७७८. सच्चित्तं अच्चित्तं, च मीसगं तेणियं कुणति जो तु ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा ॥३६५७॥

१. अडाडाए बला हरंतो अक्कंतितो (चू) ।

२. राते अवहरंतो पागतितो (चू) ।

३. तदेविककं करोतीति तक्करो नो अन्नं किंचि किसिमादी
करोतीति । खेत्तं खणंतो खाणगतेणो (चू) ।

४. तेसिमा होति (पंकभा ४१०) ।

५. य (मु, दे) ।

६. °गस्स (भ) ।

७. तु. पंकभा ४१३ ।

८. × (दे) ।

९. °तेणो (पंकभा) ।

१०. °तेणादी (पंकभा ४१९) ।

११. °लच्चि° (क), °गयमाणिककादि य (पंकभा ४१७) ।

१२. °वण्हिय (दे) ।

१३. य (मु, भ) ।

१४. गंठीभेदग (पंकभा ४१८) ।

१५. एक्केक्को वि य दुविहो (मु) ।

१६. °हेतुसट्ठा (पंकभा ४२०) ।

१७. पारंचिग (दे, भ), पावादुय (पंकभा) ।

१८. उव्वरगा (मु) ।

३७७१. स्तेन शब्द की अनेक प्रकार से प्ररूपणा करणीय है, यथा—आक्रान्तिक स्तेन—राजकुल आदि में या बलात् डाका डालने वाले, प्राकृतिक स्तेन—सामान्य जन को लूटने वाले, ग्राम आदि में हरण करने वाले क्रमशः ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अद्धानस्तेन (मार्गस्तेन), तस्कर (चोरी के सिवाय कृषि आदि कुछ भी न करने वाले), खानस्तेन (खेत/क्षेत्र को खोदने वाले) आदि।

३७७२. स्तेन के चार निक्षेप हैं—१. द्रव्यस्तेन, २. क्षेत्रस्तेन, ३. कालस्तेन और ४. भावस्तेन। इन चारों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करूंगा।

३७७३. साधर्मिक, अन्यधार्मिक तथा गृहस्थों से सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य का हरण करने वाला स्तेन द्रव्यस्तेन कहलाता है। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य द्रव्य के आधार पर इसके तीन प्रकार ज्ञातव्य हैं। (प्रत्येक के स्तेन, स्तेनस्तेन, प्रतीच्छक और प्रतीच्छकप्रतीच्छक—ये चार-चार प्रकार हो जाते हैं।)

३७७४. स्वदेशस्तेन, परदेशस्तेन, विदेशस्तेन, देशान्तरस्तेन—इस प्रकार विविध क्षेत्रों में चोरी करने वाले क्षेत्रस्तेन कहलाते हैं। रात्रि या दिन में—कालविशेष में चोरी करने वाले कालस्तेन कहलाते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का हरण करने वाला भावस्तेन कहलाता है।

३७७५. हाथी, घोड़े चुराने वाला, घूसखोर आदि उत्कृष्ट द्रव्य चोर हैं। खेत खोदकर काली या वर्णिका (लाल मिट्टी) ले जाने वाले, गाय/बैल चुराने वाला मध्यम द्रव्य चोर है।

३७७६. ग्रन्थिछेदन करने वाले (पॉकेटमार), पथिकों का धन लूटने वाले जघन्य द्रव्यचोर हैं। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हो जाते हैं—प्रतीच्छक और प्रतीच्छकप्रतीच्छक।

३७७७. ज्ञानापहार के लिए निष्क्रमण करने वाले गोविन्दार्य^१ ज्ञानस्तेन, दर्शनशास्त्र अथवा कर्कटक^२ हेतुओं के ज्ञान के लिए प्रव्रजित होने वाले तीर्थान्तरीय चरक आदि दर्शनस्तेन^३ तथा करणसप्तति, चरणसप्तति रूप चारित्र के अपहरण के लिए प्रव्रजित होने वाले चारित्रस्तेन आदि या जैसे राजा को मारने के लिए उदायिमारक ने^४ चारित्र ग्रहण किया वे चारित्रस्तेन—ये सारे भावस्तेन के उदाहरण हैं।

३७७८. जो व्यक्ति सचित्त, अचित्त या मिश्र किसी भी द्रव्य की चोरी करता है, साधु अथवा साध्वी को उसे दीक्षित करना नहीं कल्पता।

१. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ६३।

२. वह हेतु जिसमें उभयथा दोष हो। विस्तार हेतु द्रष्टव्य निभा ३ चू. पृ. ३८०।

३. भाष्यकार एवं चूर्णिकार ने दर्शनस्तेन के लिए कोई कथानक प्रस्तुत नहीं किया है।

४. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ६४।

३७७९. वध-बंधण-उद्धवणं, च खिंसणं आसियावणं^१ चैव ।
णिव्विसयं च णरिंदो^२, करेज्ज संघं च सो रुट्ठो^३ ॥३६५८॥
३७८०. अयसो य अकित्ती या, तं मूलागं भवे^४ पवयणस्स ।
'तेसिं पि^५ होति^६ एवं, सव्वे एतारिसा मण्णे ॥३६५९॥
३७८१. सग्गामपरग्गामे, सदेस-परदेस-अंतो-बाहिं च ।
दिट्ठादिट्ठे सोधी, मासलहू अंतमूलादी^७ ॥३६६०॥
३७८२. मूलं छेदो छग्गुरु, छल्लहु चत्तारि 'गुरुग-लहुगा'^८ य ।
गुरुग-लहुगो य मासो, सग्गामुक्कोसगादीणं^९ ॥३६६१॥
३७८३. 'मुक्को व मोइतो वा'^{१०}, अहवा वीसज्जितो णरिंदेणं ।
अद्धाणपरविदेसे, दिक्खा से 'उत्तिमट्ठे वा'^{११} ॥३६६२॥
३७८४. रण्णो ओरोहादिसु^{१२}, संबंद्धे तह य दव्वजातम्मि^{१३} ।
अब्भुट्ठितो विणासाय होति रायावकारी तु^{१४} ॥३६६३॥ नि ७४१ ॥
३७८५. 'सच्चित्ते अच्चित्ते, व मीसगे कूडलेह-वधकरणे'^{१५} ।
समणाण व समणीण व, ण कप्पती तारिसे दिक्खा ॥३६६४॥
३७८६. आसा हत्थी खरिगादि, वाहिता कतऽकतं^{१६} च कणगादी ।
दोच्चविरुद्धं च कतं, लेहो वहितो य से कोई^{१७} ॥३६६५॥
३७८७. तं तु अणुद्धियदंडं^{१८}, जो पव्वावेति होति मूलं से ।
एगमणेगपदोसे, 'पत्थारपदोसतो वावि'^{१९} ॥३६६६॥

१. अस्सिं (दे) ।

२. नविंदो (दे) ।

३. भट्ठो (भ), तु. पंकभा ४२२ ।

४. तहिं (भ, पंकभा ४२३) ।

५. च (दे) ।

६. टाति गिहीण वि (पंकभा) ।

७. तु पंकभा ४२४ ।

८. लहुग गुरुगा (पंकभा ४२५) ।

९. 'मुक्कस' (दे, भ), एतेसिं चारणा तु इमा (पंकभा) ।

१०. बितियपदमुक्कमोइय (पंकभा ४३१) ।

११. 'ट्टाते (मु, दे, पा) ।

१२. उवरोहा' (पंकभा ४३२) ।

१३. 'वजोगम्मि (क) ।

१४. दे प्रति में यह गाथा ३७८५ के बाद है ।

१५. सच्चित्त-अचित्त-मीसगमवकारे दूतलेह वधकरणं (पंकभा ४३३) ।

१६. 'कया (दे) ।

१७. कोति (भ), कोवि (दे), तु. पंकभा ४३४ ।

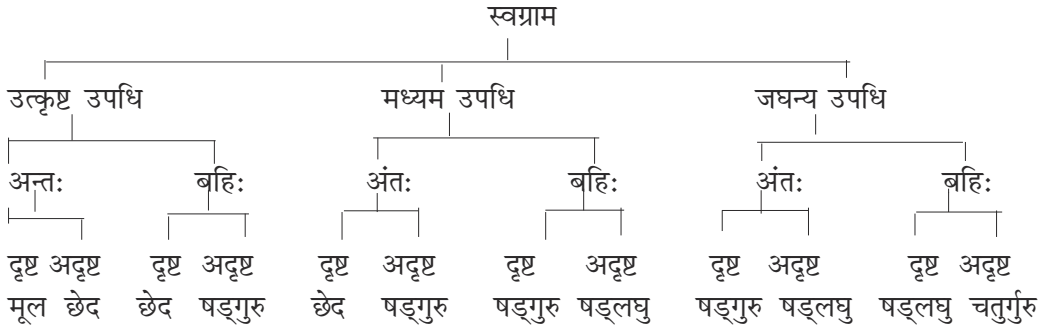
१८. 'दंडो (भ), अणुद्धिय' (मु) ।

१९. होज्जा पत्थारदोसा वा (पंकभा ४३६) ।

३७७९. स्तेन को दीक्षा देने से राजा रुष्ट होकर उस स्तेन, स्तेन को दीक्षित करने वाले आचार्य या उनके संघ का लात, बेंत आदि से वध (पिटार्ई) कर सकता है, निगड आदि से बांध सकता है, उनकी खिंसा कर सकता है, उनका अपहरण करवा सकता है अथवा उन्हें देशनिकाला दे सकता है।

३७८०. स्तेन को दीक्षा देने से प्रवचन का अपयश होता है, अकीर्ति (अवर्णवाद) होता है। जो भिक्षु उन स्तेन भिक्षुओं के साथ रहते हैं, उनके प्रति भी शंका होती है कि लगता है अन्य भिक्षु भी ऐसे ही हैं। अतः स्तेन दीक्षा के लिए अनर्ह है।

३७८१, ३७८२. स्वग्राम, स्वदेश तथा परदेश में अन्दर और बाहर, दृष्ट और अदृष्ट में जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट द्रव्य की चोरी करता है, उसे दीक्षा देने वाले को मासलघु यावत् मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मूल, छेद, षड्गुरु, षड्लघु, चतुर्गुरु, चतुर्लघु, गुरुमास और लघुमास स्वग्राम में उत्कृष्ट उपधि आदि के क्रम से प्राप्तव्य प्रायश्चित्त की चारणिका इस प्रकार ज्ञातव्य है—



इसी क्रम से परग्राम में छेद से चतुर्लघु, स्वदेश में षड्गुरु से मासगुरु और परदेश में षड्लघु से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७८३. कारागार से मुक्त, अन्य स्वजन द्वारा जमानत से छुड़वाया हुआ अथवा राजा के द्वारा प्रभव के समान विसर्जित स्तेन को अटवी, परदेश या अनशन ग्रहण करने के बाद प्रव्रजित किया जा सकता है।

३७८४. जिसने राजा के अन्तःपुर का कोई अपराध किया हो, राजपरिवार के किसी सदस्य का अपकार किया हो, राजा के किसी द्रव्यजात का अपहरण किया हो अथवा राजा के रत्न आदि का विनाश करने के लिए अभ्युद्यत हो, वह राजा का अपकारी कहलाता है।

३७८५. जिसने राजा के सचित्त (पुत्र आदि), अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य सम्बन्धी कोई अपराध किया हो, कूटलेख लिखा हो अथवा किसी का वध किया हो—इत्यादि राजकीय अपराध करने वाले व्यक्ति को दीक्षा देना किसी श्रमण अथवा श्रमणी को नहीं कल्पता।

३७८६, ३७८७. जिसने राजा के हाथी, घोड़े, दासी आदि का वध किया हो, कृत या अकृत (घटित या अघटित) सोने को चुराया हो, दूत रूप में कोई विरोधी कार्य किया हो, कूटलेख लिखा हो या किसी राजकीय व्यक्ति का वध कर दिया हो, ऐसे व्यक्ति ने यदि अपना पूरा दंड न उठा लिया हो (पूरे दंड का पालन करके दंडमुक्त न हो गया हो) उसे दीक्षा देने वाले को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उस एक या अनेक व्यक्तियों के प्रद्वेष के कारण राजा दंड दे सकता है अथवा प्रद्वेषवशात् सम्पूर्ण संघ का प्रस्तार (विनाश) कर सकता है।

३७८८. वध-बंधन-उद्धरणं, च खिंसणं आसियावणं चैव ।
णिव्विसयं च णरिंदो, करेज्ज संघं च सो रुट्ठो^१ ॥३६६७॥
३७८९. अयसो य अकित्ती या, तं मूलागं भवे पवयणस्स ।
तेसिं पि होति एवं, सव्वे एतारिसा मण्णे ॥३६६८॥
३७९०. 'मुक्को व मोइतो वा'^२, अहवा वीसज्जितो नरिंदेणं ।
अद्धाणपरविदेसे, दिक्खा से उत्तिमट्ठे वा ॥३६६९॥
३७९१. उम्मादो खलु दुविधो, जक्खादेसो य मोहणिज्जो य ।
अगणी आलीवणता, आतवयविराधणुड्डाहो^३ ॥३६७०॥ नि ७४२ ॥
३७९२. छक्काय ण 'सद्दहती, सज्जाय'^४-ज्झाण'^५-जोग-करणं वा^६ ।
उवदिट्ठं पि ण गेणहति, उम्मत्ते ण कप्पती दिक्खा^७ ॥३६७१॥
३७९३. दुविधो अदंसणो खलु, जातीउवघातगो य णातव्वो ।
उवघातो पुण तिविधो, वाधी उप्पाड^८ अंजणता ॥३६७२॥ नि ७४३ ॥
३७९४. उवहत-उट्टियणयणे, अदंसणे अहव थीणगिद्धीए^९ ।
चउगुरुगं छगुरुगं, ततिए पारंचितो होति^{१०} ॥३६७३॥
३७९५. छक्कायविराधणता, आवडणं खाणुकंटमादीसु ।
थंडिल्ल^{११} अपडिलेहा, अंधस्स ण कप्पती दिक्खा^{१२} ॥३६७४॥
३७९६. आवहति महादोसं, दंसणकम्मोदएण^{१३} 'ततिओ उ'^{१४} ।
एगमणेगपदोसे, 'पत्थारपदोसतो वावि'^{१५} ॥३६७५॥

१. गा. ३७८८ एवं ३७८९ का प्रतियों में केवल संकेत मात्र है ।

२. बितियपदमुक्कमोइय (पंकभा ४३७) ।

३. तु. पंकभा ४३८ ।

४. °हती ज्जाय (दे) ।

५. झाणं (दे) ।

६. तु. (क) ।

७. तु. पंकभा ४३९, ४४० ।

८. उवघात (पंकभा ४४१) ।

९. °द्धीसु (भ), °द्धीय (दे) ।

१०. तु. पंकभा ४४३ ।

११. °ल्ले (मु) ।

१२. पंकभा ४४४ ।

१३. × (दे) ।

१४. थीणद्धी (पंकभा ४४५) ।

१५. जं काही तं तु आवज्जे (पंकभा) ।

३७८८. उपर्युक्त प्रकार के राजकीय अपराधी (राजापकारी) को दीक्षा देने से रुष्ट होकर राजा उस व्यक्ति, उसको दीक्षित करने वाले आचार्य या संघ की बेंत आदि से पिटाई करवा देता है, उन्हें निगडबद्ध कर देता है, उनका अपद्रावण या खिंसा कर देता है, उनका अपहरण करवा देता है या देशनिकाला दे देता है।

३७८९. राजापकारी को दीक्षित करने से प्रवचन का अपयश होता है, अकीर्ति (अवर्णवाद) होती है तथा जो भिक्षु उस अपराधी भिक्षु के साथ रहते हैं, उनके प्रति भी शंका होती है कि लगता है ये भी ऐसे ही होंगे। अतः उपर्युक्त अपराधी व्यक्तियों को दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

३७९०. कारागार से मुक्त, अन्य स्वजन आदि के द्वारा जमानत से छुड़वाया हुआ अथवा राजा के द्वारा विसर्जित अपराधी को अटवी या परदेश में या अनशन ग्रहण करने के बाद अपवाद रूप में दीक्षित किया जा सकता है।

३७९१. उन्मत्त—उन्माद के दो प्रकार हैं—१. यक्षावेश जनित और २. मोहोदय जनित। उन्मत्त व्यक्ति अग्नि में तप सकता है, प्रदीपन—किसी को जला सकता है, आत्मविराधना और व्रतविराधना कर सकता है, उन्मत्त अवस्था में किसी दासी आदि को पकड़ ले तो उड्डाह आदि दोष भी संभव हैं।

३७९२. उन्मत्त व्यक्ति षट्जीवनिकाय पर सम्यक् श्रद्धा नहीं करता, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रशस्त योगों में प्रवृत्त नहीं होता, प्रतिलेखना आदि क्रियाओं का बार-बार उपदेश देने पर भी सम्यक् प्रकार से उन्हें ग्रहण नहीं करता, अतः उन्मत्त को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३७९३. अदर्शन—अदर्शन के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. जात्यन्ध (जन्मान्ध) और २. उपघातान्ध। उपघातान्ध के पुनः तीन प्रकार होते हैं—१. व्याधि-तिमिर आदि रोग से उपहत चक्षु (व्याधितान्ध)। २. अपराध के कारण जिसके चक्षु निकाल दिए गए हों (उत्थितान्ध)। ३. तप्त लोहशलाका से आंज कर जिसके चक्षु का उपघात किया गया हो (अजितान्ध)। कुछ आचार्य अदर्शन के प्रसंग में स्त्यानर्द्धिग्रस्त को भी ग्रहण करते हैं।

३६९४. उपहतचक्षु^१, उत्थितचक्षु और स्त्यानर्द्धिअदर्शन को दीक्षा देने वाले भिक्षु को क्रमशः चतुर्गुरु, षड्गुरु और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७९५. अंधा व्यक्ति देख न पाने के कारण षट्काय की विराधना कर सकता है, स्थाणु, कांटे आदि से गिर सकता है, स्थंडिल की प्रतिलेखना नहीं कर पाता, अतः इसे दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३७९६. दर्शनावरणीय कर्म के प्रबल उदय के कारण तृतीय अदर्शन—स्त्यानर्द्धि युक्त व्यक्ति अनेक महान् दोषों को प्राप्त होता है। वह एक या अनेक गृहस्थों या साधुओं को बांध देता है, पीट देता है, मार देता है अथवा ऐसा ही जो कुछ अन्य कार्य करता है, उस सबका प्रायश्चित्त उसे प्रव्रजित करने वाले को प्राप्त होता है। प्रद्वेष के कारण राजा या अन्य लोग उस गण या संघ का प्रस्तार (विनाश) आदि करें, उसका भी प्रायश्चित्त उसी को प्राप्त होता है।

१. उपहतचक्षु में जात्यन्ध, व्याधितांध और अजितांध तीनों का ग्रहण किया गया है।

३७९७. गम्भे कीते अणए^१, दुब्भिक्खे^२ सावराधरुद्धे वा^३।
समणाण व समणीण व, ण कप्पती^४ तारिसे दिक्खा^५ ॥ ३६७६ ॥ नि ७४४ ॥
३७९८. 'उवसंतो रायऽमच्चो, समणाणं वंदणं तु कुणमाणो'^६।
दट्टूण दुवक्खरगं, सव्वे एतारिसा मण्णे ॥ ३६७७ ॥
३७९९. वध-बंधण^७ उद्दवणं, 'च खिंसणं आसियावणं चेव'^८।
णिव्विसयं च णरिदो, करेज्ज संघं पि परिकुवितो^९ ॥ ३६७८ ॥
३८००. अयसो य अकित्ती या, तं मूलागं तहिं^{१०} पवयणस्स।
'तेसिं पि'^{११} होति संका, सव्वे एतारिसा मण्णे^{१२} ॥ ३६७९ ॥
३८०१. मुक्को व मोइतो वा, अहवा वीसज्जितो नरिदेणं।
अद्धाण-परविदेसे, दिक्खा से उत्तिमट्टे वा^{१३} ॥ ३६८० ॥
३८०२. दुविधो य होति दुट्ठो, कसायदुट्ठो य विसयदुट्ठो य।
दुविधो कसायदुट्ठो, सपक्ख-परपक्खचतुभंगो^{१४} ॥ ३६८१ ॥ नि ७४५ ॥
३८०३. सासवणाले मुहणंतगे य उलुगच्छि सिहरिणि सपक्खे।
परपक्खम्मि य रन्नो, उद्दवगो होति नातव्वो^{१५} ॥ ३६८२ ॥ नि ७४६ ॥
३८०४. सासवणाले छंदण, गुरु सव्वं भुंजतेतरे कोवो।
खामण य अणुवसंते, गणि ट्ठवेंत ऽण्णहि परिण्णा^{१६} ॥ ३६८३ ॥
३८०५. पुच्छंतमणक्खाए, सोच्चऽण्णतो गंतु कत्थ सें सरीरं^{१७}।
'गुरुणा'^{१८} पुव्वं कहिते, ऽदायित'^{१९} पडिचरण-दंतवधो ॥ ३६८४ ॥

१. अणुतो (दे)।

२. °क्खे वा (भ)।

३. य (दे)।

४. कप्पते (दे)।

५. तु. पंकभा ४४६।

६. राया व रायऽमच्चो कितिकम्मं संजताण कुव्वंतो (पंकभा ४४७)।

७. बंधं (भ, पंकभा ४४८)।

८. खिंसण दासत्तमेव पावेज्जा (पंकभा)।

९. सो रुट्ठो (पंकभा)।

१०. भवे (दे)।

११. लोगस्स (पंकभा ४४९)।

१२. णूणं (पंकभा)।

१३. पंकभा ४५०।

१४. पंकभा ४५१, जीभा २४८१, बृभा ४९८६।

१५. तु. पंकभा ४५२, तु. जीभा २४८२, तु. बृभा ४९८७।

१६. तु. जीभा २४८३, तु. पंकभा ४५३, बृभा ४९८८।

१७. देहं (पंकभा ४५४)।

१८. गुरुणो (दे, भ)।

१९. गुरु पुव्व कहितऽदाइय (जीभा २४८४), गुरु पुव्व कहितऽदातण (बृभा ४९८९)।

३७९७. गर्भ दास (जन्म से पूर्व दास), क्रीत दास, ऋण दास, दुर्भिक्ष दास, सापराध दास (दंड के रूप में दासत्व प्राप्त) और रुद्ध दास (धन न देने पर दास बना कैदी)—श्रमणों और श्रमणियों को इस प्रकार के दासों को दीक्षित करना नहीं कल्पता।

३७९८. राजा, अमात्य या कोई अभिनव श्राद्ध श्रमणों को वन्दना करने आए और वहां अपने दास को साधु रूप में देखे तो वे सोचते हैं—लगता है, ये इसी प्रकार के लोगों को दीक्षा देकर अपनी संख्या वृद्धि करते हैं इत्यादि। इस प्रकार उनके परिणाम विघटित हो जाते हैं (वे विपरिणत हो जाते हैं)।

३७९९. दास को दीक्षा देने से परिकुपित राजा उस व्यक्ति, उसके आचार्य या समूचे संघ का वध (पिटाई) करवा देता है, बंधन (कारागार) में डाल देता है, उनका अपद्रावण करवा देता है, खिंसा या अपहरण करवा देता है अथवा उन्हें देश-निकाला दे देता है।

३८००. दास को दीक्षित करने से प्रवचन का अपयश होता है, अकीर्ति होती है तथा जो उनके साथ रहते हैं, उन भिक्षुओं के प्रति शंका होती है कि लगता है ये सब भी ऐसे ही हैं। अतः दास दीक्षा के अनर्ह माना गया है।

३८०१. कारागार से मुक्त, अन्य स्वजन आदि के द्वारा जमानत से छुड़वाए हुए अथवा राजा के द्वारा विसर्जित दास को अटवी, परदेश गमन या अनशन ग्रहण करने के बाद अपवाद रूप में दीक्षित किया जा सकता है।

३८०२. दुष्ट के दो प्रकार हैं—१. कषायदुष्ट और २. विषयदुष्ट। कषायदुष्ट के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. स्वपक्ष दुष्ट और २. परपक्ष दुष्ट। यहां चतुर्भंगी है—१. स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट, २. स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट, ३. परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट और ४. परपक्ष परपक्ष में दुष्ट।

३८०३. स्वपक्ष कषायदुष्ट के चार दृष्टान्त हैं—१. सर्षपनाल (सरसों की भाजी), २. मुखानन्तक, ३. उलूकाक्ष और ४. शिखरिणी। परपक्ष में उदायी राजा के मारक (हत्यारा) का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

३८०४, ३८०५. एक मुनि को गोचरी में सरसों की सुसंस्कृत भाजी मिली। उसने आचार्य को उसके लिए आमंत्रित किया। गुरु ने सारी भाजी खा ली। इससे उसे गुस्सा आ गया। गुरु ने क्षमायाचना की, पर वह उपशान्त नहीं हुआ। गुरु ने गण में अन्य आचार्य को स्थापित कर अन्य गण में जाकर अनशन स्वीकार कर लिया। मुनि ने अन्य साधुओं से आचार्य के विषय में पूछा। किसी ने कुछ नहीं बताया। उसने अन्य स्रोतों से जानकारी की और वहां पहुंच गया। वहां पता चला—गुरु कालगत हो गए और उनके शरीर का विसर्जन कर दिया गया। प्राणत्याग से पूर्व ही गुरु ने कह दिया था कि उस शिष्य को मेरे बारे में कुछ मत बताना। उसके आग्रह को देख किसी ने उनका शव उसे दिखा दिया। तत्रस्थ साधुओं ने सोचा—देखें, यह क्या करता है? उसने शव के दांत निकाले और तोड़ते हुए बोला—इन्हीं दांतों से सरसों की भाजी खाई थी।^१

१. द्रष्टव्य हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ६५।

३८०६. मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतु निसि गलग्गहणं।
सम्मूढेणितरेण वि, गलए^१ गहितो मता दो वि^२ ॥३६८५॥
३८०७. अत्थंगते वि सिव्वसि, उलुगच्छी! 'अच्छि उक्खणामि तुहं'^३।
पढमगमो नवरि इहं, उलुगच्छीउ त्ति ढोक्केति^४ ॥३६८६॥
३८०८. सिहरिणि 'लंभाऽऽलोयण, छंदित सव्वाइते य'^५ उगिरणा।
भत्तपरिण्णा अण्णहि, ण गच्छती सो इहं णवरं^६ ॥३६८७॥
३८०९. 'परपक्खे उ'^७ सपक्खे, उदायिणिवमारगो जह पदुट्टो।
सो पवयण-रक्खट्टा, णिच्छुभती लिंग हातूणं ॥३६८८॥
३८१०. परपक्खे उ सपक्खे, भइतो जह होति जउणराया उ।
तं पुण अतिसयणाणी, दिक्खंतऽधिकारिणं नाउं^८ ॥३६८९॥
३८११. परपक्खो परपक्खे, दंडिकमादी पदुट्ट परदेसे^९।
उवसंते वा तत्थ उ, दमगादि पदुट्ट भइतो उ^{१०} ॥३६९०॥
३८१२. तिविधो य^{११} विसयदुट्टो, 'सलिंग गिहिलिंग अण्णलिंगे'^{१२} य।
'एत्तो एक्केक्को वि य, णेगविधो होति णातव्वो'^{१३} ॥३६९१॥
३८१३. सपक्खे विसयदुट्टो, सपक्ख पारंचिओ उ कातव्वो^{१४}।
'आउट्टस्स'^{१५} उ एवं, हरेज्ज लिंगं अठायंते^{१६} ॥३६९२॥

१. गलिए (दे)।

२. बृभा ४९९०, पंकभा ४५५।

३. उक्खणामि ते अच्छी (बृभा ४९९१), उक्खणामि तुह अच्छी (पंकभा ४५६)।

४. तु. जीभा २४८७, २४८८।

५. °सव्वातियंते (मु), लद्ध णिवेदे गुरुणं सव्वाइयंतो (पंकभा ४५७)।

६. नवरिं (दे, बृभा ४९९२), तु. पंकभा ४५७, तु. जीभा २४८९।

७. °क्खम्मि (पंकभा ४५८)।

८. तु. पंकभा ४५९।

९. परपक्खे (दे)।

१०. × (दे), वा (पंकभा ४६०)।

११. उ (मु, भ)।

१२. सलिंग गिहिलिंग अण्णलिंगी (मु, दे)।

१३. अहवा सव्वो वि दुहा, सपक्ख-परपक्ख चउभंगो (पंकभा ४६१)।

१४. आउट्टो (पंकभा ४६२)।

१५. जो पउट्टो सो आउट्टो (चू)।

१६. अठियम्मि लिंगहरणं, एमेव सपक्ख-परपक्खे (पंकभा)।

३८०६. एक साधु को अत्यन्त सुन्दर मुखानन्तक (मुखवस्त्रिका) प्राप्त हुआ। उसने गुरु को दिखाया, गुरु ने उसको ले लिया। उसके मन में गुरु के प्रति विद्वेष जाग गया। गुरु ने उसे मुखानन्तक लौटाना चाहा, पर उसने नहीं लिया। जैसे ही एकान्त मिला, उसने गुरु का गला दबाते हुए कहा—मुखवस्त्रिका लोगे? गुरु भी संमूढ़ हो गए। उन्होंने उसका गला दबा दिया, फलतः दोनों ही मर गए।^१

३८०७. एक साधु सूर्यास्त के समय भी कपड़े सी रहा था। गुरु ने कहा—अरे उलूकाक्ष! सूर्यास्त के समय क्या सी रहे हो? वह कुपित होकर बोला—तुम मुझे ऐसा कहते हो, मैं तुम्हारी दोनों आंखें उखाड़ दूंगा। शेष आख्यान प्रथम दृष्टान्तवत् ज्ञातव्य है। केवल अन्तर इतना है—उसने रजोहरण में लोहे की कील लगाकर गुरु की दोनों आंखें निकाल दी।^२

३८०८. एक साधु को भिक्षा में उत्कृष्ट शिखरिणी प्राप्त हुई। उसने गुरु को दिखाई, उन्हें आमंत्रित किया, गुरु ने समूची शिखरिणी का पान कर लिया। वह साधु कुपित हो गया। पत्थर उठाकर मारने दौड़ा। गुरु ने प्रथमकथानक के समान अनशन ग्रहण कर लिया, पर अन्य गण में नहीं गए। कुपित शिष्य ने कालगत गुरु को पीटकर बदला लिया।^३ (ये चारों ही कषायदुष्ट मुनि पारांचित प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं।)

३८०९. स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट—इस दूसरे भंग में उदायी राजा^४ को मारने वाले मुनि का दृष्टान्त ज्ञातव्य है। प्रवचन (कुल, गण, संघ आदि) की रक्षा के लिए लिंग हरण कर इन्हें निष्कासित कर दिया जाता है। (ये दोनों भंग प्रव्रजित की अपेक्षा से हैं, प्रव्रज्या के लिए वे अनर्ह होते हैं।)

३८१०. परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट—इस तीसरे भंग में मथुरा के यवनराजा^५ का दृष्टान्त ज्ञातव्य है। प्रव्रज्या के विषय में यह भजनीय है—यदि वह उपशान्त हो जाए तो अतिशयज्ञानी उसे दीक्षा दे सकते हैं। यदि दीक्षा देने वाले अतिशयज्ञानी न हों तो दीक्षा न दें अथवा अविकारी जानें तो दीक्षा दें।

३८११. परपक्ष परपक्ष में दुष्ट—यह चौथा भंग है। दंडिक, सेनापति आदि परस्पर दुष्ट हों तो उपशान्त होने पर भी उसी देश में दीक्षा नहीं दी जाती, परदेश में वे दीक्षार्ह माने जा सकते हैं। यदि उनमें एक प्रभु हो और दूसरा द्रमक (अप्रभु) तो द्रमक उपशान्त न भी हो तो प्रभु को दीक्षा दी जा सकती है। पर यदि द्रमक औरस बलसम्पन्न हो, अतिरुद्र हो तो वहां प्रभु को दीक्षा नहीं दी जा सकती।

३८१२. विषयदुष्ट के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. स्वलिंगी, २. अन्यलिंगी और ३. गृहलिंगी। इनमें प्रत्येक के अनेक भेद ज्ञातव्य हैं, यथा—स्वलिंगी स्वलिंगी, अन्यलिंगी और गृहलिंगी के प्रति विषयदुष्ट। इसी प्रकार अन्यलिंगी और गृहलिंगी के विषय में ज्ञातव्य है अथवा स्वपक्ष परपक्ष विषयक चतुर्भंगी की जा सकती है।

३८१३. स्वपक्ष में दुष्ट हो और स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट हो—इन पहले और दूसरे भंगों में यदि वह अपना दोष स्वीकार करे, उस स्थान से निवृत्त हो तो उसे पारांचित प्रायश्चित्त दिया जाए और यदि वह दोष से विरत न हो तो उसका लिंग हरण किया जाए।

१-५. दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य क्रमशः —परिशिष्ट २ कथा सं. ६४, ६६-६८, ६९।

३८१४. परपक्खं तु सपक्खे, विसयपदुट्ठं न तं तु दिक्खंति ।
सेज्झियमादिपदुट्ठं, न य परपक्खं तु तत्थेव^१ ॥३६९३ ॥
३८१५. दव्व-दिस-खेत्त-काले^२, गणणा सारिक्ख अभिभवे वेदे ।
वुग्गाहणमण्णाणे, कसायमत्ते य^३ मूढपदा^४ ॥ ३६९४ ॥ नि ७४७ ॥
३८१६. धूमादी बाहिरतो, अंतो धत्तूरगादिणा दव्वे ।
जो दव्वं व ण जाणति, घडियाबोद्धो व दिट्ठं पि^५ ॥ ३६९५ ॥
३८१७. दिसिमूढो पुव्वावर, मण्णति 'खेत्ते तु'^६ खेत्तवच्चासं ।
दियराइविवच्चासो^७, काले पिंडारदिट्ठंतो^८ ॥ ३६९६ ॥
३८१८. ऊणाधिग मण्णंतो, उट्टारूढो य गणणतो मूढो ।
सारिक्खथाणुपुरिसो, महतरसंगामदिट्ठंतो^९ ॥ ३६९७ ॥
३८१९. अभिभूतो सम्मुज्झति, सत्थग्गी-वादि^{१०}-सावयादीहिं ।
अच्चुदयअणंगरती^{११}, 'वेदम्मि उ'^{१२} रायदिट्ठंतो ॥ ३६९८ ॥
३८२०. वणियं महिलामूढं^{१३}, माईमूढं च जाण रायाणं ।
दीवे य पंचसेले, अंधलगसुवण्णकारे य^{१४} ॥ ३६९९ ॥ नि ७४८ ॥
३८२१. पुव्वं वुग्गाहिता केई, नरा पंडितमाणिणो ।
णेच्छंति कारणं सोउं^{१५}, दीवजाते जहा णरे ॥ ३७०० ॥
३८२२. अण्णाण कुत्तिथिमते, कोधे माणाइमएण वि चेतो ।
वियडेण व जो मत्तो, ण वेयती एस बारसमो^{१६} ॥ ३७०१ ॥

१. पंकभा ४६३ ।

२. दव्वदिसि^० (बृभा ५२१४), °त्तमादी (दे) ।

३. व (भ, मु) ।

४. °पदं (मु), पंकभा ४६४ ।

५. बृभा ५२१५, तु. पंकभा ४६५ ।

६. खेत्तम्मि (पंकभा ४६६) ।

७. दियराति^० (पंकभा) ।

८. बृभा ५२१६ ।

९. कुडुंबिसं^० (बृभा ५२१७), पंकभा ४६९ ।

१०. चोर (पंकभा) ।

११. अब्भुद^० (बृभा ५२१८, पंकभा ४७४) ।

१२. °म्मी (पंकभा ४७४) ।

१३. मिहि^० (भ) ।

१४. तु. बृभा ५२१९, इस गाथा के लिए चूर्णि में 'भद्दबाहुकया गाहा' का उल्लेख है ।

१५. किंची (बृभा ५२२४) ।

१६. यह गाथा दे प्रति में नहीं है ।

३८१४. तीसरा और चौथा भंग है—परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट और परपक्ष परपक्ष में दुष्ट। इनमें तीसरे भंग वाले गृहस्थ को दीक्षित नहीं किया जाता क्योंकि प्रसंग दोष से प्रतिसेवना की संभावना रहती है। चौथे भंग में जो गृहस्थ पड़ोसिनी आदि के प्रति प्रदुष्ट हो, उसे वहीं पर दीक्षित न किया जाए, अन्यत्र दीक्षा भी दी जा सकती है। परपक्ष परपक्ष के प्रति विरत हो जाए तो दीक्षार्ह होता है।

३८१५. मूढ़पद के बारह निक्षेप प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य, २. दिशा, ३. क्षेत्र, ४. काल, ५. गणना, ६. सादृश्य, ७. अभिभव, ८. वेद, ९. व्युद्ग्राहणा, १०. अज्ञान, ११. कषाय और १२. मत्तमूढ़।

३८१६. जो बाह्य धूम आदि द्रव्यों से आकुलित होने से या आभ्यन्तर धत्तूर, कोद्रव आदि के भोग से मूढ़ होता है, वह द्रव्यमूढ़ होता है। अथवा जो पूर्वदृष्ट द्रव्य को कालान्तर में देखकर नहीं जानता, वह द्रव्यमूढ़ है, जैसे—घड़े में अस्थियां ले जाने वाला (वोद्र) तरुण वणिक्।^१

३८१७. जो दिशाओं को विपरीत समझे—पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व, वह दिशामूढ़ या दिग्मूढ़ कहलाता है। क्षेत्र को न जानने वाला या विपरीत जानने वाला क्षेत्रमूढ़ और काल को विपरीत—दिन को रात और रात को दिन जानने वाला कालमूढ़ कहलाता है। कालमूढ़ में पिंडार (ग्वाले) का दृष्टान्त^२ ज्ञातव्य है।

३८१८. जो गिनते समय कम या अधिक गिनता है, वह गणनामूढ़ कहलाता है, जैसे ऊंट पर चढ़ा हुआ पुरुष।^३ स्थाणु को पुरुष मानने वाला व्यक्ति समानता के कारण मूढ़ बनता है, अतः सादृश्य मूढ़ कहलाता है। सादृश्यमूढ़ के विषय में कुटुम्बी महत्तर और सेनापति के संग्राम^४ का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

३८१९. जो शस्त्र, अग्नि, वादी या श्वापद आदि के भय से अभिभूत होने के कारण सम्मूढ़ बनता है, वह अभिभवमूढ़ कहलाता है। जो अभ्युदय—प्रबल वेदोदय के कारण अनंगक्रीड़ा करता है, वह वेदमूढ़ कहलाता है। यहां राजा का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।^५

३८२०. आचार्य भद्रबाहु के अनुसार महिलामूढ़ वणिक् का दृष्टान्त द्रव्यमूढ़^६, प्रबल वेदोदय के कारण माता के प्रति मूढ़ राजा का दृष्टान्त वेदमूढ़^७ में तथा द्वीप में उत्पन्न वणिक् पुरुष^८, पंचशैल द्वीप में हास-प्रहास के द्वारा व्युद्ग्राहित अनंगसेन^९ अंध पुरुषों^{१०} और स्वर्णकार^{११} के दृष्टान्त व्युद्ग्राहणामूढ़ के विषय में ज्ञातव्य हैं।

३८२१. पहले से व्युद्ग्राहित पंडितमानी लोग कुछ भी कारण सुनना नहीं चाहते, जैसे द्वीप में उत्पन्न मनुष्य।

३८२२. जो शाक्य आदि कुतीर्थिक मतों से व्युद्ग्राहित होने के कारण अज्ञान को ज्ञान मानता है, सैकड़ों हेतु देने पर भी परम तत्त्व को नहीं जानता, वह अज्ञानमूढ़ कहलाता है। जो क्रोध, मान आदि की अतिमात्रा से मूढ़चेता होकर करणीय और अकरणीय को नहीं जानता, वह कषायमूढ़ कहलाता है। जो शराब आदि मादक द्रव्यों के कारण उन्मत्त होता है, वह वाच्यावाच्य, गम्यागम्य के विवेक से शून्य व्यक्ति मत्तमूढ़ कहलाता है।

१-४. दृष्टान्त के लिए दृष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ७०, ७१, ७२, ७३।

५. वेद मूढ़ के लिए ज्ञातव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ७४।

६. महिलामूढ़ वणिक् का दृष्टान्त—परिशिष्ट २ कथा सं. ७०।

७. मातृमूढ़ राजा का दृष्टान्त—परिशिष्ट २ कथा सं. ७४।

८-११. व्युद्ग्राहणामूढ़ के लिए द्रष्टव्य—परिशिष्ट २ कथा सं. ७५, ७६, ७७, ७८।

३८२३. मोत्तूण वेदमूढं, आदिल्लाणं तु नत्थि पडिसेहो।
वुग्गाहणमण्णाणे, कसायमूढा तु पडिकुट्टा^१ ॥३७०२ ॥
३८२४. सच्चित्तं अच्चित्तं, व मीसगं जो अणं तु धारेति।
समणाण व समणीण व, ण कप्पती^२ तारिसे दिक्खा^३ ॥३७०३ ॥ नि ७४९ ॥
३८२५. अयसो य अकित्ती या, तम्मूलागं तहिं^४ पवयणस्स।
अण पोच्चड^५ झंझडिया^६, सव्वे एतारिसा मण्णे ॥३७०४ ॥
३८२६. 'दाणेण तोसितो वा'^७, अहवा वीसज्जितो पभूणं तु।
अद्धान-परविदेसे, दिक्खा से उत्तिमट्टे^८ वा ॥३७०५ ॥
३८२७. जाती कम्मे सिप्पे, सारीरे जुंगितं वियाणाहि।
समणाण व समणीण व, ण कप्पती^९ तारिसे दिक्खा ॥३७०६ ॥ नि ७५० ॥
३८२८. चतुरो य जुंगिता खलु, जाती कम्मे य सिप्प-सारीरे।
'णेक्कार-पाण-डोंबा, वरुडा 'वि य'^{१०} जुंगिता जाती^{११} ॥३७०७ ॥
३८२९. पोसग-संपर^{१२}-णड-लंख^{१३}-वाह-सोयरिग-मच्छिया^{१४} कम्मे।
पदकारा^{१५} य परीसह^{१६}, रयगा कोसेज्जगा^{१७} सिप्पे ॥३७०८ ॥
३८३०. हत्थे पादे कण्णे, नासा उट्टे विवज्जिता चेव।
वामणग-वडभ-खुज्जा, पंगुल-कुंटा य काणा य^{१८} ॥३७०९ ॥

१. पंकभा ४९७, तु. वृभा ५२३०।

२. कप्पते (दे, पंकभा ४९८)।

३. दिक्खे (दे)।

४. भवे (दे)।

५. चोप्पड (पंकभा ४९९), पोच्चडं—मइलं (चू)।

६. झंझडिए ति झंझडिया रिणे अदिज्जंते वणिएहिं
अणेगप्पगारेहिं दुव्वयणेहिं झडिया झंझडिया (चू)।

७. बितियपद दाण-तोसिय (पंकभा ५००)।

८. उत्तं (मु)।

९. कप्पते (दे)।

१०. वी (दे)।

११. जाती य पाण वरुडा, डोंबा णेक्कारमादी या
(पंकभा ५०१)।

१२. संवर (पंकभा ५०२), संपरा—ण्हाविगा सोधगा (चू)।

१३. लंखा—वंसवरत्तारोहगा (चू)।

१४. मच्छग्गाहगा मच्छिक्का (चू)।

१५. पडकारा (पंकभा), पदकारा चम्मकारा (चू)।

१६. परीषहा—ण्हाविता (चू)।

१७. वेडयकारिणो कोसेज्जा (चू)।

१८. तु. पंकभा ५०३।

३८२३. वेदमूढ़ को छोड़कर आदि के समस्त मूढ़—द्रव्य, दिशा, क्षेत्र, काल आदि के लिए दीक्षा का प्रतिषेध नहीं है। वेदमूढ़, व्युद्ग्राहणमूढ़, अज्ञानमूढ़ और मत्तमूढ़—ये प्रतिक्रुष्ट हैं, इन्हें प्रव्रजित करने पर आज्ञाभंग आदि तथा अपयश, अकीर्ति आदि दोषों की संभावना रहती है।

३८२४. ऋणार्त—जो व्यक्ति सचित्त, अचित्त या मिश्र—इनमें से किसी प्रकार के ऋण को धारण करता है, श्रमण और श्रमणी को उस ऋणार्त (कर्जदार) व्यक्ति को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३८२५. जो व्यक्ति ऋण के भार से मलिन^१ बना हुआ है, ऋण न चुकाने के कारण उत्तमार्ण (ऋणदाता) वणिक् जिन्हें दुर्वचनों एवं लात, बेंत आदि के द्वारा तिरस्कृत करते हैं, पीटते हैं^२ उन व्यक्तियों की दीक्षा देने से प्रवचन का अपयश एवं अकीर्ति होती है तथा लोग या वे स्वयं यह सोचते हैं कि लगता है—अन्य सभी भिक्षु भी ऐसे ही हैं।

३८२६. अपवाद पद में दान (ऋण चुकाने) के बाद सन्तुष्ट होकर अथवा ऋण न चुकाने पर भी प्रभु (ऋणदाता) के द्वारा विसर्जित किए जाने पर कर्जदार को प्रव्रजित किया जा सकता है। अटवी, परदेश या विदेश में अथवा अनशन में भी कर्जदार को दीक्षार्ह माना गया है।

३८२७. जुंगित के चार प्रकार जानने चाहिए—१. जाति, २. कर्म, ३. शिल्प और ४. शरीर। श्रमण अथवा श्रमणियों को जुंगित को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३८२८. जुंगित के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. जातिजुंगित, २. कर्मजुंगित, ३. शिल्पजुंगित और ४. शरीरजुंगित। जातिजुंगित के अनेक प्रकार होते हैं—जुलाहा^३, चांडाल, डोंब, वरुड^४ आदि।

३८२९. स्त्री, मोर, मुर्गे आदि का पोषण करने वाले, धोबी या नाई, नट, लंख (बांस पर खेल दिखाने वाले), व्याध, शौकरिक, मच्छीमार आदि कर्मजुंगित कहलाते हैं। चर्मकार, नाई, रजक तथा कोशेयक (रेशमी वस्त्र बनाने वाले) शिल्पजुंगित कहलाते हैं।

३८३०. हाथ, पैर, कान, नाक और ओष्ठ आदि अवयवों से रहित, वामन, वडभ, कुबड़ा, पंगु, कुंट (हीनहस्त) तथा काणा आदि शरीरजुंगित कहलाते हैं।

१. निभा ३ चू. पृ. २७०—पोचडं मइलं, दव्व मइलं चक्कियादिपरिहणं, भावे अण्णाणपोचडो।

२. वही—रिणे अदिज्जंते वणिण्हिं अणेगप्पगारेहिं दुव्वयणेहिं झडिया झंझडिया लताकसादिण्हिं वा झडिता।

३. वही—जुगुच्छितो कोलिगजातिभेदो णेक्कारो।

४. वरुड—चटाई बनाने वाला।

३८३१. पच्छा वि होंति विगला, आयरियत्तं न कप्पती^१ तेसिं ।
सीसो ठावेतव्वो, काणगमहिसो व्व^२ णिण्णम्मि ॥ ३७१० ॥
३८३२. जाहे य माहणेहिं, परिभुत्ता कम्मसिप्पपडिविरता ।
अद्धाण-परविदेसे, दिक्खा से 'उत्तिमट्टे वा'^३ ॥ ३७११ ॥
३८३३. कम्मे सिप्पे विज्जा, मंते 'जोगे य होति उवचरगो'^४ ।
'उब्बद्धगो उ एसो'^५, न कप्पते^६ तारिसे दिक्खा ॥ ३७१२ ॥ नि ७५१ ॥
३८३४. कम्मे सिप्पे विज्जा^७, मंते^८ य परूवणा चउणहं पि ।
गोवालउड्डुमादी, कम्मम्मि उ 'होंति उब्बद्धा'^९ ॥ ३७१३ ॥
३८३५. सिप्पादी सिक्खंतो, सिक्खावेतस्स देंति जा^{१०} सिक्खे ।
गहितम्मि वि सिक्खम्मी^{११}, जच्चिरकालं तु ओबद्धो ॥ ३७१४ ॥
३८३६. एमेव य विज्जाए, मंते जोगे य जाव ओबद्धो ।
तावतिकाल ण कप्पति, सेसयकालं अणुण्णातो ॥ ३७१५ ॥
३८३७. बंध-वहो रोहो वा, हवेज्ज परिताव-संकिलेसो वा ।
ओबद्धगम्मि दोसा, अवण्णसुत्ते य परिहाणी ॥ ३७१६ ॥
३८३८. मुक्को व मोइतो वा, अहवा वीसज्जितो णरिदेणं ।
अद्धाणपरविदेसं, दिक्खा से 'उत्तिमट्टे वा'^{१२} ॥ ३७१७ ॥
३८३९. दिवसभयए व जत्ता, 'कव्वाले चेव होंति उच्चते'^{१३} ।
भयओ चउव्विधो खलु, न कप्पती^{१४} तारिसे दिक्खा ॥ ३७१८ ॥ नि ७५२ ॥

१. कप्पते (पंकभा ५०४) ।

२. य (मु, भ) ।

३. अब्भणुण्णाता (पंकभा ५०६) ।

४. जोगेण चेव ओबद्धे (पंकभा ५०७) ।

५. समणण व समणीण व (पंकभा) ।

६. कप्पती (दे) ।

७. लेहादिया सउणरुयपज्जवसाणा बावत्तरि-कलाओ
विज्जा (चू) ।

८. देवयसमयनिबद्धो मंतो (चू) ।

९. होति उब्बद्धो (भ) ।

१०. जो (मु, दे) ।

११. सव्वं पी (पंकभा ५११) ।

१२. अब्भणुण्णाता (पंकभा ५१३), प्रतियों में इस गाथा का
संकेत मात्र है ।

१३. भतीय कव्वाल-भतग उच्चंते (पंकभा ५१४) ।

१४. कप्पते (पंकभा) ।

३८३१. यदि दीक्षा के पश्चात् शरीर जुंगित हो जाए तो उसका परित्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु उन्हें अन्य सब गुणों से युक्त होने पर भी आचार्य नहीं बनाया जा सकता और यदि आचार्य बनने के बाद कोई अवयवहीन हो जाए तो शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित करना चाहिए। विकल आचार्य स्वयं अप्रकाशित स्थान में रहे, जैसे काणक (चुराए हुए) महिष (भैंसे) को निम्न प्रदेश में रखा जाता है।^१

३८३२. अपवाद में जाति आदि से जुंगित व्यक्ति, जो महाजनों, ब्राह्मणों आदि से परिभुक्त हो, जुंगित कर्म, शिल्प आदि से विरत हो जाए तो उन्हें दीक्षा दी जा सकती है। अद्धाण, परदेश, विदेश अथवा अनशन प्रतिपन्न—इन अपवादों के अलावा शरीरजुंगित दीक्षार्ह नहीं।

३८३३. उद्बद्ध (शिक्षक के साथ शर्तों से बंधा हुआ, शिक्षक के आयत्त) के पांच प्रकार होते हैं—कर्म, शिल्प, विद्या, मंत्र एवं योग के लिए शिक्षक की प्रतिचर्या—सेवा में प्रतिबद्ध। इन्हें उद्बद्ध कहा गया है। इनको दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३८३४. कर्म और शिल्प^२, विद्या और मंत्र^३—इन चार की (भेद विषयक) प्ररूपणा करणीय है। ग्वाले, उड्ड—कुआ, खान आदि खोदने वाले कर्मउद्बद्ध हैं।

३८३५. जो व्यक्ति शिल्प आदि सीखते समय सिखाने वाले को धन आदि देता है और उससे इस प्रकार प्रतिबद्ध होता है कि जब तक अमुक शिल्प सीख रहे हो, तब तक तुम मेरे अधीन हो अथवा इतने काल तक तुम मेरे अधीन हो, वह उस शिक्षा या शिक्षाकाल पूर्ण होने तक उससे उद्बद्ध कहलाता है।

३८३६. इसी प्रकार विद्या, मंत्र और योग^४ के विषय में भी सिखाने वाले के प्रति जब तक वह उद्बद्ध (प्रतिबद्ध) है, तब तक उसे दीक्षा देना नहीं कल्पता। शेष—काल समाप्ति के बाद उसकी दीक्षा अनुज्ञात है।

३८३७. उद्बद्ध को काल समाप्ति से पूर्व दीक्षा देने पर बंध, वध, रोध (नियंत्रण), परिताप, संक्लेश, अवर्णवाद एवं सूत्र की परिहाणी आदि दोष आते हैं।

३८३८. अपवाद में अटवी, परदेशगमन आदि में उद्बद्ध को दीक्षा दी जा सकती है यदि वह—१. शिक्षक द्वारा मुक्त हो गया हो, २. अन्य परिस्थितियों से उसे शर्तमुक्त कर दिया गया हो या ३. राजा के द्वारा विसर्जित कर दिया गया हो या ४. उसने अनशन स्वीकार कर लिया हो (या अनशन में सहायक प्रतीत हो रहा हो)।

३८३९. भृतक के चार प्रकार हैं—१. दिवसभृतक, २. यात्राभृतक, ३. कव्वाल भृतक और ४. उच्चत्व भृतक। इन चारों ही प्रकार के भृतकों को दीक्षा देना नहीं कल्पता।

१. (क) काना महीश शब्द का अर्थ एक चक्षु राजा किया जाए तो यह भी अर्थ हो सकता है कि जैसे अंगविकल राजा को अभिषेकार्ह नहीं माना जाता, उसे गुप्त रखा जाता है, वैसे ही आचार्य स्वयं को गुप्त रखे।

(ख) व्यभा. गा. १४५२।

२. जिन्हें बिना उपदेश सीखा जाए, वे कर्म तथा उपदेशपूर्वक सीखा जाए, वे शिल्प कहलाते हैं।

३. लेख आदि बहत्तर कहलाएं विद्या और देवता आदि से सिद्ध होने वाला मंत्र कहलाता है।

४. दो, तीन आदि द्रव्यों को मिलाकर विद्वेषण, वशीकरण आदि के लिए प्रयोग करना योग्य है।

३८४०. दिवसभयओ उ घेप्पति, छिण्णेण धणेण दिवसदेवसियं।
जत्ता तु होति गमणं, उभयं वा एत्तियधणेणं^१ ॥ ३७१९ ॥
३८४१. कव्वालउड्डुमादी, हत्थमितं^२ कम्ममेत्तियधणेणं।
एच्चिरकालोच्चत्ते, कायव्वं 'कम्म जं बेंति'^३ ॥ ३७२० ॥
३८४२. कतजत्तगहितमोल्लं, 'गहिते अकतम्मि नत्थि पव्वज्जा'^४।
पव्वावेत्ते गुरुगा, गहिते उड्डुहमादीणि ॥ ३७२१ ॥
३८४३. छिण्णमछिण्णे य^५ धणे, वावारे काल इस्सरे चेव।
सुत्तत्थजाणणेणं, अप्पाबहुगं तु णातव्वं^६ ॥ ३७२२ ॥
३८४४. वावारे काल धणे, छिण्णमछिण्णे^७ य 'अट्ट भंगा तु'^८।
सावितगहिते अकते, मोत्तुं सेसेसु दिक्खेंति ॥ ३७२३ ॥
३८४५. गहिते व अगहिते वा, छिण्णधणे साविते ण दिक्खेंति।
अच्छिण्णधणे कप्पति, गहिते वा अगहिते वावि^९ ॥ ३७२४ ॥
३८४६. जत्थ पुण होति छिन्नं, थोवो कालो य^{१०} होति कम्मस्स।
तत्थ अणिस्सरे^{११} दिक्खा, ईसर^{१२} बंधं पि कारेज्जा ॥ ३७२५ ॥
३८४७. घेत्तुं सयमसमत्थो, रायकुले अत्थहाणि कड्डुंते।
फेल्लस्स^{१३} तेण कप्पति, रोद्धोरसवीरिए वावि^{१४} ॥ ३७२६ ॥

१. पंकभा ५१५।

२. हत्थम्मिय (दे)।

३. एत्तियधणेणं (पंकभा ५१६)।

४. दिक्खेज्ज कता य होति पडिसेहो (पंकभा ५१७)।

५. व (मु)।

६. पंकभा ५१८।

७. छिण्णं नाम अमुगं कम्मं कायव्वं, एत्तिगं कालं एत्तिएण
धणेणं ति (चू)।

८. होंति भंगट्टा (पंकभा ५१९)।

९. पंकभा ५२०।

१०. व (मु, भ)।

११. अणीसर (दे)।

१२. इस्सर (पंकभा ५२१)।

१३. फेल्लो—दरिद्रो (चू)।

१४. भयणा (पंकभा ५२२)।

३८४०, ३८४१. जिसे प्रतिदिन छिन्न—अलग-अलग धन समय समाप्ति पर (दिन की सम्पन्नता में) दिया जाता है, वह दिवसभृतक है। यात्रा का अर्थ है गमन, तुम्हें मेरे साथ अथवा अलग इतने वेतन से इतनी दूर जाना है—इस प्रकार कहकर वेतन दिया जाए, वह यात्राभृतक कहलाता है। इतनी दूर कावड़ ले जाने पर इतना धन दिया जाएगा, उसे कव्वालभृतक तथा इतने हाथ खुदाई करने पर इतना धन दिया जाएगा—इस इकरार युक्त वेतन पर काम करने वाले उड्डुभृतक कहलाते हैं। तुम्हें इतने समय तक मैं जो-जो कहूँ, वह करना है, तो इतना धन मिलेगा—इस प्रकार समय और वेतन का इकरार कर अनियत काम लिया जाए, वह उच्चत्वभृतक कहलाता है।

३८४२. यात्राभृतक को यात्रा करने के बाद वह मूल्य ले ले या न ले, तब भी उसे प्रव्रजित किया जा सकता है, लेकिन उसने मूल्य ले लिया हो और यात्रा न की हो तो उसे प्रव्रज्या न दी जाए। उच्चत्वभृतक भी काल समाप्ति से पूर्व दीक्षाई नहीं होता। इन्हें प्रव्रजित करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा उन्हें वेतन देने वाले आदि उन्हें पकड़ ले तो उड्डुह आदि दोष संभव हैं।

३८४३. धन, व्यापार और काल—इनके छिन्न (समाप्त) और अछिन्न (असमाप्त)के आधार पर आठ भंग होते हैं।^१ यदि वह भृतक ईश्वर के अधीन हो तो उसके भृतक को उनमें से कुछ विकल्पों में दीक्षित नहीं किया जाता। इस विषय में सूत्र और अर्थ के ज्ञाता मुनि के लिए अल्पबहुत्व (दोष की अल्पता एवं गुण की बहुता) ज्ञातव्य है।

३८४४. व्यापार (कार्य) काल और धन के छिन्न और अछिन्न विषयक जो अष्टभंगी है^२, उनमें धन छिन्न—ग्रहण कर लिया गया हो, किन्तु कार्य अकृत—अछिन्न हो तो साक्षियों के समक्ष शपथ लेने पर भी दीक्षा न दी जाए, इनको छोड़कर शेष भंगों में दीक्षा दी जा सकती है।

३८४५. व्यापारकाल छिन्न हो या अच्छिन्न, साक्षियों के समक्ष शपथ ग्रहण कर ली पर धन छिन्न हो गया—चाहे उसने धन ग्रहण किया या नहीं तो उसे दीक्षा देना नहीं कल्पता। यदि धन छिन्न न हुआ हो तो दीक्षा लेना कल्पता है, चाहे उसने धन ग्रहण किया हो या न किया हो।

३८४६. यदि धन छिन्न हो गया हो, अधिकांश कार्य कर दिया हो, कुछ कार्य और कुछ काल शेष हो और मालिक गरीब/असमर्थ हो जाए तो उसके भृतक को दीक्षा दी जा सकती है। पर यदि मालिक धनाढ्य हो तो दीक्षा न दी जाए, क्योंकि वह अवशिष्ट अल्प कार्य को भी बंधन आदि के द्वारा बलात् करवा सकता है।

३८४७. प्रश्नकर्ता—ईश्वरप्रभुत्वसम्पन्न के भृतक को दीक्षा न दे, अनीश्वर के भृतक को दी जा सकती है, ऐसा क्यों ?

आचार्य—यदि गरीब के भृतक को दीक्षित किया जाए तो वह स्वयं उसे पकड़ने में असमर्थ होता है। यदि वह राजकुल में न्याय हेतु जाता है तो उसे निकाल दिया जाता है अथवा धनाभाव के कारण वह ऐसा नहीं करता, अतः गरीब के भृतक को दीक्षा दी जा सकती है। ईश्वर रिश्वत देकर भी उसे पकड़वा सकता है। अतः उसके भृतक को दीक्षा नहीं देना चाहिए। अनीश्वर भी यदि रौद्र एवं औरस वीर्य सम्पन्न हो तो बंध, वध आदि दोष हो सकते हैं, अतः उसके भृतक को भी दीक्षा न दे।

१, २. * छिन्न व्यापार, छिन्न काल और छिन्न धन।

* छिन्न व्यापार, छिन्न काल और अछिन्न धन।

* छिन्न व्यापार, अछिन्न काल और छिन्न धन।

* छिन्न व्यापार, अछिन्न काल और अछिन्न धन।

* अछिन्न व्यापार, छिन्न काल और छिन्न धन।

* अछिन्न व्यापार, छिन्न काल, अछिन्न धन।

* अछिन्न व्यापार, अछिन्न काल, अछिन्न धन।

* अछिन्न व्यापार, अछिन्न काल, छिन्न धन।

३८४८. ततियव्वयातियारे, णिप्फेडग तेणगं वियाणाहि ।
अतिसेसियम्मि भयणा, अमूढलक्खे य पुरिसम्मि^१ ॥ ३७२७ ॥ नि ७५३ ॥
३८४९. अपडुप्पण्णो बालो, बिअट्टवरिसूण^२ अहव अणिविट्ठो ।
'अम्मापितुअविदिण्णो, ण कप्पती तत्थ वऽण्णत्थ' ॥ ३७२८ ॥ नि ७५४ ॥
३८५०. तेणे य तेणतेणे, पडिच्छगपडिच्छगे य णातव्वे ।
एते तु सेहणिप्फेडियाएँ चत्तारि उ विगप्पा ॥ ३७२९ ॥ नि ७५५ ॥
३८५१. जो तं तु सयं णेती, सो तेणो होति लोगउत्तरिए^३ ।
'भिक्खादिए गतम्मि^४ तु, हरमाणो तेणतेणो तु ॥ ३७३० ॥
३८५२. तं पुण पडिच्छमाणो, पडिच्छगो तस्स जो पुणो मूला ।
गेण्हति एगंतरितो, पडिच्छगपडिच्छगो सो उ^५ ॥ ३७३१ ॥
३८५३. अम्मा-पितरो कस्सइ, विपुलं घेतूण अत्थसारं तु ।
रायादीणं कहते, कहितम्मि^६ य गिण्हणादीया^७ ॥ ३७३२ ॥
३८५४. विप्परिणमे व सण्णी, केई संबंधिणो भवे तस्स ।
विप्परिणता य धम्मं, मुएज्ज कुज्जा व गहणादी^८ ॥ ३७३३ ॥
३८५५. णिप्फेडण 'सेहस्स तु'^९, सुतधम्मो खलु विराधितो होति ।
सुतधम्मस्स य^{१०} लोवा, चरित्तलोवं वियाणाहि ॥ ३७३४ ॥
३८५६. आयरिय-उवज्झाया, कुल-गण-संघो तहेव धम्मो य ।
सव्वे वि परिच्चत्ता^{११}, सेहं णिप्फेडयंतेणं ॥ ३७३५ ॥
३८५७. होहिति जुगप्पहाणो, दोसा व^{१२} न केइ तत्थ होहिति ।
तेण ऽतिसेसी दिक्खे, अमोहहत्थो उ^{१३} तत्थेव^{१४} ॥ ३७३६ ॥

१. तु. पंकभा ५२५, ५२६ ।

२. बिरट्टं (दे, पंकभा ५२४) ।

३. °रिओ (पंकभा ५३२) ।

४. °दिगते तम्मि (पंकभा) ।

५. पंकभा ५३३ ।

६. कहणम्मि (भ) ।

७. पंकभा ५३५ ।

८. पंकभा ५३६ ।

९. °स्सा (दे) ।

१०. व (भ) ।

११. य परिचत्ता (पंकभा ५३७) ।

१२. य (भ, मु) ।

१३. य (भ) ।

१४. तु. पंकभा ५३८, ५३९ ।

३८४८. शैक्षनिस्फेटिका (शैक्षापहरण) — जो शैक्ष का अपहरण करता है, वह तृतीय महाव्रत में अतिचार लगाता है अतः उसे स्तैन्य जानना चाहिए। अतिशेष (अवधिज्ञानी आदि अतिशायी) पुरुषों तथा अमूढलक्ष्य पुरुष^१ (आचार्य की) इस विषय में भजना है—विवक्षित दोष न हों तो वे शैक्ष का अपहरण कर दीक्षा दे सकते हैं—यह अपवाद पद है।

३८४९. जो अप्रत्युत्पन्न बाल—आठ वर्ष का है या सोलह वर्ष से कम, किन्तु अव्यंजनजात (युवत्व के लक्षणों से रहित) है अथवा अणिविट्ट (अविवाहित) है—इन्हें माता-पिता के द्वारा अदत्त (अनुज्ञा लिए बिना) उसी ग्राम में या अन्यत्र जाकर भी दीक्षा देना नहीं कल्पता।

३८५०. शैक्ष निस्फेटिका (शैक्ष—अपहरण/चोरी) के ये चार विकल्प होते हैं—१. स्तेन, २. स्तेनस्तेन, ३. प्रतीच्छक और ४. प्रतीच्छकप्रतीच्छक।

३८५१. जो व्यक्ति अप्रत्युत्पन्न बाल को स्वयं हरण कर ले जाता है, वह लोकोत्तरिक स्तेन है। अपहृत बाल को ले जाने वाले उस भिक्षु के भिक्षा आदि के लिए जाने पर जो उसे हरण करता है, वह स्तेनस्तेन है।

३८५२. जो उस मूल स्तेन या स्तेनस्तेन से उस बालक को ग्रहण करता है, वह प्रतीच्छक कहलाता है। उस स्तेनप्रतीच्छक से ग्रहण करने वाला एकान्तरित होने के कारण प्रतीच्छकप्रतीच्छक कहलाता है।

३८५३. किसी बच्चे का अपहरण करने पर उसके माता-पिता विपुल अर्थ को ग्रहण कर, राजा आदि को कह सकते हैं और उनके कहने पर ग्रहण आदि दोषों की संभावना हो सकती है।

३८५४. शैक्ष का अपहरण करने पर उसका कोई संबंधी जो अभी-अभी श्रावक बना है, विपरिणत हो सकता है, विपरिणत होकर धर्म को छोड़ सकता है और वह राजा आदि को फरियाद कर उसे पकड़वा सकता है।

३८५५. शैक्ष के अपहरण से श्रुतधर्म की विराधना होती है और श्रुतधर्म के लोप से चारित्रधर्म का लोप होता है—ऐसा जानो।

३८५६. शैक्षापहार से रुष्ट होकर राजा कटकमर्दन भी करवा सकता है। अतः शैक्षापहार करने वाले के द्वारा आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, संघ तथा धर्म सभी परित्यक्त हो जाते हैं अर्थात् वह इन सबकी उपेक्षा करता है।

३८५७. अपवाद—कोई अतिशेषी—अवधि आदि अतिशय ज्ञान सम्पन्न या अमोघहस्त आचार्य यदि जाने कि अमुक व्यक्ति निस्तारक होगा, कालान्तर में धर्म प्रभावक युगप्रधान होगा और इसके अपहरण से वध, बंध आदि पूर्वोक्त दोष नहीं होंगे तो वे निष्फेटित शैक्ष को दीक्षा दे सकते हैं। अमोघहस्त आचार्य जिसे दीक्षा दे, वह अवश्य ही निस्तार करता है अतः वह वहीं पर दीक्षा दे सकता है, अन्यत्र ले जाना अपेक्षित नहीं।

१. निभा ३ चू. पृ. २७६—अमूढलक्ष्यो वा आयरिओ अमोहहत्थो जं सो पव्वावेति सो अवस्सं गित्थरति, न य केति दोसा उपज्जंति।

३८५८. जे केइ अणलदोसा, पुव्वं भणिता मए समासेणं ।
ते चेव अपरिसेसा, गुव्विणि तह बालवच्छाए^१ ॥ ३७३७ ॥ नि ७५६ ॥
३८५९. मोत्तूण णवरि वुड्ढं, सरीरजडुं च चोरमवगारिं ।
दासमणत्तं च तहा, ओबद्धादी^२ य जे पंच ॥ ३७३८ ॥
३८६०. अवसेसा पुण अणला, भइयव्वा अहव^३ गुव्विणीय भवे ।
कायभवत्थो बिंबं, विकित^४ वेदणम्मि व मरेज्जा ॥ ३७३९ ॥
३८६१. एतेसामण्णतरं, अणलं जो णायगादि पव्वावे ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ३७४० ॥ नि ७५७ ॥
३८६२. तेणे कीवे रायाऽवगारि दुट्ठे य जुंगिते दासे ।
सेहे गुव्विणि मूलं, सेसे चतुरो सवित्थारा^५ ॥ ३७४१ ॥
३८६३. कीबे 'दुट्ठे तेणे'^६, गुव्विणि रायावकारि सेहे य ।
मूलं चउ पारंची, मूलं वा होंति चतुगुरुगा ॥ ३७४२ ॥
३८६४. सुत्तणिवातो एत्थं, चतुगुरुगं 'जेसु होति'^७ ठाणेसु ।
उच्चारितत्थसरिसा, सेसा तु विकोवणट्ठाए ॥ ३७४३ ॥
३८६५. बाले वुड्ढे कीबे, जडुं^८ मत्ते य जुंगितसरीरे ।
गच्छे पव्वइताणं, संवासो एगतो भइतो ॥ ३७४४ ॥
३८६६. जिणपवयणपडिकुट्ठो, जो पव्वावेति लोभदोसेणं ।
'चरितट्ठी य'^९ तवस्सी, लोवेति तमेव^{१०} तु चरित्तं ॥ ३७४५ ॥
३८६७. पव्वावितो सिय^{११} त्ति य, सेसं पणगं अणायरणजोगं^{१२} ।
अहवा^{१३} समायरंते, 'पुरिमपदनिवारिते दोसे'^{१४} ॥ ३७४६ ॥

१. तु. पंकभा ५४३ ।

२. उब्ब^० (भ) ।

३. तह य (मु) ।

४. वैकृतं सर्पादिवत् (चू) ।

५. तु. पंकभा ५४८ ।

६. तेणे दुट्ठे (दे) ।

७. होति जेसु (दे) ।

८. जडुं (दे, भ) ।

९. चरित्तट्ठितो (पंकभा ५५४) ।

१०. तमेय (भ) ।

११. सिअ त्ति अजाणया जाणया वा (चू) ।

१२. °जोगं (भ) ।

१३. अदुवा (पंकभा ५५५) ।

१४. °रिता दोसा (भ, पंकभा) ।

३८५८. बाल, वृद्ध आदि अनल (अयोग्य) को दीक्षा देने के विषय में मैंने जो पहले संक्षेप में दोष बताए हैं, गर्भवती अथवा बालवत्सा (छोटे बच्चे की मां) को दीक्षा देने पर वे ही सारे दोष संभव हैं।

३८५९, ३८६०. केवल वृद्ध, शरीरजडु, चोर, अपकारी, दास, ऋणार्त्त तथा उद्बद्ध आदि पांच (उद्बद्ध, भृतक, अपहृत शैक्ष, गर्भवती एवं बालवत्सा) इन्हें छोड़कर शेष सारे अनल (अयोग्य) व्यक्ति भक्तव्य (विकल्पयोग्य) हैं। गर्भवती के ये अन्य दोष हैं—कदाचित् कोई जीव उत्कृष्टतः बारह वर्ष कायभवस्थ—गर्भ रूप में रह सकता है, कोई हाथ, पांव, कान, नाक आदि अवयवों रहित बिम्ब मात्र (मृगालोढ़े की तरह) उत्पन्न हो सकता है, वैकृत (सर्प आदि के समान विकृत रूप) हो सकता है, प्रसववेदना से वह स्त्री मर सकती है आदि।

३८६१. जो भिक्षु इनमें से किसी भी अयोग्य ज्ञाति आदि को प्रव्रजित करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३८६२. जो स्तेन, क्लीब, राजा के अपकारी, दुष्ट, जुंगित, अपहृतशैक्ष तथा गर्भवती को दीक्षित करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा शेष को दीक्षित करने वाले को विस्तारयुक्त चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३८६३. अन्य आदेश के अनुसार क्लीब, दुष्ट, स्तेन, गर्भवती स्त्री, राजा का अपकारी और अपहृत शैक्ष को दीक्षित करने वालों में—क्लीब को दीक्षित करने वाले को मूल, दुष्ट आदि चार को दीक्षित करने वाले का पारांचित तथा अपहृत शैक्ष को दीक्षित करने वाले को मूल या चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३८६४. जिन स्थानों में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, सूत्रनिपात उन्हीं में है। (उन्हीं से सूत्र सम्बद्ध है।) शेष स्थान उच्चारित अर्थ के समान है (कथन मात्र से ज्ञातव्य है।) शिष्य की बुद्धि का विस्तार करने के लिए प्रज्ञप्त हैं।

३८६५. कारण में यदि बाल, वृद्ध या अभिभूत क्लीब को दीक्षा दी जाए या दीक्षा के बाद कोई शरीरजडु, उन्मत्त, शरीरजुंगित (अदर्शन आदि) हो जाए तो गच्छ में रहते हुए उनको साथ में संवास करवाया जाए, सम्यक् परिचर्या हो, अन्यथा वे बहिर्भाव को प्राप्त होते हैं। शेष गर्भवती आदि के संवास में भजना है।

३८६६. जो व्यक्ति जिनप्रवचन के अनुसार दीक्षा के लिए निषिद्ध हैं, उसको शिष्य लोभ से कोई चारित्रार्थी या तपस्वी दीक्षित करता है, वह दीक्षित होकर उसी के चारित्र-विनाश का हेतु बनता है।

३८६७. यदि अज्ञानवश या कारणवश जानते हुए कोई अयोग्य दीक्षित किया गया हो, तब भी वह शेष पांच पदों—मुंडापन, शिक्षण, उपस्थापन, संभोजन (संभोज) और संवास के योग्य नहीं होता। उसके साथ इन पांच पदों का आचरण करने वाला मुनि भी पूर्व पद (दीक्षा) में निवारित दोषों को प्राप्त होता है।

३८६८. नायगमनायगं^१ वा, सावगमस्सावगं तु जे भिक्खू।
अणलमुवट्टावेती, सो पावति आणमादीणि ॥ ३७४७ ॥ नि ७५८ ॥
३८६९. पुच्छा^२ सुद्धे अट्टा, ता मे सामाइयं च तिक्खुत्तो।
सयमेव उ कातव्वं, सिक्खा य तहिं पयत्तेणं ॥ ३७४८ ॥
३८७०. गोयरमचित्तभोयण सज्जायऽणहाणभूमिसेज्जादी।
अब्भुवगत थिरहत्थो, गुरु जहण्णेण तिण्णट्टा^३ ॥ ३७४९ ॥
३८७१. दव्वादी अपसत्थे, मोत्तु पसत्थेसु फासुगाहारं।
लग्गाति व तूरंते, गुरुअणुकूले वऽहाजातं ॥ ३७५० ॥
३८७२. तिगुणपदाहिणपादे, नित्थारो^४ गुरुगुणेहि वट्टाहि।
अणहिंडंते सिक्खं, सम्मयणीतेहि गाहेति ॥ ३७५१ ॥
३८७३. अप्पत्ते अकहित्ता, अणभिगत ऽपरिच्छित्तिक्कमे वा से।
संथरणे हिंडावण, एक्केक्के होति चतुगुरुगा ॥ ३७५२ ॥ नि ७५९ ॥
३८७४. अप्पत्तं तु सुतेणं, परियाए उट्टवेंत^५ चतुगुरुगा।
आणादी कायवधो, ण य पढति अकप्पिते जं च ॥ ३७५३ ॥
३८७५. सुत्तत्थे अकहेत्ता^६, जीवाजीवे य 'पुण्ण-पावं'^७ च।
उट्टवणे चउगुरुगा, विराधणा 'बहुग जाणंते'^८ ॥ ३७५४ ॥
३८७६. अणभिगतपुण्णपावं^९, उवट्टवेंतस्स चतुगुरू होति।
'आणादिणो विराधण'^{१०}, मालाए होति दिट्ठंतो ॥ ३७५५ ॥

१. सूत्र ८५ (नव ११/८६)।

२. पच्छा (भ)।

३. तु. पंकभा ६९८।

४. नित्थरतो (दे)।

५. उच्चे ट्टावणा उत् प्राबल्येन वा ठावणा उट्टावणा (चू)।

६. अकहेत्ता (दे)।

७. बंधमोक्खं (पंकभा ७०४)।

८. जा भणितपुव्वं (पंकभा)।

९. पुण्णपावग्गहणातो नवपयत्था गहिता (चू)।

१०. आणादिणो य दोसा (पंकभा ७०५)।

३८६८. जो भिक्षु ज्ञाति या अज्ञाति, श्रावक या अश्रावक—किसी भी अयोग्य को उपस्थापित करता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३८६९. दीक्षार्थी उपस्थित हो तो उसकी पृच्छा की जाती है—कौन हो? वैराग्य का क्या कारण है आदि। पृच्छा से यदि ज्ञात हो जाए कि यह शुद्ध—योग्य है, तो उसे तीन बार सामायिकसूत्र का उच्चारण करवाकर विधिपूर्वक प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, लग्न आदि में दीक्षित किया जाता है। मुंडापना के अन्तर्गत स्थिरहस्त आचार्य स्वयं अपने हाथ से तीन मुष्टि^१ लोच या सम्पूर्ण लोच करता है। उसके बाद उसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण और आसेवन शिक्षा प्रदान की जाती है।

३८७०. दीक्षार्ह व्यक्ति की परीक्षा के लिए उसे बताया जाता है—मुनि बनने के बाद गोचरी के लिए जाना होगा। अचित्त और एषणीय आहार संविभागपूर्वक करना होगा। नित्य स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहना होगा। मुनि स्नान नहीं करता, भूमि पर सोता है। इन सब बातों को यदि वह सहजता से स्वीकार करे तो उसे दीक्षा दी जाती है। स्थिरहस्त आचार्य कम से कम तीन मुष्टि लोच कर, रजोहरण देकर साधु बना देते हैं।

३८७१. अप्रशस्त द्रव्य (अस्थि आदि), क्षेत्र, काल और भाव का वर्जन कर प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में दीक्षा दी जाती है। यदि प्रशस्त द्रव्य आदि उपलब्ध न हो, तब तक प्राशुक आहार से उसे धारण करते हैं। ज्ञातिजनों का भय हो तो शीघ्र ही अनुकूल लग्न आदि देखकर या गुरु के अनुकूल प्रशस्त लग्न आदि में दीक्षा दी जाए। फिर यथाजात उपकरण—निषद्या सहित रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट दिए जाते हैं। आचार्य शैक्ष को सात बार मंत्र से अभिमंत्रित करते हैं।

३८७२. शैक्ष दीक्षित होकर तीन बार गुरुचरणों में वन्दना करता है। अनुशिष्टि के लिए निवेदन करने पर शिक्षा दी जाती है—निस्तारक और पारगामी बनो अर्थात् गुरु-गुणों में वर्तन करो। जो उसके सम्मत हों और जो उसको लेकर आएँ, उनके द्वारा उसे शिक्षा ग्रहण करवाई जाए। शिक्षाकाल में भ्रमण न करे।

३८७३. १. अप्राप्त (अपात्र) को उपस्थापित करने, २. अकथयित्वा—उपस्थापितव्य को सूत्रार्थ का कथन किए बिना। ३. अनभिगत—उसे पुण्य, पाप आदि तत्त्वों को अवगत कराए बिना। अपरीक्षित—उसकी परीक्षा किए बिना तथा प्रत्येक महाव्रत का तीन-तीन बार अतिक्रमण (परीक्षण) कराए बिना यदि उपस्थापना दी जाए तो प्रत्येक पद में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आचार्य उस शैक्ष को उपस्थापना के काल में वामपार्श्व में बिठाता है। इसी प्रकार निर्वाह की स्थिति में भी उपस्थापितव्य शैक्ष को भिक्षा आदि के लिए भ्रमण करवाता है, तब भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३८७४. सूत्र की दृष्टि से अपात्र को पर्याय में उपस्थापित करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है। ज्ञान के अभाव में वह षट्काय का वध कर सकता है। उपस्थापित हो चुका—ऐसा सोच वह सूत्र पढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। फलतः वह लम्बे समय तक अकल्पिक रह जाता है और उसके द्वारा आनीत आहार आदि ग्रहण करने पर अन्य मुनियों को भी दोष लगता है।

३८७५. उपस्थापितव्य शिष्य को सूत्र और अर्थ का ज्ञान दिए बिना, जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का ज्ञान दिए बिना, उपस्थापित करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अर्थज्ञान के अभाव में वह बहुत प्रकार से विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३८७६. पुण्य-पाप आदि तत्त्वों को न जाने, उसे उपस्थापित करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, आज्ञाभंग, अनवस्था, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है, इसे माला के दृष्टान्त^३ से जानना चाहिए।

१. अट्टा=अष्टा—मुट्टी (द्रष्टव्य पाइय.)।

२. उपस्थापना से पूर्व पहले शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पढ़ना अनिवार्य था, अब दशवैकालिक का षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन अनिवार्य हो गया।

३. जिस प्रकार पांच वर्णों के पुष्पों की माला स्थाणु पर सुशोभित नहीं होती, उसी प्रकार पांच महाव्रत की माला नव तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति के पास सुशोभित नहीं होती।

३८७७. उल्लम्मि य पारिच्छा, अभिगत णारुण तो वए देंति ।
एक्केक्कं तिक्खुत्तो, जो ण कुणति^१ तस्स चतुगुरुगा ॥ ३७५६ ॥
३८७८. उच्चारादि अथंडिल, वोसिर ठाणादि वावि पुढवीए ।
नदिमादिदगसमीवे, 'सागणि उद्धित्त^२ तेउम्मि'^३ ॥ ३७५७ ॥
३८७९. विजणऽभिधारण वाते, हरिते^४ जह पुढविए तसेसुं च ।
एमेव गोयरगते, होति परिच्छा उ काएसु^५ ॥ ३७५८ ॥
३८८०. दव्वादिपसत्थवता, 'तहेव ण तु गंतु उवरिमे'^६ हेट्टा ।
दुविधा तिविधा य दिसा, आयंबिल 'जस्स वा जं तु'^७ ॥ ३७५९ ॥
३८८१. बितियपदं संबंधी, कक्खड बहिभाव ओम संवासे ।
पत्तं व अपत्तं वा, अणलमुवट्टावते भिक्खू ॥ ३७६० ॥
३८८२. भुंजिसु^८ मए सद्धिं, इदाणि^९ गेच्छंति मा हु बहिभावं ।
'अहिगं खंति'^{१०} व ओमे, पच्छण्णे जेण भुंजंति^{११} ॥ ३७६१ ॥
३८८३. तव^{१२} कप्पति ण तु अम्हं, अणुवट्टवितस्सऽणेसियं सिट्ठे ।
जइ गच्छति बहिभावं, अणुलोमा उड्डुवट्टवणा ॥ ३७६२ ॥
३८८४. वासादिसु वा ठातोऽसि णत्थि बहि अंतो भुज्जमाणेसु ।
संवासो तु न कप्पति, एगस्सऽणलं पि तु ठवेति ॥ ३७६३ ॥

१. कमती (भ) ।

२. निक्खित्त (व्यभा २०४३) ।

३. खारादीदाह अगणिम्मि (पंकभा ७०७) ।

४. × (दे) ।

५. काएहिं (व्यभा २०४४), तु. पंकभा ७०८ ।

६. एक्केक्कतिगं तु उवरिमं (व्यभा) ।

७. निव्विगितिया वा (व्यभा २०४५, तु. पंकभा ७०९) ।

८. भुंजिसुं (भ) ।

९. इदाणिं (भ) ।

१०. अहिखार्यति (पंकभा) ।

११. पंकभा ७१८ ।

१२. तह (दे) ।

३८७७. आर्द्र हाथ आदि से अप्काय आदि की परीक्षा का ग्रहण किया गया है। यदि वह षड्जीवनिकाय का अभिज्ञान कर चुका हो, उनमें श्रद्धा करता हो तो आचार्य उसे व्रत दे देते हैं। जो आचार्य एक-एक महाव्रत की तीन-तीन बार परीक्षा नहीं करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३८७८. जब शैक्ष उच्चार प्रस्त्रवण करता है, उसकी परीक्षा हेतु स्थविर अस्थंडिल दिखाकर कहते हैं—यहां विसर्जन कर दो। इसी प्रकार ऊर्ध्वस्थान, निषीदन आदि के लिए भी सचित्त पृथ्वी का निर्देश करते हैं। यदि वह वहां पर विसर्जन आदि की इच्छा नहीं करता तो मानना चाहिए कि वह पृथ्वीकाय पर श्रद्धा करता है। इसी प्रकार नदी, तालाब आदि के पानी के पास, अग्नियुक्त उपाश्रय में, उद्दिस अग्नि में तापने आदि के लिए कहकर अप्काय एवं तेजस्काय के अभिगम (श्रद्धा) की परीक्षा करते हैं।

३८७९. वायुकाय की परीक्षा के लिए उसे विजन अथवा वायु-अभिसंधारण (हवादार स्थान में हवा खाने) का निर्देश दिया जाता है। वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय के लिए पृथ्वीकाय की भांति परीक्षाविधि अपनाई जाती है। इसी प्रकार गोचराग्र के लिए जाते समय भी शैक्ष की षट्काय विषयक परीक्षा ली जाती है। तीन-तीन बार परीक्षा में सफल होने पर वह उपस्थापना योग्य हो जाता है।

३८८०. जब द्रव्य, क्षेत्र आदि प्रशस्त हों, तारा, चन्द्र आदि बल साधक हों, तब पूर्वोक्त सामायिक विधि से उपस्थापना दी जाती है। पांच महाव्रतों को एक साथ बोलकर पुनः दूसरी और तीसरी बार नहीं बोला जाता, किन्तु एक-एक महाव्रत को तीन-तीन बार बोला जाता है।^१ उपस्थापना के पश्चात् साधु को दो दिशा—आचार्य और उपाध्याय तथा साध्वी को तीन दिशा—आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी दी जाती है। जिस दिन उपस्थापना की जाती है, उस दिन शैक्ष के उपवास, आर्यबिल आदि जो जहां परम्परा हो, वह तप होता है।

३८८१. द्वितीय पद—अपवाद में सूत्र की दृष्टि से पात्र हो या अपात्र, अनल को भी भिक्षु उपस्थापित कर सकता है यदि १. वह सम्बन्धी हो और उपस्थापना के अभाव में अप्रीतिपूर्ण बहिर्भाव हो रहा हो, २. अवमकाल हो अथवा संवास सम्बन्धी कोई प्रयोजन हो।

३८८२. भिक्षु का कोई निकट संबंधी दीक्षित हुआ। वह सोचता है—पहले गृहवास में ये मेरे साथ भोजन करते हैं, अब क्यों नहीं करते? ऐसा सोच वह अत्यधिक बहिर्भाव को प्राप्त हो तो श्रुत से अपात्र को भी उपस्थापना दी जा सकती है। दुर्भिक्ष में अनुपस्थापित मुनि को पहले आहार करवा कर बाहर भेजने पर वह सोचे कि लगता है, अन्य मुनि मुझे अधिक खाते हैं, क्योंकि ये मुझे बाहर भेजकर प्रच्छन्न खाते हैं। यदि इस कारण वह बहिर्भाव को प्राप्त हो तो उसे पहले उपस्थापना दे दी जाती है।

३८८३. अवमकाल में कोई अनेषणीय अनुकूल वस्तु प्राप्त हो और वह लाकर शैक्ष को दी जाती है तो वह पूछता है—अमुक वस्तु आचार्य प्रायोग्य है, मुझे क्यों दे रहे हैं? तब भिक्षु कहते हैं—अनुपस्थापित होने से यह तुम्हें कल्पती है। अनेषणीय है अतः हमें नहीं कल्पती। ऐसा सुनकर वह सोचता है—इसका मतलब मैं श्रमण नहीं हूँ, फिर मैं यहां क्यों रहूँ? इस प्रकार यदि वह बहिर्भाव को प्राप्त हो तो अनुकूल प्ररूपणा के द्वारा उसे प्रत्यावर्तित किया जाए और अपवाद रूप में अपात्र को भी उपस्थापना दी जाए।

३८८४. अनुपस्थापित शैक्ष को मंडली में आहार नहीं करवाया जाता। अतः वर्षावास आदि में भी बाहर बैठा रहता है अथवा बाहर स्थान न हो तो जब अन्य साधु मंडली में खा रहे हों, वह एक तरफ अकेला बैठा रहता है—इस स्थिति में यदि वह बहिर्भाव को प्राप्त हो अथवा अकेला रहने पर असहायकत्व, स्त्रीदोष आदि दोष हों तो अनल (अपात्र) को उपस्थापना दी जा सकती है।

१. निभा ३ चू. पृ. २८१—णो पंचमहव्वए सइं कढित्ता पुणो हेट्ठा दो ततियं वारा कड्ढति, किंतु एक्केक्कं वतं तिन्निवारा कढिज्जति।

२. बहिर्भाव—अनात्मीयता (परायापन)।

३८८५. पिय-पुत्त खुड्डु-थेरे, खुड्डुगथेरे अपावमाणम्मि ।
सिक्खावण पणवणा, दिट्ठतो दंडिगादीहिं^१ ॥ ३७६४ ॥
३८८६. थेरेण अणुण्णाते, उवट्टु^२ ऽणिच्छे व ठंति^३ पंचाहं ।
ति पण 'परमणिच्छे वी, वत्थुसभावे व^४ जाऽहीतं ॥ ३७६५ ॥
३८८७. दो थेर खुड्डु-थेरे, 'खुड्डुग वोच्चत्थ मग्गणा होति^५ ।
रण्णो अमच्चमादी, संजतिमज्झे^६ महादेवी^७ ॥ ३७६६ ॥
३८८८. दो पत्त^८ पिता पुत्ता, एगस्स उ पुत्त पत्त 'ण उ^९ थेरो ।
गहितो^{१०} 'व सयं^{११} वितरति, राइणिओ होतु एस वि ता^{१२} ॥ ३७६७ ॥
३८८९. राया रायाणो वा, दोण्णि वि समपत्त दोसु ठाणेसु ।
ईसर-सेट्ठि-अमच्चे, निगम^{१३} घडा^{१४} कुल दुवे चव^{१५} ॥ ३७६८ ॥
३८९०. एतेहि कारणेहिं, अज्झयणुद्देसमादिए काउं ।
अणधीते वि^{१६} कहेत्ता, उवट्टुवेरुण संभुंजे ॥ ३७६९ ॥
३८९१. समगं तु अणेगेसुं^{१७}, पत्तेसू अणभिओगमावलिया^{१८} ।
एगतो दुहतो 'व ठिता^{१९}, समराइणिया जहासण्णा^{२०} ॥ ३७७० ॥

१. व्यभा २०४६ ।
२. उवट्टि (भ) ।
३. ठवेति (भ, मु) ।
४. मणिच्छे उवरिं वत्थुसहावेण (व्यभा २०४७) ।
५. ण थेरे अपावमाणम्मि (मु, भ) ।
६. संजयं (दे) ।
७. व्यभा २०४८ ।
८. पुत्त (दे) ।
९. उ ण (दे) ।
१०. गहितो (दे) ।

११. स पंच (मु) ।
१२. य (व्यभा २०४९) ।
१३. निगम ति वणिया (चू) ।
१४. घडा ति गोट्टी (चू) ।
१५. खुड्डु (पंकभा ७१४, व्यभा २०५०) ।
१६. व (दे) ।
१७. णेसू (भ, मु) ।
१८. णिणाम आवं (दे) ।
१९. ठविता (व्यभा २०५१) ।
२०. पंकभा ७१५ ।

३८८५. पिता और पुत्र, क्षुल्लक और स्थविर साथ में दीक्षा लें। यदि पिता या स्थविर पहले उपस्थापन योग्य हो जाए, पुत्र, क्षुल्लक पात्र न हों तो पिता, स्थविर को पहले उपस्थापित कर दिया जाए। यदि पिता या स्थविर पात्रत्व को प्राप्त न हो तो उन्हें प्रयत्नपूर्वक सूत्र और अर्थ सिखाए जाएं। यदि चिरकाल तक भी वे पात्र न बन पाएं तो उन्हें दंडिक आदि के दृष्टान्त^१ से प्रज्ञापना दें (समझाएं)।

३८८६. स्थविर या पिता से अनुज्ञा प्राप्त हो जाए तो क्षुल्लक या पुत्र को उससे पूर्व उपस्थापना दे। यदि वह अनुज्ञा न दे तो उसकी उपस्थापना पांच दिन के लिए स्थगित कर दे। इस प्रकार तीन बार पांच-पांच दिन के लिए स्थगित करने के बाद स्थविर की इच्छा के बिना भी क्षुल्लक को उपस्थापना दी जाए। अथवा वस्तु-स्वभाव (स्थविर के मानी स्वभाव—मैं क्षुल्लक से अवमरात्तिक हो जाऊंगा—इस भाव) को जानकर क्षुल्लक की उपस्थापना को तब तक स्थगित करे, जब तक वह अपेक्षित सूत्र-अर्थ को ग्रहण करे।

३८८७, ३८८८. दो स्थविर दो क्षुल्लक के साथ या दो पिता अपने दो पुत्रों के साथ दीक्षित हों, उनमें दो स्थविरों को पात्र होने पर पहले उपस्थापित किया जा सकता है। दोनों स्थविरों और एक क्षुल्लक को भी पहले उपस्थापित किया जा सकता है। पर यदि एक स्थविर या दोनों स्थविर पात्रत्व को प्राप्त न हों तो क्षुल्लकों की उपस्थापना के लिए पूर्वोक्त विधि ज्ञातव्य है। इसी प्रकार राजा-अमात्य, श्रेष्ठी-सार्थवाह तथा साध्वियों के पक्ष में माता-पुत्री, माताओं-पुत्रियों, महादेवी (रानी) और अमात्य पत्नी आदि के विषय में भी पूर्वोक्त विधि ज्ञातव्य है। वयःस्थविर या पद-स्थविर (राजा, अमात्य आदि) यदि पात्र न बनें तो आचार्य, वृषभ मुनि आदि उन्हें पूर्वोक्त दंडिक दृष्टान्त से समझाए, वह स्वीकार करे कि यह भी रात्तिक हो जाए तो उसे पांच महाव्रतों की उपस्थापना दी जाए, अन्यथा नहीं।

३८८९, ३८९०. एक राजा और एक राजराजा (सम्राट), एक पिता और उसका पौत्र साथ दीक्षित हों, दो राजा, दो ईश्वर, दो श्रेष्ठी, अमात्य, निगम—व्यापारी, गड़ा (गौष्ठिक पुरुष), दो बृहत् या सम्पन्न कुलों के दो सदस्य साथ-साथ दीक्षित हों, उसमें जो अधिकतर मान्य हो, उसे पहले उपस्थापित किया जा सकता है। यदि अवमतर पहले पात्र हो जाए और दूसरा पात्र न हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे उपस्थापित करने पर अधिकतर (पदस्थविर आदि) के लिए वह अप्रीतिकर हो सकता है, वह प्रतिभग्न हो सकता है अतः इन कारणों से उसे भी अध्ययन, उद्देशक आदि प्रदान कर दोनों को समरात्तिक किया जाए या वह अध्ययन आदि न पढ़ सके तो सूत्रार्थ से अपात्र होने पर भी उसकी उपस्थापना की जाए और उसके साथ संभोज करे।

३८९१. अनेक संबंधी—पिता-पुत्र, मामा-भानजा आदि तथा अनेक पद (राजा अमात्य) श्रेष्ठी आदि एक साथ दीक्षित हों, एक साथ उपस्थापनाहं हों तो गुरु या अन्य व्यक्ति अभियोग न करे—तुम आगे आओ, तुम नहीं इत्यादि। जिस अवलिका—क्रम में उपस्थित हों, एक ओर या दोनों ओर स्थित हों, जो जितना आसन्न (जेष्ठतर) हो, उसे रत्नाधिक बनाए। दोनों समान ज्येष्ठ हों तो दोनों को समरात्तिक बनाए।

१. एक राजा (दंडिक पुरुष) किसी कारण से राज्यच्युत होकर पुत्र सहित दूसरे राजा की सेवा में गया। वह राजा उसके पुत्र पर प्रसन्न होकर अपना राज्य देना चाहे तो क्या पिता अपने पुत्र को राजा बनाना नहीं चाहेगा? अर्थात् अवश्य चाहेगा। इसी प्रकार तुम्हारे पुत्र को महाव्रत-राज्य मिल रहा है तो तुम्हें सहर्ष स्वीकृति देनी चाहिए।

३८९२. ईसिं 'अधोणता वा'^१, वामे पासम्मि होति आवलिया ।
अभिसरणम्मि उ वुड्ढी, ओसरणे सो व अन्नो वा ॥ ३७७१ ॥
३८९३. पुव्वं^२ चिय पडिसिद्धा^३, दिक्खा अणलस्स कहमिदाणिं तु ।
वेयावच्चं कारे, पिंडस्स अकप्पिते सुत्तं ॥ ३७७२ ॥ नि ७६० ॥
३८९४. वेयावच्चे अणलो, चउव्विधो होति आणुपुव्वीए ।
सुत्तत्थ अभिगमेण^४ य, परिहरणा^५ एव नातव्वा ॥ ३७७३ ॥ नि ७६१ ॥
३८९५. एतेसामण्णतरं, अणलं जो णाइगादि कारेज्जा ।
वेयावच्चं भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ ३७७४ ॥ नि ७६२ ॥
३८९६. बितियपदे एगागी, गेलण्णऽसहू अलद्धिमंते य ।
ओमे^६ य अणधियासे^७, गिहीसु वा मंदधम्मेषु ॥ ३७७५ ॥
३८९७. एतेहि कारणेहिं, पिंडस्सुस्सारकप्पियं काउं ।
वेयावच्चमलंभे^८, कारेज्ज ऽसढो तु अणलेणं ॥ ३७७६ ॥
३८९८. जे भिक्खुं^९ सचेलो तू, ठाण-निसीदण-तुयट्टणं वावि ।
चेतेज्ज सचेलानं, सो पावति आणमादीणि ॥ ३७७७ ॥ नि ७६३ ॥
३८९९. वीसत्थादी दोसा, चउत्थुद्देसम्मि वण्णिता जे तु ।
ते चेव निरवसेसा, सचेलमज्झे^{१०} सचेलस्स ॥ ३७७८ ॥
३९००. बितियपदमणप्पज्जे, गेलण्णुवसगरोहगऽद्धाणे ।
समणाणं असतीए, समणीपव्वाविते चेव ॥ ३७७९ ॥

१. अवणय अंतो (व्यभा २०५२), अणोयइत्ता
(पंकभा ७१६), अणोवइत्ता (भ), ईसिं अधो ओणता—
गजदंतवत् अवनता इत्यर्थः (चू) ।

२. सूत्र ८६ (नव ११/८७) ।

३. पडिपुच्छा (दे) ।

४. अभिगमणं—जो वेयावच्चं ण सदहति (चू) ।

५. परिहरणे जो अकप्पियं ण परिहरति (चू) ।

६. ओमो (भ) ।

७. अणहिं (दे) ।

८. °च्च अलंभे (दे) ।

९. सूत्र ८७-९० (नव ८८-९१) ।

१०. × (दे) ।

३८९२. उपस्थापना के समय सारे शैक्ष गुरु के वाम पार्श्व में आवलिका बद्ध होकर ईषद् अवनत (विनम्र मुद्रा में) खड़े रहते हैं। उपस्थापना के बाद जब वे (प्रभावशाली व्यक्ति) शैक्षरूप में आगे-आगे चलते हैं तो संघवृद्धि के हेतु बनते हैं। यदि वे पीछे-पीछे चलते हैं, बहिर्भाव को प्राप्त होते हैं तो वे स्वयं के या अन्य व्यक्ति के उन्निष्क्रमण का हेतु भी बन सकते हैं।

३८९३. प्रश्न—जब अयोग्य की दीक्षा का पहले ही प्रतिषेध किया जा चुका तो अब इस सूत्र का क्या अभिप्राय कि अयोग्य से वैयावृत्य करवाना नहीं कल्पता। आचार्य कहते हैं—यहां सूत्र का अभिप्राय है कि जिसने पिंडैषणा का अध्ययन नहीं किया हो, उससे वैयावृत्य करवाना निषिद्ध है।

३८९४. वैयावृत्य विषयक अयोग्य के क्रमशः चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. सूत्रतः अयोग्य, २. अर्थतः अयोग्य, ३. अभिगम से अयोग्य और ४. परिहरण की दृष्टि से अयोग्य।^१ प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्ति नियमतः वैयावृत्य के अयोग्य होता है, पर प्रव्रज्या के योग्य व्यक्ति वैयावृत्य के योग्य हो भी सकता है, नहीं भी, अतः पृथक् सूत्र किया गया है।

३८९५. पूर्वोक्त में से किसी भी ज्ञाति आदि अनर्ह व्यक्ति से जो भिक्षु वैयावृत्य करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३८९६, ३८९७. अपवाद पद में इन कारणों से मुनि अनल (अयोग्य) मुनि को अशठभाव से उत्सार कल्पिक^२ बनाकर वैयावृत्य करवा सकता है—१. एकाकी, २. ग्लान्य, ३. असहू (अक्षम), ४. अलब्धिमान्, ५. अवम, ६. असहिष्णु, ७. मन्दधर्मा गृहस्थ और ८. अलाभ।^३

३८९८. जो सचेल भिक्षु सचेल साध्वियों के मध्य स्थान, निषीदन, त्वग्वर्तन (लेटना) आदि क्रियाएं करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३८९९. विश्वस्त आदि जो दोष चतुर्थ उद्देशक में वर्णित है, सचेल साध्वियों के मध्य स्थान आदि क्रियाएं करने वाले सचेल भिक्षु के विषय में वे निरवशेष (सभी) ज्ञातव्य हैं।

३९००. अपवाद पद में १. अनपध्यात मुनि, २. ग्लान साध्वी की सेवा करने वाला, ३. उपसर्गस्थ मुनि, ४. नगररोध की स्थिति में, ५. अटवी प्रपन्न स्थिति में तथा ६. श्रमणों की अनुपस्थिति में साध्वियों द्वारा प्रव्रज्या प्राप्त मुनि सचेल साध्वियों के मध्य रह सकता है—यह प्रथम भंग है।

१. निभा ३ चू. पृ. २८५—परिहरणे—जो अकल्पियं ण परिहरति। (जो अकल्पनीय का वर्जन नहीं करता।)

२. उत्सारकल्पिक—सूत्र और अर्थ का व्युत्क्रम से अध्ययन-अध्यापन करने वाला।

३. गच्छ में अकेला पिण्डकल्पिक हो, शेष शैक्ष हों या जो कल्पिक हों, वे ग्लान, अक्षम या अलब्धिमान् हों, अवमकाल के कारण अनिर्वाह की स्थिति हो जाए, शेष मुनि भिक्षादि के लिए निर्गत हों और किसी के भूख, प्यास असह्य हो जाए, इसलिए अयोग्य से करवा सकता है या मन्दधर्मा गृहस्थ कुछ न दें, अलाभ की स्थिति में अयोग्य लब्धिमान् को भेजकर आहार, औषध आदि मंगवाए जा सकते हैं।

३९०१. एमेव बितियभंगे^१, कंतारादीसु उवधिवाघातो ।
समणीणं ततियम्मि तु, वाघातो होति समणाणं ॥ ३७८० ॥
३९०२. संचरिते वि हु दोसा, किं पुण एगतरणिगिण्ण उभओ वा ।
दिट्ठमदट्ठव्वं मे, दिट्ठिपयारे^२ भवे खोभो ॥ ३७८१ ॥
३९०३. आयपर-उभयदोसा, बितिए^३ भंगे न कप्पती^४ बितियं ।
विहमुट्ठवत्थदाणं, ठाणादि चएति एगत्थ ॥ ३७८२ ॥
३९०४. एमेव ततियभंगे, अद्धाणे उवसयस्स तु अलंभे ।
खुड्डादिमज्झ समणी, सावयभयचिट्ठणादीसु ॥ ३७८३ ॥
३९०५. एमेव चरिमभंगे, दोसा जतणा तु दब्भमादीहिं ।
सभयम्मि मज्झ समणी, णिरवाए मग्गतो एति ॥ ३७८४ ॥
३९०६. दुहतो वाघातो पुण, चतुत्थभंगम्मि^५ होति नातव्वो ।
एमेव य परपक्खे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मी^६ ॥ ३७८५ ॥
३९०७. दुहतो वाघातम्मी^७, 'समणा पुरतो'^८ तु मग्गतो समणी ।
खुड्डेहि भणावेंती, कज्जे देयं ति^९ दावेंती^{१०} ॥ ३७८६ ॥
३९०८. समणाणं जो तु गमो, अट्ठहि सुत्तेहि वण्णितो एसो ।
सो चेव णिरवसेसो, वोच्चत्थो होति समणीणं ॥ ३७८७ ॥
३९०९. परियासियमाहारस्स^{११}, मग्गणा ऽऽहारो को भवे अणाहारो^{१२} ।
आहारो एंगंगिय, चउव्विधो जं चऽतीति तहिं^{१३} ॥ ३७८८ ॥ नि ७६४ ॥

१. × (दे) ।
२. दिट्ठं (क) ।
३. बीते (दे, पा) ।
४. कप्पते (दे) ।
५. बीयं (दे, पा) ।
६. °भंगे य (दे) ।
७. पदम्मिं (पा, भ) ।
८. °म्मिं (पा) ।

९. पुरतो समणा (भ) ।
१०. वा (दे) ।
११. दावेंति (भ, मु) ।
१२. सूत्र ११ (नव ११/१२) ।
१३. गाथा के पूर्वार्द्ध में छंद भंग प्रतीत होता है ।
१४. बृभा ५९९८, इस गाथा के लिए चूर्ण में 'इमा णिज्जुत्ती'
तथा बृहत्कल्पभाष्य की टीका में 'निर्युक्तिविस्तरः'
का उल्लेख है ।

३१०१. इसी प्रकार द्वितीय भंग में कान्तार (सघन वन) में श्रमणियों के उपधि का उपघात होने (वस्त्र आदि लूट लिए जाने) और तृतीय भंग में श्रमणों के उपधि-उपघात होने पर रहना द्वितीय पद (अपवाद मार्ग) है। (द्वितीय भंग में साध्वियों और तृतीय भंग में साधु अचेल और प्रतिपक्ष सचेल होता है।)

३१०२. प्रथम भंग में (दोनों वर्ग सचेल हों तब) संचरण करने पर भी विश्वस्त, आलाप आदि दोष संभव हैं तो एक वर्ग के या उभय वर्ग के नग्नत्व (द्वितीय यावत् चतुर्थ भंग) में तो बात ही क्या? संयत अथवा संयती सोचती है—मैंने अद्रष्टव्य (गुप्त अंग आदि) देख लिये, अब क्या संकोच? अथवा गुप्त अंगों में दृष्टिप्रचार (दृष्टि प्रक्षेप) से चित्तक्षोभ हो सकता है, फलतः अनाचार आदि दोष संभव हैं।

३१०३. द्वितीय भंग में आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ एवं उभयसमुत्थ दोष संभव हैं अतः भिक्षु को द्वितीय भंग में रहना विधिसम्मत नहीं। ऐसी स्थिति में उसे अपने ऊर्ध्व वस्त्र विधिपूर्वक साध्वियों को देकर उन्हें सचेल बना देना चाहिए। फिर अपेक्षानुसार आपवादिक रूप में एकत्र स्थान, निषीदन आदि करना चाहिए।

३१०४. इसी प्रकार अटवी में तथा उपाश्रय का अभाव होने पर तृतीय भंग में—सचेल साध्वियों के मध्य अचेल भिक्षु रह सकता है। सामान्यतः इस भंग में रहते हुए क्षुल्लक साधुओं को मध्य रखा जाता है, देय आदि उन्हीं के साथ दिलवाया जाता है। श्वापद भय आदि की स्थिति में साध्वियों को भी मध्य बिठाया, चलाया जा सकता है।

३१०५. इसी प्रकार चौथे भंग में भी आत्मसमुत्थ आदि दोष संभव हैं अतः वस्त्र का सर्वथा अभाव हो तो दर्भ, हाथ आदि से यतना की जाए (गुप्त अंगों को संगुप्त रखे)। मार्ग में चलते समय यदि भय की स्थिति हो तो साध्वियों को बीच में रखे। निरपाय (दोष रहित) स्थिति में साध्वियां पीछे चलें।

३१०६. चौथे भंग में संयत और संयती दोनों पक्षों से संबंधित व्याघात (उपधि उपघात) हुआ है—ऐसा ज्ञातव्य है। इसी प्रकार परपक्ष (गृहस्थ स्त्रियों तथा अन्यतीर्थिकाओं) के सन्दर्भ में चार भंग ज्ञातव्य हैं। उनमें भी पूर्व (उत्सर्ग) पद और अपर (अपवाद) पद में वही विधि ज्ञातव्य है।

३१०७. दोनों पक्ष व्याघातग्रस्त हों तो मार्ग में चलते समय साधु आगे चलें और साध्वियां पीछे। कोई कार्य हो तो क्षुल्लक साधुओं के माध्यम से कहलवाए और कुछ देना हो तो क्षुल्लक साधुओं के माध्यम से दिलवाएं। दूसरे और चौथे भंग में साध्वियों को पूरा प्रयत्न करके वस्त्र दे देने चाहिए।

३१०८. यह जो विधि आठ सूत्रों (चार संयतीसूत्र और चार परपक्ष स्त्री सूत्र) से साधुओं के विषय में प्रज्ञप्त है, वही विधि लिंग विपर्यास (चार संयतसूत्र एवं चार परपक्ष पुरुष सूत्र) से साध्वियों के विषय में निरवशेष ज्ञातव्य है।

३१०९. परिवासित (बासी) आहार की मार्गणा है। यहां प्रश्न है कि कौन-सी वस्तु आहार में गिनी जाए और कौन-सी अनाहार में? आचार्य कहते हैं—जो एकांगिक हो तथा जो आहार में प्रविष्ट हो, वह आहार है। वह चार प्रकार का होता है।

३९१०. कूरो णासेति खुधं^१, एगंगी तक्क-उदग-मज्जादी।
खाइम फलमंसादी, साइम मधुफाणितादीणि ॥३७८९ ॥ नि ७६५ ॥
३९११. जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि 'सो उ लवणादी'^२।
तं पि य होताहारो, आहारजुतं व विजुतं वा ॥३७९० ॥
३९१२. उदए कप्पूरादी, फल सुत्तादीणि सिंगबेर-गुलो।
ण य ताणि खवेति खुहं, उवकारित्ता तु आहारो^३ ॥३७९१ ॥
३९१३. अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिवति कोट्टे।
सव्वो सो आहारो, ओसधमादी पुणो भइओ ॥३७९२ ॥
३९१४. जं वा भुक्खत्तस्स उ, संकसमाणस्स देति आसादं^४।
सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्टं चऽणाहारो ॥३७९३ ॥
३९१५. अणहार मोय छल्ली, मूलं 'पत्त फल जं च'^५ ऽणाहारो।
सेसं तयभूति तोये, बिंदूमेत्ते वि चतुगुरुगा ॥३७९४ ॥
३९१६. मिच्छत्ताऽसंचइए, विराधणा सुक्खे^६ पाणजाती य।
सम्मुच्छणा य तक्कण, दवे य दोसा इमे हीति ॥३७९५ ॥ नि ७६६ ॥
३९१७. सेह गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कहमसंचया समणा।
संचयमिणं करेती, अण्णत्थ वि णूण एमेव^७ ॥३७९६ ॥
३९१८. णिद्धे दवे पणीते, अपमज्जणपाणतक्कणा^८ झरणा।
आहार दिट्ठदोसा, कप्पति तम्हा अणाहारो ॥३७९७ ॥
३९१९. अणहारो वि ण कप्पति, 'लहुगा दोसा य'^९ जे भणितपुव्विं।
तद्विसं जतणाए, बितियं कडजोगिसंविग्गो^{१०} ॥३७९८ ॥

१. छुहं (बृभा ५९९९)।

२. होइ लोणाई (बृभा ६०००)।

३. बृभा ६००१।

४. अस्सातं (बृभा ६००३)।

५. च फलं च होत (बृभा ६००४)।

६. सत्तु (बृभा ६००५)।

७. बृभा ६००६।

८. आवज्जणं (बृभा ६००७), णतक्कपाणणा (क)।

९. दोसा ते चेव जे (बृभा ६०१०)।

१०. आगाढसंविग्गे (बृभा)।

३९१०. चावल आदि खाद्य जो अकेला क्षुधा का नाश करता है, अशन कहलाता है। तक्र, जल, मद्य आदि अकेले तृषा का नाश करते हैं वे (आहारकृत्य करने के कारण) पान कहलाते हैं। (अर्थात् पानक भूख प्यास दोनों मिटाते हैं।) फल, मांस आदि खादिम तथा मधु, फाणित, तंबोल आदि स्वादिम आहार हैं।

३९११. नमक, हींग, जीरा आदि जो अकेले क्षुधाशमन में समर्थ नहीं, पर आहार में जिनका विशेष उपयोग होता है, वे आहार से संयुक्त हों या वियुक्त, आहार ही हैं।

३९१२. जल में कपूर आदि, फलों में डाला जाने वाला द्रव्यविशेष^१ आदि तथा सौंठ (अदरक) में गुड़ डाला जाता है—ये कपूर आदि क्षुधाक्षय नहीं करते, फिर भी आहार के उपकारी होने के कारण आहार हैं।

३९१३. अथवा क्षुधार्त व्यक्ति केवल उदरपूर्ति के लिए कर्दम के समान मिट्टी आदि जो कुछ^२ पेट में डालता है अर्थात् ज्यों-त्यों पेट भर जाए, ऐसा सोचकर खाता है, वह सब कुछ आहार है। औषध आदि के विषय में भजना है—घेवर आदि जिन्हें चिकित्सा एवं क्षुधा नाश दोनों दृष्टियों से खाया जाए, वे आहार तथा जिनके ऊपर कुछ खाना पड़े, वे त्रिफला आदि अनाहार हैं।

३९१४. अथवा जो खाया जाता हुआ क्षुधार्त व्यक्ति को आस्वाद प्रदान करे, वह सब कुछ आहार है तथा जो अकाम्य, अनिष्ट हो, अनिच्छा से खाया जाए, वह अनाहार है।

३९१५. अनाहार्य पदार्थ—मोक (प्रस्रवण), नीम आदि की छाल, जड़, निंबोली आदि फल तथा नीम आदि के पत्ते आदि जो अनाहार में गिने जाते हैं, उन्हें छोड़कर शेष आहार्य पदार्थों का तिल के तुष के छिलके, अंगुली पर लगे उतनी भूति (चूर्ण) और बिन्दुमात्र भी द्रव पदार्थ यदि बासी रखा जाता है, तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३९१६. अशन आदि आहार को परिवासित रखा हुआ देखकर शैक्ष मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। आत्म व संयम विराधना होती है। शुष्क द्रव्यों—सत्तु आदि^३ में द्वीन्द्रिय आदि जन्तु पैदा हो सकते हैं, चूहे, बिल्ली आदि उसकी ओर ताकते रहते हैं, तत्संबंधी दोष पैदा हो सकते हैं, द्रव पदार्थों के संचय से ये दोष (गा. ३९१८ में प्रज्ञप्त) भी सम्भव हैं।

३९१७. जब गृहस्थ या शैक्ष भिक्षु के पास आहार आदि को बासी रखा हुआ देखते हैं तो वे मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं—ये संचय करते हैं, फिर संयत असंचयिता (असंग्रही) कैसे? रात्रिभोजन का त्याग करके भी रात को खाने की चीजें रखते हैं, उसी प्रकार अन्यत्र प्रत्याख्यानों के विषय में भी अतथाकारी होते होंगे।

३९१८. ३९१९. स्निग्ध द्रव्य—घी, तेल आदि तरल पदार्थ या स्नेहावगाढ़ खाद्य द्रव्य जहां रखे जाते हैं, वहां का प्रमार्जन संभव नहीं होता, प्रमार्जन करे तो रजोहरण खराब होता है, प्राणी समूर्च्छन, प्राणीतर्कणा आदि दोष सूखे द्रव्यों के समान संभव है ही, ये स्नेहावगाढ़ द्रव्य नीचे भी झर सकते हैं, तब मधुबिन्दु उपाख्यान के समान परम्परदोष भी संभव होते हैं। शिष्य—आहार को बासी रखने में दोष बताए गए हैं, इसलिए अनाहार को बासी रखना कल्पता है। आचार्य—अनाहार को भी बासी रखना नहीं कल्पता, उसमें पूर्वोक्त दोषों की संभावना रहती है अतः उसका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। यदि प्रयोजन हो तो उसी दिन खोज करे। यदि दुर्लभद्रव्य हो, प्रतिदिन न मिल सके तो अपवाद पद में कृतयोगी, संविग्न मुनि यतनापूर्वक^४ अनाहार द्रव्य को स्थापित कर रख सकता है।

१. निभा ३ चू. पृ. २८८ (पादटिप्पण २)—सुतं—द्रव्यविशेष।

२. बृभा. ६००१ वृ. पृ. १५८४—बुभुक्षया आर्तः यत् कर्दमोपमया मृदादिकं कोष्ठे प्रक्षिपति। कर्दमोपमा नाम—अपि कर्दमपिण्डानां कुर्यात् कुक्षिं निरन्तरम्—स सर्वोप्याहार उच्यते।

३. दुर्लभ द्रव्य आदि को ऐसे स्थान पर रखा जाता है, जहां गृहस्थ या अगीतार्थ मुनि न जान सकें। उसे अच्छी तरह चर्म आदि से ढक्कन लगाकर मोम आदि से लिप्त कर दिया जाता है, आस-पास क्षारलेप कर निर्व्याघात प्रदेश में रख दिया जाता है और उभयकाल प्रतिलेखना की जाती है।

३९२०. जह कारणे अणहारो, तु^१ कप्पती तह भवेज्ज^२ इतरो वि ।
वोच्छिण्णम्मि मडंभे, बितियं अद्धानमादीसु^३ ॥३७९९ ॥
३९२१. वोच्छिण्णम्मि मडंभे, सहसरुगुप्पाद-उवसमणिमित्तं ।
दिट्ठत्थादी^४ तं चिय, गेण्हंती तिविध भेसज्जं^५ ॥३८०० ॥
३९२२. गिरिपडणादी^६ मरणा, जेतियमेत्ता तु आहिता सुत्ते ।
तेसिं अण्णतरागं, पसंसते आणमादीणि ॥३८०१ ॥ नि ७६७ ॥
३९२३. जत्थ पवातो दीसति, सो^७ तु गिरी मरु अदिस्समाणो तु ।
नदितडमादी^८ व^९ भिगू, तरू य अस्सोत्थवडमादी ॥३८०२ ॥
३९२४. पडणं तु उप्पत्तित्ता, पक्खंदण^{१०} धाविरुण जं पडति ।
तं पुण गिरिम्मि जुज्जति, णदीतडभिगूहिं^{११} वा पडणं^{१२} ॥३८०३ ॥
३९२५. ओलंबिरुण समपाइयं च तरुओ उ^{१३} पवडणं होति ।
पक्खंदणुप्पत्तित्ता, अंदोलेऊण वा पडणं ॥३८०४ ॥
३९२६. वलयं^{१४} वलायमाणो, जो मरणं मरति हीणसत्ततया ।
सोतिंदियादिवसतो, जो मरति वसट्टमरणं तु ॥३८०५ ॥
३९२७. तम्मिं चैव भवम्मी^{१५}, मताण जेसिं पुणो वि^{१६} उप्पत्ती ।
तं तब्भवियं मरणं, अविगडभावं ससल्लं तु ॥३८०६ ॥
३९२८. मिच्छत्तथिरीकरणं, सेहपरीसहपराइतेक्कतरं ।
णिक्कवया सत्तेसु^{१७} य, हवंति^{१८} जे जत्थ य पडंती ॥३८०७ ॥

१. × (दे) ।

२. ठवेज्ज (मु) ।

३. बृभा ६०११ ।

४. °था ते (मु), °थाती (भ) ।

५. बृभा ६०१२ ।

६. सूत्र ९२ (नव ११/९३) ।

७. सा (भ) ।

८. °तडिं (दे) ।

९. उ (मु, भ) ।

१०. °दणा (भ) ।

११. °तडिं (दे) ।

१२. × (भ) ।

१३. × (भ) ।

१४. संजमजोगेसु वलंतो हीणसत्तयाए जो अकामगो मरइ एयं वलयमरणं, गलं वा अप्पणो वलेइ (चू) ।

१५. °म्मि (भ) ।

१६. व (भ) ।

१७. सुत्तेसु (पा) ।

१८. हवंती (दे, भ) ।

३९२०. शिष्य-कारण में यदि अनाहार द्रव्य को परिवासित रखना कल्पता है तो कारण में आहार द्रव्य भी रखना कल्पता है, ऐसा क्यों नहीं? आचार्य—यदि मुनि व्यवच्छिन्न मंडब में स्थित हो, गच्छ के औषध-भेषज आदि के लिए कुछ अनिवार्य द्रव्य चाहिए, वे वहां अनुपलब्ध हों तो उन्हें रात्रि में परिवासित रखा जा सकता है। इसी प्रकार अद्धानकल्प आदि में आहार आदि रखना भी अपवाद पद है।

३९२१. व्यवच्छिन्नमंडब में रहते हुए कोई शूल, विशूचिका आदि^१ आकस्मिक रोग उत्पन्न हो तो उसके उपशम के लिए दृष्टार्थ (गीतार्थ) मुनि त्रिविध भैषज्य—वात, पित्त या कफ के शमन कारक वे ही द्रव्य ग्रहण करते हैं, जो उनके लिए उपयोगी हों।

३९२२. सूत्र में गिरिपतन आदि जितने प्रकार के मरण प्रज्ञप्त हैं, उनमें से किसी प्रकार के मरण की जो भिक्षु प्रशंसा करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३९२३. पर्वत पर जहां आरूढ़ व्यक्ति नीचे प्रपात (तट रहित निराधार पर्वत स्थान) देख सके, वह गिरि तथा जहां खड़े होकर प्रपात न दिखाई दे, वह मरू कहलाता है। नदी, तटी, अगड आदि भृगु तथा अश्वत्थ, वट आदि तरु कहलाते हैं।

३९२४. अपने स्थान पर खड़ा व्यक्ति उछलकर गिरता है, वह पतन तथा कुछ दूर दौड़कर कूदता है, वह प्रस्कन्दन कहलाता है। प्रश्न होता है कि गिरि के विषय में प्रस्कन्दन और नदी, तटी, भृगु आदि के विषय में पतन युक्तियुक्त है, पर तरु आदि के विषय में प्रस्कन्दन कैसे संभव है?

३९२५. वृक्ष की शाखाओं पर लटककर या वृक्ष पर दोनों पैरों से समपाद मुद्रा में खड़ा होकर गिरना तरुपतन है। अथवा वृक्ष पर ऊपर उछलकर नीचे गिरना प्रस्कन्दन तथा हाथों से लटककर झूलते हुए गिरना पतन कहलाता है।

३९२६. जो सत्त्वहीनता के कारण संयम योगों से प्रत्यावर्तित होता हुआ अथवा अपने गले को मरोड़कर मरण को प्राप्त होता है, वह वलयमरण कहलाता है। जो श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष से परवश होकर मरता है, वह वशार्त्तमरण कहलाता है।

३९२७. जो जिस भव में है, उसी भव में पुनः उत्पत्ति हो सके, ऐसे हेतुओं में रहते हुए उसी भव का आयुष्य बांधकर मरना तद्भवमरण है।^२ मूल और उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की विशुद्धि किए बिना या कपटपूर्ण आलोचना पूर्वक मरना सशल्यमरण कहलाता है।

३९२८. जो भिक्षु इन बारह प्रकार के बालमरणों की प्रशंसा करता है, वह इन दोषों को प्राप्त होता है—१. भिक्षु भी गिरिपतन, तरुपतन आदि की प्रशंसा करते हैं, इसका अर्थ है कि ये अकरणीय नहीं—इत्यादि भाव पैदा होने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है। २. परीषह से पराजित शैक्ष के लिए उनमें से किसी एक मरण की प्रतिपत्ति सुकर हो जाती है, वह उसे स्वीकार कर लेता है। ३. जो इन मरणों के सन्दर्भ में जहां गिरते हैं, वहां पर विद्यमान प्राणियों के प्रति निष्कृपा (निर्दयता) होती है।

१. निभा ३ चू. पृ. २९०—सहसरुय—सूलविसूयाति।

२. यह मनुष्य और तिर्यच दो के लिए ही संभव है।

३९२९. बितियपदमणप्पज्झे, पसंसें अविक्कोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वावि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ३८०८ ॥
३९३०. कतम्मि मोहभेसज्जे, अट्ठायंते तहावि तु ।
जुंगितं आमए वावि, असज्झं पण्णवेति उं ॥ ३८०९ ॥
३९३१. तत्थ दसण्ह अवाए, आदिल्लाण मरणाण दंसेत्ता ।
दोण्णि पसंसंति विदू, वेहाणस गद्धपट्टं च ॥ ३८१० ॥
३९३२. बालमरणेण य पुणो, पंडितमरणे कता हवति सूया ।
भत्तपरिण्णा-इंगिणि, पादोपगमे य णातव्वे ॥ ३८११ ॥
३९३३. पव्वज्जादी काउं, नेतव्वं ताव जाव वोच्छिती ।
पंच तुलेऊण य सो, भत्तपरिण्णं परिणतो य ॥ ३८१२ ॥
- ३९३३/१. पव्वज्जा सिक्खावय, अत्थग्गहणं च अणियतो वासो ।
णिप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिती चेव^३ ॥ ३८१३ ॥
३९३४. गण-णिसिरणे^३ परगणे, सिति संलेहे अगीतऽसंविग्गे ।
एक्काऽऽभोगण अण्णे, अणपुच्छ^४-परिच्छ आलोए^५ ॥ ३८१४ ॥
३९३५. ठाण-वसधी-पसत्थे, णिज्जवगा दव्वदायणा^६ चरिमे ।
हाण^७ऽपरितंत णिज्जर, संथारुव्वत्तणादीणि^८ ॥ ३८१५ ॥
३९३६. सारेऊण य कवयं, णिव्वाघातेण चिंधकरणं च ।
अंतोबहिवाघातो^९, भत्तपरिण्णाय कातव्वो^{१०} ॥ ३८१६ ॥
३९३७. आयपरपडिक्कम्मं, भत्तपरिण्णाएँ दो अणुण्णाता ।
परवज्जिता य इंगिणि, चउव्विहाहारविरती य^{११} ॥ ३८१७ ॥

१. गाथा का उत्तरार्ध 'भ' प्रति में नहीं है ।
२. बृभा ११३२, प्रतियों में यह गाथा नहीं मिलती है । संभव है प्रसंगवश बाद के आचार्यों या लिपिकारों द्वारा चूर्ण में यहां जोड़ दी गई, जो मूल गाथाओं के साथ मिल गई । मुद्रित भाष्य में यह गाथाओं के क्रम में है । चूर्ण में इस गाथा की व्याख्या नहीं है । हमने इसे गाथाओं के मूल क्रम में नहीं जोड़ा है ।
३. °रणा (दे, जीभा ३२९) ।
४. अणापु° (दे) ।

५. व्यभा ४२२८ ।
६. °दावणं (व्यभा ४२२९) ।
७. हाणि (दे, भ) ।
८. जीभा ३३० ।
९. वाघाते जतणा या (जीभा ३३१) ।
१०. व्यभा ४२३० ।
११. या (भ), ३९३७ और ३९३८—ये दोनों गाथाएं दे और पा प्रति में नहीं हैं । व्यभा और जीभा में भी इस क्रम में ये दोनों गाथाएं नहीं हैं । मूलतः ये गाथाएं बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती हैं, हमने इनको मूल क्रमांक में रखा है ।

३९२९. द्वितीयपद (अपवाद) में इन तीन कारणों से बालमरण की प्रशंसा हो सकती है—१. कोई मुनि अनात्मवश हो। २. आत्मवश होने पर भी जो अविकोविद (अज्ञ) हो। ३. जानकार मुनि को भी बहुत प्रकार के कार्यों में ऐसा करना पड़े।

३९३०. वे बहुविध कार्य हैं—१. किसी साधु के प्रबल मोहोदय हो जाए, निर्विगय, उपवास आदि सभी संभव मोहचिकित्साओं से भी यदि वह आत्मस्थ न हो पाए। २. किसी प्रबल दोष के कारण मुनि को शरीर आदि से जुंगित (कर्णच्छेद, नासिकाच्छेद) किया गया हो। ३. कोई कुष्ठ आदि असह्य रोग से ग्रस्त होकर पंडित मरण के लिए स्वयं को अयोग्य माने—ऐसे मुनियों को बालमरण का उपदेश दिया जा सकता है।

३९३१. उपर्युक्त परिस्थितियों में आगमज्ञ भिक्षु प्रथम दस बालमरण—गिरिपतन यावत् सशल्यमरण के अपायों का प्रदर्शन करे तथा जो भिक्षु अपने आप को पंडितमरण में अक्षम माने, उसके समक्ष वैहानस और गृद्धपृष्ठमरण की प्रशंसा करे। अर्थात् पंडितमरण में अक्षम भिक्षु को उन्हें स्वीकार करने हेतु प्रेरित करे।

३९३२. बालमरण का कथन करने से उसके प्रतिपक्षभूत—पंडितमरण की सूचना स्वयं हो जाती है। पंडितमरण के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. भक्तपरिज्ञा, २. इंगिनीमरण और ३. पादोपगमन।

३९३३. प्रव्रज्या से लेकर अव्यवच्छिति—शिष्यनिष्पत्ति पर्यन्त साधनाक्रम ज्ञातव्य है। अन्त में अपने आपको पांच तुलाओं^१ से तोलकर भक्तपरिज्ञा अनशन के प्रति परिणत हो।

३९३३/१. साधना क्रम है—१. प्रव्रज्या, २. शिक्षापद—सूत्रग्रहण, ३. अर्थग्रहण, ४. अनियत वास और ५. शिष्यनिष्पत्ति। यदि आयुस्थिति शेष हो तो जिनकल्प, यथालन्दक, शुद्धपरिहार आदि में से किसी समाचारी को ग्रहण कर विहरण करे और आयुस्थिति अल्प हो तो धृति, संहनन आदि के अनुरूप भक्तपरिज्ञा आदि अनशन की तैयारी करे।

३९३४-३९३६. सपराक्रम भक्तपरिज्ञा के विषय में गणनिःसरण आदि २७ द्वारों का व्याख्यान करणीय है—१. गणनिःसरण, २. परगणगमन, ३. सिति (निःश्रेणी), ४. संलेखना, ५. अगीतार्थ, ६. असंविग्न, ७. एकनिर्यापक, ८. आभोग, ९. अन्य, १०. अनापृच्छा, ११. परीक्षा, १२. आलोचना, १३. स्थान, १४. वसति, १५. प्रशस्त, १६. निर्यापक, १७. चरमकाल में द्रव्यदर्शन, १८. हानि, १९. अपरिश्रान्त, २०. निर्जरा, २१. संस्तारक, २२. उद्वर्तना आदि २३. स्मारणा, २४. कवच, २५. निर्व्याघात अनशन सम्पन्न होने से चिह्नकरण, २६. अन्तःबहिः, २७. व्याघात।^२

३९३७. भक्तपरिज्ञा अनशन में आत्मपरिकर्म और परपरिकर्म दोनों अनुज्ञात हैं। इंगिनीमरण परपरिकर्म रहित चौविहार-विरति रूप होता है।

१. पांच तुलाएं—तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और जल।

२. द्वारों के विस्तार हेतु ज्ञातव्य—गाथा ३९३८-४०५५।

३९३८. णिच्चलणिप्पडिकम्मे, णिक्खिवती जं जहिं जहा अंगं ।
एतं पादोवगमं, णीहारिं वा अणीहारिं ॥ ३८१८ ॥
३९३९. गणणिसिरणम्मि उ विधी, जो कप्पे वण्णितो य सत्तविधो ।
सो चेव णिरवसेसो, भत्तपरिण्णाय दसमम्मि^१ ॥ ३८१९ ॥
३९४०. किं कारणऽवक्कमणं^२, 'थेराणं तह'^३ तवो किलंताणं ।
अब्भुज्जतम्मि मरणे, कालुणिया ज्ञाणवाघातो ॥ ३८२० ॥
३९४१. सिणेहो पेलवी होति, णिग्गते उभयस्स वि ।
आहच्च वावि वाघाते, णो सेहादि विउब्भमो^४ ॥ ३८२१ ॥
३९४२. दव्वसिती भावसिती, अणुयोगधराण जेसि उवलद्धा^५ ।
ण हु उड्डुगमणकज्जे, हेट्टिल्लपदं पसंसंति^६ ॥ ३८२२ ॥
३९४३. संजमठाणाणं कंडगाण लेस्साठितीविसेसाणं^७ ।
उवरिल्लपरक्कमणं, भावसिती केवलं जाव^८ ॥ ३८२३ ॥
३९४४. चत्तारि विचित्ताइं, विगतीणिज्जूहिताइ चत्तारि ।
एगंतरमायामे, णातिविगिट्ठे ऽविगिट्ठे वा^९ ॥ ३८२४ ॥
३९४५. 'एगंतर निव्वंबिल'^{१०}, तिगं च एगंतरे भवे विगती ।
णिस्सट्टुगल्लधरणं, छारादीछड्डुणं चेव ॥ ३८२५ ॥
३९४६. णासेति अगीतत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं ।
णट्टम्मि य चतुरंगे, ण हु सुलभं होति चउरंगं^{११} ॥ ३८२६ ॥

१. इहइं पि (जीभा ३३२), व्यभा ४२३१, बीच का एक पत्र लुप्त होने से गा. ३९३९ से ४०९४ तक की गाथाएं भ प्रति में नहीं हैं ।

२. चंकमणं (मु) ।

३. °ण इहं (जीभा ३३४, व्यभा ४२३२) ।

४. जीभा ३३७, व्यभा ४२३५ ।

५. मुव° (व्यभा ४२३६) ।

६. तु. जीभा ३४० ।

७. लेसा° (व्यभा ४२३७) ।

८. जाण (दे), जीभा ३३९ ।

९. य (व्यभा ४२४०), तु. जीभा ३४३, तु. आनि २८९ ।

१०. एगंतरियं णिव्विबिल्लं (भ, मु) ।

११. जीभा ३५७, व्यभा ४२५२ ।

३९३८. पादपोपगमन अनशन में व्यक्ति जब जहां अपने शरीर को छोड़ता है, मृत्युपर्यन्त वहीं निश्चल निष्प्रतिकर्म पड़ा रहता है। यह दो प्रकार का होता है—निर्हारी और अनिर्हारी।

३९३९. १. गणनिःसरण—गणनिःसरण की जो सात प्रकार की विधि कल्पाध्ययन में वर्णित है, वही व्यवहार के दसवें उद्देशक में निरवशेष रूप से प्रज्ञप्त है। (वही यहां भी ज्ञातव्य है।)

३९४०, ३९४१. २. परगणगमन—जो स्थविर है, संलेखना आदि तप से क्लान्त हैं, स्वयं के गण में अभ्युद्यतमरण—भक्तपरिज्ञा अनशन को स्वीकार कर सकते हैं, वे अपने गण से अपक्रमण करें—इसका क्या कारण है? आचार्य कहते हैं—१. स्वयं के गण में शिष्यों का रुदन आदि देखकर करुणा भाव उत्पन्न हो जाता है, फलतः उनके धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान में व्याघात पैदा होता है। २. गण से अपक्रमण कर देने पर आचार्य और गण—दोनों का परस्पर स्नेह पेलव (कम) हो जाता है। ३. कदाचित् भक्तपरिज्ञा में व्याघात आदि देखकर शैक्षमुनियों का व्युद्भ्रम—विपरिणाम हो सकता है, वह न हो, इसलिए परगण में गमन को उचित माना गया है।

३९४२, ३९४३. ३. सिति (निःश्रेणी) निःश्रेणी के दो प्रकार हैं—द्रव्यनिःश्रेणी और भावनिःश्रेणी।^१ जिन अनुयोगधर मुनियों को भावनिःश्रेणी उपलब्ध है, वे ऊर्ध्वगमन के कार्य में अधस्तन पदक्रमण की प्रशंसा नहीं करते। (भावनिःश्रेणी का ऊर्ध्वारोहण हेतु प्रयोग करते हैं, अधोगमन हेतु नहीं।) वे इस भावश्रेणी से ऊपर-ऊपर चढ़ते हुए विशिष्ट संयम स्थानों, विशिष्ट कंडकों (संयम कंडकों) तथा विशिष्ट लेश्या परिणामों को प्राप्त कर केवलज्ञान तक पहुंच जाते हैं।

३९४४, ३९४५. ४. संलेखना—बारह वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना का क्रम इस प्रकार है—संलेखना करने वाला भिक्षु प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि), अग्रिम चार वर्षों में विचित्र तप तथा पारणे में स्निग्ध एवं प्रणीत आहार का वर्जन करता है। तत्पश्चात् दो वर्षों में उपवास तथा पारणे में आचाम्ल करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह महीनों में अतिविकृष्ट तप नहीं करता, पारणे में आचाम्ल में परिमित खाता है तथा अग्रिम छह महीनों में विकृष्ट तप करता है, पारणे में आचाम्ल करता है, भरपेट खाता है। बारहवें वर्ष में चार-चार महीने के प्रथम त्रिक में नीवी और आयंबिल एकान्तरित किए जाते हैं। दूसरे त्रिक में एकान्तर में विगय युक्त पारणा होता है तथा तीसरे त्रिक में पारणे के दिन चुल्लूभर तेल मुंह में रखता है, उसे कुछ देर बाद क्षारयुक्त श्लेष्म पात्र में विसर्जित कर देता है ताकि रूक्षता के कारण मुखयंत्र इतना न सिकुड़ जाए कि नमस्कार महामंत्र का भी शुद्ध उच्चारण न हो सके।

३९४६. ५. अगीतार्थ—अगीतार्थ सर्वलोक का सारभूत अंग—चतुरंग^२ का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

१. जो मकान आदि में चढ़ने, उतरने में काम आए, वह द्रव्य निःश्रेणी तथा भावों का उतार-चढ़ाव भावनिःश्रेणी है।

२. चतुरंग—मनुष्यत्व, धर्मश्रुति, श्रद्धा और संयम में वीर्य।

३९४७. पढमबितिएहि छड्डे, अंतो बाहिं व णं विगिंचंति^१।
मिच्छद्विट्ठे आसासणा य मरणं जढं तेणं^२ ॥३८२७॥
३९४८. पडिगमणादिपदोसे, तेरिच्छे वाणमंतरंते य।
मोए दंडिगमादी, असमाहिगती य दिट्ठी य ॥३८२८॥
३९४९. एते अण्णे य 'तहिं, बहवे दोसा य पच्चवाया'^३ य।
एतेहिं कारणेहिं, अगीते ण कप्पति परिण्णा^४ ॥३८२९॥
३९५०. पंच व छस्सत्तसते, अधवा एत्तो वि सातिरेगतरे।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो^५ ॥३८३०॥
३९५१. एगं च दो व तिन्नि व, उक्कोसं बारसेव वरिसाई^६।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥३८३१॥
३९५२. गीतत्थदुल्लभं खलु, 'पडुच्च कालं तु'^७ मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणा^८, खेत्ते काले य परिमाणं ॥३८३२॥
३९५३. तम्हा^९ गीतत्थेणं, पवयणगहितत्थसव्वसारेणं।
णिज्जवगेण समाधी, कातव्वा उत्तिमट्ठम्मि^{१०} ॥३८३३॥
३९५४. णासेति असंविग्गो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
णट्ठम्मि य^{११} चउरंगे, ण हु सुलहं होति चउरंगं^{१२} ॥३८३४॥
३९५५. आहाकम्मियपाणग, पुप्फा सेया^{१३} य बहुजणे णातं।
सेज्जा-संधारो वि य, उवधी वि य होति अविस्सुद्धो^{१४} ॥३८३५॥

१. विगिंचंति (दे)।

२. व्यभा (४२५९) में यह गाथा पाठभेद के साथ मिलती है—
सो उ विविचय दिट्ठो, संविग्गेहिं तु अन्नसाधूहिं।
आसासियमणुसिट्ठो, मरण जढ पुणो वि पडिवन्नं ॥

३. बहू तहियं दोसा सपच्च^० (जीभा ३६५)।

४. व्यभा ४२६०।

५. व्यभा ४२६१, तु. जीभा ३६६, तु. पंकभा १७४१।

६. वासाई (जीभा ३६७), वासाणि (व्यभा ४२६२)।

७. कालं तु पडुच्च (व्यभा ४२६३)।

८. °माणे (जीभा ३६८)।

९. तेण य (जीभा ३६९)।

१०. व्यभा ४२६४।

११. उ (व्यभा ४२६६)।

१२. जीभा ३७१।

१३. सीया (जीभा ३७२)।

१४. व्यभा ४२६७।

३९४७. कदाचित् प्रथम और द्वितीय परीषह (भूख एवं प्यास) से पराजित होकर अनशनी (भक्त प्रत्याख्याता) असमय में भक्तपान मांग ले। जिसे सुनकर अगीतार्थ उसे निर्धर्मा समझकर उपाश्रय के अन्दर या बारह ले जाकर छोड़ दे। उस असमाधिकाल में वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। हो सकता है उस समय कोई अन्य संविग्न गीतार्थ उसे आश्वासन दे और वह अपने कायरता के परिणामों का परित्याग कर पुनः अभ्युद्यतमरण स्वीकार कर ले।

३९४८. भक्तप्रत्याख्याता आर्तध्यान के कारण प्रतिगमन कर सकता है, प्रद्वेष में मरकर तिर्यचगति अथवा वाणव्यंतर आदि देवों में उत्पन्न हो सकता है। प्यास परीषह से पीड़ित होने पर कदाचित् अगीतार्थ उस जल के स्थान पर प्रस्रवण दे दे और वह (अनशनी) दंडिक आदि हो तो राजा आदि तक बात पहुंच सकती है। परिणामतः राजा रुष्ट होकर कुल, गण आदि का नाश कर सकता है अथवा असमाधि के कारण भक्तप्रत्याख्याता मुनि की गति या दृष्टि बिगड़ सकती है।

३९४९. अगीतार्थ के पास भक्तप्रत्याख्यान करने पर ये तथा अन्य दोष एवं प्रत्यपाय (असमाधिमरण, तिर्यचगति आदि) उत्पन्न होते हैं। इन कारणों से अगीतार्थ के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

३९५०. अतः अनशन का इच्छुक भिक्षु पांच सौ, छह सौ, सात सौ तथा इनसे भी अधिक योजनों तक अपरिश्रान्त होकर गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करे, खोज करे।

३९५१. भक्तप्रत्याख्यान का इच्छुक मुनि एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टतः बारह वर्षों तक अपरिश्रान्त रहता हुआ गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे, उसकी मार्गणा करे।

३९५२. यह गीतार्थ दुर्लभ काल है, इसलिए यह क्षेत्रतः व कालतः मार्गणा कही गई है। गीतार्थ की गवेषणा की दृष्टि से क्षेत्र एवं काल विषयक उत्कृष्ट परिमाण है।

३९५३. इसलिए प्रवचन के सम्पूर्ण सार को जानने वाले गीतार्थ मुनि को निर्यापक के रूप में उत्तमार्थ—अनशन में (उस मुनि को) समाधि देनी चाहिए।

३९५४. ६. असंविग्न—असंविग्न मुनि सर्वलोक में सारभूत अंग—चतुरंग का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

३९५५. असंविग्न निर्यापक भक्तप्रत्याख्याता के लिए आधाकर्मिक पानक, पुष्प आदि ले आता है, वह बहुत से लोगों को जताने के लिए शृंग आदि वाद्य बजा देता है, भक्तप्रत्याख्याता के शरीर पर चंदन आदि से लेप करता है, उसके लिए अविशुद्ध (दोषयुक्त) शय्या, संस्तारक, उपधि आदि ला देता है।

३९५६. एते अण्णे य तहिं, बहवो दोसा 'य पच्चवाया'^१ य।
एतेहि य अण्णेहि य, संविग्गे कप्पति परिण्णा^२ ॥३८३६॥
३९५७. 'पंच व छस्सत्तसते, अहवा एत्तो वि सातिरेगते'^३।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो^४ ॥३८३७॥
३९५८. एगं च दो व तिन्नि व, उक्कोसं बारसेव वरिसाई^५।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥३८३८॥
३९५९. संविग्गदुल्लभं खलु, कालं तु पडुच्च मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणा^६, खेत्ते काले य परिमाणं^७ ॥३८३९॥
३९६०. तम्हा^८ संविग्गेणं, पवयणगहितत्थसव्वसारेणं।
णिज्जवगेण समाधी, कातव्वा उत्तिमट्टम्मिं^९ ॥३८४०॥
३९६१. एगे उ कज्जहाणी, सो वा सेहा य^{१०} पवयणं चत्तं।
तच्चण्णिणए णिमित्ते, पत्तो चत्तो^{११} य उड्डाहो ॥३८४१॥
३९६२. तस्सट्टगतोभासण, सेहादिअदाण सो परिच्चत्तो।
दाउं व अदाउं वा, भवंति सेहा वि णिद्धम्मा^{१२} ॥३८४२॥
३९६३. कूयति^{१३} अदिज्जमाणे, मारेंति बल त्ति पवयणं चत्तं।
सेहा य जं^{१४} पडिगता, जणा अवण्णं 'पदाणे वि'^{१५} ॥३८४३॥
३९६४. 'परतो सयं व णच्चा'^{१६}, पारगमिच्छंत 'ऽपारगे गुरुगा'^{१७}।
असती खेम-सुब्बिक्खे, णिव्वाघातेण पडिवत्ती^{१८} ॥३८४४॥
३९६५. सयं चेव 'चिरं वासो'^{१९}, वासावासे तवस्सिणं।
तेण तस्स विसेसेण, वासासु पडिवज्जणा^{२०} ॥३८४५॥

- | | |
|---|-------------------------------------|
| १. सपच्च° (जीभा)। | १०. व (दे)। |
| २. तु. जीभा ३७३, तु. व्यभा ४२६८। | ११. चत्ता (दे), तु. जीभा ३७८। |
| ३. तम्हा पंच व छस्सत्त वावि जोयणसते समहिए
वा (जीभा ३७४)। | १२. व्यभा ४२७४, जीभा ३७९। |
| ४. व्यभा ४२६९। | १३. कूवति (जीभा ३८०)। |
| ५. वासाई (जीभा ३७५, पंकभा १७४४), वासाणि
(व्यभा ४२७०)। | १४. जे (व्यभा ४२७५)। |
| ६. °माणे (जीभा ३७६)। | १५. पगासेति (व्यभा, जीभा)। |
| ७. व्यभा ४२७१। | १६. अहवा वि सो व्व परतो (जीभा ३८३)। |
| ८. तेण य (जीभा ३७७)। | १७. णिरगमिच्छंत (मु)। |
| ९. व्यभा ४२७२। | १८. व्यभा ४२७६। |
| | १९. चिरावासो (जीभा ३८४)। |
| | २०. °ज्जणं (व्यभा ४२७७, जीभा)। |

३९५६. असंविग्न निर्यापक के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करने पर ये तथा अन्य दोष और प्रत्यपाय उत्पन्न होते हैं। इन कारणों से असंविग्न के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

३९५७. अतः पांच सौ, छह सौ, सात सौ तथा इनसे भी अधिक योजनों तक अपरिश्रान्त रहकर संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करे।

३९५८. मुनि एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्ट बारह वर्षों तक अपरिश्रान्त रहता हुआ संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने के लिए उसकी मार्गणा करे।

३९५९. यह संविग्न दुर्लभकाल है, अतः क्षेत्रतः और कालतः यह मार्गणा कही गई है। संविग्न की गवेषणा की दृष्टि से यह क्षेत्र और काल का उत्कृष्ट परिमाण कहा गया है।

३९६०. इसलिए प्रवचन के सम्पूर्ण सार को जानने वाला संविग्न मुनि निर्यापक के रूप में उत्तमार्थ (भक्त प्रत्याख्यान) में (उस अनशनी मुनि को) समाधि प्रदान करे।

३९६१. एक निर्यापक—यदि अनशन के समय एक निर्यापक हो तो कार्यहानि होती है। अनशनी, शैक्ष या प्रवचन त्यक्त होता है—उनमें से किसी एक की उपेक्षा होती है। उसके या अन्य निमित्त से वह (निर्यापक) इधर-उधर जाए, तब अनशनी की उपेक्षा होती है और उपेक्षा करने के उड्डाह। (इसकी व्याख्या इस प्रकार है—)

३९६२, ३९६३. निर्यापक अनशनी के लिए पानक आदि लाने लगा। अनशनी के पास कोई अव्यक्त शैक्ष बैठा है। उसने शैक्ष से भक्तपान की याचना की। यदि शैक्ष उसे नहीं देता तो अनशनी परित्यक्त होता है। दूसरी ओर शैक्ष उसे भक्तपान दे या न दे, पर उसके मन में धर्म के प्रति विचिकित्सा, शंका आदि पैदा हो सकती है। इस प्रकार वह धर्मच्युत हो जाता है। इधर भक्त आदि न देने पर वह अनशनी चिल्लाने लगता है—ये मुझे जबरदस्ती मार रहे हैं, फलतः प्रवचन त्यक्त होता है (प्रवचन की अवहेलना होती है)। यदि शैक्ष प्रतिगत—संयमच्युत होते हैं तो वे जनता में अवर्णवाद करते हैं।

३९६४. ८. आभोग—जब कोई मुनि भक्तप्रत्याख्यान हेतु उपस्थित हो तो आचार्य स्वयं के आभोग (अतिशयज्ञान) से या अन्य किसी निमित्त आदि से जाने कि यह प्रत्याख्यान का पारगामी होगा या नहीं? यदि पारगामी हो तो उसको प्रत्याख्यान कराए, अन्यथा नहीं। यदि कोई अतिशय ज्ञान न हो और सामान्यतः क्षेम हो, सुभिक्ष हो, अनशन के मध्य कोई व्याघात आता प्रतीत न हो तो प्रतिपत्ति करे—अनशन का प्रत्याख्यान करवा दे।

३९६५. वर्षावास में तपस्वियों (मुनियों) का स्वयं चिरकाल तक एकत्रवास होता है इसलिए प्रत्याख्याता मुनि को विशेषतः वर्षावास में भक्तप्रत्याख्यान करवाए।^१

१. विशेष हेतु द्रष्टव्य व्यभा. गा. ४२७७ की वृत्ति।

३९६६. कंचणपुर गुरुसण्णा, देवयरुयणा^१ य पुच्छ कहणा य।
पारणग खीररुधिरं, आमंतण संघणासणता^२ ॥३८४६॥
३९६७. असिवादिकारणेहिं, वहमाणा संजता परिच्छत्ता।
उवधिविणासो छड्डुण, चत्तो सो पवयणं चेव^३ ॥३८४७॥
३९६८. एगो संथारगतो, 'बितिओ संलेह'^४ ततियपडिसेधो।
अण्णाऽपुच्छऽसमाही^५, तस्स व तेसिं च 'असती य'^६ ॥३८४८॥
३९६९. भवेज्ज यदि वाघातो, बितियं तत्थ ठावते।
चिलिमिणी^७ अंतरे चेव^८, बहि वंदावते जणं ॥३८४९॥
३९७०. पाणगादीणि जोग्गाणि, जाइं तत्थ^९ समाहिते।
अलंभे तस्स जा हाणी^{१०}, परिक्केसो य जायणे ॥३८५०॥
३९७१. असंथरं अजोग्गा वा, जोगवाही व ते भवे।
एसणादिपरिक्केसो^{११}, जा य तस्स विराधणा^{१२} ॥३८५१॥
३९७२. खीरोदणे य दव्वे, तच्च दुगुंछण्णयं तहिं वितरे।
पारिच्छिया^{१३} सुसंलेहदागमणे ऽमच्चकोंकणगे ॥३८५२॥
३९७३. कलमोदणो^{१४} वि भणिते, हसंति जइ ते तहिं ण पडिवज्जे।
आणीत कुच्छते जइ, करेमि जोगं ति तो वितरे ॥३८५३॥
३९७४. कलमोदणो य पयसा, अण्णं च सहावअणुमतं तस्स।
उवणीतं जो कुच्छति, 'तं तु अलुद्धं पडिच्छंति'^{१५} ॥३८५४॥

१. °यभयणा (दे)।

२. जीभा ३८२, व्यभा ४२७८।

३. तु. व्यभा ४२७९, तु. जीभा ३८६।

४. संलेहगते य (मु)।

५. अपहुच्चंतऽस° (जीभा ३८७),

°अपहुच्चंत° (व्यभा ४२८०)।

६. असमाही (जीभा), °तीए (व्यभा)।

७. °मिलिं (जीभा ३८८), °मिणि (व्यभा ४२८१)।

८. काडं (जीभा)।

९. तस्स (जीभा ३९०, व्यभा ४२८३)।

१०. ठाणा (मु)।

११. °णाए परि° (व्यभा ४२८४)।

१२. जीभा ३९१।

१३. परिच्छि° (मु)।

१४. °दणा (दे)।

१५. व्यभा ४२८९, दव्वपरिच्छाए सो सुद्धो (जीभा ३९८)।

३१६६. कंचनपुर नगर में गुरु संज्ञाभूमि (विचारभूमि) गए। वहां देवता का रुदन सुनकर उससे कारण पूछा। देवता ने कारण बताया और कहा कि यदि मेरी बात सत्य है तो कल तपस्वी के पारणे में आया दूध रक्त में बदल जाएगा। गुरु ने संघ को आमंत्रित करके दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर दिया।

३८४७. यदि व्याघात आदि के विषय में ज्ञानोपयोग लगाए बिना अनशन करवा दे और अनशन के मध्य ही अशिव आदि कारणों से अनशनी और उसके उपकरणों को वहन करना पड़े तो आत्मविराधना होती है। यदि असमर्थ हो, उसे या उपकरणों को बीच में छोड़ दे तो अनशनी त्यक्त होता है, उपधिविनाश होता है और साथ ही प्रवचन की अवहेलना होती है।

३९६८. ९. अन्य—एक मुनि संस्तरकगत है—अनशन स्वीकार कर चुका है, दूसरा संलेखनागत है तो आचार्य तीसरे मुनि को अनशन या संलेखना के लिए प्रतिषेध कर दे क्योंकि तीनों के लिए निर्यापक नहीं मिलते। फलतः उसे या पूर्वोक्त दोनों में से किसी को असमाधि हो सकती है।

३९६९. यदि भक्तप्रत्याख्याता के कोई व्याघात हो जाए तो जो संलेखना कर रहा है, उस दूसरे मुनि को वहां स्थापित कर बीच में चिलिमिली लगा देनी चाहिए। तथा जो वंदना करने आए, उन्हें बाहर से ही वन्दना करने के लिए कहें। इस प्रकार जनता को बाहर से वन्दना करने की प्रेरणा है।

३९७०, ३९७१. उस भक्तप्रत्याख्याता मुनि की समाधि के लिए योग्य पानक आदि का लाभ न होने पर यदि उसकी समाधि की हानि होती है, योग्य पानक आदि की याचना में मुनियों को परिक्लेश होता है, संस्तरण के अभाव में अथवा अयोग्य निर्यापकों के कारण या योगवाही मुनियों के लिए समाधिकारक द्रव्यों की गवेषणा में परिक्लेश होता है—ये सारे उस भक्तप्रत्याख्याता मुनि की विराधना के निमित्त बनते हैं, अतः गच्छ से पृच्छा करनी चाहिए।

३९७२. १०. अनापृच्छा—भक्तप्रत्याख्याता मुनि प्रत्याख्यान से पूर्व गण के मुनियों से कहे—मेरे लिए क्षीर, ओदन आदि द्रव्य लाओ। वह यदि इन द्रव्यों को प्राप्त कर उस भोजन सामग्री की निन्दा करे या मुनियों को वे द्रव्य प्राप्त न होने पर वे जुगुप्सापूर्वक कहें—हम तुम्हें दूसरा आहार लाकर दें तो वह उनके पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करे। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के भक्तप्रत्याख्यान हेतु आने पर उसकी सुसंलेखना (भाव संलेखना) की परीक्षा की जाए। इस विषय में अमात्य एवं कौकणक का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।^१

३९७३. भक्त प्रत्याख्यान के इच्छुक व्यक्ति के 'मेरे लिए कलम ओदन लाओ'—ऐसा कहने पर यदि गण के अन्य साधु हंसते हैं तो उसे वहां भक्तपरिज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। यदि वे कहें—योग (प्रयत्न) करेंगे। उसे उत्कृष्ट आहार लाकर दें। वह उनकी जुगुप्सा करे तो वे कहें—कोई बात नहीं, दूसरा ला देंगे। इस प्रकार यदि उनके भाव परिज्ञा के काल में अनुकूल रहेंगे—ऐसा लगे तो वहां परिज्ञा ग्रहण करे।

३९७४. कलमोदन दूध के साथ लाकर तथा स्वभावतः जो उसको इष्ट हो, वह अन्य द्रव्य लाकर उसके समक्ष रखने पर यदि वह भक्तप्रत्याख्यान का इच्छुक मुनि उस खाद्य सामग्री के प्रति जुगुप्सा प्रकट करे तो आहार के प्रति अलुब्ध जानकर उसे प्रत्याख्यान दे, अन्यथा (प्रशंसा करे, वह रसलोलुप है, ऐसा जान) उसे प्रत्याख्यान न करवाए।

१. द्रष्टव्य निभा गा. ३९७६, ३९७७।

३९७५. ण हु ते दव्वसंलेहं, पुच्छे पासामि ते किसं।
कीस ते अंगुली भग्गा? भावं संलिहमातुर^१ ॥ ३८५५ ॥
३९७६. रण्णा कोंकणगामच्चा, दो वि णिव्विसया कता।
दोद्धिए^२ कंजियं छोढुं, कोंकणो तक्खणा गतो^३ ॥ ३८५६ ॥
३९७७. भंडी बइल्लए^४ काये, अमच्चो जा भरेति तु।
ताव पुण्णं तु पंचाहं, णेलए^५ णिहणं गतो ॥ ३८५७ ॥
३९७८. इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु।
'णो वयं^६ ते पसंसामो^७, किसं साधुसरीरगं ॥ ३८५८ ॥
३९७९. आयरियपादमूलं, गंतूण सति परक्कमे संते^८।
सव्वेण अत्तसोधी, 'कातव्वा एस उवदेसो^९ ॥ ३८५९ ॥
३९८०. जह सुकुसलो वि वेज्जो, अण्णस्स कहेति अप्पणो वाहिं^{१०}।
वेज्जस्स य सो सोउं, तो पडिकम्मं समारभते^{११} ॥ ३८६० ॥
३९८१. जाणंतेण वि एवं, पायच्छित्तविधिमप्पणो णिउणं।
तह वि य पागडतरगं, आलोएयव्वयं होति^{१२} ॥ ३८६१ ॥
३९८२. छत्तीसगुणसमण्णागतेण तेण वि अवस्स कातव्वा।
परसक्खिया^{१३} विसोधी, सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं^{१४} ॥ ३८६२ ॥
३९८३. जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुगं भणति।
तं तह आलोएज्जा, मायामदविप्पमुक्को उ^{१५} ॥ ३८६३ ॥

१. °तुरं (दे), व्यभा ४२९१, जीभा ४०१।
२. दोद्धिए (व्यभा ४२९२)।
३. जीभा ४०३।
४. बहिले (मु)।
५. नलिए (व्यभा ४२९३, जीभा ४०४)।
६. न चेयं (जीभा ४०६, व्यभा ४२९४)।
७. °सामी (व्यभा)।
८. ताहे (जीभा ४०८), ताधे (व्यभा ४२९५)।

९. परसक्खीयं तु कातव्वा (जीभा)।
१०. वाधी (जीभा ४०९)।
११. °भति (जीभा), व्यभा ४२९६।
१२. जीभा ४१०, व्यभा ४२९७।
१३. परपक्खिया (व्यभा ४२९८)।
१४. तु. जीभा ४११।
१५. व्यभा ४२९९।